ॐ

प्रकाशक
योगनिकेतन-प्रकाशन
संस्थापकः—
योगिराज स्वामी शिवचैतन्यानन्द जी महाराज
१६ बी नार्दन एक्सटेन्शन
(पूसा रोड) नई दिल्ली।

प्रथम संस्करण ११००
मूल्य ७)

मुद्रक
रामा कृष्णा प्रेस,
कटरा नील,
दिल्ली

ॐ

निवेदन

सच्चे सन्त किसी भी देश, जाति या समुदायकी संकुचित सीमामें बँधे हुए नहीं होते । वे तो सम्पूर्ण विश्वकी सम्पत्ति होते हैं। संसारके जितने भी सम्प्रदाय या मतवाद हैं वे भी अन्तमें विश्वात्माके परमानन्दमय पावन पादपद्मोंमें पहुँचानेवाली विभिन्न सरणियाँ ही हैं। उन सबका चरम लक्ष्य दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्तिपूर्वक परमानन्दकी प्राप्ति ही है। अतः मार्गोंका भेद रहनेपर भी सम्पूर्ण सम्प्रदायों के लक्ष्यकी तो एकता ही है। इसीसे जो महानुभाव उस परमपद पर प्रतिष्ठित हो गये हैं वे, भले ही किसी भी सम्प्रदायके हों, सम्पूर्ण विश्वके पथ-प्रदर्शक होते हैं। अतः संसार उन्हें 'जगद्गुरु' की उपाधि से विभूषित करता है।

संसारका साहित्य इसका साक्षी है कि पुण्य भूमि भारत अनादि कालसे ऐसे जगद्गुरुओंकी जन्मभूमि रही है। किन्तु विश्वनियन्ता परम प्रभु परमात्माके लिये तो सारा विश्व ही अपना है। वे तो समानरूप से एक साथ ही सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति तथा भरण-पोषण करते हैं। अतः उनकी दृष्टि में किसी भी देशविशेषके लिये कोई पक्षपात नहीं है। वे अनादिकालसे सभी देशोंमें, वहांकी जनता के पथप्रदर्शनके लिये अनेकों महापुरुषोंका आविर्भाव करते रहे हैं। ऐसे ही महापुरुषों में एक इस ग्रन्थ के मूल लेखक मियां मुहम्मद ग़ज़ाली साहब भी थे। वे बहुत बड़े विद्वान्, दार्शनिक, कवि और ग्रन्थकार थे। उन्होंने जो कुछ लिखा है वह केवल किसी कुशाग्र बुद्धिकी उपज नहीं है, प्रत्युत एक साधननिष्ठ तत्त्वदर्शीका निजी अनुभव है। उन्होंने जीवनके जिस पक्षका प्रतिपादन किया है, पहले उसे आचरणकी आँचमें तपाकर और अनुभवकी कसौटी पर कसकर अच्छी तरह परखा है। इसीसे उनकी वाणी केवल उन्हींके

देश या सम्प्रदायके लिये नहीं, प्रत्युत सारे संसारके साधकोंके लिये पथ प्रदर्शित करनेवाली है ।

ग़ज़ालीने जिन ग्रन्थरत्नोंका निर्माण किया है उनमें, 'कीमिया-ए-सआदत' उनकी एक प्रमुख रचना है । यह सचमुच धर्ममय जीवनकी प्राप्ति के लिये एक दुर्लभ कीमिया (रसायन) ही है । प्रायः पचास वर्ष हुए इस अमूल्य ग्रन्थका ही हिन्दी-भाषान्तर कराकर लखनऊ के सुप्रसिद्ध प्रकाशक मुंशी नवलकिशोरजी ने उसे 'पारसभाग' नामसे प्रकाशित किया था । पारस भाग की भूमिकामें उसे हिन्दू-धर्मपुस्तकों का सार, वेदान्तमतानुसार तथा ऋषिप्रणीत ग्रन्थोंके आधार पर लिखा हुआ बताया गया है । यह नीति सम्भवतः इसी उद्देश्य से बरती गयी है जिससे हिन्दू साधकों में इसका प्रचार हो तथा किसी विधर्मी संतकी कृति समझकर इसके प्रति उनकी अश्रद्धा न हो । इसमें सन्देह नहीं, इसका हिन्दी-अनुवाद हिन्दू साधकोंके हितकी दृष्टिसे ही कराया गया होगा और इस उद्देश्य की सफलता की दृष्टि से यह नीति क्षम्य भी कही जा सकती है । किन्तु फिर भी साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टि से तो इस ग्रन्थरत्न के मौलिक आधार और उसके लेखकका उल्लेख रहना ही अधिक उपयुक्त होता ।

अस्तु, पारसभागके प्रकाशकों का कुछ भी उद्देश्य रहा हो, इसमें सन्देह नहीं, हिन्दू साधकोंको उससे अपने साधनमें बड़ी सहायता मिली और इस ग्रन्थका उनमें प्रचार भी खूब हुआ । बहुत लोग तो अन्य धर्मग्रन्थोंके समान ही इसका नित्यपाठ और मनन करने लगे । आज भी किन्हीं-किन्हीं आश्रमोंमें नित्यप्रति इसका प्रवचन होता है तथा अनेकों सन्त और साधक इसका नियमपूर्वक स्वाध्याय एवं मनन भी करते हैं । किंतु जिस समय यह ग्रन्थ लिखा गया था तबसे अबतक भाषा एवं लेखनशैली में बड़ा अन्तर पड़ गया है । अतः ग्रन्थ की उपयोगिता निर्विवाद होनेपर भी वर्तमान जनताके लिये इसकी भाषा रुचिकर नहीं रही । इसीसे कुछ मित्रों के आग्रह से मैंने इसकी भाषा का संशोधन

करके इसे आधुनिक शैलीसे लिख दिया है।

मूल ग्रन्थ फारसीमें है। उसका अनुवाद 'अक्सीर हिदायत' नामसे उर्दू में भी हो चुका है और उसके लेखक हैं मियां फ़खरुद्दीन साहब। उन्होंने अपनी भूमिका में लिखा है कि यह 'कीमिया-ए-सआदत' का केवल भावानुवाद ही है। पारस भाग तो उसकी अपेक्षा भी अधिक स्वतन्त्रता से लिखा गया है। इसमें तो कई जगह मुस्लिम देवताओंके स्थान में हिंदू देवता तथा मुस्लिम रीति-रिवाजों के स्थानमें हिंदू रीतियों का भी उल्लेख है। मूलमें जो कुरान शरीफ के वाक्य हैं उन्हें इसमें 'भगवान् के वचन' बोलकर लिखा गया है तथा हदीस के उद्धरणोंको 'महापुरुष के वचन' कहा है। मैं फारसीसे तो सर्वथा अनभिज्ञ हूँ, उर्दू भी नाममात्र को ही जानता हूँ। इसीलिये मुझे तो पूर्णतया पारस भाग पर ही अवलम्बित रहना पड़ा है। हिंदीभाषी जनताको तो पारसभाग से ही प्रेम रहा है और उसीसे उसे लाभ भी पहुँचा है। अतः मैंने उसी को मूल आधार मानकर यह 'पारसमणि' प्रस्तुत की है। इसे लिखते समय मैंने प्रायः वाक्यशः पारसभागका अनुसरण किया है, तथापि कहीं-कहीं अनावश्यक समझकर कोई वाक्य छोड़ भी दिये हैं और प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये कोई-कोई नवीन वाक्य भी लिख दिया है। किन्तु भावमें कहीं किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं किया।

इसके सिवा इस ग्रन्थके खण्ड और उपखण्डोंके विभाजन में भी यत्किञ्चित् फेर-फार किया है। मूल ग्रन्थकारने इसे चार अनवान और चार रुकनों में विभक्त किया है तथा उनमें से प्रत्येक अनवान और रुकन में अनेकों असलें हैं। इसी तरह पारसभाग के लेखकने भी इसमें चार अध्याय और चार प्रकरण रखे हैं तथा इनमें से प्रत्येक अध्याय और प्रकरण में अनेकों सर्ग हैं। इसके चार अध्यायों को ग्रन्थ की भूमिका कह सकते हैं। उनमें सामान्यतया मुस्लिम सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। हिंदू पाठकोंके लिये साम्प्रदायिक दृष्टिसे वह विशेष उपयोगी नहीं हो सकता। तथा प्रकरणोंमें चित्तके विभिन्न

गुण और दोषों का विवेचन है। वास्तव में ग्रन्थका प्रधान भाग यही है और इस साधनखण्डके कारण ही हिंदू-साधकों में इस ग्रन्थका इतना आदर हुआ है। किंतु पारसमणिमें अध्याय और प्रकरणोंका भेद न रखकर समानरूप से आठों विभागोंको आठ उल्लासोंके रूपमें रखा गया है तथा सर्गोंकी संज्ञा 'किरण' रखी गयी है। मणिकी समय-समय पर जो प्रभा दिखायी देती है उसीको यहां 'उल्लास' कहा गया है तथा उस प्रभा की किरणें ही इन उल्लासों की किरणें हैं। इस विभाजनमें एक अन्तर और भी किया गया है। पारस भागके प्रथम अध्याय में जो दूसरे, तीसरे और चौथे सर्ग हैं उन तीनोंको सम्मलित करके दूसरी किरण लिखी गयी है। इसीसे जहां पारस भागके प्रथम अध्यायमें दस सर्ग हैं वहां इस ग्रन्थके प्रथम उल्लासमें आठ किरणें हैं। इससे विपरीत पारसभागके चतुर्थ प्रकरणके चौथे सर्ग को विभक्त करके इस ग्रन्थके अष्टम उल्लास की चौथी और पाँचवीं किरणें बनायी गयीं हैं। यह विभाग उर्दू अनुवाद के आधार पर किया गया है। पारस भाग में यहाँ एक बड़ी विचित्र भूल हुई है। उसमें चौथे और पांचवे सर्ग को तो मिला दिया गया है और फिर 'पांचवाँ सर्ग' बोलकर-कोई विभाग नहीं किया गया। चौथेके पश्चात् छठा सर्ग ही लिखा गया है। इस प्रकार गणना क्रम में भूल होने से जिस प्रकार पारस भागका चौथा प्रकरण नवें सर्गमें समाप्त होता है उसी प्रकार पारसमणिका अष्टम उल्लास भी नवीं किरणमें ही समाप्त होता है। उर्दू अनुवाद में इसके आगे एक असल और भी है। उसमें मुस्लिम सिद्धान्त के अनुसार मृत्युका वर्णन किया गया है। पारस भाग के लेखकने उसे सम्भवतः हिंदुओं के लिये अनुपयोगी समझकर छोड़ दिया है। पारसमणिका आधार तो पारसभाग ही है। अतः हमने भी उसे सम्मिलित करना आवश्यक नहीं समझा।

आगे हम इस ग्रन्थके मूल लेखक मियां मुहम्मद ग़ज़ाली साहबका संक्षिप्त परिचय देते हैं। यह इस्लामधर्म के विश्वकोश (Encyclop-

ædia of Islam) के आधारपर लिखा गया है। इसे हम परम प्रिय श्रीविपिनचन्द्र मिश्र एडवोकेट और दिल्ली के म्युनिसिपल कमिश्नर मियां मुहम्मद जाफरी साहबके सहयोग से प्राप्त कर सके हैं। अतः इन दोनों महानुभावों के हम हृदय से कृतज्ञ हैं। पुस्तककी छपाई में यद्यपि बहुत अशुद्धियां रह गयी हैं, उनमें से कुछ को तो ग्रन्थके अन्त में 'शुद्धिपत्र' में दे दिया है और कुछ को जो बहुत भ्रामक समझी गयी हैं इस ग्रन्थ के प्रकाशक परम आदरणीय स्वामी श्रीशिवचैतन्यानन्दजीने हाथसे सुधरवा देनेका हमें आश्वासन दिया है। अतः हमें आशा है कि पाठकोंको उनके कारण कोई असुविधा नहीं होगी।

इस प्रकार अन्तर्यामी प्रभुकी प्रेरणासे अपनी योग्यताके अनुसार जैसा भी बना यह पत्र-पुष्प प्रभुके प्रेमियोंकी सेवामें समर्पित है। इसमें जो कुछ सुन्दर है वह इसीकी सहज सुगन्ध हैं और जो-जो त्रुटियां हैं वे मेरी अयोग्यताकी निदर्शक हैं। तथापि मधुग्राही मधुकरोंके समान सन्तजन तो सर्वथा सारग्राही होते हैं। अतः मुझे पूर्ण विश्वास है कि इसकी त्रुटियोंकी ओर न देखकर वे इसके स्वभावसिद्ध सद्गुणोंको ही ग्रहण करेंगे। इस प्रकार इससे यदि उनके मनको कुछ भी सन्तोष हुआ तो मेरा परिश्रम सफल हो जायगा।

६. कुदसियाघाट, दिल्ली
फाल्गुन कृ० २ सं०२००६ वि०

विनीत
सनातनदेव

—:o:—

ॐ

मूल ग्रन्थकारका संक्षिप्त परिचय

पारसमणिका मूल आधार है 'कीमियाए सआदत ।' इसके लेखक मियाँ मुहम्मद ग़ज़ाली साहब ईरानके एक सुप्रसिद्ध सन्त थे। उनका पूरा नाम था हुज्जतुल इस्लाम अबू हमीद मुहम्मद इब्न-मुहम्मद-अल्-तूसी किन्तु सामान्यतया वे इमाम ग़ज़ालीके नामसे प्रसिद्ध हैं। इनका जन्म सन् १०५८ ई० (४५० हिज्री) में खुरासान प्रान्तके अन्तर्गत तूस नामक गाँवमें हुआ था। इनके पूर्वज सूतका व्यापार करते थे, इसीसे इन्हें ग़ज़ाली कहते हैं, क्योंकि फारसीमें 'ग़ज़ाला' का अर्थ है कातना। किन्हीं ऐतिहासिकोंका मत है कि ये 'ग़ज़ाल' नामक गाँवके रहनेवाले होनेके कारण 'ग़ज़ाली' नामसे प्रसिद्ध थे। किन्तु अब अन्तिम मत यही है कि वे सूतके व्यापारियोंके वंशधर होनेसे ही 'ग़ज़ाली' कहे जाते थे।

अभी ये चार वर्षके ही थे कि इनके पिताका देहान्त हो गया। इस समय इनके एक ज्येष्ठ भ्राता अहमद ग़ज़ाली भी थे। इनके पिताजीने दोनों भाइयोंके पालन-पोषणका भार अपने एक मित्र अबू नसर इस्माइलीको सौंप दिया था। उन्हींसे इन्हें आरम्भिक शिक्षा मिली और फिर उन्होंने दोनों भाइयोंको कस्बा जुरजानकी एक चटसालमें भर्ती करा दिया। इस पाठशालाकी शिक्षा समाप्त करके बालक ग़ज़ाली निशापुर चले आये और वहाँके बाइहक़ी महाविद्यालयमें भर्ती हो गये। यह मुसलमान विज्ञानके महान् शिक्षण केन्द्रोंमें सबसे पहली संस्था थी। इसके अध्यक्ष थे इमाम-अल्-हरमन जियाउद्दीन अब्दुल मलिक साहब। सन् १०८५ ई० (४७८ हिज्री) में मलिक महोदयका स्वर्गवास हो

गया। तब मुहम्मद ग़ज़ाली साहबने मियाँ अबुल कासिम अस्कानी साहबका शिष्यत्व स्वीकार किया, और यहीं उन्होंने अपना शेष विद्यार्थी-जीवन व्यतीत किया।

सन् १०९१ ई० (४८४ हिज्री) में स्नातक होकर ये निशापुरसे बगदादको चले। जिस संघ (काफले) के साथ ये जा रहे थे, मार्गमें उसकी एक लुटेरोंके दलसे मुठभेड़ हो गयी। इन्होंने जिन-जिन विषयोंकी शिक्षा प्राप्त की थी उनकी मुख्य-मुख्य बातें कुछ कापियोंमें नोट की हुई थी। लुटेरोंने और चीजोंके साथ वे कापियाँ भी छीन लीं। तब ग़ज़ालीने बड़ी नम्रतापूर्वक उन कापियोंको लौटानेके लिये प्रार्थना करते हुए कहा, "ये कागज-पत्र आप लोगोंके तो किसी कामके नहीं हैं, किन्तु मुझे इनपर बहुत अवलम्बित रहना पड़ता है, अतः आप इन्हें लौटा दें।" इसपर लुटेरोंने वे कापियाँ लौटा दीं, किन्तु साथ ही उन्होंने व्यंगपूर्वक कहा, "यदि इन कागजोंके बिना तुम ऐसे असहाय रह जाते हो तो फ़िर तुम्हारी विद्या किस काम की ?" यह बात युवक ग़ज़ालीके हृदयमें घर कर गयी और उस दिनसे वे जो कुछ पढ़ते या लिखते थे उसके लिये लेखपर अवलम्बित नहीं रहते थे, उसे कण्ठस्थ कर लेते थे।

बग़दाद पहुँचनेपर ये वहाँके वजीर निज़ामुल्मुल्क से मिले। वह इनकी योग्यतासे बहुत प्रभावित हुआ और इन्हें अपने सुप्रसिद्ध विद्यालय मदरसा-ए-निजामियाँका अध्यक्ष बना दिया। इस समय इनकी आयु केवल अट्ठाइस सालकी थी और ये निजामुल्मुल्कके सभापंडितोंमें सबसे अल्पवयस्क थे। बगदादमें रहते समय इन्होंने आचार-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे तथा इस्लाम धर्मके बातिनिया, इमामिया और इस्माइलिया आदि सम्प्रदायोंके अनेकों विवादग्रस्त विषयोंपर भी पुस्तकें लिखीं। उन दिनोंमें इन्होंने बौद्धिक और दार्शनिक सिद्धान्तोंमें समन्वय करनेके लिये बड़ा ही परिश्रम किया तथा तत्कालीन विचारधाराओं एवं विवादास्पद मतवादोंका बड़े ही मनोयोगसे अध्ययन एवं विवेचन किया।

सन् १०९८ ई० (४८८ हिज्री) में इनके संरक्षक निज़ामल्मुल्क

और उसके उत्तराधिकारी मलिक शाहकी हत्या हुई। तब इन्होंने बगदाद से दमिश्क़शकी यात्रा की और वहाँ ये प्रायः दो वर्ष रहे। दमिश्कशमें इन्होंने अपना समय एक फकीरकी तरह व्यतीत किया। ये अधिकतर विरक्तभावसे ध्यानाभ्यासमें तत्पर रहकर मानसिक शान्ति और समाधान प्राप्त करनेका प्रयत्न करते रहे। एक दिन ये एक महाविद्यालयमें गये। वहाँ एक शिक्षाशास्त्रीका प्रवचन हो रहा था। उन्हें इनकी उपस्थितिका कोई पता नहीं था। अतः उन्होंने सहज भावसे प्रमाणरूपमें बड़े आदरपूर्वक इनका उल्लेख किया। इन्होंने यह सोचकर कि एक विद्वान् शिक्षाशास्त्रीके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर कहीं मुझे अभिमान न दबा ले तुरन्त ही वह स्थान छोड़ दिया।

यहांसे ये सीरिया होते मक्का और मदीना पहुँचे। इन पुण्यक्षेत्रोंमें बहुत दिनोंतक रहे। फिर हजाजसे मिश्र होते मोरक्को गये और वहांसे सन् ११०५ ई० (४९९ हिज्री) में पुनः निशापुर लौट आये। यहाँ इनके पूर्वसंरक्षक निजामुल्मुल्कके पुत्र फख्र-उल्-मुल्कने इन्हें अपने सुप्रतिष्ठित विद्यालय निजामियां मदरसाका प्रधानाध्यापक नियुक्त कर दिया। इन दिनों ये फख्र-उल्-मुल्क खुरासान प्रान्तके शासक और निशापुरके एक वज़ीर थे। एक साल पश्चात् फख्र-उल्-मुल्ककी भी हत्या हो गयी। तब ये निशापुरसे अपने जन्मस्थान तूसमें चले आये और फिर स्थायीरूपसे वहीं रहने लगे। वहां इन्होंने एक छोटीसी पाठशाला और एक मठ स्थापित कर लिये और पांच वर्षतक अपने पास आनेवाले लोगोंको धर्मोपदेश करते रहे। अन्तमें ता० १९ दिसंबर सन् ११११ ई० (जुम्मद-ए-सानी १४ सन् ५०५ हिज्री) में पचपन वर्षकी आयुमें इनका स्वर्गवास हुआ। इस समय ये तेहरान में थे। अतः यहीं इनको समाधिस्थ किया गया।

अल् ग़ज़ाली बड़े चमत्कारी और दार्शनिक थे। ये बड़े स्वतन्त्र विचारोंके थे। इन्होंने पहली वार इस्लाम धर्मको दार्शनिक रूप दिया। इन्हें निःसन्देह इस्लाम धर्मका सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कह सकते हैं।

विचारोंकी सूक्ष्मता, स्पष्टता और शक्तिमत्ता में ग़ज़ाली की गणना पूर्व तथा पश्चिम के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकोंमें की जा सकती है। तथापि आजसे कुछ काल पूर्वतक ग़ज़ालीके ग्रन्थोंको अरबी-फारसी जाननेवाले लोगोंके सिवा और कोई नहीं जानता था। थोड़े ही दिन हुए संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा और विज्ञानपरिषद् (UNESCO) ने लबनान गवर्नमैण्टके सहयोग से धर्मग्रन्थोंका भाषान्तर करने के लिये एक आयोग की नियुक्ति की थी। उसने इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ एहिया-उल्-उलूम (Ihya-ul-ulum) का अँग्रेजी, फ्रेञ्च और स्पेनिश भाषाओंमें अनुवाद किया है। इसका अँग्रेजी अनुवाद 'O Disciple' नामसे प्रसिद्ध है। ग़ज़ालीने यह ग्रन्थ अपनी विदेश यात्राके समय लिखा था। इस ग्रन्थके नामका अर्थ है 'विज्ञानका पुनर्निमाण' इससे इसका विषय भी स्पष्ट हो जाता है। यह पुस्तक सदाचारके सिद्धान्त और उनके आचरणकी पद्धतिका वर्णन करती है। इसे दो खण्डों में विभक्त किया गया है और प्रत्येक खण्ड में दो-दो भाग हैं। ये चारों भाग क्रमशः (१) अल् इबादत (प्रभुके प्रति जीवके कर्म), (२) अल् आदत (जीवनका विनियोग), (३) अल् मुहलिकात (जीवनके ध्वंसकारी तत्त्व) और (४) अल् मुन्दजियात (संरक्षक तत्त्व)—इन चार विषयोंका निरूपण करते हैं। इनमेंसे प्रत्येक भागमें दस-दस प्रकरण हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थमें चालीस प्रकरण हैं। दुर्भाग्यवश ग़ज़ालीने इस ग्रन्थमें रसूलके कुछ ऐसे परम्परागत वाक्योंको उद्धृत किया हैं जिनकी प्रामाणिकता बहुत संदिग्ध है। इसीसे परवर्ती मुस्लिम उलेमाओंने इस पुस्तककी बड़ी कड़ी आलोचनाएँ की हैं। इन विद्वानोंमें सबसे अधिक विरोधी इब्न क़यूम है।

इनके अन्य ग्रन्थोंका विवरण सामान्यता इस प्रकार हैं—

१. *याकूतुत्तावील-फी-अल्-तफ़सीर*—कुरानशरीफ पर इनकी टीका है। इनके ग्रन्थोंमें यह सबसे बड़ा है। इसके भी चालीस खण्ड हैं।

२. *क़वायदुल् अकायद*—इसमें भगवद्विश्वास के नियमोंका वर्णन हैं। इसकी शैली इहया-उल्-उलूमसे बहुत मिलती-जुलती है।

३. *मक़ासिद-अल्-फिलॉसफा*—इसमें बहुत उच्च कोटिकी यूनानी फिलॉसफीका वर्णन किया गया है। योरोपीय विद्वानोंको ग़ज़ालीके ग्रन्थोंमें सबसे अधिक इसीने आकर्षित किया है। किन्तु मुस्लिम जगत्ने इसकी ऐसी उपेक्षा की है कि इस्लामी देशोंके किसी भी पुस्तकालयमें इसकी एक भी प्रति उपलब्ध नहीं होती। इस ग्रन्थमें यूनानी दर्शनशास्त्रका बड़ी उदारता-पूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है। इसलिये ग़ज़ालीके सम-सामयिक मुस्लिम विद्वानोंकी आँखोंमें यह ग्रन्थ बहुत खटकता था। इसकी एक पाण्डुलिपि स्पेनके राजकीय पुस्तकालयमें है। सन् १५०६ ई० में ही इसका हिब्रू और लैटिन दो भागाओंमें अनुवाद हो चुका है। ये दोनों अनुवाद फ्रांसके राजकीय पुस्तकालयमें सुरक्षित हैं।

४. *तहाफतुल फिलॉसफा*—यह पुस्तक भी यूनानी दर्शनशास्त्रपर ही लिखी गयी है। किन्तु इसमें उसके विरोधी सिद्धान्तोंका खण्डन किया गया है और यह दिखलाया गया है कि मानव-जीवनपर यूनानी दर्शनका किस प्रकार विरोधी प्रभाव पड़ता है। इस ग्रन्थके फ्रेंच और जर्मन अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं।

५. *मीज़ान-उल्-अमल*—यह भी एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें ग़ज़ालीने यह प्रदर्शित किया है कि मानवजीवनपर तर्कशास्त्रका क्या प्रभाव पड़ता है और यह निष्कर्ष निकाला है कि ज्ञात अथवा अज्ञात रूपसे मानवजीवन तर्कद्वारा प्रेरित होता ही है तथा वास्तव में यह तर्कसिद्ध परिणामों के सिवा और कुछ नहीं है। सन् १८३९ ई० में एक यहूदी दार्शनिकने इस पुस्तकका हिब्रू अनुवाद प्रकाशित किया है।

६. *अल्-मुनकिद-मिन्-अल्-दलाल*—यह धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तोंका निरूपण करनेवाला एक उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसने भी योरोपीय विचारकोंको बहुत आकर्षित किया है। ग़ज़ाली के जीवनमें विविध प्रकारके धार्मिक विचारों और शिक्षाओं के अनुशीलनसे जो परिणाम हुए तथा गम्भीर मनन और चिन्तनसे उसमें जो-जो परिवर्तन हुए वे सब इस ग्रन्थमें प्रदर्शित किये गये हैं। मुस्लिम जगत्में इस ग्रन्थका भी विशेष आदर नहीं हुआ। बारबियर डी मेनार्ड (Barbier de Maynard) ने अठारहवी शतीके उत्तरार्द्ध में इस ग्रन्थका एक फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया है।

७. *अल्-तिब्र-अल्-मसबूक़*—यह राज्यशासनके नियमों का निरूपण करनेवाला एक बृहत् ग्रन्थ है। इसे ग़ज़ालीने बग़दादके खलीफ़ा मुस्तजहर बिल्लाह (Mustauxher Billah) के आदेशसे लिखा था।

८. *सिरे-अल्-आलमीन व कश्फ़ माफ़िद्दारैन्*—यह भी खलीफा मुस्तज़हरके आदेशसे लिखा हुआ शासनसम्बन्धी ग्रन्थ ही है। इसे सन् १८९६ ई० में हेनरिच माल्टर (Henraich Malter) ने हिब्रू में अनुवाद करके प्रकाशित किया था।

९. *मुस्तज़हरी*—इस पुस्तकको भी ग़ज़ालीने खलीफ़ा मुस्तज़हरकी आज्ञासे लिखा था। इसमें बातिनिया सम्प्रदायका विरोध किया गया है, जो उस समय बहुत प्रबल हो उठा था। इसका नामकरण भी उन्होंने खलीफाके नामपर ही किया था।

१०. *अल्-ताबीर-फ़ी-इल्म-अत्ताबीर*—यह स्वप्नविचार-सम्बन्धी अत्यन्त रोचक ग्रन्थ है। योरोपमें इसका विशेष प्रचार है तथा फ्रेंच और जर्मन दोनों भाषाओंमें इसके अनुवाद हो चुके हैं।

११. *मज़्नून-ए-सग़ीर*—इस ग्रन्थमें ग़ज़ालीने आत्मा और देहके सम्बन्धसे इसकी विभिन्न जातियोंका वर्णन किया है।

१२. *मुस्तसफा*—यह पुस्तक इस्लाम धर्मके दर्शन, तर्क, सदाचार और धर्मशास्त्रसम्बन्धी विधानोंके विषयमें है। इसका निर्माण सन् १११० ई० में हुआ था। यह ग़ज़ालीकी रचनाओंमें सम्भवतः अन्तिम है।

इसी प्रकार अल् ग़ज़ालीने और भी अनेकों ग्रन्थोंका निर्माण किया है। उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ सतहत्तर बताये जाते हैं। ग़ज़ाली कविता भी करते थे। उन दिनों फारसी ईरानकी राजभाषा थी तथा फारसीके सुप्रसिद्ध कवि उमर खय्याम इनके समकालीन थे। अतः इन्होंने बड़े उत्साहसे फारसी काव्यरचना की थी। इनकी कविताएँ मुख्यतया धार्मिक भाव अथवा सूफी सिद्धान्तोंके आधार पर होती थीं।

विषयानुक्रमणिका

—-:o:—

प्रथम उल्लास

अपने आपकी पहचान

द्वितीय उल्लास

भगवान् की पहचान

तृतीय उल्लास

माया की पहचान

चतुर्थ उल्लास

परलोक की पहचान

पञ्चम उल्लास

भगवान् के भजन और सत्कर्मों में स्थित होना

षष्ठ उल्लास

समस्त शारीरिक क्रियाओंको विचारकी मर्यादानुसार करना

सप्तम उल्लास

चित्तके मलिन स्वभावों का शोधन

अष्टम उल्लास

हृदयको सत्स्वभावोंसे सम्पन्न करना

—:o:—

ॐ

श्रीगुरवे नमः

पारसमणि

पूर्वाभास

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक ।
तिनके पद बन्दन किये, नासहिं विघ्न अनेक ।।

जिन प्रभु के ऐश्वर्य, पूर्णत्व और सामर्थ्य की पहिचान कोई जीव नहीं कर सकता उनके लिये मंगलाचरण, स्तुति और धन्यवाद भी आकाश के तारों, मेघ की बूँदों और वृक्षों की पंक्तियों के समान अनन्त ही हैं। उनको पूर्णतया पहिचानने का मार्ग संसार में कोई जीव नहीं पा सकता तथा उनकी सृष्टि का परिचय प्राप्त करने में भी किसी का सामर्थ्य या बल काम नहीं दे सकता। अतः जो पहले महापुरुष हैं उनकी भी अन्तिम स्थिति यही होती है कि वे उन्हें पूर्णतया पहिचानने में अपनी असमर्थता ही प्रकट करते हैं। बड़े-बड़े समर्थ पुरुष और देवता भी प्रभु की स्तुति और महिमा का वर्णन करते हुए अपनी अल्पता स्वीकार करते हैं तथा महान् बुद्धिमानों की बुद्धि भी उनके सर्वोत्कृष्ट प्रकाश एवं सामर्थ्य के सामने खो-सी जाती है। जिज्ञासु और प्रेमी पुरुष भी उन के परमधाम का मार्ग ढूँढ़ने में विस्मित हो रहे हैं। उनका स्वरूप मन की संकल्प शक्ति से बाहर है तथा स्थूल दृष्टान्तों से भी उसे

समझाया नहीं जा सकता। इसी से बुद्धि रूपी नेत्रों की दृष्टि भी उनके स्वरूप का साक्षात्कार करने में कुण्ठित हो जाती है। अतः सारी बुद्धियों का सार यही है कि प्रभु की इस आश्चर्यमयी कृति को देखकर ही उन्हें पहिचानें। ऐसा अधिकार तो किसी भी पुरुष का नहीं है जो उनके स्वरूप के विषय में यह सोच सके कि वह ऐसा और यह है। साथ ही, यह भी किसी के लिये उचित नहीं है कि एक क्षण के लिये भी उनकी इस आश्चर्यमयी कृतिकी ओर से असावधान हो और ऐसा समझने लगे कि इस कारीगरी का कर्ता एवं आश्रय कोई नहीं है। अतः मनुष्य को चाहिये कि प्रभु की इस कारीगरी को देखकर ऐसी भावना करे कि यह सारा जगत् उस जगदीश्वर के ऐश्वर्य का प्रतिबिम्ब ही है, यह उसी के तेज का प्रकाश है। अथवा यह सारी आश्चर्यमयी रचना उसी का अनुभव, उसी की दृष्टि का विलास या उसी के स्वरूप का आभास है। अतः ये सब पदार्थ उसीसे उत्पन्न हुए हैं और उसी में स्थित हैं। तात्पर्य यह कि सब कुछ वही है, क्योंकि कोई भी पदार्थ भगवान् की शक्ति के बिना स्वयं स्थित नहीं है, अतः सबके आश्रय प्रभु ही हैं।

इसी प्रकार उनके प्रियतम जो सन्तजन हैं वे भी जिज्ञासुओं को सच्चा मार्ग दिखानेवाले, भगवान् के गुप्त रहस्य प्रकट करने वाले और परम दयालु होते हैं। उन्हें भी मेरा नमस्कार है।

याद रखो, भगवान् ने इस मनुष्य को व्यर्थ बोलने और हँसने के लिये ही उत्पन्न नहीं किया है। इसका पद भी बहुत ऊँचा है और इसके लिये पतन का भय भी अधिक है। यद्यपि यह जीव अनादि नहीं है,❀ अर्थात् भगवान् का उत्पन्न किया हुआ है,तो भी अविनाशीस्वरूप है। और यद्यपि इस जीव का स्वरूप स्थूल तत्वों से रचा गया है तथापि इसका जो हृदय है वह चैतन्यरूप, अत्यन्त

❀ यह मुस्लिम शास्त्रों का सिद्धान्त है।

श्रेष्ठ और अमर है। जन्म होने के समय यद्यपि इस जीव का स्वभाव पशुओं, सिंहों और भूत-प्रेतों के समान ही होता है तथापि जब इसे प्रयत्न की आँच लगाकर ढाला जाता है तो सब प्रकार के मल और नीचताओं से शुद्ध होकर यह श्रीभगवान के दर्शन और धाम का अधिकारी बन जाता है। अतः निश्चय हुआ कि अधोगति ही रसातल है और ऊर्ध्वगतिरूप जो देवलोक है वह भी इस मनुष्य को ही प्राप्त होने वाला स्थान है। पशुओं और सिंहों के-से स्वभाव को अपनाना तथा भोगों और क्रोधादि दोषों के अधीन होना—इसी का नाम अधोगति है। तथा देवताओं के से स्वभाव में स्थित होना एवं भोगों और क्रोधादि को अपने अधीन रखना—इसी का नाम ऊर्ध्वगति है। जब मनुष्य भोग और क्रोधादि को अपने वश में रखता है तो वह भगवान् की भक्ति का अधिकारी होजाता है। यही देवताओं का स्वभाव है और यही मनुष्य की उत्तम अवस्था भी है। जब मनुष्य को भगवान् के दर्शन का आनन्द प्राप्त हो जाता है तब वह उनकी झाँकी किये बिना एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। उनकी मधुर मूर्ति के दर्शन का आनन्द ही उस का सच्चा स्वर्ग है। यह पुण्यकर्मों के परिणाम में प्राप्त होने वाला स्थूल स्वर्ग, जो दिव्य भोगों की भूमि कहा जाता है, उसे सर्वथा तुच्छ जान पड़ता है।

यह मनुष्य देह यद्यपि अमूल्य रत्न के समान है, किन्तु जन्म लेने के समय तो यह बड़ा ही नीच और मलिन होता है। विशेष पुरुषार्थ और साधन किये बिना यह किसी प्रकार पूर्णपद को प्राप्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार ताँबा लोहा आदि धातुएँ पारस का स्पर्श पाये बिना सुवर्ण नहीं हो सकतीं उसी प्रकार जिस विद्या के द्वारा मनुष्य पूर्ण पद प्राप्त कर सकता है वह अत्यन्त गुह्य है। उसे सब कोई नहीं जानते। उस विद्या के द्वारा मनुष्यरूपी धातु पाशविक स्वभाव एवं अज्ञान रूपी मल से शुद्ध होकर देदीप्यमान

सुवर्ण बन जाता है। इस ग्रन्थ में उसी विद्या का निरूपण किया गया है। अतः साक्षात् पारस मणि के समान होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम भी 'पारसमणि' रखा गया है। इस ग्रन्थ में जो सदुपदेश हैं वे पारस रूप ही हैं। जो पारस तांबे को सुवर्ण बनाता है वह तो इसके सामने बहुत स्थूल और तुच्छ है, क्योंकि ताँबे और सोने में तो केवल रंग का ही भेद है। सोने से भी मायिक भोग ही प्राप्त हो सकते हैं। और माया स्वयं ही नाशवान् है, अतः माया के भोग भी क्षणिक और परिणामी ही होते हैं। किन्तु ये पारसरूपी सदुपदेश तो बड़े ही महत्त्व के हैं, क्योंकि इनके द्वारा जीव रसातल से निकल कर ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है। इस अधोगति और ऊर्ध्वगति में बड़ा भारी अन्तर है। जब यह मनुष्य निर्मल स्वभावरूपी ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है तो इसे अविनाशी पद की प्राप्त हो जाती है। वह ऐसा सुख है जिसका कभी अन्त या नाश नहीं होता तथा दुःख रूपी मल का भी उस परम सुख में कभी स्पर्श नहीं होता। इसी से इस ग्रन्थ का नाम 'पारसमणि' रखा गया है।

स्थूल पारस की शोभा यद्यपि देखने भर की होती है, तथापि ताँबा आदि धातु तो उसका स्पर्श पाने पर ही सुवर्ण हो सकते हैं। यह स्थूल पारस भी सब जगह नहीं मिलता, किसी सिद्ध महात्मा या राजराजेश्वर के भण्डार में ही पाया जाता है। इसी प्रकार यह सूक्ष्म पारस भी साक्षात् श्रीभगवान् के भण्डार में ही मिलता है, और वह भगवान् का भण्डार है संतजनों का हृदय। अतः जो पुरुष इस पारस को संतजनों के हृदय के सिवा किसी अन्य स्थान में ढूँढ़ता है वह तो व्यर्थ ही भटकता रहता है, उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। इसीसे अंत में उसे दीनता ही हाथ लगती है। वह पहले तो बड़ा अभिमान करता था, किंतु पीछे उसे लज्जा से सिर झुकाना पड़ता है। दयालु प्रभु ने जीवों पर यह बड़ा उपकार किया

है जो जगत के कल्याण के लिये संतों को धराधाम में भेजा जाता है। इसमें भगवान् का यही अभिप्राय है कि वे संतजन अपने सदुपदेशरूपी पारसमणि को प्रसिद्ध करें और जीवों को बतायें कि किस प्रकार अपने हृदय रूपी धातु को साधन रूपी कुठाली में तपाकर उसके मलिन स्वभावों को दूर किया जाय तथा उत्तम स्वभावों को प्राप्त किया जाय। संतजनों का उपदेश प्राप्त होने पर ही मनुष्य नीच स्वभावों से छुटकारा पाकर निर्मल स्वभावों का उपार्जन कर सकता है। अतः इस संतवचन रूप पारसमणि का तात्पर्य यही है कि पहले जीव माया के पदार्थों से विरक्त होकर श्रीभगवान् की शरण ले। यही बात महापुरूष[1] ने भी कही है कि सब पदार्थों को त्यागकर अपने को श्रीभगवान् की शरण में लाओ।※ यही सम्पूर्ण विद्याओं का भी तात्पर्य है। शास्त्रों में इसका वर्णन भी बड़े विस्तार से किया गया है, तथापि इसकी पहिचान चार प्रकार से हो सकती है—

१. अपने आपको पहिचानो।

२. भगवान् को पहिचानो।

३. माया को पहिचानो।

४. परलोक को पहिचानो।

आगे के चार उल्लासों में क्रमशः इन चार पहिचानों के उपायों का ही वर्णन किया जाता है।

---

१. इस ग्रन्थ में इस्लाम-धर्म-संस्थापक हजरत मुहम्मद साहब का 'महापुरुष' पद से उल्लेख किया गया है।

※ गीता में श्रीभगवान् ने भी अपना सबसे गुह्यतम उपदेश यही बताया है कि सब धर्मों को छोड़कर एक मात्र मेरी शरण में आजा; यथा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (१८।६६)

[१]

प्रथम उल्लास

(अपने-आपकी पहिचान)

पहली किरण

भगवत्साक्षात्कार के लिये अपने को पहिचानने की आवश्यकता

याद रखो, अपने-आपको पहिचानना ही श्रीभगवान् को पहिचानने की कुञ्जी है। इसी विषय में महापुरुष ने भी कहा है कि जिसने अपने को पहिचाना है उसने निःसन्देह अपने प्रभु को भी पहिचान लिया है। तथा प्रभु भी कहते हैं कि मैंने अपने ही लक्षण जीवों के हृदय में प्रकट किये हैं जिससे कि वे अपने को पहिचान कर फिर मुझे भी पहिचानें। सो, भाई! तेरे आस-पास ऐसा और कोई नहीं है जिसे पहिचानना तेरे लिये अपने-आपको पहिचानने से अधिक आवश्यक हो। पहले जब तू अपने को भी नहीं पहिचानता तो और किसी को कैसे पहिचानेगा? यदि तू कहे कि मैं अपने को तो पहिचानता हूँ, तो तेरा यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि जिस रूप में तू अपने को पहिचानता है तेरी वह पहिचान श्रीभगवान् को पहिचानने की कुञ्जी नहीं है। तू जो अपने को हाथ, पाँव, त्वचा एवं मांस आदि से युक्त स्थूल शरीर समझता है तथा भूख होने पर आहार की इच्छा करनेवाला, क्रोधित होने पर लड़ने-झगड़नेवाला और कामातुर होने पर भोगवासना से व्याकुल और उसी संकल्प में डूब जानेवाला जानता है, सो इस प्रकार की पहिचान में तो पशु भी तेरे ही समान हैं। अतः तुझे यह वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये कि मैं क्या वस्तु हूँ, कहाँ

से आया हूँ, किस जगह जाऊँगा, किस निमित्त से मैं संसार में आया हूँ, किस कार्य के लिये भगवान् ने मुझे उत्पन्न किया है, मेरी भलाई किस में है और क्या मेरा दुर्भाग्य है ? इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिये कि तेरे भीतर जो दैवी और पाशविक वृत्तियों का संघटन हुआ है उनमें किस प्रकार की वृत्तियों की प्रबलता है। तथा साथ ही यह भी पहिचान कि तेरा अपना स्वभाव क्या है और परस्वभाव क्या है।

जब तू भली प्रकार इन सब बातों को पहिचान लेगा तो तेरी इनमें श्रद्धा भी होगी, क्योंकि विभिन्न जीवों की भलाई, पूर्णता और आहार भी भिन्न-भिन्न हैं। पशुओं की भलाई और पूर्णता इसी में है कि उन्हें अच्छी तरह सोने और खाने-पीने की सुविधा मिल जाय तथा दूसरे पशुओं को लड़ाई में परास्त करने की शक्ति हो। सो, यदि तू अपने को पशु समझता हो तो दिन-रात उदर-पूर्त्ति और इन्द्रियपोषण के लिये ही पुरुषार्थ कर। सिंहों की पूर्णता दूसरे जीवों को फाड़ खाने और क्रोधाविष्ट होने में ही है तथा भूत-प्रेत छल-कपट के द्वारा ही अपना आतंक स्थापित करते हैं। सो, यदि तू सिंह या भूत-प्रेत है तो इसी प्रकार के स्वभाव में स्थित रह। ऐसा होने पर ही तेरी पूर्णता सिद्ध होगी। देवताओं की भलाई और पूर्णता तो श्रीभगवान् का दर्शन प्राप्त करने में है और यही उनका आहार भी है। भोगवासना और क्रोधादि तो पशुओं के स्वभाव हैं। ये देवताओं को छू भी नहीं सकते।

इसलिये यदि मानवयोनि में जन्म लेने के कारण तुझे जन्मतः देवभाव का अधिकार प्राप्त हुआ है तो यही पुरुषार्थ कर कि भगवान् के दरबार तक पहुँच सके। इसके लिये अपने को भोगवासना और क्रोधादि से दूर रख और इस भेद को याद रख कि भगवान् ने तेरे लिये जो पाशविक स्वभाव और वृत्तियों की रचना की है वह इसलिये है कि तेरा उन पर पूर्ण अधिकार हो और तुझे जिस

मार्ग द्वारा अपने गन्तव्य स्थान पर जाना है उसमें तू इन्हें अपने अधीन रखकर चले, स्वयं कभी इनके अधीन न हो। अतः जिस प्रकार घोड़े और शस्त्रों पर अधिकार रखकर शिकार खेला जाता है उसी प्रकार इन पाशविक स्वभाव और वृत्तियों पर सवारी गाँठ कर इन्हीं के द्वारा तू देवभावरूप अपने लक्ष्य को वेध। जितने समय तुझे जीना है इसी कार्य को सिद्ध करने में अपनी आयु लगा दे। इस प्रकार जब तुझे भलाई प्राप्त होगी और तुझमें दैवी स्वभाव का आविर्भाव होगा तो तू भगवान् को पहिचानने के लिये प्रवृत्त होगा और फिर मुक्त हो जायगा।

अच्छा तो, यह भगवान् की पहिचान कैसी है ? यही संतजनों के स्थित होने का स्थान है। यह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है। दूसरे लोग तो स्वर्ग को ही सर्वोत्कृष्ट सुख समझते हैं, किन्तु संतों का सुख तो श्रीभगवान् की शरण में ही है। जब तू ऐसा समझेगा तभी अपने को थोड़ा पहिचान सकेगा। जो पुरुष इस भेद को नहीं पहिचानता उसके लिये धर्म मार्ग में चलना कठिन है तथा आत्म सुख भी उससे ओझल ही रहता है।

—:०:—

दूसरी किरण

जीव के वास्तविक स्वरूप और आत्माभ्यास का वर्णन

यदि तू अपने को पहिचानना चाहता है तो ऐसा निश्चय कर कि भगवान् ने तुझे दो तत्त्वों से युक्त उत्पन्न किया है। इनमें एक तो शरीर है जो स्थूल नेत्रों से दिखायी देता है और दूसरा चैतन्य है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है। उसी को जीव भी कहते हैं तथा मन और चित्त भी उसी के नाम हैं। वह स्थूल दृष्टि से परे है उसे बुद्धिरूप नेत्र के द्वारा ही देखा जा सकता है। तेरा निज-स्वरूप यह चैतन्यतत्त्व ही है और जितने भी गुण हैं वे इस चैतन्य के ही अधीन हैं, इसी के टहलुए हैं अथवा इसी की सेना के सदृश हैं। मैंने उसी चैतन्य का नाम 'हृदय' रखा है। इसमें सन्देह नहीं कि आत्मा, हृदय और मन ये सब उस चैतन्य के ही नाम हैं। अतः जब मैं हृदय का वर्णन करूँ तो मेरा प्रयोजन शरीर के अंगभूत हृदय स्थान से न समझें, क्योंकि यह हृदय स्थान तो मांस और त्वचा आदि से रचा हुआ है और पञ्चभूतों का कार्य है; अतः जड़ है। और मनुष्य का जो चैतन्य स्वरूप हृदय है वह स्थूल दृष्टि से सर्वथा विलक्षण है। वह तो एक परदेशी की तरह अपने कार्य के लिये इस शरीर में आया है। शरीर में जो स्थूल हृदय-स्थान है वह जीवके घोड़े या शस्त्र की तरह है, इन्द्रियाँ सेना

हैं और जीव शरीर का राजा है। अतः भगवान् को पहिचानना और उनका दर्शन करना यह जीव का अधिकार है। इसी से दण्ड और उपदेश तथा पाप और पुण्य का अधिकारी भी जीव ही है। तथा भाग्यहीन और भाग्यवान् भी इस जीव को ही कहा जाता है। यह शरीर सर्वदा जीव के अधीन है; अतः उस चैतन्य के स्वरूप को पहिचानना और उसके स्वभाव को समझना ही श्रीभगवान् को पहिचानने की कुञ्जी है।

बस, तू यही पुरुषार्थ कर कि इस चैतन्य के स्वरूप को पहिचान जाय, क्योंकि यह चैतन्य रूपी रत्न अत्यन्त दुर्लभ है और देवताओं की तरह नित्य निर्मल है। इस रत्न की खानि परब्रह्म है, क्यों कि यह जीव वहीं से आया है और फिर उसी में लीन भी होगा। इस संसार में तो यह परदेशी की तरह है, अपने कार्य के लिये ही यहाँ आया है। अतः तुझे अपना वह कार्य भी अवश्य पहिचानना चाहिये। परन्तु उसकी पहिचान श्रीभगवान् की कृपा से ही हो सकती है।

अब मैं आत्मसत्ता के अभ्यास का वर्णन करता हूँ। यह बात निश्चय जानो कि जब तक तुम अपने चैतन्य स्वरूप को नहीं पहिचानोगे तब तक हृदय के वास्तविक स्वरूप को भी नहीं जान सकोगे; और इसी से तुम्हें श्रीभगवान् की भी पहिचान नहीं हो सकेगी और न उत्कृष्ट लोकों का ही ज्ञान होगा। यदि एक दृष्टि से देखा जाय तो चैतन्य सत्ता अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि उसकी स्थिति शरीर के आश्रित नहीं है, अपितु उसके न रहने पर ही शरीर और इन्द्रियाँ निर्जीव हो जाती हैं और उन्हें मृतक कहा जाता है। इसके सिवा यदि कोई मनुष्य नेत्रादि इन्द्रियों को रोककर चैतन्य का अभ्यास करते हुए अपने शरीर और सम्पूर्ण जगत् को भूल जाय तो उसे निःसन्देह अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है। जब

इसका अधिक अभ्यास और विचार किया जाता है तो सुगमता से ही परमात्मा का भी दर्शन हो जाता है और यह बात प्रत्यक्ष दिखायी देने लगती है कि जब मनुष्य का शरीर छूटता है तो चैतन्यस्वरूप जीव का नाश नहीं होता, वह अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है।

इस जीव का जो शुद्ध स्वरूप है—इसका जो वास्तविक स्वभाव है उसका धर्मशास्त्रों ने स्पष्ट शब्दों में निरूपण नहीं किया। कहते हैं, कुछ लोगों ने महापुरुष के पास जाकर पूछा था कि जीव का स्वरूप क्या है। इस पर उन्होंने उसका कोई स्पष्ट वर्णन नहीं किया, भगवत्प्रेरणा से केवल इतना कहा कि यह प्रभु की सत्तामात्र है। इसका और अधिक वर्णन करना उन्होंने उचित नहीं समझा। बस, इतना ही उत्तर दिया कि यह सृष्टि दो प्रकार की है—एक स्थूल सृष्टि है और दूसरी इसकी सूक्ष्म सत्ता। जहाँ पदार्थों की मर्यादा, आकार अथवा घटना-बढ़ना देखा जाता है वह स्थूल सृष्टि है और चैतन्य सत्ता सूक्ष्म रूप है। उसकी कोई मर्यादा या आकृति नहीं है, वह अखण्ड है। मनुष्य का जो हृदय स्थान है वह तो खण्ड रूप है, इसी से मानव हृदय में एक ओर विद्या और दूसरी ओर अविद्या रहती है। किन्तु चैतन्य सत्तामें इस प्रकार विद्या-अविद्या का भेद नहीं है। इसी से यह अखण्ड कही जाती है। इसकी कोई मर्यादा या सीमा भी नहीं है। इस प्रकार यद्यपि यह भगवत्स्वरूप ही है, तथापि इसे भगवान् ने उत्पन्न किया है,※ इसलिये यह 'जीव' कही जाती है। यह जीव सत्ता ही सूक्ष्म सृष्टि है, क्योंकि इसका कोई स्थूल स्वरूप नहीं है।

जिन लोगों ने ऐसा निश्चय किया है कि जीव अनादि है वे

※ 'जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथग्विधान्।' (माण्डूक्य कारिका २।१६)

भूल में हैं तथा जो इसे परमात्मा का प्रतिविम्ब मानते हैं वे भी भूले हुए हैं, क्योंकि प्रतिविम्ब तो स्वयं कोई वस्तु ही नहीं होती। इसी प्रकार जो अनादि होता है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती, और जीव उत्पन्न किया हुआ है तथा इस शरीर का आश्रय है। अतः इसे अनादि या प्रतिविम्ब कहना उचित नहीं। जो लोग इस शरीर को ही आत्मा मानते हैं वे भी भूले हुए हैं, क्योंकि यह शरीर तो खण्ड-खण्ड होता है और आत्मा अखण्ड है। इसके सिवा यह ज्ञान स्वरूप है और शरीर जड़ है। अतः शरीर ही आत्मा नहीं हो सकता। आत्मा तो सत्तास्वरूप, चैतन्य और देवताओं के समान प्रकाशमान है। वास्तव में इस जीव का मूल रूप तो किसी की पहिचान में आना अत्यन्त कठिन है। उसका शब्दों द्वारा निरूपण भी नहीं किया जा सकता। तथा साधन काल में जिज्ञासु को इस का निर्णय करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। जिज्ञासु को तो धर्म मार्ग में बढ़ते रहने का प्रयत्न एवं उद्यम करते रहना चाहिये। जब विधिवत् प्रयत्न करते-करते अभ्यास में दृढ़ता आती है तो उसे स्वयं ही स्वरूप का प्रकाश हो जाता है, फिर किसी के कुछ कहने सुनने की अपेक्षा नहीं रहती। इस विषय में भगवान् ने भी कहा है कि जब पुरुष मेरे मार्ग में चित्त लगाता है और अभ्यास करने लगता है तो मैं उसे अपने स्वरूप का ज्ञान करा देता हूँ।❀ जिस पुरुष ने सम्यक् प्रकार से अभ्यास और प्रयत्न न किया हो उसके आगे आत्मा के स्वरूप की चर्चा करना उचित नहीं। यदि उसके आगे इसकी चर्चा की भी जायगी तो वह बात उसके हृदय में बैठेगी नहीं।

❀ गीता में श्रीभगवान् ने भी कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ (१०।१०)

किन्तु आत्मासाक्षात्कार का प्रयत्न करने से पहिले ही जीवकी सेना का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है, क्योंकि उसको जाने बिना अशुभ सेना से विरोध करना असंम्भव होगा। अतः अगली किरण में जीव की सेना का वर्णन किया जाता है।

—:o:—

तीसरी किरण

जीव की सेना

यह जीव एक राजा के समान है और शरीर इसका राज्य-मण्डल है। इसमें अनेक प्रकार की सेना रहती है। भगवान् ने जीव को इस उद्देश्य से रचा है कि यह अपना परलोक सुधार ले। अतः अपनी भलाई को ढूँढ़ना ही इसका मुख्य कर्त्तव्य है और इसकी सबसे बड़ी भलाई यही है कि यह श्री भगवान् को पहिचान ले। भगवान् की पहिचान उनकी आश्चर्यमयी कारीगरी को देखकर होती है। वह सारा संसार भगवान् की कारीगरी ही है और इसकी पहिचान इन्द्रियों द्वारा होती है। अतः जिस प्रकार शिकारी के पास अपने शिकार को फँसाने का फन्दा रहता है उसी प्रकार भगवान् की कारीगरी रूप शिकार को ग्रहण करने के लिये मानो जीव को इन्द्रिय रूप फन्द मिला हुआ है।

मनुष्य का शरीर पाँच तत्त्वों से बना हुआ है और वात, पित्त कफ ये तीन इसके प्रबल विकार हैं। अतः इसे सर्वदा नष्ट हो जाने का भय लगा रहता है। शरीर का नाश भूख-प्यास से भी हो सकता है, अतएव इनसे बचने के लिये भगवान् ने अन्न और जल उत्पन्न कर दिये हैं। इनके सिवा अग्नि, शत्रु और सिंहादि हिंस्र जीवों के द्वारा भी इसके नाश की आशंका रहती है। इनसे शरीर को सुरक्षित रखने के लिये भगवान् ने दो प्रकार की सेना रची है– स्थूल और सूक्ष्म। हाथ, पाँव और शस्त्रास्त्र ये

स्थूल सेना हैं तथा मन की जो भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ हैं वे सूक्ष्म सेना हैं। इन सब में प्रधान बुद्धि है। वही शत्रु और मित्र की पहिचान करती है तथा उसी के आदेशानुसार स्थूल एवं सूक्ष्म सेनाएँ अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होती हैं। इनके सिवा श्रवण त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। ये भी बुद्धि के ही अधीन हैं। बुद्धि ही अन्तः करणचतुष्टय रूप से इन सबकी प्रेरक है। भगवान् ने यह सारी सेना जीवरूप राजा का कार्य करने के लिये ही बनायी है। इस सेना में से जब किसी अंग में कोई त्रुटि आ जाती है तो मनुष्य के स्वार्थ या परमार्थ का कार्य ठीक-ठीक नहीं हो पाता।

इस प्रकार यह स्थूल और सूक्ष्म सारी सेना जीव के ही अधीन है। वही इस सारी सेना का राजा है। उसी का संकेत पाकर रसनेन्द्रिय रस ग्रहण करती है, जिह्वा बोलने लगती है, हाथ वस्तु को ग्रहण करते हैं और चित्त चिन्तन करने लगता है। इस प्रकार सब अंगों और सब प्रवृत्तियों में जीव की आज्ञा ही बर्तती है। अतः यदि यह जीव परलोक मार्ग के लिये तोशा तैयार रखे, भगवान् के स्वरूप की पहिचान करे और अपनी भलाई के बीज एकत्रित करे तो अपने परमार्थ सम्बन्धी कर्त्तव्य में दृढ़ हो सकता है और तभी इसे निःसन्देह परमपद की प्राप्ति भी हो सकती है।

जीव शरीर के द्वारा ही अपने वास्तविक कर्त्तव्य की पूर्ति कर सकता है, इसी उद्देश्य से उसके लिये शरीररक्षा आवश्यक मानी गयी है। जिस प्रकार देवतालोग श्री भगवान् की आज्ञा का अनुसरण करते हैं उसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण जीव की आज्ञा के वशवर्ती हैं। अतः ये सब जीव की सेना हैं। इस सेना का पूर्णतया वर्णन किया जाय तो बहुत विस्तार होगा, अतः केवल परिचय के लिये संक्षेप से वर्णन करता हूँ। यह शरीर ही जीव रूपी राजा के रहने का नगर है और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ इसमें

बसनेवाले नागरिक हैं। भोगों की अभिलाषा अर्थात् काम इस राजा का प्रधान सेनानायक है और क्रोध कोतवाल है। इसकी मन्त्री यद्यपि बुद्धि है, तथापि राज्य की व्यवस्था में सेना की सहायता अपेक्षित होती है और उसका प्रधान है काम, जो अत्यन्त झूठा और पाखण्डी है। यह सर्वदा बुद्धिरूप मन्त्री के विपरीत ही चलना चाहता है और सब प्रकार की सामग्री का स्वयं ही उपभोग करने के लिये उत्सुक रहता है। तथा इसका साथी क्रोध रूपी कोतवाल भी बड़ा ही तीक्ष्ण और कठोर है, वह सर्वदा दूसरों का घात ही करना चाहता है। इसलिये इस राजा का यह शरीर रूपी राज्यमण्डल अत्यन्त सन्तप्त रहता है।

किन्तु यदि यह राजा बुद्धिरूपी मन्त्री से सहयोग रखे और उसकी सम्मति से कामरूपी सेनानायक को दबाकर अपने अधीन रखे—वह बुद्धि के विपरीत कुछ कहे तो उसे बिलकुल न सुने तथा क्रोधरूपी कोतवाल को भी उसे ही मर्यादा में रखने के लिये प्रेरित करे और साथ ही इस कोतवाल को भी निःरंकुश न होने दे, इसे भी मर्य्यादा में ही रखे, तो इसका यह देश सुखी हो सकता है। अतः इसे सर्वदा बुद्धि के कथानानुसार ही बर्तना चाहिये तथा काम और क्रोध को भी इतना दबाकर रखना चाहिये कि वे बुद्धि के संकेत का ही अनुसरण करें, स्वयं बुद्धि पर अधिकार न जमा लें। ऐसा होने पर ही इस जीव का राज्य स्वाधीन एवं सुखी हो सकता है तथा तभी इसे भगवान् के दरबार में भी स्थान प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत यदि यह बुद्धि को काम और क्रोध के अधीन कर देगा तो इसका राज्य नष्ट हो जायगा और स्वयं इसे भी बड़े दुर्भाग्य का सामना करना पड़ेगा।

भगवान् ने जल और अन्न शरीर की रक्षा के लिये बनाये हैं तथा शरीर इन्द्रियों की स्थिति के लिये रचा है। अतः शरीर इन्द्रियों का टहलुआ है। इसी प्रकार इन्द्रियों की रचना भगवान्

की कारीगरी देखने के लिये की गई है, इसलिये इन्हें बुद्धि की टहल करनेवाली समझना चाहिये। ये ही बुद्धि के पास सब प्रकार की सूचनाएँ पहुँचाती हैं। बुद्धि जीव के लिये है। यह उसके पथप्रदर्शन के लिये दीपक के समान है और इसी के द्वारा वह भगवान् का दर्शन भी करता है। यह भगवान् का दर्शन ही जीव का परम स्वर्ग है; अतः बुद्धि जीव की टहलुनी है। इसी प्रकार जीव की रचना भगवान् का दर्शन करने के लिये हुई है। अतः जब यह भगवान् का दर्शन कर लेता है तभी इसके वास्तविक कर्त्तव्य की पूर्ति होती है और तभी यह अपने को प्रभु की सेवा में तल्लीन कर सकता है। इसी विषय में श्री भगवान् ने भी कहा है कि मैंने सब मनुष्यों को अपना भजन करने के लिये ही उत्पन्न किया है।

इसका तात्पर्य यही है कि भगवान् ने जो जीव को इन्द्रियादि रूप सेना और शरीर रूप घोड़े से सुसज्जित किया है उनके द्वारा उसे स्थूल देश को लाँघकर सूक्ष्म देश में प्रवेश करना चाहिये। अतः यदि यह श्रीभगवान् के उपकार का आभारी होकर उनका दर्शन करना चाहे तो इसे सबसे पहले अपने शरीर रूपी देश पर ही स्वाधीन शासन स्थापित करते हुए श्री भगवान् की ओर अपना मुख रखना चाहिये। इस संसार से इसे अनासक्त रहना चाहिये तथा इन्द्रियों के अधीन न होकर उन्हें अपनी टहल में लगाना चाहिये। अर्थात् इन्द्रियों को अपने-अपने कार्य में सावधान रखे। वे जब कोई विषय प्रस्तुत करें तो पहले चित्त में उस पर विचार करे, फिर उसके विषय में बुद्धि की भी सम्मति ले और जैसा बुद्धि का निर्णय हो वैसा ही करे। इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—जब दूतलोग देशान्तर से कोई समाचार लेकर आते हैं तो पहले दरवान लोग यह समाचार मन्त्री के पास पहुँचाते हैं और फिर मन्त्री उसे राजा को समझाता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ

इस जीव की दूत हैं, चित्त दरवान है और बुद्धि मन्त्री है। अतः इन्द्रिय रूपी दूतों के द्वारा चित्तरूपी दरवान को जो सन्देश मिले वह बुद्धिरूप मन्त्री के द्वारा जीवरूपी राजा के पास पहुँचना चाहिये। जब बुद्धिरूपी मन्त्री को दिखायी दे कि इस जीव की सेना में काम, क्रोध अथवा कोई और दूषित प्रवृत्ति बढ़ने लगी है और वह राजा के अनुशासन का उल्लंघन करके उसे नष्ट करने पर तुली हुई है तो यह उसे अपने अधीन करे और अपनी आज्ञा की अनुवर्तिनी बनाकर रखे, क्योंकि शारीरिक व्यवहार में कभी-कभी इन प्रवृत्तियों का भी कुछ उपभोग होता है। दुःखदायी तो इनका प्रबल होना ही है, यदि ये बुद्धि की अनुवर्तिनी रहें तब तो इनसे भी परमार्थ पथ में सहायता मिल सकती है।

इस प्रकार यदि यह जीव रूपी राजा नियमानुसार बर्ताव करता है तो अन्त में अपने प्रभु को प्राप्त कर लेता है और उसके पुरस्कार का भागी बनता है। और यदि वह अपने देश में न्यायानुसार आचरण नहीं करता, दुष्टों से मिल जाता अथवा वासनाओं के अधीन हो जाता है तो यह भगवान् के प्रति कृतघ्नी होता है और भाग्यहीन होकर अनेकों दुःख पाता है।

—:०:—

चौथी किरण

जीव के चार प्रकार के स्वभाव

याद रखो, इस शरीर में जितने स्वभाव पाये जाते हैं उन सभी के साथ जीवका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। उनमें भेद इतना ही है कि कोई स्वभाव शुभ होते हैं कोई अशुभ। अशुभ स्वभाव जीव को नष्ट कर देते हैं और शुभ उसे उत्तम स्थिति में पहुँचा देते हैं। इन शुभ और अशुभ स्वभावों के यद्यपि अगणित भेद हैं, तथापि मुख्यतया उन्हें चार विभागों में बांटा जा सकता है; यथा—पशु स्वभाव, सिंह स्वभाव, प्रेत स्वभाव और देव स्वभाव मनुष्यों में जो भोगों की अभिलाषा और तृष्णा है यह इसके पशु स्वभाव की सूचक हैं। इसी से प्रेरित होकर जीव कामोपभोग अथवा खान-पान आदि में लगे रहते हैं। क्रोध सिंह स्वभाव का परिणाम है। इसी से प्रेरित होकर जीव मन, वचन अथवा कर्म से ईर्ष्या, द्वेष और जीवहिंसा आदि में प्रवृत्त होते हैं। तीसरा जो भूत-प्रेतों का स्वभाव है वह मनुष्य को छल, कपट और दम्भ आदि में प्रवृत्त करता है। इसके कारण जीव तरह-तरह के प्रपञ्च और झंझटों में फँस जाता है। चौथा जो देव स्वभाव है वह बुद्धि की प्रेरणा है। इससे प्रेरित होकर मनुष्य अनेकों दिव्य कार्य करता है। इसी के कारण वह विद्या, सत्कर्म और वैराग्यादि को स्वीकार करता तथा निन्द्य कर्मों से बचता है। सब जीवों का हित चाहना, शुभ कर्मों में प्रसन्नता का अनुभव करना तथा

जड़ता और मूर्खता के विघ्नों से बचना—ये सब भी देव स्वभाव के ही परिणाम हैं।

इस प्रकार मनुष्य में ये चार प्रकार के स्वभाव पाये जाते हैं। इन्हीं का आगे विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इन स्वभावों के कारण ही जीवों को श्रेष्ठ या निकृष्ट कहा जाता है। कुत्ते को लोग अपवित्र मानते हैं, सो इसलिये नहीं कि उसका शरीर अपवित्र है, बल्कि स्वभाव की अपवित्रता के कारण ही उसे अपवित्र कहा जाता है। वह क्रोधातुर होकर जीवों को फाड़ने लगता है, इसी से अपिवत्र माना जाता है। शूकर में भी शरीर दृष्टि से कोई अपवित्रता नहीं है। वह भी अपवित्र पदार्थों की तृष्णा रखने के कारण ही अपवित्र है। इसी प्रकार भूत-प्रेत और देवताओं की निकृष्टता उत्कृष्टता भी उनके स्वभावों के कारण ही मानी गयी है। अतः मनुष्यों को शास्त्र और संतजन यही उपदेश करते हैं कि बुद्धिरूपी नेत्रों के द्वारा मनरूपी पिशाच के छल-कपटों को पहिचाने और उनकी बुराई को समझकर उन्हें अपने चित्त से दूर करे; तभी यह इस मनकी चालों से बच सकता है। इसी विषय में महापुरुष ने भी कहा है कि यह प्रेत स्वभाव सभी मनुष्यों में प्रत्यक्ष पाया जाता है और मुझ में भी है, परन्तु प्रभु की कृपा ने मुझे इस पर प्रबल कर दिया है, इसलिये इसका विघ्न मुझे स्पर्श नहीं कर सकता। इसी प्रकार संतों ने भी मनुष्य मात्र को आदेश दिया है कि सर्वदा बुद्धि की आज्ञा के अनुसार बर्ताव करो। ऐसा करने से तुम्हारे स्वभाव सुधर जायेंगे और ये स्वभाव ही तुम्हारे पुण्यों के मूल कारण होंगे। और यदि तुम इसके विपरीत आचरण करोगे अर्थात् उन दुष्ट स्वभावों के अधीन होकर चलोगे तो तुम्हारे सभी स्वभाव दूषित हो जायँगे और वे दूषित स्वभाव ही तुम्हारे दुर्भाग्य के वीज बनेंगे।

जब इस जीव को जाग्रत अथवा स्वप्न अवस्था में अपनी

दुष्ट प्रवृत्ति प्रत्यक्ष प्रतीत हो तो निःसन्देह जाने कि मैं प्रेतों या कुक्कुरों के अधीन हूँ और उन्हीं की आज्ञाओं का अनुसरण करता हूँ। यह ऐसी ही अवस्था है जैसे कोई धर्मात्मा पुरुष यदि किसी अधर्मी या तामसी व्यक्ति के चंगुल में फँस जाय तो उसे अत्यन्त दुःख और कष्ट सहना पड़ता है। अथवा जैसे कोई देवता किसी दैत्य के बन्धन में आ फँसे तो उसे अत्यन्त दुर्गतिका सामना करना पड़ता है। अतः जब यह मनुष्य विचारपूर्वक यथार्थ दृष्टि से देखेगा तो इसे मालूम होगा कि मैं रात-दिन अपने मन की वासनाओं के अधीन हूँ। यद्यपि देखने में तो मेरा शरीर मनुष्य के समान है तथापि स्वभाव से तो मैं कुत्ते शूकर, या प्रेतों के समान ही हूँ। सो परलोक में यह बात प्रत्यक्ष प्रकट हो जायगी; क्योंकि यहाँ जिसका जैसा स्वभाव होता है परलोक में उसे वैसा ही शरीर मिलता है। अतः जिस मनुष्य में तृष्णा और अभिलाषा की प्रबलता है वह वहाँ शूकर देह ही प्राप्त करेगा। यह बात भी निश्चय समझनी चाहिये कि जब कोई मनुष्य स्वप्न में दूषित दृश्य ही अधिक देखे तो समझना चाहिये कि उसका स्वभाव अपवित्र है। यह स्वप्नावस्था भी परलोक की सूचना देनेवाली होती है, क्योंकि उस समय जीव इन्द्रियादि देश से ऊपर उठ जाता है, अतः उस समय इसे अपने आन्तरिक संस्कारों का आभास प्रतीत होने लगता है और इसका जैसा हृदय होता है वैसा ही आकार प्रत्यक्ष सामने आ जाता है। इस विषय का विशेष वर्णन करने से बहुत विस्तार हो जायगा, इसलिये इतना ही कह कर समाप्त करते हैं।

इस प्रकार जब तुमने यह जान लिया कि ये चारों स्वभाव तुम्हारे अन्तकरण में रहते हैं तो तुम अपनी चेष्टाओं से यह निश्चय करो कि मैं इनमें से किस प्रकार के स्वभावों की आज्ञा का अनुवर्तन करता हूँ। यह तो तुम निश्चय जानो कि तुम जिस

प्रकार की चेष्टाएँ करते हो उसी प्रकार का स्वभाव तुम्हारे अन्तःकरण में पुष्ट होता जाता है और वही परलोक में भी तुम्हारे साथ जायगा। सब प्रकार के स्वभावों का मूल उपर्युक्त चार प्रकार की चेष्टाएँ ही हैं। अतः जब तुम तृष्णारूपी शूकरी के संकेत का अनुसरण करते हो तो तुम्हारे हृदय में अपवित्रता, निर्लज्जता, लम्पटता एवं ईर्ष्या आदि अशुभ लक्षण प्रकट होते हैं और जब उस तृष्णा-शूकरी को अपने अधीन रखकर आचरण करते हो तो संयम, शीलता, गम्भीरता, निर्लोभता, एवं निराशता आदि शुभ गुणों का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार जब तुम क्रोधरूपी कूकुर के अधीन होते हो तो तब तुम्हारे हृदय में कुटिलता, निःशंकता, गर्व, आत्मश्लाघा, कटुभाषण और मान आदि दोष बढ़ने लगते हैं, जिनके कारण तुम अन्य प्राणियों को नीच समझ कर उन्हें दुःख पहुँचाने लगते हो। किन्तु जब यह क्रोधरूपी कूकुर तुम्हारे अधीन रहेगा तो तुम्हारे भीतर धैर्य, सहनशीलता, क्षमा, स्थिरता पराक्रम एवं दया आदि अनेकों दिव्य गुण उत्पन्न हो जायँगे। तथा जब तुम छल-कपटरूप शैतान या पिशाचों के अधीन रहोगे तो तुम्हारे चित में मलिनता, रोग, कपट, दुविधा, छल एवं पाखण्ड आदि दूषित प्रवृत्तियाँ घर कर लेंगी, और यदि तुम इन पिशाचों को अपने वशीभूत रखोगे तो फिर तुम्हारी बुद्धि इन पर विजय प्राप्त कर लेगी, जिससे तुम्हारे अन्दर विवेक, विज्ञान, विद्या, सर्वभूतहितैषिता एवं सद्भाव आदि अनेकों गुण प्रकट हो जायँगे। जब ये सद्गुण तुम्हारे हृदय में आयँगे तो सर्वदा सच्चे सुहृद की तरह तुम्हारे साथ रहेंगे और सब प्रकार के दोषों से तुम्हें बचाते रहेंगे। यदि तुम प्रमाद न करोगे तो ये कभी तुम्हारा साथ न छोड़ेंगे। और ये ही तुम्हारी परमगति के कारण होंगे। इसके विपरीत जो अशुभ कर्म हैं उनसे तो हृदय कलुषित ही होता है। इसी से उन्हें 'पाप' कहा जाता है।

बोझा ढोने के लिये बनाया गया है और घोड़े की रचना इसलिए हुई है कि वह सवारी के काम आवे, सवार के संकेत के अनुसार चले तथा युद्ध के समय भी सावधान रहे। इसके सिवा बोझा उठाने में भी गधे की अपेक्षा वह बहुत अधिक शक्ति रखता है। ये सब गुण गधे में नहीं पाये जाते। किन्तु यदि घोड़े में भी ये सब विशेषताएँ न रहें तो वह भी फिर बोझा ढोने का ही अधिकारी रह जाता है और उसे भी गधे की ही पदवी प्राप्त होती है। इस प्रकार वह अपनी श्रेष्ठता खो बैठता है। अतः जो मनुष्य समझते हैं कि उनका जन्म खाने, सोने, धन संग्रह करने और तरह-तरह के भोग-भोगने के लिये ही हुआ है वे मूढ़ हैं और उन की सारी आयु इन्हीं झंझटों में बीत जाती है। इसी प्रकार जिन मनुष्यों का ऐसा विचार है कि उनका जन्म दूसरों को दबाने और उन पर शासन करने के लिये ही हुआ है वे भी महातामसी और दुष्ट प्रकृति के हैं। ये दोनों ही प्रकार के मनुष्य भूले हुए हैं, क्यों कि भोग और आहार तो पशुओं में भी पाये जाते हैं, बैल मनुष्य से भी अधिक खाता है, चिड़िया में कामचेष्टा की अधिकता है तथा दूसरों पर क्रोध करना या चीरना-फाड़ना सिंहों का काम है। मनुष्य को यद्यपि ये सब स्वभाव भी प्राप्त हैं तथापि इनकी अपेक्षा उसमें एक श्रेष्ठता भी है, वह है बुद्धि। उस बुद्धि के द्वारा ही वह भगवान् को पहचानता है, उसी से उनकी कारीगरी को देखता है और उसी के द्वारा वह क्रोध एवं भोग की आँच से अपने को बचाये रखता है। इसी से उसे देवस्वभाव कहा गया है। इस स्वभाव के कारण ही मनुष्य को पशुओं एवं सिंहों से श्रेष्ठ कहा जाता है तथा इसी के प्रताप से सारी जीवसृष्टि मनुष्य के अधीन है। इस विषय में श्री भगवान् ने भी कहा है कि पृथ्वी और आकाश में जितनी सृष्टि है वह सब मैंने तुम्हारी आज्ञाकारिणी रची है। अतः मनुष्य का अर्थ है बुद्धि; और इसकी

श्रेष्ठता एवं विशेषता भी केवल बुद्धि के कारण ही प्रकट होती है। बुद्धि के सिवा और जितने स्वभाव हैं वे वास्तव में मनुष्य के अपने स्वभाव नहीं हैं, वे तो केवल इसकी सेवा और कार्य करने के लिये ही इसे ही दिये गये हैं।

इसके सिवा जब यह जीव मरता है तो इसकी भोग और क्रोध की सभी सामग्री नष्ट हो जाती है, किन्तु बुद्धि तो बनी ही रहती है। यदि वह बुद्धि शुद्ध होती है तो इसका स्वभाव देवताओं के समान निर्मल है और इसे चैतन्य देश की प्राप्ति होती है। वहाँ यह श्री भगवान् का साक्षात्कार करता है और उन्हीं के स्वरूप में लीन हो जाता है। और यदि इसकी बुद्धि मलिन अथवा विपरीत होती है तो उस पर भोग और क्रोध के संस्कारों का आवरण आ जाता है, जिससे उस चैतन्य देश में पहुंचकर भी इसका मुख संसार की ही ओर रहता है। तात्पर्य यह है कि वहाँ भी उसका हृदय इन्द्रियादि के भोगों में ही बँधा रहता है और इसे इन्द्रियों के विषय ही खींचते रहते हैं। इसी से उसे अधोगति कहा है। अधोगति का तात्पर्य यही है कि परलोक रूप उत्तम देश में पहुँचकर भी उसके हृदय का आकर्षण नीचता की ओर रहता है। इसीलिये प्रभु ने कहा है कि परलोक में पापियों का सिर नीचे लटकाया रहेगा। अतः जिस मनुष्य की ऐसी अवस्था है उसे तो पिशाचों के समान ही कहना चाहिये।

तुम निश्चय जानो, इस मनुष्य के हृदय देश का ऐश्वर्य अतुलित है। इसका हृदय सभी पदार्थों की अपेक्षा आश्चर्यमय है। किन्तु प्रमादवश मनुष्य इस आश्चर्यरूपता का अनुभव नहीं कर पाते। मनुष्य में प्रधानतया दो प्रकार की विशेषताएँ बतायी गयी हैं—विद्या और बल। 'विद्या' शब्द से सामान्यतया जो विशेषता समझी जाती है वह तो बहुत स्थूल है। वास्तविक विद्या तो अत्यन्त सूक्ष्म, गुह्य और महादुर्लभ है। स्थूल विद्या तो यह है कि

मनुष्य अनेक पदार्थों का विज्ञान प्राप्त कर ले, तरह-तरह की कलाओं से परिचित हो जाय, अनेकों ग्रन्थों को पढ़ सके तथा वैद्यक, ज्यौतिष, व्याकरण और धर्मशास्त्र आदि विद्याओं का मर्मज्ञ हो जाय। किन्तु मनुष्य का हृदय तो आकाश के समान इतना विशाल है कि इन सब प्रकार की विद्याओं का पारंगत होने पर भी उसे वास्तविक पाण्डित्य प्राप्त नहीं होता। ये सारे ज्ञान उसमें लीन हो जाते हैं। और ये ही क्या, सारा संसार ही इसकी चेतना में इस प्रकार समाया हुआ है जैसे समुद्र में बूँद। इस चैतन्य पुरुष की ऐसी सूक्ष्म गति है कि अपने किञ्चित् संकल्प से ही यह आकाश-पाताल के कार्य कर डालता है और उदयाचल से अस्ताचल तक देख आता है। यद्यपि शरीर के साथ इसका सन्बन्ध ऐसा दृढ़ बना हुआ है कि स्वयं चैतन्यस्वरूप होने पर भी अपने को शरीर ही समझता है तो भी इसमें ऐसी शक्ति है कि यह विद्या के बल से आकाश के तारों का भी प्रमाण पहिचान लेता है और यह भी जान लेता है कि अमुक ग्रह अमुक ग्रह से इतनी दूरी पर है। विद्या के बल से ही यह मछली को समुद्र की गहराई से निकाल लेता है तथा आकाश में उड़नेवाले पक्षियों को नीचे गिरा लेता है। तथापि इस संसार में जो कुछ आश्चर्यमय है उसे यह अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही ग्रहण कर लेता है। अतः इन्द्रियाश्रित होने के कारण यह सारी विद्या स्थूल ही है। इसी से इस विद्या को तो सभी समझते हैं।

किन्तु एक दूसरी विद्या है जो अत्यन्त आश्चर्य रूप है। वह यह है कि मनुष्य के हृदय में एक झरोखा या खिड़की है, जो दिव्यलोक की ओर खुली हुई है। इन पाँचों इन्द्रियों का मुख तो स्थूल जगत् की ओर है, जो आधिभौतिक जगत् कहलाता है। देवलोक इसकी अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है, उसी को चैतन्य देश या चिन्मय लोक भी कहते हैं। उसकी अपेक्षा यह आधिभौतिक जगत्

अत्यन्त तुच्छ है। सो हृदयदेशस्थ झरोखे का जो खुलना होता है वह भी दो प्रकार का है। एक तो जब निद्रा के द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रिय द्वार रुक जाते हैं तब स्वप्नावस्था में वह झरोखा सूक्ष्मदेश की ओर खुलता है और उस अवस्था में अनेकों नई-नई चीजें दीखने लगती हैं, किन्तु वे स्पष्ट दिखायी नहीं देतीं। जैसे मन्द दृष्टि पुरुषों को पदार्थों का स्वरूप भी धुँधला ही दिखाई देता है वैसे ही स्वप्नावस्था में भी जब कोई भविष्यकालीन घटना की सूचना मिलती है तो वह स्पष्ट समझ में नहीं आती। उसका वर्णन करने पर स्वप्नवेत्ता ही बुद्धिबल से उसका अर्थ समझ पाते हैं, दूसरे लोग नहीं। स्वप्न के तात्पर्य को खोला जाय तो बहुत विस्तार हो जायगा, तथापि इतना समझना चाहिये कि मनुष्य का हृदय दर्पण की तरह निर्मल है और जब दो दर्पण परस्पर सम्मुख होते हैं तो उनमें से प्रत्येक में एक दूसरे का प्रतिविम्ब आ जाता है। इसी प्रकार जब चित्तरूपी दर्पण इन्द्रियादि की वृत्तियों से अलग होता है तो उसमें सम्पूर्ण स्थूल जगत् के आश्रयभूत हिरण्यगर्भ का प्रतिविम्ब भासने लगता है। इसी से इन्द्रियों की वृत्तियों को त्याग देने पर यह चित्त भविष्य काल का अनुभव कर लेता है। किन्तु स्वप्न में इन्द्रियों की वृत्तियाँ रुक जाने पर भी चित्त संकल्प शून्य नहीं होता, वह भटकता ही रहता है, इसलिए उसे भविष्य का धुँधला ज्ञान ही होता है, स्पष्ट नहीं। और जब यह जीव शरीर को त्याग देता है तो इसकी इन्द्रिय और चित्त की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, इसलिए इसे परलोक प्रत्यक्ष दिखायी देने लगता है तथा स्वर्ग और नरक भी स्पष्ट भासने लगते हैं। तब यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि भगवन्! मेरी रक्षा करो। इसके सिवा एक स्थिति ऐसी भी होती है जब अकस्मात् कोई संकल्प हृदय में स्फुरित हो आता है। ऐसा संकल्प प्रायः सत्य ही हो जाता है। इसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह

कहाँ से आता है। किन्तु इससे इतना तो पता लगता है कि ज्ञान का साधन केवल इन्द्रियाँ ही नहीं हैं। अतः वास्तविक विद्या का प्राकट्य तो सूक्ष्म देश से ही होता है, इन्द्रियाँ तो केवल स्थूल जगत् के पदार्थों को ग्रहण करने के लिये ही बनायी गयी हैं। इसी से सूक्ष्म देश का अनुभव करने में तो इन्द्रियाँ विघ्नरूप ही हैं, जब तक इन्द्रियों का विक्षेप शान्त नहीं होता तब तक सूक्ष्म देश का अनुभव नहीं हो सकता।

अस्तु। हृदय में जो झरोखा बताया गया है उसके खुलने का दूसरा साधन इस प्रकार है:—जब कोई मनुष्य पुरुषार्थ और अभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को रोके, चित्त के क्रोध और काम रूप मलिन स्वभावों को दूर करे, एकान्त में बैठ कर उसे एकाग्र करे, चित्तवृत्ति को चैतन्य देश में लेजाकर स्थिर करे और भगवत्स्मृति में सावधान रहे तो उस अभ्यास में वह ऐसा लीन हो जाता है कि उसे अपने शरीर और संसार की कोई सुधि नहीं रहती। उस अवस्था में उसके चित्त में किसी भी पदार्थ का संकल्प नहीं फुरता। ऐसा होने पर निःसन्देह जाग्रत् अवस्था में ही उसके हृदय की खिड़की खुल जाती है और दूसरे मनुष्यों को जो स्वप्नावस्था में भावी घटनाओं का आभास मिलता है वह इसे जाग्रत्काल में ही स्पष्ट प्रतीत होने लगती हैं। इसे अनेकों देवताओं, महापुरुषों और अवतारों के दर्शन होते हैं तथा उनसे सहायता और वर आदि की भी प्राप्ति होती है। जिसके हृदय का यह मार्ग खुल जाता है उसको ऐसे अनेकों पदार्थों का ज्ञान होता है, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इस विषय में महापुरुष ने अपने अनुभव का उल्लेख करते हुए कहा है—'मैंने अपने तेज से पृथ्वी और आकाश को व्याप्त किया हुआ है तथा उदय और अस्त के स्थानों को मैंने प्रत्यक्ष देखा है।' अतः संतों की जो विद्या है वह उन्हें हृदय के मार्ग से प्राप्त हुई है, इन्द्रियों के द्वारा वह नहीं मिल सकती। परन्तु

पहले उन्होंने भी बहुत प्रयत्न और अभ्यास किया है। इसी पर भगवान् ने कहा है कि पहले तुम सब पदार्थों से विरक्त और शुद्ध होओ। फिर अपने आपको मुझे अर्पण करो और मायिक पदार्थों की आसक्ति छोड़ दो, क्योंकि तुम्हारे सब काम मेरी ही सहायता से पूर्ण हो जायेंगे। संसार में मुझसे अधिक समर्थ और कोई नहीं है। अतः मेरा ही आश्रय लो, किसी और कार्य में चित्त मत लगाओ। जब तुमने मेरा सहारा लिया है तो तुम अपने चित्त को निःसंकल्प कर सारे जगत् से असंग हो जाओ। यह सारा उपदेश और साधन इसीलिये कहा गया है कि हृदय जगत् के प्रपञ्च और इन्द्रिय जनित भोगों की वासनाओं से मुक्त हो जाय। जिज्ञासुओं और संतों का तो सनातन मार्ग यही है।

यद्यपि शास्त्रों को पढ़ना और उनके रहस्यों को समझना यह पण्डितों का मार्ग और उन्हीं की विशेषता है, तथापि संतों की विद्या ऐसी है कि वह किसी भी शास्त्र या उपदेश के अधीन नहीं है; अतः उनके हृदय में भगवत्कृपा से सर्वदा ही अनुभव का मेघ बरसता रहता है। यह स्थिति अनेकों पुरुषों को प्राप्त हुई है और अवस्था भी ऐसी ही दृढ़ हुई है। यह बात शास्त्र के वचनों से और अपनी बुद्धि से भी समझ में आती है। अतः मेरे इस कथन से तुम्हारे चित्त में इतना तो दृढ़ विश्वास हो जाना चहिये कि यह अवस्था प्राप्त हो सकती है। ऐसा होने पर संतों के अनुभव, विद्वानों के शास्त्रज्ञान और उनके प्रति अपने विश्वास के आधार पर यह स्थिति सर्वथा अप्राप्य नहीं रहेगी।

ऊपर जिस अवस्था का वर्णन किया है वही मनुष्य के हृदय का आश्चर्य है और यही उसकी विशेषता है। साथ ही ऐसा अनुमान करना भी ठीक नहीं कि यह स्थिति तो पहले संतजन और अवतारों को ही प्राप्त हुई थी, अब किसी को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से ही सभी मनुष्यों का हृदय इस पद

का अधिकारी है। जैसे प्रत्येक लोहा दर्पण के समान स्वच्छ होने की योग्यता रखता है, किन्तु यदि किसी पर जंग लग जाय तो वह मलिन हो जाता है और उसकी स्वच्छता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जिस मनुष्य का हृदय मायिक पदार्थों की तृष्णा, भोगों की अभिलाषा एवं पाप कर्मों के द्वारा मलिन हो जाता है और इन दूषित स्वभावों की ही जिसमें प्रबलता हो जातीहै, उसकी मनुष्यता निःसन्देह नष्ट हो जाती है और वह उस परम पद को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं कहा जाता। महापुरुष ने कहा है कि यद्यपि सभी बालकों का एक ही धर्म होता है, तथापि पीछे माता-पिता की संगति के कारण उनके विचार भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसी पर साईं ने भी कहा है कि मैं तुम्हारा ईश्वर हूँ और तुम मेरे उत्पन्न किये हुए हो। प्रभु का यह वचन सभी जीवों ने सत्य माना है; अतः इससे निश्चय हुआ कि इस अवस्था को प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं, इसमें कोई भेदभाव नहीं है। जैसे बुद्धिमान् पुरुष किसी से न सुनने पर भी यह निःसन्देह जानता है कि एककी अपेक्षा दो अधिक होते हैं वैसे ही सब जीवों को आदि उत्पत्ति के विषय में यह दृढ़ निश्चय है कि हम सभी को उत्पन्न करने वाला ईश्वर है तथा उसी ने पृथ्वी और द्यु लोक को स्थित किया है। अतः अपने अनुभव और युक्ति के द्वारा हमारा स्पष्ट निश्चय है कि उस परम पद को प्राप्त करने का अधिकार केवल उन्हीं को नहीं, हम सभी को है इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि मैं भी तुम्हारी तरह मनुष्य ही हूँ पर भगवान् की कृपा से मुझे आकाशवाणी होती है। इस वचन का तात्पर्य यही है कि जिस मनुष्य को ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है और जो उपदेश करके सब जीवों को कल्याण का मार्ग दिखाता है उसी को आचार्य या अवतार कहने लगते हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे यह अवस्था प्राप्त है और दूसरों को उपदेश करने में भी समर्थ है, किन्तु पहले से ही जनता में किसी

अन्य आचार्य का उपदेश विद्यमान है, इसलिये स्वयं उपदेश नहीं करता, तो इससे भी उसकी स्थिति में कोई क्षति नहीं आती।

किन्तु एक बात निश्चय जानो कि यद्यपि इस अवस्था के प्राप्त होने का मूल कारण अभ्यास ही है, तथापि इस की प्राप्ति होती भगवान् की कृपा होने पर ही है; केवल अपने बलसे यहाँ तक पहुँचना कठिन है, क्योंकि इसके मार्ग में विघ्न करनेवाले शत्रु भी अनेकों हैं। जो पदार्थ अद्भुत होता है उसकी प्राप्ति भी बहुत कठिन हुआ करती है। उसे पाने के लिये युक्तियाँ भी अनेकों करनी पड़तीं हैं। इसी से सभी खेतिहरों को अनाज नहीं मिलता और सभी ढूँढनेवालों को अपनी इष्ट वस्तु नहीं मिलती। यद्यपि अनाज की प्राप्ति खेती करने से और इष्ट वस्तु की उपलब्धि ढूँढने से ही होती है, तथापि बीच में अनेकों विघ्न भी आ जाया करते हैं। अतः उन की निवृत्ति के लिए भगवत्कृपा भी अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार इस प्रसंग में मनुष्य की बुद्धि और उसकी सर्व-श्रेष्ठ स्थिति के विषय में वर्णन किया गया। किन्तु इसका प्राप्त होना अपने पूर्ण प्रयत्न और गुरुदेव की सहायता के बिना सम्भव नहीं। अपना प्रयत्न और गुरुदेव की सहायता प्राप्त हो तो भी भगवत्कृपा अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनकी कृपा हुए बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि पुरुषार्थ और महत्त्व भी उसी को प्राप्त होते हैं जिसको भगवान् देते हैं तथा धर्म का मार्ग भी उसी को दिखायी देता है जिसे वे दिखाते हैं।

—:o:—

छठी किरण

मानव की दूसरी विशेषता—बल और उसके भेद

इस प्रकार तुमने मनुष्य की एक विशेषता विद्या को तो भली प्रकार समझा। अब उसकी दूसरी विशेषता जो बल है उसे भी पहिचानो, क्योंकि वह भी एक दिव्य शक्ति है जो पशु आदि में नहीं पायी जाती। ये जितने देहधारी जीव हैं, सब देवताओं के ही अधीन हैं। देवता ही भगवान् की आज्ञानुसार जीवों के सुख के लिये जल बरसाते हैं और जब आवश्यकता होती है तब वायु को भी चलाते हैं। वे ही गर्भ में जीवों का पालन-पोषण करते हैं तथा पृथ्वी में तरह-तरह की वनस्पतियाँ उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार भगवान् ने सभी देवताओं को अपने-अपने कार्य में नियुक्त किया हुआ है। इन्हीं की तरह मनुष्य का हृदय भी एक प्रधान देवता ही है। इसे भी भगवान् ने देवताओं के समान ही बल दिया है। इसीसे अनेकों शरीरों पर इसका अनुशासन भी चलता है। मनुष्य का जो अपना शरीर है वह भी हृदय के ही अधीन है तथा इसके सब अंगों पर चित्त का ही आदेश चलता है। यह बात सब लोग जानते हैं कि हाथ की अँगुलियों में चित्त का स्थान नहीं है, फिर भी चित्त की प्रेरणा होने पर ही अँगुलियाँ हिलती हैं। इसी तरह जब हृदय में क्रोध का आवेग होता है तब शरीर के अंग-प्रत्यंगों में पसीना आ जाता है। जब चित्त में काम का संकल्प आता है तो इन्द्रियों में चपलता आ जाती है और जब भोजन की इच्छा होती है तो जीभ जल डालने लगती है। इस

प्रकार यह सभी जानते हैं कि शरीर की सारी क्रियाएँ चित्त का संकल्प होने पर ही होती हैं।

किन्हीं-किन्हीं मनुष्यों में तो ऐसी विलक्षणता और पुरुषार्थ की विशेषता होती है कि उनका अपना स्वभाव तो देवताओं के समान होता ही है, अन्य शरीरों पर भी उनका आदेश चलता है। उनके तेज से सिंह भी काँपने लगते हैं, वे जब चाहें तो रोगियों को नीरोग कर सकते हैं, यदि क्रोध करके किसी की ओर देख दें तो निरोग को भी रोगी बना सकते हैं, अपने संकल्प द्वारा खींच कर दूरदेशवर्ती पुरुषों को अपने पास बुला सकते हैं तथा जब इच्छा करें तभी जल बरसा सकते हैं। ये सब बातें प्रसिद्ध ही हैं, और इनके होने में भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता—यह बात बुद्धि और युक्ति के द्वारा भी सिद्ध की जा सकती है। इतना ही नहीं, संतों का बल तो इससे भी बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है। इसके सिवा दृष्टिदोष और मन्त्र-यन्त्र आदि की जो करामात है वह भी मनुष्य के हृदय की विशेषता और बल ही है। यह हृदय का बल ही शरीर में भी उतर आता है। किन्तु जिसका हृदय मलिन होता है उसका बल भी ऐसा ही होता है। यहाँ तक कि यदि वह किसी सुन्दर पशु को देखता है तो हृदय में ईर्ष्या और दृष्टि का दोष आने से तत्काल ही वह पशु रोगी पड़ कर मर भी जाता है।❀ यह भी यद्यपि मनुष्य के हृदय का बल ही है, तथापि इसमें और अन्य बलों में इतना अन्तर है कि जिस बल के द्वारा जीवों का हृदय शुभ मार्ग में स्थिर हो वह शुद्ध सात्त्विकी बल कहलाता है, जिससे उन्हें शारीरिक अथवा आर्थिक सुख प्राप्त हो उसे सिद्ध ऐश्वर्य या राजस बल कहते हैं और जिसके द्वारा उनको दुःख या खेद उत्पन्न हो वह तामस बल है। तथापि ये सात्त्विक

❀ इसे ही लोक में 'नज़र लगना' कहते हैं।

राजस और तामस जितने भी बल हैं वे सब इस मनुष्य के हृदय के ही बल या पुरुपार्थ हैं, यद्यपि बाह्य दृष्टि से इनमें बड़ा अन्तर दिखायी देता है तथा इनके परिणाम भी परस्पर बहुत विभिन्न होते हैं। इन सब प्रकार के बलों का बड़ा विस्तार है, अतः इनका पूरा विवरण इस ग्रंथ में नहीं दिया जा सकता।

किन्तु जो पुरुष ऊपर बताये हुए भेदों का रहस्य नहीं समझता उसे संतों की वास्तविक अवस्था का कुछ भी परिचय नहीं हो सकता, वह तो केवल दूसरों से सुनकर ही उन्हें संत समझ लेता है। तथापि संतों और अवतारी पुरुषों को भी जो अवस्था प्राप्त हुई है वह इस मनुष्य का पुरुपार्थ ही है। इस अवस्था के भी तीन लक्षण हैं—पहला तो यह कि संसारी जीवों को जिस रहस्य या भावी घटना का स्वप्न में भान होता है उसे संतजन जाग्रत् अवस्था में ही जान लेते हैं। दूसरा यह कि अन्य जीवों का संकल्प केवल अपने शरीर तक ही कार्यकारी रहता है किन्तु संतों का संकल्प दूसरों के शरीरों में भी चरितार्थ हो जाता है। तथापि उनके संकल्प से जीवों के हृदय की सर्वदा शुभ मार्ग में ही प्रवृत्ति होती है। तथा तीसरा लक्षण यह है कि अन्य जीव जिस विद्या को पढ़ कर प्राप्त करते हैं संतों के हृदय में वह बिना पढ़े ही स्फुरित हो जाती है। इसका कारण यह है कि जिस पुरुप का हृदय शुद्ध होता है, उसे कोई-कोई विद्या स्वतः ही भास आती है। इसी को अनुभव करते हैं। इसी पर साईं ने भी कहा है कि किन्हीं पुरुपों की विद्या तो अपने अनुभव के आधार पर ही होती है। अतः जिस पुरुष में ये तीनों लक्षण पूर्णतया हों उसकी स्थिति संतों, अवतारों या आचार्यों की कही जाती है। आचार्य उनमें वे ही कहे जाते हैं जिनके आदेश या उपदेश का संसार में प्रचार हो। और जब ऐसा महापुरुष वैराग्यवश संकोच करता है, उपदेशादि नहीं देता तो उसकी अवस्था सनकादि के समान अवधूतकोटि की कही जाती है।

संतों की अवस्थाओं में भी बड़ा भेद रहता है। अवस्थाभेद से वे उत्तम, मध्यम और निकृष्ट कोटि के कहे जा सकते हैं। वास्तव में सम्पूर्ण सन्त तो उन्हीं को कहा जा सकता है जिनमें उपर्युक्त तीनों लक्षण पूर्णतया पाये जायँ। हमने संतों के ये तीन लक्षण भी केवल इसी दृष्टि से बताये हैं कि इनका कुछ अंश अन्य जीवों में भी पाया जाता है। जैसे स्वप्न का अनुभव अथवा किसी संकल्प का सत्य हो जाना आदि। इस प्रकार अपने को थोड़ा अनुभव होने से ही जीव इन लक्षणों को परख सकता है, क्योंकि मनुष्य का यह स्वभाव ही है कि जिस स्थिति का अंश उसमें रहता है उसी को वह समझ भी सकता है। इसी से कहा है कि भगवान की पूर्णता को तो भगवान् ही ठीक-ठीक जान सकते हैं, और कोई नहीं। इसका तात्पर्य यही है कि यद्यपि आचार्यों और संतों में इन तीन लक्षणों के सिवा और भी अनेकों लक्षण होते हैं, किन्तु हम उन्हें पहिचान नहीं सकते, क्योंकि हमारे भीतर उनका कोई अंश नहीं है। इसी से कहा है कि जैसे भगवान् स्वयं ही अपने को यथावत् जान सकते हैं वैसे ही संतों की यथार्थ स्थिति को भी संतजन ही पहिचान सकते हैं, अन्य जीव नहीं। इसे इस दृष्टान्त से समझ सकते हैं—मान लो, हमारे देश में किसी को निद्रा का अनुभव न होता और तब हमसे आकर कोई पुरुष सुनाता कि अमुक देश में हमने लोगों को पृथ्वी पर पड़े हुए देखा, उस समय उनमें बोलना, सुनना, देखना कुछ भी नहीं रहता और उनकी चेष्टा भी शून्य हो जाती है तथा कुछ समय पश्चात् वे सचेत होकर उठ बैठते हैं—तो हम इस बात को किसी प्रकार नहीं समझ सकते थे, क्योंकि यह पुरुष जो स्वयं अनुभव करता है उसी को समझ भी सकता है। इसी पर साईं ने भी कहा है कि यद्यपि मैंने तुझे विद्या प्राप्त करने का अधिकार दिया है तथापि जब तक मैं मार्ग न दिखाऊँ तब तक तुझे विद्या का रहस्य जानने की युक्ति नहीं

मिल सकती। अतः इस बात से तुम्हें आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि संतों में कितने ही ऐसे भी लक्षण होते हैं जिनको अन्य जीव नहीं पहिचान सकते और उन लक्षणों के कारण संतजन परमानन्द का अनुभव करते हैं। जैसे यह बात सभी जानते हैं कि जिस पुरुष को राग और गीत की पहिचान नहीं होती उसे उसके श्रवण का आनन्द भी प्राप्त नहीं हो सकता और यदि उन्हें कोई समझावे तो भी वह समझ नहीं सकता, तथा जैसे जन्मान्ध को प्रकाश अथवा रूप के सौन्दर्य का कोई अनुभव नहीं हो सकता, उसी प्रकार श्रीभगवान् का अद्भुत सामर्थ्य देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि संत और आचार्य जनों की ऐसी भी अनेकों अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें अन्य जीव नहीं जानते।

—:०:—

सातवीं किरण

अनुभव-ज्ञान की महत्ता तथा शरीर-विज्ञान की आवश्यकता

यहाँ तक जो कुछ वर्णन हुआ है उससे तुमने मनुष्य की विशेषता तथा जिज्ञासुओं के मार्ग को अच्छी तरह समझ लिया होगा। किन्तु तुमने योगियों से सुना होगा कि आन्तरिक अभ्यास के मार्ग में बाह्य विषयों का ज्ञान अर्थात् स्थूल विद्या तो विघ्न रूप ही है। यह वचन निःसन्देह सत्य है, इसमें तुम किसी प्रकार अविश्वास न करना। ये इन्द्रियाँ और इन्द्रियसम्बन्धी ज्ञान हृदय की एकाग्रता में निश्चय ही विघ्नकारक हैं, क्योंकि इनके द्वारा चित्त में विक्षेप होता है। इस बात को समझाने के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है। मनुष्य का हृदय एक तालाब के समान है और ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उसमें बाहर से जल जाने के मार्ग हैं। इनके द्वारा उसमें निरन्तर गँदला जल जाता रहता है। अब यदि कोई पुरुष इस तालाब के जल को स्वच्छ करना चाहे तो उसका उपाय यही है कि उस तालाब में जो गन्दा जल है उसे बाहर निकालकर बाहर से जल जाने के मार्ग को रोक दे तथा उसकी कीचड़ साफ़ करके उसे गहरा कर दे। इससे उसमें नीचे के स्रोत द्वारा स्वयं ही निर्मल जल भर जायगा। किन्तु यदि बाहर के गँदले पानी और कीचड़ की सफाई नहीं की जायगी तो उसमें स्वच्छ जल कभी नहीं भर सकेगा। इसी प्रकार जब तक चित्त

वाह्य स्थूल विद्या के संकल्पों से शून्य नहीं होगा तब तक उसमें सूक्ष्म विद्या प्रकट नहीं हो सकती। अतः जब यह मनुष्य स्थूल जगत् की स्फुरणाओं को छोड़कर दृढ़तापूर्वक हृदय के संयम का अभ्यास करेगा तभी इसे निःसन्देह परमार्थ का अनुभव हो सकेगा।

इसके सिवा स्थूल विद्या को जो विघ्नरूप माना है उसका एक अन्य कारण भी है। जब यह मनुष्य पढ़-लिखकर किसी मत या पन्थ को स्वीकार कर लेता है और युक्तियों द्वारा भी उसके हृदय में उसकी पुष्टि हो जाती है तो वह दूसरे मतों का खण्डन करने लगता है और वाद-विवाद में ही उसकी दृढ़ आस्था हो जाती है। फिर तो वह यह समझने लगता है कि वास्तविक ज्ञान यही है, इससे भिन्न और कोई ज्ञान या विद्या नहीं। उसे यदि कोई परमार्थ-विद्या की बात सुनने या समझने का अवसर भी आता है तो भी वह अपने मन से भिन्न होने के कारण उसे अ-परमार्थ ही समझता है। इसी से उसे फिर यथार्थ विद्या की प्राप्ति अ-सम्भव हो जाती है। ऐसे मताग्रही लोगों को जिस विद्या या मत का आग्रह होता है वह तो यथार्थ ज्ञान की त्वचा के समान है, वह सार वस्तु या यथार्थ ज्ञान नहीं है यथार्थ ज्ञान तो वह है जिससे हृदय का अन्तर्निहित गुह्य रहस्य एकदम खुल जाता है। जैसे त्वचा या छिलका दूर होने पर ही फल का सारभूत गूदा या रस प्राप्त होता है, इसी प्रकार जब हृदय से मत-मतान्तर का आग्रह निकल जाता है तभी यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस प्रकार निश्चय जानो, कि जो पुरुष वाद-विवाद की विद्या ही प्राप्त करता है, यथार्थ ज्ञान उससे कोसों दूर रहता है। किन्तु वह स्वयं यही समझता है कि मैंने पढ़-लिखकर जो कुछ निश्चय किया है वही यथार्थ विद्या है; इसी से इस विद्याभिमान को यथार्थ ज्ञान का विघ्न कहा है। हाँ, यदि उसे

पढ़-लिखकर भी अभिमान न हो तो उसकी विद्या विघ्न रूप नहीं कही जाती, यह तो कालान्तर में उसके द्वारा यथार्थ ज्ञान ही प्राप्त कर लेता है। उसकी अवस्था तो उत्तम ही है। किन्तु अधिकांश विद्वान् तो ऐसे ही होते हैं जो मिथ्या अभिमान में ही अपना जीवन नष्ट करते हैं।

जो पण्डित बुद्धिमान् होता है वह इस प्रकार का मिथ्या मताग्रह कभी नहीं करता। उसके तो इस विद्या के द्वारा अनेकों संशय निवृत्त हो जाते हैं और उसमें एक प्रकार की निर्भयता आ जाती है। अतः ऊपर जो स्थूल विद्या को विघ्न रूप बताया गया है उस बात को तुम्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये, उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। हाँ, यह बात कहने का अधिकारी वही है जिसे अनुभवगम्य विद्या प्राप्त हुई है। जो मनमाने चलनेवाले मिथ्याभिमानी लोग हैं उन्हें वह विद्या प्राप्त नहीं है। उन्होंने संतों के कुछ सूक्ष्म विद्याविषयक वचन अवश्य पढ़ लिये हैं, किन्तु उनकी करतूत तो यही है कि सदा शरीर को धोते रहना, मैली गुदड़ी और आसनों को सँवारते रहना और बिना कुछ समझे ही विद्या और विद्वानों की निन्दा करना। ये लोग साधन मार्ग को नष्ट करने वाले तथा भगवान् और भगवद्भक्तों के विरोधी हैं, अतः ये तो दण्ड के अधिकारी हैं। भगवान् और संतों ने तो विद्वानों की भी स्तुति ही की है और सभी को विद्या पढ़ने का उपदेश किया है। ये लोग तो बड़े ही पापी और भाग्यहीन हैं जिन्होंने न तो अनुभव की अवस्था ही प्राप्त की है और न विद्या ही पढ़ी है। अतः इनका विद्वानों की निन्दा करना कैसे उचित हो सकता है। इन लोगों की दशा तो ऐसी है जैसे किसी ने सुना हो कि सुवर्ण की अपेक्षा रसायन श्रेष्ठ है, क्योंकि उसके द्वारा अधिक से अधिक सुवर्ण बनाया जा सकता है, और फिर यदि कोई उसे सोना दे और वह यह कहकर अस्वीकार कर दे कि सोना किस

काम का, हम तो रसायन लेंगे, क्योंकि उसी से तो सोना बनता है। ऐसा पुरुष यदि रसायन प्राप्त न कर सके और सुवर्ण स्वीकार न करे तो भाग्यहीन और दरिद्री ही रहेगा। वह तो मूर्ख ही है, क्योंकि केवल रसायन की विशेषता सुनकर उसी में मस्त है। इसी प्रकार संतों की अवस्था तो रसायन के समान है और विद्वान् की सुवर्ण के समान। संत निःसन्देह विद्वानों से श्रेष्ठ हैं, किन्तु मूर्खों के लिये तो विद्वान् भी परम आदरणीय हैं, अतः उन्हें विद्वानों की निन्दा नहीं करनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त इसमें एक भेद और भी है। मान लो, किसी के पास इतना रसायन है कि वह सौ मुहरों के बराबर सोना बना सकता है और एक दूसरे व्यक्ति के पास एक हजार मुहरें हैं। ऐसी स्थिति में उस मुहरोंवाले से वह रसायनवाला श्रेष्ठ नहीं हो सकता। संसार में रसायन विद्या की खोज करने वाले तो अनेकों व्यक्ति हैं, उनमें से पूर्णतया वह विद्या तो किसी विरले को ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार यद्यपि अन्तर्दृष्टि के उन्मेष का अभ्यास सबसे बढ़कर है, तथापि इसमें पूर्णता प्राप्त करना तो अत्यन्त कठिन है। इसलिए यदि किसी व्यक्ति को सामान्यतया ध्वनि,ध्यान अथवा मन्त्र-यन्त्र इत्यादि का कुछ परिचय हो तो इसी से वह सभी विद्वानों से बढ़कर नहीं हो सकता। बहुत से लोग तो ऐसे होते हैं कि उन्हें साधन के आरम्भ में तो कुछ एकाग्रता होती है, किन्तु पीछे वे एक दम ठण्डे पड़ जाते हैं, अथवा किसी संकल्प को लेकर ही पागल से हो जाते हैं और समझते हैं कि हमें बड़ी ऊँची स्थिति प्राप्त हो गयी है। ऐसा तो कोई विरला ही होता है जो अपने हृदय की शुद्धता द्वारा पूर्णपद प्राप्त कर सके। अधिकतर तो ऐसे लोग विक्षिप्त ही होते हैं। जैसे हमारे स्वप्नों में भी सच्चा स्वप्न तो कोई ही होता है, अधिकतर तो चित्त के भ्रम ही होते हैं, अतः विद्वानों की अपेक्षा ऊँची स्थिति तो उन्हीं

महापुरुषों की मानी जा सकती है जिनमें ऐसी योग्यता हो कि जिस विद्या को दूसरे लोग पढ़कर प्राप्त करते हैं उसे वे बिना पढ़े ही अनुभव कर लें। किन्तु यह अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। अतः तुम्हें चाहिये कि संतजनों की विशेषता और विलक्षणता में आस्था रखते हुए भी पाखण्डी धूर्तों की बातों में आकर कभी विद्वानों का निरादर न करो। तभी तुम्हारा धर्म अक्षुण्ण रह सकता है।

अब यदि तुम प्रश्न करो कि हम इस रहस्य को कैसे समझ सकते हैं कि भगवान् की पहिचान करना ही मनुष्य की सबसे बड़ी भलाई है, तो उसका उत्तर इस प्रकार है—जिस वस्तु से किसी व्यक्ति को प्रसन्नता और आनन्द प्राप्त होता है वही उसकी भलाई मानी जाती है। तथा प्रसन्नता और आनन्द उसी वस्तु से प्राप्त होते हैं जो उस व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार हो। और जीव का स्वभाव वही माना जा सकता है जिसकी पूर्ति के लिये भगवान् ने उसे उत्पन्न किया है। देखिये, सकाम पुरुष की प्रसन्नता अपनी अभीष्ट वस्तु पाने पर होती है, क्रोधी की प्रसन्नता अपने प्रतिपक्षी का पराभव होने से होती है और श्रवणेन्द्रिय की प्रसन्नता सुन्दर शब्द या राग सुनने से होती है। इसी प्रकार बुद्धि की प्रसन्नता प्रत्येक कार्य का भेद जानने से होती है और यही इसका स्वभाव है। अतः इसी में इसकी भलाई भी है। वास्तव में, भगवान् ने इसी निमित्त से बुद्धि की रचना की है। इसके सिवा काम, क्रोध और पाँचों इन्द्रियों के भोग तो पशुओं में भी पाये जाते हैं, परन्तु मनुष्य में इतनी विशेषता है कि जिस वस्तु का भेद उसकी समझ में नहीं आता उसके विषय में वह खोज करता रहता है। उसे उसका रहस्य जानने की लालसा लगी रहती है और जब उसे उसका पता लग जाता है तो बड़ा प्रसन्न होता है और उसे अपनी विशेषता भी मानने लगता है। वह पदार्थ चाहे निम्न कोटि का भी हो तो भी उसका ज्ञान होने पर उसे ऐसी प्रसन्नता होती

है कि वह उसे दबा कर नहीं रख सकता। जैसे यदि कोई पुरुष शतरंज खेलने में कुशल है तो उसमें इतना धैर्य नहीं होता कि वह अपने उस कौशल को किसी पर व्यक्त न करे, उसे अपने कौशल का ज्ञान भी होता है और वह उसे दूसरों के आगे प्रकट भी करना चाहता है। इससे यह निश्चय हुआ कि पहिचान या ज्ञान ही मनुष्य का स्वभाव है। साथ ही, यह भी स्मरण रखो कि जो पदार्थ जितना ही विलक्षण और श्रेष्ठ होता है उसकी पहिचान में उतना ही अधिक आनन्द होता है। जिस प्रकार यदि किसी व्यक्ति का मन्त्री से परिचय है तो उसे भी सुख तो होता है, परन्तु जिसका राजा से परिचय है उसका आनन्द उससे भी बढ़कर है। इसी तरह शतरंज जाननेवाले से ज्योतिष या आयुर्वेद जाननेवाला अधिक सुखी होता है। किन्तु भगवान से बढ़कर तो कोई भी पदार्थ नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों की विशेषता या श्रेष्ठता तो उन्हीं की शक्ति से होती है और वे ही सबके स्वामी हैं तथा संसार में जो कुछ आश्चर्य या विलक्षणता है सब उन्हीं की कारीगरी है। अतः उनकी पहिचान से बढ़कर और किसी की पहिचान नहीं हो सकती और न उनके समान किसी अन्य रूप का सौंदर्य ही है। वास्तव में उनकी पहिचान और उनका दर्शन करना ही इस मनुष्य का स्वभाव है और इसी निमित्त से भगवान् ने मानव को उत्पन्न किया है। इसलिये इस मनुष्य की भलाई और पूर्णता भगवान् की पहिचान करने में ही है।

यही नहीं, यदि किसी मनुष्य के हृदय में भगवान् की पहिचान करने की रुचि न हो तो जानो कि उसका हृदय रोगी है। यदि किसी को अन्न में तो रुचि न हो और मिट्टी अच्छी जान पड़े तो उसे रोगी ही कहेंगे। ऐसे व्यक्ति की यदि चिकित्सा न की जाय तो एक दिन वह मर ही जायगा। और संसार में भी उसे भाग्यहीन ही कहा जायगा। इसी प्रकार जिस मनुष्य की विषयों में तो

प्रीति हो, किन्तु भगवान से प्रेम न हो, उसका हृदय रोगी ही कहा जायगा। वह यदि अपने इस मानस रोग का उपचार न करे तो उसे परलोक में अधोगति ही प्राप्त होगी। उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और वह अत्यन्त दुःखी होता है, क्योंकि इन्द्रियसम्बन्धी भोगों का सम्बन्ध तो इस शरीर के ही साथ है और मृत्यु होने पर इसका वियोग हो जाता है, अतः उसके सारे ही भोग नष्ट हो जाते हैं और उनकी आसक्ति के कारण जीव बड़े कष्ट में पड़ जाता है। इसी से परलोक में वह बड़ा भाग्यहीन समझा जाता है। इसके विपरीत भगवान् की पहिचान का जो सुख है उसका सम्बन्ध है हृदय के साथ, इसलिये मृत्यु के समय वह और भी अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि उसमें विक्षेप पैदा करनेवाले पदार्थ उस समय दूर हो जाते हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में यद्यपि जीव के सभी स्वभावों का वर्णन किया है, तथापि मानवहृदय की जो विशेषता है उसके विषय में इतना ही कथन पर्याप्त होगा।

इसके सिवा इस मनुष्य का जो शरीर है उसमें भी भगवान् ने बड़े आश्चर्यमय गुण प्रकट किये हैं तथा इसके अंग-प्रत्यंगों में भी अनन्त गुण उत्पन्न किये है। इसमें कितनी नाड़ियां और अस्थियाँ हैं! उन सभी के आकार और गुण पृथक्-पृथक् हैं तथा उनके कर्म भी सर्वथा भिन्न-भिन्न ही हैं। तुम तो सब अंगों के विषय में जानते भी नहीं केवल इतना ही समझते हो कि हाथ ग्रहण करने के लिये हैं, चरण चलने के लिये और जिह्वा बोलने के लिये। देखो, ये जो तुम्हारे नेत्र हैं इनमें सात परदे रखे गये हैं, इनमें से यदि एक परदा नष्ट हो जाता है तो दृष्टि मन्द पड़ जाती है, किन्तु तुम तो यह नहीं जानते कि सात परदे किस निमित्त से बनाये गये हैं और उन सब में देखने की प्रक्रिया किस प्रकार रखी है। इसके अतिरिक्त नेत्रों का आकार यद्यपि स्पष्ट ही अत्यन्त क्षुद्र है, किंतु इनकी दृष्टि

कहाँ तक फैलती है। इनकी दृष्टि और देखने की प्रक्रिया का वर्णन करने लगें तो कितने ही ग्रन्थ बन सकते हैं। अतः तुम्हें इतना पहिचानना चाहिये कि इस शरीर में मूलचक्र से लेकर जितने भी अँग बनाये गये हैं उनका प्रयोजन क्या है। पहले पक्वाशय को लीजिये। यह भिन्न-भिन्न आहारों को परिपक्व करके रुधिर बनाता है और उसे सम्पूर्ण नाड़ियों में पहुँचाता है। एक ऐसा भी स्थान है कि जो जब रुधिर परिपक्व होता है तो उसका जो मल शेष रहता है, उसे गिरा देता है। उसी रुधिर में कुछ झाग उत्पन्न होते हैं तो उन्हें पित्त दूर कर देता है। आरम्भ में जो रुधिर हृदय से निकलता है वह पतला और जलयुक्त होता है। उस जल को गुरदा खींच लेता है और वह अन्य नाड़ियों द्वारा मूत्राशय में पहुँच जाता है। इस प्रकार मैल, झाग, और जल से रहित होकर शुद्ध हुआ रक्त नाड़ियों में जाता है। इन अंगों में से किसी में भी कोई त्रुटि आ जाने से शरीर रोगी हो जाता है। इससे निश्चय हुआ कि स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के जितने भी अंग है उन सभी का अपना-अपना कोई प्रयोजन है और उन सभी से इस शरीर की रक्षा होती है।

यह जो जीवका पिण्ड (शरीर) है, सो देखने में यद्यपि क्षुद्र-सा जान पड़ता है, तथापि यह ब्रह्माण्ड के समान ही है। जितने पदार्थ ब्रह्माण्ड में हैं अंशतः वे सब पिण्ड में भी हैं। इस शरीर में अस्थियाँ पर्वतों के समान हैं, रोमावली वनस्पतियों के सदृश हैं, पसीना मेघ की तरह है, शिर आकाश के सदृश है और इन्द्रियाँ तारामण्डल के समान हैं। इस प्रकार इनका वर्णन बड़े विस्तार से हो सकता है, किन्तु तात्पर्य यही है कि ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ हैं उनके अंश इस पिण्ड में भी विद्यमान हैं। इसके सिवा संसार में जो शूकर, कूकर, पशु, प्रेत, देवता और अप्सरा आदि विविध प्रकार के जीव हैं उनके स्वभाव भी इस मानवशरीर में

पाये जाते हैं। तथा ब्रह्माण्ड में जितने व्यवहार हैं उनके अंश भी इस शरीर में विद्यमान हैं, जैसे जठराग्नि आहार को पचाती है सो मानो रसोई करनेवाली है, जो शक्ति आहार के रस को लेकर मल को अलग करती है वह गन्धी के समान है, जिस अवयव के द्वारा रुधिर का दूध और वीर्य बनता है वह मानो धोबी का काम करता है, जो जलीय भाग को मूत्राशय में ले जाता है वह पनिहारे के समान है, जो मल को शरीर से बाहर निकालता है वह झाड़ू देनेवाले भंगी की तरह है और जिसके द्वारा वात-पित्त अथवा कफ का प्रकोप होने से शरीर को कष्ट होता है वह चोर या लुटेरे के समान है तथा जो इनके कोप को निवृत्त करके शरीर को स्वस्थ बनाता है वह धर्मात्मा राजा की तरह है। इस प्रकार इन सब का वर्णन किया जाय तो बहुत विस्तार हो सकता है।

इस सब का तात्पर्य यही है कि तुम्हें ऐसी पहिचान होनी चाहिये कि तुम्हारे शरीर में जितने स्वभाव और अंग पैदा किये हैं वे सभी तुम्हारी सेवा करने में सावधान रहते हैं और जब तुम अचेत होकर सो जाते हो तब भी वे तुम्हारी सेवा नहीं छोड़ते। किन्तु तुम उन्हें जानते भी नहीं हो? तथा जिन प्रभु ने तुम्हें ऐसे सेवक दिये हैं उनका भी तुम कोई उपकार नहीं मानते। संसार में तो यदि कोई व्यक्ति तुम्हारी सेवा के लिये अपने किसी टहलुए को भेज देता है तो तुम सारी आयु उसका उपकार मानते रहते हो। पर जिन भगवान् ने तुम्हारे शरीर की सेवा में हजारों टहलुए लगा रखे हैं और वे इतने सावधान हैं कि एक पल भी तुम्हारी सेवा में ढील नहीं करते उनको तुम कभी स्मरण भी नहीं करते।

इसके अतिरिक्त इस शरीर की जो रचना है और इसके अंगों में जो गुण रखे गये हैं उनका विज्ञान भी असीम है, किन्तु इस विद्या की ओर से भी सभी लोग अचेत हैं। यदि कोई इस विद्या का अध्ययन भी करता है तो उसका उद्देश्य भी वैद्यक द्वारा अर्थो-

पार्जन करना ही रहता है। वास्तव में इसका अध्ययन भी तभी सार्थक होता है जब इसके द्वारा भगवान् की कारीगरी को पहिचाना जाय। ऐसे पुरुष को निःसन्देह भगवान् का परिचय प्राप्त हो सकता है। और जिसे उनका परिचय हो जाता है उसकी दृष्टि में भगवान् की निम्नलिखित विशेषताएँ आ जाती हैं—

(१) इस जीव और शरीर को उत्पन्न करनेवाले भगवान् ऐसे समर्थ हैं कि उनमें किसी भी प्रकार की दीनता या पराधीनता का अंश नहीं पाया जाता। वे जो चाहें वही कर सकते हैं। जिन्होंने वीर्य की एक बूंद से यह शरीर उत्पन्न किया है उनके लिये नष्ट हो जाने पर इसे पुनः जीवित कर लेना कौन बड़ी बात है? इसीसे परलोक में प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख की भी पहिचान हो सकती है।

(२) वे भगवान् ऐसे ज्ञानस्वरूप हैं कि उनका ज्ञान सारे संसार में भरपूर है। संसार में जितने भी आश्चर्य और विशेष गुण हैं वे सब उन्हीं की कारीगरी के परिणाम हैं।

(३) वे परम दयालु हैं, सभी जीवों पर उनकी असीम करुणा है। जिस-जिस जीव को जो कुछ आवश्यक था वह सभी उन्होंने दिया है, कोई भी चीज़ कृपणता करके छिपाई नहीं है। शिर, हृदय हाथ, पाँव, रसना आदि जिन-जिन अंगों की अपेक्षा थी और जिनके द्वारा जीव का कार्य निष्पन्न हो सकता था वे सभी अंग उन्होंने दिये हैं। इनके सिवा जिन अंगों का कोई विशेष प्रयोजन भी न था, किन्तु उनके द्वारा इस शरीर का शृंगार और सौंदर्य सिद्ध होता था वे भी उन्होंने दिये हैं; जैसे नेत्रों की समता ओठों की लालिमा, केशों की कालिमा,

भृकुटि की कुटिलता और पलकों की समानता। इसी प्रकार उन्होंने और भी कई अंग केवल सौंदर्य की दृष्टि से रचे हैं।

(४) भगवान् ने ऐसी कृपा केवल मनुष्यों पर ही नहीं की, सभी जीवों पर उनकी दया समान है। इसीसे उन्होंने मक्खी और मच्छर जैसे जीवों को भी जो कुछ अपेक्षित था वह सभी दिया है। उनके शरीर और आकार भी तरह-तरह के चिह्नों से सुशोभित किये हैं। अतः इन जीवों के शरीरों की उत्पत्ति का परिचय प्राप्त करना भी भगवान् को पहिचानने की ही कुञ्जी है।

वास्तव में विद्याध्ययन का विशेष फल यही है कि इसके द्वारा भगवान् की महिमा का ज्ञान हो। जिस प्रकार किसी कवि की कविता और शिल्पी की शिल्प रचना को देख कर निःसन्देह उनकी विशेषता का ही परिचय मिलता है, उसी प्रकार जितनी भी भगवान् की कारीगरी है वह सब उन्हें पहिचानने की कुञ्जी ही है। उससे उनके गुणों का ही परिचय प्राप्त होता है। तथापि हृदय की पहिचान के आगे शरीर की पहिचान तो अत्यन्त नगण्य है, क्योंकि शरीर घोड़े की तरह है और हृदय उसके सवार के समान है। अतः मुख्य पहिचान तो हृदय रूप सवार की ही है, क्योंकि घोड़ा तो सवार के लिये ही होता है, किन्तु सवार घोड़े के लिये नहीं होता।

इस प्रकार यहाँ तक जो कुछ वर्णन किया गया है उससे यह निश्चय होता है कि तुम अपने अंगों को अच्छी तरह से नहीं जानते हो। और यह बात तो स्पष्ट ही है कि अपने स्वरूप से तुम्हारे अधिक समीपवर्ती और कोई वस्तु नहीं है। सो जब तुम अपने स्वरूप को ही नहीं जानते तो अन्य किसी पदार्थ को जानने का अभिमान कैसे कर सकते हो? यह तो ऐसी ही बात होगी जैसे

किसी के पास अपनी उदरपूर्ति की सामग्री भी हो नहीं और वह सारे नगर को अपने यहाँ भोजन करने के लिये आमन्त्रित करे। ऐसी असम्भव बातें करनेवाला अभिमानी पुरुष तो मूर्ख और मिथ्यावादी ही कहा जायगा।

—:०:—

आठवीं किरण

देहदृष्टिसे मानव की हीनता और पराधीनता

अब तुम मनुष्य के हृदय रूपी रत्न की महिमा, शोभा और विशेषता तो अच्छी तरह समझ गये होगे। किन्तु यह भी याद रखो कि यद्यपि भगवान् ने तुम्हें ऐसा रत्न दिया है, फिर भी इसे रखा तुम से गुप्त ही है। अतः यदि तुम इस रत्न की खोज न करोगे, इसकी ओर से अचेत रहोगे और अपने जीवन को व्यर्थ गँवाओगे तो इससे तुम्हारी अत्यन्त हानि होगी। इस लिये तुम पुरुषार्थ करके इस रत्न की खोज करो और माया के जालों से विरक्त रहो, तभी तुम्हारा हृदय-रत्न पूर्ण पद को प्राप्त कर सकेगा। इसकी पूर्णता और श्रेष्ठता चैतन्य रूपी सूक्ष्म देश में पहुँचने पर ही प्रकट होती है, क्योंकि वहाँ यह शोकरहित आनन्द का अनुभव करता है और अपने अविनाशी सत्य स्वरूप का साक्षात्कार करता है। तथा वहीं इसकी अविद्या की निवृत्ति होकर इसे ज्ञान प्राप्त होता है। यह चैतन्य ही श्रीभगवान का शुद्ध स्वरूप है और जीवात्मा भी सूक्ष्म देश में पहुँच कर इसी में लीन होता है।

तथा स्थूल देश में जो जीव की विशेषता कही गयी है उसका कारण यही है कि यह उस परम पद को प्राप्त करने का अधिकारी है। जब तक इस पद को प्राप्त नहीं करता तब तक यह जीव ऐसा पराधीन और नीच है कि इसकी नीचता का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह भूख, प्यास, शीत, उष्ण, रोग, शोक, दुःख, मोह, क्रोध और तृष्णा आदि नीच स्वभावों के अधीन रहता है। जो

भोग इसे अत्यन्त प्रिय लगते हैं वे इसके रोग के ही कारण हैं तथा इसके शरीर का सुख रहता है कड़वी ओषधियों में। वास्तव में मनुष्य की विशेषता तो विद्या, बल, धैर्य, और श्रद्धा आदि दिव्य गुणों के कारण ही है,। यदि शरीर की ओर देखें तब तो इसमें कुछ भी विशेषता नहीं है। यदि इसके मस्तक की एक नाड़ी में कोई दोष आ जाय तो यह पागल हो जाता है और इसकी मृत्यु की भी आशंका हो जाती है। उस अवस्था में तो इसे अपने पास पड़ी हुई अपनी ओषधि की भी पहिचान नहीं रहती और न यह अपने रोग को ही समझता है। इसके समान बलहीन और पराधीन भी कौन होगा? एक मक्खी से तो यह अपनी रक्षा कर नहीं सकता। यदि मच्छर भी इसे काटने लगे तो उसी से यह अत्यन्त व्याकुल हो उठता है। यदि इसके पुरुषार्थ और धैर्य की ओर देखा जाय तो उसमें भी यह अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। कभी-कभी तो एक पैसा गिरने से ही यह दुःखी और उदास हो जाता है तथा भूख के समय एक ग्रास की कमी रह जाने से ही व्याकुल हो उठता है और मूर्च्छितसा हो जाता है। अतः शरीरदृष्टि से तो यह मनुष्य बहुत ही गिरा हुआ है।

यदि शरीर की सुन्दरता पर विचार करें तो यह अत्यन्त मलिन जान पड़ता है। इसमें है क्या? मानो मल-मूत्र के भवन पर त्वचा लपेटी हुई हो। यदि इसे दिन में दो बार न धोया जाय तो ऐसी दुर्गन्ध उठती है कि अपने को भी ग्लानि होने लगती है और दूसरे लोग भी घृणा करते हैं। अजी! जिस शरीर को तुम अपना सर्वस्व समझते हो और जिसकी सुन्दरता का तुम्हें इतना अभिमान है उसके मल को तो तुम नित्यप्रति स्वयं ही अपने हाथों से साफ करते हो, फिर भी तुम्हें इसकी मलिनता का ज्ञान नहीं होता। इस विषय में एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक बार एक महापुरुष मार्ग में चल रहे थे। आगे कुछ चाण्डाल गढ़े में

विष्ठा डाल रहे थे। उसके पास होकर निकलनेवाले दुर्गन्ध के कारण नाक मूँद लेते थे। उनसे महापुरुष ने कहा, 'भाई! क्या तुम भी सुनते हो, यह विष्ठा कहती है कि कल मैं बाजार में रखी हुई थी और लोग मुझे मूल्य देकर खरीदते थे। अब एक रात तुम्हारी संगति करने से मेरी यह दुर्दशा हो गयी। सो विचार तो करो कि मुझे तुम्हारे पास से भागना चाहिये या तुम्हें मेरे पास से ?'

तात्पर्य यह है कि इस शरीर से सम्बद्ध होने पर तो यह जीव अत्यन्त दीन और पराधीन है तथा इसकी अवस्था भी बहुत गिर जाती है। इसी नाते परलोक में भी इसकी हीनता या विशेषता प्रकट होगी। अर्थात् यदि यह दिव्य स्वभाव रूप पारस के द्वारा अपने को शुद्ध कर लेगा तो पशु और सिंहों के स्वभावों से मुक्त होकर परलोक में देवपद प्राप्त करेगा, क्योंकि फिर इसे पाशवी क्रिया और कर्मों के दोष का कोई संसर्ग नहीं रहेगा। और यदि यह अशुभ कर्मों में लगा रहेगा तो अन्त में नरक भोगेगा। अतः पुरुष को चाहिये कि जिस प्रकार यह अपनी विशेषता को जानता है उसी प्रकार अपनी नीचता और पराधीनता को भी परखता रहे, क्योंकि इस प्रकार की परख भी श्री भगवान् को पहिचानने की कुञ्जी है।

बस, अपने-आपको पहिचानने के विषय में इतना ही कथन पर्याप्त होगा।

—:o:—

[२]

द्वितीय उल्लास

(भगवान् की पहिचान)

पहली किरण

शरीर और संसार की वस्तुओं पर विचार करने से भगवान् की पहिचान

सन्तों का यह वचन प्रसिद्ध है और उन्होंने यही उपदेश दिया है कि जब तुम अपने-आप को पहिचानोगे तभी निःसन्देह भगवान् को भी पहिचान सकोगे। प्रभु भी कहते हैं कि जिसने अपने आत्मा और मन को पहिचाना है उसी ने भगवान् को भी पहिचाना है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का हृदय दर्पण के समान है। अतः जो पुरुष इसमें विवेकदृष्टि से देखता है उसे भगवान् का दर्शन प्रत्यक्ष भासने लगता है। तथा सभी लोग जो अपने को तो देखते हैं किन्तु भगवान् को नहीं देख पाते, इसका कारण यह है कि जिस प्रकार सन्तों ने अपने आप को देखना कहा है उस प्रकार वे अपने को नहीं देखते। अतः जिस दृष्टि के द्वारा हृदय-दर्पण में भगवान् की झाँकी की जा सकती है उस दृष्टि का खुलना बहुत आवश्यक है। परन्तु बहुत लोगों की बुद्धि तो इस भेद को समझ ही नहीं सकेगी, इसलिये जिस प्रकार सभी इसे हृदयङ्गम कर सकें उसी प्रकार इस विषय का वर्णन करता हूँ।

सबसे पहले मनुष्य को अपने स्वरूप की स्थिति से भगवान् की सत्ता का भी निश्चय करना चाहिये तथा अपने गुणों से ही भगवान् के गुणों की भी पहिचान कर लेनी चाहिये। उसे देखना चाहिये कि जिस प्रकार इस शरीर और इन्द्रियवर्ग पर जीव की

आज्ञा बर्तती है उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् श्री भगवान् के अनुशासन में चल रहा है। मनुष्य यह देखे कि कितने समय से मैं विद्यमान हूँ, उससे पहले तो मेरा नाम या रूप कुछ भी नहीं था। साथ ही इस बात पर भी विचार करे कि मेरी आदि-उत्पत्ति का बीज तो वीर्य ही है, जो जल की एक मलिन बूँद ही है। उसमें बुद्धि, श्रवण, नेत्र, शिर, हाथ, पैर, रसना, अस्थि, नाड़ी या त्वचा कुछ भी न था। बस, केवल सफेद जल ही था। उसी से इस शरीर में अनेकों आश्चर्य उत्पन्न हो गये! सो ये सब क्या शरीर ने स्वयं ही बना लिये हैं, या इनका बनानेवाला कोई और है। अच्छा, यदि यह स्वयं ही सब कुछ बना लेता है तो अब तो यह मनुष्य बुद्धि और इन्द्रिय आदि सभी अंगों से सम्पन्न है, किन्तु एक बाल भी नहीं बना सकता, फिर जिस अवस्था में यह केवल वीर्य की एक गंदी बूंद के ही आकार में था उस समय कैसे बना सकता था। इस प्रकार अपनी उत्पत्ति पर विचार करने से यह मनुष्य सहज ही में अपने उत्पत्तिकर्ता प्रभु को पहिचान सकता है।

और जब यह मनुष्य अपने आश्चर्य मय अंगों की ओर देखे तो इसे सहज ही में भगवान् की विलक्षण बुद्धि का परिचय मिल सकता है। साथ ही वह देखेगा कि प्रभु ऐसे समर्थ हैं कि जिस प्रकार जिस वस्तु को उत्पन्न करना चाहें उसी प्रकार कर सकते हैं। भला इससे बढ़कर उनके बल का और क्या वर्णन किया जा सकता है कि उन्होंने जल की एक मलिन बूँद से ऐसा सुन्दर शरीर रच डाला और उसमें ऐसी आश्चर्यमयी इन्द्रियाँ बना दीं। इस प्रकार यदि यह मनुष्य अपने स्वभावों और इन्द्रियों के कर्मों को परखने लगे, तो वह यह जान सकेगा कि भगवान् ने एक-एक अंग कैसे महत्त्व के बनाये हैं। इस शरीर के हाथ, पाँव जिह्वा, नेत्र और दाँत आदि बाह्य तथा हृदय, मन एवं प्राण आदि

आन्तरिक अंगों की उत्पत्ति और विशेषताओं के द्वारा वह इन्हें उत्पन्न करनेवाले भगवान् की विद्या को समझे और देखें कि उनकी विद्या कैसी असीम और सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करने वाली है कि उनसे कोई भी वस्तु छिपी नहीं रह सकती। यदि सारे बुद्धिमान् मिलकर विचार करें और किसी अंग को अन्य प्रकार से बनाना चाहें तो अन्त में वे उसे उसी रूप में रखना सबसे अच्छा मानेंगे जिसमें कि उसे भगवान् ने बनाया है, उसका कोई दूसरा रूप उन्हें उचित न जान पड़ेगा।

अब इस बात को स्पष्टतया समझने के लिये कुछ अंगों की रचना पर विचार किया जाता है। पहले दाँतों को लीजिये। इनमें अगले दाँतों के सिरे तीखे बनाये गये हैं, जिससे कि वे आहार को पकड़ कर उसके खण्ड-खण्ड करदें। फिर जो इधर-उधर की दाढ़ें हैं वे अपने चौड़े सिरों से चक्की की तरह आहार को पीसती हैं। चक्की में बीच की नली द्वारा जैसे अनाज इकट्ठा रहता है उसी प्रकार रसना ग्रास को इकट्ठा करके दाँतों के नीचे दबाती रहती है। जिह्वा के नीचे ही एक सरोवर-सा है, जिससे लार ले कर वह ग्रास को भिगोती रहती है। यह भिगोना भी आवश्यकता के अनुसार होता है, जिससे ग्रास सूखे नहीं और कोमल होकर कण्ठ से नीचे उतर जाय। अब, सारे बुद्धिमान् मिलकर भी यदि भगवान् की इस आश्चर्यमयी रचना से किसी अन्य प्रकार की रचना करनी चाहें तो इससे बढ़कर नहीं बना सकते। अतः भगवान् ने जैसा बना दिया है उसी में सबसे बढ़कर भलाई और सुन्दरता है। देखो, हाथ में पाँच अँगुलियाँ हैं, इनमें चार का स्वभाव तो एक है और पाँचवाँ जो अँगूठा है उसका स्वभाव कुछ दूसरे प्रकार का है। इसकी लम्बाई कम है, यह सब अँगुलियों के ऊपर घूम सकता है और उनके काम में सहयोग दे सकता है। सब अँगुलियों में तीन-तीन जोड़ हैं, किन्तु अँगूठों में दो हैं।

अतः यह इतना दृढ़ है कि जब आवश्यकता हो तभी सब अँगुलियों को समेट कर मुट्ठी बाँध लेता है और उसे खोल भी सकता है। यह कभी हाथ को सकोड़ लेता है और कभी फैला देता है, यही तरह-तरह के शास्त्रों का प्रयोग करता है और कभी हाथ को पात्र की तरह बना लेता है। तात्पर्य यह है कि हाथों की सारी क्रिया अँगूठे के द्वारा ही सिद्ध होती है। अब यदि सारे बुद्धिमान् मिलकर विचार करें कि पाँचों अँगुलियाँ समान होनी चाहिये, अथवा तीन एक ओर और दो दूसरी ओर होनी चाहिये, अथवा छः या चार होनी चाहिये, अथवा अँगुलियों में तीन-तीन जोड़ न रहकर किसी अन्य प्रकार से रहने चाहिये—तो उनकी ये सारी कल्पानाएँ अनुपयुक्त और असुन्दर रहेंगी। अतः भगवान् ने जो अंग जैसा बनाया है वह उसी प्रकार पूर्ण है। इससे सिद्ध हुआ कि जीव को उत्पन्न करनेवाले प्रभु की विद्या इसके शरीर एवं सभी पदार्थों में भरपूर है और वे सम्पूर्ण जगत् को जाननेवाले हैं।

इसी प्रकार इस शरीर के जितने भी अंग हैं उन सब में ऐसे ही विचित्र गुण और रहस्य भरे हुए हैं। उन्हें जो पुरुष जितना-जितना समझता है उतना-उतना भगवान् की कारीगरी को देखकर चकित होता है। अतः इस पुरुष को अपने अंगों का निरीक्षण करते हुए अपने आहार वस्त्र और पृथ्वी आदि निवासस्थानों पर भी विचार करना चाहिये। तथा आहार की उत्पत्ति के साथ जो मेघ, पवन और शीत-उष्ण आदि का सम्बन्ध रखा गया है उसे भी परखना चाहिये। देखो, भगवान् ने खानियाँ कैसी आश्चर्य रूप बनायी हैं, जिससे लोहा-तांबा और अनेकों धातुएँ निकलती हैं और उनके द्वारा अनेकों शस्त्र बनाये जाते हैं। इन शास्त्रों की विद्या और कारीगरी भी अपार है। यदि विचार किया जाय तो संसार में इन सभी पदार्थों की आवश्यकता थी, इसी से श्रीभगवान् ने कृपा

करके पहले से ही इन्हें उत्पन्न कर दिया। अहा! इन्हें उन्होंने कैसी युक्ति से बनाया है और इनमें से एक-एक में कितने-कितने गुण रखे हैं! यदि प्रभु इन्हें पहले ही से न रचते तो मनुष्य तो यह भी नहीं समझ सकते थे कि हमें अमुक पदार्थ चाहिये, उसे हम भगवान् से माँग लें। अतः उन्होंने मनुष्य के आवश्यकता अनुभव करने और मांगने से पहले ही सब वस्तुएँ उत्पन्न कर दी हैं और जीवों को इनका उपयोग करने की विद्या दे दी है। इससे भगवान् की परम कृपालुता का परिचय मिलता है और इस संसार पर उनकी जो ऐसी अहैतुकी करुणा है उसे देख-देखकर सब संत आश्चर्यचकित होते हैं। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जैसे बालक पर माता-पिता की दया होती है उससे भी कहीं बढ़ कर प्रभु की सम्पूर्ण जीवों पर कृपा है।

इस प्रकार हमें जीव की उत्पत्ति से भगवान् की सत्ता का, इसके अंगोपांगों की रचना से उनके पूर्ण सामर्थ्य का तथा इन अंगों के जो नाना प्रकार के गुण और कार्य हैं उन्हें देखकर प्रभु की महती कृपा का परिचय प्राप्त होता है। इस मनुष्य को कार्य करने के लिये और इस शरीर के सौन्दर्य की दृष्टि से जितने पदार्थों की आवश्यकता थी वे सभी भगवान् ने दिये हैं, कोई भी वस्तु उससे छिपा कर नहीं रखी। इस प्रकार विचार करने से प्रभु की परम कृपा पहिचानी जाती है। और इसी दृष्टि से अपने-आपकी पहिचान को भगवान् की पहिचान की कुञ्जी कहा गया है।

—:०:—

दूसरी किरण

भगवान् की शुद्धता और निर्लेपता की पहिचान

इस प्रकार तुम्हें अपने स्वरूप की सत्ता से भगवान् के स्वरूप का तथा अपने गुणों से भगवान् के गुणों का तो परिचय हो ही गया। अब तुम उनकी शुद्धता और निर्लेपता का तात्पर्य समझने का भी प्रयत्न करो। शुद्धता का तात्पर्य यही है कि हमारे मन में जो कुछ संकल्प होता है उसमें तो कुछ-न-कुछ स्थूलता रहती ही है, किन्तु भगवान् उससे सर्वथा शून्य हैं। अर्थात् उनका वास्ताविक स्वरूप संकल्प का विषय नहीं हो सकता। इसके सिवा वे देश और काल से भी सर्वथा निर्लिप्त हैं। यद्यपि ऐसा कोई स्थान नहीं है जो उनकी सत्ता से रहित हो, तथापि उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे अमुक्त स्थान में रहते हैं। इस निर्लेपता की पहिचान भी अपने ही स्वरूप में हो सकती है। पहले मैं कह चुका हूँ कि यह जीव चैतन्यस्वरूप है, अतः मन के संकल्प में उसका कोई रंग-रूप नहीं भासता। इसके सिवा वह अमर्याद, अखण्ड और अरूप भी है और जो वस्तु मर्यादा एवं रूप से रहित होती है उसका स्वरूप संकल्प के अन्तर्गत कभी नहीं आ सकता, क्योंकि जिस वस्तु को नेत्रों द्वारा देखा हो अथवा जिसके समान कोई और वस्तु देखी हो उसी का स्वरूप संकल्प के द्वारा जानने की प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि वस्तु के विषय में जो ऐसी जिज्ञासा हुआ करती है कि वह कैसी है? उसका रूप-रंग कैसा है? उसकी मर्यादा क्या है अर्थात् वह कितनी लम्बी-चौड़ी है?

चैतन्यस्वरूप परमात्मा के विषय में ऐसे किसी भी प्रकार के संकल्प का अवकाश नहीं है।

अब, यदि तुम यह प्रश्न करो कि तो फिर वह कैसा है और जिस पदार्थ का कोई रंग या रूप ही नहीं उसको सत्य भी कैसे कहा जा सकता है?—तो ऐसा कहना ठीक नहीं। तुम अपने विषय में ही विचार करो, तुम्हारा जो अपना चैतन्य स्वरूप है उसकी भी तो कोई मर्यादा या परिमाण नहीं है, उसके स्वरूप का भी तो वर्णन नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा होने पर भी यदि तुम अपनी निर्लेपता को समझ सकते हो तो भगवान् के विषय में भी यही समझो कि उनकी निर्लेपता तुम्हारी निर्लेपता से भी बढ़कर है। लोग जो इस बात को सुनकर आश्चर्य मानते हैं और कहते हैं कि जिसका कोई रूप-रंग न हो उसे सत्यस्वरूप कैसे जानें, सो विचार करके देखें तो वे स्वयं भी तो रूप-रंग से रहित और सत्यस्वरूप ही हैं। यही नहीं, यदि यह मनुष्य विचार करे तो इसे अपने भीतर ही ऐसे अनेकों गुण मिलेंगे जो रूप-रंग से रहित हैं। क्रोध, प्रेम, पीड़ा और सुख-दुःख ये सभी अरूप हैं। अतः अरूप पदार्थ कैसे सत्य हो सकता है—यह प्रश्न व्यर्थ ही है। यदि वह मनुष्य राग, सुगन्ध और स्वाद के आकार देखना चाहे तो उन्हें भी तो नहीं देख सकता। इसका कारण यह है कि रूप-रंग की खोज भी मन के संकल्प द्वारा होती है और संकल्प में उसी की मूर्ति स्पष्टतया आ सकती है जिस पदर्थ को नेत्रों द्वारा देखा हो। अतः संकल्प तो नेत्रों द्वारा देखे हुए पदार्थ को ही ढूँढ़ता है। शब्द भी श्रवणेन्द्रिय का ही विषय है, उस तक भी नेत्र की पहुंच नहीं है और न वह उसका कोई रूप-रंग ही देख सकता है। तथा जिस प्रकार शब्द का स्वरूप नेत्रेन्द्रियकी गति से परे है उसी प्रकार रूप-रंग तक श्रवणेन्द्रिय की पहुँच नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्य

पाँच इन्द्रियों के विषय भी भिन्न-भिन्न हैं। उनसे भी विलक्षण वे पदार्थ हैं जिनका ज्ञान केवल बुद्धि से ही होता है, वे किसी भी इन्द्रिय के विषय नहीं होते, अतः इन्द्रियागोचर कहे जाते हैं। परन्तु इस रहस्य को पुरुषार्थ और युक्ति द्वारा समझा जा सकता है। अन्य ग्रन्थों में इसका बहुत विस्तार है, इसलिये यहाँ इसका इतना ही वर्णन पर्याप्त है।

यहाँ हमें मुख्यतया तो यही कहना था कि यह मनुष्य अपनी अरूपता और निराकारता के द्वारा भगवान् की अरूपता और निराकारता को पहिचाने। साथ ही यह भी निश्चय करे कि जिस प्रकार रूप-रंग से रहित जीव रूप-रंगयुक्त शरीर का राजा है और शरीर उसके द्वारा शासित देश के समान है, उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी भगवान् अरूप एवं अनाकार है तथा यह सम्पूर्ण जगत् जो स्थूल और साकार है, उसकी आज्ञा में वर्तता है। इसके सिवा पहले यह कहा जा चुका है कि भगवान् किसी भी स्थानविशेष से बँधे हुए नहीं हैं। इसी प्रकार यह जीव भी शरीर के हाथ, पाँव या शिर आदि किसी अंगविशेष में नहीं रहता, क्योंकि ये अंग तो सभी खण्डाकार हैं, और चैतन्यस्वरूप जीव अखण्ड है। अखण्ड वस्तु भला खण्डाकार में कैसे समा सकती है? ऐसा होने पर तो वह भी खण्ड-खण्ड हो जायगी। अतः यह बड़ा आश्चर्य है कि यद्यपि जीव की सत्ता से बाहर कोई भी अंग नहीं है, सब उसकी सत्ता और आज्ञा के अधीन है, तथापि उसे किसी एक स्थान में नहीं कह सकते। इसी प्रकार वे प्रभु भी सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामी और निर्लेप हैं, उन्हें पृथ्वी, आकाश या पाताल किसी भी एक स्थान में नहीं कहा जा सकता, तथापि सारा जगत् उन्हीं की सत्ता से विद्यमान है और उन्हीं के अधीन है। अतः भगवान् की शुद्धता और निर्लेपता का पूरा-पूरा रहस्य तभी जाना जा सकता है जब जीव के यथार्थ स्वरूप का बोध हो।

प्रभु ने भी कहा है कि मैंने मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार रचा है। किन्तु धर्म शास्त्रों में इस रहस्य को गुप्त ही रखा है।

—:o:—

तीसरी किरण

भगवान् और जीव के साम्राज्यों का वर्णन

इस प्रकार भगवान् के स्वरूप, गुण और अरूपता को तुमने समझा तथा उनकी निर्लेपता का भी तुम्हें परिचय हुआ। इससे अब यह भी आवश्यक हो जाता है कि तुम उनके साम्राज्य का भी ज्ञान प्राप्त करो। अतः अब तुम्हें यह श्रवण करना चाहिये कि वे किस प्रकार अपने साम्राज्य का सञ्चालन करते हैं, किस प्रकार समस्त देवताओं को अपनी आज्ञा में चलाते हैं और देवता लोग किस लिये उनके आदेश का अनुवर्तन करते हैं? साथ ही यह भी समझना चाहिये कि भगवान् संसार के कार्यों को किस प्रकार पूरा कराते हैं, किस प्रकार भगवद्धाम से उनकी आज्ञा भूर्लोक में आती है, कैसे वे नक्षत्रमण्डल का सञ्चालन करते हैं, किस प्रकार उन्होंने भूर्लोक के जीवों की प्रवृत्तियां देवताओं के अधीन रखी है और किस प्रकार द्यु लोक के द्वारा सम्पूर्ण जीवों का पालन-पोषण होता है। इस विद्या के द्वारा भगवल्लीला का परिचय प्राप्त होता है। ग्रन्थों में इसका वर्णन बड़े विस्तार से किया जाता है।

किन्तु यह विद्या भी अपने-आपको पहिचानने से ही प्राप्त हो सकती है। जब तक तुम्हें इस बात का ज्ञान न हो कि मैं इस शरीर का किस प्रकार अनुशासन करता हूँ, तब तक जो सम्पूर्ण संसार के सम्राट् हैं उन प्रभु के शासन का भेद तुम कैसे समझ

सकोगे? अतः इस बात को समझने के लिये तुम अपने ही एक कर्म पर विचार करो। मान लो, तुम्हारे हृदय में भगवान् का नाम लिखने की इच्छा हुई। यह संकल्प सबसे पहले तुम्हारे हृदय में स्फुरित होगा और फिर मस्तिष्क में जायगा।❀ जिस को हृदयस्थान कहते हैं वह प्राण की स्थिति का स्थल है, समस्त इन्द्रियों के व्यापार इसी के द्वारा सिद्ध होते हैं। शरीर विज्ञानवाले तो इस प्राणों के स्थान को ही चैतन्य कहते हैं, परन्तु मेरे मत में यह स्थूल जड़ एवं नाशवान् है। मैं जिस हृदय को चैतन्यरूप कहता हूँ वह तो ज्ञान का स्थान है, वह इससे भिन्न अविनाशी है। अस्तु जब संकल्प हृदयस्थान से मस्तिष्क में पहुँचता है तो उस नाम की एक संकल्पमयी मूर्त्ति बन जाती है। फिर वह मूर्त्तिमान् संकल्प नाड़ियों और माँस-पेशियों को संचालित करता है और उससे प्रेरित होकर अँगुलियाँ लेखनी को चलाती हैं, जिससे कागज पर अक्षर प्रकट होते हैं और उस नामकी मूर्त्ति प्रकट हो जाती है। इस प्रकार नाम की जैसी मूर्त्तिका संकल्प में स्फुरण हुआ था वैसी ही वह इन्द्रियों के द्वारा कागज पर प्रकट होती है। सो जैसे इसके प्राकट्य में तुम्हारी इच्छा ही मूल कारण है उसी प्रकार इस जगत् की रचना का मूल कारण भी भगवान् की इच्छा ही है। जैसे वह इच्छा तुम्हारे हृदयदेश में स्फुरित हुई थी वैसे ही भगवदिच्छा का स्फुरण ईश्वरसत्ता में होता है। फिर जैसे तुम्हारी इच्छा मस्तिष्क में जाती है वैसे ही भगवदिच्छा ईश्वर से देवताओं को प्राप्त होती है। तुम्हारी इच्छा की जैसे संकल्प में मूर्त्ति बनती है उसी के अनुसार वह कागज पर अक्षरों के रूप में प्रकट होती है। उसी प्रकार भगवदिच्छा सबसे पहले महत्तत्त्वरूप से मूर्त्तिमती होती

❀ 'हृदय' संकल्प या भाव का स्थान है और 'मस्तिष्क' विचार या निश्चय का।

है और फिर देवताओं की प्रेरणा से पञ्चभूतों के रूप में स्थूल रूप धारण करती है। वात, पित्त, कफ भी भूतों के ही स्वभाव हैं। अतः जैसे कलम के द्वारा अक्षर प्रकट होते हैं वैसे ही इन तीनों के मेल से नाना प्रकार के शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। कलम का कार्य तो यही था कि उसके द्वारा कागज पर तुम्हारे आदि संकल्प की मूर्त्ति प्रकट हो गयी, उसी प्रकार यहाँ पञ्च भूतों का कार्य भी इतना ही है कि उनके द्वारा देवताओं की प्रेरणा से अनेक प्रकार के शरीर और वनस्पति आदि उत्पन्न हो जाते हैं। पहले जैसे मस्तिष्क में ही भगवन्नामकी मूर्त्ति निश्चित हो जाती है और वही नाड़ियों एवं अँगुलियों के द्वारा कागज पर प्रकट होती है, उसी प्रकार यह सारी रचना पहले भगवान् के आदि संकेत के अनुसार महत्तत्त्व रूप से हो लेती है और वही क्रमशः जगत् रूप में आविर्भूत होती है। जिस प्रकार तुम्हारी चेतना का स्थान हृदय है और उसी से सारी क्रियाएँ सिद्ध होती हैं, उसी प्रकार भगवदिच्छा का आदि स्थान ईश्वर है, उसी से सम्पूर्ण देवताओं को भी बल प्राप्त होता है और उसी की सत्ता से संसार का सारा व्यवहार सिद्ध होता है। इस प्रकार जीव और ईश्वर के साम्राज्यों में कोई भी अन्तर नहीं है, किन्तु इस रहस्य को वही समझ सकता है जिसके बुद्धिरूप नेत्र खुले हैं। भगवान् ने भी कहा है कि मैंने मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार उत्पन्न किया है। किन्तु यह बात तुम निश्चित जानो कि जिस प्रकार राजाओं के भेद को कोई राजा ही जानता है उसी प्रकार भगवन् की लीला के रहस्य को भी महापुरुप ही समझ सकते हैं सामान्य पुरुषों की वहाँ तक पहुँच नहीं होती।

इस प्रकार भगवान् ने तुम्हें भी एक साम्राज्य दिया है, जिससे इस शरीररूप देश के राज्यद्वारा तुम उनके साम्राज्य को पहिचान सको। अतः तुम उनके इस महान् उपकार पर विचार करो, क्यों कि अपने इस राज्य के द्वारा ही तुम उनके साम्राज्य का भी परि-

चय प्राप्त कर सकोगे। तुम्हारे इस राज्य में हृदयस्थान ही वैकुण्ठ है, मस्तिष्क देवलोक है, चित्त महत्तत्त्व है, नेत्रादि इन्द्रियाँ देवता हैं और सिर आकाश है। तुम्हें तो प्रभु ने रूप-रंग से रहित ही बनाया है और यह जो रूप-रंगवाला शरीर है इसका तुम्हें आधिपत्य दिया है। तुम्हारे लिये उनका आदेश है कि तुम एक पलके लिये भी अपने राज्य से असावधान न रहो, यदि तुम इसकी ओर से अचेत रहोगे तो मुझे भी नहीं पहिचान सकोगे। अतः पहले तुम अपने ही को पहचानो।

यहाँ जो कुछ वर्णन किया गया है वह जीव और भगवान् के राज्यों की सूचनामात्र है। यदि इनका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाय तब तो बड़ा विस्तार हो जायगा। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड और देवताओं के जो पारस्परिक सम्बन्ध एवं देवताओं के जो स्थान और पुरियाँ हैं उनकी विद्या भी अपार है। इन सबका तात्पर्य यही है कि बुद्धिमान् मनुष्य को इस रहस्य का अनुभव करना चाहिये कि भगवान् इस सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामी हैं। किन्तु जिसका हृदय मलिन होता है वह यह कुछ नहीं समझ सकता। वह तो ऐसा प्रमादी होता है कि उसे श्री भगवान् के स्वरूप की सुन्दरता और उनकी अतुलित शक्तिमत्ता पर भी विश्वास नहीं होता। कहाँ तक कहें, जीवों की बुद्धि तो ऐसी मलिन हो रही है कि यहाँ जो कुछ वर्णन किया गया है उसे भी वे नहीं समझ पाते, फिर भगवान् के स्वरूप को वे कैसे पहिचान सकेंगे?

—:०:—

चौथी किरण

शरीरविज्ञानियों और ज्यौतिषियों के मतों की समीक्षा तथा भगवान् के राज्य और उनकी व्यवस्था का वर्णन

संसार में जो शरीर-विज्ञान के पण्डित हैं वे तो वात, पित्त, कफ को ही मूलतत्त्व मानते हैं और ज्यौतिषी लोगों के मत में हमारी सारी प्रवृत्ति नक्षत्रों के ही अधीन है। किन्तु इससे इनकी बुद्धि की मन्दता ही सूचित होती है। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई व्यक्ति कागज पर लिख रहा हो और उस पर कलम से अक्षरों की आकृतियाँ बनते देखकर कोई मकोड़ा यह समझने लगे कि इन आकृतियों को तो लेखनी ही बनाती है। इसे भले ही बड़ी भारी खोज समझ कर वह कृतकृत्यता का अनुभव करे, परन्तु है यह उसकी अदूरदर्शिता ही। ऐसी ही स्थिति इन शरीर-विज्ञान वादियों की है। ये आपातदृष्टि से देखकर जड़, वात, पित्त और कफ को ही शरीर का उपादान और उन्हें ही सब कुछ करने-धरने-वाला मानने लगे हैं। ज्यौतिषी इनसे कुछ आगे बढ़े हैं। वे उस मकोड़े के समान हैं जो पहले की उपेक्षा कुछ विशेष बुद्धि रखता है और जिसने ऐसा निश्चय किया है कि ये अक्षर लेखनी की नहीं, अपितु इसे चलनेवाली अँगुलियों की कृति हैं। अतः ये वात-पित्तादि को नहीं, बल्कि उनके प्रेरक नक्षत्रों को ही सब कुछ

करने-धरनेवाला मानते हैं। किन्तु हैं ये भी मन्दमति ही, क्योंकि इनकी दृष्टि अभी नक्षत्रों से आगे उनके प्रेरक देवताओं और देवताओं के भी शासक ईश्वर या भगवान् तक नहीं गयी है।

इसके सिवा भिन्न-भिन्न मतवादियों में आत्मा और अनात्मा के विषय में भी बड़ा मतभेद है। उनमें कोई तो ऐसे हैं जो शरीर और प्राणों को ही चैतन्य मानते हैं। उनकी दृष्टि तो बहुत ही स्थूल है; चैतन्यतत्त्व की उपलब्धिका मार्ग उनसे सर्वथा ओझल है। इसी से उनकी बुद्धि शरीर में ही अटकी रह गयी है। कुछ ऐसे लोग हैं जो जीव को शरीर से भिन्न मानते हैं, वे अवश्य चैतन्य के प्रकाश की ओर उन्मुख हैं। किन्तु इस प्रकाश में भी उत्तरोत्तर अनेकों स्थल हैं। किन्हीं की दृष्टि में वह प्रकाश तारा के समान है, किन्हीं की दृष्टि में चन्द्रमा के समान और किन्हीं की दृष्टि में सूर्य के समान। किन्तु इन प्रकाशमय पर्दों का अनुभव भी उन्हीं को होता है जिनकी बुद्धि की गति चिदाकाश में है। इस पर ख़लील नाम के एक संत ने कहा कि जिस प्रभु ने पृथ्वी और आकाश को उत्पन्न किया है अभी तो उसकी ओर मैंने मुख किया है। और महापुरुष भी कहते हैं कि भगवान् और जीव के बीच में सत्तर हजार पर्दे हैं, ये निवृत्त हों तो जीव प्रकाशरूप हो जाय। तात्पर्य यह है कि भगवान् के सत्तर हजार पर्दे अर्थात् कलाएँ हैं और ये सब प्रकाशरूप हैं। सो यदि वे इन सब पर्दों को हटा दें तो निश्चय ही उनका ऐसा प्रकाश हो कि जीव उनके तेज को सहन न कर सके, निश्चय ही उसका मुख भस्म हो जाय।

इन सब वाक्यों का तात्पर्य यही है कि यद्यपि चरम तत्त्व अत्यन्त दुर्लक्ष्य है तथापि आंशिक सत्य सभी मतों में है। शरीर-विज्ञानियों ने जो कुछ कहा है वह भी ठीक ही है। उनकी बात तो तभी असत्य हो सकती थी जब वात, पित्त, कफ में भी

भगवान् की सत्ता न होती। उनकी भूल तो केवल इतनी ही है कि उनकी इस अत्यन्त निम्नस्तर में ही अलंबुद्धि हो गयी है और उन्होंने इसी को चरम स्थान मान लिया है। अतः उन्हें मन्दमति ही कहा जा सकता है। उन्होंने मानो एक साधारण सेवक को ही राजा मान लिया है, यह नहीं समझा कि ये तो उस महाराज के अत्यन्त तुच्छ टहलुए हैं। इसी प्रकार ज्यौतिषियों ने जो जगत् को नक्षत्रों के अधीन कहा है वह भी अंशतः ठीक ही है, क्योंकि यदि नक्षत्रों में भगवान् की सत्ता न होती तो संसार में रात-दिन का भी भेद न होने पाता। सूर्य भी तो एक विशाल नक्षत्र ही है, उसी के द्वारा रात-दिन और शीत-उष्ण का भेद होता है। सूर्य जब सामने आता है तो दिन होता है और ओझल हो जाने पर रात होती है। इसी प्रकार जब वह पृथ्वी के निकट रहता है तो ग्रीष्म ऋतु होती है और जब दूर रहता है तो शीत ऋतु। भगवान् ने ही सूर्य को प्रकाश और उष्णता प्रदान किये हैं। अतः सूर्य उन्हीं की सत्ता से अपना कार्य कर रहा है। इसी प्रकार उन्होंने शुक्र को शीतलता दी है और उसे शोषण करने वाला बनाया है तथा एक दूसरे नक्षत्र को उष्ण और सजल रचा है। अतः नक्षत्रों को संसार की प्रवृत्ति का कारण मानना भी धर्म के विरुद्ध नहीं है। ज्यौतिषियों को तो इसीलिये भ्रान्त कहा है, कि वे नक्षत्रों को ही संसार की प्रवृत्ति का मूल प्रेरक मानते हैं, यह नहीं जानते कि ये भी पराधीन हैं और श्रीभगवान् की आज्ञा से प्रेरित होकर ही अपने-अपने काम में लगे हुए हैं। इनमें स्वयं कोई शक्ति नहीं है। जैसे हाथों को भी भुजा और कन्धों की नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क ही प्रेरित करता है उसी प्रकार ये तारामण्डल और नक्षत्र भी भगवान् की आज्ञा का अनुवर्तन करनेवाले तुच्छ टहलुओं के समान ही हैं।

इस प्रकार यद्यपि आंशिक सत्य शरीरविज्ञानियों और ज्यौति-

षियों के मतों में भी है, किन्तु वे वास्तविक रहस्य को नहीं जानते और अपने-अपने मतों का आग्रह करके अपने मत को ही चरम सिद्धान्त समझते हैं। उनके विषय में यह दृष्टान्त पूर्णतया चरितार्थ होता है—किसी स्थान पर कुछ अन्धे रहते थे। उन्होंने सुना कि यहाँ नगर में एक हाथी आया है। उनकी इच्छा यह जानने की हुई कि हाथी कैसा होता है। अतः वे हाथी के पास जा उसे हाथ से टटोलने लगे। उनमें से किसी का हाथ हाथी की टाँग पर, किसी का दाँत पर, किसी का सूँड पर और किसी का कान पर पड़ा। बस, उन्होंने समझ लिया कि हाथी ऐसा ही है और वे लौटकर परस्पर पूछने लगे कि भाई ! हाथी कैसा था। उनमें से जिसने हाथी की टाँग पकड़ी थी वह बोला, 'हाथी खम्भे के समान था,' जिसने दाँत पकड़ा था वह बोला, 'हाथी मूसल की तरह था,' जिसने सूँड छुई थी वह कहने लगा कि हाथी अँगरखे की बाहों की तरह था, और जिसने कान पकड़ा था वह बोला, 'हाथी पंखे की तरह था।' इस प्रकार मतभेद होने से उनमें खूब वाद-विवाद होने लगा। अब विचार किया जाय तो अंशतः उन सभी का कथन ठीक है, परन्तु वही पूर्ण सत्य नहीं है। इसी प्रकार शरीरविज्ञानियों और ज्यौतिषियों ने भी महाराज के तुच्छ टहलुओं को ही उनका अद्भुत सामर्थ्य देखकर महाराज मान लिया है। किन्तु जिन्हें भगवान् ने अपने पास पहुँचने का सीधा मार्ग दिखाया है वे उनकी तुच्छता और पराधीनता को अच्छी तरह समझते हैं और जानते हैं कि जो पराधीन होता है वह राजा नहीं हो सकता, अतः इन सबके स्वामी तो भगवान् ही हैं।

इसलिये तुम ऐसा समझो कि यह ब्रह्माण्ड एक राजभवन के समान है। उसी का एक कक्ष वैकुण्ठपुरी है, जो प्रधान मन्त्री के रहने का स्थान है। इस राज्य के प्रधान मन्त्री भगवान् विष्णु हैं, जो परब्रह्मरूपी महाराज के अत्यन्त समीपवर्ती हैं और

सभी जिनके अधीन हैं। उनके निवासस्थान के चारों ओर एक बारहदरी है; ये ही बारह राशियाँ कही जाती हैं। इनमें से प्रत्येक द्वार पर उस प्रधान मन्त्री का एक-एक कर्मचारी रहता है। ये ही बारह राशियों के बारह देवता हैं। इस बारहदरी के बाहर नवग्रह रूप नौ घुड़सवार घूमते रहते हैं। प्रधान मंत्री की ओर से कर्मचारियों को जो आज्ञा होती है उसे ये भी सुनते हैं। इनके नीचे पञ्चतत्त्वरूप पाँच पदाति हैं। इनकी दृष्टि सर्वदा घुड़सवारों की ओर ही रहती है और ये यही देखते रहते हैं कि उनके द्वारा हमारे लिये महाराज की क्या आज्ञा होती है। इन पदातियों के हाथ में जो पाँच पाश हैं वे ही वात-पित्तादि कहे गये हैं। उनके द्वारा वे भगवान् की आज्ञा से किन्हीं मनुष्यों को तो ऊर्ध्वगति की ओर खींच लेते हैं और किन्हीं को नीचे गिरा देते हैं—किन्हीं को सुखरूप शिरोपाँव देते हैं और किन्हीं को दुःखरूप दण्ड देते हैं। इस प्रकार यद्यपि सुख-दुःख भी भगवान् की प्रेरणा से ही प्राप्त होते हैं, किन्तु संसार में जब किसी मनुष्य को भोगों की ओर से विरस और शोकाकुल-सा देखा जाता है तो वैद्य लोग तो कहते हैं कि इसे वायु रोग है, इसका कारण शीत ऋतु की शुष्कता है, जब तक वसन्त न आवे इसका उपचार नहीं हो सकता; और जब उसी को कोई ज्यौतिषी देखता है तो वह कहता है कि इसे यह वायुरोग बृहस्पति के कोप से हुआ है, क्योंकि इस समय बृहस्पति और मंगल का विरोध है, अतः जब तक इनका विरोध दूर न हो इसका रोग दूर नहीं हो सकता। सो एक दृष्टि से यद्यपि उनका कथन भी ठीक है, किन्तु उसकी जो भोगों से अरुचि हुई है उसका वास्तविक कारण तो और ही है।

बात वास्तव में यह है कि श्रीभगवान् जिस जीव का उद्धार करना चाहते हैं, उसके पास तुरन्त ही बृहस्पति और मंगल इन दो अश्वारोही दूतों को भेजते हैं। उनकी आज्ञा से वायु-रूप

पदाति उस जीव पर शुष्कतारूप पाश डालता है, जिससे उसका चित्त भोगों की ओर से विरक्त हो जाता है। फिर वह शोक-रूपी चाबुक लगा कर उसकी श्रद्धा-रूपी बागडोर खींचता है, जिससे उसका मुख भगवान् के दरबार की ओर हो जाता है। इस रहस्य को शरीर-शास्त्री और ज्यौतिषी नहीं समझते, यह विद्या तो सन्तों के अनुभव-रूपी समुद्र में ही छिपी हुई है। सन्तों की विद्या सभी दिशा और सभी कार्यों में भरपूर है, अतः वे ग्रह और नक्षत्रों की गति को भी पहिचानते हैं और यह भी जानते हैं कि वे भी भगवान् की आज्ञा पाकर ही किसी जीव को उठाते और किसी को गिराते हैं। सो तथापि वैद्य और ज्यौतिषियों का कथन भी ठीक है यद्यपि वे महाराज, प्रधान मन्त्री और सेनापति को नहीं जानते। वे नहीं समझते कि इस रोग और चिन्ता में भी प्रभु की अपार करुणा ही भरी हुई है, क्योंकि वे दुःख, रोग, आपत्ति और दण्ड देकर भी जीव को अपनी ही ओर खींचते हैं। प्रभु का कथन है कि जब सात्त्विकी पुरुषों को कोई रोग होता है तो मैं उन्हें पीड़ा नहीं देता, बल्कि उस दुःख के द्वारा भी मैं अपने प्रियजनों को अपनी ही ओर खींचता हूँ। अतः यह दुःख भी जीवों को मेरी ओर खींच ले जानेवाली रस्सी ही है।

इस प्रकार पहले हमने जीव के स्वरूप की पहचान के विषय में वर्णन किया, और फिर भगवान् के स्वरूप का परिचय कराया। अब भगवान् के राज्य और उनकी व्यवस्था की पहचान करायी है। यह पहचान भी जीव को अपने राज्य और अपनी व्यवस्था की पहचान होने पर ही प्राप्त होती है, इसलिये पहले उल्लास में अपने-आपकी पहचान का ही वर्णन किया गया है।

—:०:—

पाँचवीं किरण

भगवत्स्तुतिपरक चार वाक्यों का विवरण

यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि भगवान् की स्तुति चार वाक्यों से की गयी है। वे वाक्य ये हैं—

१. भगवान् निर्लेप और शुद्ध हैं।

२. वे सम्पूर्ण जगत् के ईश्वर हैं।

३. भगवान् एक हैं, उनके समान कोई दूसरा नहीं है।

४. वे सबसे बड़े हैं, और परे से भी परे हैं।

ये चार वाक्य यद्यपि बहुत संक्षिप्त हैं, तथापि भगवान् की पूर्णता को सूचित करनेवाले हैं। तुमने जब अपनी निर्लेपता के द्वारा भगवान् की निर्लेपता को समझा, तब तुम्हें निर्लेपता के अर्थ की पहचान हुई। फिर जब अपने राज्यद्वारा तुम्हें भगवान् के साम्राज्य का परिचय हुआ, और तुमने समझा कि काल, कर्म और स्वभावसहित जितने देवताओं का सम्बन्ध तुम्हारे साथ है, वे सब ईश्वर के ही अधीन हैं, तो 'धन्यवाद के योग्य कौन है' इस बात का तुम्हें पता लग गया। तुम यह बात जान गये कि ईश्वर के सिवा और कोई सुख देनेवाला नहीं, क्योंकि स्वयं कोई भी समर्थ या स्वाधीन नहीं है। अतः जो भी सुख प्राप्त होते हैं, वे प्रभु का ही उपकार हैं, और उन्हीं का धन्यवाद करना चाहिये। इस प्रकार जब तुम यह समझ गये कि कोई भी समर्थ नहीं, सब भगवान् के ही अधीन हैं, तब उपर्युक्त तृतीय वाक्य

का तात्पर्य भी तुम्हारी समझ में आ ही गया। अब रहा चौथा वाक्य, उसका तात्पर्य यह समझना चाहिये कि तुम जो ऐसा मानते हो कि मैंने भगवान् को पहचान लिया, सो वास्तव में तुमने उन्हें कुछ भी नहीं पहचाना है, क्योंकि उनकी महत्ता का अर्थ तो यही है कि सारे अनुमानों के द्वारा भी जीव उन्हें वास्तव में नहीं पहचान सकता। बड़े होने का यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि भगवान् अमुक्त पदार्थ से बड़ा है। क्योंकि वास्तव में उनके सामने तो कोई पदार्थ है ही नहीं। यह जितनी सृष्टि है, वह सब भगवान् के प्रकाश का ही प्रतिबिम्ब है, और उन्हीं की सत्ता से भास रहा है। ऐसी स्थिति में भला, उन्हें किससे बड़ा कहेंगे? जिस प्रकार धूप सूर्य से भिन्न है ही नहीं, तो सूर्य को धूप से बड़ा भी कैसे कहा जायगा?

अतः भगवान् की महत्ता या बड़ाई का अर्थ यही है कि मनुष्य अपनी बुद्धि या अनुमान के द्वारा उन्हें किसी प्रकार नहीं जान सकता। तथा उनकी जो निर्लेपता और शुद्धता है, उसे भी मनुष्य की निर्लेपता के समान समझना अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि भगवान् का स्वरूप तो इस सम्पूर्ण भासमान प्रपञ्च से विलक्षण है, उसे किसी के भी समान नहीं कह सकते। फिर भला यह मनुष्य उसकी क्या समता कर सकता है? भगवान् ऐसी बुद्धि से रक्षा करें, जिसके द्वारा जीव उनके महान् ऐश्वर्य और साम्राज्य को मनुष्य के ऐश्वर्य और राज्य के समान ही जाने, अथवा उनकी विद्या और शक्ति की मनुष्य की विद्या और शक्ति से तुलना करे। यद्यपि पहले हमने भी इसी प्रकार वर्णन किया है, किन्तु वह तो प्रभु के स्वरूप को लक्षित कराने के लिये एक दृष्टान्तमात्र कहा है। उसका उद्देश्य केवल इतना ही है कि इस प्रकार मनुष्य को भगवान के विषय में कुछ समझ हो जाय। जैसे कोई बालक किसी बुद्धिमान् पुरुष से पूछे कि राज्य करने में कैसा

सुख मिलता है ? और, वह कह दे कि जैसा तुझे गेंद-बल्ला खेलने में। बालक इस खेल के सुख से अधिक सुख जानता ही नहीं, इसलिये उसे राज्यसुख को उसके द्वारा लक्षित कराया जाता है। इस दृष्टान्त के सिवा और किसी प्रकार वह उसे समझ भी तो नहीं सकता। किन्तु वास्तव में यह बात सब जानते ही हैं कि इन दोनों सुखों की परस्पर कोई तुलना नहीं हो सकती। हाँ, 'सुख' शब्द से दोनों ही का परिचय दिया जाता है, अतः संज्ञा की एकता होने के कारण बालक को उसका कुछ बोध कराया जा सकता है। इसी प्रकार भगवान् की शुद्धता और निर्लेपता का परिचय देने के लिये जो मनुष्य की शुद्धता और निर्लेपता का वर्णन किया है, वह भी मन्दबुद्धि पुरुषों को समझाने के निमित्त से ही है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भगवान् की पूर्णता को भगवान् के सिवा और कोई नहीं जान सकता।

वास्तव में भगवान् की पहचान का विषय इतना विस्तृत है कि उसका कोई अन्त नहीं है। यहाँ तो भगवान् के प्रति जीव की प्रीति और श्रद्धा बढ़े, इस निमित्त से थोड़ा-सा वर्णन कर दिया है। और इतना ही समझने का मनुष्य अधिकारी भी है। जीव की भलाई तो भगवान् की पहचान और उनकी सेवा-भजन आदि में ही है, जिससे कि मृत्यु के समय उसका ध्यान भगवान् की ओर लगा रहे, क्योंकि वे ही जीवकी स्थिति के स्थान हैं, और अन्त में निःसन्देह वहीं इसे पहुँचना है। अतः इसकी भलाई इसी में है कि पहले ही प्रभु में इसका प्रेम हो जाय। प्रभु में जिसकी जितनी अधिक प्रीति होती है, उतना ही उसे उनके दर्शनों में विशेष आनन्द आता है। और जब तक जीव को उनकी पहचान न हो, अथवा भजन की अधिकता न हो, तब तक उसके हृदय में भगवत्प्रेम की प्रगाढ़ता नहीं होती। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि जिस पुरुष के साथ किसी की विशेष प्रीति होती है, उसी

का वह अधिक स्मरण करता है, और जिसका अधिक स्मरण किया जाता है, उसी के साथ प्रीति भी दृढ़ होती जाती है। कहते हैं, एक बार संत दाऊद को आकाशवाणी हुई थी कि 'हे दाऊद'! तेरे सब कामों को सिद्ध करनेवाला मैं ही हूँ और तेरा प्रयोजन भी मेरे ही साथ है, अतः तू एक क्षण भी मेरे भजन से अचेत मत हो।'

परन्तु इस मनुष्य के हृदय में भजन तभी होता है, जब पहले यह सत्कर्मों में बर्ते और इसे सत्कर्मों का अवकाश तब मिलता है जब यह सम्पूर्ण भोग वासनाओं को त्यागे। अतः पाप कर्मों को त्यागना ही हृदय की मुक्ति का कारण है, और सत्कर्मों को ग्रहण करने से ही भजन में दृढ़ता होती है। ये दोनों साधन भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न करनेवाले हैं, और उत्तम भोगों का बीज भी भगवान् के प्रेम में ही है। यह जीव शरीरधारी है, अतः यह सभी प्रकार के भोगों से शून्य तो रह नहीं सकता, इसे शरीर-निर्वाह के लिए भोजन और वस्त्रों की अपेक्षा तो रहेगी ही। इस लिये इसे विचार में स्थित होकर कर्तव्य कर्म और भोगवासना का विवेक करना चाहिये। विचार की मर्यादा भी दो प्रकार की होती है—एक तो यह कि मनुष्य अपनी बुद्धि और अनुभव के आधार पर ही अपनी मर्यादा का निश्चय करे, और दूसरी यह कि किन्हीं महापुरुष के आश्रित रहकर उनकी आज्ञानुसार आचरण करे। किन्तु अपनी बुद्धि और पुरुषार्थ के आश्रित रहकर मर्यादा में रहना बहुत कठिन है, क्योंकि जीव के हृदय में भोग-वासना की इतनी प्रबलता है कि वह इसकी बुद्धि को अन्धा करके यथार्थ मार्ग को इसकी दृष्टि से ओझल कर देती है, और अपने अभीष्ट भोगों को ही पुण्य का रूप देकर सामने ले आती है। अतः इस मनुष्य को अपना आचरण स्वाधीन नहीं रखना चाहिये। किन्हीं महापुरुष को अपना शरीर समर्पित कर देना चाहिये। हाँ,

सभी मनुष्य ऐसे नहीं होते, जिन्हें आत्म-समर्पण किया जाय। जो ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न सन्त हों, उन्हीं की आज्ञा के अनुसार आचरण करे, कभी उनकी आज्ञा का उल्लंघन न करे। ऐसा होने पर सहज ही में कल्याण हो सकता है, और यही वास्तव में संतों का सच्चा सेवक होना भी है। इसके विपरीत जो पुरुष अपनी वासनाओं के कारण सन्तों की मर्यादा का उल्लंघन करता है, उसकी बुद्धि तत्काल नष्ट हो जाती है। इसी पर प्रभु कहते है कि जिस मनुष्य ने मर्यादा का त्याग किया है उसने अपने पर ही अन्याय कर डाला है।

—:o:—

छठी किरण

संतमार्ग से विपरीत चलनेवाले सात प्रकार के मूर्खों का वर्णन

जिन लोगों ने अपनी वासनाओं के कारण सन्तों की आज्ञा और मर्यादा को त्यागा है, उनकी स्थितियाँ सात प्रकार की होती हैं। उनका हम वर्णन क्रमशः करते हैं—

पहले— ये ऐसे मूर्ख होते हैं कि इनका भगवान् पर भी विश्वास नहीं होता। ये कहते हैं—"भगवान् कल्पनामात्र है। यदि वास्तव में कोई इस जगत् का ईश्वर होता तो उसका भी कुछ रूप-रंग होना चाहिये था। किन्तु ईश्वर का तो कोई रूप-रंग या स्थान-दिशा आदि पाया नहीं जाता, इसलिये वह केवल कल्पना ही है। इस जगत् के कार्य तो तत्त्वों के स्वभाव और नक्षत्रों की प्रेरणा से ही होते हैं।" इन मूर्खों का मत है कि मनुष्य एवं अन्य जीव तथा नाना प्रकार की रचना जो दिखायी देती है वह ईश्वर के बिना स्वयं ही उत्पन्न हुई है और इसी प्रकार स्थित रहेगी। अथवा इसे तत्त्वों का स्वभाव ही समझना चाहिये। सो, उनका यह कथन व्यर्थ ही है। वे मूर्ख तो अपने विषय में ही कुछ नहीं जानते, तब और किसी पदार्थ को क्या जानेंगे? उनका कथन ऐसा ही है, जैसे कोई पुरुष लिखे हुए अक्षरों को देखकर कहे कि ये अक्षर तो किसी विद्वान् और समर्थ लेखक के बिना स्वयं ही लिख गये हैं, अथवा अनादिकाल से इनकी मूर्ति इसी प्रकार चली आयी है। सो

जिनके बुद्धिरूप नेत्र मुँदे हुए हैं, उन भाग्यहीनों की ही ऐसी दृष्टि हो सकती है। इस विषय में शरीरविज्ञानियों और ज्यौतिषियों की भूल का वर्णन तो पहले कर ही चुके हैं।

दूसरे—*ये लोग ऐसे मूर्ख हैं कि परलोक को ही नहीं मानते, और कहते हैं कि मनुष्य भी घास और खेती की तरह ही है। जब यह जीव मरता है तो मूल ही से नष्ट हो जाता है, इसलिये पाप, पुण्य, सुख, दुःख और ताड़ना आदि सब व्यर्थ ही है।* इनकी मूर्खता तो देखो कि अपने को भी घास अथवा गधे और बैलों की तरह समझते हैं तथा आत्मा जो चैतन्य और अविनाशी है, उसे नहीं पहचानते। मृत्यु तो केवल शरीर के नाश का ही नाम है, किन्तु ये इस बात को नहीं समझते।

तीसरे—ये लोग भगवान् और परलोक को मानते हैं, परन्तु इनका विश्वास ऐसा शिथिल होता है कि इन्हें सन्तजनों के वाक्यों में विश्वास नहीं होता। ये कहते हैं—"भला भगवान्; को हमारे भजन की क्या आवश्यकता है और हमारे पापाचरण से भी उन्हें क्यों दुःख होता है, क्योंकि भगवान् तो ऐसे समदर्शी हैं कि उनके लिये तो भजन और पाप में कोई अन्तर है नहीं। फिर भला, वे हमारे भजन की भी क्या अपेक्षा रखते हैं?" ये मूर्ख भगवान् के इस कथन पर कोई ध्यान नहीं देते कि जिज्ञासुजन जो पुरुषार्थ और शुभकर्म करते हैं, वह उनके मन की पवित्रता के लिये ही होता है। ये भाग्यहीन पुरुष तो यही समझते हैं कि भजन और शुभकर्म भगवान् के लिये किये जाते हैं, अपने कल्याण के लिये नहीं। इनकी यह समझ ऐसी ही है जैसे कोई रोगी कुपथ्य का त्याग न करे और कहे कि इससे वैद्य की क्या हानि है? ठीक है, इससे वैद्य की तो कोई हानि नहीं है, किन्तु रोगी का तो नाश हो ही जाता है। रोगी का नाश वैद्य की अप्रसन्नता से नहीं, अपितु कुपथ्य ही से होता है। वैद्य तो उसे आरोग्यलाभ का

मार्ग दिखानेवाला ही है। इसी प्रकार मलिन स्वभाव बुद्धि के नाश का कारण है और भगवान् के भजन तथा उनकी पहचान से बुद्धि नीरोग होती है।

चौथे—इन मूर्खों का कहना है कि सन्तों ने जो हृदय को भोग और क्रोधादि से शुद्ध करने को कहा है, यह असम्भव है, क्योंकि ये स्वभाव तो मनुष्य को सृष्टि के आरम्भ से ही मिले हुए हैं। उनकी निवृत्ति के लिये प्रयत्न करना तो ऐसा ही है जैसे कोई काले कम्बल को सफेद करना चाहे। ये लोग नहीं जानते कि सन्तों ने तो क्रोध और भोग को अपने अधीन करने को ही कहा है, जिससे कि मनुष्य सन्तों की आज्ञा और मर्यादा का उल्लंघन न करे। इसके सिवा उन्होंने जो राजसी-तापसी कर्मों का त्याग करने को कहा है, यह बात तो हो ही सकती है। ऐसी स्थिति तो अनेकों पुरुषों ने प्राप्त की है। महापुरुष ने कहा है कि अन्य मनुष्यों की तरह मैं भी क्रोध करता हूँ, परन्तु मेरा हृदय सन्तप्त नहीं होता। प्रभु ने भी ऐसे लोगों की प्रशंसा की है, जिन्होंने क्रोध पर विजय प्राप्त की हो और विजय प्राप्त करने का अर्थ तो यही है कि क्रोध तो हो, किन्तु वह हृदय को सन्तप्त न करे। यदि सर्वदा क्रोध न हो तो उसे क्रोध पर विजय प्राप्त करना भी कैसे करेंगे ?

पाँचवें—ये लोग कहते हैं कि भगवान् तो परम कृपालु और दयालु हैं। वे हमारे अवगुणों की ओर नहीं देखेंगे। पर यह नहीं जानते कि यद्यपि वे परम दयालु हैं, तथापि पापियों को दण्ड देने वाले भी हैं। इस संसार में जो नाना प्रकार के रोग, कष्ट और निर्धनता आदि दुःख हैं, उन पर इनकी दृष्टि ही नहीं जाती। भगवान् तो निश्चय ही अत्यन्त कृपालु और दयालु हैं। किन्तु जब तुम अपनी आजीविका के लिये प्रयत्न करते हो तब तुम्हारी यह दृष्टि कहाँ रहती है ? यदि उनकी दयालुता में विश्वास हो तो

व्यवहार और आजीविका के लिये उद्योग करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि प्रभु तो विश्वम्भर है। वह तो उद्योग किये बिना ही सबका पालन करनेवाले हैं।। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि पृथ्वी और आकाश के भीतर रहनेवाले सम्पूर्ण जीवों का पालन करनेवाला एकमात्र मैं ही हूँ। ऐसा कहकर मानो प्रभु ने स्पष्ट ही जीव को व्यावहारिक प्रवृत्ति में पड़ने से रोका है। किन्तु उन्होंने *कहीं भी भजन या पुरुषार्थ करने के लिये मना करके उसे परलोक सुधारने का प्रयत्न करने से नहीं रोका। ये लोग भगवान् को परम कृपालु समझकर भी यदि माया की तृष्णा नहीं त्याग सकते*, तो व्यर्थ ही अपने मुख से परलोक की बातें बनाते हैं, और कहते हैं कि भगवान हमें क्षमा कर देंगे। वास्तव में ये अपने मन के सिखाये हुए हैं और वासनाओं के दास हैं। भगवान् की कृपा पर इन्हें कुछ भी विश्वास नही है।

छठे—ये लोग व्यर्थ अभिमानी होते हैं। ये कहते हैं कि हमें वह अवस्था प्राप्त हुई है कि पाप हमें स्पर्श ही नहीं कर सकते। हमारा धर्म तो ऐसा पक्का है कि उसे किसी प्रकार का मल कभी स्पर्श ही नहीं कर सकता।

अधिकतर तो इन लोगों की ऐसी स्थिति होती है कि यदि इनके एक वचन का भी खण्डन कर दिया जाय तो जन्म भर के लिये विरोधी बन जाते हैं, अथवा भोजन के लिए एक ग्रास माँगें, और वह न मिले तो इनका हृदय क्रोधान्धकार से भर जाता है। वस्तुतः तो परमपुरुषार्थ में इनकी ऐसी दृढ़ता होती नहीं कि पाप इन के पास न फटक सके, फिर इनका इस प्रकार अभिमान करना कैसे संगत हो सकता है ? यदि किसी ने दम्भ और क्रोध के द्वारा ऊपर से वैर भाव और भोगविलास को दबा भी दिया, और इतने में ही समझने लगा कि मैंने परमपद प्राप्त कर लिया है, तो वह अभिमानी ही कहा जायगा, क्योंकि सन्तों की अवस्था तो ऐसी

हुई है कि जब कभी उनसे कोई त्रुटि हो गयी है, तो वे भगवान् के भय से रोने लगे हैं और प्रभु से प्रार्थना करके उसके लिये क्षमा माँगते हैं। जो सच्चे सत्पुरुष हुए हैं, वे तो थोड़े से पाप से भी डरते थे, और मलिनता का सन्देह होने पर शुद्ध अन्न भी त्याग देते थे। फिर इन मूर्खों ने कैसे समझ लिया कि हम मान और भोगों के बन्धन से मुक्त हो गये हैं। इन बुद्धिहीनों की अवस्था उन सन्तों से बढ़कर तो हुई नहीं है। यदि कहो कि सन्त-जन भी कर्मों से निर्लिप्त ही थे, उन्होंने जीवों के कल्याण के लिये ही अशुभ कर्म त्यागे थे, तो भी उनकी ही तरह ये लोग लोक-कल्याण के लिये अशुभ कर्मों का त्याग क्यों नहीं करते? इन्हें भी तो यह समझना चाहिये कि यदि कोई हमारे अशुभ कर्मों को देखेगा तो वह भी धर्म-मार्ग से भ्रष्ट हो जायगा और उसकी बुद्धि नष्ट हो जायगी। यदि कहो उनकी बुद्धि नष्ट होने से हमारी क्या हानि है, तो इस प्रकार तो लोगों का अहित होने से उन महापुरुषों की भी कोई हानि नहीं होती थी। महापुरुषों के लिये भी व्यवहार की शुद्धि परम आवश्यक है। कहते हैं, महापुरुष के पास सकाम भाव से एक छुहारा आया। उन्होंने उसे मुँह में डाल लिया, किन्तु जब मालूम हुआ तो उसे तुरन्त थूक दिया। भला, वे उसे खा ही लेते तो भी उन्हें क्या पाप लग सकता था, और क्या उससे दूसरे लोगों की हानि होती? किन्तु जब उन्होंने उस छुहारे को खाने में भी हानि देखी तो इन मूर्खों को क्या मांस-मदिरा के सेवन से भी हानि नहीं होगी। विचार करें, तो उनकी अपेक्षा इन मूर्खोंकी स्थिति बढ़ी-चढ़ी तो नहीं है, और न छुहारा खाने के पाप से मांस-मदिरा सेवन का पाप ही कम है। यह कैसे जाना जाय कि उन्हें तो छुहारा खाने से भी पाप लगता था, और इन्हें मांस-मदिरा से भी कोई दोष नहीं होता! इससे निश्चय होता है कि इनकी ऐसी करतूतें देखकर माया हँसती है। इन मूर्खों को उसने अपना

हास्यास्पद और खिलौना ही बना रक्खा है। बुद्धिमान् लोग जब इनके दम्भों को देखते हैं, तो चकित रह जाते हैं। धर्मात्मा पुरुष तो वे ही हैं, जो इस मन को छलरूप जानते हैं। जिस पुरुष ने मन और वासनाओं को अपने अधीन नहीं किया, वह तो महा नीच है, कोरा पशु ही है। जिसे अपने मनकी चालों का पता ही नहीं लगता, उसका अभिमान करना तो व्यर्थ ही है। उसका यह कहना कि मैंने मन को अपने अधीन कर लिया है, कोरी मूर्खता ही है। उसमें मन को जीतने का कोई लक्षण ही नहीं पाया जाता। मन को जीतने का लक्षण तो यह है कि जीव का कर्म उसकी वासनाओं के द्वारा प्रेरित न हो, अपितु वह सन्तों की आज्ञाओं का अनुसरण करे और सर्वदा अपने को उन्हीं की आज्ञा के अधीन रक्खे, तभी वह सच्चा कहा जा सकता है। जो पुरुष अपने सयानपन और चतुराई से निर्दोष बनना चाहता है। वह तो मन का दास और झूठा अभिमान करनेवाला है। अपने मन का निरीक्षण कभी नहीं छोड़ना चाहिये। जब मनुष्य मन की ओर से निःशंक हो जाता है, तो अवश्य छला जाता है, और फिर इसे अपने सर्वनाश का भी पता नहीं चलता। इसके सिवा सन्तों के आदेशानुसार आचरण करना तो जिज्ञासुओं का प्रथम कर्तव्य है। इसके बिना तो धर्म की ही दृढ़ता नहीं होती, फिर परमपद पाने की तो संभावना ही कहाँ है। वह तो परे से भी परे है, अतः उसका अभिमान करना तो व्यर्थ ही है।

सातवें—ये लोग अपनी वासनाओं की प्रबलता से ऊँचे हो जाते हैं। इन्हें अनजान नहीं कह सकते, क्योंकि ये अपने को निर्लेप नहीं समझते। जब मनमाना आचरण करनेवाले लोगों को कुमार्ग में चलते और तरह-तरह के भोग भोगते देखते हैं, तथा साथ ही यह भी देखते हैं कि वे बड़ी गम्भीर और सूक्ष्म बातें कहकर अपने को संतरूप से प्रकट करते हैं और वेष-भूषा भी

संतों का सा ही रखते हैं, तो इनमें भी वैसी ही भोगलम्पटता आ जाती हैं। ये भोगों की दुःख रूपता को न जानकर कहते हैं, "भोग निन्दनीय नहीं है, और न इन में दुःख ही है।" इनकी दुःखरूपता तो केवल कथनमात्र ही है। ये लोग पाखण्डियों के संग और मनकी वासनाओं के कारण अत्यन्त अचेत और अंधे से हो जाते हैं, तथा माया का इन पर पूरा अधिकार रहता है। ये केवल बातों से या कहने-सुनने से सीधे नहीं होते, क्योंकि इनकी यह भूल अज्ञानवश नहीं है, ये तो जान-बूझकर बावले हुए हैं, अतः इन के सुधार का उपाय तो केवल राजदण्ड ही है।

इस प्रकार जो सात प्रकार के मूर्ख हैं, उनकी अवस्थाओं का इतना ही वर्णन पर्याप्त है। यहाँ इनका वर्णन इस उद्देश्य से किया है कि ऐसी अवस्थाएँ या तो अपने मन के कारण होती हैं, या सन्तों ने जो भगवत्प्राप्ति का मार्ग बताया है, उससे अचेत रहने से। किंतु किसी भी प्रकार हो, जब हृदय में मूर्खता का स्वभाव दृढ़ हो जाता है, तो उसे दूर करना बहुत कठिन होता है। कोई ऐसे मूर्ख भी होते हैं कि अज्ञान और संशय में पड़कर मन-माने मार्ग से चलते रहते हैं और उसी में अपना गोरव भी समझते हैं, किन्तु जब उनसे कोई प्रश्न किया जाता है तो हक्के-बक्के से रह जाते हैं और कोई उत्तर नहीं दे सकते। साथ ही स्वयं किसी से कुछ पूछते भी नहीं, क्योंकि उनके हृदय में भगवन्मार्ग के प्रति न तो प्रीति ही होती है, और न किसी वचन में शंका ही। वास्तव में शंका भी उसी को होतीहै, जिनके हृदयमें किसी प्रकार की खोज होती है। ऐसे मनुष्यों का उपचार करना बहुत कठिन होता है। ये तो ऐसे रोगी के समान हैं, जो वैद्य के पास जाकर बेधड़क अपनी कुटेवों का वर्णन करता है। ऐसे रोगी की चिकित्सा होनी कठिन ही है। ऐसे मूर्खों को यही उपदेश करना चाहिये कि जिस विषय को तुम नहीं समझते उसकी ओर

से अपने को अनजान ही प्रकट करो । बस, इतना विश्वास रक्खो कि तुम भी भगवान् के ही उत्पन्न किये हुए हो और वे सर्वसमर्थ हैं, जो चाहें वही कर सकते हैं—इस बात में भी कभी सन्देह नहीं करना चाहिए। इस प्रकार जब उनमें कुछ श्रद्धा दिखायी दे तब सन्तों के वचन और युक्तियोंद्वारा समझाओ जैसा कि मैंने इस ग्रन्थ में किया है।

—:०:—

[३]

तृतीय उल्लास

(माया की पहिचान)

पहली किरण

संसार का स्वरूप, जीव के कार्य और उसका मुख्य प्रयोजन

याद रखो, यह संसार भी धर्ममार्ग का एक पड़ाव ही है। जो जिज्ञासु भगवान् की ओर चलते हैं, उनके लिये यह मार्ग में आया हुआ ऐसा स्थान है, जैसे किसी विशाल वन के किनारे कोई नगर या बाजार हो। जिस प्रकार मार्ग में चलनेवाले परदेशी बाज़ार से तोशा एकत्रित कर लेते हैं, उसी प्रकार संसार भी परलोक के लिये तोशा इकट्ठा करने की जगह है। यहाँ शरीर का नाश होने से पहले जो संसार दीखता है, उसका नाम लोक है, और शरीर की मृत्यु हो जाने पर जीव की जो स्थिति होती है, उसे परलोक कहते हैं। इस लोक में जीवका सबसे प्रधान प्रयोजन यही है कि वह परलोक के लिये तोशा तैयार करे। यद्यपि आरम्भ में इस मनुष्य की अवस्था बहुत सामान्य और निम्नकोटि की होती है, पर तो भी इसे भगवान् ने पूर्ण पद का अधिकारी बनाया है। यदि यह देवताओं के निर्मल स्वभाव को हृदयस्थ करे तो भगवान् के दरबार का अधिकारी हो सकता है। इसी प्रकार जब इसे प्रभु के मार्ग की समझ प्राप्त हो, तो यह निःसन्देह उनके दर्शन कर सकेगा। यही जीव की सबसे बड़ी भलाई है, यही इसका वैकुण्ठ है, और भगवान् ने भी इसी कार्य के लिये जीव को उत्पन्न किया है।

परन्तु जब तक इसके हृदय की आँख न खुले, और यह उनके सूक्ष्म स्वरूप की ठीक-ठीक समझ एवं पहचान प्राप्त न करे, तब तक इसे प्रभु का दर्शन नहीं हो सकता। प्रभु को पहचानने की कुंजी यही है कि उसकी आश्चर्यमयी कारीगरी को पहचाने। इस कारीगरी को पहचानने की कुंजी इन्द्रियाँ हैं, और इन्द्रियाँ रहती हैं शरीर में, तथा यह शरीर पाँच तत्त्वों के सम्बन्ध से बना हुआ है। इस स्थूल तत्त्वों के जगत् में जीवका आगमन इसी उद्देश्य से हुआ है कि यहाँ यह परलोक का तोशा संग्रह कर ले। यहाँ पहले मन की पहचान करे और उसी से फिर भगवान् को भी पहचाने। संसार के जितने पदार्थ हैं, उनकी पहचान होती है इन्द्रियों से। जब तक इन्द्रियाँ इसे सांसारिक पदार्थों की सूचना देती रहती हैं, तब तक यह पुरुष जीवित कहा जाता है, और जब इन्द्रियाँ इसका साथ छोड़ देती हैं, तो यह अपने स्वभाव में स्थित हो जाता है। इसी को परलोक कहते हैं। सो इस जगत् में तो इस जीवका आगमन इसी निमित्त से हुआ है कि यह अपना कार्य सिद्ध कर ले।

इस संसार में जीव को दो कार्य अवश्य करने हैं। पहला तो यह कि अपने हृदय को अशुभ स्वभावों से बचावे, क्योंकि उनसे बुद्धि नष्ट हो जाती है, और हृदय का आहार प्राप्त करे। तथा दूसरा यह कि शरीर को भी नष्ट होने से बचावे और इसे भी इसका आहार दे। इनमें हृदय का आहार है भगवान् की पहचान और प्रीति, क्योंकि सबका आहार अपने स्वभाव के अनुसार होता है, और वही उसे अत्यन्त प्रिय भी होता है। इस विषय में पहले भी कुछ वर्णन किया जा चुका है कि जीवका स्वभाव भगवान् की पहचान ही है, किन्तु जब यह जीव भगवान् से भिन्न किसी अन्य वस्तु के साथ प्रीति करता है, तब उसी से इसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, तथा हृदय की रक्षा के लिये शारीरिक रक्षा और

सुविधा भी अपेक्षित है ही। इनमें चैतन्यस्वरूप हृदय अविनाशी है और शरीर नाशवान् है। इन दोनों का सम्बन्ध ऐसा है, जैसे तीर्थयात्रा में यात्री और ऊँट का सम्बन्ध होता है। वहाँ ऊँट ही यात्री के लिये होता है, ऊँट के लिये यात्री नहीं होता। यद्यपि यात्री घास-पानी देकर ऊँट की रक्षा अवश्य करता है, तथापि उसका प्रयोजन तीर्थयात्रा ही है, ऊँट नहीं। इसी से तीर्थयात्रा समाप्त हो जाने पर फिर उसे ऊँट की अपेक्षा नहीं रहती। उसे उचित है कि मार्ग में भी आवश्यकतानुसार ही ऊँट की खबर ले। यदि सारा दिन उसी की टहल और सँभाल में लगा देगा, तो अपने साथी यात्रियों से दूर पड़ जायगा, और अपने लक्ष्य तीर्थ स्थान पर नहीं पहुँच सकेगा। इसी प्रकार यदि यह मनुष्य सारी आयु आहार के ही उपार्जन में लगा दे और निरन्तर शरीर की रक्षा में ही लगा रहे, तो कभी अपना कल्याण नहीं कर सकेगा, और अपने वास्तविक लक्ष्य श्रीभगवान् को भी प्राप्त नहीं कर सकेगा।

इस संसार में शरीर की रक्षा के लिये तीन पदार्थों की आवश्यकता होती है—आहार, वस्त्र और निवासस्थान। प्राणों की रक्षा के लिये जीव को इन तीन पदार्थों के सिवा और किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। और ये ही तीनों सम्पूर्ण मायिक पदार्थों के भी मूल हैं। हृदय के आहार में इनसे एक प्रधान विलक्षणता है। वह यह कि हृदय का आहार है भगवान् की पहचान, और वह जितनी अधिक हो, उतना ही आनन्द भी अधिक होता है। जब कि शरीर का आहार जो अन्न है, उसे आवश्यकता से अधिक खा लिया जाय, तो शरीर के नाश का ही कारण होता है। भगवान् ने तो जीव में भोगों की अभिलाषा केवल इसी उद्देश्य से रची है कि वह आहार, वस्त्र और स्थान के यथोचित उपयोग-द्वारा शरीररूप घोड़े की रक्षा करे। किन्तु यह अभिलाषा इतनी

प्रबल हो जाती है कि मर्यादा में नहीं ठहरती, सर्वदा अधिकाधिक ही चाहती रहती है। इसी से उसे मर्यादा में रखने के लिये भगवान् ने बुद्धि की रचना की है और इसी निमित्त से धर्मशास्त्रों में सन्तों के मुखारविन्द से निकले हुए वचन संगृहीत किये गये हैं, जिससे लोगों को विचार की मर्यादा का परिज्ञान हो जाय।

जीव में भोगों की अभिलाषा बाल्यकाल से ही प्रबल रहती है, क्योंकि शरीर का पालन तो खान-पान आदि भोगों के ही द्वारा होता है, । बुद्धि का प्रवेश पीछे होता है । अतः भोगों ने पहले ही से हृदय स्थान को घेर लिया है, और इसी से जीव बुद्धि की आज्ञा पर ध्यान नहीं देते । शास्त्रों में जो विचार की मर्यादा है, वह तो और भी पीछे प्रकट हुई है, इसलिये उसका भी उल्लंघन कर देते हैं। इस प्रकार मनुष्य का हृदय प्रधानतया आहार, वस्त्र और स्थान में ही आसक्त रहता है, और इस भोगाभिलाषा के जाल में फँस कर वह अपने आपको भूला रहता है। यहाँ तक कि उसे इस बात का भी ज्ञान नहीं रहता कि वास्तव में इन आहारादि का प्रयोजन क्या है और इस जगत् में मैं किस निमित्त से आया हूँ। इस अज्ञान के कारण ही वह हृदय के आहार की ओर से अचेत रहता है और परलोक के लिये तोशा बनाने की बात भी भूल जाता है। किन्तु जब इस कथन से तुम्हारी समझ में माया का स्वरूप, उसके विघ्न और उसका वास्तविक प्रयोजन अच्छी तरह आ गये, तो इससे आगे जो माया का विस्तार और उसकी शाखाएँ बनायी जायँगी, उन्हें भी तुम्हें पहचानना चाहिये।

—:o:—

दूसरी किरण

माया का विस्तार

यदि विचार करके देखें, तो तीन ही पदार्थों का नाम संसार है—१. बनस्पति, २. खनिज पदार्थ और ३. जीव। इनके अतिरिक्त जो भूमि है, वह सम्पूर्ण पदार्थों की स्थिति और खनिज पदार्थों की उत्पत्ति के लिये बनायी गयी है। ताँबा, लोहा आदि खनिज पदार्थ पात्रादि बनाने के लिये हैं और जीवों की उत्पत्ति अपने-अपने भोगादि के निमित्त से हुई है, परन्तु मनुष्यों ने अपने हृदय और शरीर को इन बाह्य पदार्थों में ही बाँध दिया है। हृदय का बन्धन स्थूल पदार्थों की प्रीति है और शरीर का बन्धन सांसारिक कार्य हैं। परन्तु मायिक पदार्थों की प्रीति से हृदय में ऐसे बुरे भाव पैदा हो जाते हैं, जो बुद्धि के नाश के ही कारण होते हैं; जैसे—तृष्णा, कृपणता, ईर्ष्या और वैर आदि। ये सभी बहुत बुरे स्वभाव हैं और निःसन्देह बुद्धि को नष्ट करने वाले हैं। इसी प्रकार शरीर के बन्धनरूप जो माया के कार्य हैं, उनमें भी हृदय को ऐसी आसक्ति हो जाती है कि जीव अपने आपको और परलोक को भी भूल जाता है। अन्न, वस्त्र और स्थान की आवश्यकता तो प्रत्येक जीव को होती है, और ये ही तीन मायिक पदार्थों के मूल हैं। खेती करना, वस्त्र बनाना और गृह निर्माण करना आदि जितने कार्य हैं, वे सब इन्हीं की शाखाएँ हैं। फिर इनकी भी अनेकों उपशाखाएँ हैं; जैसे—धुनियाँ, सूत कातनेवाला, कोरी,

धोबी और दर्ज़ी ये सभी मिलकर वस्त्र बनाने का कार्य सिद्ध करते हैं, तथा इन सबको भी अपने-अपने उपकरणों के लिये लोहार और बढ़ई की अपेक्षा होती है। इस प्रकार सब व्यवसायियों को आपस में एक-दूसरे की सहायता की अपेक्षा होती है। अपना सारा काम स्वयं ही कोई नहीं कर सकता। इसी से सबका पारस्परिक व्यवहार चलता है।

किन्तु इस लेन-देन में ही कभी परस्पर विरोध हो जाता है, क्योंकि सभी लोग नीति में नहीं बर्तते, बल्कि तृष्णा के कारण एक दूसरे को हानि पहुँचाना चाहते हैं, इसलिये तीन व्यक्तियों की आवश्यकता और हो जाती है। (१) धर्मशास्त्र को जाननेवाला, जो धर्म की मर्यादा प्रकट करे, (२) विचारवान् व्यक्ति, जो झगड़ा करनेवालों को समझा सके, और (३) राजा, जो अनाचारी को दण्ड दे सके। इस प्रकार इन सभी व्यवहारों का परस्पर सम्बन्ध है और एक दूसरे की अपेक्षा से ही इनका विस्तार हुआ है। वास्तव में संसार ने अर्थात् फैलने का नाम ही संसार है, किन्तु लोगों ने तो इन्हीं कार्यों में अपने को भुला दिया है। इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि आहार, वस्त्र और स्थान इनका प्रयोजन केवल प्राणों की रक्षा के लिये ही है और ये ही सम्पूर्ण मायिक पदार्थों के मूल हैं। इनके द्वारा शरीररक्षा अवश्य होती है, किन्तु उसकी आवश्यकता जीव के लिये है, क्योंकि यह शरीर जीव के घोड़े के समान है और जीव की उत्पत्ति हुई है भगवान् की पहिचान के लिये।

परन्तु इन जीवों ने माया के कार्यों में फँसकर अपने आपको और भगवान् को भुला दिया है; जैसे कोई यात्री तीर्थ के मार्ग और अपने साथियों को तो भुला दे और अपने समय को घोड़े की सँभाल और सेवा में ही नष्ट करता रहे। ऐसा यात्री कभी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार जो यात्री

परलोक पर अपनी दृष्टि नहीं रखता है, और अपने को परदेशी नहीं समझता तथा माया के जञ्जालों में आवश्यकता से अधिक फँसा रहता है, वह निश्चय ही माया के भेदों से अनभिज्ञ है और न उसे कभी माया की पहिचान ही हो सकती है। यह माया तो अत्यन्त छलरूपा है। एक महापुरुष ने कहा है कि यह माया जीवों को मन्त्र-यन्त्र की तरह मोहनेवाली है। अतः इसके छलों से डरते रहना चाहिये। क्योंकि इसके छलों को पहचानना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए अब मैं उन्हीं का वर्णन करता हूँ।

—:o:—

तीसरी किरण

माया के छल

माया के छलों में सबसे पहली बात यह है कि यद्यपि तुम्हें यह स्थिर जान पड़ती है, तुम समझते हो कि यह सर्वदा मेरे पास रहेगी, परन्तु यह अत्यन्त चञ्चला है और निरन्तर तुम से दूर होती रहती है। यह क्षण-क्षण में परिणत होती रहती है, किन्तु इसका परिणाम इतना सूक्ष्म है कि उसका पता नहीं लगता, जैसे वृक्ष की छाया यद्यपि स्थिर जान पड़ती है, किन्तु ध्यान देकर देखा जाय तो सूर्य की गति के साथ वह भी निरन्तर बदलती रहती है, एक क्षण भी स्थिर नहीं रहती। इसी प्रकार तुम्हारी आयु भी प्रत्येक पल में घट रही है, यद्यपि तुम्हें वह स्थिर जान पड़ती है। अतः तुम्हारी देह और आयु दोनों ही मायारूप हैं, ये तुम्हें निरन्तर छल रही हैं। इनका बराबर वियोग हो रहा है, किन्तु तुम उस वियोग से अचेत हो।

इसका दूसरा छल यह है कि यह तुम्हारे साथ अपनी अत्यन्त प्रीति दिखलाती है और इस प्रकार तुम्हें अपने में उलझा लेती है। तुम्हारे हृदय में माया के प्रति ऐसी प्रीति और प्रतीति हो जाती है कि यह हमारी अत्यन्त प्रीतिपात्री है और यह अब हमें छोड़कर और कहीं नहीं जायगी। किन्तु यह अचानक ही तुम्हें छोड़कर तुम्हारे शत्रु के पास चली जाती है। यह एक व्यभिचारिणी स्त्री के समान है जो अनेकों युक्तियों से पर पुरुषों को

अपने में फँसा लेती है। उन्हें अधिक प्रीति दिखाकर अपने घर ले आती है और फिर निष्ठुरतापूर्वक उन्हें धोखा दे जाती है। कहते हैं, एक बार महात्मा ईसा ने स्वप्न में माया को एक स्त्री के रूप में देखा था। तब उससे पूछा कि तूने कितने पति बनाये हैं? वह बोली, 'मेरे अगणित पति हैं।' उन्होंने पूछा, 'तो क्या वे मर गये अथवा उन्होंने तुझे त्याग दिया?' माया बोली, 'मैंने ही उन सब को मारा है।' ईसा ने कहा, 'मुझे लोगों की मूर्खता पर बड़ा आश्चर्य होता है। वे तेरे साथ प्रेम करने वालों का नाश और दुःखी होना भी देखते हैं और फिर भी तुझ ही में आसक्त हो जाते हैं, तुझसे डरते नहीं।'

माया का तीसरा छल यह है कि यह अपने को बाहर से अत्यन्त सुन्दर बनाकर दिखाती है और इसके भीतर जो दुःख और विघ्न हैं उन्हें छिपा लेती है। इसी से मूर्खलोग देखते ही इसमें आसक्त हो जाते हैं और जब उनके आगे इसका भेद खुलता है तो वे अत्यन्त दुःखी होते हैं। जैसे कोई अत्यन्त कुरूपा स्त्री हो वह अपने को नाना प्रकार के सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजा ले और मुख को घूँघट से ढकले तो जो कोई उसे देखेगा वही मोहित हो जायगा, किन्तु जब उसका घूँघट उघाड़ेगा तो उसकी कुरूपता देखकर महान् पश्चाताप करेगा। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि परलोक में भगवान् माया की सूरत एक अत्यन्त कुरूपा स्त्री के समान दिखायेंगे, जिसके नेत्र भयानक और दाँत मुख से बाहर निकले हुए होंगे। तब ये लोग प्रभु से प्रार्थना करेंगे कि प्रभो! यह विकट राक्षसी कौन है, इससे हमारी रक्षा करो। फिर आकाशवाणी होगी कि यह वही माया है जिसके लिये तुम परस्पर ईर्ष्या और विरोध करते थे, जीवों को कष्ट पहुँचाते थे, भाव और दया को तिलाञ्जलि दे बैठे थे, और जिसके कारण तुम्हें बड़ा अभिमान था। इसके पश्चात् जब भगवान् आज्ञा करेंगे कि इस माया

को नरक में डालो तो वह कहेगी कि मुझसे प्रेम करनेवाले कहाँ रहेंगे ? इस पर पुनः आज्ञा होगी कि उन्हें भी नरक में डाल दो। इस प्रकार अन्त में वह माया अपने प्रेमियों के साथ नरक की ज्वाला में ही जलती रहेगी।

चौथी बात यह है कि यदि कोई माया के आदि और अन्त का विचार करे तो उसे निःसन्देह मालूम होगा कि यह माया न तो आदि में थी और न अन्त में ही रहेगी, केवल मध्य में ही इसकी कुछ स्थिति जान पड़ती है। जैसे कोई परदेशी पुरुष होता है, तो वह मार्ग में थोड़ी देर के लिये ही कहीं विश्राम करता है वैसे ही इस संसार का आरम्भ पालने में होता है और अन्त श्मशान में, बीच में कई मंजिलें हैं। सो, वर्ष तो मंजिलों के समान हैं, महीने योजन हैं, दिन कोस हैं और श्वास एक-एक पग की भाँति हैं। बस, इसी रास्ते से सब जीव मृत्यु के रास्ते में चले जाते हैं। इस यात्रा में अब किसी के कुछ कोस बाकी हैं और किसी के लिये इससे कम या अधिक। पर यह यात्री अपने को स्थिर ही समझता है ! और ऐसा अनुभव करता है कि मानो मैं सर्वदा इस संसार में ही रहूँगा। अनेकों वर्षों की आशा रखकर लम्बे-चौड़े कार्यों को सोचता है, यह नहीं जानता कि मेरी आयु दो-चार दिन ही शेष है, अथवा अब समाप्त हो चुकी है।

पाँचवी बात यह है कि विषयी लोग मायिक विषयों को भोगते हुए तो बहुत प्रसन्न होते हैं किन्तु यह नहीं जानते कि इसके बदले परलोक में उन्हें ऐसे दुःख और निर्लज्जता का सामना करना पड़ेगा कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई पुरुष मीठे और चिकने पदार्थ को पहले तो जिह्वा की लोलुपतावश डटकर खा जाय और फिर उसके पेट में पीड़ा हो तथा उसे विशूचिका और अतिसार का दुःख भोगना पड़े। उस समय पश्चाताप और लज्जा के सिवा और क्या हाथ लगेगा ?

पहले सुख का समय तो थोड़ा ही था, वह तो बीत चुका अब तो केवल कष्ट ही शेष रह गया है, वह यत्न करने से भी दूर नहीं होता। भोजन तो जितना अधिक स्वादिष्ठ होगा, परिणाम में उस में उतनी ही अधिक दुर्गन्ध होगी। इसी प्रकार इस संसार में जीव जितना ही मायिक भोगों को अधिक भोगता है उतना ही उसे परलोक में अधिक दुःखी और लज्जित होना पड़ता है। यह दुःख शरीर का नाश होने के समय प्रत्यक्ष उसके सामने आ जाता है; क्योंकि जिस पुरुष के पास भोगसामग्री, बगीचे, सोना, चांदी और दास-दासियों की जितनी ही अधिकता होगी उतना ही उसे मरने के समय उनके वियोग का अधिक दुःख होगा। और जिसके पास यह मायिक सामग्री थोड़ी होती है उसे दुःख भी कम होता है। अतः भोगों के वियोग का दुःख मरनेपर भी नहीं छूटता, बल्कि और भी अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि मायिक पदार्थों के प्रति जो राग होता है वह मनुष्य के हृदय में रहता है और शरीर छूटने पर मनुष्य का हृदय अपने आप में स्थित हो जाता है, अतः उन मायिक विषयों के आकर्षण के कारण उस समय उसे बहुत अधिक दुःख होता है।

माया का छठा छल यह है कि जब यह मनुष्य माया का कोई काम आरम्भ करता है तो इसे वह सामान्य-सा दिखायी देता है और यह सोचता है कि मैं इसमें अनासक्त रह कर ही इसे बहुत शीघ्र समाप्त कर लूँगा। किन्तु पीछे उसकी आशा और तृष्णा बढ़ जाती है तथा उसी कार्य से और भी हजारों मनोरथ उत्पन्न हो जाते हैं, जो कभी पूरे नहीं होते। इसीसे महात्मा ईसा ने कहा है कि माया की तृष्णा के कारण मनुष्य अत्यन्त अतृप्त रहता है, जैसे कोई प्यासा पुरुष मृगतृष्णा के जल से अपनी प्यास बुझाना चाहे तो उत्तरोत्तर उसकी तृषा बढ़ेगी ही और वह उस जल के पीछे भटकते-भटकते नष्ट ही होगा। इसी प्रकार महापुरुष

ने भी कहा है कि जैसे जल में प्रवेश करने पर कोई पुरुष सूखा नहीं रह सकता उसी प्रकार माया के व्यवहारों में फंसकर निर्लिप्त रहना अत्यन्त कठिन है। ऐसा तो कोई विरला ही महापुरुष होता है जो माया के व्यवहार में पड़ कर उससे अनासक्त रहे।

माया का सातवाँ छल इस दृष्टान्त से प्रकट होता है जैसे कोई सद्‌गृहस्थ किसी अतिथि-अभ्यागत के आने पर उसकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा करता हो तथा उसे चाँदी के पात्रों में भोजन कराता हो, *तो जो बुद्धिमान् अतिथि होगा वह तो उसका आशय समझकर उसकी सेवा को स्वीकार कर उसके पात्र उसे प्रसन्नतापूर्वक लौटा देगा और हृदय में उसका उपकार भी मानेगा;* किन्तु जो मूर्ख *होगा वह तो समझेगा कि भोजन के साथ वे पात्र भी उसने मुझे ही दिये हैं,* अतः जब चलते समय उससे वे लौटाये जायँगे तो वह चित्त में अत्यन्त दुःखी और शोकाकुल होगा। इसी प्रकार संसार भी एक प्रकार की अतिथिशाला ही है। इसे भगवान् ने इसीलिये बनाया है कि परदेशी जीव यहाँ आकर अपना पाथेय संग्रह कर ले और यहाँ की किसी भी वस्तु में आसक्त न हो। सो बुद्धिमान लोग तो यहाँ की वस्तुओं से अपना कार्यमात्र निर्वाह करके परलोक की तैयारी कर लेते हैं और किसी विषय में फँसते भी नहीं हैं, किन्तु तो मूर्ख होते हैं वे तो पदार्थों के लोभ और भोगों में ही फँसे रहते हैं और जब इन्हें छोड़ कर चलना होता है तो अत्यन्त दुःखी होते हैं।

माया का आठवाँ छल यह है कि संसारी जीव इन मायिक व्यवहारों में ऐसे आसक्त हो जाते हैं कि उन्हें परलोक की बात बिलकुल भूल ही जाती है। इस विषय में एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक बार कुछ लोग जहाज़ से यात्रा कर रहे थे। वह जहाज़ एक टापू पर पहुँचा, तब सभी लोग नित्य कर्म से निवृत्त होने के लिये उतर गये। उतरते समय जहाज़ के कप्तान ने सभी को पुकार कर

कहा कि सब लोग शीघ्र ही अपनी क्रिया से निवृत्त हो कर आ जाना, क्योंकि हमें जल्दी ही आगे चलना है। अब, उन लोगों में जो बुद्धिमान् थे वे तो झट-पट अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर जहाज़ पर आ गये और अपनी रुचि के अनुसार अच्छे-अच्छे स्थानों पर बैठ गये। कुछ लोग उस टापू के फूल और पत्तियों की शोभा देखने में लगे रहे और कुछ देरी से पहुँचे। उन्हें उपयुक्त स्थान न मिला और वे संकोच के साथ बैठ सके। कुछ केवल देखकर ही तृप्त न हुए, वहाँ से रंग-बिरंगे पत्थरों की पोटें भी बाँध लाये। जहाज़ में उस बोझे को रखने का स्थान नहीं था, इसलिये उन्हें उसे सिर पर रखे हुए ही बैठना पड़ा। किन्तु कुछ लोग उस टापू की शोभा देखने में ऐसे तन्मय हुए कि उन्होंने कप्तान की पुकार भी नहीं सुनी और बहुत दूर निकल जाने के कारण वे जहाज़ छूटने के समय तक पहुँच ही न सके। उस टापू में ही भूखे-प्यासे भटकते रहे और वहीं नष्ट हो गये। इनमें जो लोग आरम्भ में ही जहाज़ पर पहुँच गये थे वे विरक्त पुरुषों के समान हैं। जो टापू में ही रह गये वे तामसी पुरुष थे, जिन्होंने परलोक और भगवान् दोनों ही को भुला दिया है और स्वयं इस संसार के भोगों में ही फँसे हुए हैं। जो लोग जहाज़ पर देरी से पहुँचे थे और जो पत्थर की पोटें बाँध कर लाये थे वे रजोगुणी पुरुष हैं। वे यद्यपि भगवान् और परलोक को मानते हैं, तथापि आसक्तिवश माया को त्याग नहीं सकते और अन्त में सांसारिक वासनाओं का बोझा लिये हुए परलोक को जाते हैं।

इस प्रकार माया के आठ प्रकार के छलों का वर्णन किया गया। बुद्धिमान् पुरुषों को सर्वदा इनसे बचते रहना चाहिये।

—:०:—

चौथी किरण

संसार के अमायिक पदार्थों का वर्णन

यहाँ तक जो साँसारिक पदार्थों को माया के समान त्याज्यरूप से वर्णन किया गया है उससे यह नहीं समझना चाहिये कि संसार में सभी पदार्थ निन्दनीय हैं। यहाँ ऐसे भी कई पदार्थ हैं जो माया से रहित हैं, जैसे विद्या और शुभ कर्म। ये भी यद्यपि संसार में ही हैं, किन्तु इन्हें माया नहीं कह सकते, क्योंकि ये परलोक में जीव की सहायता करते हैं। परलोक में इस विद्या के अक्षर और वाक्य तो नहीं पहुँचते, किन्तु इसमें जो गुण हैं वे तो जीव के साथ रहते ही हैं। विद्या में दो प्रकार के गुण हैं—एक तो हृदयरूपी रत्न की पवित्रता एवं शुद्धता, जो पापों के त्याग से प्राप्त होती है और दूसरा रहस्य एवं आनन्द, जो भगवान् के भजनद्वारा एकाग्रता होने से प्राप्त होता है। शुभ गुण तो सत्यस्वरूप ही हैं तथा भगवान् की प्रार्थना और भजन का जो रहस्य है वह तो सभी से बढ़कर है। यह रहस्य भी इस जगत् में ही है, किन्तु यह माया से रहित है।

इससे यह भी निश्चित हुआ कि सब रस भी निन्दनीय नहीं हैं। यद्यपि वे सभी परिणाम को प्राप्त होते हैं, तथापि इसीसे उन सब को निन्दनीय नहीं कह सकते। ऐसे रस दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनसे केवल शरीर का ही पोषण होता है; वे निन्द्य हैं, क्योंकि उन रसों से असावधानी, प्रमाद और जगत् के सत्यत्व

की ही पुष्टि होती है। दूसरा रस वह है जो आहार, वस्त्र और निवास स्थान के सदुपयोग से प्राप्त होता है। वह भी यद्यपि नाशवान् है, तथापि निन्द्य नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर ही विद्योपार्जन और शुभकर्मों का अनुष्ठान हो सकता है। अतः यह भी परलोक का सहायक ही है।

अतः जो पुरुष संतोषपूर्वक शारीरिक सुविधाओं को स्वीकार करता है और उसका संकल्प यही रहता है कि मैं निश्चिन्त होकर भगवान् का भजन करूँ, उसे माया से रहित ही समझना चाहिये। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जिन पदार्थों के द्वारा भगवान् की प्राप्ति हो वे निन्द्य नहीं हैं, अपितु ग्रहण करनेयोग्य हैं।

इस प्रकार यहाँ तक माया का जो कुछ वर्णन किया गया है इस ग्रन्थ में वही पर्याप्त है।

—:o:—

[४]

चतुर्थ उल्लास

(परलोक की पहचान)

पहली किरण

परलोक का सामान्य परिचय

मनुष्य जब तक मृत्यु को नहीं पहचानेगा, तब तक परलोक को नहीं पहचान सकता, और जब तक जीवन को न जानेगा, तब तक मृत्यु को नहीं जान सकता। जीवन की पहचान तो जीव के यथार्थ स्वरूप को जानना ही है, और यह जानकारी अपने आपको पहचानने से हो सकती है। इस विषय का पहले (प्रथम उल्लास में) भी वर्णन हो चुका है और संतों ने भी कहा है कि यह मनुष्य दो पदार्थों के संबन्ध से उत्पन्न हुआ है (१) जीव और (२) शरीर। इनमें शरीर घोड़े के समान है, और जीव उसके सवार की तरह है। परलोक में इस जीव को जो सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं, वे शरीर का संबन्ध रखते हुये भी होते हैं, और बिना शरीर के भी। इससे निश्चय होता है कि परलोक में जीव बिना शरीर भी रहता है। शरीर के साथ उसकी जो स्थिति होती है, उसे तो स्थूल स्वर्ग या स्थूल नरक कहते हैं, और ये ही सुगति या दुर्गति भी कही जाती हैं। तथा शरीरके बिना ही सुख या आनन्द भोगने की अवस्था को आत्मस्वर्ग और दुःख या कष्ट भोगने की अवस्था को मानसी नरक कहते हैं। इनमें स्थूल स्वर्ग और स्थूल नरक की बात तो सब लोग अच्छी तरह जानते हैं। उन्होंने सुना ही है कि स्वर्ग में कल्प वृक्ष, उत्तम भोग और अप्सरा आदि हैं, तथा नरक में सर्प, बिच्छू और अग्निकुण्ड आदि दुःखभोग की सामग्री हैं। इस प्रसंग का तो इतना ही वर्णन पर्याप्त है। धर्मशास्त्रों में इसकी विस्तृत

विवेचना है ही। अब आगे मैं मृत्यु का तात्पर्य और सूक्ष्म स्वर्ग-नरक का वर्णन करूँगा, क्योंकि इस विषय को सब लोग नहीं जानते।

इस विषय को जानने का उत्तम मार्ग यह है कि मनुष्य के चित्त में एक खिड़की है, जो देव-लोक की ओर खुली हुई है। जो पुरुष इस अनुभवरूपी सूक्ष्म खिड़की के द्वारा देखता है, उसे पर-लोक की सुगति-दुर्गति का स्पष्ट भान हो जाता है। उसे इस विषय में फिर किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता, क्योंकि संदेह तो केवल युक्तिवाद या वाक्यश्रवण करने पर ही रहता है, प्रत्यक्ष देख लेने पर संशय के लिये कोई स्थान नहीं रहता। जिस प्रकार वैद्य को शरीर के रोग और नीरोगता का स्पष्ट भान हो जाता है, और साथ ही वह यह भी जान लेता है कि यदि यह रोगी कुपथ्य करेगा तो नष्ट हो जायगा, तथा पथ्य-सेवन पूर्वक चिकित्सा करेगा तो रोग मुक्त हो जायगा। इसी प्रकार संतजनों को जीवों की सुगति-दुर्गति स्पष्ट मालूम हो जाती है, और वे प्रत्यक्ष देखते हैं कि भगवद्भजन और भगवान् की पहचान ही जीव की उत्तम गति का कारण है, तथा मूर्खता और पापों के कारण यह जीव अधोगति प्राप्त करता है। यह विद्या ऐसी दुर्लभ है कि अनेकों विद्वान् भी इस भेद को नहीं समझते, और न वे इस पर आस्था ही रखते हैं। वे स्थूल नरक और स्वर्ग के सिवा और कुछ नहीं जानते, तथा परलोक को भी केवल श्रवणमात्र ही मानते हैं। मैं शास्त्रों की युक्तियों और वचनों के द्वारा परलोक के विषय में कुछ वर्णन करूँगा। बहुत लोगों की तो परलोकविषयिनी जिज्ञासा अत्यन्त निर्बल एवं संशयापन्न होती है। इस विषय का ठीक-ठीक बोध तो उन्हीं को हो सकता है, जिनकी बुद्धि शुद्ध हो तथा हृदय मत-मतान्तर के वाद-विवाद से शून्य देखा-देखी के विरुद्ध और सब प्रकार की कामनाओं से रहित हो।

—:०:—

दूसरी किरण

मृत्यु का रहस्य

अब तुम मृत्यु का रहस्य जानना चाहते हो तो सावधान होकर सुनो। इस मनुष्य में दो प्रकार की चेतनाएँ हैं—पहली प्राण-चेतना, जिसके द्वारा हृदयस्थान और प्राण वायु से सम्बन्ध रहने के कारण शरीर और इन्द्रियाँ चेतन रहती हैं। यह प्राणचेतना पशुओं और मनुष्यों में समान है। दूसरी है बुद्धिजनित चेतना, जिस पर केवल मनुष्यों का ही अधिकार है। प्राणचेतना शरीर को सचेत रखती है, और प्राणों का स्फुरण हृदयस्थान से होता है। हृदयस्थान तत्वों के सूक्ष्म अँशों से बना हुआ है, और वे तत्त्वों के अंश हैं—वात, पित्त, कफ आदि। जब तक इन तत्त्वों की वृत्ति समान रहती है, तब तक हृदयस्थान सुख से रहता है, और हृदय स्थान से ही सिर से पैरों तक सारे शरीर में नाड़ी-जाल फैला हुआ है। उस नाड़ी-जाल के द्वारा ही प्राणवायु के सम्बन्ध से सम्पूर्ण इन्द्रियाँ चैतन्य रहती हैं। और शरीर भी सचेष्ट रहता है। प्राणवायु के द्वारा ही वह तत्त्रों को समान वृत्ति सिर में भी पहुँचती है और उसी से नेत्र एवं श्रवण आदि इन्द्रियों को अपने-अपने विषय ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त होती है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से सारा घर आलोकित हो जाता है, और उसमें रखे हुए सब पदार्थ दीखने लगते हैं, उसी प्रकार जब भगवान् की सत्ता पाकर प्राणवायु के द्वारा तत्त्वों का समान अंश सब इन्द्रियों में पहुँच कर उन्हें शक्तिसम्पन्न करता है, तो वे अपने-अपने

कार्य में सचेष्ट हो जाती हैं। जब नाड़ी मार्ग में किसी प्रकार का व्यवधान आ जाने से प्राणवायुद्वारा वह तत्त्वों का समान अंश किसी अङ्ग में नहीं पहुँच पाता तो वह अंग निश्चेष्ट या शून्य हो जाता है। आयुर्वेद का प्रयोजन उपचारद्वारा उस व्यवधान या ग्रन्थि को दूर करना ही है। ऐसा होने पर उस अंग में फिर चैतन्य की स्फूर्ति हो जाती है, और वह अपनी क्रिया करने लगता है।

अतः यह हृदयस्थान शरीर में दीपक की तरह है। इसमें प्राणवायु बत्ती है और आहार तैल है। यह बात सब जानते ही हैं कि तेल न रहने पर बत्ती बुझ जाती है। इसी प्रकार आहार न मिलने पर प्राणवायु भी नहीं रहता। इसके सिवा बहुत पुरानी होनेपर मैल भर जाने के कारण भी जब बत्ती तेल नहीं खींच सकती तो दीपक बुझ जाता है। इसी तरह वृद्धावस्था में नाड़ी-संस्थान कफादि से रुद्ध हो जाने के कारण जब आहार लेना कम हो जाता है तो हृदयस्थान रूपी दीपक भी निवृत हो जाता है। ऐसे ही शस्त्रादि कोई विशेष विघ्न उपस्थित होने पर भी शरीर का नाश हो जाता है। शरीर और इन्द्रियों की क्रियाएँ प्राणवायु की समता होने पर ही सिद्ध होती हैं। जब वात, पित्त या कफ का कोप होने पर उस समता में त्रुटि आती है तो इन्द्रियों की क्रिया भी शून्य हो जाती है। जैसे दर्पण स्वच्छ रहता है तो उसमें प्रत्येक पदार्थ का प्रतिविम्ब पड़ जाता है, किन्तु यदि वह मलिन हो जाय तो उसमें कुछ नहीं भासता। इसी प्रकार प्राणों की जो समान वृत्ति है उसका भी यही स्वभाव है कि उसमें कोई उलट-फेर होता है तो हृदयस्थान शून्य हो जाता है। फिर इन्द्रियों का व्यवहार भी नहीं हो पाता तथा शरीर प्राणवायु के प्रकाश से शन्य हो जाता है। ऐसे प्राण प्रकाशशून्यशरीर को ही मृतक कहते हैं।

अतः मरने का अर्थ है प्राणवायु की समान वृत्ति का नाश

होना। इस समानता का नाश करनेवाला यम है। यह यमराज भी भगवान् का ही उत्पन्न किया हुआ है। पर लोग इसे केवल नाममात्र से ही जानते हैं, इसके स्वरूप का उन्हें कुछ पता नहीं है। इस विषय का विवेचन करने पर बहुत विस्तार हो जायगा। अतः तात्पर्य यह है कि प्राणवायु का शून्य होना ही मृत्यु है। यह प्राणवायु ही सूक्ष्म शरीर है, अर्थात् तत्वों के सूक्ष्म अंशों से बना हुआ है। चैतन्यस्वरूप जीव इस प्राणचेतना से पृथक् है। यह शरीर की तरह नहीं, अपितु अखण्ड है और भगवान् के परिचय का स्थान है। जैसे भगवान् अखण्डस्वरूप और एक हैं वैसे ही उन का पहचानना भी अखण्ड है और उन्हें पहचाननेवाला जीव भी अखण्ड है। ज्ञानस्वरूप भगवान् की पहचान इस खण्डाकार शरीर में नहीं हो सकती, उनका परिचय तो अखण्डकार जीव में ही होता है।

अब इस रहस्य को तुम दीपक के दृष्टान्त से समझने का प्रयत्न करो। यह स्थूल शरीर एक दीपक के समान है, हृदयस्थान इसकी बत्ती है, प्राण दीपशिखा है और चैतन्य उसका प्रकाश है। तात्पर्य यह है कि जैसे दीपक की अपेक्षा प्रकाश सूक्ष्म होता है, ऐसे हो प्राणशक्ति की अपेक्षा चैतन्य सूक्ष्म है। इसका स्वरूप ऐसा है कि किसी भी वाक्यद्वारा उसका उल्लेख नहीं किया जा सकता। किन्तु यह दृष्टान्त चैतन्य की सूक्ष्मताको लक्ष्यमें रखने पर ही चरितार्थ होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जैसे प्रकाश दीपक के आश्रित है उसी प्रकार चैतन्य भी प्राण के आश्रित होगा। दीपक का नाश होने पर तो उसके प्रकाश का भी नाश हो जाता है, किंतु प्राणवायु के शून्य होनेपर चैतन्य का नाश नहीं होता। साथ ही यह भी समझना चाहिये कि जैसे दीपक की विशेषता प्रकाश के ही कारण है वैसे ही शरीर की विशेषता भी चैतन्य के ही कारण है। अतः दीपक के दृष्टान्त का भी यही प्रयोजन समझना।

चाहिये कि दीपक की स्थिति प्रकाश के ही लिये है, इसलिये दीपक प्रकाश के आश्रित है। इसी प्रकार चैतन्य के निमित्त ही होने के कारण चैतन्य ही प्राणों का आश्रय है, और प्रकाश की ही तरह वह है भी अत्यंत सूक्ष्म। ऐसा आशय लेने पर ही दीपकका दृष्टान्त चरितार्थ होगा।

इससे निश्चय हुआ कि प्राण घोड़े के समान है और चैतन्य उसका सवार है। अथवा यों समझो कि चैतन्यस्वरूप जीव के हाथ में प्राण एक शस्त्र के समान है। प्राण की जब समानवृत्ति नष्ट हो जाती है, तो स्थूल शरीर मृतक हो जाता है, और चैतन्य जीव अपने स्वरूप में स्थित रहता है। जिस प्रकार घोड़ा नष्ट हो जाने पर सवार पैदल कहा जाता है। उसी प्रकार शरीर नष्ट होने पर जीव भी पैदल रह जाता है। किन्तु जैसे घोड़े का नाश होने से सवार का नाश नहीं होता उसी प्रकार शरीर का नाश होने से जीव नष्ट नहीं होता। यह शरीररूपी घोड़ा और प्राणरूपी शस्त्र भगवान् ने इस जीव को इसीलिये दिये हैं कि इनके द्वारा यह भगवान की पहचानरूप शिकार करे। जिस मनुष्य ने यह भगवत्परिचयरूप शिकार कर लिया है, उसे तो इस शरीररूप बन्धन से छूटना सुखदायक होता है, क्योंकि फिर वह इस भार को ढोने से छूट जाता है और उसे निरतिशय सुख का स्थान प्राप्त हो जाता है। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जब संतलोगों का शरीर छूटता है तो वे सर्वोत्तम सुख का स्थान प्राप्त करते हैं और इसे परम लाभ मानते हैं। किंतु जिन्हें श्रीभगवान् की पहचान नहीं हुई, उन का शरीर छूटता है तो वे अत्यन्त दुःखी होते हैं, जैसे शिकार के आये बिना ही किसी का जाल खुल जाय तो फिर कार्यसिद्ध की कोई सम्भावना न रहने के कारण उसे बहुत अधिक पश्चाताप होता है। इसी प्रकार इस जीव को शरीर छूटने से बहुत दुःख होता है, और यमपुरी के मार्ग में ही वह पश्चाताप करने लगता है।

तीसरी किरण

शरीर की मर्त्यता और चैतन्य की अखण्डता

देखो, जब किसी के हाथ, पाँव और भुजा सूख जाते हैं, अथवा अर्द्धाङ्ग पक्षाघात होने के कारण उनसे कोई क्रिया नहीं होती, तब भी उस पुरुष की चेतनता नष्ट नहीं होती, क्योंकि चेतनस्वरूप जीव देह से पृथक् है। हाथ-पाँव तो उसके शस्त्र हैं और वह इनका संचालक है। कि जिस प्रकार हाथ-पाँव तुम्हारा स्वरूप नहीं हैं उसी प्रकार पेट, पीठ, सिर आदि अन्य अंग भी तुम्हारे स्वरूप नहीं हैं। तुम इन सबसे और इनके संघातभूत सम्पूर्ण शरीर से भी पृथक् हो। इससे निश्चय हुआ कि जब यह सारा शरीर शून्य हो जाता है तब भी तुम्हारी चेतना अपने स्वरूप में स्थित रहती है। जैसे यह हाथ क्रिया शून्य होने पर मृतक कहा जाता है उसी प्रकार यह शरीर भी निष्क्रिय और संज्ञाशून्य होने पर मृतक कहलाता है।

हाथ की क्रिया बल से होती है और बल प्राणचेतना के प्रकाश से नाड़ियोंद्वारा सब अंगों में पहुँचता है। जब किसी नाड़ी का मार्ग रुक जाता है तो उसके द्वारा प्राणचेतना का प्रकाश नहीं पहुँचता, अतः बलहीन हो जाने के कारण वह अङ्ग क्रियाशून्य हो जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी प्राणों के सम्बन्ध से तुम्हारी आज्ञा में बर्तता है। परन्तु जब प्राणों की समानवृत्ति निवृत्त हो जाती है तो शरीर के सब अंग शून्य हो जाते हैं और तुम्हारी आज्ञा का अनुसरण नहीं करते। इसी को मृत्यु कहते हैं।

किन्तु इस स्थिति में भी जीव अपने चैतन्यस्वरूप में ही स्थित रहता है, क्योंकि यदि तुम्हारा कोई सेवक तुम्हारी सेवा न कर सके तो इससे तुम्हारा नाश तो नहीं हो जाता। यह शरीर तो तुम्हारा सेवक या टहलुआ है, तुम तो इससे सर्वथा पृथक् हो। यदि तुम विचार करोगे तो मालूम होगा कि तुम्हारे जो अंग बाल्यावस्था में थे वे ही आज नहीं हैं, अब तो तुम्हारे सभी अंग आहारादि से बढ़कर कुछ के कुछ हो गये हैं। इस प्रकार यद्यपि तुम्हारा शरीर वह नहीं है, किन्तु तुम तो वही हो, क्योंकि वास्तव में शरीर तुम्हारा स्वरूप नहीं है। इसलिये शरीर के नष्ट होने की तुम चिन्ता मत करो, इसके नष्ट हो जाने पर भी तुम अपने स्वरूप से अविनाशी ही रहोगे।

तुम्हारे स्वभाव दो प्रकार के हैं। एक तो शरीर के सम्बन्ध को लेकर हैं, जैसे भूख, प्यास एवं निद्रा आदि। शरीर का सम्बन्ध न रहने पर इनकी भी स्फूर्ति नहीं होती अतः मृत्यु हो जाने पर इनकी भी निवृत्ति हो जाती है। तथा दूसरे स्वभाव ऐसे हैं जिनमें शरीर के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, जैसे—भगवान् को जानना और उनके ऐश्वर्य को देखना। उस भगवत्साक्षात्कार से जो अलौकिक आनंद होता है वह तुम्हारा अपना ही स्वभाव है। यह अनुभव और इसका आनन्द तुम्हारे साथ सर्वदा रहनेवाले हैं, इनका तुमसे कभी वियोग नहीं होगा। इसी प्रकार सद्‌गुणों को जो अविनाशी कहा है इसका कारण भी यही है कि वे सर्वदा जीव के साथ रहते हैं। इन्हीं की तरह अविद्या और मूर्खता भी जीव के अपने ही स्वभाव हैं, इसी से ये भी परलोक में उसका साथ नहीं छोड़तीं। वस्तुतः ये जीव के बुद्धिरूप नेत्रों का अभाव ही है और ये ही उसके मन्दभाग्य का मूल कारण है। इसी पर प्रभु ने कहा है जो मनुष्य संसार में अज्ञान के कारण अन्धा है वह परलोक में भी अत्यन्त दुःखी और अन्धा रहेगा।

जब तक तुम इस प्रकार के चैतन्य को नहीं पहचानोगे तब तक किसी प्रकार मृत्यु का रहस्य भी नहीं समझ सकोगे। क्योंकि मृत्यु का अर्थ तो परिणामित्व और चैतन्य का भेद जानने से ही जाना जा सकता है। अतः अब मैं प्राणचेतना और चैतन्यकला का भेद वर्णन करता हूँ।

—:o:—

चौथी किरण

प्राणचेतना और चैतन्यकला का भेद

याद रखो, प्राणचेतना तत्त्वों का विकार है और वायु-पित्त आदि जो तत्त्वों के सूक्ष्म अंश हैं उन्हीं से बनी है अतः जब वायु-पित्तादि में से किसी तत्त्व का कोप होता है तो यह भी विकृत हो जाती है और जब ये समान स्थिति में रहते हैं तो प्राणचेतना भी समान और शान्त रहती है। इसी से वैद्यलोग औषधोपचार के द्वारा वायु, पित्त, कफ एवं रुधिर के कोप को शान्त करके इनकी समान वृत्ति रखते हैं। ऐसा होने पर प्राणचेतना भी साम्य स्थिति में रहती है और चैतन्यकला की आज्ञा का पालन करती रहती है।

किंतु चैतन्यकला का आविर्भाव इन तत्त्वों से नहीं हुआ। वह सूक्ष्म लोक से आयी है और देवताओं के समान निर्मलस्वरूप है। तत्त्वों के देश में तो वह एक परदेशी की तरह है तथा उसका स्वरूप भी आधिभौतिक नहीं है। उसके इस शरीर में आने का प्रयोजन तो यही है कि परलोक के लिये तोशा तैयार कर ले। इसी पर साईं ने कहा है कि मैंने कृपा करके सभी जीवों को मार्ग दिखाया है, परन्तु जो शुभ मार्ग का परिचय पाकर उसमें चलते हैं वे ही भय और शोक से मुक्त होते हैं। मैंने पृथ्वी आदि तत्त्वों के अंश से मनुष्य का शरीर रचा है और फिर उसमें अपनी अंश-भूत चैतन्यकला का प्रवेश कराया है। तात्पर्य यह है कि पहले भगवान् ने प्राणचेतना की रचना की है और उसे चैतन्यकला

की स्थिति का अधिकारी बनाया है। उसके पश्चात् उसमें चैतन्य-कला का प्रवेश कराया है। जैसे पहले रुई या कपड़े की मसाल, जिसमें कि अग्नि को आकर्षित करने की योग्यता हो, बनायी जाती है और फिर उसमें अग्नि प्रविष्ट की जाती है, तब वह प्रकाशित होती है। इसी प्रकार इस देह में प्राणों की समानवृत्ति मसाल के समान है और चैतन्यकला अग्नि की तरह है। जैसे वैद्यलोग प्राणों की समानवृत्ति को जानते हैं और उसके द्वारा शरीर की रोग एवं कष्ट से रक्षा करते हैं, उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप जीव के स्वभाव की भी एक समानता है, पर उसे संतजन ही पहचानते हैं। जब वैराग्य और पुरुषार्थ के द्वारा इस जीव के स्वभाव संतजनों की मर्यादा में समत्व लाभ करते हैं तभी मनुष्य का चित्त नीरोग होता है। अतः निश्चय हुआ कि जैसें अपने आपको पहचाने बिना भगवान् को नहीं पहचान सकता वैसें ही वास्तविक चैतन्य को पहचाने बिना परलोक को भी ठीक-ठीक नहीं पहचान सकता। इसलिये अपने मन को पहचानना ही भगवान् को पहचानने की कुञ्जी है। और यही परलोक को पहचानने का भी प्रधान साधन है। इसके सिवा धर्म की प्रतीति का मूल भी अपने आपकी पहचान ही है। इसी से मैंने अपने-आपकी पहचान का सबसे पहले वर्णन किया है।

तथापि अभी तक मैंने जीव के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है। सन्तों ने भी उस स्वरूप का वर्णन करने के लिये निषेध किया है, क्योंकि जीव की सामान्य बुद्धि उस गुह्य रहस्य को ग्रहण नहीं कर सकती। किन्तु भगवान् की वास्तविक पहचान और परलोक का सम्यक् साक्षात्कार उस यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होने पर ही हो सकते हैं। अतः तुम ऐसा पुरुषार्थ करो जिससे अभ्यास और प्रयत्न के द्वारा अपने भीतर उस यथार्थ स्वरूप की झाँकी कर सको। यदि उस स्वरूप की बात सुनकर तुम्हारा हृदय

उसके दर्शनों के लिये उत्सुक न हो तो जान लो कि तुम्हारा विश्वास ठहरनेवाला नहीं है, क्योंकि ऐसे बहुत लोग देखे गये हैं कि भगवान् के वास्तविक स्वरूप की चर्चा सुनकर जिनका विश्वास जाता रहा है। बुद्धि की हीनता के कारण उनमें सन्देह उत्पन्न हो गया है और वे ईश्वर को अस्वीकार करके अत्यन्त ढीठ हो गये हैं। तात्पर्य यह है कि जब तक तुम्हें भगवान् के यथार्थ स्वरूप को अनुभव करने की योग्यता न हो तब तक उसकी बातें सुनकर भी तुम कैसे विश्वास कर सकते हो? इसी से धर्म ग्रन्थों में भी परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि संसारी पुरुष उस स्वरूप के विषय में सुनेंगे तो उनका विश्वास ही जाता रहेगा। अतः भगवान् ने संतों को यही आदेश दिया है कि जीवों की बुद्धि के अनुसार उन्हें उपदेश करो। इन्हें मेरे गुह्य रहस्य और स्वरूप की बात स्पष्ट करके मत बताओ, क्योंकि ऐसे गूढ़ वचन सुनकर मेरे प्रति इनका विश्वास नष्ट हो जायगा और ये धर्महीन हो जायँगे। अतः जीवों की बुद्धि के अनुसार बात कहना ही विशेष उपयोगी होता है।

जब तुम भली भाँति समझ गये कि मनुष्य का चैतन्य-स्वरूप स्वतः सिद्ध है, उसकी सत्ता शरीर के अधीन नहीं है तो तुम जान ही गये होगे कि मृत्यु का अर्थ चैतन्य का नाश नहीं, अपितु इस शरीर में चैतन्यस्वरूप जीव की आज्ञा का अनुवर्तन न रहना ही है। अर्थात् जीव के परलोकगमन का भी यह तात्पर्य नहीं है कि यहाँ जीव नष्ट हो जाता है और परलोक में उसकी पुनः उत्पत्ति हो जाती है। परलोक में उत्पत्ति होने का भी यही आशय है कि वहाँ यह जीव दूसरा शरीर स्वीकार कर लेता है। यह बात मनुष्य की बुद्धि से बाहर है कि वहाँ इसे भगवान् किस प्रकार दूसरा शरीर प्रदान करते हैं, क्योंकि भगवान् के कर्म में किसी प्रकार की कठिनता या सुगमता की कल्पना नहीं की जा सकती। बहुत

मनुष्यों का ऐसा भी कथन है कि वहाँ जीव को यही शरीर मिल जाता है। किन्तु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि यह शरीर तो घोड़े की तरह है, यदि घोड़ा बदल भी जाता है तो भी सवार नहीं बदलता। शरीर तो बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक परिणाम को प्राप्त होता रहता है तथा आहार के कारण इसके सब अंगों का स्वरूप कुछ-का-कुछ हो जाता है पर जीव में कोई अन्तर नहीं आता।

जिन लोगों का ऐसा विचार है कि परलोक में फिर यही शरीर सचेत हो जाता है, उनके कथन में और भी कई प्रश्न और सन्देह उत्पन्न होते हैं। उनका वे लोग जो उत्तर देते हैं वह बहुत दुर्बल रहता है, उससे सन्देह दूर नहीं होते। मान लो, कोई प्रश्न करे कि यदि एक शरीर को दूसरा व्यक्ति खा जाय तब तो वे दोनों शरीर मिलकर एक हो जायँगे, फिर परलोक में दो जीवों को एक ही शरीर कैसे मिलेगा? अथवा यदि यहाँ कोई व्यक्ति अंगहीन हो और खूब भजन भी करता हो, तो क्या परलोक में भजन का फल भोगने के लिये भी उसे अङ्गहीन ही शरीर मिलेगा? यदि कहो कि अङ्गहीन शरीर मिलेगा तो स्वर्गलोक में तो कोई अङ्गहीन होता ही नहीं। और यदि कहो कि वहाँ उसे पूर्णाङ्ग देह मिलेगा तो भजन के समय जो अङ्ग नहीं था वह वहाँ कहाँ से आ जायेगा? ऐसे प्रश्नों के उनके पास कोई समाधानकारक उत्तर नहीं हैं। अतः निश्चय हुआ कि परलोक में इस पूर्व शरीर की अपेक्षा नहीं रहती। जो लोग ऐसा मानते हैं कि वहाँ भी इसे यही शरीर मिलता है वे अपने को शरीर ही समझते हैं। इसी से उनका ऐसा विचार है कि दूसरा शरीर मिलने पर तो जीव भी अन्य हो जायगा। सो उनका यह कथन मिथ्या है, क्योंकि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न।

—:०:—

पाँचवीं किरण

जीव की अविनश्वरता और परलोक-दर्शन के उपाय

प्रश्न—किन्तु कई शास्त्रों का तो ऐसा मत है कि जब शरीर छूटता है, तो जीव का भी नाश हो जाता है। फिर परलोक में जीव को उत्पन्न करके नया शरीर धारण कराया जाता है। और आप जो बात कह रहे हैं वह इससे सर्वथा विपरीत है। ऐसी अवस्था में हम किस कथन को प्रामाणिक मानें ?

उत्तर—जो पुरुष दूसरों की बात सुनकर भटकता रहता है, वह तो अन्धा है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि शरीर छूटने पर जीव नष्ट हो जाता है, उनका यह विश्वास न तो अपनी बुद्धि के अनुरूप है, और न किसी शास्त्र के ही आधार पर है। यदि उन्हें कुछ भी समझ होती, तो वे स्पष्ट जान सकते थे कि शरीर छूटने पर जीव का नाश नहीं होता। और यदि उन्हें शास्त्र पर विश्वास होता, तो वे भगवान् और संतों के वचनोंद्वारा भी जान सकते थे कि जीव अविनाशी है, शरीर का नाश होने पर वह अपने स्वरूप से स्थित रहता है। इसी से सन्तों के वचनों में यह बात भी स्पष्ट आयी है कि परलोक में भाग्यवान् और भाग्यहीन दो प्रकार के जीव हैं। जो भाग्यवान् हैं उनका कल्याण होता है, और कभी नाश भी नहीं होता। प्रभु ने भी कहा है, "जो जीव मेरे मार्ग पर चलते हुए शरीर त्यागते हैं, उनकी मृत्यु हुई मत

समझो। वे उत्तम पुरुष तो मेरा कृपाप्रसाद पाकर सर्वदा आनन्द में रहते हैं। और जो भाग्यहीन हैं, नाश उनका भी नहीं होता।" इसी आशय का एक प्रसंग प्रसिद्ध है—एक बार जब लड़ाई में बहुत लोग मारे गये और महापुरुष की जीत हुई, तब महापुरुष ने उन मरे हुए लोगों से पूछा, "भाइयो! मुझे भगवान् का आदेश था कि जीत तेरी ही होगी, सो यह बात तो मैंने प्रत्यक्ष देख ली। किन्तु उन्होंने यह भी कहा था कि तमोगुणी पुरुषों को मैं परलोक में दण्ड और कष्ट दूँगा, सो तुम्हें वह दुःख मिला है या नहीं?" इस पर महापुरुष के साथियों ने पूछा कि ये लोग तो अब मिट्टी की तरह हैं, आप इनसे बात क्यों कर रहे हैं? तब महापुरुष ने कहा, "मैं जिस प्रभु की सामर्थ्य के आगे सर्वथा पराधीन हूँ, उन्हीं की शपथ करके कहता हूँ कि ये मरे हुए लोग मेरी बात तुम्हारी अपेक्षा भी अधिक सुनते हैं; किन्तु इन्हें उत्तर देने की आज्ञा नहीं है।" इससे निश्चय होता है कि धर्म-शास्त्र में भी जीव के मरने की बात नहीं कही। इसी से पितृपूजा के लिये श्राद्ध और दानादि करने की विधि भी है। अतः सिद्ध हुआ कि जीव का नाश नहीं होता।

किन्तु यह बात धर्मशास्त्र में भी कही है कि मृत्यु होने पर जीव का शरीर और स्थान परिवर्तित हो जाता है, अर्थात् उसे शरीर भी दूसरा मिलता है और उसकी स्थिति भी दूसरे लोक में हो जाती है। जो पुण्यवान् जीव होते हैं, उन्हें स्वर्ग का सुख मिलता है, और जो पापी होते हैं वे नरक का दुःख भोगते हैं। अतः तुम निश्चय जानो कि शरीर का नाश होने से तुम्हारे स्वरूप और स्वभावों का नाश नहीं होता। हाँ, शरीर और इन्द्रियों का सारा व्यापार निवृत्त हो जाता है, जैसे घोड़ा नष्ट हो जाने पर सवार पियादा रह जाता है, तथा उसके जो कर्म और स्वभाव होते हैं, वे ज्यों के त्यों बने रहते हैं, क्योंकि तुम्हारा स्वरूप सवार की तरह

शरीररूप घोड़े से सर्वथा भिन्न है।

इसी से जो लोग शरीर और इन्द्रियों को भुलाकर अपने स्वरूप में स्थित हुए हैं, और भजन की एकाग्रता के द्वारा जिन्होंने चित्त को लीन कर दिया है, उन्हें परलोक की अवस्था स्पष्ट प्रतीत हुई है। इसका कारण यह है कि यद्यपि उनके प्राणों की समान वृत्ति में कोई विपर्यय नहीं हुआ, तदापि चित्त स्थिर होने से उनकी प्राणचेतना भी ठहर जाती है। इससे वे भगवान् के भी प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं, और उनकी चित्तवृत्ति किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं होती। इसी से उन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं, अर्थात् जो भेद लोगों को मरने के पश्चात् खुलता है, वह चित्त की एकाग्रता के कारण उन्हें जीवित रहते हुए ही मालूम हो जाता है। वे उसें प्रत्यक्षवत् देखते हैं, और जब उस अवस्था से उत्थित होकर इन्द्रियों के देश में आते हैं, तो जाग्रत् अवस्था में भी उन्हें उसका स्मरण बना रहता है। यदि एकाग्रता में चित्त की वृत्ति सूक्ष्म होने पर उन्हें स्वर्ग का अनुभव होता है, तो व्युत्थित होने पर उनके हृदय में प्रसन्नता और आनन्द की वृत्ति बनी रहती है, और यदि उस समय अकस्मात् नरक दिखायी दे जाता है, तो जाग्रत् में भय और संकोच का भाव प्रकट होता है। इस प्रकार परलोक की जो बात उन्हें जाग्रत् में स्मरण रहती है, उसी का वे संसार में वर्णन करते हैं। उस अवस्था में उनके अन्तःकरण में जैसा संकल्प स्फुरित होता है वह सत्य ही होता है। कहते हैं, एक समय महापुरुष समाधि में बैठे थे। उसी स्थिति में उन्होंने अपना हाथ ऊपर को उठाया, और फिर खींच लिया। लोगों ने इसका कारण पूछा तो वे बोले, "मैंने स्वर्ग के अमृत फल को देखा था। उसे संसार में लाने की इच्छा से मैंने पहले हाथ उठाया था, किन्तु वह छिप गया, इसलिये हाथ खींच लिया।" इससे तुम ऐसा अनुमान न करना कि अमृत फल संसार में आने योग्य तो था, किन्तु महापुरुष उसे

लाने में समर्थ नहीं हुए, क्योंकि सूक्ष्म देश का फल इस लोक में आ ही नहीं सकता। यह आधिभौतिक जगत् तो अत्यन्त स्थूल और जड़रूप है, इसमें दिव्य लोक की वस्तु कैसे आ सकती है? इस बात को स्पष्ट करने से भी बहुत विस्तार हो जायगा, और यहाँ उसका विशेष प्रयोजन भी नहीं है। किन्तु बहुत-से विद्वानों को तो यही संशय बना हुआ है कि वह अमृत फल कैसा था और महापुरुष ने उसे कैसे देखा। इस प्रकार वे व्यर्थ वाद-विवाद करते रहते हैं और अपने कल्याण की बात पर ध्यान नहीं देते। फिर भी उन्हें अपनी विद्या का बड़ा अभिमान है। सो वास्तव में तो वे महा मूढ़ हैं।

तात्पर्य यह है कि सन्त लोग परलोक को अपने हृदय की दृष्टि से ही देखते हैं, उनका यह दर्शन किसी कथन या युक्ति के आधार पर नहीं होता। वे इस जगत् की वृत्ति को त्यागकर चैतन्य देश में जाते हैं और परलोक को प्रत्यक्ष देखते हैं। यह परलोकदर्शन भी सन्तों की शक्ति का एक अंग है। इस प्रकार निश्चय हुआ कि परलोक का दर्शन दो प्रकार से हो सकता है—एक तो प्राण-चेतना का नाश होने पर जब शरीर की मृत्यु होती है तब जीव परलोक के प्रत्यक्ष दर्शन करता है। और दूसरे जब भजन की एकाग्रता के द्वारा प्राणवृत्ति स्थिर हो जाती है तब हृदय की शक्ति से परलोक का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इन्द्रियादि के देश में रहते हुए तो परलोक का दर्शन होना असम्भव ही है। जैसे एक राई के दानेमें चौदहों लोक नहीं समा सकते उसी प्रकार आत्मसुख का एक कण भी सारे ब्रह्माण्ड में नहीं समा सकता। जिस प्रकार श्रवणेन्द्रिय किसी भी पदार्थ का रूप नहीं देख सकती उसी प्रकार सारी इन्द्रियाँ चैतन्यदेश की किसी वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकतीं। अतः यह निश्चय हुआ कि स्थूल देश को देखनेवाली इन्द्रियाँ चैतन्यदेश तक नहीं पहुँच सकतीं, उस सूक्ष्म देश को देखनेवाली इन्द्रियाँ भी सूक्ष्म ही हैं।

छठी किरण

यममार्ग के कष्टों का वर्णन

अब तुम्हें यममार्ग के कष्टों को भी जानना चाहिये। वे कष्ट दो प्रकार के हैं—१. शरीर के सम्बन्ध से जीव को होनेवाले और २. शरीर को होनेवाले। इनमें शरीर को होनेवाले कष्टों को तो सब जानते हैं, किन्तु उसके कारण जीव को जो कष्ट होते हैं, उन्हें कोई नहीं पहचानता। उन्हें तो वही जान सकता है, जिसने अपने-आपको पहचाना है, और जिसे हृदय का रूप भी प्रत्यक्ष हुआ है, क्योंकि उसे पता है कि मेरी स्थिति शरीर के आश्रित नहीं है, तथा शरीर का नाश होने से मेरा नाश भी नहीं होता। मृत्यु होने से शरीर और इन्द्रियों का वियोग तो होगा ही, इनके साथ धन, पुत्र, स्त्री, सेवक, सुहृद, पशु और पृथ्वी आदि जितने पदार्थ इन्द्रियों से जाने जाते हैं, वे सब भी अपने से दूर हो जायँगे। जिस पुरुष ने अपने को स्थूल पदार्थों के साथ बाँध रखा है, वह इनका वियोग होने से अवश्य दुःखी होगा। किन्तु जिसका हृदय सब ओर से विरक्त है और भगवान् के सिवा जिसकी किसी भी पदार्थ में प्रीति नहीं है, उसे मृत्यु के समय कोई दुःख नहीं होता; प्रत्युत और भी अधिक आनन्द होता है, क्योंकि जिसके हृदय में भगवान् का दृढ़ अनुराग है, जिसे भजन का रहस्य प्रकट हुआ है, जिसने सर्वदा अपने आपको भगवान् की ओर ही लगाया है और जो माया के सम्पूर्ण पदार्थों को नीरस समझ कर उनमें आसक्त नहीं हुआ, वह पुरुष मृत्यु होनेपर निःसन्देह अपने प्रिय-

तम को ही प्राप्त करता है, तथा जिन पदार्थों से उसे विक्षेप होता था, वे सब उससे दूर हो जाते हैं। इसलिये उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

अब तुम इस बात पर विचार करो कि जो मनुष्य शरीर का नाश होनेपर भी अपने को अविनाशी ही जानता है, और जिसे पता है कि सारे मायिक पदार्थ इस संसार में ही रह जायँगे, उसे यह भी निश्चय हो ही जायगा कि यदि इन पदार्थों में मेरी आसक्ति होगी तो अन्त समय इनका वियोग होनेपर मुझे अवश्य दुःख होगा। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि जिस पदार्थ के साथ किसी की प्रीति होती है उसका वियोग होने पर वह अवश्य दुःखी होता है, और जब वह देखेगा कि मेरी प्रीति तो केवल श्रीभगवान् के साथ है, मायिक पदार्थों से तो मेरी प्राणरक्षा के लिये केवल खान-पानमात्र का सम्बन्ध है, वास्तव में तो ये मुझे फँसाकर अधःपतन की ओर ही ले जानेवाले हैं, तो वह निःसन्देह जान जायगा कि शरीर का नाश होनेपर जब ये पदार्थ मुझसे दूर हो जायँगे तो मैं अपने प्रियतम प्रभु को पाकर आनन्दमग्न हो जाऊँगा। अतः जो पुरुष इस रहस्य को समझता है, उसे निःसन्देह पता है कि मृत्यु के समय विषयों का वियोग होने से विरक्त पुरुषों को तो सुख होता है और विषयी जीव अत्यन्त दुःखी होते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह हुआ कि माया मनमुखी पुरुषों को ही स्वर्गरूप जान पड़ती है, जिज्ञासुओं के लिये तो वह नरक ही है। माया का वियोग मनमुखी पुरुषों को नरकरूप जान पड़ता है, और विरक्तों को उससे आनन्द होता है।

इस प्रकार यममार्ग के कष्टों के विषय में तुम यह तो समझ गये कि इस दुःख का कारण मायिक पदार्थों की प्रीति ही है। साथ ही यह भी याद रखो कि ये दुःख सब जीवों को एक समान नहीं होते। किसी को कम होते हैं और किसी को अधिक। जिस मनुष्य

की मायिक पदार्थों में जितनी अधिक प्रीति होगी, उसे उतना ही अधिक दुःख होगा। यदि किसी के पास केवल एक भोग्य पदार्थ हो और दूसरे के पास पशु-सेवक आदि अनेक प्रकार की भोग्य सामग्री हो, तो केवल एक ही भोग्य पदार्थवाले को कम दुःख होगा। जैसे किसी व्यक्ति का एक घोड़ा चोरी जाय और दूसरे के दस घोड़े चुरा लिये जायँ तो इनमें दूसरे की अपेक्षा पहले को कम दुःख होगा। यदि किसी मनुष्य का आधा धन राजा हर ले और किसी का सारा ही धन हर लिया जाय तो इसमें पहले की अपेक्षा पिछले को अधिक दुःख होगा और जिसका धन ही नहीं, उसके साथ स्त्री-पुत्रादि भी नष्ट कर दिये जायँ तथा जिसे देश से भी निकाल दिया जाय, उसे तो और भी कष्ट होगा। यही मृत्यु का भी अर्थ है। उस समय भी तो शरीर छूटने के साथ ही स्त्री-पुत्रादि सम्पूर्ण मायिक पदार्थ यहीं छूट जाते हैं और यह जीव अकेला रह जाता है। जो पुरुष उन पदार्थों में अधिक आसक्त होता है उसे दुःखी भी अधिक होना पड़ता है और जिसकी उनमें कम प्रीति होती है वह उनके वियोग से दुःखी भी कम होता है। इस पर प्रभु ने भी कहा है कि जिस पुरुष को सब प्रकार के सुख और सम्पत्ति की प्राप्ति हुई है वह इन सभी पदार्थों में आसक्त भी रहता है और अंत में दुःखी भी अधिक होता है। तथा जिसकी इन पदार्थों में अल्प प्रीति है वह इसका वियोग होने पर उतना दुःखी भी नहीं होता। इसी प्रकार महापुरुष भी कहते हैं कि यमराज के मार्ग में मनमुखी पुरुष को ऐसा कष्ट होता है कि उसे बड़े-बड़े अजगर काटते हैं और उन अजगरों के हजार-हजार फन होते हैं। विषयी पुरुषों को ऐसे विशालकाय अजगर सर्वदा डसते रहते हैं।

किन्तु इन अजगरों को देखते वे ही हैं जिनके बुद्धिरूपी नेत्र खुले हुए हैं। बुद्धिहीन पुरुष तो कहते हैं कि हमने बहुत से मृतक पुरुष देखे हैं, हमें तो उन्हें डसता हुआ एक भी सर्प दिखायी नहीं

दिया। ऐसे पुरुषों को ध्यान रखना चाहिये कि ये अजगर जीव के हृदय में रहते हैं और उस जीव को ही डसते हैं। यदि ये शरीर को डसते तब तो और लोग भी उन्हें देख सकते थे और वास्तव में तो वे उसे इस संसार में ही डस रहे थे, पर अचेत होने के कारण उस मूर्ख को इसका पता नहीं था। इस कथन का तात्पर्य यह है कि ये सर्प मन के मलिन स्वभाव ही हैं तथा उनमें से एक-एक स्वभाव से जो अवगुणों की शाखाएँ उपजती हैं वे ही उन सर्पों के हजारों सिर हैं। इनकी उत्पत्ति का मूल कारण माया की प्रीति है। जैसे इस हृदय में जो ईर्ष्या, कटुता, कुटिलता, कपट, मान, चंचलता, वैर और मानप्रियता आदि बुरे स्वभाव हैं ये ही सर्प हैं। इन सर्पों के वास्तविक स्वरूप, इनकी संख्या और इनके सिरों का विस्तार ये सब बातें केवल भगवत्कृपा से अनुभवद्वारा ही देखी जा सकती हैं। ये मलिन स्वभाव मनमुखी पुरुष के हृदय में पहले से ही थे, इसीसे वह भगवान् और संतों की प्रीति से शून्य था तथा सब प्रकार के मायिक पदार्थों में आसक्त था। ये मलिन स्वभावरूपी सर्प ही उसे यममार्ग में डसते हैं।

इन सर्पों का दर्शन अत्यन्त दुःखरूप है, क्योंकि यदि स्थूल सर्प डसें तब तो कभी क्षणमात्र को विश्राम भी दे सकते थे, किन्तु इनसे तो एक क्षण को भी छुटकारा नहीं मिलता। जैसे किसी पुरुष का अपनी दासी में राग हो, किन्तु उसे इसका पता हो नहीं, फिर यदि किसी कारणवश उस दासी का वियोग हो जाय तो वह रागरूप सर्प उसे डसता ही रहेगा। यद्यपि यह रागरूप सर्प पहले से ही उसके हृदय में विद्यमान था और उसे डस भी रहा था, पर मूर्खतावश वह इसे पहचानता नहीं था, अब वियोग होने पर उसे प्रत्यक्ष उसके दंशन का दुःख दिखायी देता है। तात्पर्य यह है कि पहले तो वह उसके राग में रस का अनुभव करता था, किन्तु वियोग होने पर वही राग विष बन कर उसे दुःख देता है। यदि

पहले ही दासी में उसका राग न होता तो उसका वियोग होने पर यह दु:ख क्यों देखना पड़ता। इसी प्रकार मनमुखी पुरुष की जो माया में प्रीति होती है उसीके कारण उसे मायिक भोगों में सुख जान पड़ता है और माया का वियोग होनेपर वह प्रीति ही उसके दु:ख का कारण बन जाती है।

इसी तरह मान और ऐश्वर्य की प्रीति अजगर की भाँति है, धन की प्रीति सर्प की तरह है और सौन्दर्यप्रेम बिच्छू के समान है। ऐसे ही जिस-जिस विषय की प्रीति मनुष्य के हृदय में जम जाती है उसके कारण उसे दु:ख ही भोगना पड़ता है। जिस प्रकार दासी के वियोगानल से संतप्त पुरुष अपने को अग्नि या जल में डाल कर उस व्यथा से मुक्त होना चाहता है, उसी प्रकार जीव को जब यममार्ग में भोगों के वियोग से उत्पन्न हुआ दु:ख दग्ध करने लगता है तब उसे इन स्थूल सर्प और बिच्छुओं का दंशन भी उस के सामने कुछ नहीं जान पड़ता क्योंकि उनके डसने से तो केवल शरीर को ही कष्ट होता है और यह आग निरन्तर उसके हृदय को जलाती रहती है। ऐसा भी कोई नहीं, जो उस दु:ख को देखता हो और उससे उसकी रक्षा कर सकता हो। अत: निश्चय हुआ कि यह जीव अपने दु:ख का बीज इस संसार से ही अपने साथ ले जाता है। इसपर महापुरुष ने भी कहा है कि तुम्हारे अशुभ कर्म ही तुम्हें दु:ख देते हैं और कोई दु:ख देनेवाला नहीं है। प्रभु भी कहते हैं कि यदि तुम्हारी प्रीति और निश्चय दृढ़ हों तो तुम नरकों को इस संसार में ही देख लोगे, क्योंकि मनमुखों का हृदय यहाँ भी नरक के दु:खों से पूर्ण है। इस प्रकार प्रभु ने भी यह तो नहीं कहा कि मनमुखीलोग परलोक में ही नरक पायेंगे, यह भी तो कहा है कि नरक उनके साथ ही है और वे उससे पूर्ण हैं। अर्थात् उनका हृदय यहीं नरकरूप बना हुआ है।

—:o:—

सातवीं किरण

यममार्ग के दुःखों के विषय में विशेष मीमांसा

तुम यह शंका कर सकते हो कि धर्मशास्त्र में तो लिखा है कि वे सर्प मरनेवाले व्यक्ति को आँखों से दिखायी देते हैं और तुम उन्हें उसके हृदय में बताते हो, अतः वे आंखों से दिखायी देने-वाले सर्प नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में किस कथन को प्रामाणिक मानें ?

इसका उत्तर यह है कि वे सर्प दिखायी तो देते हैं; किन्तु उन्हें वह मरने वाला पुरुष ही देख सकता है जिसे वे डसते हैं संसार के दूसरे लोग उन्हें नहीं देख सकते। जो सूक्ष्म देश की वस्तु होती है वह स्थूल नेत्रों से नहीं देखी जा सकती। अतः वे सर्प स्थूल सर्पों की तरह उसे नहीं डसते, जिससे दूसरे लोग भी उन्हें देख सकें। हाँ, मरनेवाले व्यक्ति को तो वे प्रत्यक्ष ही डसते दिखायी देते हैं। जैसे स्वप्न में कोई पुरुष देखे कि मुझे सर्प काट रहा है तो उसके समीप बैठा हुआ दूसरा व्यक्ति ऐसा नहीं देख सकता। स्वप्न देखनेवाले को तो वह सर्प और उसके काटने से होनेवाला दुःख प्रत्यक्ष ही जान पड़ते हैं और उसके समीप बैठे हुए जाग्रत् पुरुष को यह सब दिखायी न देने से उसके कष्ट में कोई कमी भी नहीं आती। उसके लिये तो वह जाग्रत् की तरह ही प्रत्यक्ष है।

स्वप्नविचार के अनुसार ऐसे स्वप्न का परिणाम यह माना गया है कि जाग्रत् में वह पुरुष अपने शत्रु से परास्त होगा। अतः इस प्रकार का स्वप्न देखनेपर उसे यह मानसिक चिन्ता और

घेर लेती है। इससे वह इतना संतप्त होता है कि इसकी अपेक्षा उसे जाग्रत् अवस्था में सर्प से प्रत्यक्ष काटा जाना अच्छा जान पड़ता है, क्योंकि शत्रु से नीचा देखने की अपेक्षा तो सर्प दंश से मृत्यु का आलिंगन करना ही अच्छा है। सर्प तो केवल शरीर को ही कष्ट पहुँचाता है, शत्रु से पराभूत होने का दुःख तो निरन्तर हृदय को संतप्त करता रहता है।

अब तुम्हें यह शंका हो सकती है कि यदि प्राणप्रयाण के समय डसनेवाले सर्प स्वप्न के साँपों के समान ही होते हैं तब तो वे केवल संकल्पमात्र हुए, वास्तव में उसे कोई सर्प नहीं डसते वह व्यर्थ अपने संकल्प से ही दुःख की सृष्टि कर लेता है। इस पर हमारा कथन यह है कि ऐसा सोचना तो बड़ी मूर्खता की बात है। विचारदृष्टि से देखो तो वे सर्प निःसन्देह सत्य हैं। सत्य या प्रत्यक्ष उसी पदार्थ को तो कहते हैं जिससे सुख या दुःख प्राप्त हो। संकल्पमात्र वस्तु तो वह होती है जिसका सुख-दुःख प्रत्यक्ष नहीं भासता। स्वप्न में भी जब तुम कोई पदार्थ देखते हो तो तुम्हें उस का सुख दुःख प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, अतः दूसरे लोग भले ही उस पदार्थ को न देखें, तुम्हारे लिये तो वह प्रत्यक्ष ही है। इसके विपरीत किसी पदार्थ को भले ही सब लोग देखते हों, किन्तु तुम्हें उसका भान न हो तो तुम्हारे लिये वह मिथ्या ही होगा। इसी प्रकार स्वप्नद्रष्टा और मुमूर्षु पुरुष को जो दुःख प्राप्त होता है वह भले ही दूसरों को न दीखे, उनके लिये तो प्रत्यक्ष ही है और न दूसरों को दिखायी न देने से उसमें कोई कमी ही आती है। इन दोनों अवस्थाओं के दुःखों में भी एक अन्तर अवश्य है कि स्वप्न देखनेवाला पुरुष शीघ्र ही जग जाता है और जाग्रत् के समय उस दुःख का बोध हो जाता है, इसलिये उसे संकल्पमात्र कहते हैं किन्तु मृतक पुरुष को परलोक में जो कष्ट प्राप्त होता है, उसकी तो कोई सीमा ही नहीं कही जा सकती और न किसी प्रकार उससे

छुटकारा ही हो सकता है। उस कष्ट से तो जब भगवान् की विशेष कृपा हो तभी मुक्ति मिल सकती है।

इसके सिवा धर्मशास्त्र में भी ऐसा कहीं नहीं कहा कि मरनेवाले व्यक्ति को स्थूल सर्प डसते हैं। यदि वे सर्प भी आँखों से दिखायी देनेवाले होते तब तो परलोक भी इस लोक की तरह भौतिक ही सिद्ध होता। सो ऐसी बात है नहीं, क्योंकि परलोक का प्रत्यक्ष भान तो उसी को होता है जो इस लोक को सर्वथा विस्मृत कर देता है। ऐसा व्यक्ति तामसी पुरुषों को सर्प और बिच्छू डसते हैं—इस बात को भी प्रत्यक्ष देखता है। इसी से कहा है कि दूसरे लोगों को जो बातें आश्चर्यरूप जान पड़ती हैं वे संतजनों को जाग्रत् में ही प्रत्यक्ष भासे जाती हैं, क्योंकि इन्द्रियग्राह्य विषय संतों की परलोकविषयिनी दृष्टि में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं कर सकते। अतः जो लोग केवल बाह्य दृष्टि से कहते हैं कि मरने के पश्चात् जीव को कोई दुःख नहीं होता वे तो केवल स्थूल शरीर के दुःख को ही दुःख समझते हैं, उन्हें सूक्ष्म शरीर के सुख-दुःखों का कुछ भी पता नहीं है।

अब तुम शंका कर सकते हो कि तुम जो यममार्ग के दुःखों का कारण मायिक भोग्य पदार्थों को बताते हो उससे तो निश्चय होता है कि कोई भी व्यक्ति उन दुःखों से नहीं बचेगा, क्योंकि स्त्री, पुत्र, धन, मान ये तो सभी लोग रखते है, न्यूनाधिक रूप में ये मायिक पदार्थ सभी के पास रहते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि ये दुःख सभी को भोगने पड़ेंगे।

इसका उत्तर यह है कि सभी लोग मायिक सामग्री रखते हों—ऐसा कोई नियम नहीं। ऐसे भी बहुत से विरक्त और जिज्ञासु पुरुष होते हैं जिनका मन मायिक भोगों से दूर रहता है और जिनकी किसी भी पदार्थ में प्रीति नहीं होती। इसके सिवा जो लोग ये धन-संपत्ति आदि रखते हैं वे भी तीन प्रकार के

होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—जिनकी मायिक पदार्थों में भी प्रीति है और भगवान् में भी, किन्तु पदार्थों की अपेक्षा भगवान् में अधिक प्रेम है। ऐसे लोगों को यममार्ग में कष्ट नहीं होता। जैसे कोई पुरुष अपने घर के पदार्थों से प्रेम रखता हो, किन्तु यदि कोई महाराजा उसे किसी देश का राज्य देने लगे तो वह बड़ी सुगमता से घर के सब पदार्थों को त्याग देगा, क्योंकि एक देश के राज्य की प्राप्ति का जो सुख है उसके आगे गृह-सामग्री का सुख तुच्छ हो जाता है। अतः इन पुरुषों की प्रीति माया के भोग और संबन्धियों में होने पर भी वह भगवत्प्राप्ति के रस और आनन्द के आगे तुच्छ हो जाती है और जब मरने के समय इन पदार्थों का वियोग होता है तो आनन्द-स्वरूप श्रीभगवान् के मिलन के सुख में इनका कोई स्मरण नहीं होता। उस सुख में ही वे विलीन हो जाते हैं।

२—जिनकी मायिक पदार्थों में अधिक प्रीति होती है, और भगवान् में कम। ऐसे लोग यममार्ग के कष्ट से छूट तो नहीं सकते, किन्तु अधिक समय तक दुःख भोग चुकने पर फिर धीरे-धीरे उन्हें वे पदार्थ विस्मृत हो जाते हैं और उनके हृदय में जो भगवत्प्रेम का वीज रहता है वह अंकुरित होने लगता है। वही जब धीरे,धीरे बढ़ कर पुष्ट हो जाता है तो वे भी भगवदीय अक्षय सुख प्राप्त करते हैं। इनकी स्थिति ऐसी होती है जैसे किसी पुरुष के दो घर हों, पर उन में से एक में अधिक प्रीति हो, और दूसरे में कम। किन्तु उसे पहला घर तो छोड़ना पड़े, और दूसरे में जाकर रहे, तब आरम्भ में कुछ समय तक तो उसे पहले घर का वियोग दुःखी रखेगा, किन्तु पीछे दूसरे घर में ही उसका प्रेम बढ़ जायगा और पहले घर को वह बिलकुल भूल जायगा।

३—जिनकी भगवान् के साथ कुछ भी प्रीति नहीं है और जो सर्वदा मायिक पदार्थों में ही आसक्त रहते हैं, ऐसे लोग सर्वदा पर-

लोक में महान् दुःख भोगेंगे, और उससे कभी उनका छुटकारा नहीं होगा। उनका तो केवल माया से ही प्रेम था, और उसका अब वियोग हो गया। अतः उस वियोगजनित दुःख से उनका छुटकारा कैसे हो सकता है। भगवद्विमुख लोग जो सर्वदा दुःख-मग्न रहते हैं उसका कारण माया की प्रीति ही है।

अधिकांश लोग कहते तो यही हैं कि हमें भगवान् ही सबसे अधिक प्रिय हैं, माया के पदार्थों से हमारा उतना प्रेम नहीं, परन्तु यह उनकी मुँह से कहने की ही बात है। इसकी परीक्षा के लिये एक कसौटी की आवश्यकता है, और वह कसौटी यह है कि जिन भोगों में हमारी विशेष रुचि है वे यदि शास्त्र और सन्तों के मत से निन्द्य हों तो तत्काल उनसे चित्त हट जाय और मन की उनमें कुछ भी वासना न रहे, तब तो समझा जा सकता है कि भगवान् के प्रति उस पुरुष का विशेष प्रेम है। इसे एक दृष्टान्त से भी समझ सकते हैं। मान लो, एक व्यक्ति का दो मनुष्यों के साथ प्रेम है, और दोनों में परस्पर विरोध हो गया। अब जिसकी ओर उस का चित्त आकर्षित हो, उसी के साथ उसका विशेष प्रेम माना जायगा। इसी प्रकार जब तक जीव की रुचि भोगों की अपेक्षा सन्त जनों की आज्ञा का पालन करने में अधिक न हो, तब तक केवल मुँह से कहने से कोई लाभ नहीं हो सकता। उसका वह कथन व्यर्थ ही समझना चाहिये। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है—"जो लोग मुख से सर्वदा ऐसा ही कहते हैं कि एकमात्र भगवान् ही सत्य हैं और तो सभी नाशवान् हैं पर उनका मन माया के पदार्थों में ही अटका हुआ है, वे केवल ऐसा कह कर ही अपने को मुक्त करना चाहते हैं। उनसे भगवान् यही कहते हैं कि 'तुम झूठे हो, तुम्हारी प्रीति तो माया के साथ है, और तुम मुखसे भगवान् को सत्य कहते रहते हो, इसलिये तुम्हारा कथन केवल विडम्बनामात्र है।"

इससे निश्चय हुआ कि जिनके बुद्धिरूप नेत्र खुले हुए हैं वे प्रत्यक्ष देखते हैं कि यममार्ग के कष्टों से कोई विरला ही मुक्त होगा, अधिकांश मनुष्यों को तो वे भोगने ही पड़ेंगे। हाँ उनके भोग की न्यूनाधिकता अवश्य रहेगी। जिस प्रकार माया के पदार्थों के प्रति जीवों की आसक्ति में अन्तर है, उसी प्रकार उनके दुःख भोग में भी अन्तर रहेगा। अतः जिनकी आसक्ति अधिक है, वे अधिक काल तक उन दुःखों को भोगेंगे, और जिनकी असक्ति न्यून है, वे अल्प काल तक उन्हें भोगकर फिर मुक्त हो जायेंगे।

बहुत लोग कहा करते हैं कि यदि यममार्ग के दुःखों का कारण मायिक पदार्थों की प्रीति ही है, तो फिर हमें इन दुःखों की कोई आशंका नहीं हैं, क्योंकि हमारा चित्त किसी पदार्थ में आसक्त नहीं है। हमारे लिये तो सब एक समान हैं। किन्तु उन्हें याद रखना चाहिये, ऐसी स्थिति बहुत दुर्लभ है। उनका ऐसा अभिमान करना बड़ी भारी भूल है। यदि वे अपने मन की परीक्षा करेंगे तो उन्हें मालूम होगा कि वे व्यर्थ ही अभिमान करते हैं। इसकी परीक्षा तब हो सकती है, जब उनका धन चोर चुराले, उनका ऐश्वर्य नष्ट हो जाय, तथा उनके सुहृद विरोधी होकर उनकी निन्दा करने लगें और फिर भी उनकी स्थिति में कोई अन्तर न आये, उनकी चित्तवृत्ति में किसी प्रकार का खेद न हो, और उन्हें ऐसा मालूम हो मानो किसी दूसरे ही का धन हरा गया है तथा किसी दूसरे ही का मान भंग हुआ है, मेरी तो कुछ भी हानि नहीं हुई। तब समझा जा सकता है कि उनका कथन ठीक है और उन्हें वास्तव में बड़ी उत्तम स्थिति प्राप्त है। किन्तु यदि धन और मान के नष्ट होने का कोई अवसर नहीं आया, तो अपनी परीक्षा के लिये स्वयं ही धन का त्याग करे और जिस स्थान पर अपना मान हो उसे छोड़कर चला जाय, फिर भी अपने को निर्मल और निर्लेप देखे तो समझे कि मेरी स्थिति ठीक है। जब

तक अपने को इस प्रकार की परीक्षा में सफल न देखे तब तक उत्तम स्थिति का अभिमान करना व्यर्थ ही है। बहुत लोग तो जब तक अपने सगे-सम्बन्धियों में रहते हैं, तभी तक समझते हैं कि उनमें हमारा कोई राग नहीं है, किन्तु जब उनमें से किसी का वियोग हो जाता है, तो उनके हृदय में छिपी हुई राग की आग प्रकट हो जाती है और वे उसके ताप से पागल-से हो जाते हैं।

अतः जो पुरुष यममार्ग के कष्टों से मुक्त होना चाहे उसे किसी भी स्थूल पदार्थ में आसक्त नहीं होना चाहिये। हाँ, कार्य निर्वाह के लिये तो मायिक पदार्थों का उपयोग करना भी उचित ही है। जैसे इस मनुष्य को मलमूत्र त्यागने की अपेक्षा होती है तो उसके अनुरूप स्थानों में जा बैठता है, उसी प्रकार भूख-प्यास लगनेपर अन-जल ग्रहण करना भी आवश्यक है ही, किन्तु यह आहारग्रहण केवल शरीरयात्रा का निर्वाह करने के लिये ही होना चाहिये। हृदय में ऐसा समझे कि जैसे मलत्याग किये बिना शरीर को कष्ट होता है, वैसे ही आहार के बिना भी इसका काम नहीं चल सकता। इसी प्रकार और सब व्यवहारोंमें भी संयम और संकोचपूर्वक ही बरते। फिर जब इसका चित्त भोगों से विरक्त हो जाय, तो पुरुषार्थ और प्रेमपूर्वक भगवद्भजन में लग जाय। माया की लगन छोड़कर भजन की लगन बढ़ावे और चित्त की परीक्षा करता रहे कि यह मायिक पदार्थों की ओर अधिक खिंचता है। या भगवान् और सन्तों की आज्ञा पालन करने में अधिक प्रेम रखता है। जब देखे कि मेरा चित्त सुगमता से ही सब प्रकार की वासनाओं को त्यागकर सन्तों की आज्ञाओं का अनुसरण कर सकता है, तब समझे कि मैं यममार्ग के कष्टों से मुक्त रहूँगा। और यदि, चित्त की ऐसी स्थिति न जान पड़े तब तो इस महा दुःख से छुटकारा पाना कठिन ही है। भगवान् की विशेष दया हो तब भले ही इनसे बच सके। भगवत्कृपा तो इन सभी साधनों से विलक्षण है। जब वे स्वयं ही कृपा करने लगें तब भला इन दुःखों से छूटना कौन बड़ी बात है?

आठवीं किरण

मानसी नरक की तीन प्रकार की अग्नियों का विवेचन

मानसी नरक उन दुःखों को कहते हैं जो केवल जीवको होते हैं शरीर का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिस अग्नि से शरीर में जलन होती है वह स्थूल नरक है और जो केवल मन को जलाती है उसे मानसी नरक कहा जाता है। यह मानसी नरक की अग्नि तीन प्रकार की है।

१. स्थूल भोगों के वियोग की अग्नि।

२. अपमान, निरादर और संकोच में डालनेवाली अग्नि।

३. भगवद्दर्शन से वञ्चित रहने के पश्चात्ताप की अग्नि।

यह तीन प्रकार की अग्नि केवल हृदय को ही सन्तप्त करती है, शरीर पर इस दुःख का कोई प्रभाव नहीं होता। इसीसे इसका पृथक् निरूपण करने की आवश्यकता हुई। किन्तु इन तीनों अग्नियों का बीज यह जीव संसार से ही साथ ले जाता है। इनका स्थूल दृष्टान्तोंद्वारा आगे विवेचन करूँगा।

पहली जो भोगों के वियोग की अग्नि है इसका वर्णन पहले भी कुछ हो चुका है। इस दुःख का कारण मायिक पदार्थों की प्रीति है। उस प्रीति के कारण ही उन पदार्थों का संयोग होने पर यह सुखी होता है और जब वे छूट जाते हैं तो दुःखी होता है। माया के साथ प्रीति होने के कारण ही यह पुरुष इस संसार में

स्वर्ग की तरह भोगों को भोगता रहता है, किन्तु फिर उसे मानसी नरक का दुःख भोगना पड़ता है, क्योंकि जिस माया से इसका प्रेम था उस से अब वियोग हो गया। इससे निश्चय हुआ कि एक ही पदार्थ संयोग और वियोग होने पर इसके सुख और दुःख के कारण वन जाते हैं। इस अग्नि का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है—मानलो, एक बहुत बड़ा राजा है। सारी पृथ्वी पर उसका शासन है, उसे सर्वदा सुन्दर-सुन्दर दृश्य देखने को मिलते हैं, अनेकों दास, दासियाँ, मनमोहिनी सुन्दरियाँ बाग-बगीचे और सभी प्रकार के भोग उसे प्राप्त हैं। अकस्मात् उसका कोई विरोधी उस पर चढ़ाई करदे और उसे परास्त कर उस के सेवकों के सामने ही उसे कुत्तों की टहल में लगा दे, उसकी जो स्त्रियाँ और दास दासियाँ थीं उन्हें अपनी सेवा में नियुक्त कर दे तथा उसका जो कोष और भण्डार था उसे उसके शत्रुओं को दे डाले, तो सोचिये उसे कितना कष्ट होगा। ऐसा होनेपर यद्यपि उसके शरीर को कोई दुःख नहीं दिया गया, किन्तु अपने भोग और ऐश्वर्य का वियोग होने की आग ही उसके हृदय को कितना सन्तप्त करेगी। इस स्थिति में तो उसका चित्त बार-बार यही चाहेगा कि इस मानसिक ताप की अपेक्षा तो मर जाना कहीं अच्छा है। इससे निश्चय हुआ कि मायिक सुख जितने अधिक होंगे और उन्हें जितना ही खुलकर भोगा जायगा उतना ही अधिक उनकी वियोगाग्नि हृदय को जलायेगी। इस मानस ताप के आगे भौतिक अग्नि का ताप भी मन्द पड़ जाता है। भौतिक अग्नि से शरीर को अवश्य पीड़ा पहुंचती है, परन्तु हृदय पर उसका पूरा प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि बेचारी इन्द्रियों के द्वारा हृदय को जो अन्यान्य भोग प्राप्त होते रहते हैं उनके कारण उस पीड़ा का कष्ट बहुत कुछ बँट जाता है तथा नेत्रादि के द्वारा चित्त की वृत्ति विभिन्न विषयों में बिखरी रहने से भी वह दुःख निर्बल पड़

जाता है। वास्तव में यह इन्द्रियों का व्यवहार भी हृदय के आगे एक प्रकार का पर्दा है। इसके कारण हृदय में सुख-दुःख का पूरा प्रवेश नहीं हो पाता। जैसे कोई दुःखी पुरुष जब अकस्मात् निद्रासे जगता है तो उसे दुःख की पीड़ा अधिक जान पड़ती है, क्यों कि उस समय उसका चित्त एकाग्र होता है और इन्द्रियों के द्वारा वह अन्य विषयों में बिखरा हुआ भी नहीं होता। इसी प्रकार एक स्वस्थ पुरुष निद्रासे जगे और उसे आरम्भ में ही सुन्दर-सुन्दर शब्द सुनायी दें तो उसे उनमें विशेष आनन्द आयेगा और उसकी चित्तवृत्ति एकाग्र हो जायगी। किन्तु यह जीव जब तक संसार में रहता है तब तक इन्द्रियों का व्यापार इसके साथ लगा ही रहता है और शरीर छूट जाने पर यह अकेला रह जाता है, वहाँ इन्द्रियों का विक्षेप सर्वथा निवृत्त होजाता है। इसी से इसे परलोक में सुख-दुःख दोनों ही अधिक जान पड़ते हैं। अतः तुम ऐसा अनुमान न करो कि परलोक की सूक्ष्म अग्नि संसार की स्थूल अग्नि की तरह ही होगी, उसकी अपेक्षा तो यह सत्तरवाँ अंश शीतल है।

दूसरी अपमान की अग्नि बतलायी थी। उसके लिये यह दृष्टान्त दिया जाता है—जैसे कोई महाराज किसी नीच मनुष्य को अपने पास रख ले और उस पर विश्वास करके महल का सारा काम उसी को सौंप दे। उसी के अधीन भण्डार रहे और अन्तःपुर में जाने की भी उसे पूरी छूट हो। इस प्रकार सारी सुविधाएँ पाकर उसका चित्त दूषित हो जाय और वह विपरीत आचरण करने लगे। भण्डार से धन चुराले और रानियों के साथ व्यभिचार करे, किन्तु ऊपर से अपने को बड़ा साधुस्वभाव और सदाचारी प्रकट करे। ऐसी स्थिति में यदि किसी दिन अकस्मात् राजा उसे कोई अपकर्म करता देख ले और उसे भी मालूम हो जाय कि आज महाराज ने मुझे महलों में कुकर्म करते देख लिया है तथा वे नित्य ही झरोखे से मेरी सारी करतूतें देखते रहते हैं,

किन्तु दण्ड इसलिये नहीं देते कि जब इसके पापों का घड़ा पूरा भर जायगा तब एक साथ ही इसे कठोर दण्ड और ताड़ना दूँगा, तो उस समय उस नीच पुरुष को लज्जा की आग किस प्रकार जलायेगी ? उस समय भले ही उसके शरीर को कोई कष्ट न हो, तथापि इस लज्जा के कारण ही वह अपने को धरती में लीन करना चाहेगा और सोचेगा कि किसी प्रकार यह शरीर छूट जाय तो मैं लाज की आग से बच जाऊँ। इसी प्रकार तुम जो अपने मलिन स्वभावों के अनुसार अनेकों कुचेष्टाएँ करते हो वे ऊपर से देखने में भली ही अच्छी जान पड़ें किन्तु उनका उद्देश्य दूषित होता है। यहाँ भले ही तुम उनके दुष्परिणाम को न देख सको, किन्तु जब परलोक में जाओगे और उनका मलिन तात्पर्य तुम्हारे सामने आयेगा तो लज्जा से तुम्हारा सिर नीचा हो जायगा और तुम लज्जा की आग में जलने लगोगे।

यदि कोई पुरुष संसार में किसी की निन्दा करे तो परलोक में उसे इस प्रकार लज्जित होना पड़ेगा जैसे कोई पक्षी का मांस समझ कर अपने भाई का ही मांस खा ले और पीछे उसे उसकी वास्तविकता का पता लगे। उस व्यक्ति का हृदय जिस प्रकार लज्जा और परिताप की अग्नि से जलने लगता है वैसी ही गति निन्दा करनेवाले की परलोक में होगी। इस समय तो तुम्हें निन्दा करने का दुष्परिणाम नहीं जान पड़ता, किन्तु परलोक में वह प्रत्यक्ष तुम्हारे सामने आ जायगा। इसी से कहा है कि यदि किसी पुरुष को स्वप्न में दिखायी दें कि वह मुर्दे को खा रहा है तो समझना चाहिये कि वह निन्दा करनेवाला है। इसके लिये यह दृष्टान्त भी दिया जाता है कि जैसे कोई स्वभाव से ही भीत के पीछे से पत्थर फेंकता हो और उससे कोई पुरुष कहे भी कि भाई, ये पत्थर तेरे ही घर में गिर रहे हैं और इसके कारण तेरे ही बच्चों की आँखें फूटती हैं, तू इन्हें फेंकना बन्द कर दे। और फिर वह

घर में जाकर भी यही बात देखे तो उसे कैसी लज्जा आयगी, उसके चित्त में कैसी आग लगेगी ?

इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी से ईर्ष्या करता है वह भी परलोक में अपने को लज्जा की आग से जलता देखेगा। ईर्ष्या करनेवाला तो अपने शत्रु का अहित चाहता है, पर वास्तव में हानि उसी की होती है। वह अपने ही धर्म को नष्ट करता है और इससे उसी के शुभ कर्मों का क्षय होता है। तात्पर्य यह है कि परलोक में सब कर्मों का स्वरूप उनके उद्देश्य या तात्पर्य के अनुसार सामने आता है। वहाँ यह पदार्थों के बीज अर्थात् मूल कारण को देखता है, इसलिये अपमान और लज्जा को प्राप्त होता है। यहाँ स्वप्नावस्था भी परलोक की तरह ही होती है, इसी से जैसा जिस व्यक्ति का हृदय होता है वैसा ही वह स्वप्न में उसे मूर्तिमान देखता है। कहते हैं, एक बार एक प्रवृत्तिमार्गीय विद्वान् किसी सन्त के पास गया और बोला कि मैं स्वप्न में अपने को लोगों के मुँह पर मुहर लगाते देखता हूँ, इसका क्या तात्पर्य है। सन्त ने कहा, "तुम जाग्रत् अवस्था में लोगों से बलात्कार से व्रत रखाते होगे।" इस पर पण्डित ने स्वीकार करते हुए कहा कि निःसन्देह मेरा ऐसा ही स्वभाव है। अब तुम विचार करके देखो कि इस क्रिया का स्वरूप कैसा है और इसका तात्पर्य क्या है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से व्रत रखाना अच्छा ही काम है, किन्तु उसका उद्देश्य या तात्पर्य अशुभ ही प्रकट हुआ। वह मानो लोगों के मुँह पर मुहर लगाना अर्थात् उनका आहार रोकना हुआ। सो यह प्रभु की बड़ी कृपा है कि परलोक की अवस्था सूचित करने के लिये उन्होंने स्वप्नावस्था बना दी है, किन्तु तुम इससे भी अचेत रहते हो।

सन्तों ने कहा है कि परलोक में माया का आकार कुरूपा वृद्धा स्त्री के समान होगा। उस समय सभी जीव उसे देखकर भयभीत होंगे और प्रभु से प्रार्थना करेंगे कि भगवन् ! इस महाराक्षसी से

हमारी रक्षा करो। तब प्रभु कहेंगे जिसकी प्राप्ति के लिये तुम अपना धर्म नष्ट करते थे यह वह माया ही है। यह सुनकर जीवों को ऐसी लज्जा और अपमान का बोध होगा कि वे अपने को अग्नि में जलाना चाहेंगे, जिससे किसी प्रकार उस लज्जा से छुटकारा मिल जाय। इस लज्जा के विषय में एक दृष्टान्त और भी है—एक बार किसी राजपुत्र का विवाह हुआ। वह मदिरापान से उन्मत्त होकर महलों की ओर चला, किन्तु मद्य के उन्माद में दूसरी ही ओर निकल गया। वहाँ एक घर में दीपक जल रहा था। उसने सोचा मैं अपने महल में पहुँच गया हूँ। घर के भीतर देखा बहुत लोग सोये हुए हैं। पुकारने पर उनमें से कोई उठा भी नहीं। उन्हें सोये हुए समझ कर वह चुप हो गया और एक स्त्री को उज्ज्वल वस्त्र पहने सोयी देखकर उसे ही अपनी नववधू समझ कर उसके समीप लेट गया। उस स्त्री के शरीर से उसे सुगन्ध आने लगी, अतः उसी के साथ रति-क्रीड़ा करता रहा। प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर जब नशा उतरा तो देखा कि जिन्हें मैं सोये हुए समझता था वे सब तो मुर्दे हैं और वह स्त्री भी एक अत्यन्त कुरूपा वृद्धा का शव है। उसमें से जो सुगन्ध आ रही थी वह तो उसी की दुर्गन्ध है तथा मेरे अङ्ग भी विष्ठा तथा धूलि से मलिन हो गये हैं। यह सब देखकर उसे बड़ी ग्लानि हुई और वह अत्यन्त दुःखी होकर चाहने लगा कि मेरी मृत्यु आ जाय तो अच्छा है। साथ ही, इस बात का भी भय हुआ कि कहीं मेरे पिता या कोई राजकर्मचारी मुझे इस स्थिति में न देख लें। इतने ही में राजा अपने मन्त्रियों के सहित उसे ढूँढ़ता-ढूँढ़ता वहाँ आ गया। अब तो राजपुत्र बड़ा ही लज्जित हुआ और सोचने लगा कि किसी प्रकार धरती फट जाय तो इसी में समा जाऊँ। विषयी जीव भी जब परलोक में जायगा तो उसे माया के भोग ऐसे ही मलिन दिखायी देंगे और जब परमपिता परमात्मा के सामने अपने को ऐसी मलिन परिस्थिति

में देखेगा तो लज्जा से डूब-मरने की इच्छा करने लगेगा। यदि विचार कर देखें तो भोगी पुरुष इस संसार में ही अत्यन्त निर्लज्जता और दुःख की परिस्थिति प्राप्त करते हैं। तथापि परलोक में जीव को जैसी दुःख और लज्जा की स्थिति प्राप्त होती है उसके सामने लौकिक दुःख और लज्जा तो कुछ भी नहीं है। यहाँ जिज्ञासुओं को लक्ष्य कराने के लिये संक्षेप में इस दूसरी अग्नि का दिग्दर्शन कराया है। इसका तात्पर्य यही है कि लज्जा रूप अग्नि भी ऐसी तीक्ष्ण है कि इसके सामने. स्थूल अग्नि अत्यन्त नगण्य है तथा वह केवल हृदय को जलाती है, शरीर से इसका कोई संबन्ध नहीं है।

तीसरी अग्नि है भगवद्दर्शन से वञ्चित रहने की। यह मूर्खता भी जीव के साथ इस संसार से ही जाती है। इस लोक में जिन लोगों ने सन्तजनों के उपदेश और पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं किया तथा अपने हृदय को शुद्ध करके भगवद्दर्शन के लिये दर्पणवत् नहीं बनाया उन्हें परलोक में इस परिताप की आग में जलना पड़ेगा। पापरूपी जंगार के कारण परलोक में भी उनका हृदय-दर्पण अन्धा ही रहेगा और वहाँ भी वे प्रभु के दर्शनों से वञ्चित ही रहेंगे। और उनका चित्त इस पश्चाताप की आग में जलता रहेगा। इस विषय में एक दृष्टान्त दिया जाता है—मान लो, अपने कुछ हितैषी मित्रों के साथ अंधेरी रात में किसी वन में जाओ और वहाँ तुम्हें कुछ कंकर-पत्थर से पड़े जान पड़ें, किन्तु अंधेरे में उनका कोई रूप-रंग दिखायी न दे। उस समय तुम्हारे साथी यथाशक्ति उन कंकरों को बटोर लें और तुमसे भी कहें कि इन पत्थरों की हमने बड़ी विशेषता सुनी है, तुम भी जितने उठा सको उठा लो। किन्तु तुम उन्हें मूर्ख समझ कर उनकी बात पर कोईध्यान न दो और खाली हाथ ही वहाँ से चले आओ। परन्तु जब सूर्योदय हो तो वे सब कंकर बहुमूल्य रत्न दिखायी दें—ऐसे

मूल्यवान् कि जिसका कोई अनुमान ही न हो सके। तब तुम्हारे साथियों को तो अत्यन्त हर्ष होगा और तुम ? तुम तो बस, पश्चात्ताप की अग्नि में ही जलते रहोगे। तुम्हारे साथी तो उन रत्नों को पाकर अत्यन्त सम्पन्न हो जायँगे और हाथी घोड़े आदि तरह-तरह की भोगसामग्री संग्रह करके सुख भोगेंगे और तुम अत्यन्त दीन और निर्धन रहकर भूख-प्यास का भी कष्ट सहोगे। तुम अपने साथियों से धन माँगोगे तो भी वे मना कर देंगे और कहेंगे कि तुम तो हमें मूर्ख समझ कर हँसते थे और तुमने हमारी बात पर कोई ध्यान ही नहीं दिया अब तुम उसका फल भोगो। ऐसी स्थिति में तुम्हें कैसा पश्चात्ताप होगा और तुम किस प्रकार उस आग से सन्तप्त होंगे ? इसी प्रकार जो लोग भगवद्दर्शन से वञ्चित हैं उन्हें परलोक में ऐसी ही अवस्था प्राप्त होगी।

यह संसार अंधेरे वन के समान है। यहाँ जप, तप भजन रूप जो साधन हैं वे ही रत्नों के समान हैं। इस संसार में इन रत्नों का स्वरूप और मूल्य प्रतीत नहीं होता, इसी से संसारी जीव इन्हें ग्रहण नहीं करते और बड़ी चतुराई प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस संसार के प्रत्यक्ष सुख को छोड़कर परलोक के परोक्ष सुख के लिये क्यों प्रयत्न करें—नकद को छोड़कर उधार के पीछे क्यों भटकें ? ऐसे लोग परलोक में निःसन्देह दुःखी होंगे और पुकार-पुकार कर कहेंगे कि साधन करनेवाले ही परम सुख के अधिकारी हैं। वहाँ उनका सुख देखकर इन्हें बड़ी जलन होगी, क्योंकि जिन पुरुषों ने साधन करके इस लोक में भगवान् का प्रेम और परिचय प्राप्त किया है उन्हें परलोक में प्रभु ऐसा परम सुख प्रदान करेंगे कि जिस नित्य सुख के एक लव की तुलना भी माया के सारे भोग मिलकर नहीं कर सकते। वस्तुतः वह आत्मसुख ऐसा अद्भुत और अपार है कि उसके साथ किसी प्रकार के सुख का दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। वह तो सम्पूर्ण सुखों का सार

सर्वस्व ही है। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई जौहरी कहे कि इस रत्न का मूल्य सौ मुहर है, तो इसका यह अर्थ तो नहीं होता कि उसका आकार या भार सौ मुहरों के समान है। उसका तात्पर्य तो यही है कि मानो यह रत्न सौ मुहरों के सोने-चाँदी का सार है। इसी प्रकार आत्मसुख को जो सम्पूर्ण इन्द्रिय-सुखों से श्रेष्ठ बताया है वह आकार-प्रकार में उनके समान होने से नहीं, अपितु उन सब का सार होने से कहा है। वह सबका सार है इसी से उसका यहाँ विशेष रूप से विवेचन किया है।

इस प्रकार अब तुम तीन प्रकार की सूक्ष्म अग्नि को तो समझ गये। इसके साथ यह भी निश्चत जानो कि इन सूक्ष्म अग्नियों का दाह स्थूल अग्नि की अपेक्षा अत्यन्त तीक्ष्ण है। देखो, शरीर को स्वतः तो अपने दुःख का कोई ज्ञान होता नहीं है, शारीरिक दुःख का भान भी तभी होता है जब जीव की वृत्ति शरीर में होती है। इस प्रकार परम्परा से जीव ही शरीर के दुःख को अनुभव करनेवाला है। फिर जो दुःख स्वयं जीव में ही हो वह उसे कितना तीक्ष्ण जान पड़ेगा। अतः जीव के भीतर रहने वाली होने से सूक्ष्म अग्नियाँ उसके लिये अत्यन्त दुःसह हैं। इस दुःख की दुःसहता का एक विशेष कारण यह भी है कि इस स्थिति में जीव की प्रत्येक अभीष्ट वस्तु का तो वियोग हो जाता है और विपरीत परिस्थिति सामने आ जाती है। यही शारीरिक दुःखों का भी कारण होता है। जैसे शरीर को इष्ट तो यह है कि वात-पित्तादि सब तत्त्वों की वृत्ति समान रहे तथा शरीर के सब अंगों का पारिस्परिक सम्बन्ध भी बना रहे। किन्तु यदि अकस्मात् किसी विघ्न या शस्त्र के प्रहार से कोई अंग कट जाय तो अंगविच्छेद होने के कारण शरीर दुःखी हो जाता है। तथापि शस्त्र से तो केवल एक ही अंग का वियोग होता है, अग्नि से तो सभी अंग जलने लगते हैं। अतः शस्त्रों की अपेक्षा अग्नि से होनेवाली पीड़ा अधिक असह्य होती है। इसी प्रकार जीव को

इष्ट तो है भगवद्दर्शन और भगवत्परिचय, किन्तु वह इनसे तो वञ्चित रह जाता है और अनेकों प्रकार की विपरीत वासनाएँ उसके हृदय में घर कर लेती हैं। इसलिये जब वासना की सामग्री का वियोग होता है तो यह अत्यन्त दुःखमग्न हो जाता है और फिर उस दुःख का कभी अन्त भी नहीं होता। संसार में भी जब कभी इसे कुछ चेत होता है तो इस दुःख का कुछ अनुमान हो जाता है, परन्तु यहाँ माया के भोगों में फँस कर यह ऐसा शून्य-चित्त हो जाता है कि इसे कुछ भी नहीं सूझता। फिर जब परलोक में उस विषयजनिन शून्यता का अभाव हो जाता है तो इसे वह दुःख प्रत्यक्ष भासने लगता है। जैसे अर्द्धाङ्ग रोग के कारण यदि किसी पुरुष का बायाँ अङ्ग शून्य हो जाय तो उसे अग्नि का ताप प्रतीत नहीं होता पर जब वह शून्यता निवृत्त हो जायगी तो उसे उसकी तीक्ष्णता व्याकुल कर देगी। अतः परलोक में जब इसके हृदय की जड़ता दूर होगी तो इसे यह मानसी नरक की आग अत्यन्त तीक्ष्ण और उग्र प्रतीत होगी।

यह हृदयस्थ अग्नि कहीं बाहर आकर जीव को नहीं जलाती। इसका बीज तो पहले से ही जीव के अन्तर स्थित था। केवल परिचय न होने के कारण यह उसे नहीं जानता था। जब यह बीज बढ़कर वृक्ष हो गया तो इसे प्रत्यक्ष भासने लगा। और अब तो यह उसके फलों को भोग रहा है। इसी पर भगवान् ने भी कहा है कि यदि तुम्हारी प्रीति दृढ़ होती तो तुम नरक को यहाँ ही प्रत्यक्ष देख सकते थे। शास्त्रों में जो स्थूल स्वर्ग और स्थूल नरकों का विशेष वर्णन है इसका कारण यही है कि संसारी जीव तो इन्हीं को समझ सकते हैं। ये लोग जब मानसी नरकों की बात सुनते हैं तो बुद्धिहीनता के कारण उन्हें बहुत तुच्छ समझते हैं। जैसे किसी बालक से कहो कि तू विद्या पढ़, यदि विद्या नहीं पढ़ेगा तो तुझे पिता का ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होगा, मूर्ख ही बना रहेगा—तो

उस पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि पिता का ऐश्वर्य न मिलने से क्या दुःख होता है इसका उसे कुछ पता ही नहीं है। किन्तु यदि उससे कहा जाय कि तू विद्या नहीं पढ़ेगा तो अध्यापक-जी तेरे कान मलेंगे, तो वह भयभीत हो जाता है और यह दुःख तत्काल उसकी समझ में आ जाता है। तथापि विद्या न पढ़ने-पर अध्यापक जी के द्वारा ताडित होने का दुःख भी सत्य है और पिता के ऐश्वर्य से वञ्चित रहने का भी। इसी प्रकार स्थूल नरक भी सत्य हैं और मूर्खतावश भगवद्दर्शन से वञ्चित रहने की अग्नि भी सत्य है। किन्तु इनमें भगवद्दर्शन से वञ्चित रहने की आग ऐसी है जैसा पिता के ऐश्वर्य से वञ्चित रहने का दुःख।

—:o:—

नवीं किरण

मानव जीवन की चार मंजिलों का वर्णन

प्रश्न—आप कहते हैं कि मानसी नरकों को अनुभव की दृष्टि से ही देख सकते हैं और विद्वानों का कथन है कि शास्त्रों ने परलोक के विषय में विश्वास को ही प्रमाण माना है, वे कहते हैं कि अपनी दृष्टि से परलोक को देखना असम्भव है। सो इस विरोध का सामञ्जस्य कैसे किया जाय ?

उत्तर—इस विषय पर पहले भी कहा जा चुका है। यदि ध्यान देकर देखा जाय तो इनमें कोई विरोध भी नहीं है। शास्त्र में जिस प्रकार परलोक का वर्णन किया है सामान्यतया उसका ज्ञान विश्वास के आधार पर ही हो सकता है। विद्वानों में भी बहुत तो ऐसे ही हुए हैं जिनकी बुद्धि इन्द्रियदेश से बाहर नहीं गयी, चैतन्य देश को उन्होंने देखा ही नहीं था। किन्तु कुछ बुद्धिमान् ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने परलोक और मानसी नरकों को प्रत्यक्ष अनुभव की दृष्टि से देखा था। तथापि इस बात को उन्होंने इसलिये प्रसिद्ध नहीं किया कि अधिकांश लोग इस मानसी दुःख को समझ नहीं सकते तथा हर किसी की बुद्धि में ऐसा बल भी नहीं होता कि अल्पमति जीवों को चैतन्यदेश का रहस्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष दिखा सके। इसे तो जिस पर भगवान् की विशेष कृपा होती है वह स्वयं ही देखता है और युक्तिपूर्वक दूसरों को समझा भी सकता है। किन्तु ऐसे पुरुष संसार में विरले ही होते हैं। अतः स्थूल नरकों का भेद तो सामान्यतया शास्त्रों को सुन कर और उन पर

विश्वास करके ही जान सकते। किन्तु मानसी नरकों का ज्ञान अपने स्वरूप की पहचान होने पर ही हो सकता है। तथा अपने स्वरूप की पहचान और बुद्धिरूप नेत्रों के द्वारा चैतन्य का साक्षात्कार—ये पुरुषार्थ और यत्न के मार्ग से चलने पर ही हो सकते हैं। अतः इस परम पद को वही पाता है जो अपने देश से चल कर किसी अन्य देश में पहुँचे और जिस स्थान में यह जीव उत्पन्न होकर स्थित है उसे त्याग कर आगे चलने का उद्यम करे।

किन्तु यह जो मैंने अपने देश और स्थान को त्यागने की बात कही है, इसका यह अर्थ यह नहीं है कि किसी स्थूल देश या गृह को त्याग कर चलना है, क्योंकि इनका सम्बन्ध तो स्थूल शरीर से है, अतः इन्हें त्यागने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। मैंने तो जीव के देश त्यागने की एक विशेष बात कही है। उसका तात्पर्य यह है कि जीव का वास्तविक देश तो दूसरा है, इस शरीर में तो यह किसी कार्यविशेष के लिये आया है। किन्तु इसने इसे ही अपना देश समझ लिया है। ऐसा होने पर भी इसे इस स्थूलदेश से जाना और सूक्ष्म देश में पहुँचना अवश्य पड़ेगा। इसके रास्ते में कई मंजिलें हैं और उनके भिन्न-भिन्न व्यवहार हैं। इसकी स्थिति का पहला स्थान है इन्द्रियादिक देश, दूसरी मञ्जिल है सङ्कल्प-देश और तीसरा देश सङ्कल्प की हेतुभूता जगत्प्रतीति है, जिसे स्थूल बुद्धि भी कहते हैं। इससे आगे चौथा सूक्ष्म बुद्धि का देश है। जब यह जीव इस सूक्ष्म देश में पहुँचता है तब इसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है पहले तीन देशों में तो यह अज्ञान से आच्छादित रहता है।

मैंने जो चार मंजिलें कही हैं ये दृष्टान्तों के द्वारा समझ में आ सकती हैं। पहले इन्द्रियादिक देश में इस जीव की दशा पतंग की तरह होती है। पतंग नेत्रेन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर दीपक के ऊपर गिरता है। उसमें किसी प्रकार के संकल्प या चिन्तन

करने की तो योग्यता होती नहीं। वह चाहता है अन्धकार से बचने के लिये खिड़की के मार्ग से बाहर निकलना, और दीपक को ही वह खिड़की समझ बैठता है। इसलिये बार-बार उसी की ओर जाता है। धूएँ के कारण वह पीछे की ओर लौटता भी है, किन्तु उसमें इतनी समझ नहीं होती कि धूएँ के दुःख को याद रखे और पुनः उस ओर न जाय। अतः वह फिर दीपक ही की ओर जाता है और अन्त में उसी में जल मरता है। यदि उसमें कुछ भी स्मृति और चिन्तनशक्ति होती तो एक बार दुःख पाकर वह पुनः उसकी ओर न जाता।

दूसरा संकल्प का देश पशुओं की तरह है। पशु को जब एक बार लाठी लगने के दुःख का अनुभव हो जाता है तो दूसरी बार लाठी दिखानेपर वह भयभीत होता है। उसे उस लाठी का दुःख स्मरण रहता है। इसी प्रकार जब यह मनुष्य संकल्प के देश में रहता है तो इसकी अवस्था पशुओं के समान होती है। इसी से जब तक यह किसी पदार्थ से दुःखी नहीं होता तब तक उसका त्याग भी नहीं करता। परन्तु जब उसके दुःख का अनुभव हो जाता है तो उसे देखते ही भागने लगता है।

तीसरी मंजिल है स्थूल बुद्धि की, जो संकल्प की हेतु है। जब मनुष्य इस मंजिल में पहुँचता है तो उस की अवस्था घोड़े और बकरी के समान होती है। इस स्थिति में वह पहले दुःख का अनुभव किये बिना ही दुःखदायक पदार्थों से भय मानने लगता है और यह समझ जाता है कि इससे मुझे दुःख प्राप्त होगा। जैसे बकरी ने कभी पहले भेड़िये को और घोड़े ने सिंह को देखा न हो तो भी जब वे अकस्मात् इनके सामने आयेंगे तो ये देखते ही भगने लगेंगे। किन्तु ऊँट या हाथी को देखकर नहीं भागेंगे। इस प्रकार इस अवस्था में स्वभाव से ही शत्रु और मित्र की पहचान हो जाती है। यह पहचान भी सूक्ष्म दृष्टि से ही होती है

और भगवान् ने इन जीवों को वह सूक्ष्म दृष्टि प्रदान की है। परन्तु फिर भी ये इस भेद को नहीं जानते कि कल क्या होगा।

इस आगामी दुःख को पहचानना और उससे भय मानना—यह अवस्था चौथी मंजिल में प्राप्त होती है। यह मंजिल सूक्ष्म बुद्धि की है। मनुष्य जब इस अवस्था को प्राप्त होता है तभी पशुओं के पद से ऊपर उठता है। इससे पहले की तीन मंजिलों में तो वह पशुओं के समान ही होता है। किन्तु यह सूक्ष्म बुद्धि का देश भी सम्पूर्ण मानव के पद की प्रथम अवस्था ही है। इस समय यह उस चीज को देख सकता है जिस तक इन्द्रिय, संकल्प और स्थूल बुद्धि की गति नहीं होती और जिस वस्तु से भविष्य में दुःख हो सकता है उससे भय करने लगता है। साथ ही कर्मों के सारे भेद को और उस भेद के कारण कर्मों के आकार-प्रकार को भी समझने लगता है। उसे सब पदार्थों की मर्यादा का भी बोध हो जाता है और वह समझता है कि इस दृश्य जगत् में जितने पदार्थ हैं वे सभी नाशवान् हैं, क्योंकि इन्द्रियों के विषय होने से ये सभी स्थूल हैं।

यहाँ जो चार मंजिलें बतायी गयी हैं इनमें इन्द्रियादिक देश की क्रियाएँ तो पृथ्वी पर चलने-फिरने के समान सभी के लिये सुगम हैं। संकल्प देश की क्रियाएँ ऐसी हैं जैसे नौका पर बैठकर चलना। नौका पर बड़े आदमियों को तो कोई भय नहीं होता, किन्तु बालक डरता है। इसके आगे स्थूल बुद्धि जो संकल्पों का कारण है उसकी क्रियाएँ तैरने के समान हैं। जल में वही आदमी तैर सकता है जो इस कला में कुशल हो, प्रत्येक सियाना आदमी भी तैर नहीं सकता। तथा चौथी जो सूक्ष्म बुद्धि की मंजिल है उसकी स्थिति मेघमण्डल में उड़ने के समान है। वहाँ कोई विरला शक्तिसम्पन्न पुरुष ही उड़ सकता है। यद्यपि इस अवस्था का प्राप्त होना भी अत्यन्त कठिन है, तथापि ज्ञानवान् महापुरुषों का पद

तो इससे भी परे है। उस परमपद की गति तो ऐसी है जैसे कोई महाकाश में उड़ान भरे। इसी से जब महापुरुष से किसी ने कहा कि महात्मा ईसा जल पर चलते थे, तो वे बोले, "यह बात सत्य है, किन्तु यदि उनका अनुभव अत्यन्त दृढ़ होता तो वे आकाश में भी उड़ सकते थे।"

इस प्रकार इस मनुष्य की जो इन सब मंजिलों में गतियाँ हैं उनका लक्ष्य तो ज्ञान का ही देश है। इन विभिन्न गतियों के द्वारा यह पशुओं की अवस्था से देवताओं की स्थिति में पहुँच सकता है। इसी से कहा है कि अधोगति या ऊर्ध्वगति में जाने का अधिकार केवल मनुष्य को ही है और इसलिये मनुष्य में ही यह आशंका रहती है कि न जाने मैं अधोगतिरूप रसातल में जाऊँगा या देवलोकरूप ऊर्ध्वगति प्राप्त करूँगा। इसका कारण यह है कि जितने जड़ पदार्थ हैं उनकी अवस्था तो कभी बदलती नहीं, क्योंकि उनमें चेतनता का अभाव है, इसलिये वे निर्भय हैं। तथा देवता हैं ईश्वर कोटि में, वे अपने शुद्ध स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते, इस लिये उन्हें भी किसी प्रकार के उत्थान या पतन की आशंका नहीं है। केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो शुभकर्मों के द्वारा ऊर्ध्वगति और अशुभ कर्मों के द्वारा अधोगति प्राप्त कर सकता है। इसलिये उसे ही ऐसी शंका भी रहती है। तथा यह जो कहा है कि भगवान् ने अपनी भक्ति और प्रेम की अमानत (धरोहर) मनुष्य को ही सौंपी है, उसका भी यही तात्पर्य है।

परन्तु मनुष्य भी नगरनिवासी और परदेशी की तरह दो प्रकार के होते हैं। इन दोनों की स्थितियों में बहुत अन्तर रहता है। अधिकाँश लोग तो नगरनिवासियों की तरह अपने स्वभाव में ही स्थित रहते हैं। परदेशी की तरह रहनेवाले जिज्ञासुजन तो विरले ही हैं। जिस पुरुष की स्थिति इन्द्रियादिक देश या संकल्पों के देश में ही रहती है उसे यथार्थ भेद की समझ प्राप्त नहीं हो

सकती और न वह देहातीत पद को ही प्राप्त कर सकता है। इसी से शास्त्रों में भी चैतन्य सत्ता का विशेष वर्णन नहीं है। अतः मैं भी इस प्रकरण को यहीं समाप्त करता हूँ। स्थूल बुद्धि पुरुष तो इतना भी नहीं समझ सकते, फिर इससे आगे का रहस्य तो उनकी बुद्धि कैसे ग्रहण कर सकती है।

—:०:—

दसवीं किरण

परलोक में विश्वास रखने की आवश्यकता

कितने ही मनुष्य तो ऐसे मूर्ख होते हैं कि वे परलोक की गति को अपनी बुद्धि से तो देख नहीं सकते और सन्तों के वचनों में भी उनका विश्वास नहीं होता, इसलिये इस विषय में वे संदिग्ध ही रहते हैं, तथा भोगवासनाओं की प्रबलता के कारण परलोक को अस्वीकार भी कर देते हैं। यह सब उनके मन की ही धृष्टता है। वे समझते हैं कि सन्तों ने नरकों का वर्णन जीवों को डराने के लिये किया है और स्वर्गों का उल्लेख उन्हें प्रलोभित करने के लिये, वास्तव में नरक या स्वर्ग नाम की कोई चीज नहीं है। ऐसा मानकर वे भोगों में आसक्त रहते हैं और संतों की आज्ञा के विपरीत आचरण करते हैं। जो लोग शास्त्रमर्यादा का अनुसरण करते हैं उन्हें वे मूर्ख समझ कर हँसते हैं और कहते हैं कि ये तो मर्यादा की डोरी में बँधे हुए हैं। ऐसे बुद्धिहीन नास्तिक पुरुषों को परलोक की गति किसी प्रकार समझायी नहीं जा सकती। हाँ, यदि उनमें से किसी की कुछ श्रद्धा हो तो ऐसा कह सकते हैं कि भाई! यदि तुम्हारी बात सच मानी जाय तो अनेकों संत और आचार्यगण, जिन्होंने बड़ी बड़ी तपस्याएँ की हैं, झूठे हो जायेंगे। वे क्या सब धोखे ही में थे। यह विषय तो अत्यन्त गुह्य है, तुमने बिना ही कुछ साधनादि किये इसके विषय में कैसे निर्णय कर लिया? इस विषय में तुम्हारा विचार कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है। वास्तव में वे लोग न तो झूठे हैं और न धोखे ही में

थे, इस विषय में तो तुम्हीं अनभिज्ञ हो। तुम्हें न तो परलोक के रहस्य का पता है और न आत्मा-अनात्मा का विवेक ही है।

इस पर भी वह मूर्ख अपनी भूल स्वीकार न करे और हठपूर्वक कहने लगे कि हमें तो इस बात का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान है कि इस समय भी शरीर में उससे भिन्न किसी चेतनतत्त्व को मानना सर्वथा मिथ्या है तथा मरने के पीछे भी उसका नाश नहीं होता यह बात भी कोरी कपोल-कल्पना है, क्योंकि शरीर के सब व्यापार तो प्राणवायु के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, अतः परलोक के सुख-दुःख कल्पनामात्र ही हैं। जब किसी का ऐसा निश्चय जान पड़े तो समझो कि इसकी बुद्धि तो मूल से ही नष्ट है। वह तो महामूर्ख है, उसे समझाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। इसी पर किसी सन्त को आकाशवाणी हुई थी कि तुम नास्तिकों को उपदेश मत करो, क्योंकि ये मूर्ख वचनों से समझनेवाले नहीं होते। किन्तु जब वह इस प्रकार प्रश्न करे कि परलोक की बात होगी तो निःसन्देह सत्य, किन्तु हमारे लिये तो वह बहुत आगे की चीज है, क्योंकि वह हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष तो है नहीं, फिर ऐसी अनिश्चित स्थिति के पीछे वर्तमान भोगों को क्यों त्यागें तथा सारी आयु वैराग्य और तपस्या का दुःख ही क्यों सहें? तो उससे इस प्रकार कहना चाहिये, "भाई, यदि तुम्हें परलोक की बात माननेयोग्य जान पड़ती है तो तुम्हारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि सन्तों की निश्चित की हुई मर्यादा के अनुसार आचरण करो, क्योंकि जिस कार्य में किसी भारी भय की आशंका हो उसे तो संदिग्ध होने के कारण भी त्यागना अच्छा है। देखो, यदि तुम्हारे सामने भोजन आवे और तुम्हें भूख भी खूब लगी हो, किन्तु यदि कोई कह दे कि इस भोजन में सर्प ने मुँह डाला है, तो तुम उसे त्याग दोगे या नहीं? उस समय तुम्हें ऐसा भी निश्चय हो कि यह आदमी झूठा है, इसलिये अपने

किसी लाभ के लिये ही ऐसा भय दिखाता होगा, तो भी तुम उस भोजन को अंगीकार नहीं करोगे। कारण कि, तुम्हें सन्देह होता है कि सम्भव है, वह सच ही कह रहा हो, इसलिये भोजन छोड़ने में हानि भी क्या है, मरने की अपेक्षा तो भूखा रह जाना भी अच्छा है। अतः भोजन में मृत्यु की सम्भावना देख कर तुम भूखे रह जाते हो। इसी प्रकार जब तुम्हें कोई रोग हो और तुम से कोई कहे कि मैं एक यन्त्र लिख दूँगा, बस, उससे तुम्हारा रोग दूर हो जायगा, तो उस समय यद्यपि तुम्हें पूरा विश्वास नहीं होता और तुम समझते हो कि यन्त्र और रोग का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी सोचते हो कि यदि थोड़ा-सा धन देकर मैं यन्त्र लिखवा ही लूँगा तो हानि क्या है? सम्भव है, इससे रोग दूर हो ही जाय। यदि रोग मिट गया तो बड़ा भारी लाभ होगा। इसी प्रकार ज्यौतिषियों की बात मान कर तुम देवपूजन भी कर लेते हो। यहाँ भी तुम यही सोचते हो कि यदि इसकी बात ठीक हुई तो मुझे बड़ा भारी सुख प्राप्त होगा और यदि झूठ हुई तो देव पूजन में ऐसा परिश्रम भी क्या पड़ता है? जब ऐसी बात है तो उन ज्यौतिषी और यन्त्र लिखनेवालों की अपेक्षा उत्कृष्ट जो असंख्य-सन्तजन, अवतार, महापुरुष, आचार्य और अवधूत हो गये हैं, उनके वचन बुद्धिमानों की दृष्टि में तुच्छ तो नहीं होने चाहिये। इसी से जिज्ञासुजन विश्वास करके यत्नपूर्वक सन्तों के वचनों पर स्थित रहते हैं और निःसन्देह परलोक के दुःखों से मुक्त हो जाते हैं।

"और तुमने जो वैराग्यादि के दुःखों की बात कही, सो परलोक के दुःखों के सामने तो वे अत्यन्त तुच्छ हैं। भला, सोचो तो, इस जगत् में जीना ही कितने दिन है? परलोक की अवस्था का तो कभी अन्त ही नहीं आता। अतः परलोक के दुःख से मुक्त होने के लिये इस जगत् में जो यत्न किया जाता है उस दुःख

की गणना ही क्या है, वह तो केवल नाममात्र है । अतः इस जीव को चाहिये कि सन्तों के वचनों में विश्वास रखे और समझे कि यदि मैं उनके आदेश का उल्लङ्घन करूँगा तो चिरकाल तक दुःख भोगता रहूँगा और उन दुःखों से मेरा किसी प्रकार छुटकारा नहीं होगा। इन्द्रियादि के भोग तो कुछ ही समय में नीरस हो जाते हैं, इनसे मुझे क्या लाभ होगा ? परलोक का दुःख तो अनन्त है। यदि सारे ब्रह्माण्ड को राई के दानों से भर दिया जाय और उन्हें कोई ऐसा पक्षी भक्षण करे जो हजार वर्षों में एक ही दाना खाता हो, तो कभी न कभी उस अन्न का अन्त तो हो सकता है, किन्तु परलोक के दुःख का अन्त कभी नहीं होगा। ऐसा अनन्त दुःख चाहे मानसिक हो अथवा स्थूल उसे सहन करना बड़ा ही कठिन है । उस दुःख के सामने इस संसार में जीव की आयु ही कितनी है? अतः जो बुद्धिमान् है वह समझता है कि विचारपूर्वक मर्यादा में चलना और दोषदृष्टि के द्वारा अपकर्मों को त्यागना ही उचित है, क्योंकि जिस कार्य में महान् कष्ट की सम्भावना हो उससे तो अनुमान के आधार पर बचे रहना भी अच्छा है। ऐसा करने में कुछ कष्ट भी उठाना पड़े तो भी कोई हानि नहीं। देखो, सब लोग व्यवहार-सिद्धि के लिये जहाजों पर बैठ कर विदेशों को जाते हैं, वहाँ भी उन्हें अनुमान का ही आश्रय लेना पड़ता है। इसलिये जिस पुरुष का परलोकवाद में पूरा विश्वास न हो, केवल अनुमान से ही उसमें कुछ आस्था होती हो, उसे भी वहाँ के दारुण दुःखों से बचने के लिये धैर्यपूर्वक वैराग्यादि का कष्ट सहन करना ही चाहिये। इस विषय में किसी नास्तिक की महात्मा अली के साथ बात चीत हुई थी। जब उसने कहा कि परलोक के सुख-दुःख तो सब लोग अनुमान के आधार पर ही मानते हैं, किसी ने उन्हें प्रत्यक्ष नहीं देखा, तो अली कहने लगे, 'अच्छा, यदि तेरा ही कथन सत्य हो तब तो हम और तू

दोनों ही मुक्त हो जायेंगे; और यदि मेरी बात ठीक हुई कि परलोक है तो हम तो मुक्त हो जायेंगे, किन्तु तुझे अनन्तकाल तक परलोक का कष्ट भोगना पड़ेगा।' अली ने जो यह सन्देहयुक्त वाक्य कहा था वह केवल उस नास्तिक की बुद्धि में बिठाने के लिया था, स्वयं उन्हें परलोक की सत्ता के विषय में कोई सन्देह नहीं था। किन्तु वे समझते थे कि जिस प्रकार हम परलोक को भली भाँति देख सकते हैं वैसे यह मूर्ख तो देख नहीं सकता, इसलिये उन्होंने उसी के मत को सामने रख कर उसे शुभ कर्मों में प्रवृत्त करने की चेष्टा की।"

अतः याद रखो, जो लोग इस संसार में आकर परलोक के लिये तोशा नहीं बनाते, बल्कि अन्यान्य कार्यों में लगे रहते हैं वे निःसन्देह अत्यन्त मूर्ख हैं। उनकी इस मूर्खता का कारण विषयों की प्रीति ही है। वे विषयासक्ति में ऐसे डूबे रहते हैं कि कभी परलोक के विषय में विचार ही नहीं करते। किन्तु जिन्हें परलोक में विश्वास है उन्हें तो वहाँ के दुःखों से भयभीत होना ही चाहिये तथा संयम और सावधानी के मार्ग से ही चलना चाहिये।

इस प्रकार जब तुमने इन चार उल्लासों में अपने, भगवान् के, माया के और परलोक के स्वरूपों की पहचान के विषय में अनुशीलन करके यह जाना कि इस जीव की भलाई सर्वथा श्री भगवान् के भजन और उनकी पहचान ही में है तो आगे भगवान् के भजन और उनकी आज्ञापालन के विषय में भी श्रवण करना चाहिये। इन विषयों का आगे के चार उल्लासों में वर्णन किया जायगा और इनके वर्णन में ही यह ग्रन्थ समाप्त होगा। अतः आगे के उल्लासों में जिन विषयों का वर्णन होगा उनका विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

पंचम उल्लास—भगवान् के भजन और सत्कर्मों में स्थित होना।

षष्ठ उल्लास—समस्त शारीरिक क्रियाओं को विचार की मर्यादानुसार करना।

सप्तम उल्लास—चित्त के मलिन स्वभावों का शोधन।

अष्टम उल्लास—हृदय को सत्स्वभावों से सम्पन्न करना।

—:०:—

[५]

पञ्चम उल्लास

(भगवान् के भजन और सत्कर्मों में स्थित होना)

पहली किरण

भगवान् के स्वरूप, ऐश्वर्य और गुणों का वर्णन

सब कोई कहते हैं कि भगवान् एक हैं। अतः सब जीवों का इतना ही अधिकार है कि इस बात को समझें और इस पर ऐसा विश्वास जमावें कि उसमें किसी भी प्रकार के भ्रम या संशय का तनिक भी प्रवेश न होने पावे। जब इस प्रकार चित्त में निश्चय हो गया और उसमें बाल के बराबर भी सन्देह नहीं रहा तो इसी को सद्धर्म का मूल मानना उचित है। विद्याध्ययन और प्रश्नोत्तर करने का अधिकार हर किसी को नहीं है। इसी से सन्तों और महापुरुष ने भी हृदय की सचाई और विश्वास की दृढ़ता रखने का ही उपदेश किया है। और इसी को संसारी पुरुषों का अधिकार बताया है। ऐसे भी बहुत विद्वान् होते हैं जो वचनों का रहस्य समझते हैं, उसे युक्तिपूर्वक दूसरों को समझा भी सकते हैं और प्रश्नों का उत्तर देकर लोगों के संशयों को भी दूर कर सकते हैं। उन्हीं को 'पण्डित' कहा जाता है। ऐसे विद्वान् संसारी लोगों के विश्वास की रक्षा करनेवाले हैं। किन्तु पहचान का रहस्य और पहचान का वास्तविक स्वरूप केवल पण्डित या वक्ता होने से तथा संसारी पुरुषों की दृष्टि में अनुभवी कहाने से सर्वथा भिन्न है। उसका मार्ग तो पुरुषार्थद्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जब तक यह पुरुष परमार्थ के मार्ग में दृढ़ पुरुषार्थ और यत्न न करे तब तक पहचान की पूर्ण अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। साथ ही, उसे इसका अभिमान भी नहीं होना चाहिये। तथा ऐसे

पुरुष के लिये अधिक पढ़ना-लिखना और शास्त्रविचार भी निष्फल ही होता है। यही नहीं प्रत्युत कुछ विपरीत ही पड़ता है। जैसे कोई रोगी पुरुष औषध सेवन तो करे, किंतु कुपथ्य न त्यागे, तो अधिकतर तो उसकी मृत्यु ही हो जायगी, अन्यथा रोग तो बढ़ ही जायगा, क्योंकि बिना पथ्य किये तो औषध से भी रोग ही बढ़ता है। इसीसे मैंने पहचानने के विषय में चार उल्लास पहले ही वर्णन कर दिये हैं।

किन्तु इस वचन के रहस्य को ठीक-ठीक वही पुरुष जान सकता है जिसकी माया के किसी पदार्थ में आसक्ति न हो और जो अपनी सारी आयु भगवान् के प्रेम में ही व्यतीत करता हो। इस परमपद का पाना वास्तव में अत्यन्त दुर्लभ है, यह कठिन प्रयत्न करने पर ही प्राप्त हो सकता है। अतः मैं सब जीवों के अधिकार की बात का उपदेश करता हूँ, इसे सभी को अपने हृदय में दृढ़तापूर्वक धारण करना चाहिये। यह विश्वास ही उनके सद्भावों का बीज होगा।

(भगवान् का स्वरूप)

याद रखो, तुम उत्पन्न किये हुए हो और तुम्हें उत्पन्न करनेवाले भगवान् हैं तथा वे ही सम्पूर्ण विश्व के भी उत्पत्तिकर्ता हैं। वे एक हैं, उनके समान और कोई समर्थ नहीं है और वे भी किसी के सदृश नहीं कहे जा सकते। वे अनादि और अनन्त हैं, कभी उनका अन्त नहीं होता। वे सत्यरूप हैं, कभी उनकी असत्यता नहीं होती तथा वे स्वतःसिद्ध हैं, अन्य सब पदार्थों की स्थिति उन्हीं के आश्रित है। तात्पर्य यह है कि वे किसी के अधीन नहीं है। किंतु अन्य सब पदार्थ उन्हीं के अधीन हैं। उनका स्वरूप सब से निर्लिप्त है, अतः उसे किसी का कारण या कार्य नहीं कह सकते, तथा वह देह के बन्धन से भी रहित है। उनके स्वरूप की

समता किसी भी रूप या आकार से नहीं दी जा सकती। वे रूप और रंग से परे हैं, अतः मनुष्य के संकल्प में जो कुछ आता है उससे वे विलक्षण ही हैं। संकल्प और बुद्धि में आनेवाले तो सारे पदार्थ उनके उत्पन्न किये हुए हैं और उनका स्वरूप उत्पन्न हुई सभी वस्तुओं से भिन्न है। उनमें किसी प्रकार की मर्यादा अथवा घटना-बढ़ना भी नहीं है, क्योंकि ये शरीर के स्वभाव हैं और भगवान् अशरीर हैं। अतः उन्हें न तो किसी स्थान में कहा जा सकता है और न किसी स्थान से परे ही कह सकते हैं। वास्तव में उनका स्वरूप स्थान की कोई अपेक्षा ही नहीं रखता, और न वह किसी स्थान को ग्रहण करनेवाला ही है, क्योंकि देहादि के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यह सारी सृष्टि तो ईश्वरों (अधिष्ठातृ देवताओं) के अधीन है और वे ईश्वर प्रभु के अधीन हैं। भगवान् को जो वैकुण्ठ[1] में बताया जाता है उसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि जैसे कोई स्थूल शरीर किसी स्थूल देश में रहता है, क्योंकि वे स्थूल तो हैं ही नहीं। इसका तात्पर्य यही है कि वैकुण्ठ और वैकुण्ठवासी सब देवता उनकी शक्ति के अधीन हैं।

भगवान् जैसे सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व थे वैसे ही अब हैं और सृष्टि का अन्त होने पर भी वैसे ही रहेंगे। अतः वे एक रस हैं, उनके स्वरूप में किसी प्रकार का परिणाम होकर घटना-बढ़ना कुछ नहीं होता। यदि वे घटें तो उन्हें भगवान् कह ही नहीं सकते और यदि बढ़ें तो पहले कुछ न्यूनता माननी होगी, इसलिये भी उन्हें भगवान् नहीं कहा जा सकता, अतः वे नित्य एकरस हैं। उनका स्वरूप सारी सृष्टि से निर्लेप है, पर तो भी इस लोक में बुद्धि के

१. वैकुण्ठ का अर्थ यहां मुस्लिम शास्त्रप्रोक्त चौथा आसमान समझना चाहिये।

द्वारा उसकी पहचान हो सकती है और परलोक में देहादि का अभिमान दूर होने पर उनका दर्शन हो सकता है। किन्तु जिस प्रकार बुद्धि के द्वारा वे रूप-रंग से रहित समझे जाते हैं उसी प्रकार परलोक में उनका दर्शन भी रूप-रंग से रहित ही होता है। स्थूल दर्शन की तरह उनका दर्शन नहीं होता।

(शक्ति और सामर्थ्य)

भगवान् का सामर्थ्य भी पूर्ण है, उनमें किसी प्रकार की दीनता अथवा पराधीनता के लिये अवकाश नहीं है। उन्होंने जो चाहा है वह किया है और भविष्य में भी वे जो चाहेंगे वही करेंगे चौदह लोक और वैकुण्ठादि नित्यधाम उन्हीं की मायाशक्ति के अन्तर्गत हैं और उन्हीं की आज्ञा का अनुवर्तन करते हैं। उनमें और ऐसे किसी का भी कोई अधिकार नहीं है जो स्वयं अपनी कोई शक्ति रखता हो। इसी से कोई भी उनके समान, उनसे बढ़ कर अथवा उनका प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।

(ज्ञान)

इसी प्रकार उनका ज्ञान भी पूर्ण है। वे स्वयं अपने ज्ञान से ही सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता हैं। जहाँ जो कुछ जाननेयोग्य है उसे वे पहले से ही जानते हैं। सम्पूर्ण पदार्थों में उन्हीं का ज्ञान ओत-प्रोत है। आकाश और पाताल में कोई भी पदार्थ उनके ज्ञान से बाहर नहीं है, क्योंकि सब उन्हीं के उत्पन्न किये हुए हैं और उन्हीं में स्थित हैं। इसी से पृथ्वी के रजःकण, वृक्षों के पत्ते, जीवों के श्वास और हृदयों के संकल्प आदि सभी पदार्थ प्रभु के संकल्प में इसी प्रकार हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष भास रहे हैं जैसे हमारी दृष्टि में आकाश और पृथ्वी।

(इच्छा)

संसार में जो कुछ है सब उन्हीं की इच्छा और आज्ञा

अधीन है। सूक्ष्म-स्थूल, लघु-दीर्घ, विधि-निषेध, पुण्य-पाप, सम्मुखता-विमुखता, लाभ-हानि, सुख-दुःख, रोग-आरोग्य और धनिकता-निर्धनता आदि जितने भी द्वन्द्व हैं वे प्रभु की इच्छा और आज्ञा के बिना कभी नहीं वर्तते। अतः यदि भूत, प्रेत, मनुष्य, देवता आदि सारे जीव भी मिलकर भगवान् की रचना में कोई हेर-फेर करना चाहें तो वे उनकी आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं कर सकते। वे उनके सामने सर्वथा असमर्थ हैं। जो कुछ प्रभु करना चाहते हैं वही होता है और जो वे नहीं करना चाहते वह नहीं हो सकता। उनकी आज्ञा ऐसी प्रबल है कि उसे कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। इसी से भूत, भविष्य और वर्तमान में जितने पदार्थ हैं वे सब उन्हीं की सत्ता और ज्ञान के आधार पर स्थित हैं।

(श्रवण और दृष्टि)

वे सब कुछ देखते, सुनते और जानते हैं। उनके सुनने में दूर और समीप का तथा उनके देखने में प्रकाश और अन्धकार का भी कोई भेद नहीं है। अर्थात् दूरी या अन्धकार से उनके सुनने या देखने में कोई बाधा नहीं पड़ती। अँधेरी रात हो अथवा दिन वे पृथ्वी पर चलती हुई चींटी को भी देखते हैं और उसके पैरों की ध्वनि को भी सुनते हैं। तथापि उनका सुनना या देखना भी किसी संकल्प या विचार के अधीन नहीं है, वह स्वाभाविक ही है। तथा वे किसी आरम्भ या सामग्री के द्वारा उत्पत्ति भी नहीं करते।

(भगवद्वचन)

उनकी आज्ञा मानना समस्त जीवों का परम कर्त्तव्य है, क्योंकि उन्होंने जो कुछ कहा है वह निःसन्देह सत्य है। किन्तु उनकी आज्ञा का उच्चारण रसना, ओष्ठ, दन्त अथवा कण्ठ के द्वारा नहीं होता। जैसे जीव के मन में कोई संकल्प स्फुरित

होता है तो उसमें कोई शब्द या अक्षर का उच्चारण नहीं होता, वह स्फुरण सूक्ष्म और अखण्ड होता है। उसी प्रकार भगवान् का वचन तो उसकी उपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है। अतः सन्तों के हृदय में जो आकाशवाणी हुई है वह सब भगवान् का ही वचन है। उसका प्राकट्य परा वाणी से होता है और फिर वही संतों के मुखों से संसार में प्रकट होता है। वे वचन भगवान् के विशुद्ध स्वभाव ही हैं और उनके सभी स्वभाव अनादि एवं अनन्त हैं। जैसे भगवान् के स्वरूपज्ञान का प्रतिविम्ब जीवों की बुद्धि में प्रतिफलित होता है और उनकी रसनाद्वारा प्रभु की स्तुति होती है, सो इनमें जाननेवाली बुद्धि तो उत्पन्न की हुई है, किन्तु भगवान् का स्वरूप उत्पन्न किया हुआ नहीं है। इसी प्रकार रसना से जो प्रभु की स्तुति करते हैं वह स्तवन तो उत्पन्न किया हुआ है, किन्तु जिनकी स्तुति की जाती है वे प्रभु अनादि और अनन्त हैं। ऐसे ही भगवान् के वचन भी, जो स्वतः उनके स्वभाव ही हैं, अनादि हैं। पर उन्हें प्रभु ने जीवों के हृदयों में छिपाकर रखा हुआ है। उन वचनों का जो वाणी से उच्चारण होता है और उन्हें जो कागज या पोथी में लिखते हैं, वह सब तो उत्पन्न किया हुआ है, किंतु हृदय में छिपा हुआ जो उन वचनों का स्वरूप है और पोथी में लिखी हुई जो बात है तथा रसना से उच्चारण किये हुए शब्दों का जो अर्थ है वह उत्पत्ति से रहित है। इसी से वेदों❀ के अक्षर, कागज और शब्द तो उत्पन्न किये हुए हैं किंतु उनमें निहित जो अर्थ है वह उत्पत्ति से रहित है, वह तो प्रभु का स्वभाव ही है।

(प्रभु की रचना)

मन और इन्द्रियों के द्वारा यह जो कुछ भासता है, सब भग-

❀ अथवा कुरान शरीफ के।

वान् की ही रचना है। इस कारीगरी को उन्होंने सर्वाङ्गपूर्ण बनाया है। इसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है। यदि किसी के चित्त में ऐसा संकल्प हो कि अमुक पदार्थ ऐसा नहीं बनाना चाहिये था तो यह उसकी मूर्खता ही है। जिस रहस्य को सामने रखकर प्रभु ने उसकी रचना की थी उस रहस्य और गुण को वह नहीं समझता। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई अन्धा किसी के घर में जाय और उस गृहस्वामी ने सब सामग्री यथास्थान रखी हो; किंतु न जानने के कारण वह अन्धा किसी वस्तु से ठोकर खाकर गिर जाय और कहने लगे कि तुमने यह चीज रास्ते में क्यों रख दी। यहाँ वह यह नहीं समझता कि चीज तो ठीक स्थान पर ही रखी है, मैं ही रास्ते से भटक गया हूँ। अतः भगवान् ने जो कुछ बनाया है वह सभी यथार्थ और विधिवत् है, जैसा चाहिये था वैसा ही है; क्योंकि यदि उसमें कोई और विशेषता होनी सम्भव हो और वह भगवान् ने नहीं की, तो इससे उनकी कृपणता या असमर्थता प्रकट होगी; और भगवान् के विषय में ऐसी कल्पना करना अत्यन्त अनुचित है। अतः निश्चित हुआ कि दुःख, रोग, निर्धनता, मूर्खता, पराधीनता आदि जो कुछ उन्होंने रचा है वह किसी यथार्थ उद्देश्य से ही है, क्योंकि उनके द्वारा अन्याय होना कभी सम्भव नहीं है। अधिकार न होनेपर भी दण्ड देना—इसका नाम है अन्याय, और प्रभु किसी को भी बिना अधिकार दण्ड नहीं देते। अन्याय तो वास्तव में वही कर सकता है जो पहले दूसरे के राज्य या प्रजा को अपने अधीन करे। भगवान् में तो यह बात सम्भव ही नहीं है, क्योंकि उनके साथ कोई दूसरा भी ईश्वर हो—यह सर्वथा असम्भव है। भूत, भविष्य और वर्तमान में जो कुछ सृष्टि है उस सबके उत्पत्तिकर्ता एक-मात्र भगवान् ही हैं। वे किसी के अधीन नहीं हैं, किसी के समान भी नहीं हैं और न उनके समान ही कोई और है।

(परलोक)

परमात्मा ने दो प्रकार की सृष्टि रची है—स्थूल और सूक्ष्म। इनमें देहादिरूप स्थूल सृष्टि जीव के लिये एक पड़ाव के समान बनायी है। यहाँ आकर जीव को अपना कार्य सिद्ध करना होता है। इसकी आयु भी निश्चित है, उसकी एक मर्यादा है। उसके बाद यह शरीर नष्ट हो जाता है। इसकी आयु निश्चित मर्यादा से न्यून अथवा अधिक नहीं हो सकती। अतः वह समय आने पर शरीर और जीव का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। परलोक में जाने पर भगवान् जीव को दूसरा शरीर धारण कराते हैं और जिसके जैसे कर्म होते हैं वे उसके सामने आते हैं। तब यह जीव अपनी बुराई और भलाई को परखता है। फिर उसे परलोक के कठिन मार्ग पर चलाया जाता है। यह मार्ग एक सेतु है, जो बाल की अपेक्षा भी सूक्ष्म और तलवार की धार से भी तीक्ष्ण है। जो पुरुष इस संसार में विचार की मर्यादा पर दृढ़ रहते हैं वे तो उस पुल को सुगमता से ही पार कर लेते हैं, किन्तु जिन्होंने उस मर्यादा का उल्लङ्घन किया होता है वे उससे गिरकर नरकों में पड़ते हैं। इस प्रकार भगवान् उस सेतु पर खड़ा करके सत्यनिष्ठों की परीक्षा लेंगे और विमुखों को लज्जित करेंगे। वहाँ महापुरुषों को तो किसी प्रकार का कष्ट न होकर परम सुख प्राप्त होगा, किन्तु अन्य पुरुषों में से किन्हीं को कम और किन्हीं को अधिक दण्ड प्राप्त होगा। जिन पुरुषों को सन्त और आचार्यों की सहायता प्राप्त होगी वे त उन दुःखों से मुक्त हो जायँगे, किन्तु तामसी लोग चिरकाल तक नरकों के दुःख भोगेंगे। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने पुण्य और पापों के अनुसार सभी जीवों को परलोक में सुख और दुःख प्राप्त होंगे।

(सन्त और आचार्य)

भगवान् ने यह संकेत रखा है कि सब जीव अपने कर्मों के

अनुसार फल भोगेंगे। किन्तु इस संकेत के प्रति कोई जीव भाग्य-वान् हैं और कोई भाग्यहीन। भाग्यहीन पुरुष अपने कर्त्तव्य की पहचान नहीं कर सकते। इसी से उन्होंने संत और आचार्यों को भेजा है और अत्यन्त दया करके उन्हें यह आज्ञा की है कि जीवों को शुभाशुभ मार्गों का विवेक करायें तथा जो भाग्यवान् हैं उन्हें शुभ मार्ग में प्रवृत्त करें। यह शुभ और अशुभ मार्गों का विवेक कराने का हेतु यह है कि जिससे भगवान् के प्रति किसी जीव का निहोरा न रहे कि हम तो शुभ मार्ग को जानते ही नहीं थे। अतः संतों ने दया करके जिस प्रकार भलाई और बुराई का मार्ग प्रकाशित किया है उसमें कुछ भी सन्देह नहीं है—ऐसा विश्वास सभी लोगों को रखना चाहिये।

—:o:—

दूसरी किरण

पवित्रता के भेदों का निरूपण

श्री भगवान् ने अपने वचनों में कहा है कि मुझे जिस प्रकार विरक्त पुरुष प्रिय हैं वैसे ही पवित्र पुरुष भी अत्यन्त प्रिय हैं। किन्तु इसका वह अर्थ नहीं है कि इस कथन से भगवान ने शरीर और वस्त्रों की पवित्रता का उल्लेख किया है, क्योंकि ये पवित्रताएँ तो जल से हो जाती हैं, जो अत्यन्त स्थूल है। अतः यहाँ पवित्रता से क्या आशय है, इस पर तुम्हें ध्यान देना चाहिये। पवित्रता चार प्रकार की हैं; उनका विवरण इस प्रकार है—

१—*जीवात्मा की पवित्रता*—अनात्मा से आत्मा को भिन्न करके सब पदार्थों को भूल जाना तथा अपने चित्त की वृत्ति को परमात्मा में लीन कर देना। यह महापुरुषों की अवस्था है। जब तक अनात्मा से शुद्ध नहीं होता तब तक वह परमात्मा के भजन में स्थित नहीं हो सकता।

२—*हृदय की पवित्रता*—इस पवित्रता का अर्थ है हृदय का मलिन स्वभावों से शुद्ध होना, अर्थात् हृदय ईर्ष्या, अभिमान पाषण्ड, तृष्णा और शत्रुता आदि दूषित स्वभावों को त्याग दे तथा नम्रता, संयम, त्याग, धैर्य, भगवान् का भय, भगवदाश्रय और भगवत्प्रेम आदि सद्भावों से अपने को सुसज्जित करे। यह जिज्ञासुओं की पवित्रता है।

३—*इन्द्रियों की पवित्रता*—इन्द्रियसम्बन्धी सम्पूर्ण पापों को त्यागना; जैसे—निन्दा, झूठ, अशुद्ध जीविका, चोरी, परस्त्री के प्रति कुदृष्टि इत्यादि अपकर्मों से दूर रहना। सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम करना तथा संतजनों की आज्ञा का पालन करना। यह सात्त्विकी पुरुषों की पवित्रता है।

४—*शरीर और वस्त्रों की पवित्रता*—जलद्वारा शरीर और वस्त्रों को मलिनता से शुद्ध करना तथा अपवित्र अवस्था में जप-पूजा आदि पुण्य कर्मों में प्रवृत्त न होना। यह सामान्य संसारी पुरुषों की पवित्रता है।

इस प्रकार निश्चय हुआ कि यद्यपि पवित्रता चार प्रकार की है, तथापि अधिकांश लोग शरीर और वस्त्रों की स्वच्छता को ही पवित्रता समझ कर उसी में लगे रहते हैं; सो यह तो सबसे निम्न कोटि की पवित्रता है। किन्तु यही सबसे सुगम है और इससे मन को भी प्रसन्नता होती है, इसलिये सब कोई इसी को पवित्रता समझते हैं। ऊपर जो मलिन स्वभावों के त्यागद्वारा हृदय की पवित्रता और पापकर्मों के त्याग से इन्द्रियों की पवित्रताएँ कही गयी हैं उनसे मन को कोई स्थूल सुख प्राप्त नहीं होता। अतः इन सूक्ष्म पवित्रताओं पर लोगों की दृष्टि नहीं जाती। इन्हें तो भगवान् ही देखते हैं, दूसरे जीव इन्हें नहीं जान सकते। अतः सामान्यतया लोगों की इनमें रूचि नहीं होती, वे इन्हें अत्यन्त कठिन समझते हैं। शरीर की पवित्रता यद्यपि सबसे निम्न कोटि की मानी गयी है, तथापि एक सीमा तक यह भी बहुत अच्छी है। किन्तु यदि कोई इसी की आशंका में डूबा रहे तो उल्टा अपराधी और अभिमानी हो जाता है। जैसे बहुत से आचारी वैष्णवों का स्वभाव होता है कि हर समय पात्र और वस्त्रों को ही धोते रहते हैं और पवित्र जल की ही खोज में रहते हैं। ये सर्वदा दूसरों

से दूर ही रहते हैं और उन्हें अनाचारी समझते हैं। यद्यपि इस पवित्रता में भी कोई दोष नहीं है, तथापि यह तभी लाभदायक है जब छः युक्तियों के सहित हो। उनमें पहली युक्ति यह है कि जितने अवश्य करने योग्य शुभ कर्म हैं उनसे दूर न रहे। जैसे—विद्या पढ़ना, संतों के वचन विचारना, अपने शरीर और सम्बन्धियों के निर्वाह के लिये शुद्ध जीविका उपार्जन करना, किसी से कुछ मांगने की इच्छा न रखना तथा किसी की आशा न रखना। इन कर्त्तव्यों को त्याग कर शरीर और वस्त्रों को धोते रहने में ही अपना समय न बितावे, क्योंकि शारीरिक पवित्रता की अपेक्षा ये सब कर्म अधिक उपयोगी हैं। पूर्वकाल में जो भक्त और जिज्ञासु-जन हुए हैं वे सब भी इस शारीरिक पवित्रता में लगे न रह कर शुद्ध जीविका, विद्या, विचार और भगवद्भजन आदि शुभ कर्मों में ही विशेष सावधान रहते थे तथा हृदय की पवित्रता के लिये अधिक प्रयत्न करते थे। इस समय भी जो ऐसा व्यक्ति हो उसके प्रति आचारी वैष्णवों को दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिये तथा जो आलस्य और भोगासक्ति के कारण शरीर की भी पवित्रता नहीं रखते उन्हें वैष्णवों के प्रति असद्भाव नहीं रखना चाहिये।

दूसरी युक्ति यह है कि कपट और अभिमान से अपने चित्त को बचाये रखे। जिस पुरुष की वृत्ति स्थूल पवित्रता में अधिक होती है उसमें प्रायः स्वभाव से ही अपनी शुचिता और विशेषता को प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति हुआ करती है, इसलिये वह अभिमानी हो जाता है। उसका पैर यदि पृथ्वी से लग जाता है, अथवा उसे कभी दूसरों के पात्र से जल लेना पड़ता है तो उसके चित्त में लोकनिन्दा की आशंका हो जाती है। अतः ऐसे पुरुष को चाहिये कि दूसरों के देखते हुए नंगे पाँव चला करे तथा कभी दूसरों के पात्रों का भी जल पी लिया करे। अपनी परीक्षा के लिये इस प्रकार बर्तें तो अच्छा ही है क्योंकि स्थूल पवित्रता भी जगत्

में कीर्ति का निमित्त बन जाती है और इसमें दम्भ होनेपर बुद्धि का नाश हो जाता है। अतः दम्भ और कपट से बचने के लिये कभी-कभी स्थूल पवित्रता का त्याग करना भी अच्छा ही है।

तीसरी युक्ति यह है कि सर्वदा अधिक संशय न करें, कभी-कभी जैसा संयोग आ बने वैसे ही बर्त ले, क्योंकि अपनी वृत्ति को इस प्रकार के संशय में पुष्ट करना अच्छा नहीं है। पहले भी जितने संतजन हुए हैं उन्होंने भी संशय और ग्लानि में अपने को आबद्ध नहीं किया। वे सब लोगों की तरह सामान्य आचार में ही विचरते रहे हैं। अतः जो पुरुष महापुरुषों के आचार को त्यागे और उन्हें भ्रष्ट समझे उसके विषय में यही मानना चाहिये कि वह अपने मनकी प्रसन्नता के लिये ही यह पवित्रता का ढोंग रचता है। ऐसी पवित्रता को तो त्यागना ही अच्छा है।

चौथी युक्ति यह है कि जिस पवित्रता के कारण किसी को कष्ट हो उसे तो अवश्य त्याग दे, क्योंकि जीवों के कष्ट का कारण बनना तो पाप ही है और बाहरी पवित्रता को त्यागने से कोई पाप नहीं होता। मान लो, कोई मित्र इससे गले मिलने लगे और यह उसके पसीने से घबरा कर ठिठक जाय, तो ऐसा करना भी अनुचित ही है। उस मित्र से भावपूर्वक मिलना और उसका आदर करना तो ऐसी हज़ार पवित्रताओं से भी बढ़ कर है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति इसके आसन पर पाँव रख दे, अथवा पात्र से जल ले ले तो उसे रोके नहीं और न हृदय में ग्लानि ही लावे। शरीर की पवित्रता का ही विशेष ध्यान रखनेवाले अधिकांश पुरुष इस भेद को नहीं समझते और जब कोई अकस्मात् उनके आसन या पात्र को स्पर्श कर लेता है तो ये उसका निरादर कर बैठते हैं। अथवा कभी संकोचवश कुछ नहीं भी कहते तो भी इस छूआछूत को ही सबसे बड़ा काम मानते हैं, दूसरों के आगे अपनी पवित्रता प्रकट करते हैं और अन्य पुरुषों को भ्रष्ट समझ कर उनसे ग्लानि

करते हैं। ऐसे लोग अत्यन्त मूढ़ ही हैं, उनके हृदय क्रोध और अभिमान से अत्यन्त अपवित्र रहते हैं और उसकी ऐसी वृत्ति से उनके हृदय की अपवित्रता ही प्रकट होती है। उन्हें अपने हृदय को इस अपवित्रता से अवश्य शुद्ध करना चाहिये, क्योंकि इससे बुद्धि का नाश हो जाता है।

पाँचवी युक्ति यह है कि जैसे शरीर को शुद्ध रखता है वैसे ही आहार और व्यवहार को भी शुद्ध रखे तथा वचन भी शुद्ध बोले, क्योंकि आहार-व्यवहार और वाणी की शुद्धि वस्त्र और पात्रों की शुद्धि से बढ़ कर है। जो मनुष्य आहारादि की पवित्रता का तो कोई ध्यान नहीं रखता किन्तु शरीर और वस्त्रादि की शुद्धि का बड़ा आग्रही है, उसकी यह शरीरादि की पवित्रता भी दम्भ और कपट के निमित्त ही समझनी चाहिये। जैसे कोई मनुष्य भूख न होने पर भी भोजन करने में तो नहीं हिचकता, किन्तु विना स्नान किये भोजन करने का आग्रह रखता है, वह मूर्ख ही है। वह इतना भी नहीं समझता कि बिना भूख खाया हुआ भोजन शरीर में कितनी अशुद्धि पैदा करेगा और स्नान करने से उसमें कोई कमी भी नहीं आयेगी। इसी प्रकार जिन लोगों से खान-पान का भेद रखता है और जिनके आसन स्पर्श करने से नाक-भौं सकोड़ता है उन्हीं का बनाया हुआ भोजन क्यों कर लेता है? उनके घर की अन्नादि कोई सामग्री क्यों लेता है? इसमें किसी प्रकार का विचार क्यों नहीं करता? क्योंकि शरीर की अपेक्षा आहार की शुद्धि तो अधिक आवश्यक है। अतः आहार का संयम न करना और बाहरी पवित्रता में आसक्त रहना यह सच्चे पुरुषों का लक्षण नहीं है।

छठी युक्ति यह है कि बाह्य आचार में इतना आसक्त न हो कि जिससे किसी विशेष कार्य की हानि हो जाय। जैसे किसी को मिलने के लिये कोई समय दिया हो और इधर शरीर की शुद्धि आदि में

लगे रहने से इस वचन को पूरा ही न कर सके तथा उस व्यक्ति को देर तक अपनी प्रतीक्षा में रखे। इस प्रकार दूसरों के कष्ट का निमित्त बनना अत्यन्त निन्द्य है। साथ ही अपनी जीविका के लिये उद्यम करना और अपने कथनानुसार दूसरों का कार्य कर देना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार किसी भजनस्थली में भजन के लिये बैठते समय यह सोचकर कि दूसरे का वस्त्र मुझे स्पर्श न कर ले अपना आसन लंबा करके बिछा लेना भी अच्छा नहीं, क्योंकि किसी सार्वजनिक स्थान में मर्यादा से अधिक स्थान रोकना बहुत अनुचित है, उससे भी दूसरों को संकोच और असुविधा में पड़ना होता है। तथा जो व्यक्ति अपना प्रेमी हो सउससे ग्लानि करना भी निन्दनीय है। बाह्य पवित्रता का विशेष आग्रह रखने में ऐसे ही अनेकों दोष हैं। जो लोग मूर्ख होते हैं उनकी दृष्टि इन पापों पर नहीं जाती। वे अज्ञानवश अपने प्रेमियों का अनादर कर देते हैं। किन्तु उनकी बाह्य पवित्रता इन पापों का प्रायश्चित नहीं हो सकती।

इस प्रकार अब तुम समझ गये होगे कि बाह्य पवित्रता दूसरी चीज है, वह स्थूल है। और सूक्ष्म पवित्रता उससे भिन्न है। उसका वर्णन पहले हो चुका है। वह तीन प्रकार की है; जैसे–(१) इन्द्रियों को अशुभ कर्मों से दूर रखना, (२) हृदय को मलिन स्वभावों से शुद्ध करना और (३) सम्पूर्ण अनात्मा का त्याग करके अपने आत्मा को शुद्ध रखना। जिज्ञासु को चाहिये कि अधिक पुरुषार्थ इस सूक्ष्म पवित्रता में ही करे, स्थूल पवित्रता का पालन तो जितने में निर्वाह हो सके उतना ही करे।

—:०:—

तीसरी किरण

दानके तात्पर्य, युक्ति, अधिकारी और ग्रहण-विधि आदि का विवेचन

ध्यान रखो, भजन का भी एक आकार है और एक उसका जीव है। सम्पूर्ण इन्द्रियों को रोकना—यह भजन का आकार है और हृदय की एकाग्रता उसका जीव है। जैसे जीव के बिना आकार मृतक हो जाता है वैसे ही एकाग्रता के बिना भजन भी व्यर्थ होता है। इसी प्रकार दान का भी एक आकार है और एक उसका जीव है। जब तक इस रहस्य को न समझे तब तक दान देना भी निर्जीव शरीर के समान सारहीन होता है। दान देने के तीन तात्पर्य हैं, उनका हम क्रमशः वर्णन करते हैं।

प्रथम तात्पर्य—सब लोग यही समझते हैं कि भगवान् के प्रति हमारा प्रेम है। और इस प्रेम की परीक्षा यह है कि भगवान् के सिवा और किसी वस्तु में हमारा प्रेम न हो। सो बहुत लोग तो यही समझते हैं कि हमारी सबसे अधिक प्रीति भगवान् में ही है, अतः सब को इसकी परीक्षा भी करनी चाहिये। बिना परीक्षा किये ऐसा अभिमान करना अनुचित ही है। इसकी परीक्षा यही है कि जो वस्तु अपने को अधिक प्रिय हो उसे भगवान् पर निछावर कर दे। प्रायः सभी को धन बहुत प्रिय होता है, इसीसे परीक्षा के लिये ही धन देने की व्यवस्था की गयी है। इसके द्वारा अपने हृदय में भगवत्प्रेम की पहचान होने पर जिन्होंने इस रहस्य को समझा है

वे मनुष्य भी तीन प्रकार के हैं—

(१) प्रथम कोटि के पुरुष तो इतने सच्चे होते हैं कि वे अपना सर्वस्व भगवान् पर निछावर कर देते हैं। उन्हें अपनी आय का दशांश देना तो कृपणता जान पड़ती है। अतः वे सर्वस्व दान कर देते हैं। एक बार अबूबक्र सद्दीक नाम के संत अपना सर्वस्व महापुरुष के पास ले आये। तब महापुरुष ने पूछा कि अपने सम्बन्धियों के लिये तुम क्या छोड़ आये हो ? वे बोले कि प्रभु सब जीवों के प्रतिपालक हैं, वे मेरी अपेक्षा उनका अधिक भरण-पोषण कर सकते हैं। किन्तु जब उमर नाम के संत महापुरुष के पास आये तो उन्होंने भी कुछ धन उनके सामने रक्खा। महापुरुष ने उनसे भी पूछा कि अपने सम्बन्धियों के लिये तुम क्या छोड़ आये हो ? वे बोले, "जितना यहाँ लाया हूँ उतना ही सम्बन्धियों को दे आया हूँ।" इस पर महापुरुष ने कहा कि जैसे तुम्हारे और अबूबक्र के धन लाने में अन्तर है वैसे ही तुम्हारी अवस्थाओं में भी अन्तर है।

(२) दूसरी कोटि के पुरुष वे हैं जिनमें एक साथ अपना सर्वस्व दे डालने की शक्ति तो नहीं है और वे अर्थ का संग्रह भी रखते हैं, किन्तु जब कोई अर्थी पुरुष मिलता है तो उसे खुले हाथ से देते हैं। वे जितने प्रेम से अपने कुटुम्ब का पालन करते हैं उतने ही उत्साह से अभ्यागतों का सत्कार भी करते हैं।

(३) तीसरे पुरुष वे हैं जिनमें ऐसी उदारता भी नहीं होती। अतः वे भगवान् के निमित्त से अपनी आय का केवल दशम अंश देते हैं। और इसे भगवदाज्ञा मानकर दशम अंश देते हुए हृदय में प्रसन्न भी होते हैं तथा जिन्हें

देते हैं उनके प्रति अपना कोई उपकार भी नहीं मानते, अपितु इस प्रकार दे देने में अपनी ही भलाई समझते हैं। यह कनिष्ठ अवस्था है। परन्तु जिस व्यक्ति को दशमांश देना भी कठिन जान पड़ता है उसे तो भगवान् के प्रति कोई प्रेम है—ऐसा नहीं समझा जा सकता। भगवत्प्रेमियों की सभा में तो वह पुरुष भी कृपण ही समझा जाता है जो केवल दशमांश ही देता है, और अधिक देने का साहस नहीं रखता।

द्वितीय तात्पर्य—दान देने का दूसरा तात्पर्य यह है कि इससे *हृदय की कृपणतारूप मलिनता दूर होती है और वह उत्तरोत्तर शुद्ध एवं उदार होता जाता है। भगवान् के पास पहुँचने में कृपणता भी बहुत बड़ा विघ्न है। बाह्य मलिनता से जैसे शरीर अपवित्र हो* जाता है वैसे ही कृपणता से हृदय अपवित्र और मलिन हो जाता है। तथा जैसे बाह्य मलिनता रहते हुए शरीर में भजन-पूजन आदि की योग्यता नहीं रहती वैसे ही कृपणता रहते हुए हृदय में भगवत्सान्निध्य प्राप्त करने की योग्यता नहीं रहती। और जैसे जल से धोये बिना शरीर का मल नहीं छूटता वैसे ही दान दिये बिना हृदय का कृपणतारूप मल निवृत्त नहीं होता। किन्तु संत-महात्माओं को इस प्रकार दशांश विधि से दिया हुआ दान स्वीकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस का उद्देश्य तो दाता के धन की रक्षा ही है, इसलिये अत्यन्त सकाम होने के कारण यह दान मलिन ही है।

तृतीय तात्पर्य—दान देने का तीसरा तात्पर्य है प्रभु के उपकार का धन्यवाद। धन इस लोक और परलोक दोनों ही में सुख का हेतु है, अतः जिस प्रकार व्रत उपवासादि करके प्रभु का शारीरिक सुख प्रदान करने के लिये धन्यवाद दिया जाता है उसी प्रकार दान देकर उनका आर्थिक सुख प्रदान करने के बदले धन्य-

वाद किया जाता है। इसीसे कोई भगवत्प्रेमी जब अपने को सुखी और किसी दूसरे मनुष्य को दरिद्रता के कारण दीन-दुखी देखता है तो अपने चित्त में इस प्रकार विचार करता है कि यह भी भगवान् का ही प्राणी है और मुझे भी उन्हींने बनाया है, अतः प्रभु का धन्यवाद है कि मुझे उन्होंने धनादि से सुसम्पन्न और सुखी उत्पन्न किया है। यह भी मेरा भाई ही है और बहुत दीन एवं अर्थी है, अतः मुझे यथाशक्ति इसकी सहायता करनी चाहिये। संभव है, वह मेरी परीक्षा ही हो, अतः मुझे इसमें चूकना नहीं चाहिये। *ऐसा भी तो हो सकता है कि प्रभु इसे मेरे समान सम्पन्न करदें और मैं इसकी तरह दीन एवं दरिद्र होजाऊँ, तब मेरा क्या वश चलेगा?*

इस प्रकार सभी को ये दान के रहस्य समझ लेने चाहिये। बिना रहस्य समझे दान करना विशेष उपयोगी नहीं होता। इसके सिवा दान देने की कुछ युक्तियाँ भी हैं, इन पर भी सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। उनका विवरण इस प्रकार है—

प्रथम युक्ति—दान देने की पहली युक्ति यह है कि दशांश देने में कभी देरी न करे। इससे तीन लाभ होते हैं—

(१) प्रथम तो इससे उदारता के प्रति रुचि बढ़ती है। एक वर्ष बीत जाने पर तो उस साल का दशमांश अवश्य दे देना चाहिये। यदि नहीं देगा तो पाप का भागी होगा। फिर पाप के भय से दान देना तो कोई प्रीति का लक्षण नहीं है। जो सेवक केवल भय के कारण स्वामी की सेवा करता है उसे सत्सेवक नहीं कह सकते।

(२) दूसरा लाभ यह है कि शीघ्र दान देने से अर्थियों के चित्त में भी प्रसन्नता होती है। और जब वे प्रसन्न होकर दाता को आशीर्वाद देते हैं तो उसे भी आनन्द प्राप्त

होता है।

(३) तीसरे शीघ्र दान दे देने पर, भविष्य में जो विघ्नों की आशंका हो सकती है वह भी नहीं रहेगी। जो दशमांश देने में ढील करते हैं उन्हें तरह-तरह की आधि-व्याधि आकर घेर लेती हैं। जो जल्दी ही दे डालते हैं वे इन सब विघ्नों से निश्चिन्त हो जाते हैं। अथवा यदि दान देने से पहले ही अकस्मात् ऐसा कोई संकट आ जाय तो फिर उसके कारण उसमें दान देने का सामर्थ्य ही नहीं रहता और इस प्रकार कर्त्तव्यच्युत हो जाने से उस पुण्य से वञ्चित रह जाता है।

अतः सब प्रकार शीघ्र दान देना ही अच्छा है। जब इसके हृदय में दान देने की रुचि उत्पन्न हो तो उसे भगवान् की कृपा ही समझे। अतः इस बात से भय मानकर कि कहीं कोई कुसंस्कार इस शुभ संकल्प को दबा न दे, शीघ्र ही उस पवित्र विचार को कार्यान्वित कर देना चाहिये।

द्वितीय युक्ति—दान देने की दूसरी युक्ति यह है कि उसे यथासम्भव गुप्त ही रखे, किसी के आगे प्रकट न करे। इससे दम्भ और कष्ट से बच जायगा और इस प्रकार देना ही निष्काम होगा। सन्तजनों का भी कथन है कि गुप्त दान देने से मनुष्य भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है। परलोक में जब अधिक तपन होगी तो गुप्त दान देनेवाले भगवान् की छाया में रहेंगे। जब कोई व्यक्ति दान देकर स्वयं ही उसका वर्णन करने लगता है तो उसका दान देना व्यर्थ हो जाता है। इसीसे जिज्ञासु लोग गुप्तरूप से दान देने का बहुत प्रयत्न करते रहे हैं। वे यदि किसी नेत्रहीन को देते तो मुँह से बोलते ही न थे, जिससे वह पहचान न ले, किसी धनहीन को देते तो जिस समय वह सोया होता उसके वस्त्र में बाँध देते तथा जब

किसी अर्थी को आता देखते तो उसके मार्ग में धन गिरा देते अथवा किसी दूसरे के द्वारा उसके पास पहुँचा देते थे । तात्पर्य यह है कि इस प्रकार गुप्तरूप से दान देना चाहिये कि जिससे अर्थी भी देनेवाले को न पहचाने । गुप्त दान देने का एक प्रयोजन यह भी है कि इससे दम्भ के लिये कोई अवकाश नहीं रहता। अतः ऐसा करके वे दान और कृपणता दोनों का एक साथ ही दमन करते थे, क्योंकि ये दोनों ही स्वभाव दुःखदायी हैं। इनमें भी कृपणता तो बिच्छू के समान है और दम्भ महान् अजगर की तरह है । अतः इन दोनों को ही दूर करना आवश्यक है । इन मलिन स्वभावों में कितना दुःख है यह बात तो परलोक में प्रकट होगी ।

तृतीय युक्ति—किन्तु जिस पुरुष के हृदय में दम्भ के लिये कोई अवकाश न हो उसका तो प्रकट रूप से देना ही अच्छा है, क्यों कि उसे देते देखकर दूसरे लोगों को भी देने की रुचि होगी । किन्तु ऐसी स्थिति उसी व्यक्ति की हो सकती है जिसकी दृष्टि में निन्दा और स्तुति में कोई अन्तर नहीं है । तथा जो सबके भीतर अन्तर्यामीरूप से भगवान् को ही देखता है, उनके सिवा कोई और पुरुष जिसकी दृष्टि में है ही नहीं ।

चतुर्थ युक्ति—यदि दाता दान देने के समय अर्थी को क्रूर दृष्टि से देखता है अथवा उससे कोई कटु वचन कहता है तो उसका दान देना निष्फल होजाता है । ऐसी मूर्खता दो कारणों से होती है। उनमें पहला कारण तो यह है कि जिसे रागवश धन देना भारी जान पड़ता है वह दान देते समय क्रुद्ध और अप्रसन्न हो जाता है और इसीसे दुर्वचन बोलने लगता है । किन्तु यह है उसकी बहुत बड़ी मूर्खता ही, क्योंकि जब उसे एक देकर हजार पाने की आशा है तब देते समय संकोच करना मूर्खता नहीं तो क्या है ? दान देने से तो इस जीव की नरकों से रक्षा होती है और इसे बड़े-बड़े सुख

प्राप्त होते हैं। यदि इस बात में इसका विश्वास हो तो इसे दान देना भारी कैसे हो सकता है ? दूसरा कारण यह है कि मूर्खतावश यह अपने को अर्थी से बड़ा मानने लगता है। यह समझता है कि मैं बड़ा धनी हूँ और यह कङ्गाल है। इसे पता नहीं कि परलोक में निर्धन लोग ही सुख प्राप्त करेंगे, धनी तो दण्ड के ही भागी होंगे, क्योंकि इस लोक में निर्धन दुःख भोगते हैं और धनी सुख भोगकर अभिमान की वृद्धि करते हैं। निर्धनों के हृदय में दीनता होती है और भगवान् को तो दीनजन ही प्रिय हैं। और यदि विचार किया जाय तो धनी लोग तो इस लोक में भी बहुत दुःखी हैं। उन्हें चिन्ता और विक्षेप तो अनेकों प्रकार के रहते हैं और खान-पान का सुख अपने शरीर की योग्यता के अनुसार ही होता है। तथा धनवानों के लिये भगवान् ने यह दण्ड भी रखा है कि वे अर्थी लोगों की यथाशक्ति सहायता करें, यदि ऐसा नहीं करेंगे तो पाप के भागी होंगे। इससे निश्चय होता है कि धनवानों को तो इस लोक में भी भगवान् ने निर्धनों का टहलुआ बनाया है। और परलोक में तो निःसन्देह धनवानों की अपेक्षा निर्धन ही विशेष सुख भोगेंगे। अतः दान देने में किसी प्रकार का संकोच या कठोरता का व्यवहार नहीं करना चाहिये और न अपने को अर्थियों से बड़ा ही समझे।

पाँचवीं युक्ति—जिसे कुछ दान दे उस पर अपना कोई उपकार न समझे। ऐसा भाव तभी रह सकता है जब मन में यह भाव हो कि मैंने इसे कोई बड़ी चीज दी है और यह मेरे अधीन है। किन्तु ऐसा समझना तो मूर्खता ही है। जब इसके चित्त में ऐसा अभिमान दृढ़ होगा तो इसे यह भी संकल्प होगा कि यह अर्थी पुरुष मेरे अधीन रहे और मेरी सेवा का भी ध्यान रखे, अथवा मेरा सम्मान करके मुझे पहले नमस्कार किया करे। किन्तु ऐसी स्थिति में यदि अर्थी का बर्ताव वैसा नहीं होता तो दाता के चित्त में रोष

आने लगता है और वह आगे पीछे यह कहने लगता है कि मैंने इसका इतना उपकार किया किन्तु यह मेरा कोई सम्मान नहीं करता। सो ये सब मूर्खता के ही लक्षण हैं। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो अर्थी ने ही इस पर विशेष उपकार किया है, जो इसका दान अङ्गीकार करके इसे नरकाग्नि की ज्वालाओं से बचाया है। जैसे कोई जर्राह (शस्त्रचिकित्सक) किसी व्यक्ति का विकारी रक्त निकाल दे और उससे ले कुछ भी नहीं तो वह निःसन्देह इसका ही उपकार मानता है, क्योंकि इसने उसके दुःखद रक्त को दूर किया है। इसी प्रकार कृपणतारूपी मल भी इस मनुष्य के हृदय को दुःख देनेवाला है। वह यदि अर्थी के सम्बन्ध से निवृत हो जाता है तो इसे उसका ही उपकार मानना चाहिये। संतों ने तो यह कहा है कि जब कोई पुरुष किसी को दान देता है तो पहले वह द्रव्य भगवान् के हाथ में जाता है और फिर उनसे अर्थी को प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यही है कि दान का फल तो स्वयं भगवान् ही देते हैं। जब ऐसी बात है तो अर्थी पर उपकार मानने का कोई कारण ही नहीं है। तब तो अपने पर ही उपकार मानना चाहिये। इस प्रकार दान के रहस्य पर सूक्ष्मतया विचार करने से तो यही निश्चय होगा कि अर्थी पर अपना उपकार मानना कोरी मूर्खता ही है। इसी से पहले जो जिज्ञासु लोग हुए हैं वे तो अर्थी और अभ्यागतों का सम्मान ही करते रहे हैं। वे बड़े विनम्र भाव से उनके आगे उपस्थित होकर कहते थे कि यह पत्र-पुष्प स्वीकार कीजिये। अथवा अपने हाथों पर कुछ सोना-चाँदी रख कर उनके आगे कर देते थे, जिससे वे स्वयं ही उसे उठा लें। और हमारे हाथ से उनका हाथ ऊँचा ही रहे। यहाँ तक कि वे अर्थियों से किसी प्रकार के आशीर्वाद की भी अपेक्षा नहीं रखते थे, क्योंकि इसमें भी उन्हें उनके प्रति अपने उपकार की भावना का सन्देह होता था। और विचार करने पर उपकार करनेवाला तो अर्थी ही

सिद्ध होता है, जो उस दान को स्वीकार कर लेता है।

छठी युक्ति—जो पदार्थ दिया जाय वह उत्तम और निर्दोष होना चाहिये, क्योंकि पापवृत्ति से प्राप्त हुआ पदार्थ परमात्मा के लिये देना उचित नहीं है। भगवान् तो शुद्धस्वरूप हैं, अतः उन्हें शुद्ध पदार्थ ही देना चाहिये, अशुद्ध वस्तु तो वे ग्रहण ही नहीं करते। भगवान ने कहा भी है कि जिस वस्तु को तुमने पहले ही मलिन चित्त से उत्पन्न किया है, उसे मेरे लिये क्यों प्रयोग करते हो? यदि किसी के घर उसका कोई प्रेमी आवे तो उसे घटिया चीज देना हँसी का ही कारण होता है। इसी प्रकार भगवान् के निमित्त घटिया और मलिन वस्तु का प्रयोग करना और अपने लिये बढ़िया चीज काम में लाना अत्यन्त अनुचित है। जो ऐसा करता है उसमें कोई श्रद्धा का अंश प्रतीत नहीं होता, अपितु उस का दान ग्लानिपूर्वक दिया जान पड़ता है। सो जिस दान में श्रद्धा और प्रेम की प्रधानता न हो वह तो व्यर्थ ही होता है। महापुरुष भी कहते हैं कि यदि एक निर्दोष दान श्रद्धापूर्वक दिया जाय तो उस का फल हजारों दानों से भी बढ़कर है।

(दान के अधिकारी)

यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि दान भी अधिकारी को ही देना अच्छा होता है। दान का उत्तम अधिकारी तो वह है जो परलोक के मार्ग का चिन्तन करने में लगा हुआ हो और जिसने मायिक व्यवहारों को त्याग दिया हो। ऐसे पुरुष को दिया हुआ दान ही विशेष फलदायक होता है। अतः अन्न-वस्त्रद्वारा विरक्त पुरुषों की सेवा करना अत्यन्त श्रेष्ठ दान है, क्योंकि इस प्रकार जब उनके शरीर में कुछ बल बढ़ता है तो वे भजन में ही दृढ़ होते हैं और इससे उनकी सेवा करनेवाला भी उनके भजन का भागी होता है। कहते हैं, एक उदार प्रकृति का धनी पुरुष था।

वह सर्वदा सात्विकी प्रकृति के लोगों की सेवा में तत्पर रहता था। उसका कथन था कि ये जिज्ञासुजन सर्वदा भगवान् के भजन में लीन रहते हैं और इन्हें जब किसी वस्तु की आवश्यकता होती है तो इनके चित्त में विक्षेप होने लगता है। अतः मुझे तो इनकी सेवा स्वयं व्यवहार त्यागकर अपने चित्त को एकाग्र करने की अपेक्षा भी अधिक प्रिय है, क्योंकि इससे मैं तो अकेला ही व्यवहार के विक्षेप में रहूँगा किन्तु इनकी आवश्यकता की पूर्ति होती रहेगी तो ये अनेकों भजन में तल्लीन रहेंगे। मैं तो उनके अनेक हृदयों का एकाग्र रहना अपने एक हृदय की एकाग्रता से बढ़कर ही मानता हूँ। जब वह बात एक संत ने सुनी तो वे कहने लगे, "यह कथन किसी गम्भीर चित्तवाले महापुरुष का है।" अकस्मात् वह उदार पुरुष निर्धन हो गया, क्यों कि वह अभ्यागत लोगों को सन्तुष्ट करने के लिये जो कुछ वे माँगते थे वही दे देता था और मूल्य कुछ भी नहीं लेता था। जब उसकी निर्धनता का समाचार एक सन्त ने सुना तब उन्होंने उसके पास कुछ धन भेजा और कहलाया कि इसे स्वीकार करके फिर व्यापार करो, क्यों कि तुम-जैसे पुरुष को व्यवहार करने में कोई दोष नहीं है।

दान के दूसरे अधिकारी वे हैं जिन्हें विद्याध्ययन करना हो। उन्हें भी दान देना बहुत अच्छा है, उनकी सहायता करने वाला पुरुष भी उनके विद्याध्ययन के पुण्य का भागी होता है। तीसरे अधिकारी वे हैं जो अपनी निर्धनता को छिपाये रहते हैं और कभी किसी से कुछ नहीं माँगते। ऐसे पुरुष को भी दान देना बहुत अच्छा है। चौथे अधिकारी वे हैं जिनका कुटुम्ब बड़ा हो और धन पास न हो, अथवा जो रोगी हो। उनको देना भी बहुत उपयोगी है, क्योंकि जितनी जिसकी आवश्यकता अधिक हो उतना ही उसे दान देने का फल अधिक होना है। पाँचवाँ अधिकारी देनेवाले का वह सम्बन्धी है, जिसके पास धन का अभाव हो। उसे

देने से सम्बन्धी से प्रेम भी बढ़ता है और पुण्य भी प्राप्त होता है और यदि अपना कोई धर्म का मित्र ही विशेष आवश्यकता में हो तो उसे देने से और भी अधिक पुण्य होता है। इस प्रकार यहाँ जो पाँच प्रकार के अधिकारी बताये हैं, यदि किसी व्यक्ति में ये *पाँचों बातें हों अथवा कुछ कम भी हों तो उसे देना सबसे बढ़कर है। उसके आशीर्वादों से दाता को बहुत लाभ हो सकता है। अतः दान देने के लिये बड़े महन्तों और कुलीनों को न ढूँढे, जो अधि*-कारी हों उन्हें ही दे।

(दान लेने की युक्तियाँ)

दान लेनेवाले को भी पाँच युक्तियों का आश्रय लेना चाहिये। उनमें पहली युक्ति यह है, अर्थी को यह विचारना चाहिये कि भगवान् ने मनुष्य को लोकव्यवहार के लिये धन के अधीन बनाया है, इसी से अनेकों पुरुषों को धन दिया भी है। किन्तु जिनपर उनकी विशेष कृपा है उन्हें मायिक व्यवहारों के विक्षेप से बचा लिया है और धन के संग्रह तथा रक्षण के क्लेश का भार धनवानों पर डाल दिया है तथा उन्हें आज्ञा की है कि मेरे जो प्रियजन धन से रहित हैं उनकी तुम सेवा करो, जिससे कि वे माया के व्यवहारों से मुक्त हो और निरन्तर मेरे भजन में ही तत्पर रहें। इस प्रकार सोचते हुए जब यह किसी से कुछ दान ले तो हृदय में यही संकल्प रखे कि मैं शरीरनिर्वाहमात्र के लिये कुछ अंगीकार करके भजन में ही तत्पर रहूँ। साथ ही भगवान् के इस उपकार को भी स्मरण रखे कि उन्होंने धनवानों को मेरी सेवा का भार सौंप दिया है, जिससे मुझे भजन में किसी प्रकार का विक्षेप न हो। यह ऐसी ही बात है कि जैसे जिस पर राजा की विशेष कृपा होती है उसे तो वह अपनी सेवा में रखता है और अन्य लोगों को वह अपने सेवकों की सेवा का भार सौंपता है, क्योंकि उन्हें वह साक्षात् अपनी सेवा के अधिकारी नहीं समझता। वे राजा के सेवकों के

ही अधीन रहते हैं और उन्हीं के आगे दण्ड भोगते हैं तथा वे राजसेवक निश्चिन्त रहकर सुखपूर्वक राजा की सेवा में तत्पर रहते हैं। इसी प्रकार भगवान् ने भी सब पुरुषों को अपने भजन के लिये ही उत्पन्न किया है। उनमें जो उनके भजन में तत्पर न रहकर मायिक व्यवहारों में लगे रहते हैं उन्हें प्रभु ने अपने भक्तों की सेवा सोंपी है। अतः असंग्रही पुरुष को भी चहिये कि जब किसी से कुछ ले तो इसी उद्देश्य से ले कि किसी प्रकार अपना निर्वाह करके भजन में तत्पर रहना है। इसी में उसका हित भी है। महापुरुष ने भी कहा है कि दान देनेवाले से लेनेवाला बड़ा तो नहीं होता, किन्तु यदि वह संयमपूर्वक लेकर भजन में स्थित रहे तो अच्छा है और धनवानों को भी उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिये। अतः निश्चित हुआ कि धनी और निर्धन सभी लोग भगवान् का भजन करने के लिये ही उत्पन्न हुए हैं।

दूसरी युक्ति यह है कि जब किसी से कुछ ले तो उसे भगवान् का ही उपकार माने और देनेवाले को भी प्रभु की प्रेरणा के ही अधीन समझे, क्योंकि जब भगवान् ने उसके हृदय में प्रेरणा की है तभी तो उसने मुझे कुछ दिया है। यह भगवत्प्रेरणा दाता के हृदय में श्रद्धारूप से प्रकट होती है, क्योंकि यदि उसके चित्त में श्रद्धा और निश्चय की दृढ़ता न होती तो वह मुझे कुछ भी क्यों देता। अतः सब प्रकार भगवान् का ही धन्यवाद है, वे ही सबके हृदयों के प्रेरक हैं। इस प्रकार भगवान् को ही देनेवाला समझते हुए भी यह ध्यान रखना चाहिये कि उन्होंने मेरे और अपने बीच में इस देनेवाले का भी सम्बन्ध रखा ही है, क्योंकि इसी के हाथों से तो वह चीज मेरे पास पहुँची है। अतः उसका भी हित चिन्तन करे, क्योंकि प्रभु ने उसे भी दया का पात्र बनाया है। वह भी भगवान् का प्यारा ही है, इसलिये उसका भला चाहना भी उचित ही है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये

कि यदि देनेवाला इसे थोड़ा दे तो उसे भी कम न जाने। यह भी भगवान् की कृपा ही समझे। देनेवाले को जैसे उचित है कि जितना भी दे उसे कम ही समझे उसी प्रकार लेनेवाले को भी उचित है कि उसें जो कुछ मिले उसे ही बहुत समझे।

तीसरी युक्ति यह है कि अशुद्ध धन को स्वीकार न करे। अर्थात् जो पापात्मा है उनकी वस्तु न ले। चौथी युक्ति यह है कि जितने से अपना काम चल जाय उससे अधिक न ले। उससे अधिक लेना बहुत अनुचित है। यदि घर में रखने के लिये ही कोई वस्तु लेनी हो तो वह भी दशमांश के अन्तर्गत नहीं होनी चाहिये। पाँचवीं युक्ति यह है कि जब कोई दान दे तो उससे पूछ ले कि तुम यह वस्तु किस निमित्त से देते हो? रोगी के लिये, निर्धन के लिये, हमें साधु समझकर या किसी कामना से? यदि वह किसी कामना से देता हो तो स्वीकार न करे और यदि निर्धन समझकर देता हो तो विशेष आवश्यकता होनेपर ही रखे, नहीं तो लौटा दे।

—:o:—

चौथी किरण

व्रतों का निरूपण

भगवान् ने यह आज्ञा की है कि जो पुरुष मेरे निमित्त व्रत और तप करते हुए भोगों का त्याग करते हैं उनको फल देनेवाला मैं ही हूँ। वे भगवान् के निमित्त किये जानेवाले व्रत तीन प्रकार के हैं; जैसे—

(१) पहला व्रत है अपने चित्त के संकल्पों को रोकना और वृत्ति को भगवान् के स्वरूप में स्थिर करना। यह व्रत बड़ा कठिन है और जब भगवान् के सिवा और कोई भी संकल्प इसके हृदय में स्फुरित हो जाता है तो यह खण्डित माना जाता है। इस व्रत में दिन के समय रात्रि के भोजन का संकल्प भी नहीं होना चाहिये। सबका पालन करने वाले तो प्रभु ही हैं, अतः इस जीव को अपनी जीविका की कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये। बस, उनका भरोसा रखकर अचिन्त्य हो जाना चाहिये। यह अवस्था संत जनों को प्राप्त होती है और यही सर्वोत्तम व्रत भी है।

(२) दूसरा व्रत है सम्पूर्ण इन्द्रियों को पाप कर्मों से रोकना। सब से पहले अपनी नेत्रेन्द्रिय को कुभावनापूर्वक देखने से रोके, क्योंकि इससे हृदय में काम-विकार उत्पन्न होता है। इसी से संतों ने कहा है कि नेत्रों की दृष्टि विषाक्त वाण के समान है, यह विष उसी के ऊपर लिपटा हुआ है। अतः जो पुरुष भगवान् से भय मानकर इसे त्याग देता है उसे धर्म का शिरोपाँव (पारितोपिक)

प्राप्त होता है तथा चित्त में प्रसन्नता छा जाती है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि पाँच कर्मों से व्रत खण्डित हो जाता है—निन्दा, मिथ्या भाषण, मिथ्या शपथ, कठोर वाणी और कामदृष्टि। ये पाँच पाप व्रत को नष्ट कर देते हैं। इनमें—

१—कामदृष्टि को रोकना यह नेत्रों का व्रत है। इसके सिवा—

२—रसना को व्यर्थ वचनों से रोकना चाहिये, अर्थात् जिस बात से कोई प्रयोजन सिद्ध न हो उसे न कहे, मौन रहे। अथवा मन को भगवद्वाक्य और संतों की वाणियों में लगावे, वाद-विवाद में आसक्त न हो। निन्दा और झूठ तो ऐसे पाप हैं कि इनसे संसारी पुरुषों के स्थूल व्रत भी नष्ट हो जाते हैं। कहते हैं, दो स्त्रियों ने निराहार व्रत किया था। जब वे भूख से व्याकुल हुईं तो उन्होंने महापुरुष से व्रत खोलने के विषय में पूछा। महापुरुष ने उन्हें जल से भरा कटोरा दिया। उस जल को पीने पर उन्हें वमन हुआ तो उसमें सबका सब रक्त ही निकला। देखकर सभी लोगों को बड़ा विस्मय हुआ। तब महापुरुष ने कहा, "इन स्त्रियों का ऐसा स्वभाव है कि जिस अन्न-जल को भगवान् ने शरीर का आहार बनाया है उससे तो यह व्रत रखती हैं और जो महापाप है उसे स्वीकार करती हैं। इन्हें निन्दा करने का बड़ा ही व्यसन है। इसी से इनके मुख से रुधिर निकला है। मानो निन्दा करके इन्होंने मांस भक्षण ही किया है।"

३—इसी प्रकार श्रवणों को भी मर्यादा में रखे। जो शब्द बोलने में निन्दनीय हैं वे सुनने में भी निन्द्य हैं। जैसे निन्दा और झूठ कहना निन्द्य है उसी प्रकार इन्हें सुनना भी बुरा ही है। इन्हें सुननेवाला भी कहनेवाले के

समान ही पाप का भागी होता है।

४—अशुभ कर्मों से हाथ-पाँवों को रोके रखना भी अत्यन्त आवश्यक है। व्रत रखनेवाला तो रोगी की तरह होता है। यदि कोई रोगी फल-मूल आदि को तो कुपथ्य समझकर त्याग दे, किन्तु विष पान करे तो उसकी मृत्यु ही होनी निश्चित है। सो, पापकर्म तो विष के समान हैं और अन्न-जल फल-मूलादि की तरह हैं। इनका तो अधिक मात्रा में सेवन करना ही पाप है, वास्तव में तो इनके सेवन में कोई दोष है नहीं। अतः अन्न-जल छोड़ देना और इन्द्रियों के द्वारा अशुभ कर्मों में आसक्त रहना—ऐसा व्रत करने से कोई लाभ नहीं हैं। इसी से कुछ संतों ने कहा है कि बहुत लोगों को तो व्रत रखने से केवल भूख-प्यास का कष्ट ही प्राप्त होता है।

५—अशुद्ध आहार को अङ्गीकार न करना—यह भी बहुत आवश्यक है। तथा शुद्ध आहार भी मर्यादा के अनुसार अल्पमात्रा में ही स्वीकार करे। भोजन अधिक न करे और ऐसा भी न करे कि दिन में उपवास करके रात को दुगुना खा ले। व्रत का प्रयोजन तो यह है कि भोगों का संयम किया जाय। यदि उपवास करने के पश्चात् पारण के समय तरह-तरह के व्यञ्जनों का सेवन किया जाय तो इससे तो भोगों में वृद्धि ही होगी। और न इससे हृदय की शुद्धि ही हो सकेगी।

इस प्रकार यह इन्द्रियों के व्रतों का वर्णन हुआ। ये जिज्ञासुओं के व्रत हैं और इनकी गणना मध्यम कोटि में है।

(३) तीसरे प्रकार का स्थूल व्रत संसारी पुरुषों के लिये है। वे केवल खान-पान का ही त्याग करते हैं, किन्तु इन्द्रियों को पाप

कर्मों से नहीं रोक सकते। यह व्रत सब से नीची कोटि का है। इसमें गुण केवल इतना ही है कि इससे भी इन्द्रियाँ कुछ शिथिल पड़ जाती हैं। जिज्ञासुजन यद्यपि समस्त इन्द्रियों का व्रत रखते हैं और अशुभ कर्मों से अपनी चित्तवृत्ति को भी रोकते हैं, तथापि उन्हें भी सर्वदा भगवान् से भय रखना चाहिये। पता नहीं, भगवान् उनके इस व्रत को स्वीकार करें या न करें। अतः उनका भय मानना ही अच्छा है। तथापि कभी भी निराश होकर शुभ कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि भगवान किसी के थोड़े से कर्म को भी व्यर्थ नहीं करते।

—:०:—

पाँचवी किरण

शास्त्रों के स्वाध्याय की युक्तियाँ

सन्तों का कथन है कि ग्रन्थों का स्वाध्याय भी एक उत्तम भजन है। एक बार महापुरुष ने भी कहा था कि लोगों के हृदय अत्यन्त मलिन हो रहे हैं, जैसे कि जंक लगने से दर्पण धुँधला हो जाता है। इस पर लोगों ने पूछा, "ऐसे हृदय किस प्रकार निर्मल होंगे ?" तब वे बोले कि भगवद्वचनों के पाठ और मृत्यु को स्मरण रखने से हृदय निर्मल हो जाता है। फिर उन्होंने यह भी कहा कि मेरे पीछे तुम्हें आदेश करनेवाले दो पर्याप्त हैं। उनमें एक मौनी है और एक बोलनेवाला। बोलनेवाले तो भगवान् और सन्तों के वचन हैं तथा मौनी मृत्यु है। इन दोनों के उपदेशों से जीवों का कल्याण होगा।

निश्चय जानो, जो पुरुष भगवान् के वचनों का पाठ करता है उसे अवश्य उत्तम अवस्था प्राप्त होती है। तथापि उसे चाहिये कि भगवद्वाक्यों का महत्व समझकर अपने को नीच कर्मों से बचाये रहे और हृदय में सर्वदा भगवान् का भय रखे। जो ऐसा नहीं करता उसे वे वचन ही झूठा बना देते हैं। महापुरुषों ने कहा है कि अधिक कपटी तो पढ़े-लिखे ही होंगे। तथा प्रभु भी कहते हैं, "मनुष्यो ! तुमको लज्जा नहीं आती कि जब तुम्हारे पास किसी सम्बन्धी का पत्र आता है तो तुम उसे बारबार ध्यान पूर्वक पढ़ते हो और जैसा वह लिखता है सावधानी से वही काम करते हो। मेरे जो ये वचन हैं यह भी तुम्हारे पास मेरा पत्र ही

आया है, इसे विचार कर इसी के अनुसार कर्म करो । इसके विपरीत क्यों चलते हो ? यदि थोड़ा पाठ भी करते हो तो भी उसका विचार नहीं करते कि इसमें लिखा क्या है ।" एक और संत ने कहा कि हमसे पहले ऐसे जिज्ञासुजन हुए हैं जो संतों के वचनों को पत्र के समान समझते थे । अतः रात्रि को तो उनका पाठ और विचार करते तथा दिन में उनके अनुसार आचरण करते थे । किन्तु इस समय तुम लोग तो केवल पाठ को ही आचरण मानने लगे हो, बस अक्षर और मात्राओं को ही सुधारते रहते हो । इनमें जो कुछ लिखा है उसके तात्पर्य की ओर तुम्हारा ध्यान ही नहीं है । यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि पढ़ने का फल पढ़ना ही नहीं है, इसका फल तो यह है कि वचन के रहस्य को समझकर उसके अनुसार आचरण करे । जो वचनों को पढ़कर उनके आदेश का पालन न करे उसकी स्थिति तो ऐसी ही है जैसे किसी सेवक के पास उसके स्वामी का कोई पत्र आवे और उसमें कोई विशेष कार्य करने का आदेश हो, किन्तु वह सेवक उसे स्वच्छ स्थान में बैठकर पढ़ तो ले और उसके अक्षरों को भी सुधार दे, पर उसमें जो करने को लिखा हो वह न करे । ऐसा सेवक तो निःसन्देह दण्ड का ही अधिकारी होगा ।

अतः याद रखो, जो पुरुष भगवद्वाक्यों को छः युक्तियों से अध्ययन करता है उसका ही पढ़ना सफल होता है । वे युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) जिस प्रकार सेवक स्वामी के सामने बैठता है उसी प्रकार नम्रतासहित बैठकर वचनों का पाठ करे । तथा पवित्र होकर बैठे ।

(२) पाठ धीरे-धीरे करे, जल्दी न करे और उसके अर्थ को विचरता जाय । ऐसा न सोचे कि किसी प्रकार जल्दी से पाठ समाप्त कर लूँ ।

(३) पाठ करते समय भय और प्रेम से आविष्ट होकर रोता जाय। यदि नेत्रों में आँसू न आवें तो हृदय को द्रवीभूत करे । महापुरुष ने कहा है कि भगवान् के वचन भय प्रकटाने के लिये हैं, अतः भगवान् का भय मानते हुए पाठ करो । जो कोई इन्हें विचारेगा उसे निःसन्देह भय उत्पन्न होगा । इस प्रकार जब अपने को दीन और पराधीन समझेगा तो अपनी स्थिति पर शोक भी अवश्य होगा । किन्तु यह भय और शोक की अवस्था तभी प्राप्त होती है जब असावधानी और अचेतनता को त्यागकर पाठ किया जाय।

(४) वचनों के तात्पर्य को अलग-अलग करके विचार करे। अर्थात् जब ताड़ना का प्रसंग आवे तो भगवान् से अपनी रक्षा चाहे और जब भगवत्कृपा का प्रसंग हो तो आशावान् हो जाय।

(५) पाठ के समय कपट और विक्षेप का कारण न बने। जब कोई दम्भ का आभास जान पड़े अथवा अपने पाठ से दूसरे के भजन में विक्षेप होता देखे तो ऊंचे स्वर से न पढ़े, क्योंकि गुप्त दान के समान गुप्त पाठ का भी विशेष फल होता है । किन्तु यदि दम्भ का आभास न हो और किसी के भजन में विक्षेप भी न होता दिखायी दे तो ऊँचे स्वर से ही पाठ करना अच्छा है, क्योंकि इससे निद्रा और आलस्य पास नहीं आते तथा सुननेवालों को भी लाभ होता है। कभी-कभी तो सोनेवाले भी सजग हो जाते हैं। यदि पुस्तक देखकर पाठ किया जाय तो और भी अच्छा है, क्योंकि इससे नेत्र भी इसी काम में लग जाते हैं ।

इस प्रकार नेत्र भी दूसरी ओर न देखकर भजन में ही लगे रहेंगे। कहते हैं, एक बार रात्रि में महापुरुष कहीं जा रहे थे। उन्होंने एक जिज्ञासु को गुप्त रूप से पाठ करते देखकर पूछा कि तुम इस प्रकार पाठ क्यों करते हो? उसने कहा, "मैं जिसको सुनाता हूँ वह गुप्त पाठ भी सुन लेता है।" फिर महापुरुष आगे गये तो उन्होंने एक सन्त को उच्च स्वर से पाठ करते देखा। तब उनसे पूछा कि तुम ऊँचे स्वर से क्यों पढ़ते हो? उन्होंने कहा' "अपनी ओर सोये हुए पुरुषों की निद्रा और विक्षेप को दूर करता हूँ।" तब महापुरुष ने, सोचा 'भावनाएँ तो दोनों ही की शुद्ध हैं, क्योंकि किसी भी कार्य का शुभ या अशुभ होना कर्ता के उद्देश्य पर ही निर्भर करता है। जिसका उद्देश्य शुभ होता है उसका कर्म भी शुभ होता है।"

(६) पाठ कोमल ध्वनि से करे, क्योंकि पाठ की ध्वनि जितनी कोमल होगी उतना ही भगद्वाक्य चित्त में अधिक प्रवेश करेंगे।

इस प्रकार ये जो छः युक्तियाँ कही गयी हैं वे तो स्थूल हैं। इन्हीं की तरह छः सूक्ष्म युक्तियाँ भी हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

(१) पाठ करते समय वचनों का महत्त्व ध्यान में रखे और यह स्मरण रखे कि ये वचन साक्षात् भगवान् के कहे हुए हैं। अतः भगवान् के स्वाभाविक स्वरूप के अनुसार ये भी अविनाशी हैं तथा इनका चरम तात्पर्य भगवान् के ज्ञान में ही है। मेरी जिह्वा पर जो स्फुरित होते हैं वे तो केवल अक्षर ही हैं। किन्तु जिस प्रकार 'अग्नि' शब्द उच्चारण करना तो सुगम है किन्तु

अग्नि का ताप सहन करना बहुत कठिन है, इसी प्रकार इन अक्षरों का उच्चारण तो सुगम है, किन्तु इनका तात्पर्य ऐसा प्रवल है कि उसका साक्षात्कार हो जाय तो उसी के प्रकाश में चौदहों भुवन लीन हो जायेंगे और हम उस तेज को सहन नहीं कर सकेंगे। परन्तु प्रभु ने इन वचनों के अर्थ की सुन्दरता और महत्ता को शब्दों और अक्षरों के पर्दे में छिपा रखा है, जिससे कि मन और वाणी को भी वचनों का रसास्वाद हो सके, इस पर्दे के बिना तो मनुष्यों को तात्पर्य समझाया ही नहीं जा सकता था। अतः जिज्ञासुओं को ध्यान रखना चाहिये कि इन वचनों का तात्पर्य अक्षरों से परे है । जिस प्रकार बैल आदि पशु मनुष्यों के शब्दों का अर्थ नहीं समझ सकते और अपनी स्वाभाविकी भाषा से मनुष्य उनसे काम नहीं ले सकते, इसलिये चरस या हल में चलाने के लिये वे पशुओं की तरह ही शब्द करते हैं। उसे सुन कर वे सावधान हो जाते हैं और उस कार्य को पूरा कर देते हैं । किन्तु फिर भी वे इस रहस्य को नहीं समझ सकते कि पृथ्वी पर हल किस लिये चलाया जाता है और धरती क्यों खोदी जाती है। वास्तव में धरती खोदने का जो यह उद्देश्य है कि इससे भूमि कोमल हो जायगी और उसमें पवन एवं जल का प्रवेश होने से बीज अंकुरित होकर बढ़ने लगेगा यह बात बैलों के चित्त में कुछ नहीं आ सकती । इसी प्रकार बहुत से पाठ करनेवाले भी ऐसे होते हैं कि वे संत और भगवान् के वचनों को केवल शब्दमात्र समझते हैं । यह उनकी बुद्धि की अत्यन्त मन्दता है। यह

ऐसी ही बात है जैसे कोई पुरुष यह तो जानता हो कि 'अग्नि' का अर्थ 'आग' है, किन्तु उसे यह पता न हो कि आग तो कागज को जलानेवाली चीज है। यदि ये अक्षर ही आग हैं तो ये तो कागज पर लिखे ही हुए हैं, इनसे तो इसे कोई हानि नहीं पहुँचती। अतः जिस प्रकार शरीर में जीव होता है और उसी के कारण शरीर की स्थिति होती है तथा वही इसकी महत्ता का कारण है वैसे ही अक्षर तो केवल शरीर के ही समान हैं, इसका जीव तो अर्थ है । अर्थ के कारण ही शब्द और अक्षरों का महत्त्व है। अतः सबसे पहले तो पाठ करनेवाले को भगवान् के वचनों का महत्त्व जानना चाहिये।

(२) जिन प्रभु के वचनों का पाठ करता है उन्हें अपने सामने विद्यमान देखे तथा ऐसी धारणा करे कि स्वयं वे ही मुझसे ये वचन कह रहे हैं। अतः उनके सामने भय-भीत-सा होकर स्थित हो और जैसे पुस्तक को पवित्र हाथों से स्पर्श करता है उसी प्रकार वचनों को भी पवित्र हृदय से ग्रहण करे, हृदय की पवित्रता से यही तात्पर्य है कि दूषित स्वभावों से शून्य हो और भगवद्वचनों के प्रति आदर एवं महत्ता के प्रकाश से आलोकित रहे। पूर्वकाल में अक्रमा नाम की एक बालिका थी। वह जब भगवद्वचनों का. पाठ करने के लिये पुस्तक खोलती थी तो कहती थी कि ये सर्वेश्वर श्री भगवान् के वचन हैं। बस, ऐसा कहते ही प्रीति और भय के आवेश से उसे मूर्च्छा हो जाती थी। मनुष्य जब तक भगवान् की महत्ता नहीं समझता तब तक उनके वचनों की महिमा भी नहीं जान सकता। तथा भगवान् की महिमा भी

उनकी कारीगरी और गुणों को जाने बिना नहीं जानी जा सकती। उनकी कारीगरी तो यह है कि आकाश, पाताल, पृथ्वी, देवता, मनुष्य, पशु, कीट, वृक्ष, और पर्वतादि जो कुछ सृष्टि है सब उन्हीं की रचना है, उन्हीं के अधीन है और जब वे इस का संहार करते हैं तब भी उन्हें किसी का कोई भय नहीं होता और न इस से उन की पूर्णता में ही कोई अन्तर आता है। वे ही सम्पूर्ण जीवों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले हैं। इस प्रकार विचार करने से प्रभु की महिमा की कुछ झलक प्राप्त हो जाती है। अतः ऐसा विचार करना चाहिये कि ऐसे जो ईश्वरों के ईश्वर श्री भगवान् हैं उन के वचनों का मैं पाठ कर रहा हूँ। ऐसा भाव रखने से हृदय में उन का भय भी बना रहता है।

(३) पाठ के समय चित्त को एकाग्र रखे और विक्षेप से दूर रहे। जब कोई वाक्य असावधानी से पढ़ जाय तो उसी को फिर पढ़े क्योंकि असावधानी से किया हुआ पाठ तो ऐसा है जैसे कोई पुरुष फूलों को देखने के लिये किसी बाग में जाय, किन्तु वहाँ विक्षेप से ऐसा अन्यमनस्क हो जाय कि वहाँ के विचित्र पुष्पों की रचना को कुछ भी न देख सके और यों ही बाहर चला आवे। तब तो उसका वहाँ जाना व्यर्थ ही होगा। इसी तरह भगवद्वाक्य भी जिज्ञासुओं का बगीचा ही है, इसमें जो नाना प्रकार के रहस्य हैं वे मानो परम विचित्र एवं मनोमोहन फल-फूल ही हैं। यदि कोई पुरुष इन पर विचार करे और फिर उसका चित्त एकाग्र हो जाय तो निःसन्देह उसे ऐसा आनन्द प्राप्त होगा कि किसी पदार्थ की ओर रुचि नहीं होगी। इसी से कहा है कि यदि

पाठ करनेवाला पुरुष बचनों के अर्थ को न समझे तो उस के पाठ का थोड़ा ही लाभ होता है। अतः उसे चाहिये कि वचनों की महिमा और सुन्दरता को हृदय में धारण करे तथा अन्य संकल्पों को दूर रखे।

(४) सब वचनों को गम्भीरतापूर्वक विचारे और जो समझ में न आवें उनका बार-बार अभ्यास करे। इस प्रकार कई बार पढ़ने से उनका रहस्य प्रकट होगा। फिर उसी रस में निमग्न हो जाय। इस तरह रसास्वादन करते हुए अध्ययन करने से अधिक लाभ होता है। एक संत का कथन है कि जब कोई पुरुष जिह्वा से तो कोई वचन उच्चारण करता है और मन से दूसरी ही बात सोचता रहता है, तो वह उस वचन के तात्पर्य से बहुत दूर पड़ जाता है। एक दूसरे सन्त ने कहा है कि जब भजन या पाठ में मुझे कोई व्यवहार का संकल्प फुरता है तो उसकी अपेक्षा मैं मरना अच्छा समझता हूँ। अतः मनुष्य को चाहिये कि जब किसी वचन का पाठ करने लगे तब चित्त में किसी और संकल्प का चिन्तन न करे। यद्यपि वह संकल्प सात्त्विक हो तो भी उसे भुला देना ही अधिक अच्छा है। जब भगवान् की स्तुति का पाठ करने लगे तो ऐसा ध्यान रखे कि वे प्रभु सबसे निर्लिप्त हैं, संकल्प से परे हैं, सबके ऊपर समर्थ हैं और परमदेव हैं। और जब उनकी कारीगरी का वचन पढ़े तब ऐसा विचार करे कि पृथ्वी और आकाश को उन्होंने उत्पन्न किया है। तथा उनकी नाना प्रकार की रचना देखकर प्रभु की विद्या, सामर्थ्य और महिमा को पहचाने एवं जिस पदार्थ को भी देखे उसमें उन्हीं की सत्ता अनुभव करे। जब इस वचन को पढ़े कि प्रभु

ने जीव को एक पानी की बूँद से बनाया है, तो ऐसा विचार करे कि वह वीर्य की बूँद तो एक ही रंग की थी, उन्होंने तो उसीसे कई रंग के अवयव बनाये हैं। देखो, त्वचा, मांस, नाड़ी, हाथ, पाँव, जिह्वा, और कर्ण आदि सभी अवयव कैसे आश्चर्यरूप हैं। यह शरीर एक मांस के पुतले के समान ही तो है, तथापि इसमें देखना, सुनना, बोलना, और चेतनता कैसे प्रकट हो गयी! इस प्रकार सब वचनों का उल्लेख करना बड़ा कठिन काम है। कहने का तात्पर्य यही है कि जिस वचन का पाठ करे उसके तात्पर्य पर विचार और अभ्यास करने में भूल न करे। जिस पुरुष की वृत्ति किसी महापाप में आसक्त होती है, जो मन माने रूप से किसी भी प्रकार की क्रिया में प्रवृत्त हो जाता है तथा जिसे किसी मत या पन्थ का इतना आग्रह हो जाता है कि उसके सिवा वह यथार्थ बात को सुनना ही नहीं चाहता, ऐसे पुरुष को प्रभु के वचनों का अर्थ कभी प्रकट नहीं हो सकता।

(५) पढ़ते समय जैसे-जैसे वचनों के अर्थों से भिन्न-भिन्न भाव अभिव्यक्त हों वैसे-वैसे ही अपने चित्त की वृत्ति को भी उन्हीं के अनुरूप बदलता जाय। यदि कहीं भय या ताड़ना का प्रसंग हो तो भय-भीत और अधीन-सा हो जाय, जब भगवत्कृपा का प्रसंग पढ़े तो आशायुक्त और प्रसन्नचित्त हो जाय तथा जब प्रभु की अपारता का प्रसंग पढ़े तो अत्यन्त दीनभाव ग्रहण करे और ऐसा समझे कि मेरी ऐसी बुद्धि ही नहीं है कि मैं उनकी स्तुति या महिमा का वर्णन कर सकूँ। इस प्रकार जैसा-जैसा वचन हो उसके अनुसार ही अपने

चित्त की अवस्था बनावे।

(६) भगवान् के वचनों को ऐसा समझे कि मानो मैं साक्षात् उन्हीं के मुख से सुन रहा हूँ। एक सन्त ने कहा है कि पहले मेरी समझ में भजन का कोई रहस्य नहीं आता था। किन्तु जब से मैंने ऐसा विश्वास किया कि ये वचन मैं महापुरुष के मुख से सुन रहा हूँ तब से मुझे उनमें रस आने लगा। और जब मैंने ऐसी भावना की कि इन वचनों के रूप से मुझे आकाशवाणी हो रही है तो मुझे और भी अधिक आनन्द आने लगा। इसके पश्चात् मैंने ऐसी धारणा की कि स्वयं भगवान ही मुझे ये वचन सुना रहे हैं। तब तो मुझे ऐसा रस और आनन्द का अनुभव हुआ कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार पाठ करने के विषय में छः स्थूल और सूक्ष्म युक्तियाँ बतलायी गयीं। जो पुरुष इनके अनुसार पाठ करेंगे उन्हें उससे बहुत अधिक लाभ होगा।

—:०:—

छठी किरण

भजन के विषय में

याद रखो, सम्पूर्ण साधनों का फल भगवान् का भजन है। पहले हम भगवद्वचनों के पाठ की श्रेष्ठता का वर्णन कर चुके हैं। किन्तु उनका तात्पर्य भी यही है कि किसी प्रकार भोगों से विरक्त होकर भगवान् के स्मरण में ही स्थित होओ। जब तक भोगों की प्रबलता रहती है तब तक भजन का कोई रहस्य प्रकट नहीं होता। अतः निश्चय हुआ कि सम्पूर्ण कर्मों का सार भगवान् का भजन ही है। जितने साधन हैं वे सब भजन की दृढ़ता के लिये ही कहे गये हैं। प्रभु ने भी कहा है कि तुम मेरा स्मरण करो तो मैं तुम्हारा स्मरण करूँ। किन्तु यदि स्मरण की ऐसी अवस्था प्राप्त न हो सके तो अधिक काल भजन का ही अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि इस जीव की मुक्ति का कारण भजन ही है। जो पुरुष उठते-बैठते, जागते-सोते और चलते-फिरते किसी भी अवस्था में भगवान् के भजन से असावधान नहीं होते उनकी महिमा तो स्वयं श्रीभगवान् ने भी कही है। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा है कि भय और दीनतासहित गुप्त रूप से ही भजन करो तथा सायं-प्रातः किसी भी समय भजन की ओर से असावधान मत होओ। किसी पुरुष ने महापुरुष से भी पूछा था कि मनुष्य का सब से बड़ा पुरुषार्थ क्या है? तब उन्होंने कहा था कि चित्त की वृत्ति प्रबल अभ्यास के कारण मृत्यु के समय भगवान् की ओर लगी हो— इस प्रकार का स्मरण ही सब से बड़ा पुरुषार्थ है। उन्होंने यह

भी कहा था कि भजन से अचेत पुरुषों की अपेक्षा भजनानन्दी पुरुष उतने ही श्रेष्ठ हैं जितने मृतकों की अपेक्षा जीवित पुरुष, अथवा जैसे सूखे वृक्षों की अपेक्षा फल से लदे हुए वृक्ष, या जैसे कायरों की अपेक्षा युद्ध में सम्मुख रहनेवाले शूरवीर। एक और संत ने कहा है कि परलोक में सब लोगों को पश्चात्ताप होगा कि हमने निरन्तर भजन ही क्यों नहीं किया, संसार में अपने समय को व्यर्थ क्यों खोया ? और जिन्होंने भजन किया होगा वे भी कहेंगे कि हमने और अधिक क्यों नहीं किया ? एक क्षण के लिये भी क्यों प्रमाद किया ?

सो, इस भजन की भी चार अवस्थाएँ हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—पहली अवस्था तो यह है कि मुख से तो भगवान् का नाम उच्चारण करे और हृदय से अचेत रहे। यह सब से निकृष्ट अवस्था है। इसी लिये इसका लाभ भी बहुत कम है। परन्तु लाभ हो ही नहीं—ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि जीभ विवाद और मिथ्या भाषण में लगी रहे इसकी अपेक्षा तो उससे भगवान् का नाम लेना निःसन्देह श्रेष्ठ है।

२—दूसरी अवस्था यह है कि चित्तसे भजन करे और चित्त एकाग्र न हो तब भी हठपूर्वक संकल्पों को हटाता रहे एवं चित्त को भजन में जोड़ता रहे। यह मध्यम अवस्था है।

३—तीसरी अवस्था यह है कि इसका हृदय भजन में स्थिर हो जाय और उसका रस हृदय में इतना प्रबल हो कि जब कोई दूसरा कार्य अवश्य ही करना हो तो भी यत्न करके चित्त को उसमें लगाना पड़े। यह उत्तम स्थिति है।

४— चौथी अवस्था यह है कि जिस वस्तु का स्मरण करता हो उसके स्वरूप में चित्त की वृत्ति लीन हो जाय। वह वस्तु तो परमात्मा ही है। उसके स्वरूप में लीन होने का अर्थ यह है कि उसमें डूब जाने से चित्त को भजन करने की भी सुधि न रहे। बस, सत्तास्वरूप भजन ही शेष रह जाय।❀ भजन तो जपरूप क्रिया और अक्षरोंद्वारा किया जाता है। यह निःसन्देह स्थूल है और संकल्पात्मक है। किन्तु भजन की उच्चतम अवस्था यह है कि संकल्प और अक्षरों का तो अभाव हो जाय और केवल भगवत्सत्ता में स्थिति हो। यह अवस्था पूर्ण प्रेम होनेपर ही प्राप्त होती है। जैसे किसी पुरुष की जब किसी से अत्यन्त प्रबल प्रीति होती है तो वह अपने प्रेष्ठ के स्वरूप में ऐसा डूब जाता है कि अपने आपको तथा और भी सब पदार्थों को भूल जाता है, यहाँ तक कि उस प्रियतम का नाम भी उसकी स्मृति में नहीं रहता। इसी प्रकार जब यह पुरुष प्रभु के साक्षात्कारद्वारा अपने को और सब पदार्थों को भुला देगा तभी संतों की उत्तम अवस्था को प्राप्त होगा। सन्त लोग इस अवस्था को 'जीवन्मृतक' कहते हैं, क्योंकि यहाँ पहुँचने पर यह अन्य सब पदार्थों के लिये मृतकवत् हो जाता है। भगवान् ने यद्यपि अनेकों ब्रह्माण्ड उत्पन्न किये हैं, पर हमें उनका ज्ञान तो नहीं होता। हम तो उन्हीं पदार्थों को सत्य मानते हैं जिन्हें अपनी इन्द्रियोंद्वारा अनुभव करते हैं। सो यदि किसी पुरुष

❀ अर्थात् चित्त में 'मैं भजन कर रहा हूँ' ऐसा स्फुरण न रहे, बल्कि वह साक्षात् भजनरूप ही हो जाय।

की इन्द्रियों के लिये ये सब पदार्थ भी अग्राह्य हो जायँ तो उसके लिये तो ये भी असत्य ही हो जाते हैं। यहाँ तक कि वह अपने को भी भूल जाता है, अतः अपने लिये तो वह स्वयं भी नहीं रहता। इसी को जीवन्मृतक कहा जाता है।

इस प्रकार जब इसके लिये सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता निवृत्त हो जाती है तब केवल भगवान् ही सत्यस्वरूप और वर्तमान रह जाते हैं। जिस प्रकार तुम पृथ्वी और आकाश को देखकर कहते हो कि सारा जगत् इतना ही है, इसके सिवा तुम्हें और कुछ नहीं भासता, इसी प्रकार उस जीवन्मृतक को और किसी पदार्थ का भान नहीं रहता, वह केवल एक प्रभु को ही देखता है और कहता है कि बस राम ही राम हैं, उनके सिवा और कुछ भी नहीं है। ऐसी अवस्था में भगवान् से उसका अभेद हो जाता है, वह उनमें अभिन्न रूप से लीन हो जाता है और उसकी भेदभावना नष्ट हो जाती है। यही तत्त्वज्ञों की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। जब जीव को यह स्थिति प्राप्त होती है तो निकटता और दूरी अथवा भेदभाव की उसे कोई सुधि ही नहीं रहती। अर्थात् 'यह मैं हूँ और ये भगावन् हैं'—ऐसा द्वैत उसे दिखायी ही नहीं देता। उसे तो अपने-आपकी ही विस्मृति हो गयी है, फिर वह निकटता और दूरी का अनुभव कैसे कर सकता है, जिससे कि उसे द्वैत-बुद्धि हो।

इसी अवस्था में जिज्ञासु को चैतन्य स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा वह चिदाकाश में स्थित होकर नाना प्रकार के आश्चर्य देखता है। उसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान का ज्ञान हो जाता है, अनेकों संतों और अवतारों के प्रत्यक्ष दर्शन करता है तथा उन्हें हस्तामलकवत् पहचानता भी है। वह ऐसे-ऐसे चमत्कार देखता है कि वाणी-द्वारा उनका वर्णन नहीं किया

जा सकता। जब इस समाधि से उसका उत्थान होता है तब भी एकाग्रता का रस उसके हृदय से नहीं जाता, उसकी चित्तवृत्ति सर्वदा उसी रस की ओर आकर्षित रहती है। माया के सारे पदार्थ उसके लिये नीरस हो जाते हैं। वह संसारी बिषयों में प्रवृत्त भी दिखायी देता है तो भी हृदय से सर्वथा निर्लिप्त रहता है। अन्य लोगों को माया के व्यवहारों में आसक्त देखकर उसे आश्चर्य ही होता है और उनके प्रति करुणा प्रकट करते हुए वह कहता है कि ये मन्दमति जीव कैसे अनुपम सुख से वञ्चित हैं। तथा संसारी जीव उसे देखकर कहते हैं कि यह सांसारिक कार्यों को ठीक-ठीक क्यों नहीं करता ? मालूम होता है यह पागल या उन्मत्त है।

किन्तु यदि जिज्ञासुजन यह परमपद प्राप्त न कर सकें और उन्हें इसके सूक्ष्म रहस्य का भी पता न लगे तो भी वे निराश न हों, क्योंकि केवल भजन की ही प्रबलता रहे तो वह भी उत्तमोत्तम फलों का कारण होगी, क्योंकि भजन की दृढ़ता से ही प्रेम की प्रबलता होती है और प्रेम होने पर ही जीव सब पदार्थों से विरक्त होता है। अतः उसे भी सब से अधिक प्रिय प्रभु ही होते हैं और यही सम्पूर्ण उत्तम फलों का बीज है, क्योंकि इस जीव को निश्चित रूप से श्रीभगवान् के समीप ही पहुँचना है और सम्पूर्ण संसार को त्यागकर जाना है। अतः इसकी प्रीति सर्वथा भगवान् के साथ ही होनी चाहिये। प्रियतम के प्रति जिसकी जितनी अधिक प्रीति होती है उसे उतना ही उनके दर्शनों से विशेष आनन्द भी होता है। अतः जिसका प्रभु के प्रति पूर्ण प्रेम है उसे उनके स्वरूप-साक्षात्कार से पूर्ण ही आनन्द प्राप्त होता है। किन्तु जिसके हृदय में मायिक पदार्थों की प्रीति बद्धमूल है वह तो सर्वदा उनके वियोगजनित दुःख से ही सन्तप्त रहता है।

तात्पर्य यह है कि जब जिज्ञासुजन भगवान् के भजन में

दृढ़ता पूर्वक लगे हों और उनके सामने सिद्धि आदि कोई ऐश्वर्य प्रकट न हो तब भी उन्हें भजन का त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि परमपद की प्राप्ति किसी सिद्धि या ऐश्वर्य के आश्रित नहीं है। अतः जब इस पुरुष का चित्त शुभ गुणों से सम्पन्न और निर्मल हो जाता है तब स्वाभाविक ही यह परमपद का अधिकारी हो जाता है। अतः इसे सर्वदा अभ्यास में तत्पर रहना चाहिये और ऐसा संकल्प रखना चाहिये कि मेरा चित्त एक क्षण के लिये भी भगवान् के भजन से अचेत न हो, क्योंकि भजन ही भगवान् के दर्शन और सूक्ष्म रहस्यों के अनुभव की कुञ्जी है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यदि कोई पुरुष वैकुण्ठादि का सुख भोगना चाहे तो भगवान् के भजन में ही लीन रहे। वास्तव में तो भजन ही परम वैकुण्ठ है।

अतः सम्पूर्ण गुणों का सार यही है कि मनुष्य निन्दनीय कर्मों से बचा रहे तथा भगवान् ने जो-जो कर्त्तव्य कर्म बनाये हैं उन्हें श्रद्धासहित करे। यदि कोई पुरुष निन्दनीय कर्मों में फँसा हुआ है और शुभ कर्मों की ओर से उदासीन है तो उसका भजन करना भी मनोरथमात्र ही है उसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। यथार्थ भजन तो वही है जो पाप कर्मों से बचने में जीव का सहायक हो और भगवत्स्मरण के द्वारा उसे भाग्यशाली बना दे।

—:o:—

[६]

षष्ठ उल्लास

(समस्त शारीरिक क्रियाओं को विचार की मर्यादानुसार करना)

पहली किरण

मित्रता और प्रीति किससे करनी चाहिये

यह संसार परलोक के मार्ग का एक पड़ाव है और इस पड़ाव में आये हुए सब मनुष्य परदेशी हैं। इन सब को एक ही ओर जाना है। अतः जैसे एक ही दिशा को जानेवाले सब यात्री आपस में सम्बन्धी की तरह होते हैं वैसे ही हम सब भी परस्पर सम्बन्धी हैं। इसलिये हममें से प्रत्येक को अन्य मनुष्यों के प्रति प्रेम और शुभ भावना रखनी चाहिये। सो, हमें जिस-जिस प्रकार भाव और संगति करने का अधिकार है इसका अब तीन किरणों में दिग्दर्शन कराया जायगा। पहली किरण में जो जिज्ञासु भगवन्मार्ग के साथी हैं उनके संग की विशेषता प्रकट की जायगी, दूसरी में सबके पारस्परिक संयोग के अधिकार और उसकी युक्ति का वर्णन होगा तथा तीसरी किरण में सम्बन्धी, सेवक और सखाओं के भावों की युक्तियाँ बतायी जायँगी।

याद रखो, भगवत्प्राप्ति के लिये जिज्ञासु पुरुषों के साथ मेल-मिलाप रखना भी एक उत्तम भजन है तथा यह सब कामों से बढ़ कर है। इस विषय में महापुरुष ने भी कहा है कि जिस पुरुष को भगवन्मार्ग में चलने का प्रेम है उसे भगवद् भक्तों का साथ बड़े भाग्य से प्राप्त होता है, क्योंकि यदि किसी समय वह भगवद्-भजन में प्रमाद करता है तो उसे दूसरा भक्त सावधान कर देता है और जब दोनों ही सावधान रहते हैं तो एक ही मार्ग के साथी हो जाते हैं। तथा ऐसा भी कहा है कि जिज्ञासुजनों के संग से

ऐसा उत्तम सुख प्राप्त होता है कि दूसरे लोगों से वह मिल नहीं सकता। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि जब कोई भक्तों के साथ प्रीति करता है तब वह भी भगवान् का अत्यन्त प्रिय बन जाता है। श्री भगवान् कहते हैं कि मेरा प्रेम उन पुरुषों को प्राप्त होता है जो मेरे लिये मेरे प्रेमियों के साथ प्रेम करते हैं, तन, मन, धन से उनकी सेवा भी करते हैं और उनके सब कार्यों में सहयोग प्रदान करने के लिये तत्पर रहते हैं। महापुरुष यह भी कहते हैं कि परलोक में भगवान् कहेंगे, "वे पुरुष कहाँ हैं जिन्होंने मेरे लिये परस्पर प्रेम और मित्रता का भाव रखा है, अब मैं उन्हें अपनी छाया तले रखूँगा।" साथ ही यह भी कहा है कि परलोक में सात प्रकार के पुरुषों को भगवान् की छाया-तले स्थान मिलेगा और वे अत्यन्त सुखी होंगे—

(१) नीति और विचार की मर्यादा में रहने वाला राजा।

(२) जो पुरुष बाल्यावस्था से ही अपना जीवन भगवद्भजन में लगाता है।

(३) जो यद्यपि भजनस्थान से बाहर भी जाय, किन्तु तो भी व्यावहारिक विक्षेप में फँसे नहीं।

(४) जो एकान्त में बैठकर भगवद्भजन में तत्पर रहे तथा प्रेम से आविष्ट होकर रुदन करे।

(५) जिसे एकान्त में स्त्री से मिलने का अवसर प्राप्त हो, किन्तु जो भगवान् का भय करके उसे त्याग दे।

(६) जो निष्काम भाव से गुप्त दान दे।

(७) जो भगवान् के ही निमित्त भगवद्भक्तों से मेल बढ़ावे और जब किसी व्यक्ति के साथ प्रेमसम्बन्ध का त्याग करे तब वह भी भगवान् के ही कारण हो। अर्थात् किसी के भी साथ उसके मेल और त्याग केवल श्री भगवान् के ही निमित्त से हों, उनमें अपने किसी स्वार्थ

का कोई सम्बन्ध न हो।

इसी प्रसंग में एक आख्यायिका प्रसिद्ध है—कहते हैं, कोई पुरुष अपने किसी प्रियजन से मिलने के लिये जा रहा था। मार्ग में उसे एक देवता मिला, वह कहने लगा, "तुम कहाँ जा रहे हो?" उसने कहा, "अपने मित्र के दर्शनों के लिये जा रहा हूँ।" देवता ने पूछा, "उससे क्या तुम्हारा कोई प्रयोजन है, अथवा उसने तुम्हारे प्रति कोई उपकार किया है?" वह बोला, "मैं केवल भगवान् के लिये ही उसके दर्शनों की इच्छा रखता हूँ।" तब वह देवता बोला, "मुझे भगवान् ने ही तुम्हारे पास भेजा है, सो मैं तुम्हें एक आनन्द का सन्देश सुनाता हूँ। तुम्हारी इस श्रद्धा ही के कारण भगवान् ने तुम्हें अपना प्रीतिपात्र बना लिया है।"

महापुरुष ने यह भी कहा है, "धर्मात्मा पुरुषों से प्रेम और भगवद्विमुखों का त्याग करना यह धर्म का एक प्रधान चिह्न है।" एक संत को आकाशवाणी हुई थी कि यदि तुम सम्पूर्ण मनुष्य और देवताओं के भजन के बराबर अकेले ही भजन करो, तब भी जब तक मेरे लिये मेरे भक्तों के साथ मित्रता और विमुखों का त्याग नहीं करोगे तब तक तुम्हें परम पद प्राप्त नहीं हो सकता। एक और संत से जिज्ञासुओं ने पूछा था कि संगति किसकी करें? तब उन्होंने कहा कि जिसके दर्शन करके तुम्हारा भगवद्भजन दृढ़ हो और जिसका आचरण देखकर तुम्हें भी शुभ आचरण की इच्छा उत्पन्न हो, उसी की संगति करो। एक दूसरे सन्त को आकाशवाणी हुई कि तुमने किस लिये एकान्त स्वीकार किया है? तब उन्होंने कहा, "प्रभो! जगत् के साथ मिलने से आपके प्रेम में बाधा पड़ती है, इसी से मुझे एकान्त अधिक प्रिय है।" इस पर उन्हें आज्ञा हुई कि इस एकान्त से तो अपने सुख और स्वार्थ अर्थात् व्यावहारिक क्लेश की निवृत्ति तथा भजनजनित प्रतिष्ठा की प्राप्ति की इच्छा सूचित होती है। अतः तुम मेरे भक्तों के

साथ प्रीति करो और विमुखों का संग छोड़ो। इसी प्रकार एक और संत ने कहा है कि जब भगवद्भक्त परस्पर मिल कर आनन्दित होते हैं तो उनके सब पाप इसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे शरद् ऋतु में पत्ते।

याद रखो, जो मित्रता किसी सम्बन्ध को लेकर होती है वह भगवान् के निमित्त नहीं कही जा सकती, जैसे कि पाठशाला में अथवा पड़ौसियों के साथ स्वभाव से ही प्रेम हो जाता है। यह सब तो स्थूल प्रीति है। अथवा जिसका रूप सुन्दर हो और वाणी मधुर हो या जिसके साथ धन अथवा मान का सम्बन्ध हो उससे जो प्रेम होता है वह भी भिन्न ही है। भगवदर्थ प्रेम तो वही है जिसमें किसी भी प्रकार का प्रयोजन एवं स्थूलता न हो और जो केवल धर्म के ही लिये हो। सो, यह प्रीति भी दो प्रकार की होती है—

(१) एक तो प्रेम वह है जिसमें कोई प्रयोजन रहता है, किन्तु वह प्रयोजन होना चाहिये सात्त्विक। जैसे अध्यापक के साथ विद्यार्थी का प्रेम होता है, वह अध्ययन यदि परमार्थ पथ में चलने के लिये हो तो उनका प्रेम भगवदर्थ समझा जायगा। और यदि उसका उद्देश्य धन अथवा मान हो तो उसकी गणना अन्य प्रकार के प्रेम में होगी। इसी प्रकार यदि पढ़नेवाले के प्रति अध्यापक का निष्काम प्रेम हो और वह उसे भगवान् की प्रसन्नता के लिये पढ़ाता हो तो उसकी प्रीति भी भगवदर्थ मानी जायगी। और यदि उसे मान की इच्छा हो तो वह अशुभ कामना में गिनी जायगी। इसी तरह यदि कोई दान देनेवाला अपने सेवक से इसलिये प्रेम करे कि यह सब अर्थियों को ठीक-ठीक सहायता पहुँचा देता है तथा अभ्यागतों को भी बड़े प्रेम से उत्तम-उत्तम

पदार्थ खिलता है तो यह भी धर्म-सम्बन्धी प्रेम ही माना जायगा।

२—दूसरी प्रकार का प्रेम वह है कि जिसके साथ इसका कोई प्रयोजन न हो, केवल भगवत्सम्बन्ध से ही प्रेम हो तथा भगवान् का प्रेमी समझ कर ही उससे मित्रता करता हो। यह उत्तम प्रकार की प्रीति है। जब किसी के साथ इस दृष्टि से प्रेम किया जाय कि यह भगवान् का जीव है, भले ही उसमें कोई गुण की भावना न हो तो भी उसे प्रेम की दृष्टि से देखे, तो यह पूर्ण प्रेम की अवस्था मानी जायगी। जब किसी के साथ एक व्यक्ति का विशेष प्रेम होता है तो उसे उसका घर और मुहल्ला भी अत्यन्त प्रिय जान पड़ता है तथा उसके सम्बन्धी और सेवकों को देखकर भी प्रसन्नता होती है, यहाँ तक कि उसके कुत्ते भी दूसरे कुत्तों से विशेष जान पड़ते हैं, इसी प्रकार भगवान् के प्रति जिनका पूर्ण प्रेम होता है उसे उनके सभी जीव बहुत प्रिय लगने लगते हैं, भक्त और जिज्ञासुओं से तो निःसन्देह उसका अत्यन्त प्रेम होता है तथा अन्य सब पदार्थों को भी अपने प्रियतम की रचना समझ कर वह खूब प्रेम करता है। कहते हैं, वसन्तऋतु आने पर जब कोई पुरुष महापुरुष के आगे कोई नया पुष्प लाकर रखता तो वे उसे अपने नेत्रों पर मलते थे और कहते थे कि ये मेरे प्रियतम के बनाये हुए हैं और उनसे बिछुड़े हुए अभी इन्हें थोड़ा ही समय हुआ है। ये उनकी बिलकुल नयी कारीगरी हैं।

इसी प्रकार भगवान् के साथ जो प्रीति होती है वह भी दो प्रकार की है। एक तो वह जो इस लोक और परलोक के सुखों की कामना से होती है और दूसरी जो निष्काम हो। इसी का नाम

पूर्ण प्रेम है। भगवान् के विषय में मनुष्य का निश्चय जितना दृढ़ होता जाता है उतनी ही उनके प्रति इसकी प्रीति दृढ़ होती है। उसी प्रीति के कारण यह प्रभु के प्रेमियों से भी अत्यन्त प्रेम करने लगता है। किंतु प्रीति की मर्यादा प्रकट होती है धन और मान के अर्पणद्वारा । अर्थात् यह जितना धन और मान भगवत्प्रेमियों पर निछावर कर सकता है उतनी ही उनके प्रति इसकी प्रीति मानी जायगी। अतः जो लोग अपना सम्पूर्ण धन और मान उन्हें अर्पण कर देते हैं वे उनके पूर्ण प्रेमी माने जायँगे और जो थोड़ा अर्पण करते हैं वे अल्प प्रेमी।

ध्यान रहे, जिस प्रकार सात्विक पुरुषों के साथ भगवत्प्रेमियों का स्नेह एवं सौहार्द रहता है उसी प्रकार राजसी और तामसी प्रकृति के लोगों से वे स्वाभाविक ही विरुद्ध रहते हैं, क्योंकि वे लोग भगवान् से विमुख होते हैं और उनके संग से इन्हें अपने में भी प्रमाद आने की आशंका रहती है। यहाँ विरुद्ध रहने का यह अर्थ नहीं है कि उनके आचरण को देखकर अपने चित्त में कुढ़ा करें, तथापि ये मनमुखों के साथ मिलने से संकोच अवश्य करते हैं। बस, इतना ही इनका उनसे विरोध रहता है। इसमें एक भेद और भी है, वह यह कि यदि कोई मनुष्य रजोगुणप्रधान सात्विकी प्रकृति का हो तो जिज्ञासु को चाहिये उसकी सात्त्विकता से तो प्रेम करे और रजोगुण से दूर रहे। इस प्रकार एक ही व्यक्ति के प्रति उसके गुणभेद से, उसे प्रेम और उदासीनता साथ-साथ करने चाहिये। जैसे किसी व्यक्ति के तीन पुत्र हों, उनमें एक आज्ञाकारी और बुद्धिमान् हो, दूसरा आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला और मूर्ख हो तथा तीसरा आज्ञाकारी किन्तु मूर्ख हो तो इनमें पहले पुत्र से तो स्वाभाविक ही पिता का प्रेम होगा, दूसरे को वह ताडनादि करेगा और तीसरे की आज्ञाकारिता को लेकर तो प्रेम करेगा किन्तु मूर्खता के लिये उसे डाटे-डपटेगा भी। इसी प्रकार यदि कोई

पुरुष भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करता हो तो जिज्ञासु को उसका त्याग करना उचित ही है, जितने अंश में उसका व्यवहार भगवदाज्ञा के अनुसार हो उतने ही अंश में उससे प्रेम और मित्रता रखनी चाहिये।

मनुष्य के प्रेम और विरोध का भाव उसके आचरण से प्रकट हो जाता है। जब तुम्हें किसी व्यक्ति में कोई अवगुण दिखायी देता है तब स्वाभाविक ही तुम्हारा चित्त उससे हटने लगता है, फिर जब अधिक अवगुण प्रतीत होते हैं तो उससे चित्तवृत्ति एकदम उलट जाती है तथा मिलना और बोलना भी घटने लगता है, और जब वह लम्पटता के कारण सन्तों की मर्यादा त्याग देता है एवं अत्यन्त ढीठ हो जाता है तो उसके साथ तुम्हारा वचन, कर्म और प्रेम किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। तामसी पुरुषों की गति तो भोगियों की अपेक्षा भी अत्यन्त निकृष्ट होती है, इसलिये उनके साथ प्रेम करना सर्वथा अनुचित है। वह तो सभी जीवों का घात करनेवाला होता है। किंतु यदि कोई तामसी पुरुष ऐसा हो जो केवल तुम्हें ही कष्ट पहुँचाता हो तो उसके प्रति प्रतिहिंसा का भाव न रखकर दया ही करनी चाहिये।

यहाँ जो तामसी मनुष्यों से विरुद्ध होने की बात कही है, इसमें जिज्ञासुओं की अवस्था दो प्रकार की रही है—उनमें कुछ तो ऐसे हुए हैं जिन्होंने विचार और धर्म की मर्यादा के निमित्त पापियों को दण्ड दिया है और कुछ ऐसे हुए हैं जिन्होंने सब के प्रति दया का ही भाव रखा है। किन्तु उन्होंने सारे संसार से ही सम्बन्ध तोड़ दिया था। अतः वे पापियों से भी उदासीन ही रहे। इन दोनों ही का आचरण ठीक समझना चाहिये, क्योंकि जिस मनुष्य का उद्देश्य शुभ होता है और जिसमें अपने लिये कोई वासना नहीं होती उसकी सभी क्रियाएँ शुभ और कल्याणकारिणी होती हैं। अतः जिसे यह पता है कि सब जीवों के प्रेरक श्रीभगवान् ही हैं, स्वयं तो सभी

जीव पराधीन हैं, वह तो सभी प्राणियों को दयादृष्टि से देखता है। यही उत्तम अवस्था है, साथ ही पापी जीवों को पाप कर्मों से रोकना भी बहुत अच्छा है। किन्तु कुछ लोग ऐसे मूर्ख होते हैं कि वे पाप कर्मों का त्याग भी नहीं कर सकते और न पापी जीवों के संग से होनेवाले दोष को ही पहचान सकते हैं, तथापि मुख से यही कहते हैं कि हम तो किसी को भी बुरा नहीं समझते, क्योंकि सबके प्रेरक श्रीभगवान् ही तो हैं। पर हृदय में ये राग-द्वेष से जलते रहते हैं। सो जब तक भगवान् की एकता के ज्ञान का लक्षण प्रकट न हो तब तक ऐसा अभिमान करना व्यर्थ है। वह लक्षण यह है कि यदि कोई इसका धन हरले, अथवा इससे कटु वचन कहे, या इसे अकारण ही दण्ड दे तो भी इसे क्रोध न हो और उसे दयादृष्टि से ही देखता रहे। तब समझना चाहिये कि इसके हृदय में एकता दृढ़ हुई है। जैसे एक बार मनमुखी लोगों ने महापुरुष के दाँत तोड़ दिये और उनके मुँह से रक्त बहने लगा, तब भी उन्होंने यही कहा कि प्रभो! ये लोग मुझे जानते नहीं, अतः आप ही इन पर दया करें। परन्तु जो व्यक्ति अपना प्रयोजन होने पर तो राग-द्वेष करने में पक्का हो, और धर्म की मर्यादा रखनी हो तो मौन हो जाय, अर्थात् पापियों को पाप करने से न रोके और न उनसे अपना सम्बन्ध ही तोड़े, तो उसे तो महामूर्ख ही समझना चाहिये। इसलिये जब तक इसके हृदय में परमात्मा की एकता सुप्रतिष्ठित न हो तब तक यदि यह कुसंगी पुरुषों को बुरा जानकर उनकी मित्रता नहीं त्यागता, तो समझना चाहिये कि धर्म पर इसकी दृढ़ आस्था नहीं है। जैसे किसी व्यक्ति का कोई प्रिय न हो और उससे कोई दुर्वचन कहे, किन्तु यह उसे कुछ कहे ही नहीं, तो समझना होगा कि वास्तव में उस पुरुष के साथ इसकी मित्रता ही नहीं है।

इसके सिवा, जो पापी पुरुष कहे गये हैं उनके भी कई भेद

हैं तथा उन्हें दण्ड देने के लिये भी अधिकार की अपेक्षा होती है। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो न तो भगवान् को मानते हैं, न परलोक पर विश्वास रखते हैं और सर्वदा तमोगुण में ही बर्तते हैं ऐसे लोगों के साथ जिज्ञासुओं को कभी मेल नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसे लोगों का तो अवतारों और सामर्थ्यवान् पुरुषों ने भी शस्त्रों द्वारा संहार किया है, फिर उनके साथ किसी भी प्रकार का व्यावहारिक सम्बन्ध रखना कैसे उचित हो सकता है। जो व्यक्ति लोगों को सत्कर्म से हटाता है और मनमाने ढंग से नास्तिकों के मत का पोषण करता है, उससे सम्बन्ध रखना अच्छा नहीं हो सकता। उसका तो निरादर करने में ही भलाई है, क्योंकि उसका निरादर देखकर लोगों के चित्त से उसके प्रति विश्वास जाता रहेगा किन्तु जो मनुष्य दूसरों को सत्कर्मों से भ्रष्ट नहीं करता, केवल आप ही उनसे दूर रहता है, उसका प्रकट रूप से तिरस्कार करना ठीक नहीं, यद्यपि उसके साथ मित्रता भी नहीं करनी चाहिये। और जो व्यक्ति निन्दा, झूठ, कपट दुर्वचन एवं अनीति आदि का व्यवहार करके लोगों को दुःख पहुँचाता हो, उसके साथ तो कठोरता और उपेक्षा का बर्ताव करना ही हितकर है, उससे प्रेम करना तो सर्वथा अनुचित है। तथा जो पुरुष भोगासक्त हो अथवा मद्यपान करता हो, पर किसी को कोई दुःख न देता हो, उसे उपदेश करना चाहिये। किन्तु तभी जब उसमें कुछ श्रद्धा का अंश दिखायी दे। यदि उसमें श्रद्धा न जान पड़े तब तो लज्जापूर्वक उसके आचरणों की ओर से नेत्र मूँद लेना ही अच्छा है।

—:o:—

दूसरी किरण

मित्र के लक्षण और मित्रता की युक्तियाँ

मित्रता के अधिकारी सभी लोग नहीं होते। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि जिनमें तीन लक्षण पाये जायँ उनके साथ मित्रता करे। पहला लक्षण तो यह है कि वह पुरुष बुद्धिमान् हो क्योंकि मूर्ख की संगति तो निष्फल होती है और न उसकी मित्रता का निर्वाह ही हो सकता है। मूर्ख मनुष्य जब तुम्हारा कोई उपकार भी करना चाहेगा तब भी अपनी मूर्खता से ऐसा आचरण कर डालेगा जिससे तुम्हें हानि ही पहुँचेगी और उसे यह पता भी नहीं चलेगा कि मैंने ही इन्हें यह हानि पहुँचायी है। इसलिये मूर्ख की संगति से तो दूर रहना ही भगवान् की सन्निधि प्राप्त करने का साधन है। मूर्ख की तो दृष्टि भी किसी पाप-संस्कार के कारण ही पड़ती है। 'मूर्ख' कहते उसे हैं जो कार्य के भेद को न समझे और बहुत समझाया जाय तब भी उसकी बुद्धि उसे ग्रहण न कर सके। दूसरा लक्षण यह है कि उसका स्वभाव कोमल हो, क्योंकि जिसके स्वभाव में कठोरता होती है वह अपनी कठोरता के कारण ही मित्रता को निभा नहीं पाता, वह तो निःशंक होकर कभी-न-कभी प्रीत की रीति को तोड़ ही डालता है। इनके सिवा मित्रता का तीसरा अधिकारी वह है जिसकी चित्तवृत्ति सत्कर्मों में सुदृढ़ हो, क्योंकि जो पापकर्मा होता है उसके चित्त में भगवान का भय कुछ भी नहीं होता। और जो पुरुष भगवान् के भय से शून्य हो उसके साथ प्रीति या प्रतीति करना अत्यन्त अनुचित है। इस पर भगवान् भी कहते

हैं कि जो पुरुष मेरे भजन से अचेत हैं और अपनी वासनाओं में ही फँसे हुए हैं उनके साथ प्रति या प्रतीति मत करो।

इनके अतिरिक्त जो नास्तिक हों उनका भी संग न करना ही अच्छा है, क्योंकि साथ होनेपर उनके रहन-सहन का प्रभाव इसके हृदय पर भी पड़ जाता है और यह भी अपकर्म करने लगता है। नास्तिक लोग यह भी कहा करते हैं कि किसी को भी धर्म का उपदेश करना उचित नहीं तथा पापों और भोगों से भी किसी को रोकने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि हमें उन लोगों से क्या लेना है? सो ऐसी बातें मन्द भाग्य और दुःख की ही मूल हैं। अतः इन लोगों की संगति को त्यागने में ही भलाई है। इस प्रकार के वचन तो केवल मन की वासनाओं का ही पोषण करनेवाले हैं। जिन लोगों का ऐसा ही निश्चय दृढ़ हो जाता है वे धृष्टतापूर्वक खुल्लमखुल्ला अपकर्म करने लगते हैं। एक सन्त ने कहा है कि पाँच प्रकार के मनुष्यों का संग न करे —

(१) जो झूठ बोलता हो, क्योंकि झूठा आदमी कपट करके सर्वदा छल ही करता है।
(२) जो मूढ़ता के कारण तुम्हारे लाभ को ठेस पहुँचानेवाला हो।
(३) जो कृपण हो; वह भी तुम्हारी शुभ स्थिति को व्यर्थ कर डालेगा।
(४) जो पुरुषार्थहीन हो, क्योंकि उससे भी तुम्हारा कोई कार्य पूरा नहीं हो सकता।
(५) जो लम्पट हो, वह किसी दिन तुम्हारी मित्रता को एक ग्रास से भी कम मूल्य में बेच डालेगा। वह लोभवश एक ग्रास भी स्वीकार कर लेगा और तुम्हारी मित्रता की कोई परवाह नहीं करेगा। उसकी दृष्टि में तुम्हारी मित्रता एक ग्रास के बराबर भी नहीं होगी।

तथा एक और संत ने कहा है कि मैं कठोर और विद्वान् पुरुष की अपेक्षा तो विद्याहीन, किन्तु कोमलचित्त पुरुष की मित्रता को अच्छा समझता हूँ।

किन्तु यह स्मरण रहे कि सब पुरुषों में शुभ गुणों का मिलना कठिन ही है। अतः सबसे पहले तो संगति के प्रयोजन को पहचानना चाहिये। यदि तुम्हें केवल शुभ गुणों की ही आवश्यकता है तो कोमलचित्त और धीर पुरुषों की ही संगति करनी चाहिये और यदि धन की इच्छा हो तो किसी उदार पुरुष के पास जाओ। इसी प्रकार सब पुरुषों के स्वभाव अलग-अलग हैं। इसके सिवा किसी पुरुष की संगति तो आहार के समान होती है, उससे सर्वदा ही मिलते-जुलते रहने की आवश्यकता होती है; और किसी की संगति औषध की तरह होती है, उससे किसी अवस्थाविशेष में ही मिलने की जरूरत होती है। तथा किसी का संग रोग की तरह होता है, उससे कभी भी नहीं मिलना चाहिये। यदि संयोगवश कभी उससे मिलना हो भी जाय तो भी धर्म और प्रयत्नपूर्वक उससे छुटकारा पा लेना ही अच्छा है। सर्वदा तो उसी का संग करना चाहिये जिसके सहवास से परस्पर शुभ गुणों का विकास हो।

स्मरण रहे, यह मित्रता और प्रीति का नाता भी एक प्रकार का सम्बन्ध है। अतः इस सम्बन्धी की कुछ युक्तियाँ भी जाननी चाहिये। इस विषय में महापुरुष ने भी कहा है कि प्रेमियों का मिलन ऐसा सुखदायक होता है जैसे दोनों हाथ परस्पर एक-दूसरे का मैल उतारे रहते हैं। तथा युक्तिपूर्वक की हुई उनकी संगति का एक विशेष महत्त्व होता है। अतः अब हम ऐसी कुछ युक्तियों का विवरण लिखते हैं—

१—पहली युक्ति यह है कि अपनी अपेक्षा अपने मित्र को खान-पान एवं वस्त्रादि सामग्री विशेष ही दे तथा उसे किसी पदार्थ की आवश्यकता हो तो अपनी रूचि की कोई परवाह न करके

उसकी ही इच्छा पूरी करे। अपने पास जो धन या सामग्री हो उसे मित्र से भिन्न न समझे तथा उसके बिना कहे ही उसका काम पूरा करने को तत्पर हो जाय। यदि स्वयं मित्र की आवश्यकता का विचार न किया और उसे कुछ माँगना पड़ा तो प्रीति में शिथिलता आ जायगी। यदि तुम्हारा हृदय उसकी आवश्यकता का विचार करने और उसकी सहायता करने में असावधान रहेगा तो तुम्हारी प्रीति केवल दिखावटी ही समझी जायगी। कहते हैं, दो प्रेमी जन परस्पर मित्र थे। उनमें से एक ने कहा, "मुझे चार हजार रुपये की आवश्यकता है।" इस पर दूसरा बोला, "दो हजार ले लो।" तब वह बोला, "तुझे लज्जा नहीं आती कि व्यर्थ ही मित्रता का अभिमान करता है और चाहता है कि मेरी अपेक्षा माया को अधिक।" इसी प्रकार एक और प्रसंग भी है। कहते हैं, किसी नगर में कुछ प्रेमी पुरुष रहते थे। उनके विषय में किसी ने राजा के पास जाकर कहा कि ये लोग शास्त्र-मर्यादा का उल्लङ्घन करते हैं और लोगों में भ्रष्टाचार का प्रचार करते हैं। राजा ने उन्हें पकड़ कर मार डालने की आज्ञा की। किन्तु जब उन्हें मारने का अवसर उपस्थित हुआ तो उनमें से एक प्रेमी आगे बढ़ा और कहने लगा कि इनसे पहले मुझे मारो। राजा ने पूछा, "तू अकस्मात् कैसे आगे चला आया!" प्रेमी बोला, "ये सब मेरे प्रियतम हैं, अतः मैं चाहता हूँ कि अपनी आयु का कोई क्षण इन पर भी निछावर कर दूँ।" यह सुनकर राजा कुछ सिटपिटाया और बोला, "इनके प्रति यदि आप लोगों के चित्त में इतना प्रेम और विश्वास है तो इन्हें मारना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता।" ऐसा कहकर उसने सभी को बन्धन मुक्त कर दिया है। एक तीसरा प्रसंग और भी है—एक बार एक पुरुष अपने मित्र के घर आया, किन्तु वह उस समय घर पर उपस्थित नहीं था। तब उस प्रेमी ने उसकी दासी को बुलाया और उसका रुपया-पैसे का सन्दूक मँगाकर स्वयं ही खोलकर जो चाहिये

था ले लिया। पीछे जब मित्र अपने घर आया और उसने दासी के मुख से यह वृत्तान्त सुना तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई और हर्षित होकर उस दासी को दासत्व से मुक्त कर दिया। इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग भी है—एक बार एक संत के पास कोई व्यक्ति आया और कहने लगा कि मैं आपके साथ मित्रता करना चाहता हूँ। संत ने पूछा, "तुम मित्रता की युक्ति जानते हो?" वह बोला नहीं, संत ने कहा, "यदि तुम अपने सम्पूर्ण धन और सम्पत्ति को मुझ से बढ़कर न समझो तो प्रीति की युक्ति पूर्ण हो सकेगी।" वह व्यक्ति बोला, "मुझे ऐसी स्थिति तो प्राप्त नहीं है।" तब संत बोले, "तो तुम प्रीति के अधिकारी नहीं हो, अतः अपने घर लौट जाओ" इसी प्रकार एक समय महापुरुष वन में विचर रहे थे, उनके साथ एक संगी भी था। वहाँ उन्होंने एक वृक्ष से दो दाँतौन तोड़ीं, उनमें से जो सीधी और कोमल थी वह तो साथी को दी और कठोर स्वयं ले ली। साथी ने पूछा, "महाराज, आपने सीधी दाँतौन क्यों नहीं ली?" तब महापुरुष बोले, "भाई, यदि एक क्षण भी किसी का साथ दिया जाय तो उसके प्रति मित्रवत् व्यवहार करना आवश्यक हो जाता है, और मित्रता के व्यवहार का यह नियम है कि अपनी अपेक्षा अपने मित्र को अधिक सुख दिया जाय।"

२—दूसरी युक्ति यह है कि मित्र के सब कार्यों में सहायता करे और उसके कहे बिना ही उसके सब कामों को पूरा करने के लिये तैयार रहे तथा प्रसन्न चित्त से उन्हें निष्पन्न करे। पहले तो ऐसे प्रतिमान् पुरुष भी हुए हैं जो अपने सम्बन्धियों की अपेक्षा भी मित्रों के कार्यों को विशेष महत्त्व देते थे। एक सन्त ने कहा है कि मुझे भगवन्मार्ग के मित्र अपने स्त्री-पुत्रादि की अपेक्षा भी अधिक प्रिय हैं, क्योंकि वे हमें धर्म की दृढ़ता में सचेत करते रहते हैं। एक संतने कहा है कि जब मेरे साथ मेरे शत्रु का कोई प्रयोजन होता है तो मैं उसे ही शीघ्र पूरा करना चाहता हूँ, फिर अपने परमार्थ-

मार्गी प्रियजनों के कार्यों को पूरा करने में मैं क्यों सावधान न होऊँगा ?

३—तीसरी युक्ति यह है कि जिह्वाद्वारा सर्वदा मित्र के गुणों का ही वर्णन करे, अवगुण कभी किसी के सामने न कहे। यदि कभी कोई व्यक्ति किसी मित्र की निन्दा करे तो उसे रोक दे और ऐसा समझे कि इस समय भी वह मित्र मेरे पास ही मौजूद है। अतः जिस प्रकार मित्र की उपस्थिति में उसके विषय में चर्चा करता है वैसे ही उसके पीछे भी उसका हितचिन्तन ही करे। इसके सिवा मित्र कोई बात कहे तो उसका खण्डन न करे तथा उसकी किसी गुप्त बात को भी प्रकट न करे। यदि किसी समय मित्र अपनी अवज्ञा भी कर दे तो भी उससे कुछ कहे नहीं और न रोष ही प्रकट करे। ऐसा समझे कि मनुष्य तो सर्वदा भूलों से ही भरा हुआ है, मुझसे भी तो अनेकों बार भगवद्भजन में कई प्रकार की अवज्ञाएँ हो जाती हैं। ऐसा विचार कर अपने रोष को शान्त कर ले। यदि तुम कोई ऐसा मनुष्य ढूँढ़ना चाहो कि जिसमें किसी प्रकार की असावधानी और अवगुण हों हीं नहीं, तो यह भी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा होनेपर तो तुम किसी से भी प्रेम नहीं कर सकोगे और मित्रता के सुखसे वञ्चित ही रह जाओगे। महापुरुष ने भी कहा है कि प्रतिमान् पुरुष सर्वदा गुणों पर ही दृष्टि रखते हैं। यदि उन्हें किसी का कोई दोष दिखायी भी देता है तो वे समझते हैं कि उनसे अकस्मात् किसी कारण से यह भूल हो गयी है। तथा जो कपटी पुरुष होता है वह तो सर्वदा अवगुणों की ही ओर देखता है। अतः उचित यह है कि जिसमें एक भी गुण दिखाई दे उसके दस अवगुणों का भी विचार न करे। महापुरुष कहते हैं कि कुसंगी पुरुषों से तो भगवान् रक्षा ही करें। यहाँ 'कुसंगी पुरुष' उन्हें कहा है जो किसी के अवगुण देखकर उनका तो प्रचार करते हैं और शुभ गुणों को छिपा लेते हैं। अतः उचित यही है

कि मित्र के अवगुणों को विचारे नहीं तथा उसके विषय में सर्वदा शुभ अनुमान ही करे, क्योंकि किसी के विषय में बुराई का अनुमान करना अत्यन्त निन्दनीय है। इस पर एक संत का कथन है कि अपने मित्र के अवगुणों को प्रकट करना ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति सोये हुए मित्र का वस्त्र उतार ले और उसे नंगा कर दे। उसकी यह क्रिया जितनी निन्दनीय मानी जायगी उससे भी बढ़कर निन्दा के योग्य अपने मित्रके अवगुणों को प्रकट करना है। अतः बुद्धिमानों ने कहा है कि जिस प्रकार भगवान् तेरे गुण और अवगुण दोनों ही जानते हैं, किन्तु अवगुणों को प्रकट नहीं करते उसी प्रकार मित्र भी वही है जो अवगुणों को जानकर भी प्रकट न करे। तभी उसका संग भी लाभदायक होता है। कहते हैं, किसी व्यक्ति ने अपने मित्र से अपना कोई गुप्त भेद प्रकट किया और फिर पूछा कि तुम ने यह बात हृदय में रखली है? ❀ इस पर मित्र ने कहा कि मैंने तो भुला दी। (अर्थात् मेरे चित्त पर इसका अब कोई प्रभाव नहीं है।) क्योंकि लोभ, अथवा अपनी किसी वासना के कारण जो किसी समय अकस्मात् मित्र को त्याग देता है वह मित्रता का अधिकारी नहीं होता। अतः मित्रता की युक्ति यही है कि मित्र के भेद को प्रकट न करे और न मित्रके आगे ही किसी की निन्दा करे। तथा कभी कोई झूठी बात भी न कहे और न मित्र की बात का ही खण्डन करे। इसके सिवा मित्र से अपना कोई कर्म छिपाये भी नहीं। याद रखो, यदि उलटी बात कहकर मित्र के किसी वचन का खण्डन किया जायगा तो कुछ ही दिनों में मित्रता नष्ट हो जायगी, क्योंकि वचन को उलटने का अर्थ यह होता है कि तुम मित्र को मूर्ख बनाना चाहते हो और अपनी बुद्धिमानी प्रकट करते हो। सो, यह मित्रता का

❀ अर्थात् तुम इसे याद रखोगे तो फिर किसी से कह भी दोगे।

लक्षण नहीं है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यदि तुम्हारा मित्र तुम से कहे कि उठो, तो उससे यह भी पूछना ठीक नहीं है कि कहाँ चलोगे? क्योंकि प्रीतिकी उत्तम रीति यह है कि इसकी सब क्रियाएँ मित्रकी आज्ञा और प्रसन्नता के अनुसार हों।

४—चौथी युक्ति यह है कि सर्वदा अपने मित्र की प्रशंसा ही करे और बड़े मीठे शब्दों में उसके गुप्त भेद पूछे। उसकी प्रसन्नता और शोक में उसका साथ दे अर्थात् मित्र की प्रसन्नता और शोकावस्था को अपने से भिन्न न समझे, उसे शुभ शब्दों-द्वारा सम्बोधन करे और जब उसके द्वारा अपना कोई हित होता दिखायी दे तो चित्त में प्रसन्न हो और उसे प्रभु का उपकार समझे।

५—पाँचवीं युक्ति यह है कि मित्र को धर्मसम्बन्धी विद्या ही सिखावे, क्योंकि संसारिक दुःखों की अपेक्षा नरक के दुःखों से मित्र की रक्षा करना अधिक आवश्यक है। अतः उचित यही है कि यदि शुभ कार्यों में वह कुछ ढील करता हो तो उसे सदुपदेश देकर धर्मपालन में ही तत्पर करे तथा भगवान् के भय का निश्चय करावे। किन्तु उपदेश उसे एकान्त में ही करना चाहिये क्योंकि खुले रूप से मित्र का शासन करना उसके अपमान का कारण होता है, अतः उसे बहुत विनम्र सौहार्दपूर्ण शब्दों में समझावे। महापुरुष कहते हैं कि प्रीतिमान का दर्पण प्रीतिमान् ही होता है। अर्थात् प्रीतिमान् के द्वारा ही कोई अपने अवगुणों को देख सकता है। अतः उचित यह है कि जब वह मित्र सहृदयतापूर्वक एकान्त देश में अपने को कुछ समझावे तो उसका उपकार माने और उसके प्रति क्रोध प्रकट न करे, क्योंकि अवगुणों को सुझा देना तो ऐसा ही है जैसे किसी के वस्त्रों में सर्प हो और उसे इसका पता न हो तथा अपना कोई हितैषी कृपा करके उसे दिखा दे। तब ऐसे व्यक्ति पर क्रोध करना कैसे उचित हो सकता है? उसका तो उपकार ही मानना चाहिये। जितने मलिन स्वभाव हैं वे सब सर्प ही तो हैं, ये जीव

को डसनेवाले हैं, इनके दर्शन से जो विष अन्तः करण में प्रवेश करता है उसका पता तो परलोक में लगेगा। इसलिये जो व्यक्ति यहीं इनके दोषों को दिखा देता है वह तो अपना परम सुहृद् है। कहते हैं, एक भगवत्प्रेमी संत के पास कोई दूसरे संत आये और उनसे पूछा कि मित्र ! तुमने मेरे किसी दुर्गुण के विषय में सुना हो तो मुझे बताओ। सन्त ने कहा, "तुम मुझ से यह बात मत पूछो।" फिर उन्होंने अत्यन्त दीनता से कहा कि आप किसी प्रकार का संकोच न करके मुझे मेरा अवगुण बता दें। सन्त ने कहा, मैंने सुना है तुम अधिक खाते हो और वस्त्र भी अधिक रखते हो।" इस पर उन्होंने कहा, "ठीक है, अब मैं ऐसा नहीं करूँगा। इसके सिवा कोई और बात सुनी हो तो वह भी बताइये।" सन्त ने कहा, "मैंने और कोई अवगुण नहीं सुना।" इसी पर महापुरुष भी कहते हैं कि जो मनुष्य उपदेश करनेवाले को अपना परमप्रेमास्पद नहीं मानता, समझना चाहिये, उसकी बुद्धि पर अभिमान की प्रबलता है। अतः उचित है कि मित्र को प्रेमपूर्वक धर्म का उपदेश करे और पापों से बचावे। किन्तु यदि मित्र किसी काम में तुम्हारी अवज्ञा कर दे तो उसे क्षमा ही करना चाहिये। यदि वह अवज्ञा ऐसी हो कि उससे मित्रता में ही बाधा आती हो तो उसे एकान्त में समझा दे। ऐसी स्थिति में मित्रता को त्याग देना ठीक नहीं है। किन्तु यदि नम्रतापूर्वक समझाने से वह न माने और हृदय में सन्ताप होने के कारण उससे कटु वचन करने का अवसर आ जाय तो इसकी अपेक्षा तो मित्रता को त्याग देना ही अच्छा है, क्योंकि मित्रता और मेल-जोल का प्रयोजन तो यही है कि इसके द्वारा शुभ गुणों का विकास हो और सहनशीलता प्राप्त हो। इसके विपरीत यदि उसके द्वारा स्वभाव में कठोरता आने लगे तब तो उसे त्यागना ही अच्छा है।

६—छठी युक्ति यह है कि मित्र के लिये भगवान् से प्रार्थना

करे तथा सर्वदा उसका हितचिन्तन करे। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जब कोई पुरुष अपने मित्र के लिये प्रार्थना करता है तब उसका भी हित होता है।

७—सातवीं युक्ति यह है कि मित्र की मित्रता का निर्वाह करे। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति मित्र की निन्दा करे तो उसे अपना शत्रु समझे और निन्दा सुनकर ही मित्र के प्रति अपने स्नेह को शिथिल न होने दे।

८—आठवीं युक्ति यह है कि मित्रता में दम्भ को न आने दे। अकारण ही मित्र की बहुत प्रशंसा करना और अपना अत्यधिक प्रेम प्रकट करना—ये सब व्यापार निन्दनीय हैं और दम्भ ही माने जाते हैं। अतः उचित यह है कि जिस प्रकार अपने-आप से बनना चाहता वैसे ही मित्र से भी समानता का ही वर्ताव करे, उसके प्रति केवल हृदय की ही प्रीति हो। एक संत का कथन है कि जिस मित्र का मन रखने के लिये कोई प्रयत्न करना पड़े अथवा कष्ट सहन करने की आवश्यकता हो वह मित्र ठीक नहीं।

९—नवीं युक्ति यह है कि मित्र की अपेक्षा अपने को छोटा समझे तथा उससे किसी प्रकार के उपकार या सेवा की इच्छा न रखे। कहते हैं, एक व्यक्ति ने किन्हीं सन्त के आगे कई बार कहा कि इस समय धर्ममार्ग में अत्यन्त प्रीति रखनेवाला पुरुष मिलना बहुत ही कठिन है। तब सन्त ने कहा कि यदि तुम्हें किसी ऐसे मित्र की अपेक्षा हो जो सब प्रकार तुम्हारी सेवा करनेवाला हो और तुमसे कभी कोई सेवा न ले तो निःसन्देह ऐसा मित्र तो दुर्लभ ही है। और यदि तुम उसकी सेवा करना चाहो तब तुम्हारे स्वामी बननेवाले तो मेरी सभा में भी बहुत हैं। इसी से बुद्धिमानों ने कहा है कि जो अपने को मित्र की अपेक्षा अधिक चाहता है

वह पापी है, जो मित्र के समान देखता है वह दुःखी रहता है और जो अपने को सबसे छोटा समझता है वही सबसे अधिक लाभ उठाता है।

—:o:—

तीसरी किरण

लौकिक सम्बन्धियों के साथ मेल-जोल और व्यवहार की युक्तियाँ

व्यवहार में जिससे जिसका जितना अधिक सम्बन्ध होता है उसे उसका उतना ही निभाना आवश्यक है। किन्तु इन सब सम्बन्धों की अपेक्षा भगवन्मार्ग के पथिकों की मित्रता बढ़कर है। उसकी युक्तियाँ पहले बतायी जा चुकी हैं। उनके सिवा जो ऐसे लोग हैं जिनके साथ गहरी प्रीति तो नहीं है किन्तु सामान्यतया एक सात्त्विक धर्मसम्बन्ध है, उनसे मेल-मिलाप रखने की भी कुछ युक्तियाँ हैं। उनका वर्णन नीचे किया जाता है—

१. जो पदार्थ अपने को अभीष्ट न हो उसकी प्राप्ति दूसरे के लिये भी न चाहे। महापुरुष ने कहा है कि सब जीवों का सम्बन्ध एक शरीर के अङ्गों की तरह है। यदि एक अङ्ग को कष्ट पहुँचता है तो सारा शरीर ही दुःख पाता है। इसी प्रकार उचित है कि किसी भी जीव के लिये दुःख का संकल्प न करे।

२. कर्म और वचनद्वारा भी किसी को दुःख न दे। महापुरुष ने भी कहा है कि जिस पुरुष की जिह्वा और हाथों से किसी को दुःख नहीं पहुँचता वही धर्मात्मा है। अतः जिह्वा और कर्म को ऐसी मर्यादा में रखे कि किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो।

३. अभिमानवश अपने को किसी से बड़ा न समझे, क्यों

कि अभिमानी पुरुष भगवान् से विमुख होता है। इस विषय में महापुरुष को आकाशवाणी हुई थी कि दीनता और नम्रता को अंगीकार करो तथा अभिमानी न बनो। अतः उचित यही है कि किसी को नीच न समझे। सम्भव है, जिसको तुम नीच समझते हो वह कोई संत ही हो और तुम उसे पहचानते न हो, क्योंकि बहुत संत ऐसे गुप्त रूपसे रहते हैं कि भगवान् के सिवा और कोई उन्हें पहचान नहीं सकता।

४. यदि तुम्हारे आगे कोई किसी की निन्दा करे तो तुम उसे सुनो मत। विश्वास तो उसी पुरुष का करना चाहिये जो सत्यनिष्ठ हो, निन्दक तो कभी सत्यनिष्ठ होता ही नहीं। एक संत का कथन है कि पिशुन (चुगलखोर) और निन्दक अवश्य नरकगामी होते हैं। इसके सिवा यह भी निश्चय जानो कि जो बिना कारण ही तुम्हें दूसरों के दोष सुनाता है वह तुम्हारे दोष भी दूसरों को अवश्य सुनावेगा।

५. सबको पहले ही प्रणाम करो, किसी के भी साथ विरोध न रखो और न क्रोधवश किसी से मौन गाँठ कर ही बैठ जाओ। यदि कभी किसी से कोई अवज्ञा भी हो जाय तो क्षमा ही कर दो।

६. सबके साथ यथाशक्ति सद्भाव और उदारता का ही बर्ताव करो। किसी की अच्छाई या बुराई की ओर मत देखो। हो सकता है कि कोई पुरुष तुमसे उपकार पाने का अधिकारी न हो, किन्तु तुम्हें तो सबका उपकार करने का अधिकार है ही। अतः तुम तो उपकार ही करो। धर्म की मर्यादा तो यही है, कि सभी पर दया करे।

७. जो अपने से बड़ा हो उसका बड़प्पन रखो और जो छोटा हो उस पर दया करो। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जो दूसरों का बड़प्पन रखता है उसका बड़प्पन भगवान् दूसरों से रखते हैं।

८. सबसे प्रसन्न मुख से मिलो, और वचन भी मीठा ही बोलो।

९. जिसे कोई वचन दो उसका अवश्य पालन करो। इस विषय में संतों का कथन है कि यदि कोई पुरुष व्रत और भजन में सावधान भी हो, किन्तु उसमें मिथ्या भाषण, वचन का निर्वाह न करना और चोरी—ये तीन दोष हों तो उसे प्रीतिमान् नहीं कह सकते, उसका भजन भी पाखण्ड के लिये ही होता है।

१०. किसी के दोषों को प्रकट मत करो, दोषों को गुप्त रखने से उसके पाप भी पर्दे में रहेंगे। इसी पर महापुरु ने कहा है कि तुम्हारा धर्म तभी पक्का होगा जब तुम लोगों के दोषों को छिपाओगे और किसी की त्रुटियां को न खोजोगे, क्योंकि जब कोई पुरुष किसी के दोषों को उखाड़ता है तो भगवान् उसकी त्रुटियों को उखाड़ देते हैं। यदि कोई किसी से किसी के पापों का वर्णन कर रहा हो तब तुम उस ओर कान लगाकर मत सुनो।

११. तुम स्वयं कोई दूषित कर्म न करो, क्योंकि जब तुम्हारा अपकर्म प्रकट होगा तो लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे अथवा तुम्हें देखकर ही उनका चित्त डावांडोल होगा। इससे तुम्हें और भी अधिक पाप का भागी होना होगा।

१२. यदि तुम्हारे वचनों से किसी को शान्ति प्राप्त होती हो तो तुम आलस्य न करो।

१३. यदि कोई व्यक्ति किसी को कष्ट पहुँचता हो तो तुम उस दुःखी पुरुष की सहायता करो और यदि कोई किसी के पीछे उसका धन चुराता हो तो उस धन की रक्षा करो, क्योंकि जो किसी दीन पुरुष की सहायता करता है भगवान् उसकी सहायता करते हैं।

१४. यदि कोई पुरुष कुसंग में फँस गया हो और तुम उसे वहाँ से छुड़ाना चाहो तो उसे कोमल वचनों से समझाओ, उसे देखकर कठोर वचन मत बोलो।

१५. निर्धनों के साथ प्रीति रखो, क्योंकि धनवानों का संग करने से मनुष्य प्रमादी हो जाता है । कहते हैं, एक संत ने भगवान् से प्रार्थना की कि प्रभो ! मैं तुम्हें कहाँ ढूढ़ूँ ? तब आकाशवाणी हुई कि जिनके हृदय में अधीनता है उन्हीं के हृदय में मेरा निवास है ।

१६. सबको सब प्रकार सुख पहुँचाओ और उद्यम करके भी अभावग्रस्तों की आवश्यकताएँ पूरी करो, क्योंकि उनकी सेवा भी भगवान् की ही सेवा है । किसी अभावग्रस्त के कार्य में एक मुहूर्त भी तत्पर रहना सौ वर्षों की समाधि से बढ़कर है । इसी विषय में महापुरुष ने कहा था कि सबल और निर्बल की सहायता करो । लोगों ने पूछा कि सबल की सहायता कैसे की जाय ? तब महापुरुष बोले कि उन्हें निर्बलों को कष्ट पहुँचाने से रोको, यही उनकी सहायता है । कहीं ऐसा भी कहा है कि किसी के चित्त को प्रसन्न रखने के समान और कोई भजन ही नहीं है । तथा ऐसा भी कहते हैं कि दो लक्षण सम्पूर्ण गुणों के मूल हैं—(१) हृदय का विश्वास और (२) जीवों को सुख पहुँचाना । इसी प्रकार दो दोष सम्पूर्ण पापों के मूल हैं—(१) हृदय का अविश्वास और (२) जीवों को कष्ट देना । कहते हैं, कोई भगवत्प्रेमी रुदन कर रहा था । उससे पूछा कि तुम क्यों रोते हो ? तब वह बोला, "एक मनुष्य ने मुझे कष्ट पहुँचाया है, सो मैं इसलिये रोता हूँ कि जब परलोक में उससे इस विषय में पूछा जायगा तो वह बेचारा क्या उत्तर देगा ।"

१७. यदि किसी को कोई रोग हो जाय तो उसके पास जाकर इस विषय में पूछ-ताछ करनी चाहिये । उससे यद्यपि कोई मित्रता न हो तो भी रोगी की सुधि लेना बहुत आवश्यक है । अतः रोगी को सब प्रकार सेवा और सहायता करनी चाहिये । तथा रोगी को भी उचित है कि जब कोई उससे कुछ पूछे तो भगवान् का धन्यवाद करे

और दुःख का विशेष वर्णन न करे, ऐसा समझे कि इस दुःख के द्वारा मेरे पाप नष्ट होंगे। रोग का नष्ट होना सर्वथा औषध पर ही अवलम्बित नहीं है, अतः सब प्रकार भगवान् का भरोसा करे।

१८. मैंने जिस प्रकार ये युक्तियाँ वर्णन की हैं इनका यथावत् ध्यान रखो और अपने पड़ोसियों के प्रति भी प्रेम का सम्बन्ध रखो, क्योंकि जिनके साथ व्यवहार में विशेष सम्पर्क रहता है उनके साथ प्रेम और मेल-जोल का भाव रखना चाहिये। अतः अपने समीप रहनेवालों को भी किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाओ, सर्वदा उनकी भलाई में तत्पर रहो और उनमें जो धनहीन हों उनकी सुधि लेते रहो। इसी प्रकार अपने अन्य सम्बन्धियों और दास-दासियों के प्रति भी मेल-मिलाप और दया का भाव रखो।

तात्पर्य यह है कि सब मनुष्यों का अधिकार देखकर उनके साथ यथायोग्य बर्ताव करो। उनमें से जिनके साथ परमार्थ या व्यवहार की निकटता हो उनके अनुरूप युक्ति का विचार करो कि यह कितने भाव और सत्कार का अधिकारी है तथा किस रीति से इसका उपकार हो सकता है। फिर उसी प्रकार उसके साथ बर्ताव करो तथा ईर्ष्या, अभिमान और कृपणता आदि मलिन भावों से दूर रहो। कभी किसी के प्रति कृतघ्नी मत होओ तथा अपनी सारी आयु सद्भाव, दया और सहनशीलता में व्यतीत करो। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यदि तुम्हारा कोई विरोधी हो तो भी तुम उसके साथ भलाई ही करो और यदि तुम्हें कुछ भी न देता हो तो तुम्हीं उसे कुछ दो।

—:o:—

चौथी किरण

एकान्तसेवन और संगति के गुण-दोषों का विवेचन

बुद्धिमानों ने इस विषय में बहुत चर्चा की है। उनमें कुछ का तो मत है कि आचार्यों की संगति सबसे बढ़कर है और कोई एकान्त-सेवन को सबसे श्रेष्ठ समझते हैं। किन्तु जो अन्तर्मुख जिज्ञासु हुए हैं उन्होंने तो एकान्त को ही स्वीकार किया है। एक संत का कथन है कि जिसने भोगों से संयम किया है उसे संसार की कोई कामना नहीं रहती, जिसने ईर्ष्या का त्याग किया है वह दयावान् होता है, जिसने कुछ दिन लगकर पुरुषार्थ किया है वह अविनाशी सुख प्राप्त करता है और जिसने एकान्त को स्वीकार किया है वह जगत् के जञ्जालों से छूट जाता है। एक दूसरे संत ने कहा है कि भजन के अभ्यास का मूल मौन और एकान्तसेवन है। तथा एक तीसरे संत कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति मुझे प्रणाम न करे और जब मैं रोगी होऊँ तो आकर न पूछे, तो मैं उसका उपकार मानता हूँ। एक बार एक जिज्ञासु ने किसी संत से कहा कि मैं आपकी संगति करना चाहता हूँ। तब संत बोले, "जब मैं मर जाऊँगा तब तुम किस की संगति करोगे?" उसने कहा, "तब मैं भगवान् के आश्रित रहूँगा।" इस पर संत बोले, "तो तुम अभी से भगवान् के आश्रित हो जाओ।"

इस प्रकार एकान्त और सत्संग के विषय में अनेकों वचन

हैं। किन्तु जब तक इनके गुणों को प्रकट न किया जाय तब-तक इस भेद को समझना बहुत कठिन है। अतः अब मैं क्रमशः एकान्त और संगति के गुणों का वर्णन करता हूँ। एकांत में छः गुण हैं, उनका विवरण इस प्रकार है—

पहला गुण—भजन और विचार की सिद्धि एकांत में ही होती है। सम्पूर्ण भजन का मूल है भगवान् की कारीगरी पर विचार करना और इससे भी ऊँची अवस्था है चित्त को भगवान् के स्वरूप में लीन कर देना तथा अन्य सब पदार्थों को भूल जाना। ऐसी एकाग्रता एकान्तसेवन किये बिना प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि सम्पूर्ण मायिक पदार्थ इस जीव को बाँधनेवाले ही हैं। और जिज्ञासु की बुद्धि में इतना बल होना कठिन ही है कि वह इन सब से निर्लिप्त रहे। अतः अभ्यास के लिये उसे एकान्त स्थान में रहना ही अच्छा है। महापुरुष भी अपनी आरम्भिक अवस्था में एक पर्वतीय गुफा में जाकर रहे थे। किन्तु जब उन्होंने पूर्ण अवस्था प्राप्त करली तो ऐसे निर्लिप्त हुए कि शरीर से तो सब लोगों के बीच में रहे, किन्तु उनका मन भगवान् के चरणों में ही रहा। उन्होंने यह भी कहा है कि मुझे श्रीभगवान् के प्रेम ने और सब की आसक्ति से मुक्त कर दिया है। ऐसी अवस्था प्राप्त होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि यह जीव परमपद का अधिकारी है। एक संत ने कहा है कि मैं तो तीस वर्षों से केवल भगवान् के ही साथ बातचीत करता हूँ, किन्तु लोग समझते हैं कि यह हमसे बोलता है। अतः निश्चय हुआ कि इस अवस्था की प्राप्ति असम्भव नहीं है, क्योंकि जब किसी मनुष्य को किसी स्थूल पदार्थ में विशेष प्रेम होता है तो उसके चिन्तन में ऐसा डूब जाता है कि अनेकों लोगों के बीच में बैठा होनेपर भी उनकी बात नहीं सुनता और न उन्हें देखता ही है। किन्तु इस अवस्था का अभिमान करना उचित नहीं, क्योंकि बहुत लोग तो

ऐसे होते हैं कि अनेकों मनुष्यों से मिलनेपर उनकी बुद्धि फैल जाती है। कहते हैं, एक बार एक तपस्वी से किसी ने पूछा था कि तुम अकेले ही रहते हो? इस पर उन्होंने कहा, "नहीं, मेरे साथी भगवान् हैं, मैं अकेला नहीं हूँ।" इसी प्रकार किसी संत ने एक एकान्तसेवी से पूछा था कि तुम अकेले क्यों रहते हो? तुमने लोगों का संग क्यों त्याग दिया है? उसने कहा, "मैं अपने कार्य में इतना संलग्न रहता हूँ कि मुझे किसी से मिलने का संकल्प ही नहीं होता।" संत ने पूछा, "वह क्या कार्य है?" वह बोला, "क्षण-क्षण में निरन्तर भगवान् के अनेकों उपकार होते रहते हैं और मुझसे पाप बनते हैं। अतः मैं अपने पापों को क्षमा कराता रहता हूँ और उनके उपकारों का धन्यवाद करता हूँ, इसीसे मुझे किसी से मिलने का अवकाश नहीं मिलता और न इसके लिये इच्छा ही होती है।" इस पर संत ने कहा, "तुम धन्य हो।' एक वार एक जिज्ञासु किसी संत के पास गया। उन्होंने पूछा, "तुम किस लिये आये हो?" वह बोला, "आपके सत्संग से विश्राम पाने के लिये आया हूँ।" उन्होंने कहा, "जिसने भगवान् को पहचाना है वह किसी दूसरे के साथ से विश्राम क्यों चाहता है?" एक और संत ने कहा है कि जब रात आती है तो मैं प्रसन्न होता हूँ कि अब प्रातःकालपर्यन्त मैं भगवान् के भजन में स्थित रहूँगा। तथा जब सूर्योदय होता है तो शोक होता है कि अब दिन में अवश्य ही लोगों के कारण विक्षेप होगा। एक दूसरे संत कहते हैं कि भगवान् के भजन में जिसकी प्रीति लोगों के वाद-विवाद से भी बढ़कर नहीं होती वह मनुष्य बुद्धिहीन है, उसका अन्तःकरण मलिन है और वह अपनी आयु व्यर्थ व्यतीत करता है। एक बुद्धिमान् ने कहा है कि जिस मनुष्य को किसी से मिलने अथवा किसी को ओर देखने की अभिलाषा होती है, जानना चाहिये कि उसे आत्मसुख का कुछ भी रस प्राप्त नहीं हुआ, इसी से वह

स्थूल पदार्थों की सहायता चाहता है। ऐसा भी कहा है कि लोगों से मिलने-जुलने में जिसे विशेष रस आता है वह पुरुष अत्यन्त निर्धन है।

अतः निश्चय होता है कि उत्तम भजन हृदय के संयम का अभ्यास है और अभ्यास से ही भजन का रस प्रकट होता है। विचार और ज्ञान की प्राप्ति भी अभ्यास के द्वारा ही होती है और यही सम्पूर्ण साधनों का फल है। कारण कि, एक दिन इस जीव को परलोक में अवश्य जाना है, सो जब यह पुरुष वहाँ प्रभु के भजन की एकाग्रता के साथ जाता है तब बड़ा भाग्यशाली समझा जाता है। और यह भजनानन्द एवं विचार की प्रौढ़ता बिना एकान्तसेवन के प्राप्त होना असम्भव ही हैं।

दूसरा गुण—एकान्त में रहने से मनुष्य कितने ही पापों से बचा रहता है। लोगों से मिलते-जुलते रहनेपर चार पाप तो अवश्य होते हैं, इनसे तो कोई विरला ही बच पाता है। उनमें पहला पाप है निन्दा। इसके कारण मनुष्य का धर्म नष्ट हो जाता है। दूसरा पाप यह है कि किसी को कोई अपकर्म करते देखे और उसे उससे हटने के लिये उपदेश न दे तब तो शास्त्रमर्यादा का उल्लङ्घन होता है और यदि उपदेश करे और उसकी रुचि न हो तो उससे विरोध ठन जाता है। तीसरा पाप है दम्भ और कपट। इनसे बचना भी बहुत कठिन है, क्योंकि अपने साथियों में से यदि किसी का मन रखने और उसके साथ प्रीति बढ़ाने का प्रयत्न करे तब तो विक्षेप होता है और यदि उदासीन रहे तो उससे विरोध हुए बिना नहीं रह सकता। एक सामान्य-सा पाप यह होता है कि जब अकस्मात् किसी से मिलना होता है तब उसके साथ विशेष प्रेम न होने पर भी उसके सत्कार के लिये यही कहा जाता है कि आपसे मिलने की मुझे बड़ी इच्छा थी। यह एक प्रकार से मिथ्या भाषण ही हुआ। और यदि ऐसा न कहें तो

उसका सत्कार नहीं होता। इसके साथ ही फिर उसका और उसके सम्बन्धियों का कुशलसमाचार भी पूछना होता है। हृदय में कुछ भी प्रेम न होनेपर इस प्रकार का व्यवहार केवल दम्भ ही है। इसी पर एक सन्त ने कहा है कि जब मनुष्य का किसी से कोई प्रयोजन होता है तो अपना काम बनाने के लिये उसकी इतनी प्रशंसा करता है कि अपने धर्म से ही भ्रष्ट हो जाता है और साथ ही वह प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता।

इसी प्रकार कपट करने के कारण भी यह भगवान् से विमुख हो जाता है। कहते हैं, एक पुरुष किसी सन्त के पास आया। उन्होंने पूछा, "तुम कैसे आये हो?" वह बोला, "आपके दर्शनों की प्रीति से।" सन्त बोले, "तुम तो प्रीति को मिटाने के लिये आये हो। अब तुम मेरी झूठी-सच्ची प्रशंसा करोगे और मैं तुम्हारी बड़ाई करूँगा। इस प्रकार झूठ और पाखण्ड ही तो बढ़ेगा।" हाँ, जो पुरुष संसार में मिले रह कर भी अपने को बचाये रहते हैं, उन्हें किसी से मिलने पर भी कोई हानि नहीं होती। किन्तु यह अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। इसी से पहले जो भगवत्प्रेमी हुए हैं वे आपस में एक-दूसरे से व्यावहारिक बातें नहीं पूछते थे। एक बार एक भगवत्प्रेमी ने दूसरे प्रेमी से पूछा कि तुम्हारी स्थित कैसी है? उसने कहा, "सुख और आनन्द है।" सन्त ने कहा, "सुख और आनन्द तो तभी होगा जब आत्मानन्द की प्राप्ति होगी।" इसी प्रकार एक और सन्त से भी किसी ने पूछा था कि तुम्हारी कैसी अवस्था है? तब उन्होंने उत्तर दिया कि जिस पद के द्वारा सुख प्राप्त होता है उसे पा लेना तो मेरे हाथ की बात नहीं है और जिन कर्मों से दुःख ही मिलता है उनका त्याग भी मुझसे नहीं हो सकता। मैं तो सर्वदा चिन्तन करने में संलग्न रहता हूँ, मेरा कार्य तो प्रभु के ही हाथ में है। अतः मुझ-जैसा दुःखी और असहाय तो कोइ भी नहीं है। एक दूसरे सन्त से जब पूछा गया तो

उन्होंने कहा था कि मैं महापापी और निर्बल हूँ, अतः पड़ा-पड़ा अपना प्रारब्ध भोगता हूँ और काल की ओर निहारता रहता हूँ। एक अन्य सन्त से जब पूछा गया कि आपकी क्या अवस्था है तो वे बोले "सुख" पूछनेवाले ने कहा, "सुख तो तभी होता है जब कोई नरकों के दुःख से निर्भय हो जाय।" एक और सन्त ने अपनी अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है कि जो पुरुष प्रातःकाल उठे और उसे यह भी पता न हो कि सायंकाल तक जीऊँगा या नहीं उसकी अवस्था क्या बतलायी जा सकती है? एक सन्त से जब उनकी अवस्था पूछी गयी तो वे बोले, "जिस पुरुषकी आयु तो घटती जाय और पाप बढ़ते जायँ उसकी अवस्था का क्या वर्णन किया जाय?" इसी प्रकार एक बुद्धिमान् से जब किसी ने यही प्रश्न किया तो उन्होंने कहा कि खाता तो भगवान का दिया हुआ हूँ और आज्ञा मानता हूँ मन की। एक सन्त से जब पूछा गया तो वे बोले, "जिसकी आयु क्षण-क्षण में घट रही हो और वह समझता हो कि मैं बढ़ रहा हूँ उसकी अवस्था का क्या वर्णन करें?" एक दूसरे सन्तने अपना हाल इस प्रकार बतलाया, "जिस मनुष्य को निश्चय ही मरना हो और परलोक में दण्ड का अधिकारी बनना हो उसकी कौन अवस्था कही जाय?" एक दूसरे सन्त ने कहा है कि मेरा एक दिन भी सुख से बीत जाय तो अच्छा ही है फिर उनसे पूछा गया कि क्या अब तुम्हें सुख नहीं है? उन्होंने कहा, "जिस दिन मुझसे कोई पाप न हो मैं उसी को सुख का दिन समझता हूँ।" एक भगवत्प्रेमी था, उससे मृत्यु के समय किसी ने पूछा कि अब तुम्हारी कैसी स्थिति है? उन्होंने कहा, "जिसे दूर देश जाना हो, पास में कोई तोशा न हो, जिस मार्ग जाना है वह अत्यन्त अन्धकार पूर्ण हो, साथी भी कोई हो नहीं और उन महाराज के पास जाना हो जिनसे कि अपना न्याय कराना है तथा वहाँ अपने को बचाने का भी कोई सहारा हो नहीं, उसकी अवस्था

का क्या वर्णन किया जाय ?"

इसी प्रकार एक सन्त से किसी ने पूछा था कि तुम्हारा क्या हाल है। उन्होंने कहा, "मुझे पाँच सौ रुपये देने हैं, सो उन्हीं की चिन्ता में रहता हूँ।" उसने तत्काल उन्हें एक हजार रुपये देकर कहा, "पाँच सौ तो दे दें और पाँच सौ से अपनी जीविका चलायें।" फिर कहा कि किसी से प्रीति करके उसकी अवस्था पूछें और उस का दुःख सुनकर सहायता कुछ करे नहीं तो वह पूछना भी कपट रूप ही होता है। अतः उचित यही है कि जब किसी से उसकी स्थिति पूछी जाय तो उसकी सहायता भी अवश्य करनी चाहिये। अथवा पूछे ही नहीं। इस प्रकार पहले जो प्रेमी संत हुए हैं उनकी ऐसी ही अवस्था थी कि परस्पर व्यवहार में ही अपनी प्रीति प्रकट नहीं करते थे, बल्कि हृदय में भी एक-दूसरे से इतना गहरा प्रेम रखते थे कि किसी की कोई आवश्यकता होती तो उससे कुछ भी छिपा कर नहीं रखते थे। किन्तु आज-कल तो ऐसी स्थिति है कि दूसरे का आदर करने के लिये बात तो उसके सब सम्बन्धियों और पशुओं की भी पूछेंगे, परन्तु उसे एक पैसे की भी आवश्यकता हो तो मुँह छिपा लेंगे। इसका नाम सच्ची प्रीति नहीं है, यह तो कपट-प्रेम है। सो इस संसार के मेल-मिलाप की तो ऐसी ही दशा है। यहाँ यदि लोगों से हृदयपूर्वक मेल किया जाय तब तो कपट और पाखण्ड के समुद्र में डूबना होता है, और यदि उनसे मिल कर उनकी आव-भगत न करे तो वे विरोधी हो जाते हैं और इसके छिद्र ढूँढ़ने लगते हैं। इस प्रकार वे अपना धर्म खोते हैं और इसे भी धर्म से च्युत कर देते हैं।

इनके सिवा संसार से मेल-जोल करने में चौथा पाप यह है कि मनुष्य जिस की संगति करता है उसके स्वभाव की छाप निश्चय ही इसके अन्तःकरण पर पड़ जाती है। उस समय यद्यपि इसे उस स्वभाव का कुछ पता भी नहीं लगता, तथापि धीरे-धीरे वह इस

में बद्धमूल हो जाता है। उसके कारण फिर अनेकों पाप होने लगते हैं और उन प्रमादी पुरुषों के संग से यह भी प्रमादी हो जाता है। यदि यह मायाधारी (धनी) पुरुषों का संग करता है तो इसमें भी माया की तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। यह किसी भोग-विशेष को निन्दनीय भी समझता हो, किन्तु भोगियों का संग करेगा तो वह दोषदृष्टि नष्ट हो जायगी। इसी प्रकार यदि यह अपकर्मों की चर्चा सुनेगा तो इसके हृदय में भी मलिनता आ जायगी। जैसे महा-पुरुषों की बातें सुनने से इसका हृदय कोमल हो जाता है वैसे ही भोगियों और पापियों की बातें सुनकर इसमें वैसी ही रुचि उत्पन्न हो जाती है। इससे निश्चय होता है कि यदि उनकी बातें सुनने से ही हृदय मलिन हो जाता है तो उनकी संगति से मलिनता क्यों न उत्पन्न होगी ? इसी विषय में महापुरुष ने कहा है कि कुसङ्गी मनुष्यों की संगति ऐसी है जैसे कोई लुहार के निकट जा बैठे। वहाँ वह अपने वस्त्रों को भले ही जलने से बचाले, किन्तु उसकी भट्टी की ऊष्मा और धुएँ का कष्ट तो उठाना ही पड़ेगा। इसके विप-रीत सात्त्विकी पुरुषों की सङ्गति गन्धी की दूकान की तरह है। वहाँ भले ही सुगन्ध मोल न ली जाय तथापि नासिका को तो सुगन्ध का सुख मिल ही जाता है। तात्पर्य यह है कि मनमुखी की सङ्गति की अपेक्षा तो अलग रहना ही अच्छा है और अलग रहने की अपेक्षा भी सात्त्विकी पुरुषों की संगति में रहना श्रेष्ठ है। सन्तजनों का कथन है कि जिस पुरुष की संगति से माया की प्रीति दूर हो और भगवान् का प्रेम उत्पन्न हो उसका संग श्रेष्ठ समझो और उसे कभी मत छोड़ो। किन्तु जिसके साथ से विषयासक्ति बढ़े उसे तो त्यागना ही अच्छा है।

इसके सिवा जो विद्वान् माया का लोभी हो और जिसका आचरण अपने कथन के अनुसार न हो उसकी संगति भी अवश्य त्याग देनी चाहिये। क्योंकि उसका साथ करने से जिज्ञासु का

भगवत्प्रेम घटता ही है। जिज्ञासु की बुद्धि पक्की तो होती नहीं, इसलिये विद्वान् को देखकर वह भी ऐसा अनुमान करने लगता है कि यदि माया को त्यागना कोई महत्त्व की बात होती तो यह विद्वान् क्यों न त्यागता। यहाँ ऐसी ही बात समझनी चाहिये जैसे कोई पुरुष बड़े प्रेम से मिठाई खाता भी जाय और यों भी कहता जाय कि इस मिठाई में हलाहल विष है, इसे खाने की इच्छा कोई मत करना, तो उसके कथन पर कौन विश्वास करेगा? उसे प्रेमपूर्वक खाते देखकर तो औरों की भी उसके लिये तृष्णा ही उत्पन्न होगी। वे यही समझेंगे कि यह लोभवश ही इसमें विष बतलाता है। इसी प्रकार ऐसे बहुत मनुष्य मिलेंगे जिन्हें आरम्भ में तो अशुद्ध आहार और पापों में दोषदृष्टि थी, किन्तु विद्वानों को इस ओर से निःशंक देखकर उनकी भी दोषदृष्टि नष्ट हो गयी। और वे भी निडर होकर बर्तने लगे। इसी से विद्वानों के दोष प्रकट करना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि प्रथम तो इससे निन्दा होती है और दूसरे वैसी बातें सुनकर और लोग भी ढीठ हो जाते हैं। अतः अन्य पुरुषों का तो यही अधिकार है कि जब वे किसी विद्वान् में कोई दोष देखें तो दो प्रकार से उस ग्लानि को निवृत्त करदें। प्रथम तो यह समझें कि यद्यपि इस विद्वान् से यह अवज्ञा हुई है तथापि इसकी विद्या इन पापों को क्षमा करा देगी; किंतु जिन के पास विद्या नहीं है उनके द्वारा होनेवाली अवज्ञा कैसे क्षमा की जा सकेगी। दूसरे यह समझे कि जो पुरुष विद्याद्वारा पापकर्मों को बुरा जानता है वह यदि कोई पाप करता भी है तो उसका करना अन्य संसारी जीवों के समान नहीं हो सकता। विद्वानों की युक्ति को संसारी जीव किसी प्रकार नहीं पा सकते। अतः अन्य जीवों को चाहिये कि विद्वानों के प्रति दोष-दृष्टि न करें। तभी उनका धर्म नष्ट होने से बच सकता है। तात्पर्य यह है कि बहुत मनुष्यों की संगति जिज्ञासु के धर्म को नष्ट करनेवाली है, अतः उसे संसारी

पुरुषों के मेल-मिलाप से बचकर एकान्त में रहना ही विशेष उपयोगी है।

तीसरा गुण—संसार में ईर्ष्या, शत्रुता, और विभिन्न पन्थों के पारस्परिक संघर्ष आदि अनेकों विघ्न उत्पन्न होते रहते हैं, अतः एकान्त में रहनेवाला पुरुष इन सबसे बचा रहता है। और जो संसार में विशेष मिलता-जुलता है उसके धर्म का नाश होने की सम्भावना रहती है। महापुरुष ने भी कहा है कि लोगों की संगति त्यागकर अपने घर में बैठे रहो तथा जिह्वा को अधिक बोलने से रोको। जिसे तुम भलाई समझते हो उसे अंगीकार करो और जिस आचरण का रहस्य तुम्हारी समझ में न आवे उसे त्याग कर अपने धर्म में स्थित रहो तथा संसार के कार्यों को भूल जाओ।

चौथा गुण—एकान्त में रहने से यह पुरुष लोगों के झंझटों से बच जाता है। यदि यह लोगों के साथ मेल-मिलाप करता है तो निन्दा, दोषदृष्टि और लोभ आदि से नहीं बच सकता। ऐसी स्थिति में यदि यह संसारी जीवों के सुख-दुःख का साथी बनता है तब तो इसकी सारी आयु व्यर्थ हो जाती है और यदि ऐसा नहीं करता तो लोग इसे बुरा समझ कर तरह-तरह के दुर्वचन कहने लगते हैं। यदि यह किसी से तो मिले और किसी से बचना चाहे तो विषमता हो जाती है और उनमें भी परस्पर विरोध होने लगता है। इसलिये जब सबका संग छोड़ कर एकान्त में रहने लगता है तो सब प्रकार के विघ्नों से मुक्त हो जाता है। तथा कोई भी इससे अप्रसन्न नहीं होता। कहते हैं कोई भगवत्प्रेमी सर्वदा भगवद्वाणी के ग्रन्थ को लिये श्मशान में रहा करता था। उससे किसी ने पूछा "तुम अकेले क्यों रहते हो?" तब उसने कहा, 'मैंने एकान्त के समान सुख का स्थान कोई नहीं देखा और न श्मशान के समान कोई उपदेष्टा ही मिला तथा इस ग्रन्थ के समान सुख देनेवाला कोई मित्र भी मुझे दिखायी नहीं दिया।"

पाँचवाँ गुण—एकान्तसेवी पुरुष से सब लोग निराश हो जाते हैं और वह भी सबसे निराश होजाता है। वास्तव में आशा ही सब दुःखों का मूल है। यदि यह धनवानों से मिलता है तो अवश्य ही इसमें तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। और जब तृष्णा उत्पन्न होती है तो इसे निरादर और अपमान भी सहन करने ही पड़ते हैं। महापुरुष ने भी कहा है कि तुम मायाधारी जीवों की सुन्दरता की ओर मत देखो, क्योंकि यह माया ही उन्हें छलनेवाली है। इसके सिवा यह भी कहा है कि यदि तुम धनवानों के सुख की ओर देखोगे तो भगवान् के उपकारों की ओर से विमुख हो जाओगे तथा अधिक सुखों की अभिलाषा करके दुःख ही उठाओगे।

छठा गुण—एकान्त में रहने से पुरुष मूर्खों और पापियों की संगति से बच जाता है। मूर्खों की संगति तो ऐसी है कि उन्हें तो देखने से ही चित्त मलिन हो जाता है। एक बुद्धिमान् ने कहा है कि जैसे ज्वर से शरीर दुःखी होता है वैसे ही मूर्खों की संगति से हृदय सन्तप्त होने लगता है। अतः एकान्त में रहने से मनुष्य इस घोर दुःख से बचा रहता है और फिर स्वाभाविक ही गुण-दोषों की ओर इसकी दृष्टि नहीं जाती।

इस प्रकार यह एकान्तसेवन के छः गुणों का वर्णन हुआ। अब संगति के गुणों का वर्णन किया जायगा। सब प्रकार के लौकिक प्रयोजन और पारमार्थिक लाभ प्रायः संगति और मेल-मिलाप के द्वारा ही प्राप्त होते हैं, केवल एकान्त में रहने से उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः अब क्रमशः संगति के लाभों का वर्णन किया जाता है :—

पहला लाभ—संगति के द्वारा ही मनुष्य विद्या प्राप्त कर सकता है। जब तक यथार्थ विद्या प्राप्त न हो तब तक एकान्त में रहने से विशेष लाभ नहीं हो सकता। जो मनुष्य विद्या प्राप्त किये बिना एकान्त में रहने लगता है उसका समय प्रायः निद्रा और

व्यर्थ संकल्प-विकल्पों में ही व्यतीत होता है । वह यदि प्रयत्न करके भजन में लगा भी रहे तो भी यथार्थ विद्या का बोध हुए बिना उसका ठीक-ठीक अभ्यास नहीं हो सकता। उसका छल-कपट से मुक्त रहना भी प्रायः असम्भव ही है अभिमान से रहित हो जानेपर भी बिना यथार्थ विद्या प्राप्त किये कोई भगवान् को नहीं जान सकता। वह तो किसी ऐसे विपरीत निश्चय को पकड़ बैठता है कि उसके कारण प्रभु से ही उसकी विमुखता हो जाती है । अथवा कामवश किसी कुमार्ग में पड़ जाता है और उसे उसके दोषों का भी पता नहीं चलता। तात्पर्य यह है कि एकान्तसेवन भी किसी विद्वान् के लिये ही उपयोगी हो सकता है। इसीसे अन्य जीवों के लिये एकान्त में रहना ठीक नहीं बताया गया। वे लोग तो रोगियों की तरह हैं। रोगी को वैद्य की संगति से दूर रहना उचित नहीं, यदि वह स्वयं ही अपनी चिकित्सा करने लगेगा तो शीघ्र ही मृत्यु के मुख में पड़ेगा। इसीसे सदुपदेश और सद्विद्या का फल भी बहुत विशेष बताया गया है। महापुरुष ने भी कहा है कि जो पुरुष यथार्थ विद्या को समझता हो और उसके अनुसार आचरण भी करता हो तथा दूसरे लोगों को भी उसका उपदेश करता हो उसकी स्थिति उत्तम कही जाती है। और उपदेश का काम एकान्त में रह कर नहीं हो सकता। एकान्त में न तो उपदेश दिया जा सकता है और न लिया ही जा सकता है। अतः इसके लिये सत्पुरुषों की संगति में रहना बहुत आवश्यक है।

किन्तु उपदेश का अधिकारी वही है जिसका भाव निष्काम हो और जिसे धन आदि की कोई वासना न हो। तथा उपदेश करनेवाला भी ऐसा ही होना चाहिये, तभी धर्म की प्राप्ति हो सकती है। उसे चाहिये जिज्ञासु के अधिकार के अनुसार उपदेश करे। किन्तु यदि विद्यार्थी यथार्थ युक्ति को भी स्वीकार न करे तो समझना चाहिये कि वह केवल मान पाने के लिये ही विद्याध्यन

करता है। अतः जिज्ञासुओं को यही उपदेश करे कि हृदय की शुद्धता ही सब से बड़ी पवित्रता है और हृदय तभी शुद्ध होता है जब मायिक पदार्थों से विरक्त होता है। इसलिये सम्पूर्ण मंत्रों का सारभूत बीजमन्त्र यही है कि सम्पूर्ण स्थूल पदार्थ नाशवान् हैं और सर्वदा केवल श्री भगवान् ही सत्यरूप हैं। अतः मनुष्य को सब प्रकार श्रीभगवान् का ही दास होना चाहिये, उनके सिवा और किसी भी पदार्थ में आसक्ति नहीं करनी चाहिये। जो पुरुष अपनी किसी वासना में वंधा हुआ है वह तो वासना का ही दास है, उसने यथार्थ भेद को नहीं समझा। वह यथार्थ भेद यह है कि सम्पूर्ण मलिन स्वभावों का त्याग करे और उत्तम स्वभावों को अपनावे।

इसके विपरीत जिस पुरुष की प्रीति उत्तम विद्या में तो हो नहीं और अन्य नाना प्रकार की प्रवृत्तिमार्गीय विद्याएँ वह पढ़ना चाहे, तब यही समझना चहिये कि वह धन और मान के लिये ही विद्याध्ययन करना चाहता है। ऐसे मनुष्य को पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है, क्यों कि वे विद्याएँ तो परमार्थ पथ में विघ्नरूप ही होती हैं। तात्पर्य यह है कि मन ही इस जीव का परम मित्र है और वही सर्वदा इसे दुःखों में भी डालता रहता है। यदि कोई मनुष्य अपने मन से विपरीत चलकर उसे जीतने का प्रयत्न नहीं करता तथा मत-मातान्तरों के वाद-विवाद एवं विरुद्धाचारों में आसक्त रहता है, तो समझना चाहिये कि उसे उसका मन ही नचा रहा है। इसके सिवा, इसके हृदय में जो मलिन स्वभाव हैं अर्थात् ईर्ष्या अभिमान, दम्भ, धनासक्ति आदि जितने भी अवगुण हैं वे सब बुद्धि का नाश करनेवाले ही हैं तथा हृदय को भी भ्रष्ट कर देते हैं। जो पुरुष ऐसे स्वभावों को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करता तथा बार-बार बड़ी सावधानी से प्रवृत्तिमार्गीय कर्मों का ही विचार करता रहता है वह कैसे शुद्ध हो सकता है?

अतः जिसका भाव निष्काम न हो उसे विद्याध्यन कराना ऐसा है जैसे किसी चोर को तलवार दे दी जाय। यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि तलवार तो चोर को सन्मार्ग में नहीं लगा सकती, किन्तु विद्या पढ़ना तो ऐसा है कि उसके द्वारा, पहले जो सकाम हो वह पुरुष भी निष्काम हो सकता है—तो इसका उत्तर यह है कि भिन्न-भिन्न मतों और पन्थों की जो विद्या है उसके द्वारा निष्कामता कभी नहीं आ सकती। जिस विद्या के द्वारा निष्कामता उत्पन्न होती है और भोगों से छुटकारा मिलता है वह तो सन्तों के वचन हैं। यह ऐसी विद्या है कि जिसमें सभी लोगों का अधिकार है और जो सभी के लिये लाभदायक है। हाँ, यदि कोई पुरुष कठोरचित्त हो और जिसका भाव भी मलिन हो, तो वह इसके लाभों से वञ्चित भी रह सकता है। इसके सिवा जो पुरुष इस विद्या का ज्ञाता भी हो, किन्तु जिसके हृदय में कोई अभिमान का अंश हो उसे इसका उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसके उपदेश से यद्यपि दूसरे लोगों को लाभ पहुँचना सम्भव है तथापि उसके कारण उसे जो मान मिलेगा वह भगवान की ओर बढ़ने में उसके लिये बाधक हो सकता है। जैसे दीपक के द्वारा मन्दिर में तो प्रकाश होता है, किन्तु वह स्वयं प्रत्येक क्षण में घटता रहता है, उसी प्रकार मानी पुरुष के उपदेश से दूसरों को भले ही कुछ लाभ हो जाय, किन्तु इससे उसकी जो महान् हानि होती है उसे रोकने का कोई उपाय नहीं है, वह तो बढ़ती ही जायगी। एक सन्त ने कहा था कि मैंने पुस्तकों के सात सन्दूक पृथ्वी में गढ़वा दिये थे और कभी किसी को उपदेश नहीं दिया। इस पर किसी ने पूछा कि आप उपदेश क्यों नहीं करते? तब वे बोले, "यदि मेरे मन में मौन रहने की इच्छा होती तब तो मुझे उपदेश करना उचित था, किन्तु मैं तो अपने चित्त में उपदेश करने की इच्छा देखता हूँ, इसलिये मैंने उपदेश करना छोड़ कर मौन ही स्वीकार किया है।" एक अन्य

सन्त ने भी एक जिज्ञासु से कहा था, "तुम्हारी अवस्था तो अच्छी थी, किन्तु तभी जब कि तुम्हें माया की प्रीति न होती।" जिज्ञासु ने पूछा, "माया के साथ मेरी प्रीति किस प्रकार है?" संतने कहा तुम्हें सांसारिक लोगों से मिलने और उपदेश करने की बहुत रुचि है। इसपर जिज्ञासु बोला, "अब आगे मैं उपदेश करना त्यागता हूँ।"

तात्पर्य यह है कि विद्या को निष्काम भाव से पढ़ाने और पढ़नेवाले विरले ही होते हैं। अतः जो अधिकारी न हो उसे परमार्थसम्बन्धिनी विद्या का उपदेश करना पाप ही है। तथा इसे पढ़ाने का भी वही अधिकारी है जिसे अपना कोई प्रयोजन न हो, ऐसा उपदेश करनेवाला हो तो उसके लिये तो एकान्त में रहने की अपेक्षा उपदेश करना ही श्रेष्ठ है। उपदेश सुननेवाले को भी चाहिये कि उपदेशक के प्रति किसी प्रकार की दोषदृष्टि न करे। यही समझें कि ये मेरे कल्याण के लिये ही मुझे उपदेश कर रहे हैं; अपने मान का इन्हें कोई विचार नहीं है। इस प्रकार अपने कल्याण के लिये यथार्थ विद्या का उपदेश ग्रहण करे और उसके प्रति शुद्ध भावना रखे। परन्तु जिसका हृदय मलिन होता है वह तो औरों के प्रति मलिन भावना ही रखता है, उन्हें भी अपनी ही तरह समझता है।

दूसरा लाभ—संगति के द्वारा ही जीवों को प्रसन्नता पहुँचायी जा सकती है। जिस मनुष्य ने एकान्तसेवन स्वीकार कर लिया है वह किसी की सेवा नहीं कर सकता। और जो सेवा के द्वारा दूसरों को प्रसन्न करता है, उसे स्वयं भी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

तीसरा लाभ—सहनशीलता आदि जितने गुण हैं वे भी संगति में रहने से ही दृढ़ होते हैं। जो मनुष्य किसी से भी मिलता-जुलता नहीं है उसमें सहन-शीलता कैसे आवेगी? और जिज्ञासु में सहन-शीलता एवं धैर्य आदि गुण होने ही चाहिये। ये ही

उसके लिये विशेष लाभप्रद है। मनुष्य का स्वभाव तभी उत्कृष्ट हो सकता है जब वह दुष्टों के कटु वचनों को सहन करे। इसी से जिज्ञासुजन भिक्षा आदि कर्मों को अङ्गीकार करते हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रथम तो उनका अहंकार नष्ट होता है और दूसरे लोगों की ताड़ना एवं दुर्वचनों के कारण उनमें क्षमा एवं सहनशीलता की वृद्धि होती है। यद्यपि आज-कल ऐसे लोगों में भी धन और मान की कामना होने लगी है, तथापि पहले जिज्ञासुजन इसी उद्देश्य से संग किया करते थे जिससे अभिमान टूटे, संतों की सेवा द्वारा कृपणता दूर हो और उनका आशीर्वाद भी प्राप्त हो। तथा आरम्भ में महापुरुषों ने भिक्षा आदि कर्मों का भी इसीलिये विधान किया था। जिस व्यक्ति का स्वभाव सहनशील नहीं होता वह थोड़ी-सी उत्तेजना मिलने पर ही वाद-विवाद में प्रवृत्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि क्षमा और सहनशीलता, जो जिज्ञासु के धर्म को दृढ़ करनेवाली हैं, केवल एकान्त में रहने से प्राप्त नहीं हो सकतीं।

परन्तु जो पुरुष किसी की बात न सह सकता हो उसका तो सबसे अलग रहना ही अच्छा है। इसके सिवा जो पुरुष संतों की सेवा करके तितिक्षा एवं भिक्षा आदि का खूब अभ्यास कर चुका है तथा जिसमें निरभिमानता और क्षमाशीलता आदि सद्‌गुण भी आ चुके हैं उसे भी एकान्त में ही रहना चाहिये। कारण कि, तितिक्षा आदि साधनों का यह उद्देश्य नहीं है कि सर्वदा दुःख ही उठाता रहे; जैसे ओषधि का उद्देश्य कड़वे रस का अभ्यास नहीं, अपितु रोगनिवृत्ति है। जब रोग निवृत्त हो जाय तो कटु रस के अभ्यास के लिये उसे पीते रहना निरर्थक है। इसी प्रकार सम्पूर्ण साधनों का प्रयोजन श्रीभगवच्चरणारविन्द की प्रेमाभक्ति प्राप्त करना और जो उस भक्ति के बाधक हैं उन्हें निवृत्त करना है, जिससे कि निर्विघ्न होकर प्रभु के भजन स्मरण में तत्पर रह सकें।

इसके सिवा जो महानुभाव अधिकारी पुरुषों को उपदेश करनेवाले हों उन्हें भी एकान्त में नहीं रहना चाहिये। जिस प्रकार आरम्भिक अवस्था में शिष्य को गुरुदेव की संगति त्यागना अनुचित है उसी प्रकार गुरुओं को भी जिज्ञासुओं को छोड़कर एकान्त में चले जाना ठीक नहीं। किन्तु एकान्त की अपेक्षा इस प्रकार की संगति श्रेष्ठ तभी है जब कि लोगों से मिलते-जुलते रहने में दम्भ और मान का कोई अंश न हो।

चौथा लाभ—संगति से ही अनेक प्रकार के सन्देह और संकल्प भी निवृत्त होते हैं। जब यह साधक एकान्त में रहने लगता है तो कई बार इसे ऐसे संकल्प घेर लेते हैं जिनसे भगवद्-भजन में बड़ा विघ्न आ जाता है। उन संदेहों का स्वयं ही निवृत्त होना सम्भव नहीं होता। उन्हें दूर करने का साधन सात्त्विक पुरुषों का सत्संग ही है। एक संत ने कहा है कि चित्त का खुलना सात्त्विक संगति के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि इस मन का ऐसा स्वभाव है कि यदि इसे एक ही कर्म में जोड़ दिया जाय तो यह शून्य-सा होकर तमोग्रस्त हो जाता है। वह शून्यता तभी दूर होती है जब यह सत्संग प्राप्त करता है। अतः उचित है कि नित्यप्रति किसी सात्त्विक पुरुष का सत्संग करता रहे। उसके सामने अपने जो दोष हों उन्हें प्रकट कर दे और उससे अपनी जीविका आदि की शुद्धि का उपाय भी पूछे तो अच्छा ही है। किन्तु प्रमादी पुरुष की तो एक घड़ी की संगति भी हानिकारक ही है। सारे दिन अभ्यास करनेपर जो पवित्रता प्राप्त होती है वह मूर्खों की संगति से क्षण भर में ही नष्ट हो जाती है। इसी से महापुरुष ने कहा है कि जब यह पुरुष किसी से प्रीति करे तो पहले ही विचार ले कि मैं किस लाभ के लिये इससे प्रेम करता हूँ।

पाँचवाँ लाभ—पारस्परिक भाव और प्रति की रीति भी सत्संग में रहने से ही प्राप्त हो सकती है। जो पुरुष प्रायः एकान्त में ही

रहता है वह सात्त्विक पुरुषों की प्रीति और भावनाओं के लाभ से वंचित ही रह जाता है।

छठा लाभ—लोगों से मिलने और उनके साथ वर्ताव करने से मनुष्य में दीनता एवं नम्रता के गुण प्रकट होते हैं। जो सर्वदा एकान्त में ही रहते हैं उनमें प्रायः अभिमान की वृत्ति आ जाती है। कोई लोग तो स्वामी (बड़े) होने के कारण एकान्त को अङ्गीकार करते हैं। वे किसी महापुरुष के दर्शनों को भी नहीं जाते और यही चाहते हैं कि वे ही हमारे दर्शनों के लिये आवें। इस प्रकार का अभिमान अत्यन्त अनुचित है। कहते हैं, किसी नगर में एक ऐसा बुद्धिमान हुआ था जिसने तीन सौ साठ ग्रन्थ बनाये थे। वह समझने लगा कि मैंने तो भगवान् को प्राप्त कर लिया है। एक दिन उसे आकाशवाणी हुई कि तूने अपने-आपको संसार में प्रकट किया है, सो इस बड़ाई को मैं स्वीकार नहीं करता। तब वह बुद्धिमान् सब कुछ त्यागकर एकान्त में रहने लगा। उसने समझा कि अब भगवान् मुझ पर प्रसन्न हो गये होंगे। तब उसे पुनः आकाशवाणी हुई कि मैं अब भी तुझ से प्रसन्न नहीं हूँ, क्योंकि अब तूने अपने को स्वामी बना रखा है। अब वह एकान्त को त्याग कर बाहर आया और अन्य लोगों की तरह ही खान-पान में वर्तने लगा तथा अभिमान त्याग कर साम्यभाव में स्थित हुआ। इस बार उसे आकाशवाणी हुई कि अब तू मेरी प्रसन्नता को प्राप्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष का सकाम भाव है और जिसने इसी उद्देश्य से एकान्त को स्वीकार किया है कि लोगों में मिलने से मेरे मान को ठेस पहुँचेगी अथवा मेरी विद्या और क्रियाओं में कोई छिद्रान्वेषण करेगा, तो समझना चाहिये कि उसने अपने दोषों को छिपाने के लिये ही यह एकान्त का पर्दा डाला है। उसे तो नित्यप्रति यही अभिलाषा होती है कि लोग मेरे दर्शनों के लिये आया करें और मुझे दण्डवत्-प्रणाम किया करें।

सो, ऐसा एकान्तसेवन तो दम्भ ही है। उचित तो यह है कि जब यह पुरुष एकान्त में रहे तो किसी भी समय भजन और विचार में शिथिलता न आने दे, अथवा विद्याभ्यास में और शास्त्र-चिन्तन में अपने चित्त को लगाये रहे।

संगति भी उसी की करनी चाहिये जिसके सहवास से धर्म की वृद्धि हो। भगवत्प्रीति से शून्य होने के कारण जो लोग मृतक के समान हैं उनकी संगति कदापि न करे। कहते हैं, एक बुद्धिमान् पुरुष किन्हीं सन्त के पास गया और बोला कि मुझे आपके दर्शनों के लिये आने में विलम्ब हो जाता है, अतः आप इस अवज्ञा के लिये मुझे क्षमा करें। सन्त बोले, "तुम इस व्यवहार को अवज्ञा समझो ही मत, क्योंकि दूसरे लोग तो मिलने को अपना सत्कार मानते हैं और मैं न मिलने पर अपना उपकार समझता हूँ, क्योंकि मुझे तो हर समय मृत्यु के आने का खटका लगा रहता है। अतः मैं किसी के आने और मिलने की इच्छा ही नहीं करता।" इससे निश्चय होता है कि मान और दम्भ के लिये एकान्तसेवन करना बड़ी भारी मूर्खता है। जिज्ञासु को तो यही विचारना चाहिये कि मेरा योग-क्षेम किसी मनुष्य के हाथ में नहीं है, लोग तो बेचारे पराधीन हैं।

इसके सिवा ऐसी बात भी है कि जब कोई साधक किसी पर्वत की कन्दरा में जाकर भी रहेगा तो दुष्ट लोग तो यही अनुमान करेंगे कि यह ढोंग बनाने के लिये ही गुफ़ा में जाकर बैठा है। और यदि यह किसी अत्यन्त अपवित्र स्थान में भी रहने लगे तो सहृदय पुरुष यही समझेंगे कि अपने को लोगों के संसर्ग से बचाने के लिये ही यह ऐसी गंदी जगह रहता है। सामान्यतया जनता में दो प्रकार के लोग रहते हैं—एक मित्र और दूसरे शत्रु। जो मित्र होते हैं वे इसके सभी आचरणों में शुभ कल्पना करेंगे और जो शत्रु होंगे वे इसके प्रत्येक आचरण में दोषदृष्टि करेंगे। अतः

जिज्ञासु को उचित है कि लोगों के कहने-सुनने पर कोई ध्यान न देकर अपने चित्त की वृत्ति को दृढ़तापूर्वक अपने परम धर्म में ही स्थित करे। कहते हैं, एक सन्त ने अपने एक जिज्ञासु भक्त से कोई काम करने के लिये कहा। वह बोला कि लोगों के भय के कारण मैं यह काम नहीं कर सकूँगा। सन्त ने कहा, "जिज्ञासु को जब तक दो अवस्थाएें प्राप्त न हों तब तक वह यथार्थ भेद को नहीं पा सकता। पहली अवस्था तो यह है कि इसकी दृष्टि से सारा जगत् नष्ट हो जाय और इसे भगवान् के सिवा और कुछ भी दिखायी न दे। तथा दूसरी अवस्था यह है कि इसका मन मर जाय, जिससे यदि जगत् इसके विषय में कुछ कहे तो इसे किसी प्रकार की भी ग्लानि न हो और न मान-अपमान की ही कोई शंका रहे।" इसी प्रकार किसी ने एक संत से कहा था कि जब लोग आपकी बातें सुन कर बाहर जाते हैं तो निन्दा करते रहते हैं। संत ने कहा कि मेरे चित्त की वृत्ति तो परम पद प्राप्त करने की ओर लगी हुई है। अतः मुझे उनकी निन्दा का कोई भय नहीं है। वास्तव में जिस पुरुष ने निन्दा और स्तुति की ओर देखना छोड़ दिया है वह मुक्त रूप ही है। अतः जिज्ञासु को इस ओर दृष्टि डालना उचित नहीं, क्योंकि वह सर्वथा लोकनिन्दा से छुटकारा पा नहीं सकता।

इस प्रकार यहाँ तक एकान्त और संगति के गुण-दोषों का वर्णन किया गया। इन पंक्तियों को पढ़कर जिज्ञासु को अपने अधिकार का विचार करना चाहिये और फिर जैसा अधिकार जान पड़े उसी के अनुरूप अपनी वृत्ति स्वीकार करनी चाहिये।

अन्त में, एक बात ध्यान में रखने की है कि जब यह पुरुष एकान्त में रहना चाहे तो पहले ऐसा निश्चय करे कि मैं इसलिये एकान्त स्वीकार करता हूँ कि मेरे वचन और कर्मों से किसी को कोई खेद न पहुँचे तथा मुझे भी सांसारिक झंझटों से कष्ट न हो और मैं सब जंजालों से छूटकर भगवद्-भजन में तत्पर रहूँ।

तात्पर्य यह है कि एकान्तसेवी पुरुष को भजन और विचार के बिना एक क्षण भी नहीं रहना चाहिये, अथवा उसे विद्याभ्यास और शुभ कर्मों में लगे रहना चाहिये। इसके सिवा उसे ऐसी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये कि लोग उससे मिलने के लिये आवें। उसे तो बिना प्रयोजन किसी से नगर का समाचार भी नहीं पूछना चाहिये, क्योंकि यह पुरुष जैसी बातें सुनता है वैसा ही संस्कार इसके हृदय में दृढ़ हो जाता है। फिर जब भजन की एकाग्रता होती है तो वही संकल्प फुरने लगता है। एकान्त में रहने का तो यही प्रयोजन है कि सम्पूर्ण संकल्पों का निरोध हो जाय। अतः एकान्तसेवी को भजन और वस्त्र का संयम करना भी परम आवश्यक है। जब तक यह पुरुष संयम को स्वीकार नहीं करता तब तक लोगों की पराधीनता से मुक्त नहीं होता। इसके सिवा जब कोई इसे वचन या कर्मद्वारा कष्ट पहुँचावे तो इसे सहनशील होकर क्षमा कर देना चाहिये। अपनी स्तुति और निन्दा पर कोई ध्यान न देकर इसे निरन्तर धर्मकार्यों में लगे रहना चाहिये, क्योंकि उन पर ध्यान देने से इसका समय व्यर्थ ही नष्ट होता है। वस्तुतः एकान्त में रहने का तो यही प्रयोजन है कि वहाँ रहकर यह अपना सर्वोत्तम कार्य पूरा कर ले।

—:०:—

पाँचवीं किरण

राजनीति और उसकी युक्तियाँ

याद रखो, राजनीति भी बहुत बड़ी चीज है। जो पुरुष विचार पूर्वक राज्य कार्य करता है वह भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। परन्तु जो इसमें धर्म की मर्यादा को छोड़ बैठता है वह तो अपने मन की वासनाओं का दास है। उसे प्रभु की ओर से तिरस्कार प्राप्त होता है। वास्तव में अभ्युदय और निःश्रेयस के सम्पूर्ण उपायों का मूल धर्मात्मा राजा ही है और धर्मात्मा वही हो सकता है जिसकी बुद्धि विचारप्रवण हो और जिसके स्वभाव में सत्त्व गुण की प्रधानता हो।

राजनीति का विज्ञान भी असीम है। इसमें सबसे पहले तो यह आवश्यक है कि राजा को इस रहस्य का ज्ञान हो कि वह इस संसार में किस काम के लिये आया है और इस जीवन का अन्त होने पर वह किस अवस्था को प्राप्त होगा। उसे यह निश्चय होना चाहिये कि मैं एक परदेशी हूँ और यह संसार मेरी यात्रा का एक पड़ाव है। इस पड़ाव का आरम्भ हिंडोले से होता है और अन्त श्मशान में। यहाँ जो दिन, मास और वर्ष बीतते हैं वे इस यात्रा के कोस और योजनों की तरह हैं। इस प्रकार जो काल बीतता जाता है उसके साथ ही मैं परलोक के समीप पहुँचता जा रहा हूँ। अन्त में मुझे जिस स्थान पर पहुँचना है वह इस संसार की जाग्रत् अवस्था से भिन्न है। यह संसार एक पुल के समान है। यदि किसी पुरुष का गन्तव्य मार्ग किसी पुल के ऊपर होकर जाता हो और

वह आगे बढ़ना भूलकर दिन भर पुल के सुधारने में ही लगा रहे, जहाँ पहुँचना है उसका कोई विचार ही न करे, तो उसे अत्यन्त मूर्ख ही कहा जायगा। इसी प्रकार जो मनुष्य मूर्ख होता है वह इस संसार के कार्यों को पूरा करने की धुन में लगा रहता है। किन्तु जो बुद्धिमान् होता है वह यहाँ आकर परलोक के मार्ग का तोशा ही बनाना चाहता है, और किसी भी काम की ओर ध्यान नहीं देता। माया के कार्यों को तो यह केवल काम चलाने के लिये स्वीकार कर लेता है। जिससे काम चलता रहे उससे अधिक भोग को तो वह विष की तरह समझता है। वह अच्छी तरह जानता है कि जीवन में कोई कितना ही सोना-चाँदी इकट्ठा कर लो किन्तु जब मृत्यु की घड़ी आयेगी तब ये सारे खजाने मिट्टी में मिल जायेंगे, अर्थात् इसके कुछ भी काम न आयेंगे। अन्त में चित्त को उनके वियोग का दुःख ही सहन करना पड़ेगा। अतः माया की सारी सामग्री का प्रयोजन तो इतना ही है कि इसके द्वारा शरीर के खान-पान आदि का काम चल जाय। इससे अधिक सामग्री तो पश्चात्ताप और दुःख का ही कारण बनती है।

किन्तु जो लोग शुद्ध और पापरहित रहकर माया का सञ्चय करते हैं वे इन पदार्थों के वियोगजनित दुःख एवं पश्चात्ताप से बचे भी रह सकते हैं। जो पापपूर्वक मायिक पदार्थों का संग्रह करते हैं परलोक में उन्हीं को ताड़ना दी जाती है। इसके सिवा उन्होंने तमोगुण के अधीन होकर जिनका धन हरा होता है उनके वे ऋणी भी रहते हैं। परन्तु यह बात भी निश्चित है कि बिना हठ और पुरुषार्थ किये कोई भोगों के बन्धन से मुक्त नहीं रह सकता। जिस पुरुष का विचार और विश्वास दृढ़ होता है वह समझता है कि कुछ ही समय बीतने पर ये इन्द्रियादिक के भोग नीरस हो जायेंगे तथा इस समय भी ये अत्यन्त दुःखरूप हैं। इसके विपरीत परलोक का सुख, जो आत्मा की गुह्य निधि है, परम आनन्दरूप है। वही

सच्ची बादशाही है और उसमें किसी प्रकार के विघ्न की भी सम्भावना नहीं है। जिस पुरुष की ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है उसे भोगों को त्यागने में कोई कठिनता नहीं होती। यह ऐसी ही बात है कि जैसे किसी पुरुष का कोई अत्यन्त प्रीतिपात्र हो और उससे यह कहा जाय कि यदि तुम केवल एक रात्रि के लिये इसके संयोग को छोड़ सको तो फिर सर्वदा यह तुम्हारे पास ही रहेगा और कभी तुमसे विरोध न करेगा, तो ऐसी अवस्था में अपना अत्यन्त प्रीतिभाजन होनेपर भी उसे एक रात्रि के लिये छोड़ने में उस पुरुष को कोई खेद नहीं होगा। उसके नित्य संयोग की आशा से वह प्रसन्नता पूर्वक उस वियोग को सहन कर लेगा। इसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष को सोचना चाहिये कि प्रथम तो इस लोक में आयु ही बहुत थोड़ी है, दूसरे ये जितने भोग्य पदार्थ हैं वे सभी क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होनेवाले हैं। तथा आत्मा का आनन्द ऐसा है कि उस का कभी अन्त नहीं होता और जिसका कभी अन्त ही नहीं होता उस सुख का परिमाण भी कैसे बताया जा सकता है। इस मनुष्य की आयु का परिमाण तो प्रायः सौ वर्ष ही है। यदि किसी को कुछ अधिक आयु भी मिल जाय और उसे सम्पूर्ण भूमण्डल का निष्कण्टक राज्य भी प्राप्त हो, तो भी वह अनन्त और अपरिमित आत्मसुख के सामने तो तुच्छ ही है। यदि ऐसा भी मान लें कि किसी को सर्वदा के लिये इस संसार के सुख और चक्रवर्ती राज्य मिल सकते हैं तो भी वे अत्यन्त मलिन और नीरस ही हैं, क्योंकि संसार के जितने सुख हैं उन सभी में दुःख भी मिला हुआ है। अतः दुःख से सर्वथा शून्य, परमानन्दस्वरूप आत्मसुख को त्यागकर इन्द्रियादि के महामलिन भोगों में आसक्त होना बड़ी भारी मूर्खता ही है।

इसलिये धर्मात्मा राजा और उसके मन्त्रियों को यह बात सर्वदा ध्यान में रखनी चाहिये। ऐसी समझ होने पर जब वे भोगों में

अनासक्त होंगे तभी उनके लिये राजनीति का यथावत पालन करते हुए प्रजा को सुखी रखना और जीवों पर दया करना सुगम होगा। वास्तव में राज्य करना तो उसी के लिये ठीक है जिसे सन्तों के वचनों की समझ हो और मायिक पदार्थों में तृष्णा न हो, क्योंकि भगवान् धर्म और नीतिसहित राज्यशासन करना तो जप और तप की अपेक्षा भी बढ़कर मानते हैं। महापुरुष ने भी कहा है कि विचार की मर्यादासहित एक दिन न्याय करना भी साठ वर्ष की तपस्या से बढ़ कर है। इसके सिवा उन्होंने यह भी कहा है कि धर्मात्मा राजा परलोक की तपन के समय भगवान् की शीतल छाया में रहेगा। धर्मात्मा राजा भगवान् का अत्यन्त प्रिय होता है और धर्महीन उनसे विमुख रहता है। महापुरुष ने एक स्थान पर भगवान् की शपथ करके कहा है कि धर्मात्मा राजा को सारी प्रजा के भजन का फल प्राप्त होता है। वह यदि एक बार भी भगवान् का नाम लेता है तो उसे सहस्त्र नाम का फल प्राप्त होता है। इस प्रकार जब राजनीति का इतना बड़ा लाभ है तो राजा को चाहिये कि भगवान् के उपकार का कृतज्ञ हो और धर्म से कभी विमुख न हो। यदि वह भगवान का कृतघ्न होकर अनीति करेगा और अपनी वासनाओं का दास होकर रहेगा तो दुःख भोगेगा। अतः अब मैं क्रमशः राजधर्म की कुछ युक्तियों का वर्णन करता हूँ—

पहली युक्ति—जैसे दुःख और अपमान अपने को अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार राजा को चाहिये कि इस प्रकार के सब विघ्नों से प्रजा की रक्षा करे। यदि ऐसा नहीं करेगा तो वह राजधर्म से च्युत हो जायगा। कहते हैं, एक बार महापुरुष तो छाया में बैठे थे तथा दूसरे लोग धूप में। इसी समय उन्हें आकाशवाणी हुई कि तुम्हें इस प्रकार बैठना उचित नहीं। जब इस नगण्य कर्म के लिये भी भगवान की ओर से भर्त्सना हुई तो राजा को यह उचित ही है कि जिस बात से वह स्वयं प्रसन्न न हो उसे प्रजा के

ऊपर भी न लादे। जिस राजा का विचार इतना समतापूर्ण न हो वह धर्महीन ही समझा जायगा।

दूसरी युक्ति—कोई अभावग्रस्त हो तो उसे नीची दृष्टि से न देखे और उसके दुःखी होने से भय माने। जब वह अपना दुःख निवेदन करे उस समय यदि किसी प्रकार के जप या भजन में भी लगा हो तो उसे छोड़ कर उसकी आवश्यकता पूर्ण करे, क्योंकि अभावग्रस्त के अभाव को निवृत्त करना सब प्रकार के नियमों से बढ़ कर है। कहते हैं, एक बड़ा ही धर्मात्मा राजा था। एक बार वह सारे दिन प्रजा के कार्यों में व्यस्त रहकर चार घड़ी दिन रहने पर विश्राम करने के लिये घर जाकर लेट गया। इतने ही में राजकुमार ने आकर कहा, "पिता जी, आप इस प्रकार निश्चिन्त होकर कैसे पड़े हुए हैं? मुझे तो भय है कि कहीं काल आकर आपको अभी न दबा ले और कोई अर्थी आपके दरबार में आकर निराश ही लौट जाय, आपको उसका पता भी न चले।" राजा ने कहा, "वत्स, तुम ठीक कहते हो।" बस, वह उसी समय खड़ा हुआ और प्रजा के कार्यों में तत्पर हो गया।

तीसरी युक्ति—अपने में विशेष भोगासक्ति न होने दे, खान-पान आदि में संयम से बर्ते। राजा यदि संयमहीन होकर भोगों में डूबा रहता है तो उससे धर्म की मर्यादा नष्ट हो जाती है। एक बार एक धर्मात्मा राजा ने अपने मंत्री से पूछा कि तुमने मेरा कोई अवगुण सुना हो तो बताओ। मंत्री ने कहा, "आप रात और दिन की पोशाक अलग-अलग रखते हैं और भोजन भी दो शाकों के साथ करते हैं।" इस पर राजा ने कहा, "अब मैं ऐसा नहीं करूँगा।"

चौथी युक्ति—यथाशक्ति सब कार्यों को दयाभाव से सम्पन्न करे, क्रोध न आने दे। यदि कोई ऐसा कठिन काम हो जिसमें कठोरता से काम लिये बिना निर्वाह ही न हो, तभी तेजी से काम ले। महापुरुष ने भी कहा है कि जिस राजा की प्रजा पर सर्वदा

दया दृष्टि रहती है उस पर भगवान् भी दया करते हैं। साथ ही यह भी कहा है कि राज्य करना तभी उचित है जब वह धर्म की मर्यादा के अनुसार किया जा सके। यदि राजा धर्म की मर्यादा से च्युत हो जाता है तो राज्य ही उसके नरकगामी होने का कारण बन जाता है। कहते हैं, एक राजा ने किसी विद्वान् से पूछा कि राजनीति में मुक्ति तक ले जानेवाला धर्म कौन है? उन्होंने कहा, "बिना पाप किये धन उपार्जन करना और उसे उचित कार्यों में लगाना।" इस पर राजा ने कहा, "ऐसा भला, कौन कर सकता है?" विद्वान् ने कहा, "जिसे नरक के दुःखों का भय हो और जो परमानन्द प्राप्त करने की इच्छा रखता हो उसी के लिये ऐसा आचरण सुगम हो सकता है।"

पाँचवीं युक्ति—हृदय से सर्वदा यही प्रयत्न करे कि सारी प्रजा शास्त्रमर्यादा के अनुसार सुख प्राप्त करे। प्रजाजन राजा के मुँह पर जो उसकी प्रशंसा किया करते हैं वह प्रायः भयवश ही होती है। किन्तु राजा समझ बैठता है कि ये लोग मुझ से अत्यन्त प्रसन्न हैं। अतः बुद्धिमान् राजा को चाहिये कि मन्त्री और दूतों के द्वारा प्रजा के सुख-दुःख की सुधि लेता रहे और अपनी भलाई बुराई का पता रखे। लोगों के मुख से अपनी प्रशंसा सुन कर ही अभिमान न करे।

छठी युक्ति—यदि कोई दुष्ट या धर्महीन पुरुष हो तो उसकी प्रसन्नता न चाहे। क्योंकि उसकी प्रसन्नता से तो जीवों को कष्ट ही होता है। यदि यथार्थ नीति के अनुसार बर्तने पर उसे अप्रसन्नता होगी तो उसकी अप्रसन्नता से होनेवाला पाप राजा को स्पर्श न कर सकेगा। अतः दुष्ट मनुष्यों की प्रसन्नता चाहना और भगवान् की प्रसन्नता से विमुख होना बड़ी मूर्खता की बात है। एक संत ने कहा है कि जो पुरुष सब प्रकार भगवान् की ही प्रसन्नता चाहता है प्रभु उसके ऊपर अन्य लोगों को भी प्रसन्न कर देते हैं, और जो व्यक्ति लोगों

की प्रसन्नता के लिये भगवान् से विमुख हो जाता है उससे न तो भगवान् प्रसन्न होते हैं और न लोग ही।

सातवीं युक्ति—राजा को सर्वदा राजनीति का भय रहना चाहिये, क्योंकि राजनीति में यथावत् बर्तना बड़ा कठिन काम है। अतः जो राजा प्रजा से सब प्रकार धर्म का आचरण करावे, उसे सुखी रखे और स्वयं भी धर्मपालन में तत्पर रहे वह बड़ा ही भग्यवान् है। यदि उसका आचरण इससे विपरीत हो तो उससे बढ़ कर कोई अभागा भी नहीं है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यदि कोई भगवान् की कृपा चाहे तो स्वयं भी सब जीवों पर दया करे। तथा जिस राजा को तेज की इच्छा हो वह धर्मनीति पर दृढ़ रहे और मुँह से जैसी बात कहे वैसा ही आचरण भी करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो देवता भी उसे धिक्कारते हैं और वह भगवान् से भी विमुख हो जाता है। जिस राजा से प्रजा का पालन नहीं होता वह पूजा-पाठ के नियमों में खूब साव-धान भी रहे तो भी उसे कुछ लाभ नहीं होता। अतः तुम अच्छी तरह विचार लो, धर्म की मर्यादा छोड़ कर राजनीति में बर्तना तो ऐसा है कि उसके कारण फिर किसी भी प्रकार के शुभ आच-रण से भी कोई लाभ नहीं होता। महापुरुष ने कहा है कि दो पुरुषों में जो प्रधान हो वह यदि विचार और नीति के अनुसार आचरण न करे तो धिक्कार का पात्र होता है। एक स्थान पर उन्होंने ऐसा भी कहा है कि राजाओं में अधिकतर तो नरक को ही प्राप्त होंगे। उनमें कोई वही मुक्त हो सकेगा जो सदा भगवान् से डरता रहेगा और विचार की युक्ति के अनुसार आचरण करेगा। अन्यत्र वे कहते हैं कि जब कोई इस लोक में क्रोध करता है तो भगवान् भी उस पर कुपित होते हैं। तथा जो इस लोक में किसी को सुख देता है वह स्वयं भी सुख प्राप्त करेगा। फिर उन्होंने कहा है कि राजा होकर जो अपनी प्रजा का शासन एवं रक्षण नहीं करता तथा

किसी की आवश्यकताओं की ओर कोई ध्यान नहीं देता, अथवा जो पुरुष अपने सम्बन्धियों को धर्ममार्ग की शिक्षा नहीं देता और अशुद्ध आजीविकाद्वारा उनका पालन-पोषण करता है, तथा जो पुरुष किसी से अपना काम करा कर उसे मजदूरी नहीं देता, ये सभी नरकगामी होते हैं। अतः राजा को चाहिये कि संतजनों के वचनों को अपना दर्पण बनावे और जिन वचनों में अनीति की निन्दा की गयी है उन पर ध्यान देकर सर्वदा अनीति से डरता रहे।

आठवीं युक्ति—राजा को सर्वदा विद्वानों की संगति करनी चाहिये और उनसे धर्म की मर्यादा के विषय में पूछते रहना चाहिये। किन्तु जो विद्वान् अर्थलोलुप हों उनका संग न करे, क्योंकि सकामी पण्डितों की दृष्टि तो राजा को प्रसन्न रखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेपर ही रहती है, वे उसे यथार्थ नीति का उपदेश नहीं दे सकते। अतः उनका संग अच्छा नहीं। राजा को तो उसी विद्वान् का संग करना उचित है जो अपने स्वार्थ और राजा के मान के लिये यथार्थ नीति को न छिपावे। कहते हैं, एक राजा ने किसी संत से पूछा था कि अमुक तपस्वी आप ही हैं। इस पर संत ने कहा कि अमुक तो मैं ही हूँ, किन्तु तपस्वी तुम ही हो, क्योंकि जो अधिक वस्तु को त्याग कर अल्प को स्वीकार करे वही तपस्वी होता है, सो तुमने आत्मसुख को त्यागकर मायिक सुख स्वीकार किये हुए हैं, इसलिये तुम्हीं तपस्वी हो। फिर राजा ने कहा, "मुझे कुछ उपदेश कीजिये।" संत ने कहा, "तुम्हें भगवान् ने धर्म के सिंहासन पर बैठाया है, अतः परलोक में जानेपर प्रभु तुम से धर्म की मर्यादा पूछेंगे, साथ ही उन्होंने तुम्हें नरकों का द्वारपाल भी बनाया है, अर्थात् तुम्हें प्रजा को नरकों में जाने से बचाने का भी अधिकार दिया है; अतः जो पुरुष अपनी जीविका के लिये पाप करता हो उसे तुम्हें जीविकानिर्वाह के लिये धन देना

चाहिये और जो मनमुखी होकर धर्ममर्यादा का त्याग करे उसे ताड़ना देकर पाप से रोकना चाहिये। और यदि कोई बल के अभिमान से अन्धा होकर जीवों को कष्ट पहुँचावे तो उसका शस्त्रोंद्वारा दमन करना चाहिये। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो सबसे पहले तुम्हें ही नरक में जाना पड़ेगा।" राजा ने पुनः कहा, "कुछ और उपदेश कीजिये।" तब संत बोले, "राजन्! तुम नदी की तरह हो और मन्त्री तुम्हारे प्रवाह के समान हैं। तात्पर्य यह कि यदि तुम निर्मल रहोगे तो वे भी निर्मल रहेंगे और यदि तुम्हारा हृदय मलिन हो जायगा तो वे भी मलिन कर्मों का आचरण करेंगे।"

इसी प्रकार एक और राजा किन्हीं संत के दर्शनों को गया। संत उस समय यह वचन पढ़ रहे थे कि यथासम्भव शुभ आचरण ही को स्वीकार करो, क्योंकि उत्तम और नीच पुरुषों की गति समान नहीं होती। जब राजा ने यह वचन सुना तो वह अपने मन में विचारने लगा कि यह वचन ही सारे उपदेशों का मूल है। इतने में संत के दर्शनों की अभिलाषा से राजा के प्रधान ने किवाड़ों को खटकाया और कहा, "महाराज! किवाड़ें खोलिये।" संत ने पूछा, "कौन है?" प्रधान ने कहा, "अमुक राजा साहब आपके दर्शनों के लिये आये हैं।" संत बोले, "राजा का हमसे क्या प्रयोजन है?" प्रधान ने कहा, "कृपया किवाड़ें खोल दीजिये, राजा साहब का निरादर करना ठीक नहीं।" तब संत ने किवाड़ खोल दिये और भीतर जो दीपक जल रहा था उसे बुझा दिया। राजा ने भीतर जाकर संत के चरणों पर अपना सिर रखा और पाँव पकड़ लिये। संत ने कहा, "राजन्! तुम्हारे हाथ तो बहुत कोमल हैं, किन्तु इनकी सार्थकता तभी है जब नरकों की अग्नि से ये सुरक्षित रहें। सो, तुम अभी से धर्मानुकूल आचरण करो तो अच्छा हो, क्योंकि परलोक में जानेपर तुम से एक-एक प्रजाजन की बात पूछी जायगी।" यह बात सुन कर राजा रोने लगा और

मूर्छित हो गया। तब प्रधान ने कहा, "महाराज, अब ऐसी बातें बन्द कीजिये, क्योंकि आपके वचन सुनकर तो राजा साहब के प्राण संकट में पड़ गये हैं।" यह सुनकर सन्त ने कहा, "तुम कुमन्त्री हो, राजा के प्राण तो वास्तव में तुम लोगों की संगति के कारण संकट में पड़े हैं। और तुम हमारे ऊपर इसका आरोप करते हो।" इतने में राजा सावधान हो गया, उसने तीन हजार रुपये संत के आगे रखे और कहा, "भगवन्! यह धन पापरहित साधनों से उपार्जन किया गया है, आप इसे स्वीकार करें।" संत ने कहा, "भाई! मैं तो तुम्हें माया से निकालना चाहता हूँ और तुम मुझे माया में डालने की बातें कर रहे हो।" ऐसा कहकर संत खड़े हो गये और घर के बाहर चले आये। राजा का धन उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

एक अन्य राजा की बात है। उसने किसी संत से कहा था कि मुझे धर्मनीति का उपदेश कीजिये। तब संत ने कहा, "तुम से जो छोटे आदमी हैं उन्हें तुम पुत्रवत् समझो और जो तुमसे बड़े हैं उन्हें पिता के तुल्य मानो तथा जो समान हैं उनके साथ बन्धु-बान्धवों का सा बर्ताव करो। यदि किसी को दण्ड देना पड़े तो उसकी उतनी ही ताड़ना करो जितना उसका अपराध हो और चित्त में यही भाव रखो कि मैं उसकी भलाई के लिये ही यह ताड़ना कर रहा हूँ। अपराध न होनेपर यदि तुम क्रोधवश किसी के एक बेत भी मारोगे तो नरक में जाना पड़ेगा।" इसी बात को लक्ष्य करके एक बुद्धिमान् राजा ने कहा है कि एक बार मेरे सेवक ने कोई काम बिगाड़ दिया था। अतः मैं क्रोध में भर कर उसे मारने लगा। तब वह बोला, "आप जरा परलोक की ताड़ना का स्मरण रखें।" अर्थात् परलोक का भय करके क्रोध त्याग दें। उसकी यह बात सुनकर मुझे भगवान् का भय हुआ।

इन सब प्रसंगों का तात्पर्य यह है कि राजा को सर्वदा इस

प्रकार सावधान करनेवाले वचन सुनते रहना चाहिये।

नवीं युक्ति—राजा को ऐसा नहीं समझना चाहिये कि मैं तो किसी को स्वयं दण्ड नहीं देता, उन्हें ताडना करनेवाले तो दूसरे ही होते हैं। कारण कि मन्त्रियों, प्रधानों (प्रान्तीय शासकों) और सेनापतियों के द्वारा जो अन्याय होगा उसको दण्ड भी राजा को ही भोगना पड़ेगा। अतः उन्हें पाप करने से रोकता रहे। एक धर्मज्ञ राजा ने अपने प्रधान को पत्र लिखा था कि वही प्रधान भाग्यवान् है जिसके राज्य में प्रजा सुखी रहती है, इसके विपरीत जिसकी प्रजा धर्महीन और दुःखी हो वह तो मन्दभागी ही है। अतः तुम्हें सावधान रहना चाहिये। यदि तुम प्रमाद करोगे और भोगों में आसक्त हो जाओगे तो तुम्हारी सेना भी भोगलम्पट होकर प्रजा को दुःख देगी। जो पुरुष अधिक भोगासक्त होता है वह तो पशु के समान है। पशु हरी-हरी घास चरकर पहले तो खूब मोटा हो जाता है और फिर उसकी वह स्थूलता ही उसके दुःख और नाश का कारण बन जाती है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि जिस राजा का कोई प्रधान पाप कर्म करता हो और राजा उसे ताड़ना न देता हो तो उसके पाप का फल राजा को भोगना पड़ता है।

अतः राजा को ध्यान रखना चाहिये कि माया में आसक्त होकर परमार्थ से विमुख होना बड़ी मूर्खता है। मेरे जो प्रधान और मन्त्री हैं, वे सबतो अपने स्वार्थ का प्रयोजन रखते हैं, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये वे मेरा धर्म नष्ट करने पर तुले रहते हैं। यदि इनके वशीभूत रहकर मैं अपने धर्म के विपरीत चलूँगा तो मुझे निःसन्देह नरकगामी होना पड़ेगा। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तब तो ये सब मेरे शत्रु ही हैं। अतः जो राजा अपने मन्त्रियों और सेना आदि को पापकर्मों से नहीं रोकता वह तो उस पुरुष के ही समान है जो अपने स्त्री-पुत्रादि को पाप-

कर्मों में लगाये रहता है और स्वयं उनके पापों का भागी होता है। किन्तु सन्तों ने जो यह धर्म की मर्यादा कही है इसका पालन वही पुरुष कर सकता है जिसने विचारद्वारा अपने संकल्पों को दृढ़ कर लिया है। जो पुरुष अपनी बुद्धि पर अंकुश रखता है और भोगवासनाओं को प्रबल नहीं होने देता वही धर्मनीति में स्थित रह सकता है। पर अधिकांश लोग तो ऐसे होते हैं जो अपने मनोरथ पूर्ण करने के यत्न में ही लगे रहते हैं और बुद्धि को भी इन्हीं कामों में लगाये रहते हैं। सो जिसने बुद्धिरूपी देवता को क्रोधरूपी राक्षस के हाथ बेच दिया है ऐसा पुरुष धर्मनीति का पालन कदापि नहीं कर सकता। अतः जिसके हृदय में पहले विचार-रूपी सूर्य का उदय हो और फिर उसका प्रकाश इन्द्रियों में फैले वही अपनी सब प्रजा को भी वह आलोक प्रदान कर सकता है। जो लोग विचाररूपी सूर्य के बिना धर्मनीति के प्रकाश की आशा रखते हैं वे तो मूर्ख ही हैं

और यह विचार उपजता है धर्म की बुद्धि से। इसी का नाम परम बुद्धि भी है, अर्थात् वह बुद्धि जो सब प्रकार के आचरणों का रहस्य समझती हो और इस बात का भी निर्णय कर सकती हो कि मैं जब धर्म और विचार की मर्यादा को त्यागता हूँ तो उसमें क्या कारण होता है। जब यह अनेक प्रकार के भोजनों के लिये विचार की मर्यादा का त्याग करे तब इसे इस प्रकार विचारना चाहिये कि खाने-पीने की तृष्णा तो पशुओं का स्वभाव है, अतः जिसे यह तृष्णा बढ़ी हुई है वह तो देखने में ही मनुष्य जान पड़ता है, वास्तव में तो पशु ही है। और जो सुन्दर वस्त्रों के लिये धर्म का त्याग करे उसे समझना चाहिये कि शृंगार करना तो स्त्रियों का काम है। इसी प्रकार जो क्रोध के वशीभूत होकर धर्म का उल्लङ्घन करे उसे अपने को सिंहों और भेड़ियों के समान जानना चाहिये। यदि कोई मनुष्य लोगों में सम्मानित होने के

लिये विचार का त्याग करता है तो यह भी बड़ी मूर्खता की ही बात है, क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ये सब लोग अपने स्वार्थ का ही प्रयोजन रखते हैं और भोगों के लिये ही इसकी चापलूसी करते हैं। इसकी परीक्षा यही है कि जब उनका स्वार्थ भंग होता है तो वे उल्टे इसके शत्रु हो जाते हैं और इसके विरोधियों की सेवा करने लगते हैं। इससे निश्चय होता है कि इसके सभी सम्बन्धी, मित्र, सेवक और साथी अपने स्वार्थ के लिये ही इससे स्नेह करते हैं।

अतः बुद्धिमान् तो वही पुरुष है जो इस भेद को अच्छी प्रकार समझे और अपने पास पदार्थों की बहुलता देखकर अभिमान न करे। जिसे ऐसी समझ नहीं है वह तो बुद्धिहीन ही है। और जिसके पास बुद्धि नहीं है वह विचार की मर्यादा में सावधान नहीं हो सकता। तथा जो विचारशून्य है वह निःसन्देह नरक का ही अधिकारी होता है। इसीसे संतों ने कहा है कि सम्पूर्ण शुभ गुणों का मूल बुद्धि ही है।

दसवीं युक्ति—राजाओं में स्वभाव से ही अभिमान अधिक होता है और अभिमान से क्रोध हुआ करता है तथा क्रोध ही बुद्धि का सब से बड़ा शत्रु है। अतः राजा को सबसे पहले क्रोध के दोषों पर विचार करना चाहिये और जब अकस्मात् कभी क्रोध उत्पन्न होने लगे तब प्रयत्न करके अपने स्वभाव में दया और सहनशीलता को पुष्ट करे। यह बात ध्यान में रखे कि सहनशीलता संतों का धर्म है और क्रोध असुरों का स्वभाव है। राजों का प्रायः यह स्वभाव होता है कि जब कोई पुरुष वाणीद्वारा उनकी अवज्ञा करता है तो वे उस पर क्रोध करने लगते हैं। उस समय उन्हें विचारना चाहिये कि यदि दुर्वचन कहनेवाला पुरुष सत्य कहता है तब तो वह उपकारक है ही और यदि वह झूठ कहता है तो उसका और भी अधिक उपकार है, क्योंकि इस प्रकार वह हमारी

सहनशीलता बढ़ाने में सहायक होता है। इसके सिवा उसके पुण्य कर्मों का फल भी सहन करनेवाले को ही प्राप्त होगा। कहते हैं, एक बार किसी पुरुष ने महापुरुष से कहा था कि अमुक पुरुष ऐसा बलवान् है कि जिसके साथ युद्ध करता है उसी को गिरा देता है। इसपर उन्होंने कहा, "वास्तव में बलवान् तो वही है जिसने अपने क्रोध को जीता है। मनुष्यों को पकड़ने और गिरानेवाले का नाम बली नही है।"

इसके सिवा धर्मवान् पुरुष उसे भी कहा गया है जो किसी क्रोध करनेयोग्य पुरुष से काम पड़नेपर भी विचार की मर्यादा को नहीं त्यागता और न कोई अनुचित वचन ही कहता है तथा जब किसी पर प्रसन्न होता है तब भी जो वास्तविकता को भूल नहीं जाता एवं समर्थ होनेपर भी कभी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता। एक संत का कथन है कि जब तक किसी पुरुष के धैर्य और क्रोध की अच्छी तरह परीक्षा न कर ली जाय तब तक उस पर विश्वास नहीं करना चाहिये। कहते हैं, एक राजपुत्र पढ़ने के लिये पाठशाला को जा रहा था। रास्ते में एक दुष्ट मिला, वह उसके लिये अनेकों दुर्वचन कहने लगा। राजकुमार के साथ जो सेवक था वह क्रोधित होकर उसे मारने को तैयार हुआ। तब राजकुमार ने उसे रोका और उस दुष्ट से कहा, "भाई! हमारे में तो ऐसे-ऐसे दोष हैं जिन्हें तुम जानते ही नहीं हो। हाँ, तुम्हारा कोई काम हो तो मुझसे स्पष्ट कहो।" यह सुनकर वह बहुत लज्जित हुआ। फिर राजकुमार ने अपने गले का वस्त्र और एक हजार रूपया उसे दिया। उन्हें लेकर वह बोला, "निःसन्देह आप महापुरुष की सन्तान हैं।" एक बार इसीं राजकुमार ने अपने एक सेवक को दो बार पुकारा, किन्तु वह चुप साधकर रह गया। तब इसने पास जाकर कहा, "मैंने तुम्हें दो बार पुकारा, किन्तु तुमने सुना ही नहीं।" सेवक ने कहा, "सुना तो था, किन्तु आपकी सहनशीलता ने इतना

निर्भय कर दिया हूँ। सोचा था, अवज्ञा करनेपर भी आप दण्ड तो देगें नहीं।" राजपुत्र बोला, "यह भी हमारे ऊपर प्रभु का परम अनुग्रह ही है कि सेवक को भी हमारे क्रोध का भय नहीं रहा।" इसी प्रकार एक संत का भी प्रसंग है। उनके सेवक ने उनके एक पशु का पैर तोड़ डाला। तब उन्होंने उससे कहा, "भाई तूने इस बेचारे को यह कष्ट क्यों दिया?" सेवक बोला, "मैंने आपके धैर्य और क्रोध की परीक्षा करने के लिये यह अवज्ञा की है।" तब संत बोले, "भाई! मैं तो सहनशील होकर क्रोध ही को लज्जित करूँगा।" ऐसा कहकर उन्होंने उस क्रीतदास को दासत्व से मुक्त कर दिया। इसी प्रकार एक बार इन्हीं संत से किसी दुष्ट ने अनेकों दुर्वचन कहे। तब संत बोले, "भाई, मेरे और भगवान् के बीच में अनेकों कठिन घाटियाँ हैं, यदि मैंने उन्हें पार कर लिया तो फिर मुझे तुम्हारे दुर्वचनों का कोई भय नहीं है। और यदि वे मुझसे न लांघी गयीं तब तो तुम जैसा कहते हो मैं उससे भी गया-गुजरा हूँ।" इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि बहुत लोग क्षमा और सहनशीलता के द्वारा अत्यन्त गम्भीर पद प्राप्त कर लेते हैं। वे यद्यपि गृहस्थधर्म का पालन करते हैं तो भी बड़े शूरवीर और विरक्तचित्त होते हैं। इसके सिवा यह भी कहा है कि जो विचार की मर्यादा त्यागकर क्रोध के वशीभूत होते हैं वे निःसन्देह नरक-गामी होते हैं और जो समर्थ होनेपर भी अपने क्रोध का दमन कर लेते हैं उनके हृदय को भगवान् आनन्द से भर देते हैं।

तात्पर्य यह है जिस राजा की बुद्धि धर्म में स्थित है उसके लिये तो मैंने जितने वचन और युक्तियाँ कही हैं वे ही पर्याप्त हैं। और जिसका हृदय ये सब उपदेशवाक्य पढ़कर भी कोमल न हो, समझना चाहिये, उसे तो भगवान् पर कुछ भी विश्वास नहीं है। वाणी से भगवान् को सत्य कहना दूसरी बात है और हृदयसे भगवान् को सत्य जानना दूसरी। जो पुरुष छल और हिंसा करके

धन उत्पन्न करे और पापों में निःशंक होकर बर्ते उसके विषय में यह कैसे समझ सकते हैं कि वह भगवान् को प्रत्यक्ष सत्य जानता है। अतः धर्मात्मा पुरुष तो वही है जो सर्वदा विचार की मर्यादा में स्थित रहता है।

—:o:—

[७]

सप्तम उल्लास

(चित्त के मलिन स्वभावों का शोधन)

पहली किरण

शुभ स्वभावों की प्राप्ति और मलिन स्वभावों की निवृत्ति के उपायों का वर्णन

(१–शुभ स्वभाव की स्तुति)

याद रखो, प्रभु ने जो महापुरुष की प्रशंसा की है वह उनके सुन्दर स्वभावों के कारण ही है, तथा महापुरुष ने भी कहा है कि भगवान् ने मुझे भले स्वभावों को पूर्ण करने के लिये ही इस जगत् में भेजा है। फिर यह भी कहा है कि परलोक में सुन्दर स्वभाव ही सब से श्रेष्ठ पदार्थ गिना जायगा। एक बार किसी पुरुष ने महापुरुष से पूछा था कि धर्म क्या है। महापुरुष ने कहा कि भला स्वभाव ही धर्म है। ऐसे ही एक और पुरुष ने पूछा कि उत्तम आचरण क्या है ? तब भी उन्होंने यही कहा कि भला स्वभाव ही सबसे उत्तम आचरण है। एक अन्य पुरुष ने उनसे प्रार्थना की कि मुझे कुछ उपदेश कीजिये। तब उन्होंने कहा कि जिस स्थान पर तुम हो वहीं भगवान् के भय के सहित रहो और यदि कोई तुम्हारे साथ बुराई भी करे तो भी तुम उसके साथ भलाई ही करो तथा सब जीवों के साथ सुन्दर स्वभाव को लेकर मिलो। महापुरुष ने यह भी कहा है कि जिसको भगवान् ने अच्छा स्वभाव दिया है और जिसका मस्तिष्क प्रसन्नता के सहित खुला हुआ है वह नरकों की अग्नि में नहीं जला सकता। एक बार किसी ने महापुरुष से कहा कि अमुक स्त्री दिन को व्रत रखती है और रात्रि में जागरण

करती है तथा सर्वदा भजन में ही लगी रहती है, किन्तु उसका स्वभाव अच्छा नहीं है, वह पड़ौसियों को दुर्वचन कहकर दुःख पहुँचाती है। तब महापुरुष ने कहा, "फिर तो वह निःसन्देह नरकों को प्राप्त होगी।" ऐसा भी कहा है कि बुरा स्वभाव भजन को इसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे मधु को खटाई।" महापुरुष तो भगवान् से यही प्रार्थना करते थे कि प्रभो! जिस प्रकार आपने कृपा करके मेरा शरीर सुन्दर बनाया है उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी सुन्दर कीजिये। कभी-कभी वे ऐसा भी कहते थे कि मुझे सुन्दर स्वभाव और नीरोगता दीजिये।

एक बार किसी ने महापुरुष से पूछा कि भगवान् जो कुछ इस जीव को देते हैं उसमें भला क्या है? तब उन्होंने कहा कि भला स्वभाव सब पदार्थों से बढ़कर है। एक और सन्त ने भी कहा है कि एक बार मैं महापुरुष के साथ था। तब उन्होंने कहा कि मैंने एक बड़ा आश्चर्य देखा। एक बार मुझे एक पुरुष गिरा हुआ दिखायी दिया। उसके और भगवान् के बीच में बड़ा पर्दा था। किन्तु जब भला स्वभाव उसके हृदय में आया तो उसने वह सारा पर्दा हटा दिया और उस पुरुष ने भगवान् को प्राप्त कर लिया। ऐसा भी कहा है कि यह पुरुष भले स्वभावों के द्वारा बिना कष्ट ही ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेता है कि जिसे बड़ी भारी तपस्या और जागरण आदि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु इस भले स्वभाव की पूर्णता महापुरुष में ही पायी जाती है। कहते हैं, एक स्थान पर महापुरुष बैठे थे। तब वहाँ कुछ स्त्रियाँ निःसंकोच होकर उच्च स्वर से बोलने लगीं। इतने ही में वहाँ उनके साथी हजरत उमर आये। उन्हें देखते ही वे चञ्चलता छोड़कर मौन हो गयीं। तब उमर ने कहा, "बहिनो, तुमने महापुरुष से तो कुछ भी भय नहीं किया और मुझे देखकर मौन हो गयीं?" वे बोलीं, "महापुरुष का स्वभाव तो अत्यन्त कोमल है; आप उनकी अपेक्षा कुछ

कठोर स्वभाव के हैं। अतः आपसे हम डरती हैं।" फिर महापुरुष ने उमर से कहा, "उमर ! तुम्हारे पास तो माया भी नहीं फटक सकती । वह भी तुम्हारे तेज को सहन न कर सकने के कारण भाग जाती है, फिर औरों की तो बात ही क्या है ?" ऐसा कह कर उन्होंने उनका मान बढ़ाया और उन्हें प्रसन्न किया।

एक और सन्त थे। संयोग से मार्ग में उनका किसी पुरुष से साथ हो गया। जब वे उससे बिछुड़े तो रोने लगे। तब लोगों ने पूछा कि आप क्यों रोते हैं? वे बोले, "यह पुरुष जो मुझसे बिछुड़ा है, इसका बुरा स्वभाव इसके साथ ही रहा, वह इससे दूर न हुआ इसीसे मैं रोता हूँ।" इसके सिवा अबूबक्र किताई ने भी कहा है कि फ़कीरी भले स्वभाव का ही नाम है। अतः जिनका स्वभाव अच्छा है वही उत्तम फ़कीर है। एक अन्य सन्त ने भी कहा है कि कठोर स्वभाव ऐसा पाप है कि इसके होते हुए कोई भी शुभ गुण लाभ-दायक नहीं होता और कोमल स्वभाव इतना उत्तम भजन है कि इससे सम्पूर्ण पापों का नाश हो जाता है तथा किसी भी अवगुण का खटका नहीं रहता।

(२—शुभ स्वभाव का वर्णन

अब विचारणीय यह है कि भले स्वभाव क्या हैं? इनका वर्णन करने के लिये अनेकों वचन प्रसिद्ध हैं। किंतु किसी ने भी इनका पूर्णतया वर्णन नहीं किया। किसी ने कहा है, "मस्तिष्क को प्रसन्न रखना ही भला स्वभाव है।" और कोई कहता है, "सहनशीलता ही भला स्वभाव है। "इसी प्रकार और भी अनेकों वचन हैं। पर ये सब तो भले स्वभाव के अंग ही हैं, इन्हें ही पूर्ण भला स्वभाव नहीं कह सकते। अतः अब मैं इस बात का विवेचन करता हूँ कि पूर्ण भला स्वभाव क्या है ?

स्मरण रखो, इस मनुष्य को दो पदार्थों से संयुक्त रचा गया है।

उनमें एक तो शरीर है, जो स्थूल नेत्रों से दिखायी देता है और दूसरा जीव है, जो बुद्धि से पहचाना जा सकता है। इन शरीर और जीव दोनों की सुन्दरता भी है और कुरूपता भी। किन्तु शरीर की सुन्दरता तो उसका स्थूल रूप-रंग आदि है और जीव की सुन्दरता भला स्वभाव है। स्थूल रूपवान् भी उसी शरीर को कहते हैं जिसके नेत्र, मस्तक, नाक, कान, मुख तथा अन्यान्य अंग समान हों, इसी प्रकार जीव की सुन्दरता भी तभी समझी जाती है जब इस पुरुष में चार गुण समान रूपसे पाये जायँ। वे गुण हैं–विद्या संयम, अक्रोध और विचार। इनमें से विचार शेष तीन गुणों में भी अनुगत रहता है। प्रथम गुण जो विद्या कहा है उसका अर्थ है समझ। इसकी विशेषता यह है कि इसके द्वारा मनुष्य सहज ही में सत्य और असत्य को पहचान सकता है, वचन और आचरण की भलाई और बुराई के भेद को समझ सकता है तथा यह भी जान सकता है कि अमुक विश्वास सत्य है या मिथ्या। इस प्रकार जब वचन, आचरण और निश्चय को यथावत् रीति से जान लेता है तो इसके हृदय में अनुभव उत्पन्न होता है और यह अनुभव ही सम्पूर्ण गुणों का मूल है। श्री भगवान् ने भी कहा है कि जिस पुरुष को अनुभव प्राप्त हुआ है उसे सभी गुण प्राप्त हो जाते हैं। दूसरा गुण है संयम अर्थात् भोगों को अपने अधीन रखना। इसका तात्पर्य यह है कि भोगों का इस पर आधिपत्य न हो, यह बुद्धि के अनुसार बर्ते और विचार का आदेश मानना इसके लिये सुगम हो जाय। तीसरा गुण है अक्रोध अर्थात् क्रोध पर अधिकार प्राप्त करना। जिसे यह गुण प्राप्त हो जाता है उसका क्रोध भी विचार के आदेशानुसार ही होता है, वह विचार के विपरीत क्रोध करके किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता।

चौथा गुण विचार है। यह उपर्युक्त तीनों गुणों में भी रहना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि भोग और क्रोध तो विचार के

आदेशानुसार इसके अधीन रहने चाहिये और विद्या में सामञ्जस्य (समतोलता) रहना चाहिये, जिससे यह शास्त्राज्ञा के अनुसार वर्त सके। क्रोध शिकारी कुत्ते की तरह है और लोभ घोड़े के समान है, जिस पर बुद्धिरूपी सवार है। कभी ऐसा होता है कि घोड़ा सवार से भी प्रबल हो जाता है और कभी उसके संकेत के अनुसार चलता रहता है। इसी प्रकार कुत्ता भी कभी मालिक की आज्ञा में रहता है और कभी उससे उल्टा चलने लगता है। किन्तु जब तक घोड़ा और कुत्ता सवार की आज्ञा में न हों तब तक शिकार उसके हाथ नहीं आ सकता। सवार को भी यह डर रहता है कि कहीं घोड़ा प्रबल होकर मुझे गिरा न दे अथवा कुत्ता मुझे फाड़ न डाले। अतः विचार का काम यह है कि इनको अपने अधीन रखे और इन्हें बुद्धि एवं धर्म की आज्ञा में चलावे। कभी भोगों को क्रोध से प्रबल करके क्रोध के वेग को अपमान के द्वारा निवृत्त करे और कभी क्रोध को भोगों से प्रबल करके मान का लालच देकर भोगों की अभिलाषा के वेग को शान्त करे। इस प्रकार इन दोनों को अपने अधीन रखे।

इस प्रकार जिस मनुष्य में ये चारों लक्षण समान रूप से होते हैं उसी को सम्पूर्ण भले स्वभाववाला कहा जाता है। और जिस में इनमें से कोई लक्षण हो और कोई न हो उसे सम्पूर्ण भले स्वभाववाला नहीं कह सकते। जैसे कोई पुरुष रूपवान् तो हो, किन्तु उसकी आँख, नाक अथवा कोई अन्य अंग कुरूप हो तो उसे पूर्णतया सुन्दर नहीं कह सकते। इसी प्रकार निश्चय जानो, इन गुणों की सुन्दरता भी है और असुन्दरता भी। सो, सुन्दरता तो इनकी समानता में है और असुन्दरता दो प्रकार है—एक तो मर्यादा से अधिक होने में और दूसरी मर्यादा से न्यून होने में। इसके सिवा यह भी कहा है कि जिस मनुष्य में एक बुरा स्वभाव होता है उसमें और भी अनेकों बुराइयाँ आ जाती हैं। किन्तु यहाँ

जो इनकी मर्यादा की बात कही गयी है वह इस प्रकार है—सबसे पहले विद्या का ही विचार करें। यदि विद्या मर्यादा से अधिक होती है तो उसका तरह-तरह की मलिनताओं में भी प्रसार हो जाता है। उसके कारण मनुष्य में चञ्चलता और चालाकी आ जाती है तथा वह अभिमानी भी हो जाता है। और यदि वह मर्यादा से न्यून होती है तो मनुष्य में मूर्खता और जड़ता के दोष आ जाते हैं। किन्तु यदि विद्या मर्यादा के अनुसार हो तो उससे विचार, सुमति, शुद्ध संकल्प एवं उत्तम समझ आदि गुण उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार जब क्रोध का बल अधिक होता है तब अभिमान, कटुभाषण, बड़प्पन, आत्मश्लाघा, निःशंकता और साहस आदि अनेकों दोष पैदा हो जाते हैं। तथा जब क्रोध मर्यादा से न्यून होता है तो दीनता, पराधीनता एवं कपट आदि बुरे स्वभाव आ जाते हैं। किन्तु जब क्रोध का बल मर्यादा के अनुसार होता है तो इसका चित्त दृढ़ हो जाता है और इसमें पुरुषार्थ, बल, सहनशीलता, नम्रता एवं इसी प्रकार के अनेकों शुभ गुण आ जाते हैं। इसी तरह जब भोगों का बल मर्यादा से अधिक होता है तो तृष्णा, अशुद्धता, कृपणता और ईर्ष्या उपजती हैं। तथा लोभ के कारण यह धनवानों से अपमान सहन करता है और निर्धनों का निरादर करने लगता है। इसके विपरीत जब इसे भोग बिलकुल नहीं मिलते तब इसमें आलस्य, कायरता और अस्थिरता आदि दोष आ जाते हैं। किन्तु जब भोगों का बल मर्यादा के अनुसार होता है तब संयम, धैर्य और सन्तोष आदि गुणों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार पहले जो विद्या, क्रोध और भोग बताये गये हैं इनके दो-दो किनारे हैं—एक अधिकता और दूसरा न्यूनता। ये दोनों ही निन्द्य हैं, इनका मर्यादा में रहना ही श्रेष्ठ कहा गया है।

किन्तु इनकी मर्यादा बाल से भी सूक्ष्म और कठिन है।

तथापि यही उत्तम मार्ग भी है। वैसे परलोक में पुल सरात❀ को पार करना कठिन कहा गया है, उसी प्रकार इनकी मर्यादा में बर्तना भी बहुत कठिन है। अतः जो पुरुष इस लोक में इनकी मर्यादा अर्थात् समानता में बर्तता है वह परलोक में पुल सरात से निर्भय रहता है, इसी से प्रभुने भी सब स्वभावों में समानता से बर्तना ही श्रेष्ठ कहा है और उन पुरुषों की प्रशंसा की है जो कृपणता और विपुलता से रहित हैं। महापुरुष ने भी कहा है कि न तो ऐसी कृपणता करनी चाहिये कि किसी को कुछ दे ही नहीं और न इतनी विपुलता (अति) ही हो कि एक ही बार में सब कुछ लुटा दिया जाय और फिर स्वयं कंगाली का दुःख भोगता रहे। अतः निश्चय जानो कि हृदय की सम्पूर्ण सुन्दरता तभी होती है जब ये गुण मर्यादा के अनुसार रहते हैं, जिस प्रकार कि शारीरिक सुन्दरता तभी पूर्ण होती है जब सब अंग सुन्दर और समान हों।

परन्तु इस हृदय की सुन्दरता और कुरूपता की दृष्टि से भी चार प्रकार के मनुष्य होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—वे मनुष्य जिनमें सम्पूर्ण शुभ गुण पाये जायँ। उन्हें सम्पूर्ण सुन्दर कहा जा सकता है। ऐसे महापुरुष की आज्ञा में सभी जीवों को बर्तना चाहिये। ऐसी पूर्ण सुन्दरता किन्हीं महापुरुष या सन्त में ही पायी जाती है। जिस प्रकार शारीरिक दृष्टि से एक यूसुफ ही पूर्ण सुन्दर हुए हैं उसी प्रकार हृदय से पूर्ण सुन्दर भी कोई बिरले ही होते हैं।

२—वे पुरुष जिनमें सब स्वभाव बुरे ही पाये जाते हैं। उनका हृदय अत्यन्त कुरूप और कठोर होता है। ऐसे लोगों

❀ हिन्दू शास्त्रों में जैसे परलोकगामी जीव को वैतरणी नदी पार करने की बात आयी है मुस्लिम शास्त्रों में वैसा ही पुल सरात है।

का तो संसार में न होना ही अच्छा है, क्योंकि वे मनमुखी असुरों के समान होते हैं। असुरों को भी जो कुरूप कहा गया है वह केवल शरीर की दृष्टि से ही नहीं बल्कि उनके स्वभावों की बुराई के कारण ही कहा गया है।

३—वे मनुष्य जिनके हृदय उक्त दोनों प्रकार के मनुष्यों के मध्यवर्ती हैं, फिर भी उनमें कुछ उत्तम गुणों की अधिकता है।

४—वे पुरुष जो दोनों के मध्यवर्ती होने पर भी बुराई की ओर विशेष झुके हुए हैं।

इस प्रकार जैसे शरीरदृष्टि से पूर्ण सुन्दर और पूर्ण कुरूप विरले ही लोग होते हैं, अधिक संख्या तो मध्यवर्तियों की ही होती है, उसी प्रकार हृदय की सुन्दरता और कुरूपता की दृष्टि से भी अधिक संख्या अन्तिम दो प्रकार के पुरुषों की ही होती है। अतः सब को यही प्रयत्न करना चाहिये कि यदि पूर्ण सुन्दरता न भी प्राप्त हो तो भी जो उसका समीपवर्ती पद है उसी को प्राप्त कर सकें। तात्पर्य यह कि यदि सम्पूर्ण शुभ गुण प्राप्त न हो सकें तो भी कुछ शुभ गुण तो प्राप्त कर ही लें। जिस प्रकार शारीरिक सुन्दरता और कुरूपता की कोई सीमा नहीं है, उसी प्रकार हृदय की सुन्दरता और कुरूपता भी असीम ही है, क्योंकि शुभ गुणों की सुन्दरता किसी एक गुण का नाम नहीं है। तथापि इनके मूल विद्या, संयम (भोगों को जीतना), क्रोध (क्रोध को अपने अधीन रखना) और विचार ही हैं। शेष सब गुण इन्हीं की शाखाएँ हैं।

(३—पुषार्थद्वारा शुभ स्वभावों की प्राप्ति)

कोई पुरुष ऐसा कहते हैं कि जिस प्रकार शरीर का स्वरूप नहीं बदला जा सकता उसी प्रकार हृदय का स्वभाव भी बदलना असम्भव है। अर्थात् शरीर जैसा आरम्भ में होता है वैसा ही

अन्त तक रहता है। लम्बा शरीर छोटा नहीं हो सकता और छोटा लम्बा नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिसका स्वभाव आरम्भ से बुरा है वह यत्न करके भला नहीं हो सकता। सो, उनका यह कथन ठीक नहीं, यह उनकी भूल है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो सन्तजनों का उपदेश करना अथवा सिखाना-समझाना सब व्यर्थ होगा। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि अपने स्वभावों को भला करो। इससे जाना जाता है कि स्वभावों का बदलना असम्भव नहीं है। देखो, जो बड़ी कठोर प्रकृति के पशु होते हैं, यत्न करने पर वे भी कोमल हो जाते हैं। जो मृग मनुष्य को देखते ही भयभीत होकर भागने लगते थे वे ही प्यार करनेपर बिना पकड़े मनुष्य के पीछे-पीछे चलने लगते हैं। अतः स्वभाव का बदलना शरीर के बदलने के समान असम्भव नहीं है।

वस्तुतः सब कार्य दो प्रकार के होते हैं—एक तो ऐसे होते हैं जो मनुष्य के यत्न करने पर भी सिद्ध नहीं हो सकते, जैसे खजूर के बीज से यत्न करनेपर भी सेव का वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता, किन्तु खजूर के बीज से खजूर का वृक्ष मनुष्य के प्रयत्न से भी उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार यह बात तो मनुष्य के अधीन नहीं है कि वह खाने-पीने आदि शरीर के भोगो से सर्वथा मुक्त हो जाय, किन्तु इतना कार्य वह कर सकता है कि प्रयत्न करके भोग और क्रोध को मर्यादा के अनुसार कर ले। इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। तथापि इतना भेद अवश्य है कि कोई मनुष्य तो ऐसे होते हैं जिनका स्वभाव बदलना कठिन होता है और कोई सुगमता से ही उसे बदल सकते हैं। सो, इस कठिनता के भी दो कारण हैं—एक तो यह कि जो स्वभाव जन्म से ही होता है उसका बदलना कठिन है और दूसरा जो स्वभाव चिरकाल तक वर्तने से पुष्ट हो जाता है उसका बदलना भी सुगम नहीं होता। वह भी धीरे-धीरे पक्का हो जाता है।

स्वभाव बदलने की योग्यता की दृष्टि से भी सब मनुष्य चार प्रकार के होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—कोई लोग जन्म से ही कोरे कागज की तरह होते हैं। वे सत्य-असत्य कुछ नहीं जानते और न किसी प्रकार के भले या बुरे स्वभाव में ही वर्तमान होते हैं। ऐसे मनुष्य उपदेश के उत्तम अधिकारी हैं। ये सुगमता से ही भले स्वभावों को अंगीकार कर लेते हैं। ऐसे पुरुषों को यदि कोई उपदेश करे और उन्हें बुरे स्वभावों के दोष समझावे तो ये सहज ही में सीधे मार्ग से चलने लगते हैं। जीवन की आरम्भिक अवस्था में सब बालक ऐसे ही होते हैं, पर माता-पिता उन्हें उल्टे रास्ते पर डाल देते हैं। इससे उन्हें भी माया की तृष्णा लग जाती है। वे उन्हें भली बुद्धि नहीं सिखाते, इसलिये वे निःशंक होकर खेलने और खाने की वासना में ही वर्तने लगते हैं। इस प्रकार वे जो धर्मभ्रष्ट होते हैं उसका पाप उनके माता-पिता को ही लगता है। इसी से प्रभु ने भी कहा है कि जो लोग अपने मन और सम्बन्धियों को पाप कर्मों से रोकते हैं और उन्हें नरकों की आग से बचाते हैं, वे धन्य हैं।

२—कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्होंने यद्यपि अभी भले-बुरे का निश्चय कुछ भी नहीं किया, तथापि कुछ काल भोग और क्रोध की अधीनता में बिताया है। अतः इतना वे समझते हैं कि ये स्वभाव अच्छे नहीं हैं। ऐसे पुरुषों का कार्य कठिनता से होता है, क्योंकि इनके लिये दो प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता होती है—एक तो बुरे स्वभावों को दूर करना और दूसरे अच्छे स्वभावों का बीज आरोपित करना। ऐसे लोग यदि श्रद्धा और

पुरुषार्थयुक्त हों तो तुरन्त ही भलाई को प्राप्त हो सकते हैं और उनके बुरे स्वभाव निवृत्त हो सकते हैं।

३—कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनमें बुरे स्वभाव बद्धमूल हो गये हैं और वे यह भी नहीं समझते कि ये बुरे हैं। उन्हें पाप कर्म ही सुन्दर होकर भासते हैं। ऐसे पुरुषों के स्वभावों का बदलना अत्यन्त कठिन है। इनमें ऐसा कोई विरला ही होता है जो अपने-आप स्वभावों को त्याग सके।

४—ये लोग ऐसे होते हैं कि पापकर्म करके अपनी बड़ाई करते हैं और पाप करना ही अच्छा मानते हैं। ये बड़े अभिमान से कहते हैं कि देखो, हम इतनी मदिरा पी जाते हैं और ऐसे-ऐसे भोग भोगते हैं। हममें कितना बल है ? ऐसे पुरुष भलाई का उपदेश स्वीकार नहीं करते। यह दूसरी बात है कि किसी पर अकस्मात् भगवत्कृपा हो जाय और उसका बुरा स्वभाव एक दम बदल जाय। ऐसी भगवत्कृपा में मनुष्य का बल तो कुछ काम कर नहीं सकता।

(४—शुभ स्वभावों की प्राप्ति के उपाय)

तथापि जो पुरुष अपने बुरे स्वभाव को दूर करना चाहे उसे अपने स्वभाव के अनुसार बर्तना बन्द कर देना चाहिये। क्योंकि बिना विपरीत आचरण किये भोगों से छुटकारा नहीं मिल सकता। विरोधी स्वभाव तो अपने विरोधी आचरण से ही बदल सकता है। जैसे क्रोधरूपी रोग की औषध सहनशीलता है, अभिमान की औषध नम्रता है, तथा कृपणता की औषध उदारता है। इसी प्रकार सब रोगों की दवा उनकी विरोधी वस्तु ही होती है। अतः जो पुरुष अपने को शुभ आचरण की साधना में लगाता है उसका

स्वभाव सहज ही में सुधर सकता है। धर्मशास्त्रों में भी जो शुभ कर्म करने की आज्ञा है उसका उद्देश्य भी यही है कि शुभ कर्म करने से हृदय का स्वभाव भी शुभ हो जाता है। सो, यह पुरुष जो कुछ पहले प्रयत्नपूर्वक करता है उसी के अनुसार इसका स्वभाव भी बन जाता है। देखो, बालक आरम्भ में तो अध्यापक और पाठशाला से डरकर भागता है, किन्तु जब उसे दण्डादि देकर भी पढ़ने में लगाते रहते हैं तो फिर वही उसका स्वभाव बन जाता है। यहाँ तक कि बड़ा होनेपर तो वह विद्या को ही सबका सार समझने लगता है। और उसके रस को छोड़ भी नहीं सकता। इसी प्रकार जब किसी पुरुष को कबूतर पालने अथवा शतरंज या जूआ खेलने का स्वभाव पड़ जाता है तब उसमें इतना रस आने लगता है कि उसके लिये अपनी सारी संगृहीत सम्पति खर्च कर डालता है, किन्तु उसे नहीं छोड़ सकता। इसी प्रकार ऐसे अनेकों विपरीत स्वभाव हैं कि जिनमें दृढ़ता हो जानेपर उनके लिये तरह-तरह के दुःख और दण्ड सहन करने में भी इसे कोई कठिनता नहीं मालूम होती, जैसे जिस व्यक्ति को चोरी का दृढ़ अभ्यास हो जाता है वह उसके लिये कारावास तथा तरह-तरह की यन्त्रणाएँ सहन करने पर भी चोरी करना नहीं छोड़ सकता। यहाँ तक कि उन कष्टों को सहन करने में भी वह अपनी विशेषता समझता है। इसी प्रकार नपुंसक निर्लज्जतापूर्वक अपनी अशक्ति की विशेषता में ही बड़ाई समझते हैं। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो नाई, भङ्गी आदि छोटी जाति के लोग भी अपनी-अपनी स्थिति का ऐसा ही गौरव मानते हैं जैसे बड़े-बड़े विद्वान् और गुणी लोग अपनी-अपनी स्थिति का। यह सब अपने-अपने स्वभाव में बर्तने का ही फल है कि उनमें ऐसी दृढ़ता आ जाती है। जैसे किसी को जब मिट्टी खाने की आदत पड़ जाती है तो उसके कारण मृत्यु होने की सम्भावना होनेपर भी

वह उसे छोड़ नहीं सकता। इससे निश्चय होता है कि यदि चिरकाल तक अपने स्वभाव के विपरीत आचरण किया जाय तो उसमें भी उतनी ही दृढ़ता आ जायगी।

यह तो रही आगन्तुक स्वभावों की बात। जब अभ्यास से इनमें इतनी दृढ़ता आ जाती है तो जो स्वभाव इसके हृदय की प्रकृति के अनुसार है उसके विषय में तो कहना ही क्या है? वह तो एक प्रकार से इसका जीवन ही है; जैसे जल और आहार शरीर के जीवन हैं। अतः जब यह पुरुष शुद्ध स्वभावों को ग्रहण करता है तब तो वे सुगमता से ही दृढ़ हो जाते हैं। श्री भगवान् को पहिचानना, काम और क्रोध को अपने अधीन करना और भजन में तत्पर रहना—ये सब मनुष्य के हृदय के निजी स्वभाव हैं, क्योंकि मनुष्य भी देवताओं के समान ही उत्पन्न हुआ है। अतः जैसे भगवत्तत्त्व का परिचय और ज्ञान देवताओं का आहार है उसी प्रकार यह मानवहृदय का भी आहार और जीवन है।

किन्तु चिरकाल तक भोगों का सेवन करने से उन्हीं में मानव स्वभाव की दृढ़ता हो गयी है और उस भोगासक्ति के कारण रोगी हो जाने से इस मानवहृदय की रुचि भगवद्भजन से हट गयी है। रोगी का तो स्वभाव होता ही है कि उसकी रुचि विपरीत वस्तुओं में हुआ करती है और हितकारी वस्तुओं से उसकी अरुचि हो जाती है। अतः निश्चय हुआ कि जो पुरुष भगवद्भजन और भगवत्परिचय के सिवा अन्य पदार्थों से प्रेम रखता है वह रोगी है। भगवान् ने भी यही कहा है कि मनमुखों का हृदय रोगी है और जो मेरी ओर आया है वह नीरोग है। जिस प्रकार शारीरिक रोग होने पर मृत्यु का भय रहता है, वैसे ही हृदय के रोगी के लिये भी परलोक में बुद्धि नष्ट होने का भय लगा हुआ है। और जैसे शारीरिक रोग से तभी छुटकारा मिलता है जब

अपनी रुचि के विपरीत कटु औषधि का सेवन करे तथा वैद्य की आज्ञा के अनुसार आचरण रखे, उसी प्रकार हृदय के रोग की निवृत्ति का उपाय भी यही है कि अपने मन और वासनाओं से विपरीत होकर रहे। यही बात शास्त्र और सन्तजनों ने भी कही है। और सन्तजन ही वास्तव में हृदय के वैद्य हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शरीर के रोगों के लिये वैद्यक शास्त्र है वैसे ही हृदय के रोगों का भी एक वैद्यक है और इन दोनों में एक ही नियम लागू होता है। शारीरिक वैद्यक के अनुसार जैसे गर्मी की औषध शीत है वैसे ही जिस हृदय में अभिमान का रोग हो उसे प्रयत्नपूर्वक दीनता के स्वभाव का अभ्यास डालना चाहिये, यही उसकी चिकित्सा है। इसी प्रकार जिसमें अत्यन्त दीनता हो उसे यत्न करके गम्भीरता को बढ़ाना चाहिये।

मनुष्य को सब प्रकार के शुभ गुण तीन प्रकार से प्राप्त होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते हैं जो जन्म से ही शुभगुण सम्पन्न होते हैं। किन्तु यह बात तो भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है, भगवान् कृपा करके किसी-किसी पुरुष को जन्म से ही उदार और नम्र प्रकृति का बनाते हैं। इस कोटि में आनेवाले भी अनेकों पुरुष हैं।

२—कोई पुरुष प्रयत्न करनेपर शुभ कर्मों के आचरण में दृढ़ होते हैं। अभ्यास के द्वारा उनका स्वभाव भी सहज रूप से शुभ हो जाता है।

३—कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं कि जब वे भले स्वभाव और शुभ आचरणवाले पुरुषों को देखते हैं और उनका संग करते हैं तो उनका स्वभाव भी शुभ हो जाता है। ऐसी स्थिति में विशेष समझ न होने पर भी अन्त में उनका कल्याण हो जाता है।

४—कुछ ऐसे पुरुष भी होते हैं जिन्हें ये तीनों परिस्थितियाँ एक साथ मिल जाती हैं। वे जन्मसे भी शुभगुणसम्पन्न होते हैं, उनका आचरण भी अच्छा होता है और उन्हें संगति भी अच्छी मिल जाती है। ऐसा पुरुष पूरा भाग्यवान् होता है।

किन्तु जिसमें ये तीनों गुण न हों, अर्थात् जो न तो जन्म से शुभगुणसम्पन्न हो, न जिसका आचरण ही शुभ हो और न जिस का संग ही अच्छा हो वह तो पूरा भाग्यहीन है। इन भाग्यहीन और भाग्यवान् पुरुषों के भी अनेक भेद हैं, सो जिसमें जितने शुभगुण हों वह उतना ही भाग्यवान् है और जिसमें जितने अवगुण हो वह उतना ही भाग्यहीन है। भगवान् ने भी कहा है कि जो पुरुष थोड़ा भी शुभ कर्म करता है उसको अवश्य ही उसका फल प्राप्त होता है। और जो थोड़ी भी बुराई करता है उसे उतना ही दुःख भी भोगना पड़ता है। सो यद्यपि सब प्रकार के आचरण इन्द्रियों के द्वारा ही होते हैं, किन्तु उनका प्रयोजन यही होता है कि हृदय का स्वभाव बुराई से बदल कर भलाई में लगे, क्योंकि परलोक में तो जीव ही जाता है, शरीर तो यहीं रह जाता है। अतः उचित यही है कि जब जीव स्वर्ग में जाय तो निर्मल और सुन्दर होकर ही जाय। तभी वह भगवद्दर्शन का अधिकारी हो सकता है। और स्वच्छ दर्पण की भाँति निरावरण होकर अपने हृदय में भगवान् की सुन्दरता को देख सकता है। प्रभु की वह सुन्दरता ऐसी है कि जिसे देखकर स्वर्ग के सुख भी तुच्छ और रूखे जान पड़ते हैं। परलोक में यद्यपि शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है, तो भी कर्ता और भोक्ता तो जीव ही है, शरीर तो उसके अधीन है।

अतः तुम निश्चय जानो कि शरीर और जीव भिन्न-भिन्न हैं, क्योंकि शरीर तो आधिभौतिक है और जीव सूक्ष्म एवं नीरूप है। इस प्रकार यद्यपि ये भिन्न-भिन्न हैं तो भी इनका परस्पर सम्बन्ध

है। इसीलिये शरीर के द्वारा जो शुभ आचरण होता है उसका प्रकाश हृदय में पहुँच जाता है और वही प्रकाश इसकी उत्तमपद प्राप्ति का कारण होता है। इसी प्रकार इस शरीर के द्वारा जो अशुभ आचरण होता है उसका अन्धकार हृदय में पहुँच जाता है और वही अन्धकार इसकी अधोगति का बीज होता है। इस सम्बन्ध को लेकर ही जीव को इस जगत् में उत्पन्न किया गया है। यह शरीर इस जीव के पास फन्दे के समान है। इसके द्वारा यह सम्पूर्ण भले स्वभावों का शिकार करे। इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा समझ सकते हैं। अक्षरों की रचना यह बुद्धि का कौशल है, किन्तु यह क्रिया हाथों के द्वारा ही निष्पन्न होती है। अतः जो चाहे कि मेरे अक्षर सुन्दर हों, उसे प्रयत्नपूर्वक सुन्दर अक्षर लिखने चाहिये और अपने हाथों को उनकी रचना के लिये अभ्यस्त करना चाहिये। ऐसा करते-करते उसके हृदय में सुन्दर अक्षरों की मूर्ति जम जायगी और फिर उसी के अनुसार अंगुलियाँ अक्षर लिखने लगेंगी। इसी प्रकार पहले तो इस पुरुष का आचरण शुभ होना चाहिये, उससे इसके हृदय में भले स्वभावों की दृढ़ता होगी और फिर उन भले स्वभावों के अनुसार इसके आचरण भी स्वभाविक शुभ हो जायँगे।

इससे निश्चय हुआ सब प्रकार की भलाई का बीज यही है कि पहले प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्म करे। उनका फल यह होगा कि इस के हृदय में भले स्वभावों की दृढ़ता होगी, फिर उस शुभ हृदय के स्वभाव का प्रकाश इसके शरीर में फैल जायगा और उससे स्वाभाविक ही इसके द्वारा प्रीतिपूर्वक शुभ आचरण होने लगेंगे। इस प्रकार जीव और शरीर के सम्बन्ध का रहस्य यही है कि शरीर के द्वारा जो आचरण होता है उसका गुण हृदय में प्रविष्ट हो जाता है और हृदय के स्वभाव का गुण शरीर में उतर आता है। इसीसे जो आचरण असावधानी और अज्ञान के साथ होता है वह निष्फल

और व्यर्थ होता है, क्योंकि उसके गुण या दोष का हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

अतः इस विषय में तुम्हें इस दृष्टान्त पर ध्यान रखना चाहिये। यदि किसी मनुष्य को सर्दी का रोग हो और उसे गर्म दवा खाने से लाभ होता हो तो भी उसे निरन्तर गर्म दवा ही नहीं खाते रहना चाहिये। ऐसा करनेपर तो उसके द्वारा गर्मी बढ़ कर वही रोग रूप हो जायगी। औषध की भी एक मर्यादा होती है और मर्यादानुसार होने पर ही उससे लाभ होता है। औषध का प्रयोजन तो यही होता है कि शरीर का स्वभाव समान हो और उससे गर्मी या सर्दी अधिक न बढ़ने पावे। इसीलिये जब मालूम हो कि शरीर की प्रकृति समान हो गयी है तब आगे उसका सेवन नहीं करना चाहिये। प्रकृति को समान रखने के लिये आहार भी पथ्य और समान ही होना चाहिये तथा इस समानता को ही स्वास्थ्य समझना चाहिये। शरीर के समान हृदय के भी दो किनारे हैं—एक अधिकता और दूसरा न्यूनता। ये दोनों ही निन्द्य हैं, इनका प्रयोजन तो समानता ही है। जैसे जो व्यक्ति कृपण हो उसे परमार्थ के लिये खूब धन खर्च करना चाहिये। और जब तक उसके हृदय के लिये वह अर्थव्यय स्वाभाविक न हो जाय तब तक यत्नपूर्वक खर्च करता रहे। किन्तु जब अधिकारी को धन देना उसके लिये स्वाभाविक हो जाय तब इसकी आवश्यकता भी नहीं है कि व्यर्थ अर्थव्यय किये ही जाय। फिर तो व्यर्थ धन लुटाना निंदनीय ही होगा। जैसे शरीर के स्वभावों को मर्यादित करने के लिये उसके विपरीत आचरण करना आवश्यक माना जाता है, वैसे ही हृदय के स्वभावों की मर्यादा भी सन्तों के वचनोंद्वारा जानी जा सकती है। अतः मनुष्य को सन्तों की आज्ञा के अनुसार बर्तना चाहिये। उन्होंने जिस पदार्थ का संग्रह करने के लिये कहा हो उसका संग्रह करना चाहिये और जिसे देने के लिये कहा हो उसे खुले हृदय से देना चाहिये। ऐसा

करनेपर ही मनुष्य समानता को प्राप्त हो सकता है।

किन्तु जब तक इस मनुष्य की शुभ कर्मों में स्वाभाविकी रुचि न हो तब तक यही समझना चाहिये कि यह रोगी है। तथापि यह अच्छी बात है कि प्रयत्नपूर्वक ओषधिसेवन कर रहा है, इसलिये एकदिन इसका रोग दूर होकर ही रहेगा। इसीसे महापुरुष ने भी कहा है कि भगवान् की आज्ञा को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करो। उनकी आज्ञा का पालन करने में हठ और साहस से काम लेना भी अच्छा ही है। अतः यह बात याद रखो कि जो पुरुष विचारपूर्वक धनसंग्रह करता है वह भी कृपण नहीं कहा जा सकता। कृपण तो वही कहा जाता है जिसकी प्रीति स्वभाव से ही अर्थसंग्रह में अधिक हो। इसी प्रकार जो पुरुष प्रयत्नपूर्वक अर्थ व्यय करता है उसे उदार नहीं कह सकते। वास्तव में सम्पूर्ण उदार तो वही है जिसे धन का देना स्वभाविक ही सुगम हो। अतः इस पुरुष को यही प्रयत्न करना चाहिये कि इसके सब स्वभाव स्वाभाविक ही शुभ हो जायँ तथा इसका हठ और प्रयत्न दूर हो जाय। इसके स्वभाव की सम्पूर्णता भी यही है कि इसके सब आचरण और स्वभाव सन्तजनों की आज्ञा के अनुसार हों। इसे अपनी अभि-लाषा कोई भी न रहे और सन्तों की आज्ञा का पालन इसके लिये सर्वथा सुगम हो जाय। तभी समझना चाहिये कि इसका रोग दूर हुआ है। भगवान् ने भी महापुरुष से यही कहा है कि इन पुरुषों का धर्म तभी सम्पूर्ण होगा जब ये तुम्हारी आज्ञा में प्रसन्नता-पूर्वक स्वाभाविक ही चलेंगे।

अब आगे जो बात कही जाती है उसमें एक गुप्त भेद है, पर इस ग्रन्थ में उसे पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया जायगा, केवल कुछ सूचना-मात्र कहेंगे।

यह निश्चय जानो कि यह पुरुष भाग्यवान् तब होता है जब इसका स्वभाव देवताओं के समान निर्मल हो जाता है, क्योंकि

मनुष्य की उत्पत्ति भी देवताओं की भाँति ही शुद्धरूप हैं। यह इस जगत् में परदेशी की तरह है, इसका अपना स्थान तो देवलोक ही है। इसलिये यदि यह अपने साथ इस लोक का कोई स्थूल स्वभाव ले जाता है तो उसके कारण देवताओं के साथ इसका सम्बन्ध नहीं हो पाता। अतः जब यह पुरुष देवलोक में जाय तो उसे देवताओं के स्वभाव से सम्पन्न होकर जाना चाहिये। इसमें कोई संसारी स्वभाव नहीं होना चाहिये। जगत् का स्वभाव इस प्रकार समझना चाहिये कि यदि किसी मनुष्य को धनसंचय करने की तृष्णा है तो वह धन में रचा-पचा है और यदि धन खर्च करने की विशेष प्रीति है तो भी वह धन में रचा-पचा है। इसी प्रकार जिसे मानकी इच्छा है वह लोगों के साथ संश्लिष्ट है और जिसमें दीनता एवं नम्रता का विशेष आग्रह है वह भी लोगों के साथ विशेष रूप से संश्लिष्ट रहता है। किन्तु देवतालोग किसी भी प्रकार धन या लोगों में आसक्त नहीं होते। वे भगवत्प्रेम में ऐसे मग्न रहते हैं कि किसी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। अतः मनुष्य के हृदय का सम्बन्ध भी धन और लोगों की ओर से टूटा हुआ रहना चाहिये। वह इन सभी सांसारिक सम्बन्धों से निर्लिप्त रहना चाहिये। यद्यपि मनुष्य-शरीरधारी होनेपर उसका इन शरीरसम्बन्धी स्वभावों से सर्वथा मुक्त रहना सम्भव नहीं है, तो भी उसे इनकी मर्यादा और समानता में तो स्थित रहना ही चाहिये। जब यह पुरुष समानता में स्थित होता है तब सभी प्रकार के स्वभावों के बन्धन से मुक्त हो जाता है, किसी भी प्रकार के स्वभाव की इसमें प्रबलता नहीं रहती जैसे कोई भी पुरुष शीत और उष्ण के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं रह सकता, किन्तु जब वह समान भाव में रहता है तब उसके लिये शीत अथवा उष्ण की अधिकता नहीं रहती। तब वह मानो दोनों प्रकार के स्वभावों से मुक्त हो जाता है। देखो, जल यद्यपि गर्मी और सर्दी दोनों से मुक्त कभी नहीं होता तो भी उसे शीतल या

उष्ण कुछ नहीं कह सकते । अतः सन्तजनों ने भी स्वभाव के बन्धन से छूटने के लिये ही स्वभावों की मर्यादा और समानता में रहने का उपदेश दिया है । इसीलिये मनुष्य को चाहिये कि सर्वदा समानता में स्थित रहे और स्वभावों के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाय । तभी इसका चित्त निरन्तर श्री भगवान् में लीन रह सकता है । प्रभु ने कहा है कि एकमात्र मेरा स्मरण करो और सब भूल जाओ। बस यही इस सबका बीज मन्त्र है ।

किन्तु इस पुरुष का यद्यपि शुद्ध परमपद में स्थित होना कठिन है तथापि सब प्रकार के जप, तप और भजन के अभ्यास का प्रयोजन यही है कि श्रीभगवान् के अद्वितीय स्वरूप को पहचाने, सम्पूर्ण पदार्थों में उन्हीं को देखे, उन्हीं को चाहे और उन्हीं का दास हो, और कोई भी इच्छा इसके हृदय में न रहे । जब इस पुरुष की ऐसी स्थिति हो तब समझना चाहिये कि इसे पूर्णतया अच्छे स्वभाव की प्राप्ति हुई है, यह मानुषी स्वभावों से मुक्त हो कर स्वरूप को प्राप्त हुआ है और इसे प्रभु की भी प्राप्ति हो गयी है। यद्यपि इस स्थिति के लिये बड़े प्रबल प्रयत्न और पुरुषार्थ की आवश्यकता है तथा इसका साधन अत्यन्त कठिन है, तो भी यदि इसे सद्‌गुरुरूप सद्‌वैद्य प्राप्त हो जाय और वह अच्छी तरह इसका उपचार करे तो इसके लिये भजन में यत्न और पुरुषार्थ करना सुगम हो जाता है । गुरुदेव का अच्छी तरह उपचार करना यही है कि वे जिज्ञासु को आरम्भ में ही तत्वज्ञान का उपदेश न करें, क्योंकि उस समय उसमें इतना बल नहीं होता । देखो, जब बालक को आरम्भ में ही पाठशाला में भेजा जाता है, उस समय यदि उससे कहा जाय कि विद्या पढ़ने से तुझे महत्ता और मानकी प्राप्ति होगी तो वह महत्ता और मान के सुख को कुछ भी नहीं समझ सकता । वह तो जानता ही नहीं कि महत्ता और मान कहते किन्हें हैं । उससे तो उस समय यही कहना चाहिये कि तू पाठशाला जा,

जब तू वहां से लौटकर आयेगा तो तुझे गेंद-बल्ला देंगे अथवा एक बुलबुल चिड़ियाँ देंगे; उनसे तू खूब आनन्द से खेलना। इस लोभ से वह बालक पाठशाला जा सकता है। फिर जब वह कुछ बड़ा हो तब उससे कहे कि यदि तू खेलना छोड़ दे और विद्या पढ़े तो तुझे सुन्दर-सुन्दर वस्त्र देंगे। और जब उससे भी बड़ा हो जाय तब कहना चाहिये कि विद्या पढ़ने से तो तुझे संसार में महत्ता और मान प्राप्त होंगे, सुन्दर वस्त्रों की तू क्यों इच्छा करता है? ऐसे भड़कीले वस्त्र पहनना तो स्त्रियों का स्वभाव है। फिर जब वह पूर्णतया विद्याध्ययन करले और उसकी बुद्धि भी विकसित हो जाय तब उससे कहना चाहिये कि इस जगत् के मान-बड़ाई तो निर्मूल हैं, मृत्यु के साथ ही उनका उच्छेद हो जाता है। इस प्रकार मान-प्रतिष्ठा की ओर से उसका चित्त हटाकर उसे उस अविनाशी और अमर पद का, जो सच्ची बादशाही है, उपदेश करे।

इसी प्रकार जिज्ञासु को भी आरम्भ में शुद्ध निष्कामता का बल नहीं होता। इसलिये पहले तो गुरुदेव उसे यही उपदेश करें कि तू शुद्ध आचरण रख, आचरण की शुद्धि से तुझे संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और लोग तुझे भजनानन्दी समझेंगे। इस प्रकार प्रतिष्ठा के लोभ से उसे धन और भोगों की तृष्णा से निवृत्त करे। जब उसके हृदय से धन और भोगों की तृष्णा निवृत्त हो जाय और वैराग्य का अभिमान स्फुरित होने लगे तब सद्गुरु उसे भिक्षाटन की आज्ञा देकर उसके इस अभिमान को निवृत्त करें। फिर जब भिक्षाटन के कारण भी संसार उसका मान करने लगे तब गुरुदेव उसे निम्नकोटि की सेवा में लगावें अर्थात् उससे टट्टी या मोरी आदि की सफाई का काम करावें। इस प्रकार जिज्ञासु में जैसा-जैसा रोग हो वैसी ही उसकी चिकित्सा करें तथा धीरे-धीरे उसके सभी रोगों को निवृत्त कर दें। जब तक जिज्ञासु में त्याग का पूरा बल नहीं होता तब तक वह मान और प्रतिष्ठा के

लोभ से ही भजन-साधन स्वीकार करता है। किन्तु बुरे स्वभाव यदि बिच्छू के समान हैं तो मान-प्रतिष्ठा की इच्छा साक्षात् अजगर है। वह मान-प्रतिष्ठारूप अजगर सब प्रकार के बुरे स्वभावों को भक्षण कर जाता है और स्वयं सबसे पीछे निवृत्त होता है।

(५—मानसी रोग और उनकी चिकित्सा)

शरीर और इन्द्रियों का आरोग्य इस प्रकार जाना जाता है कि जिस कार्य के लिये जो-जो इन्द्रिय रची गयी है उसी कार्य को वह सावधान होकर निष्पन्न करे, जैसे नेत्र भली प्रकार देखें तथा चरण ठीक तरह से चलें, तब समझना चाहिये कि नेत्र और चरण नीरोग हैं। इसी प्रकार हृदय की नीरोगता तब समझी जाती है जब इस का जो निज स्वभाव है और जिस निमित्त से जीव को उत्पन्न किया गया है उसी कार्य में यह अनायास सावधान रहे और अपने निज स्वभाव में दृढ़ता से स्थिर रहे। यह सावधानी दो प्रकार से प्रकट होती है—(१) श्रद्धा से और (२) बल से। इसमें ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये कि भगवान् के सिवा और किसी में इसकी प्रीति न हो। शरीर का आहार जैसे अन्न है उसी प्रकार भगवान् की प्रीति और पहचान हृदय का आहार होना चाहिये। जिस पुरुष की क्षुधा मन्द होती है वह रोगी माना जाता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य के हृदय में भगवान् की प्रीति न हो उसका हृदय रोगी और निर्बल समझना चाहिये। इसीसे महाराज ने भी कहा है कि जब तक पुत्र, पिता, धन, व्यवहार और सम्बन्धियों के साथ तुम्हारी प्रीति है तब तक तुम यह जानो कि जब मेरी आज्ञा होगी और तुम्हारी मृत्यु का समय समीप आ जायगा तब तुम बहुत दुःखी होगे। इसके सिवा बल से प्रकट होनेवाली नीरोगता यह है कि भगवान् ने इस मनुष्य के लिये जो भी शुभ कर्म कर्तव्यरूप से कहे हैं उन्हें यह सुगमता से कर सके, उन्हें करने-

में इसे विशेष प्रयास न करना पड़े तथा शुभ कर्मों को करने में ही इसे विशेष रस का अनुभव हो। महापुरुष ने कहा है कि प्रभु का भजन मेरे नेत्रों की पुतली है और मुझे अत्यन्त प्रिय है। इस प्रकार जो पुरुष अपने में श्रद्धा और बलका अभाव देखे उसे समझना चाहिये कि मेरा हृदय रोगी है। और जिसने अपने रोग को पहिचाना है उसे उसके उपचार में भी सावधान होना ही चाहिये।

किन्तु बहुत लोग ऐसे भी होते हैं जिनका हृदय तो रोगी होता है, किन्तु वे अपने को नीरोग ही समझते हैं। इसका कारण यह है कि यह मनुष्य अपने अवगुणों को देखने में अन्धा होता है, अर्थात् यह स्वयं अपने दोषों को नहीं देख सकता। पर जो अपने दोषों को देखना चाहे उसके लिये ये चार उपाय हैं—

(१) उसे ऐसे सद्गुरु के समीप रहना चाहिये जो सब धर्मों के ज्ञाता हों और अपनी कृपा करके उसे उसके दोष दिखा सकते हों। किन्तु ऐसे सद्गुरु इस समय दुर्लभ ही हैं।

(२) अपनी रक्षा के लिये कोई ऐसा मित्र बनावे जो इसके दोषों को छिपावे नहीं और ईर्ष्या करके बढ़ाकर भी न कहे। वास्तव में ऐसा मित्र भी कोई विरला ही होता है। एक बार दाऊदताई संत से किसी ने कहा था कि तुम हमारे समीप बैठते क्यों नहीं हो? तब उन्होंने कहा कि मैं ऐसे पुरुषों के पास कैसे बैठूँ जो मेरे अवगुणों को स्पष्ट कह नहीं सकते और उन्हें छिपा लेते हैं।

(३) अपना जो शत्रु हो उसकी भी बात सुने, क्योंकि शत्रु की दृष्टि यद्यपि प्रधानतया दोषों पर ही होती है और वह द्वेषवश उन्हें कुछ बढ़ाकर भी कहता है, तथापि उसके कथन में कुछ सत्यता भी रहती है।

(४) जब किसी व्यक्ति में कोई दोष दिखायी दें और वह दोष

अपने को बुरा मालूम पड़े तो स्वयं उसका त्याग करे और ऐसा समझे कि इस कुलक्षण के कारण जैसे यह पुरुष बुरा जान पड़ता है उसी प्रकार यदि मेरे में यह दोष होगा तो मैं भी बुरा दिखायी दूँगा। अतः उसका त्याग ही करना चाहिये। एक बार लोगों ने एक नामी संत से पूछा था कि आपको ऐसा अच्छा स्वभाव कैसे प्राप्त हुआ? तब उन्होंने कहा कि मुझे ऐसा स्वभाव इस प्रकार प्राप्त हुआ कि जब मैं किसी व्यक्ति में कोई दोष देखता था और वह मुझे बुरा मालूम होता था तो मैं स्वयं उस दोष को त्याग देता था।

याद रखो, जो पुरुष अत्यन्त मूढ होता है वही अपने को विशेष समझता है। बुद्धिमान् पुरुष तो अपने को बुरा ही देखता है। एक बार उमर से एक सन्त ने पूछा था कि महापुरुष ने आप को जो कपटियों के लक्षण बताये हैं उन्हें तो आप अच्छी तरह जानते ही हैं। अतः मुझसे स्पष्ट कहिये कि मुझ में उनमें से कौन लक्षण पाये जाते हैं, जिससे मैं अपने दोषों को पहिचान सकूँ। अतः सब लोगों को अपने अवगुणों के पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि जब तक अपने रोग को नहीं पहिचाना जाता तब तक उसका उपचार भी नहीं हो सकता। तथा सम्पूर्ण औषधियों का मूल तो अपनी वासनाओं से विपरीत होना ही है। प्रभु ने भी आज्ञा की है कि अपने मन को अपनी वासनाओं से विपरीत करो तब उत्तम सुखस्थान में तुम्हारा निवास होगा। महापुरुष ने भी जब युद्ध में मनमुखी लोगों को परास्त किया तो अपने साथियों से कहा था, "अब हम छोटी लड़ाई तो जीत आये, किन्तु एक बड़ी लड़ाई हमारे सामने उपस्थित है।" साथियों ने पूछा, "वह बड़ी लड़ाई क्या है?" तब वे बोले, "मन के साथ युद्ध करना बड़ी लड़ाई है।" साथ ही यह भी कहा कि अपने मन को दुःख से

बचाओ। अर्थात् प्रभु की आज्ञा का उल्लङ्घन करके मन को उसकी वासना के अनुकूल आहार मत दो, क्योंकि परलोक में यह मन ही तुम्हारा शत्रु होगा और उस समय सब इन्द्रियाँ तुम्हें धिक्कार करेंगी।

सन्त हसन बसरी ने भी कहा है कि बिना जीते हुए मन के समान कोई पशु भी कठोर नहीं है। तथा सन्त सिरीसक्ती भी कहते हैं कि चालीस वर्ष से मेरा मन मधु के साथ रोटी खाने की इच्छा करता है, पर मैंने अभी तक इसकी बात नहीं मानी। इब्राहीम खवास का कथन है कि मैं एक पहाड़ पर चला जा रहा था। वहाँ मुझे अनार खाने की इच्छा हुई। तब मैं अनार तोड़ कर खाने लगा। वह खट्टा निकला, अतः उसे छोड़कर मैं आगे बढ़ा। कुछ चलने पर मुझे एक मनुष्य पड़ा हुआ मिला, उसे अनेकों मक्खियाँ काट रही थीं। मैंने उसे नमस्कार किया। तब उसने मेरा नाम लेकर मुझे बुलाया। मैंने पूछा कि आपने मुझे कैसे पहिचाना? उन्होंने कहा, "जिसने भगवान् को पहिचाना है उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता।" तब मैंने उनसे कहा कि मुझे मालूम होता है आप तो भगवान् से मिले हुए हैं, फिर उनसे ऐसी प्रार्थना क्यों नहीं करते कि ये मक्खियाँ आपको कष्ट न दें, आपसे दूर ही रहें? वे बोले, "तुम भी तो भगवान् से मिले हुए हो, फिर उनसे ऐसी प्रार्थना क्यों नहीं करते कि यह अनार की अभिलाषा तुमसे दूर ही रहे, क्योंकि इससे तो हृदय को कष्ट पहुँचता है और मक्खियों के कारण केवल शरीर को ही दुःख होता है।"

अतः याद रखो, यद्यपि अनार खाना कोई पाप नहीं है, तथापि वासना का भोग चाहे पवित्र हो चाहे अपवित्र समान रूप से निन्दनीय है, क्योंकि यदि मन को पापरहित भोगों से न रोका जाय तो भोगवासना की प्रबलता होनेपर यह पाप में भी प्रवृत्त होने लगेगा। इसी से बुद्धिमान् पुरुषों ने पापरहित भोगों का भी

त्याग किया है। ऐसा प्रयत्न करने पर ही वे वासनाओं से मुक्त हुए हैं। यही बात संत उमर ने भी कही है कि मैंने सत्तर बार पाप-रहित भोगों का त्याग किया है, क्योंकि मुझे भय था कि मेरा मन कहीं पापमय भोगों में प्रवृत्त न हो जाय। इसके सिवा यह बात भी है कि जब इस मन की राजसी भोगों में प्रीति होती है तो यह इस संसार को ही स्वर्ग मानने लगता है और मरना इसके लिये अत्यन्त दुःखरूप हो जाता है। इससे इसकी बुद्धि अचेत हो जाती है और यह कुछ भजन-प्रार्थना आदि भी करता है तो भी उसमें इसे कोई रस या आनन्द नहीं आता। अतः इस मन को पापरहित भोगों से भी रोककर रखा जाय तभी यह निर्बल और अपने अधीन होता है तथा तभी यह इस लोक के सुखों से दूर रहकर परलोक के सुख में श्रद्धा रखता है। जिस समय यह मन दुःख और अधीनतायुक्त होकर भगवान् का नाम लेता है उस समय यह इतना सफल और सरस होता है कि सुख के समय किया हुआ उससे सौ गुना नामस्मरण भी इसकी बराबरी नहीं कर सकता। यह मन बाज पक्षी के समान है। जब बाज को पकड़ा जाता है तो पहले उसे नेत्र बाँध कर घर में रखते हैं और प्रयत्न करके उसका उड़ने का स्वभाव छुड़ा देते हैं। फिर उसे थोड़ा-थोड़ा आहार देते हैं और जब वह पालनेवाले से मेल-मिलाप करने लगता है और उसकी आज्ञा का पालन करता है तो उसे उड़ने का भी अवसर देते हैं, फिर तो वह प्रेमवश पुनः पालनेवाले के पास ही लौट आता है। इसी प्रकार जब तक मन को सब प्रकार की वासनाओं से दूर न किया जाय तब तक भगवान् में इसका प्रेम नहीं होता। जब तक नेत्र, श्रवण और रसना आदि सभी इन्द्रियों को न रोका जाय तथा भूख, एकान्तसेवन, जागरण और मौन व्रत आदि तपस्याओं के द्वारा मन का दमन न किया जाय तब तक भगवान् में इसका प्रेम होना कठिन है। इस प्रकार का प्रयत्न आरम्भ में

मन को बहुत कठिन जान पड़ता है। जैसे कि बालक को माता का दूध त्यागना कठिन होता है, किन्तु जब माता एक बार प्रयत्न करके बालक का दूध छुड़ा देती है तब तो उसका ऐसा स्वभाव हो जाता है कि फिर वह देने पर भी दूध ग्रहण नहीं करता।

तप का लक्षण यही है कि जिस पदार्थ में पुरुष की विशेष प्रीति हो और जिसके मिलने पर इसे अधिक प्रसन्नता होती हो उसी वस्तु को यह त्याग दे तथा जिस स्वभाव की इसमें प्रबलता हो उसी के विपरीत आचरण करे। यही उत्तम प्रकार का तप है। अतः जिस मनुष्य का मान-बड़ाई में विशेष प्रेम हो वह मान का त्याग करे और जिसका धनसंग्रह में विशेष प्रेम हो वह धन का त्याग करे। इसी प्रकार जो व्यक्ति भगवान् के सिवा और जिस वस्तु को भी सुख का स्थान समझता हो उसे उसी का त्याग कर देना चाहिये। इसे तो उसी वस्तु से सम्बन्ध जोड़ना चाहिये जो इससे कभी दूर होनेवाली न हो, जो पदार्थ मरने के समय दूर हो जानेवाले हैं उनका संग तो प्रयत्न करके पहले ही छोड़ देना चाहिये। सो, इसके सर्वदा साथ रहनेवाले तो केवल भगवान् ही हैं, और कोई नहीं। ऐसी ही महात्मा दाऊद को आकाशवाणी भी हुई थी कि ऐ दाऊद! तेरा सङ्गी तो एकमात्र मैं ही हूँ। अतः तू मेरे ही साथ मेल कर। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि मुझसे भगवान् के एक मुख्य पार्षद ने कहा था कि माया के जिस पदार्थ के साथ तू प्रीति करता है वह निःसन्देह तुझसे दूर हो जायगा।

(६—भले स्वभावों के लक्षण)

भगवान् ने भले स्वभावों का लक्षण करते हुए कहा है कि संसार से ऐसे जिज्ञासु निःसन्देह मुक्त हुए हैं जिनमें त्याग, भजन और कृतज्ञता आदि गुण थे। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि मेरी प्रीतिवाले पुरुष ऐसे होते हैं जो सब प्रकार के व्यवहारों में धैर्य

के साथ बर्तते हैं। जितने बुरे स्वभाव हैं वे सब कपटियों के ही लक्षण हैं। महापुरुष ने भी कहा है कि प्रीतिमानों की श्रद्धा तो भजन और तप में होती है तथा मनमुखों का लगाव आहार और भोगों में ही दृढ़ होता है। हातिम नाम के संत का कथन है कि गुरुमुख व्यक्ति का हृदय तो विचार और कुतूहल में ही रहता है, किन्तु मनमुखी लोग आशा और तृष्णा में ही फँसे रहते हैं। गुरुमुख सारे संसार की ओर से निराश रहता है, उसे केवल भगवान् की ही आशा रहती है, किन्तु मनमुख सबसे आशा रखता है, वह केवल भगवान् से ही निराश रहता है। गुरुमुख धर्म पर धन को निछावर कर देता है और मनमुख धर्म ही को धन पर वार देता है। गुरुमुख भजन करता है और भगवान् के भय से संयुक्त रहता है, जब कि मनमुख पाप करता है और निर्भय होकर हँसता है। गुरुमुख का प्रेम एकान्त में होता है और मनमुख की प्रीति जगत् के मेल-मिलाप में रहती है। गुरुमुख सुकृत के बीज बोता है, फिर भी डरता रहता है कि किसी विघ्न से मेरी खेती नष्ट न हो जाय, तथा मनमुख शुभ बीज बोता ही नहीं, तो भी शुभ फल की आशा रखता है। इसके सिवा सन्तजनों ने भले स्वभाव के लक्षण इस प्रकार भी कहे हैं कि मनुष्य को लज्जाशील, निर्दोष और शुभ चित्तवाला होना चाहिये, वह सत्य बोले, थोड़ा कहे और भजन अधिक करे, निष्पाप और संयमी हो, सबका भला चाहे, सबको सुख दे, दयावान्, गम्भीर, धीर, सन्तोषी, कृतज्ञ, सहनशील और निर्लोभ हो, किसी के प्रति भी दुर्वचन या धिक्कार न कहे, किसी की निन्दा न करे, किसी की बात में छिद्र न ढूँढ़े, शुभ वचन बोले, किसी भी कार्य में उतावली न करे, हृदय में क्रोधाग्नि को स्थान न दे, किसी से ईर्ष्या न करे, मस्तक प्रसन्न रखे तथा केवल धर्म के निमित्त से ही मित्रता या शत्रुता अथवा प्रसन्नता या क्रोध करे। याद रखो, स्वभाव की श्रेष्ठता

सहन-शीलता में ही है। देखो, जब महापुरुष ने मनमुखों को दुःख दिया और उनके दांत तोड़े तब भी उन्होंने भगवान् से यही प्रार्थना की कि प्रभो! आप इन पर दया करें, क्योंकि ये मुझे जानते नहीं हैं।

एक बार इब्राहीम अदहम नाम के संत एक वन में जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक सिपही मिला। उसने पूछा, "तुम कौन हो?" संत बोले, "मैं गुलाम हूँ।" सिपाही ने पूछा, "बस्ती किधर है?" तब इन्होंने एक श्मशान की ओर संकेत कर दिया। सिपाही ने कहा कि मैं तो बस्ती पूछता हूँ। फिर भी इन्होंने कहा कि बस्ती तो यही है। इस पर सिपाही ने इनके सिर में लाठी मारी। इससे इनके रुधिर बहने लगा और वह इन्हें घसीटकर बस्ती में ले गया। लोगों ने इन्हें देखकर सिपाही से कहा, "तू मूर्ख है। जानता नहीं, ये संत इब्राहीम अदहम हैं।" तब तो सिपाही घोड़े से उतर कर इनके चरणों में गिर पड़ा और बोला कि मैंने भूल से यह अपराध किया, कृपया क्षमा करें। लोगों ने सिपाही से पूछा कि तूने इन्हें क्यों मारा? वह बोला, "मैंने इनसे पूछा था कि तुम कौन हो? तो ये बोले कि मैं गुलाम हूँ।" इब्राहीम ने कहा, "मैंने सत्य ही तो कहा था, क्योंकि मैं भगवान् का गुलाम हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं।" फिर सिपाही बोला कि जब मैंने आपसे पूछा कि बस्ती किधर है तो आपने श्मशान को ही बस्ती क्यों बताया? इब्राहीम बोले, 'यह भी मैंने ठीक ही कहा था, क्योंकि लोग नित्यप्रति श्मशान में जाते हैं, नगर उजड़ते रहते हैं और श्मशान बसता जाता है। इसलिये यही बस्ती है।" सिपाही ने कहा कि मैंने जब आपको मारा था तो आपने हृदय में मेरे प्रति क्रोध किया होगा। इब्राहीम बोले, "मैंने तो भगवान् से प्रार्थना करके तुम्हारा हित और कल्याण चाहा था, तुम्हारे प्रति क्रोध नहीं किया।" सिपाही ने पूछा, "आपने मेरा हित क्यों चाहा था?" सन्त बोले, "मुझे दृढ़

निश्चय है कि सहन-शीलता का बड़ा भारी फल है । अतः जब मैंने समझा कि तुम्हारा दण्ड सहने से मुझे तो फल मिलेगा, परन्तु तुम्हें इस पाप का दुष्परिणाम भोगना होगा, तो मैंने तुम्हारे हित के लिये भी प्रार्थना की ।"

एक उसमान हैरी नाम के सन्त थे । वे एक बार एक गली से जा रहे थे । इसी समय किसी ने अचानक ऊपर से एक थाल राख उनपर डाल दी । संत अपने वस्त्र झाड़कर प्रभु का धन्यवाद करने लगे । लोगों ने पूछा कि इस समय धन्यवाद का क्या प्रसंग था । वे बोले, "मैं तो अग्नि में जलाये जाने योग्य था, किन्तु प्रभु ने दया करके राख से ही निर्वाह कर दिया । इसीसे मैं उनका धन्यवाद करता हूँ ।" इन्हीं उसमान हैरी का एक दूसरा प्रसंग इस प्रकार है कि किसी पुरुष ने इन्हें भोजन के लिये निमन्त्रित किया । किन्तु जब ये उसके घर गये तो उसने परीक्षा करने के लिये इन्हें घर में न घुसने दिया । ये लौट चले तो उसने इन्हें पुकारा और ये तुरन्त लौट आये । उसने इन्हें फिर भीतर जाने से रोका तो ये पुनः लौट चले । इसी प्रकार उसने कई बार इनका निरादर किया । किन्तु जब वह बुलाता तो ये तुरन्त लौट आते थे और जब रोकता तो चल देते थे । अन्त में वह बोला, "महात्मन् ! मैं आपकी परीक्षा कर रहा था । आप निःसन्देह बड़े उत्तम संत हैं ।" ये बोले, "भाई ! तुमने मेरा जो स्वभाव देखा है वह तो कुत्ते में भी होता है । उसे भी जब बुलाओ तब वह आ जाता है और जब रोको तो चल देता है । अतः इससे मुझ में ऐसी क्या विशेषता हुई ?"

एक और सन्त थे । उनका वर्ण अत्यन्त श्याम था । किन्तु वे बड़े महिमाशाली माने जाते थे । जब वे हम्माम पर स्नान के लिये जाते थे तो वहाँ जो सेवक रहता था वह और सब लोगों को अलग कर देता था । इस प्रकार सबसे अलग करके इन्हें

अकेले ही स्नान कराता था। एक दिन जब ये गये तो वह सब लोगों को हटा कर किसी काम से चला गया। इतने ही में एक जंगली पुरुष वहाँ आया। उसने इन्हें ही हम्माम का सेवक समझा। वह इनसे तरह-तरह की सेवाएँ कराते हुए वहाँ स्नान करने लगा। ये भी उसके आदेशानुसार सब काम करते रहे। इतने ही में सेवक लौट आया। उसने जब उस जंगली आदमी की आवज सुनी तो वह सहम गया और भयभीत होकर वहाँ से भागने लगा। सन्त ने उसे ढाढ़स बँधाते हुए रोका और कहा कि तुम डरो मत, यह आदमी तुमसे कुछ नहीं कहता, यह तो इस शरीर को ही फटकार रहा है, क्योंकि इसका रंग भी तो दासों के समान साँवला ही है।

एक अन्य संत थे, वे सिलाई का काम करके अपना निर्वाह करते थे। एक मनमुखी आदमी उनसे अपने कपड़े सिलवाता और मजदूरी में सर्वदा खोटा रुपया ही देता था। वे उसे लेकर रख लेते थे। एक दिन जब ये किसी काम से बाहर गये हुए थे उसने इनके सेवक को सदा की भाँति खोटा रुपया दिया, किन्तु उसने उसे स्वीकार न किया। जब ये लौटे और उसने इनसे सब हाल कहा तो ये बोले, "तूने रुपया लिया क्यों नहीं, वह तो मुझे सर्वदा ही खोटा रुपया देता है। किन्तु मैंने उससे यह कभी नहीं कहा कि तू मुझे ऐसा सिक्का क्यों देता है। मैं तो उसे ले कर धरती में गाड़ देता हूँ, जिससे कोई दूसरा आदमी उसके कारण ठगा न जाय।"

एक आविस करनी नाम के सन्त थे। वे जब नगर में जाते थे तो बालक उन्हें पत्थर मारते थे। वे उनसे कहते, "भाई, छोटे-छोटे पत्थर मारो, क्योंकि यदि मेरी टाँगों से विशेष रुधिर निकला तो मैं नमाज के समय खड़ा नहीं हो सकूँगा।" इसी प्रकार एक सन्त मार्ग में जा रहे थे। उस समय कोई मूर्ख उन्हें दुर्वचन कहने

लगा। वे चुपचाप चलते रहे और वह भी दुर्वचन कहता उनके साथ-साथ चलता रहा। जब उनके सम्बन्धियों का स्थान समीप आया तो वे खड़े हो गये और बोले, "भाई, तुम्हें जो कुछ कहना है वह यहीं कह लो, क्योंकि आगे मेरे सम्बन्धी रहते हैं। वे तुम्हारी बातें सुनेंगे तो तुम्हें दुःख देंगे।" मलिक दीनार नाम के एक सन्त थे। उनसे एक स्त्री ने कहा, "तुम कपटी हो।" तब वे बोले, "मेरा नाम यही था, पर इस नगर के लोगों को इसका पता नहीं था, अब तुमने इसे प्रसिद्ध कर दिया।"

इस प्रकार यहाँ जो सन्तों के आचरणों का दिग्दर्शन कराया है यही भले स्वभावों का लक्षण है। ये स्वभाव उन्हीं को प्राप्त होते हैं जिन्होंने प्रयत्न करके अपने मन की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को रोका है और अपने हृदय को शुद्ध किया है। अतः वे भगवान् के सिवा और कुछ नहीं देखते तथा उन्हें जो कुछ दिखायी देता है उसके प्रेरक वे भगवान् को ही समझते हैं। इस लिये जिस पुरुष को अपने में ऐसे लक्षण दिखायी न दें उसे ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिये कि मुझे शुभ स्वभाव प्राप्त हुआ है।

(७—माता-पिता द्वारा बालकों की शिक्षा)

बालक भी माता-पिता के पास भगवान् की धरोहर हैं। पहले बालक का हृदय मणि के समान स्वच्छ और कोमल होता है। उसे जो कुछ सिखाया जाय उसी को वह ग्रहण कर लेता है। उसका हृदय शुद्ध उर्वरा भूमि के समान होता है। उसमें जो कुछ बोया जाय वही उग आता है। यदि उसमें शुभ बीज बोये जायँ तो इस लोक और परलोक में उसे शुभ की प्राप्ति होती है और माता, पिता तथा गुरु भी उसके पुण्य में भागी होते हैं। और यदि उसके हृदय में अशुभ बीज बोये जायँ तो उसका भाग्य तो विपरीत होता ही है, उसके पाप कर्मों के कारण उसके माता,

पिता तथा शिक्षक को भी परलोक में उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। प्रभु ने भी कहा है कि अपने मन और सम्बन्धियों को नरक की आग से बचाओ। अतः बालकों को स्थूल अग्नि की अपेक्षा भी इस नरकाग्नि से बचाना अधिक आवश्यक है। सो यह तभी हो सकता है जब बच्चों को भगवान् के भय से संयुक्त रखे तथा उन्हें शुभ गुणों की शिक्षा दे। इसके सिवा उन्हें कुसंग से बचावे, क्योंकि सब प्रकार के विघ्न कुसंग से ही उत्पन्न होते हैं।

पहली बात यह है कि बालक को राजसी भोजन और वस्त्र का स्वभाव न डाले, क्योंकि ये राजसी स्वभाव हैं और जब इनका अभ्यास पड़ जाता है तो फिर भोगों के बिना रहना कठिन हो जाता है। अतः उचित यह है कि बालक का पालन करनेवाली धात्री भी शुद्ध स्वभाववाली हो और वह उसे पवित्र आहार ही दे। बालक जैसा दूध पीता है वैसा ही गुण या अवगुण उसमें आ जाता है। जब बालक की जीभ खुले तो उसे पहले श्रीभगवान् का ही नाम सिखावे। इस प्रकार यदि वह बालक बुरे कामों से संकोच करने लगे तब समझना चाहिये कि वह अच्छा बनेगा और उसकी बुद्धि में भी प्रकाश रहेगा। उसके उस संकोच को बढ़ाने का प्रयत्न करे और यदि वह कभी कोई बुराई करे तो उसे दण्ड दे तथा उसे वैसा करने से रोके। बालक में सबसे पहले खाने की ही तृष्णा उत्पन्न होती है, अतः उसे भोजन करने की युक्ति सिखावे। वह युक्ति यह है कि जब वह भोजन करने लगे तो पहले भगवान् का नाम स्मरण करे, धैर्यपूर्वक शान्ति से भोजन करे और किसी अन्य व्यक्ति के भोजन की ओर दृष्टि न डाले। बालक को कभी-कभी रूखी रोटी भी खिलानी चाहिये, जिससे उसका चित्त रसों में विशेष आसक्त न हो। साथ ही, अधिक भोजन के लिये भी निषेध करता रहे।

उसे यह बताता रहे कि अधिक खाना पशुओं और मूर्खों का स्वभाव है। जो बालक धर्मभीरु हों उनकी प्रशंसा करता रहे, जिससे इसके चित्त को भी वैसा ही बनने की प्रेरणा मिले। बालक को स्वच्छ और श्वेत वस्त्र पहनने के लिये ही प्रोत्साहित करे, रङ्गीन और रेशमी वस्त्रों की निन्दा करे और उसे समझावे कि ऐसे टीमटाम के वस्त्र पहनना तो स्त्रियों का काम है अथवा अभिमानी लोग ऐसे वस्त्र पहनते हैं। शरीर का विशेष शृंगार करना तो नाचने वालों या नपुंसकों को ही शोभा देता है, भले आदमी ऐसा कभी नहीं करते। जो बालक रेशमी वस्त्र पहननेवाले या राजसी स्वभाव के हों उनसे अपने बच्चे को दूर रखे, क्योंकि ऐसी संगति से उसकी बुद्धि नष्ट हो जायगी तथा उसमें भोगों की वासना उत्पन्न होगी। जिस बालक की कुसंग से रक्षा नहीं की जाती वह क्रोधी, निर्लज्ज, चोर, झूठा और निर्भीक हो जाता है तथा उसका वह स्वभाव चिरकाल तक दूर नहीं होता।

फिर जब वह बालक पाठशाला में जाने लगे तो सबसे पहले उसे भगवद्वाक्यों की ही शिक्षा दिलावे तथा उसे सन्तों की रहनी और सन्तों के आचरण का ही इतिहास सुनावे। जिन ग्रन्थों में स्त्रियों के शृंगार और स्त्री-पुरुषों के प्रेम की बातें हों उनसे दूर रखे। ऐसे किसी व्यक्ति की संगति बालक को न करावे जो उसे यह समझावे कि इस प्रकार के साहित्य का अध्यन करने से बुद्धि तीव्र होती है। ऐसा अध्यापक तो असुर के समान है, जो बालक के हृदय में पाप का बीज बोना चाहता है। यदि बालक कोई शुभ कार्य करे अथवा उसमें कोई शुभ गुण प्रकट हो तो उसकी प्रशंसा करे और इसके लिये उसे कुछ पारितोषिक भी दे, जिससे उसका उत्साह बढ़े। और यदि उसमें कोई बुराई दिखायी दे तो एक-दो बार तो देखकर भी चुप हो जाय, जिससे वह ढीठ न हो, क्योंकि ढीठ हो जानेपर तो वह खुल्लम-खुल्ला बुराई

करने लगेगा। फिर जब देखे कि बुराई इसमें जड़ पकड़ रही है तो एकान्त में उसे ताड़ना दे और समझावे कि यदि तू फिर ऐसा करेगा और लोग देख लेंगे तो वे तेरा अपमान करेंगे, इसलिये अब ऐसा न करना। पिता को चाहिये कि बालक के चित्त से अपना भय न निकलने दे, अर्थात् पिता के सामने बालक कभी निर्लज्ज होकर न बर्ते। दिन के समय बालक को अधिक न सोने दे। इससे आलस्य की वृद्धि होती है। रात्रि में भी उसे विशेष कोमल शय्या पर न सुलावे। इससे उसका शरीर पुष्ट होगा। दिन के समय उसे दो घड़ी खेलने की भी छुट्टी दे जिससे उसका चित्त हर समय संकोच में ही न रहे। सारे दिन परिश्रम और संकोच में ही रहने से चित्त मूर्छित-सा हो जाता है। बालक को ऐसे स्वभाव की शिक्षा दे कि वह नम्रतासहित सभी को नमस्कार-प्रणामादि करे, किसी दूसरे बालक को व्यर्थ न दबावे तथा किसी से कुछ ले भी नहीं। उसे अपनी नाक और मुँह का मैल किसी के सामने नहीं डालना चाहिए, किसीकी ओर पीठ करके नहीं बैठना चाहिये। अपने से बड़ों का भय मानना चाहिये तथा ठोड़ी के नीचे हाथ लगा कर नहीं बैठना चाहिये। यह भी आलसियों का लक्षण है। बालक को चाहिये कि अधिक न बोले, किसी कार्य में भगवान् की शपथ न करे, बिना बुलाये बोले नहीं, अपने से बड़ों का अनादर न करे, कभी उनके आगे न चले तथा दुर्वचन और धिक्कार से अपनी जिह्वा को रोके। यदि अध्यापक कभी दण्ड दें तो उसे सहन करे, किसी से उसका उलाहना न दे, क्योंकि सहन करना पुरुषों का काम है, उलाहना तो स्त्रियाँ दिया करती हैं।

जब बालक सात वर्ष का हो तो उसे बड़े प्यार से स्नान और भजन कराना सिखावे। और जब दस वर्ष का हो तो नियम में व्यतिक्रम करने पर ताड़ना दे। साथ ही उसे चोरी, झूठ और

अशुद्ध आहार की बुराइयाँ भी समझावे। बालक को जब इस प्रकार शिक्षा दी जाती है तो वह किशोरावस्था में ही बड़ी सुगमता से अपनी बुद्धिद्वारा सब प्रकार के आचरणों का भेद समझने लगता है। इस अवस्था में उसे यह बताना चाहिये कि भोजन करने का मुख्य प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा मनुष्य को भजन करनेकी शक्ति प्राप्त हो तथा इस संसारमें जीवित रहने का भी यही प्रयोजन है कि परलोक के मार्ग का तोशा तैयार कर लिया जाय। जीवन बहुत थोड़ा है और मृत्यु इसे अकस्मात् ग्रस लेती है, अतः बुद्धिमान् पुरुष वही है जो इस लोक में परलोक के लिये तोशा तैयार कर ले। इससे उसे उत्तम सुख और भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त होती है। इसी प्रकार पुण्य और पाप के द्वारा जो स्वर्ग और नरक अथवा सुख और दुःख प्राप्त होते हैं उन्हें भी अच्छी तरह बालक की बुद्धि में बिठा दे। इसप्रकार जब आरम्भ से ही बालक को समझा दिया जाता है तो ये बातें उसके हृदय में मूर्त्तरूप धारण करके प्रतिष्ठित हो जाती हैं। यदि आरम्भ में इनकी शिक्षा नहीं मिलती तो पीछे ये उपदेश दृढ़ नहीं होते, जिस प्रकार कि लौनी मिट्टी की भीतपर किसी भी प्रकार का लेप नहीं ठहर सकता।

इस विषय में सुहेल तस्तरी नाम के एक संत का प्रसंग यहाँ दिया जाता है। उन्होंने कहा है कि जब मैं तीन वर्ष का था तो रात्रि में अपने पिताजी को भजन करते देखता था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा कि बेटा! जिस भगवान् ने तुझे उत्पन्न किया है उसका भजन तू क्यों नहीं करता? मैंने पूछा कि किस प्रकार भजन करूँ। तब पिता ने कहा कि रात को सोने के समय तीन बार इस प्रकार कह लिया कर—"भगवान् मेरे साथ हैं, भगवान् मुझे देखते हैं और भगवान् मेरे अन्तर्यामी हैं।" बस, कई रात तक मैं नित्य प्रति तीन बार ऐसा कह लिया करता था। फिर पिताजी ने कहा, "अब यही बात सात बार कहा करो।" मैं

सात बार कहने लगा। फिर पिता जी ने ग्यारह बार कहने को कहा, तो मैं कुछ समय तक ग्यारह बार कहता रहा। ऐसा करने से मेरे चित्त में इस भजन का कुछ रस आने लगा। इस प्रकार जब एक वर्ष बीत गया तो पिता जी ने कहा कि मैंने तुम्हें जो बात सिखायी है उसे हृदय में खूब पक्का कर लो, इसे मृत्युपर्यन्त भूलना मत। यही भजन इस लोक और परलोकमें तुम्हारा सहायक होगा। बस, कितने ही वर्षों तक मैं इसी प्रकार कहता रहा। तब मेरे हृदय में इसका कुछ विशेष रहस्य प्रकट हुआ। फिर एक दिन पिताजी ने कहा, "बेटा भगवान् जिस के साथ हों, जिसके साथ रह कर उसे निरन्तर देखते हों और उसके अन्तर्यामी भी हों वह पुरुष पाप कैसे कर सकता है? अतः तुझे भी पापकर्म कदापि नहीं करना चाहिये।" इसके पश्चात् मुझे पाठशाला भेजा गया। उसी समय मैंने सोचा कि पढ़ाई-लिखाई में पड़ कर मेरा चित्त कहीं बिखर न जाय। अतः मैंने अध्यापक जी से वचन कर लिया कि मैं तीन घड़ी तो पढ़ूँगा और पीछे उसी भजन में समय व्यतीत करूँगा। इस प्रकार मैं अध्ययन करने लगा और मैंने सम्पूर्ण भगवद्वाक्य पढ़ लिये। सात वर्ष की आयु होनेपर मैं दिन में तो उपवास करता और केवल रात्रि को भोजन करता। फिर जब बारह वर्ष का हुआ तो मेरे हृदय में एक प्रश्न उठा। उसका उत्तर मुझे उस नगर में कोई न दे सका। तब मैं पिताजी की आज्ञा लेकर बसरा गया। वहाँ भी मुझे किसी से उसका उत्तर न मिला। फिर मैं एक दूसरे नगर में हबीब नाम के एक भजननिष्ठ संत के पास गया। उन्होंने उत्तर देकर मेरे संशय को निवृत्त किया। मैं कई वर्ष उनके समीप रहा और उनके सत्संग से मुझे बड़ा लाभ हुआ। तत्पश्चात् मैं अपने नगर तस्तर में लौटा आया और एकान्त रह कर भजन करने लगा। मेरे भोजन का क्रम इस प्रकार था कि मैं एक दिरम के जौ मोल लेकर एक साल तक उन्हीं को

खाता था। बस, रात्रि के समय थोड़ा-सा भोजन कर लेता था। फिर तीसरे दिन खाने लगा। उसके पश्चात् सातवें दिन और फिर पच्चीसवें दिन भोजन करने लगा। इस अवस्था में मैंने बीस वर्ष व्यतीत किये। उन दिनों सारी रात मैं जागरण करता था।

इस सम्पूर्ण कथा का प्रयोजन यह है कि बाल्यावस्था में जैसा अभ्यास डाल दिया जाता है वही निःसन्देह पुष्ट हो जाता है।

(८—जिज्ञासु के अभ्यास और यत्न की युक्तियाँ)

स्मरण रखो, जिस व्यक्ति को भगवान् के दर्शन नहीं हुए, उसके इस दुर्भाग्य का कारण यही है कि आरम्भ से ही वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में नहीं चला। और उस के इस मार्ग में न चलने का कारण यह है कि उसके चित्त में इस की खोज नहीं हुई। तथा खोज न होने का कारण यह हुआ कि उसे ऐसी समझ ही नहीं थी और न ऐसा दृढ़ विश्वास ही था। परलोकमार्ग में तो उसी व्यक्ति को श्रद्धा होती है जिस ने यह जाना हो कि इस लोक के सुख दुःखदायक एवं नाशवान् हैं तथा परलोक का सुख ही नित्य और निर्मल है, क्योंकि मनुष्य के लिये निम्न कोटि के सुख को त्यागकर उत्तम कोटि के सुख की ओर प्रवृत्त होना कठिन नहीं होता है। अतः निश्चय हुआ कि मनुष्य जो परलोकमार्ग से विमुख है उसका कारण उसमें श्रद्धा-विश्वास की न्यूनता ही है। यह श्रद्धा-विश्वास की कमी इस लिये है कि इस समय सच्चे विचारवान् और विरक्त महात्मा बहुत दुर्लभ हैं, जिनके उपदेश और सत्संग से जीवों की धर्मपथ में प्रवृति हो। इसी से संसारी जीव आत्मकल्याण से विमुख रहते हैं। आज-कल तो विद्वान् पुरुष मिलते हैं। उनके ऊपर भी माया का ही अधिकार रहता है और वे वैराग्य से रहित होते हैं। भला, जो पुरुष स्वयं माया के चंगुल में फँसा हुआ हो वह अन्य जीवों से माया का त्याग कैसे करा

सकता है तथा लोगों के चित्त पर उसके उपदेश का प्रभाव भी कैसे पड़ेगा, जिस से की वे परलोक के मार्ग में प्रवृत्त हों। परलोक और इस लोक के मार्गों में तो परस्पर ऐसा ही विरोध है जैसा पूर्व और पश्चिम दिशाओं में।

अतः जिस पुरुष के चित्त में भगवान् की श्रद्धा प्रकट होती है उसकी तो वैसी ही अवस्था होती है जैसी ऊपर छठे विभाग में वर्णन की जा चुकी है। प्रभु ने भी कहा है कि वही पुरुष धर्मात्मा है जिस के हृदय में परलोक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई है और जो उस के लिये प्रयत्न तथा आचरण करता है। यहाँ प्रभु ने जो यत्न करने की बात कही है, सो यह भी जानना चाहिये कि वह प्रयत्न क्या है। अब आगे नवें विभाग में हम उसी का वर्णन करते हैं।

(९–धर्ममार्ग के प्रयत्न की युक्तियाँ)

धर्ममार्ग में चलने का उद्योग करना–यही धर्ममार्ग का प्रयत्न कहा जाता है। इस विषय में ऐसी कई युक्तियाँ हैं, जिन्हें जान लेनेपर जिज्ञासु धर्ममार्ग में चलने का अधिकारी होता है। यह सब करते हुए भी उसे अपनी रक्षा करनेवाले सद्गुरु देव का भरोसा रखना चाहिये और दृढ़तापूर्वक उनका अञ्चल पकड़ना चाहिये। सद्गुरू एक कोट (किले) के समान हैं, जिनकी ओट में जिज्ञासु को स्थित रहना चाहिये।

ऊपर जो हमने कहा है कि धर्ममार्ग में चलने की अनेकों युक्तियाँ हैं, सो उनमें पहली युक्ति तो यह है कि भगवान् और इस जीव के बीच में जो पर्दे और आड़ हैं उन्हें दूर करे, जिससे उसकी गणना मनमुखी पुरुषों में न हो। भगवान् ने कहा है कि मैंने मनमुखों के आगे-पीछे पर्दे डाल दिये हैं, अर्थात् उन्हें अपने से अलग कर दिया है। ऐसे पर्दे चार हैं, जिनके कारण जीव भगवान् से बिछुड़ा हुआ है—(१)धन, (२) मान, (३) वेष और

(४) पाप धनमें चित्त आसक्त हो जाता है, इसलिये इसे पर्दा कहा है। जबतक चित्त असंग और निःसंकल्प न हो तबतक वह धर्ममार्ग में चल नहीं सकता। अतः उचित यही है कि विशेष धन-संग्रह त्यागकर केवल निर्वाहमात्र के लिये ही रखे और उसमें भी चित्त को आसक्त न करे। यदि यह पुरुष संग्रह न करे, आकाशी वृत्तिसे ही अपनी जीविका चलावे, तब तो यह सुगमता से ही धर्म-मार्ग में चलने लगता है। दूसरा पर्दा है मानका। उसे इस प्रकार दूर करे कि जहाँ इसका विशेष आदर या मान हो उस स्थान को त्याग दे और ऐसे स्थान में चला जाय जहाँ इसे कोई जानता ही न हो। इस पुरुष को जब संसार में मान प्राप्त होता है तो इसकी संसार में आसक्ति हो जाती है। और जिसे संसार में मिलने-जुलने से सुख अनुभव होने लगता है वह भगवान् को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। तीसरा पर्दा वेश का कहा गया है। इसका कारण यह है कि जो पुरुष देखा-देखी किसी मत या पन्थ को ग्रहण कर लेता है वह दूसरों के मत का खण्डन करने लगता है और अपने मत की पुष्टि। ऐसे पुरुष के चित्त में सच्ची बात प्रवेश नहीं कर सकती। अतः उचित यही है कि जितने मत और पन्थ हैं उन सभीको भूल जाय और भगवान् की अद्वितीयता में विश्वास करे तथा उस एकता में ही चित्त को दृढ़ करे। उस एकता की दृढ़ता का लक्षण यह है कि भगवान के सिवा और किसी का भरोसा न करे और न किसी के अधीन हो। जो पुरुष अपने मन की वासना के अनु-कूल चलता है वह तो वासना का ही दास है और वासना ही उस का भगवान् है। अतः जिस पुरुष ने जाना है कि भगवान् एक है और उसी की आज्ञा में चलना मुख्य कर्त्तव्य है वही पुरुष अपनी मुक्ति का प्रयत्न करता है और जगत् के वाद-विवादों से दूर रहता है। चौथा जो पाप का पर्दा कहा है वह जीव का बड़ा कठिन व्यवधान है, क्यों कि जिस पुरुष के स्वभावमें पाप कर्मों की दृढ़ता

हो जाती है उसका हृदय अन्धकार से मलिन हो जाता है और हृदय मलिन हो जानेपर भगवान् की प्रत्यक्षता नहीं भासती। अतः अशुद्ध जीविका भी पाप ही है। शुद्ध जीविका से चित्त ऐसा शुद्ध हो जाता है कि वैसा और किसी साधन से नहीं होता। अतः तप का मूल यही है कि अशुद्ध आहार का त्याग करे और अपनी जीविका शुद्ध रखे।

इसके विपरीत जो पुरुष यह चाहता है कि सन्तजनों का जैसा सदाचार बताया गया है वैसा आचरण किये बिना ही मेरे सामने गुह्य भेद खुल जायँ वह तो उसी पुरुष के समान है जो बिना पढ़े-लिखे ही शास्त्रों के अर्थ का ज्ञाता बनना चाहता हो। परन्तु ऐसा होना तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। अतः जिसने उपर्युक्त चार पर्दे दूर किये हैं वही भजन का अधिकारी होता है। इसके पश्चात् जिज्ञासु को गुरु की आवश्यकता होती है, क्योंकि गुरु के बिना जीवों को धर्म का मार्ग नहीं खुलता। भगवान् का मार्ग अत्यन्त गुह्य है और संसार का मार्ग सर्वदा प्रकट है। इसके सिवा सच्चा मार्ग एक है और झूठे पन्थ अनेक हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि सद्गुरु के बिना सच्चा मार्ग प्राप्त नहीं होता। सो, जिज्ञासु को चाहिये कि यदि सद्गुरु का साथ प्राप्त हो जाय तो अपने सब कार्य उन्हीं को सौंप दे और अपनी बल-बुद्धि का भरोसा न करे। जब सद्गुरु इसे कोई आज्ञा करें और इसे उसमें कोई सन्देह हो तो यही समझे कि यह मेरी ही बुद्धि की मलिनता है, मेरा कल्याण तो गुरुदेव की आज्ञा का पालन करने में ही है। यदि फिर भी इसके चित्त में सन्देह हो तो अपने पूर्ववर्ती जिज्ञासुओं की गुरुनिष्ठा का विचार करके जिस प्रकार उन्होंने अपने सन्देहों की निवृत्ति की थी उसी प्रकार स्वयं भी अपना समाधान करे। यह बात स्मरण रखे कि सन्तजनों ने उस भेद को समझा है जिसे जिज्ञासु अपनी बुद्धि के द्वारा

नहीं पा सकते। जैसे जालीनूस नाम का एक बड़ा वैद्य हुआ है। एक बार एक पुरुष के दाहिने हाथ की अँगुली में पीड़ा हुई। तब और सब वैद्यों ने तो उस अँगुली पर ही औषधि लगायी। किन्तु इससे वह पीड़ा दूर न हुई। वही रोगी जब जालीनूस के पास आया तो उसने बायें कन्धे पर ओषधि लगायी। इससे अन्य वैद्यों ने तो उसका उपहास ही किया, किन्तु उसकी पीडा दूर हो गयी। जालीनूस ने विचार किया था कि इस अँगुली का रोग नाड़ी के मूल से उठा है और सब नाड़ियाँ पीठ एवं मस्तक से निकल कर सारे शरीर में फैलती हैं तथा दायीं ओर की नाडियाँ बायीं ओर और बायीं ओर की नाडियाँ दायीं ओर जाती हैं। इसीसे दायीं अँगुली की पीडा निवृत्त करने के लिये उसने बायें कन्धे पर ओषधि लगायी। इस भेद को दूसरे वैद्य समझते नहीं थे, अतः वे असफल रहे। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यही है कि किसी भी प्रकार जिज्ञासु को गुरुदेव की आज्ञा में ही चलना चाहिये, उसमें अपनी बात मिलाकर कोई सन्देह नहीं करना चाहिये।

एक सन्त का कथन है कि जब मैं सद्‌गुरुदेव के समीप रहता था तब मैंने एक स्वप्न देखा और वह श्रीगुरु महाराज को सुनाया। उसे सुनकर वे चित्त में मुझसे रुष्ट हो गये और एक मास तक मेरे से बोले नहीं। मैं इसका कोई कारण न समझ सका। एक दिन उन्होंने कहा कि तूने मुझे जो स्वप्न सुनाया था उसमें मैंने तेरे से कोई काम करने के लिये कहा था। उस पर तूने मुझसे यह शंका की थी कि आप मुझसे यह काम क्यों कराना चाहते हैं। इससे मैंने समझा कि जब जाग्रत् में ही तू मेरी आज्ञा में सन्देह करता है तो स्वप्न में तुझे उसमें सन्देह क्यों न होगा? अतः तेरे चित्त में यह भाव पुष्ट करने के लिये कि किसी भी अवस्था में तुझे मेरी आज्ञा में सन्देह नहीं करना चाहिये मैं रुष्ट हो गया था। सो जब जिज्ञासु सब प्रकार गुरुदेव की आज्ञा मानने में

तत्पर रहता है तब वे उसे कोट में स्थित करते हैं, जिससे उसे किसी प्रकार के विघ्न से बाधा न हो। उस कोट की चार भीतें हैं–(१)मौन, (२)क्षुधा, (३)एकान्त और (४)जागरण। इनमें क्षुधा के द्वारा भोगों का बल क्षीण होता है, जागरण से हृदय उज्ज्वल होता है, मौन से वाद-विवादजनित विक्षेप की निवृत्ति होती है और एकान्त से जगत् के संसर्ग का कुसंग और अन्धकार दूर होता है तथा नेत्र और श्रवण इन्द्रियों का भी संयम होता है। इस विषय में सुहेल नामक संत का भी कथन है कि पहले जो संत हुए हैं वे इन चारों लक्षणों से सम्पन्न ही हुए हैं। जब जिज्ञासु स्थूल मार्ग में भटकने से रुक जाता है तो सूक्ष्म मार्ग में जाने से पहले उसे कुछ घाटियाँ पार करनी पड़ती हैं। चित्त में जितने मलिन स्वभाव हैं वे ही सब घाटियाँ हैं; जिस प्रकार धन और मान की तृष्णा, भोगों की वासना, दम्भ, अभिमान एवं ऐसे ही अन्य मलिन स्वभाव। ये सब अशुभ आचरणों के बीज हैं। अतः इन्हें दूर कर देना चाहिये, क्योंकि इन्हीं के कारण चित्त स्थूल पदार्थों में भटका करता है। जब इन्हें दूर कर दिया जायगा तो चित्त शुद्ध हो जायगा। अतः सम्पूर्ण अशुभ वासनाओं को नष्ट कर फिर जैसा गुरुदेव का आदेश हो उसी के अनुसार पुरुषार्थ करना चाहिये। सम्पूर्ण जीवों का अधिकार भिन्न-भिन्न होता है और यह जीव स्वयं अपने अधिकार को जान नहीं सकता, इसलिये सद्गुरु की आज्ञा का अनुसरण करने से ही इसका हृदय शुद्ध हो सकता है।

इस प्रकार जब हृदयभूमि शुद्ध हो जाय तब उसमें भगवान् का भजन रूप बीज बोना चाहिये। पहले सब संकल्पों को त्याग कर एकान्त में बैठे और मन एवं जिह्वा से निरन्तर भगवान् का नाम उच्चारण करे। फिर जब जिह्वा का बोलना बन्द हो जायगा तो मन ही मन नाम का स्फुरण होता रहेगा। इसके पश्चात् मन

भी स्थिर हो जायगा और नाम का अर्थ हृदय में भासने लगेगा। उस अर्थ का स्वरूप यह है कि उसमें वाणी की गति नहीं है। मन में स्मरण भी वाणी और अक्षरों के द्वारा ही होता है, अतः ये वाणी और अक्षर उस अर्थ रूप फल की केवल त्वचा के समान ही हैं। अतः उचित यही है कि नाम का अर्थ ही हृदय में स्थिर हो जाय और वह इतना स्वाभाविक हो कि उसमें मन को किसी प्रकार का प्रयत्न न करना पड़े। उस अर्थ रूपी कमल का यह मन भ्रमर हो जाय। अर्थात् प्रयत्न करने पर भी यह उससे दूर न हो सके। शिवली नाम के सन्त ने अपने पास आनेवाले एक जिज्ञासु से कहा था वि यदि तुम मेरे पास आओ और तुम्हारे चित्त में भगवान् के सिवा कोई अन्य संकल्प भी रहे तो तुम्हारा यहाँ आना व्यर्थ होगा।

जिज्ञासु जब संकल्प रूपी काँटों से हृदयभूमि को शुद्ध कर लेता है और उसमें नाम रूपी बीज बो देता है तब आगे इसके प्रयत्न का बल काम नहीं देता। फिर तो इसे भगवत्कृपा का ही आश्रय लेना चाहिये और यह प्रतीक्षा करनी चाहिये कि देखें इस बीज का क्या फल होता है। अधिकतर तो यह बीज निष्फल नहीं होता। प्रभु ने भी कहा है कि जो पुरुष परलोक के जिये बीज बोता है उसे मैं निःसन्देह बहुत फल देता हूँ। किन्तु जब जिज्ञासु इस अवस्था में पहुँचता है तो कभी-कभी ऐसा भी होता है कि उसके हृदय में मिथ्या संकल्प फुरने लगते हैं। हाँ, सबके साथ ऐसा नहीं होता। जिनका हृदय शुद्ध होता है उन्हें तो देवताओं और ईश्वर के रूप प्रत्यक्ष भासने लगते हैं। कभी उनके दिव्य रूप स्वप्न में प्रकट होते हैं और कभी प्रत्यक्ष भासते हैं। ऐसी-ऐसी अवस्थाएँ प्रकट होती हैं कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता और न उनका वर्णन करने से कोई अर्थ ही सिद्ध होता है। कल्याण तो धर्ममार्ग में चलने से होता है,

उसकी बातें करने से तो लक्ष्य पर पहुँचा नहीं जा सकता। अतः जिज्ञासु की भलाई इसी में है कि इस अवस्था के ऐश्वर्यों को पहले ही न सुने, क्योंकि उनकी आशा से भी व्यर्थ विक्षेप ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी अवस्था के विषय में जिज्ञासु को सन्देह नहीं होना चाहिये। यों तो अनेकों पण्डित भी ऐसे होते हैं कि इस अवस्था की प्राप्ति में उन्हें विश्वास नहीं होता। अतः जिस अवस्था का मैंने वर्णन किया है उसमें जिज्ञासु को सन्देह न करके श्रद्धा-विश्वास ही करने चाहिये।

—:०:—

दूसरी किरण

अति आहार और कामवासना का निषेध

(आहारसंयम की प्रशंसा और उसके लाभ)

यह उदर एक सरोवर की तरह है। अर्थात् जैसे सरोवर से अनेकों प्रवाह निकलते हैं उसी प्रकार उदर से ही समस्त इन्द्रियों को शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि वे अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। इससे निश्चय होता है कि सभी जीवोंपर आहार का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसीसे जब उदर का पूर्णतया पोषण होता है तो काम (भोग) की अभिलाषा उत्पन्न होती है और उसकी पूर्ति तभी हो सकती है जब धन का संग्रह हो। धन-प्राप्ति के लिये ईर्ष्या, शत्रता, क्रोध, कपट और अभिमान आदि अनेकों अवगुणों को आश्रय देना होता है। अतः आहार की अधिकता में आसक्त होना सब प्रकार के पापों का मूल है। तथा आहार का संयम करना सारे शुभ गुणों का कारण है। अतः अब मैं इस विषय का पृथक-पृथक विवेचन करूँगा।

महापुरुष ने कहा है कि भूख और प्यास को अंगीकार करके अपने मन के साथ युद्ध करो। इससे तुम्हें उत्तम फल प्राप्त होगा। भगवान् की दृष्टि में तप संयम से बढ़कर और कोई आचरण नहीं है। अतः जो पुरुष अपने उदर का विशेष पोषण करता है उसके लिये सूक्ष्म देश का मार्ग नहीं खुलता। एक बार किसी ने महापुरुष से पूछा था कि उत्तम पुरुष कौन है? तब उन्होंने

कहा था कि जिस पुरुष का आहार संयमित हो, वाणी भी संयत हो, जो केवल शरीर ढकने के उद्देश्य से वस्त्र धारण करता हो और इसी में संतुष्ट भी हो वही अति उत्तम पुरुष है। साथ ही यह भी कहा है कि आहार और वस्त्रों को संयमसहित स्वीकार करना भी महापुरुषों का ही लक्षण है। तथा ऐसा भी कहा है कि जिस पुरुष का आहार संयमसहित है और हृदय विचार के अभ्यास में तत्पर है वह भगवान् का अत्यन्त प्रिय होता है। इसके विपरीत जिसके आहार और निद्रा मर्यादा से अधिक होते हैं वह तो भगवान् से विमुख रहता है। महापुरुषों का कथन है कि अपने हृदय को मृतक न करो। सो, आहार की अधिकता से ही हृदय मृतक होता है, जैसे कि जलकी अधिकता होनेपर खेती मर जाती है। अतः शरीर के निर्वाह के लिये स्वल्प आहार ही सुखदायक होता है। अधिक आहार की तृष्णा से तो अनेक प्रकार की मलिनता ही उत्पन्न होती है। इसलिये इतना ही आहार करना चाहिये जिस में जल, श्वास और भजन के अवकाश में कोई बाधा न आवे। इसी पर ईसा नाम के महापुरुष ने भी कहा है कि यदि तुम अपने शरीर को भूखा और नंगा न रखोगे तो निःसन्देह तुम्हें भगवान् के दर्शन प्राप्त होंगे। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि जिस प्रकार शरीर में रुधिर भरपूर है उसी प्रकार उसमें सर्वत्र मनकी चंचलता भी व्याप्त है। अतः भूख के द्वारा उस चपलता के वेग को रोको, इससे स्वभाविक ही मनका निग्रह हो जायगा। जैल नामक सन्त कहते हैं कि तुम ऐसा भय कदापि न करो कि हम भूखे रहेंगे। इस प्रकार का भय करना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि भगवान् भूख और अपमान तो अपने अत्यन्त प्रिय भक्तों को देते हैं। अथवा जो जिज्ञासु होते हैं उन्हीं के लिये ऐसे दुःख भेजते हैं। तुम्हारे जैसे अभागे जीवों को भला इस पद की प्राप्ति कैसे हो सकती है? तात्पर्य यह है कि सब सन्तों ने विचार कर यही

निश्चय किया है कि इस लोक और परलोक में सुख देनेवाला संयम के समान और कोई साधन नहीं है तथा अधिक आहार के समान कोई दुःखदायी भी नहीं है।

परन्तु जैसे औषध की कटुता ही औषधि का लाभ नहीं है। उसी प्रकार संयम के द्वारा जो शरीर को कष्ट होता है वही संयम का लाभ नहीं है। आहार के संयम से मनुष्य को दस लाभ होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. संयम के द्वारा हृदय शुद्ध और उज्ज्वल होता है तथा आहार की पुष्टि होने से हृदय मलिन हो जाता है। उस समय यदि वह कोई विचार करने लगता है तो ऐसा विक्षिप्त हो जाता है कि उसकी बुद्धि बिखर जाती है और कुछ का कुछ विचार करने लगती है। इसीपर महापुरुष ने कहा है कि अपने हृदय को प्रीति और मौन से सजीव अर्थात् चैतन्य करो तथा संयम के द्वारा उसे शुद्ध करो। साथ ही, यह भी कहा है कि संयमी पुरुष का हृदय उज्जवल होता है तथा उसके विचार की वृद्धि होती है। इस विषय में शिवली नाम के सन्त का भी कथन है कि मैं जिस दिन आहार का संमय करता हूँ उस दिन मेरे हृदय में नवीन विचार और अनुभव की युक्ति अवश्य ही खुलती है।

२. संयम के द्वारा मनुष्य भजन और प्रार्थना का रहस्य प्राप्त करता है और आहार की पुष्टि होनेपर हृदय कठोर हो जाता है। ऐसी स्थिति में भजन करनेपर भी उसमें कोई रस या आनन्द नहीं आता। इसी से जुनेद नाम के सन्त ने भी कहा है कि जिस का उदर आहार से भरपूर है उसको भजन और प्रार्थना का आनन्द प्राप्त नहीं होता।

३. संयम के द्वारा हीनता और नम्रता प्राप्त होती हैं तथा आहार की पुष्टि से असावधानी और प्रमाद बढ़ते है। यह प्रमाद ही नरक का द्वार है, क्योंकि जब तक यह पुरुष अपने को दीन और अधीन

नहीं देखता तबतक भगवान् की सामर्थ्य और पूर्णता को अनुभव नहीं कर सकता। इस विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि जब महा- पुरुष को भगवान् की ओर से सारी पृथ्वी के खजाने समर्पित किये गये और यह आज्ञा हुई कि तुम इन्हें स्वीकार करो तब उन्होंने प्रार्थना की कि मुझे इन पदार्थों की कोई अभिलाषा नहीं है, मैं तो यही चाहता हूँ कि कभी आहार मिल जाय और कभी भूखा ही रह जाऊँ तो अच्छा है, क्योंकि भूखा रहनेपर धैर्य और सहन- शीलता का अभ्यास होगा तथा आहार मिलनेपर आपका उपकार सामने आयेगा।

४. जिसे क्षुधा रहती है उसे क्षुधापीड़ितों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति खूब खाता-पीता है वह भूखों और अभावग्रस्तों को भूल जाता है तथा उसे परलोक के दुःखों का भी स्मरण नहीं रहता। किन्तु जो भूखा रहता है उसे परलोक के दुःखों का भी स्मरण रहता है। और उनका स्मरण रहना तथा दुखियों पर दया करना ये परम सुख के साधन हैं। एक बार किसी ने यूसुफ नाम के महापुरुष से पूछा था कि भगवान् ने आप को सारे संसार के भण्डार सौंप रखे हैं, फिर भी आप भूखे क्यों रहते हैं? इस पर उन्होंने कहा था कि पेट भर जाने से यदि मैं भूखे याचकों को भूल जाऊँगा तो मेरी बड़ी हानि होगी। इसीसे मैंने संयम और भूख को अंगीकार किया है।

५. मनका निग्रह सम्पूर्ण शुभ गुणों का मूल है। तथा मन के वशीभूत होना बड़ा भारी मन्द भाग्य है। जैसे कठोर प्रकृति का पशु बिना भूख कोमल नहीं होता वैसे ही मन भी संयम के बिना अपने अधीन नहीं होता। अतः मनको भोगों से वञ्चित कर देना ही परम लाभ है, क्योंकि पापों का मूल भोग हैं और भोगों का मूल आहार की पुष्टि है। जुलनून नामी सन्त ने कहा है कि जिस दिन मैंने अघाकर भोजन कर लिया उसी दिन निःसन्देह मुझसे

कोई पाप बना, अथवा पाप का संकल्प ही हो गया। यह बात प्रसिद्ध है कि आहार का संयम होनेपर व्यर्थ वचन और काम की प्रबलता दूर हो जाती है और जो पुरुष आहार का संयम नहीं करता उसपर वाद-विवाद, निन्दा-स्तुति अथवा काम आदि दोषों का आक्रमण हो जाता है। यदि कोई प्रयत्न करके अन्य इन्द्रियों को विकार से रोक भी ले तो भी नेत्रों को तो नहीं रोक सकता। और यदि नेत्रों को भी रोक ले तो भी चित्त के संकल्पों को रोकना तो सर्वथा असम्भव ही है। किन्तु संयम करनेपर स्वभाव से ही नेत्र तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं।

६. आहार का संयम होनेपर निद्रा भी कम हो जाती है। रात्रि का जागरण ही भजन, ध्यान और विचार का बीज है। किन्तु जो पुरुष अपने उदर को पुष्ट करता है वह तो निद्रा के वेग से मृतक के समान हो जाता है। उसे स्वप्न भी अच्छे नहीं होते, सन्तों ने कहा है कि आयु ही मनुष्य की पूँजी है और एक-एक श्वास रत्न के समान है, क्योंकि आयु होने पर ही वह परलोक का परम सुख प्राप्त कर सकता है। किन्तु अधिक सोने से आयु क्षीण हो जाती है और संयम करनेपर निद्रा का वेग क्षीण हो जाता है। अतः संयम ही उत्तम साधन है। आहार की पुष्टि होनेपर तो स्वप्न में भी कामादि विकार छल लेते हैं। उससे भी मन और शरीर मलिन हो जाते हैं, जिससे कि यह फिर भजन में तत्पर नहीं रह सकता।

७. संयमी पुरुष का समय कभी व्यर्थ नहीं बीतता तथा उसे व्यावहारिक विक्षेप भी बहुत कम होता है। जिस मनुष्य को खाने-पीने की विशेष तृष्णा होती है उसकी आयु का बहुत अधिक समय भोजन-सामग्री के जुटाने में ही बीत जाता है तथा वह सर्वदा अपने शरीर के पालन-पोषण की खटपट में ही लगा रहता है। आयु को ऐसी व्यर्थ चेष्टा में खोना बड़ी मूर्खता की बात है,

इसीसे अनेकों जिज्ञासु तो जौ के सत्तू खाकर सन्तोष कर लेते थे और सब प्रकार के जंजालों से मुक्त हो जाते थे। एक सन्त का कथन है कि अधिक आहार करने से छः गुणों का नाश होता है– (१) भजन का रहस्य अनुभव नहीं होता, (२) दूसरी बातों का स्मरण नहीं रहता, (३) दयाधर्म में कमी आ जाती है, (४) आलस्य बढ़ जाता है, (५) भोगों की आसक्ति बढ़ जाती है तथा (६) सर्वदा खाने और मल त्यागने की ही खटपट लगी रहती है।

८. जो संयम रखता है उसका शरीर नीरोग रहता है और वह वैद्यों की अधीनता तथा औषधियों की कटुता से मुक्त हो जाता है। आचार्यों और वैद्यों ने तो यही सिद्धान्त निश्चय किया है कि सम्पूर्ण रोगों का कारण आहार की अधिकता ही है और जिस क्रिया में सभी को लाभ है एवं किंचिन्मात्र भी दोष नहीं है वह आहार का संयम ही है। एक और बुद्धिमान् ने कहा है कि सब आहारों में अनार अत्यन्त पथ्य है और कठोर अन्न अत्यन्त कुपथ्य। परन्तु यदि कोई व्यक्ति अनार ही अधिक खाय तो वह कष्ट पायेगा और यदि कठोर अन्न भी स्वल्प मात्रा में ले तो स्वस्थ रहेगा।

९. संयमी पुरुष का निर्वाह थोड़ी जीविका से भी हो जाता है, वह धन की विशेष तृष्णा से मुक्त रहता है। संसार में सारे विघ्न, पाप और विक्षेप तो तृष्णा से ही होते हैं, क्योंकि जिसे तरह-तरह के रस और अधिक भोजन की अभिलाषा होती है उस की सारी आयु धनोपार्जन में ही बीतती है और धन का उपार्जन पाप के बिना होना कठिन है। इस विषय में एक बुद्धिमान् का कथन है कि मैं तो अपनी अभिलाषाओं को इस प्रकार पूर्ण करता हूँ कि मैं पहले ही उनकी वासना को त्याग देता हूँ। इसी से मैं तो निश्चिन्त और बड़े आनन्द में रहता हूँ।

१०. संयमी पुरुष का हृदय बड़ा उदार होता है, क्योंकि उसका

ऐसा निश्चय रहता है कि जिस पदार्थ से भी उदर-पूर्ति की जाती है वह तो मलिनता को ही प्राप्त होता है और जो भगवान् के लिये दान कर दिया जाता है वह निःसन्देह प्रभु के कर-कमलों में पहुँच जाता है। कहते हैं, एक बार महापुरुष ने किसी धनवान् को देखा उसका शरीर बहुत स्थूल था ; उसे देखकर कहने लगे कि जितना पदार्थ तूने पेट में डाला है वह यदि भगवान् को दे देता तो बहुत अच्छा होता।

(आहारसंयम की युक्ति)

जिज्ञासु को चाहिये कि पाप से रहित आहार ग्रहण करे तथा जैसे आहार की अधिकता दोषावह है वैसे ही अकस्मात् आहार कम कर देना भी अच्छा नहीं। उचित यह है कि धीरे-धीरे आहार को घटावे। क्रम से आहार को कम किया जायगा तो शरीर भी सुखी रहेगा। उत्तम पुरुषों की अवस्था तो यह है कि वे प्राणों के निर्वाह के लिये ही आहार ग्रहण करते हैं। किन्तु आहार की न्यूनाधिकता के विषय में भी भिन्न-भिन्न शरीरों का उनके समय और कार्य के अनुसार भिन्न-भिन्न ही अधिकार होता है। अतः सब बातों का तात्पर्य यही है कि बहुत डटकर भोजन न करे, थोड़ी क्षुधा शेष रहने दे। इस क्षुधा का लक्षण यह है कि भोजन कर चुकने पर भी इतनी भूख रह जाय कि रूखा भोजन भी ग्रहण किया जा सके। इसी से सुहेल नामी संत ने कहा है कि यदि सारा संसार पापमय हो जाय तो भी भगवत्प्रेमियों को शुद्ध जीविका ही प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि भगवत्प्रेमी शरीरनिर्वाह से अधिक स्वीकार ही नहीं करता। अतः जिन पुरुषों को परम पद की प्रीति उत्पन्न हुई है उन्होंने सब प्रकार के रसों का त्याग किया है और जो-जो मन की वासनाएँ हैं उनसे विपरीत होकर बर्ते हैं, क्योंकि जब यह मन अपनी वासना के अनुकूल भोगों को प्राप्त करता है

तो प्रमादवश मोहान्ध हो जाता है तथा इस संसार में जीवित रहना ही उसे अच्छा जान पड़ता है। अतः इस मन को संसार के भोगों से दूर रख कर अपने अधीन करे तथा वैराग्य को बढ़ाते हुए इस संसार को बन्दीगृह के समान समझे एवं शरीर छूटने में ही अपना छुटकारा माने। महापुरुष भी कहते हैं कि सबसे बुरे पुरुष वे ही हैं जिनका चित्त भोगों में आसक्त है और जो तरह-तरह के रसों और वस्त्रों की अभिलाषा करते हैं। इसी विषय में मूसा नामी महात्मा को आकाशवाणी हुई थी कि अन्त में तेरी स्थिति का स्थान श्मशान होगा, अतः तुझे अपने शरीर को भोगों से दूर रखना चाहिये। इसी से जिन पुरुषों को अपनी वासानाओं के अनुसार भोग प्राप्त होते हैं उन्हें महात्मा लोग मन्दभाग्य मानते हैं। एक सन्त का कथन है कि मैंने दो देवता आकाश से उतरते देखे। उनमें से एक ने कहा कि एक मनमुखी पुरुष ने मछली को फँसाने के लिये जाल डाला है, मैं उसके लिये मछली फँसाने के उद्देश्य से जा रहा हूँ। तथा दूसरे ने कहा कि एक भगवत्प्रेमी को घृत खाने की इच्छा हुई है। मैं उसके हाथ से घृत का पात्र गिराने के लिये जा रहा हूँ। इसी प्रकार उमर नामक सन्त को किसी ने मिश्री और शीतल जल दिया था। तब उन्होंने उसे अङ्गीकार नहीं किया। वे कहने लगे कि इन चीजों को मुझसे दूर रखो, नहीं तो परलोक में मुझे इनके लिये दण्ड भोगना होगा। एक सन्त के विषय में कहा जाता है कि वे आटा घोल कर खा लेते थे और जल के घड़े को धूप से उठा कर छाया में नहीं रखते थे। इसी प्रकार एक अन्य भगवत्प्रेमी को किसी वस्तु की इच्छा हुई। किन्तु जब विशेष प्रयत्न करनेपर वह प्राप्त हुई तो उन्होंने कहा कि इसे भगवान् के लिये उठा दो। लोगों ने उनसे पूछा कि आपको तो इसे पाने की बड़ी अभिलाषा थी। अब मिलने पर इसे स्वीकार क्यों नहीं करते? तब वे बोले कि मैंने महापुरुषों के मुख से ऐसा सुना

है कि जब इस मनुष्य को कोई भोगवासना उठे तो वह वस्तु प्राप्त होनेपर उसे भगवान् के लिये उठा दे। ऐसा करने से प्रभु उस पर दया करते हैं। इसी तरह एक जिज्ञासु को दूध पीने की इच्छा हुई, तो उन्होंने चालीस वर्ष तक उसे अङ्गीकार नहीं किया। तात्पर्य यह है कि परमार्थमार्ग में चलनेवाले जिज्ञासुओं का आचरण तो इसी प्रकार का रहा है। यदि कोई इस स्थिति को प्राप्त न कर सके तो भी कुछ भोगों का त्याग तो उसे करना ही चाहिये। अधिक स्निग्ध, अधिक मीठे और मांसादि रजोगुणी पदार्थों को तो त्याग ही दे। कहते हैं, इन मांसादि का सेवन करने से तो हृदय कठोर हो जाता है।

(प्रयत्न का रहस्य और गुरु-शिष्य का अधिकार)

याद रखो, संयम और प्रयत्न का तात्पर्य यही है कि मन कोमल और अपने अधीन हो। जब मन विचार की मर्यादा में स्थित हो जाय तब हठ या प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं रहती। इसीसे सद्गुरु शिष्य को यत्न और हठ करने का उपदेश करते हैं और स्वयं सहज वृत्ति में रहते हैं, क्योंकि उनका मन वास्तव में भोगासक्ति से मुक्त रहता है। विशेष यत्न करने का भी प्रयोजन यही होता है कि संयम करके सुखी रहे। ऐसी भूख भी न रखे कि वृत्ति अन्न की ओर ही खिंची रहे और भजन में भी विक्षेप हो तथा इतना डटकर भी न खाय कि आलस्य और प्रमाद बढ़ जाय। इस मनुष्य की पूर्णता तो इसी में है कि इसका स्वभाव देवताओं के समान हो। देवताओं का स्वभाव ऐसा होता है कि उन्हें न तो भूख का ही खेद होता है और न अधिक आहार का बोझा ही। किन्तु आरम्भ में इस मन का ऐसी साम्य स्थिति में रहना कठिन है, इसी से इसे हठ और प्रयत्न करते हुए संयत करना आवश्यक होता है। इस प्रकार यत्न करनेपर जब इसका मलिन

स्वभाव निवृत्त हो जाता है तभी यह समता को प्राप्त होता है। इसी से जिज्ञासु जनों ने सर्वदा अपने मन पर दोषदृष्टि रखी है और उसे वैराग्यरूपी पाश में फँसाया है। वे सर्वदा मन के स्वभाव को विचारसहित देखते रहते हैं, और जब पूर्ण पद को प्राप्त होते हैं तब समभाव में स्थित हो जाते हैं। इस विषय में यह दृष्टान्त है कि जब मारूफ़ करखी नामक सन्त के पास लोग अच्छा भोजन ले जाते थे तो वे उसे स्वीकार कर लेते थे और जब बशर-हाफ़ी सन्त के पास ऐसी कोई चीज ले जाते थे तो वे उसे कभी अङ्गीकार नहीं करते थे। एक बार लोगों ने मारूफ़करखी साहब से पूछा कि आपका स्वभाव ऐसा खुला हुआ किस कारण से है और वशरहाफ़ी इतने संकोची स्वभाव के क्यों हैं ? तब उन्होंने कहा कि वशरहाफ़ी वैराग्यवश विधि-निषेध का विचार करते हैं, इसीसे ये विहित को ग्रहण करते हैं और निषिद्ध को त्याग देते हैं किन्तु मैं ज्ञानप्रधान होने से ग्रहण-त्याग के बन्धन से मुक्त हूँ। मैं तो अपने को प्रभु के घर में अभ्यागत के समान समझता हूँ। यह सारा विश्व उनका घर ही है। अतः यहाँ जो कोई जो भी वस्तु देता है वह उनकी ओर से और उन्हीं की प्रेरणा से आती है। इसलिये प्रभु मुझे जो कुछ देते हैं वही मैं स्वीकार कर लेता हूँ और जब वे कुछ भी नहीं देते तब भी प्रसन्न रहता हूँ। इसी से मैं न तो कोई पदार्थ चाहता हूँ और न किसी के लिये निषेध करता हूँ।

किन्तु यह अवस्था अत्यन्त उत्कृष्ट और दुर्लभ है। यही मूर्खों के लिये पतन का स्थान भी है। मूर्ख लोग इस बात को सुनकर अपने को ज्ञानी मान लेते हैं और कहते हैं कि हमें ग्रहण-त्याग का कोई बन्धन नहीं है। किन्तु उनमें वैराग्य का बल तो रञ्चकमात्र भी नहीं होता, वे तो सर्वदा विषयों में ही आसक्त रहते हैं। इससे निश्चय तो यही होता है कि जिनका मन सब प्रकार के बन्धनों से

मुक्त है उन ज्ञानवानों से भी सहज ही में साधना होती रहती है। और ये महामूढ तो व्यर्थ ही अपने को ज्ञानी मानकर साधन और यत्न को छोड़ बैठते हैं। यहाँ जो मारूफ़ करखी की बात कही गयी है, सो उनकी तो ऐसी ऊँची स्थिति थी कि यदि कोई उनके हाथों को कष्ट देता था तो उसे भी वे भगवान् की ओर से ही समझ कर सर्वथा शीतलचित्त और खेदरहित रहते थे। तात्पर्य यह है कि जिनके चित्त इतने गम्भीर हैं उन्हीं को इस प्रकार भजन करना शोभा देता है। बशरहाफ़ी आदि जो सन्त हुए हैं उन्होंने अपने मन को प्रयत्न से कभी दूर नहीं किया, वे मन के स्वभावों से कभी निर्भय नहीं होते थे। यह बात वस्तुतः अत्यन्त कठिन है कि मन के अनुकूल रहे और ज्ञानवान् भी हो। तथा वैराग्य और अभ्यास को छोड़ बैठना तो अत्यन्त मूर्खता ही है।

(स्थूल भोगों के त्याग में विघ्न और उनकी निवृत्ति के उपाय)

अल्पबुद्धि जीवों को भोगों का त्याग करने में दो विघ्न उपस्थित होते हैं—पहला तो यह कि जब यह मनुष्य भोगों को त्यागने लगता है और उनके त्याग में अपने को असमर्थ पाता है तो उन्हें एकान्त में भोग लेता है और ऐसा प्रयत्न करता है कि लोग उसे भोगते हुए न देखें। इस प्रकार वह एकान्त में भोगलम्पट रहता है। तथा दूसरा विघ्न यह है कि वह अपने को वैराग्यवान् प्रकट करता है। यह भी केवल लम्पटता ही है। ये दोनों प्रकार के लोग ऐसा समझते हैं कि यदि हम इस प्रकार लोगों से छिपाकर भोगों का सेवन करेंगे तो इससे अन्य लोगों का तो भला ही होगा। ऐसा करने से हम तो निन्दा से बच जायँगे और दूसरे लोग धृष्टतापूर्वक आचरण नहीं करेंगे। यद्यपि उनका मन उन्हें ऐसा ही सिखाता है तथापि यदि विचार किया जाय तो यह है कोरा दम्भ ही। वास्तव में जिन लोगों का हृदय वैराग्य और सन्तोष के द्वारा शुद्ध है उनके तो ऐसे लक्षण देखे गये हैं कि वे लोगों के देखते हुए

ही खान-पान आदि की सामग्री अपने घर ले आते थे और उसे गुप्त रूप से भगवान् के लिये दूसरों को दे डालते थे। यही सच्चे हृदयवालों की स्थिति होती है। ऐसा आचरण करना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, तथापि यही तो निष्कामता की परीक्षा है कि ऐसा करने में किसी प्रकार का संकोच न हो। जब तक ऐसी अवस्था प्राप्त न हो, अर्थात् मन को इस प्रकार बर्तना सुगम, अत्यन्त साध्य एवं स्वाभाविक न ज़ान पड़े तब तक समझिये कि मान और कपट से छुटकारा नहीं मिला। और जिस मनुष्य के हृदय में मान की कामना रहती है उसके तो सब काम और भजन मान ही के लिये होते हैं तथा वह मान ही का दास है।

किन्तु जो मनुष्य आहारादि का संयम करके भी मान की वासना में आसक्त हो वह तो ऐसा ही है जैसे कोई मेघ की बूँदों से बचने के लिये भागकर पतनाले के नीचे बैठ जाय। ऐसा पुरुष तो मूर्ख ही कहलाता है। अतः जिज्ञासु को जब अपने में मान की वासना दिखायी दे तो दूसरे लोगों के देखते हुए थोड़ा सरस भोजन भी स्वीकार कर ले। परन्तु तृष्णापूर्वक अधिक न खाय। ऐसा करने से मान का क्षय होगा और भोगों से भी मुक्त रहेगा।

(कामादि विघ्न और उनकी निवृत्ति)

भगवान् ने मनुष्य में कामादि की वासना जगत् की उत्पत्ति को चालू रखने के लिये रखी है। किन्तु यह वासना जितनी ही प्रबल होती है उतनी ही अधिक विघ्न करनेवाली है। वे विघ्न साधक के चित्त को अत्यन्त आवृत कर लेते हैं। कहते हैं, एक बार मूसा नामक महापुरुष ने कलियुग से पूछा कि तेरा अधिक निवास किस स्थान में रहता है। उसने कहा, "जहाँ स्त्री और पुरुष एकान्त में मिलकर बैठते हैं वहीं मेरा सबसे अधिक निवास है। अतः आपको एकान्त में स्त्रियों के साथ नहीं मिलना चाहिये।

ऐसे स्थानमें मैं निःशंक होकर उत्पात और विघ्न उपस्थित कर देता हूं।" परन्तु कुछ लोग तो ऐसे मूर्ख होते हैं कि कामोद्दीपन के लिये बलदायक ओषधियाँ सेवन करते हैं। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई बर्र और ततैयां के छत्ते को उनका तमाशा देखने के लिये हिलावे। ऐसा मनुष्य अत्यन्त बुद्धिहीन माना जायगा। इसी प्रकार जो पुरुष ऐसे विकारों को उत्पन्न करके दुःख मोल लेता है वह महा मूर्ख है। ऐसे विकारों के उत्पन्न होनेपर तो स्वभाव से ही मनुष्य दुराचारादि अपकर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसा होने-पर उससे और भी अनेकों पाप बनने लगते हैं।

अतः जिज्ञासु को आरम्भ में ही काम का मार्ग रोक देना चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो निःसन्देह विकारों की प्रबलता होगी। वह काम की उत्पत्ति का मार्ग है नेत्रों की दृष्टि। यदि अकस्मात् नेत्रों की दृष्टि किसी आकर्षक रूप पर पड़ जाय तो फिर उसे प्रयत्नपूर्वक रोक लेना चाहिये। इससे कामविकार को रोकना सुगम हो जायगा। यदि इस प्रकार नेत्रों को नहीं रोका जायगा तो पीछे मन को रोकना कठिन होगा, क्योंकि यह मन हठी घोड़े के समान है। यदि घोड़ा दूसरी ओर जाना चाहता है तो उसे सावधानी से आरम्भ में रोक लेना तो सुगम है, किन्तु जब वह जोर लगाकर हाथ से निकल जाता है तब फिर पकड़ में नहीं आता। इसी प्रकार मन को रोकने का मार्ग भी नेत्र ही हैं। एक सन्त का कथन है कि महात्मा दाऊदजी भी नेत्रोंद्वारा ही छले गये थे। इसी से उन्होंने अपने पुत्रों को यह उपदेश दिया था कि एक बार विशाल अजगर और सिंह के सम्मुख जाने में कोई हानि नहीं, किन्तु स्त्री के सामने कभी नहीं जाना चाहिये। इसी से महापुरुष ने भी कहा है कि स्त्रियों का रूप देखना ऐसा है कि जैसे किसी के शरीर में विष में बुझा हुआ बाण लग जाय। अतः जो पुरुष अपने नेत्रों को रोके रहता है उसी के हृदय में भजन का रहस्य

प्रकट होता है। इसके सिवा ऐसा भी कहा है जैसे उपस्थेन्द्रिय के द्वारा काम का भोग होता है वैसे ही नेत्रेन्द्रिय भी कामोपभोग का साधन है। पर जो पुरुष नेत्रों को न रोक सके उसे तप और व्रतों के द्वारा अपने शरीर के बल का ह्रास करना चाहिये। और यदि ऐसा करने में भी समर्थ न हो तो विवाह करके गृहस्थाश्रम का पालन करे। इसी में उसकी भलाई है।

पर यह सब तो मैंने स्त्रियों के संग की निन्दा के विषय में कहा। इसके सिवा रूपवान् लड़कों की ओर देखना भी बड़ा विघ्न है। जिसके चित्त में उन्हें देखने की अभिलाषा बढ़ने लगती है वह पुरुष भी पापों के समुद्र की ओर बह जाता है और किसी प्रकार निर्दोष नहीं रह सकता। निर्दोष तो वही रह सकता है जो पुरुष रूप को देखकर स्पर्श के विकार से विरक्त रहे, जिस प्रकार कि पुष्पादि या चित्रकारी की सुन्दरता को देखकर ही चित्त प्रसन्न हो जाता है, उसमें किसी प्रकार का कामविकार नहीं फुरता। सो स्त्री या बालक के रूप को देखनेपर भी इसी प्रकार निर्विकार रहना किसी बिरले पुरुष का ही काम है। इसी से किसी सन्त ने कहा है कि जिज्ञासुजन जिस प्रकार रूपवान् लड़कों से भय मानते है वैसा गरजते हुए सिंह से भी नहीं डरते।

(कामवेग को रोकने की महिमा)

याद रखो, जिस भोगकी जितनी प्रबलता होती है उतनी ही उसके वेग को तोड़ने की विशेषता भी मानी जाती है। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि काम की वासना बड़ी प्रबल होती है। तथा इसमें प्रवृत्त होना बहुत बुरा है। जो लोग कामचेष्टाओं से बचे हैं उनमें अधिकांश तो ऐसे लोग हैं जो लोकलाज, राजदण्ड, अथवा असमर्थता के कारण अपने को रोके रहते हैं। अतः उन्हें इसका विशेष फल प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वे तो लोगों के भय से ही संकोच करते हैं, उनके चित्त में भगवान् का भय नहीं होता

तथापि यदि कोई असमर्थता अथवा लज्जावश भी पाप से बचा रहे तो अच्छा ही है, क्योंकि इससे परलोक में दुःख भोगने से बच ही जाता है। किन्तु जो किसी और हेतु से नहीं, बल्कि भगवान् से भय मानकर ही पापकर्मों को त्यागता है उसे उसका विशेष फल प्राप्त होता है। इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं, यूसुफ नाम के एक सन्त अत्यन्त सुन्दर थे। उनको जुलेखा नाम की एक स्त्री ने मोहित करना चाहा। परन्तु उन्होंने कामवेग को परास्त करके उसका प्रयत्न व्यर्थ कर दिया। इससे उन्हें बहुत उत्तम पद प्राप्त हुआ। इसके सिवा एक कथा और भी है। एक बार दो भगवत्प्रेमी किसी देश को जा रहे थे। मार्ग में उनमें से एक किसी कार्य से नगर में गया और दूसरा आसन पर बैठा रहा। दैवयोग से वहाँ एक सुन्दरी स्त्री आयी और उसे अपनी चपलता दिखाने लगी। इससे वह भगवत्प्रेमी सिर नीचा करके रोने लगा। अतः वह स्त्री लज्जित होकर चली गयी। जब दूसरा साथी नगर से आया तो उसने उसके रोने का कारण पूछा। उसने पहले तो यह बात प्रकट न की। किन्तु जब उसने विशेष आग्रह किया तो सब बात स्पष्ट बता दी। सुननेपर वह भी रोने लगा। तब पहले प्रेमी ने पूछा कि भाई, क्यों रोते हो? उसने कहा, "भाई, जिस प्रकार तुमने अपने को स्त्री के छल से बचा लिया है, उस प्रकार मैं अपने को बचाने में असमर्थ हूँ, इसी से रोता हूँ।" रात्रि को जब वे सो गये तो स्वप्न में उन्हें आकाशवाणी हुई कि तुमने अपने को यूसुफ की तरह बचा लिया है, अतः तुम धन्य हो।

एक प्रसंग और भी है। एक बार तीन मनुष्य मार्ग में जा रहे थे। रात्रि के समय वर्षा से बचने के लिये वे एक पहाड़ की कन्दरा में घुस गये। दैवयोग से पहाड़ के शिखर से एक बहुत बड़ा पत्थर गिरा और उसने कन्दरा के द्वार को बन्द कर दिया। अब, वे तीनों बड़े व्याकुल हुए और अपने-अपने पुण्यों को याद

करके भगवान् से प्रार्थना करने लगे। एक ने कहा, "प्रभो ! आपकी आज्ञानुसार मैं अपने माता-पिता की बहुत सेवा करता था। एक बार मैं माता जी के लिये दूध से भरा कटोरा ले गया। किन्तु वे सो चुकी थीं। तब मैं कटोरा लिये उनके जागने की प्रतीक्षा में खड़ा रहा और मैंने भोजन भी नहीं किया। अन्तर्यामिन् ! आप यह सब जानते ही हैं। अतः आप हमें इस गुफा में से निकलने का मार्ग दीजिये।" इस पर कन्दरा के द्वार से वह पत्थर कुछ खिसक गया। किन्तु इतना मार्ग नहीं हुआ कि वे उस से निकल सकें। तब दूसरे ने कहा, "भगवन् ! आप यह जानते हैं कि एक बार मेरे पास एक मजदूर की मजदूरी रह गयी थी। तब मैंने उसकी एक बकरी ली। उसका इतना परिवार बढ़ा कि उसी को बेचकर मैंने बहुत से पशु खरीद लिये। पीछे बहुत दिनों पश्चात् जब वह मजदूर आया तो मैंने सब पशु उसी को दे दिये। उस पुण्य के प्रताप से आप हमें इस गुफा से निकलने का मार्ग दीजिये।" इस पर वह पत्थर कुछ और खिसक गया। किन्तु उनके बाहर आने योग्य मार्ग अब भी नहीं खुला। तब तीसरे ने कहा "प्रभो ! आप जानते हैं कि अमुक स्त्री के प्रति मेरा बड़ा राग था। किन्तु वह मुझे प्राप्त नहीं होती थी। एक बार जब दुर्भिक्ष पड़ा और उसके कुटुम्बी भूख से व्याकुल हो गये तब मैंने उसे धन का लोभ देकर अपने अनुकूल किया। किन्तु जब मैं उसके समीप गया तो वह बोली कि तुम्हें क्या भगवान् का कुछ भी भय नहीं है। इससे मुझे आपका बड़ा त्रास हुआ और आपको सर्वव्यापक एवं समदर्शी जानकर मैंने उसे त्याग दिया। प्रभो ! इस पुण्य के प्रताप से आप हमें मार्ग दीजिये।" बस, अबकी बार वह पत्थर कन्दरा से दूर हट गया और तीनों व्यक्ति बाहर निकल आये।

(स्त्री और बालकों को कुदृष्टि से देखने का निषेध)

यह कामवासना जब प्रबल हो जाती है तो इसे तोड़ना बहुत

कठिन हो जाता है। अतः आरम्भ से ही अपनी दृष्टि का संयम करना चाहिये। एक सन्त का कथन है कि स्त्रियों के तो वस्त्र देखने से ही काम उत्पन्न हो जाता है। अतः जिज्ञासु को उनके वस्त्र भी नहीं देखने चाहिये। इसके सिवा स्त्रियों के साथ बोलना, उनकी वाणी सुनना, उनके निवासस्थान पर जाना और उनके साथ हँसी करना इत्यादि सारे व्यवहार तो अत्यन्त निन्दनीय हैं। तात्पर्य यह है कि काम का मूल रूप है, अतः रूप से आकर्षित होकर किसी की ओर देखना उचित नहीं। हाँ, यदि बिना संकल्प किये मार्ग में अथवा किसी अन्य स्थान पर अकस्मात् किसी पर दृष्टि पड़ जाय तो उसमें दोष नहीं। परन्तु फिर दूसरी बार उसे रागपूर्वक देखना निःसन्देह पाप है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि पहली बार तो दृष्टि स्वाभावतः पड़ती है, किन्तु दूसरी बार देखना दण्ड का कारण है। तात्पर्य यह है कि स्त्री-पुरुषों का संसर्ग सब प्रकार विघ्नों का ही बीज है। किन्तु कुछ स्थान तो ऐसे होते हैं कि जहाँ निश्चय ही स्त्रियाँ मिलती है, जैसे नृत्य या गान के स्थान, विवाह की जगह अथवा मेले और खेल-तमाशे के स्थान। वहाँ जिज्ञासु को नहीं जाना चाहिये। ये स्थान उसके लिये निन्दनीय हैं। इसके सिवा स्त्रियों के वस्त्र, हार अथवा माला आदि भी धारण न करे और न उन्हें सूँघे ही। स्त्रियों की कोई भी वस्तु स्वीकार न करे और न प्रीतिवश उन्हें कुछ दे ही। महापुरुष ने भी कहा है कि स्त्रियों के साथ कभी मीठी-मीठी बातें न बनावे क्योंकि यदि रास्ते में भी किसी स्त्री या बालक से मिलाप हो जाता है तो मनमें यही संकल्प होता है कि इसे देखना ही चाहिये। उस समय जिज्ञासु को यही पुरुषार्थ करना उचित है कि मन के साथ युद्ध करे और उसे समझावे कि इसकी ओर देखने से मुझे पाप लगेगा और मैं भगवान् से विमुख हो जाऊँगा। इस प्रकार विचार करके यदि मन को रोक ले तो अच्छा ही है।

तीसरी किरण

मौन की महिमा तथा अधिक बोलने के विघ्नों का वर्णन

भगवान् ने यह जिह्वा भी अत्यन्त आश्चर्यरूप बनायी है। यह देखने में तो एक मास का टुकड़ा है, किन्तु पृथ्वी और आकाश में जो कुछ सृष्टि है उस सभी में इसका प्रवेश है। यही नहीं, जो पदार्थ अरूप और अदृश्य हैं उनका भी यह वर्णन करती है। अतः जिह्वा को बुद्धि की मन्त्री कहा है। तात्पर्य यह कि जैसे कोई भी पदार्थ बुद्धि की पहिचान से बाहर नहीं है। वैसे ही जिह्वा भी सभी पदार्थों का वर्णन करती है। इसके सिवा अन्य इन्द्रियों की ऐसी योग्यता नहीं है जो सभी कार्यों में प्रवेश पा सकें। जैसे नेत्र केवल आकार को देख सकते हैं, कर्ण केवल शब्द सुन सकते हैं तथा अन्य इन्द्रियाँ भी केवल एक-एक कार्य ही कर सकती हैं। किन्तु यह जिह्वा ऐसी है जो नेत्र, श्रवण आदि सभी अंगों के भेदों का वर्णन कर सकती है। जिस प्रकार जीव की चेतनता सब अंगों में व्याप्त है वैसे ही यह जिह्वा जीव के सभी सङ्कल्पों को प्रकट करती है। यह जैसे वचनों का उच्चारण करती है। वैसा ही भाव हृदय में प्रवेश कर जाता है। जब यह अधीनता और वियोग की बातें करती है तो हृदय कोमल हो जाता है और नेत्रों से आँसू झरने लगते हैं। और जब यह प्रसन्नता प्रकट करती है अथवा किसी की प्रशंसा करने लगती है तो स्वभाविक ही उसके प्रति रुचि

हो जाती है। इसी प्रकार जब जिह्वा से झूठ और अश्लील शब्दों का उच्चारण होता है तो हृदय मलिन हो जाता है और जब शुभ वचनों का उच्चारण होता है तो हृदय में सात्त्विकी भाव का उदय होने लगता है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि जब तक मनुष्य का हृदय शुद्ध नहीं होता तबतक उसका धर्म भी दृढ़ नहीं होता और जब तक जिह्वा (वाणी) सरल एवं सच्ची नहीं होती तबतक हृदय भी शुद्ध नहीं होता। अतः वाणी के पाप और विघ्नों से भय मानना धर्म की दृढ़ता का कारण है। इसी से अब आगे हम पहले तो मौन की विशेषता कहेंगे और फिर वाणी के पाप जो झूठ, निन्दा, विवाद और दुर्वचन आदि हैं उनका वर्णन करेंगे। तथा इनसे बचने के उपायों का भी पृथक्-पृथक् निरूपण किया जायगा।

निश्चय जानो, इस बोलने में इतने पाप हैं कि उनसे अपनी रक्षा करना बहुत ही कठिन है। अतः उनसे बचने का सबसे अच्छा उपाय मौन ही है। अतः मनुष्य को चाहिये कि बिना आवश्यकता कोई बात न बोले। इसी से सन्तों ने कहा है कि जिनके आहार, परदोषवर्णन और भाषण संयमसहित होते हैं वे निःसन्देह सिद्ध पदवी प्राप्त करते हैं। प्रभु का भी कथन है कि अधिक बोलने से कभी भलाई नहीं होती। अतः केवल किसी का उपकार करने, दान देने अथवा विरोध निवृत्त करने के लिये ही बोलना अच्छा है। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि जिसे भगवान् ने वाणी, उदर और कर्मेन्द्रियों की बाधाओं से बचाया है वह मुक्तरूप ही है। एक बार किसी भगवत्प्रेमी ने महापुरुष से पूछा था कि सर्वश्रेष्ठ आचरण क्या है ? तब उन्होंने संकेतद्वारा बताया कि मौन ही सब से श्रेष्ठ आचरण है। इसके सिवा यह भी कहा है कि मौन और कोमल स्वभाव सुखपूर्वक होनेवाला भजन है। तथा ऐसा भी कहते हैं कि कोई अधिक बोलता है तो उसका हृदय कठोर हो जाता

है और यह पापरूप ही है, तथा जो पापरूप हो वह तो अग्नि में जलानेयोग्य होता है। इस विषय में एक बात प्रसिद्ध है। कहते हैं, किसी सभा में कुछ वाग्विलास हो रहा था। वहाँ एक भगवत्प्रेमी मौन हुए बैठे थे। जब और सबने उनसे पूछा कि आप क्यों नहीं बोलते तो उन्होंने कहा, "मैं यदि झूठ बोलूँ तब तो भगवान् से डरता हूँ और यदि सच कहूँ तो आप लोगों से भय है, इसलिये मौन हूँ।"

अतः मौन की विशेषता इसी से कही है, बोलने से अनेकों पाप उत्पन्न हो जाते हैं और जिह्वा सर्वदा व्यर्थ भाषण में आसक्त रहने लगती है। इसके सिवा न बोलने में किसी प्रकार के प्रयत्न की भी अपेक्षा नहीं होती और मन को भी प्रसन्नता प्राप्त होती है। तथा वाणी के गुण-दोषों का विवेचन करना भी कठिन ही है। इसी से कहा है कि मौन रहनेपर मनुष्य सब प्रकार के क्लेशों से छुटकारा पा लेता है तथा इससे पुरुषार्थ और एकाग्रता में भी वृद्धि होती है एवं सुगमता से भजन में स्थिति हो जाती है।

याद रखो, वचन चार प्रकार का होता है--(१) जो विघ्नरूप है, जैसे निन्दा और झूठ (२) जिसमें गुण और दोष मिले हुए हैं जैसे बिना प्रयोजन किसी की बात पूछनी। (३) जो गुण और दोष से रहित है, जैसे व्यर्थ बात-चीत करना। इसमें सबसे बड़ी हानि यही है कि समय व्यर्थ नष्ट होता है। और (४) जो सब प्रकार गुणरूप है, जैसे किसी को सुख पहुँचाने के लिये कोई बात कहना। इन चार प्रकार के वचनों में पहले तीन विघ्न हैं। अतः जिज्ञासु को केवल चौथे प्रकार का वचन बोलना चाहिये। किन्तु जो पुरुष मौन है वह तो सभी प्रकार के विघ्नों से छूटा हुआ है।

मनुष्य स्वभाव से वाणी के सब विघ्नों को नहीं पहिचान सकता। इसलिये मैं उनका पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिपादन करता हूँ। वे सब विघ्न पन्द्रह हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है-

१. जिस बात में तुम्हें कुछ भी प्रयोजन न हो उसे करना अत्यन्त निन्दनीय है। तात्पर्य यह है कि जिस बात से तुम्हारा व्यवहार या परमार्थ कुछ भी सिद्ध न होता हो उसे बोलने से सत्त्वगुण का सुख नष्ट हो जाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी सभा में जाय और वहाँ सुनाने लगे कि मैं अमुक देश में गया था और वहाँ ऐसे-ऐसे नगर, पर्वत और खान-पान आदि देखे—तो यद्यपि उसका कथन सत्य ही होगा तथापि इससे उसका या किसी दूसरे का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिये यह व्यर्थ वचन कहलाता है। अतः इसे त्यागना चाहिये। अथवा यदि किसी से बिना ही प्रयोजन कोई प्रश्न करे तब वह भी व्यर्थ ही होता है। व्यर्थ उसे कहते हैं जिसमें कोई दोष भी न हो और कोई कार्य भी सिद्ध न होता हो। इसी प्रकार यदि कोई पूछे कि तुमने व्रत रखा है या नहीं ? तो उसका उत्तर देनेवाला 'मैं व्रती हूँ।' ऐसा कहनेपर तो अभिमान का दोषी होगा और यदि कहे कि मैंने व्रत नहीं रखा तो मिथ्याभाषी होगा। अथवा व्रत न रखनेपर भी यदि संकोचवश कह दे कि मैंने व्रत रखा है तो उसे पाप ही लगेगा। ये सारे दोष उसे पूछनेवाले के प्रश्न के कारण ही लगेंगे अतः ऐसी बात किसी से पूछनी ही नहीं चाहिये। इसी प्रकार यदि किसी से पूछा जाय कि तुम कहाँ से आते हो, कहाँ जाते हो, अथवा क्या करते हो ? और वह ये बातें स्पष्ट बताना न चाहता हो तो उस समय वह जो झूठ बोलेगा उसका पाप उसे तुम्हारे ही कारण लगेगा। कहते हैं, एक बार हकीम लुकमान दाऊद नामक महापुरुष के पास गये थे। वे उस समय लोहे का कवच बना रहे थे। लुकमान के मन में यह पूछने का संकल्प हुआ कि आप यह क्या बना रहे हैं। किन्तु शील-संकोचवश उन्होंने यह बात पूछी नहीं। जब उन्होंने कवच बना लिया तो उसे गले में डाल कर बोले, 'यह युद्ध के समय का अच्छा पहरावा है।' तब लुकमान ने निश्चय

किया कि मौन बहुत अच्छी चीज है, इसके कारण किसी में आसक्ति नहीं होती। इसके विपरीत जब मनुष्य बिना प्रयोजन ही किसी से प्रश्न करता है और यह सोचता है कि इसका भेद जान कर मैं इसके साथ मेल-जोल बढ़ाऊँ तो यह सब उनकी बुद्धि-हीनता ही है। मनुष्यों को ऐसी व्यर्थ प्रवृत्ति से बचने के लिये काल को सर्वदा अपने सिर पर देखना चाहिये और यह समझना चाहिये कि इस लोक में एक वार भगवान् का नाम लेना ही बड़ा भारी लाभ है। उस खजाने को मैं व्यर्थ वाद-विवाद में समय खोकर क्यों नष्ट करूँ। ऐसा करने से तो मेरी बड़ी भारी हानि होगी। किन्तु यह उपाय यथार्थ बुद्धि प्राप्त होने पर ही होता है। इसके लिये जिज्ञासु को उचित है कि एकान्त में जाकर रहे। ऐसा करने से भी वाद-विवाद से छुटकारा मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि एक वचन से निर्वाह हो सकता हो तो दो वचन न बोले। इस विषय में एक भगवत्प्रेमी का कथन है कि मेरे हृदय में यदि कोई अत्यन्त मधुर विषय फुरता है तो भी मैं बोलता नहीं, क्योंकि मुझे यह शंका रहती है कि कहीं अधिक न बोल जाऊँ। महापुरुष ने भी कहा है कि श्रेष्ठ पुरुष वह है जो धन की थैली की गाँठ तो खोले रखता है किन्तु वाणी को बन्धन में रखे हुए है।

२. मिथ्या और पापमय वचन बोलना दूसरा विघ्न है। लड़ाई-झगड़े की चर्चा अथवा दुराचारी पुरुषों के व्यवहार की बात-चीत ये सब पापमय वचन ही हैं, क्योंकि पहले जो हमने व्यर्थ विवाद के विषय में निर्णय किया है, ये बातें इसकी कोटि में नहीं गिनी जा सकतीं, ये तो उससे बहुत नीची कोटि की हैं। इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि जब यह पुरुष निःशंक होकर बोलता है और उस वचन की बुराई को नहीं समझता तब उस बोलने के कारण ही नरकगामी हो जाता है। और जब भगवान् का भय

रखकर बोलता तथा विचारपूर्वक इस रहस्य को भी जान लेता है तो निःसन्देह परमानन्द प्राप्त करता है।

३. किसी मनुष्य के कोई बात कहने पर उसे काट देना तीसरा विघ्न है। यह स्वभाव बहुत निन्दनीय है। किन्तु बहुत मनुष्यों की ऐसी आदत होती है कि जब कोई कुछ बोलता है तो झट कह उठते हैं कि यह बात ऐसी नहीं है। विचार किया जाय तो उनके इस कथन का यही अर्थ हुआ कि तुम मूर्ख और मिथ्यावादी हो तथा मैं बड़ा बुद्धिमान् और सत्यवक्ता हूँ। अतः ऐसा कहने से क्रोध और अहंकार जो अत्यन्त मलिन स्वभाव हैं, उन्हीं की वृद्धि होती है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जो पुरुष किसी की बात को नहीं काटता और कभी व्यर्थ वचन भी नहीं बोलता वह परम सुख प्राप्त करता है। ऐसे स्वभाव की विशेषता इसलिये बतायी गयी है कि किसी अच्छे या बुरे शब्द को धैर्यपूर्वक सह लेना बड़ा कठिन काम है। साथ ही, यह भी कहा है कि इस पुरुष का धर्म तभी दृढ़ होता है जब स्वयं सच्चा होनेपर भी किसी की बात को काटे नहीं। बात काटने का तात्पर्य यह है कि जब कोई कहे कि यह अनार खट्टा है और तुम कहने लगो, 'नहीं, यह तो मीठा है।' और जब कोई कहे कि अमुक गाँव पाँच कोश है और तुम कहने लगो, 'नहीं, छः कोश है।' ऐसा करना बड़ा भारी पाप है, क्योंकि किसी की बात का खण्डन करना उसका दोष प्रकट करने के समान होता है और इससे वचनद्वारा उसे दुःख पहुँचता है। अतः जिज्ञासु को तो सब प्रकार मौन ही रहना चाहिये। इस प्रकार एक-दूसरे का खण्डन करने से तो परस्पर झगड़ा हो जाता है। यदि अपने प्रति तुम्हें किसी की श्रद्धा जान पड़े तो उसे एकान्त में समझा सकते हो। और यदि श्रद्धा न हो तब तो मौन रहना ही अच्छा है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जब यह पुरुष मतों और पन्थों के वाद-विवाद में पड़

जाता है तब तत्काल अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उचित अथवा अनुचित कैसी भी बात सुनकर मौन रहना बड़ा भारी पुरुषार्थ है। इस विषय में एक प्रसंग है कि कोई जिज्ञासु संसार को त्यागकर एकान्त में रहने लगा। तब किसी ने उससे पूछा कि तू लोगों के पास क्यों नहीं आता? उसने कहा, "मैं अपने को संसार के झंझटों से बचाये रखना चाहता हूँ।" इस पर उस बुद्धिमान् ने कहा है कि यदि तू लोगों के पास आवे और उनकी अनुकूल-प्रतिकूल बातें सुनकर धैर्यपूर्वक मौन रहे तो यह तेरा विशेष पुरुषार्थ होगा। इसके सिवा कोई लोग तो ऐसे होते हैं कि वे अपना मान बढ़ाने के लिये ही दूसरे के मत का खण्डन करते हैं और कहते हैं कि यह हमारी सुदृढ़ धर्मनिष्ठा है। किन्तु वास्तव में यह है बड़ी मूर्खता की बात।

४. धन के लिये किसी से झगड़ा करना और फिर राज-दरबार में जाकर अभियोग चलाना—यह चौथा विघ्न है। सन्तों का कथन है कि धन के लोभ से किसी के साथ झगड़ा करने में मनुष्य को जैसा विक्षेप होता है वैसा और किसी कारण से नहीं होता, क्योंकि इस प्रकार के झगड़े का निर्वाह कटु वचन और वैर भाव के बिना नहीं होता। अतः जिज्ञासुजन प्रयत्न करके आरम्भ से ही ऐसे व्यवहार त्याग देते हैं।

५. मुख से दुर्वचन बोलना—यह पाँचवाँ विघ्न है। इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि कुछ लोग नरक में अत्यन्त दुःखी होंगे और पुकार करेंगे। तब नारकी जीव पूछेंगे कि ये कौन महापापी हैं। उस समय देवतालोग कहेंगे कि ये मनुष्य सर्वदा दुर्वचन ही बोलते थे और अश्लील वाक्यों में ही इनकी विशेष रुचि थी। एक अन्य स्थान पर महापुरुष ने कहा है कि अपने माता-पिता को गाली मत दो। तब किसी ने पूछा कि अपने माता-पिता को कौन गाली देता है? इस पर महापुरुष ने कहा कि

जब कोई पुरुष किसी दूसरे व्यक्ति के माता-पिता के लिये दुर्वचन कहता है तो बदले में वह भी इसके माता-पिता के लिये दुर्वचन बोलता है। यहाँ विचार करके देखा जाय तो यही अपने माता-पिता के लिये गाली दे रहा है। अतः उचित यह है कि जब अवश्य ही कोई बुरी बात बतानी हो तो उसे खुले शब्दों में न कहे, केवल संकेत से ही उसे सूचित कर दे।

६. किसी को धिक्कारना—यह छठा विघ्न है। यह भी अत्यन्त निन्दनीय है। मनुष्य का, किसी पशु या जड़ पदार्थ को भी धिक्कारना बुरी बात है। महापुरुष का कथन है कि भगवत्प्रेमी कभी किसी को नहीं धिक्कारते। एक भगवत्प्रेमी ने कहा है कि जब यह मनुष्य पृथ्वी या किसी भी पदार्थ को धिक्कारता है तो वह यही कहता है कि हम दोनों में जो भगवान् से विशेष विमुख और अधिक पापी हो उसी को धिक्कार है। हाँ, जब ऐसा कहे कि जो अपकर्मी और दूसरों को दुःख देनेवाले हैं उन्हें धिक्कार है, तथा किसी जाति-पाँति या पन्थ का नाम न ले, तो ऐसा कहने में आपत्ति नहीं। किन्तु फिर भी विचार करके देखा जाय तो अपकर्मियों को धिक्कारने की अपेक्षा भी भगवान् का नाम लेना ही अच्छा है।

७. रूप और शृंगारसम्बन्धी कविता करना—यह सातवाँ विघ्न है। रूपवानों की स्तुति करना भी अच्छी बात नहीं, क्यों कि ऐसी कविता में झूठ ही अधिक होता है। इसके सिवा ऐसा कहने और सुननेवाले का चित्त भी चञ्चल होता है। हाँ, यदि निर्मान होकर भगवान् और सन्तजनों की स्तुति करे तो अच्छा ही है।

८. आठवाँ विघ्न है हँसी। महापुरुष ने जिज्ञासुजनों को हँसी करने के लिये मना किया है। किन्तु यदि अकस्मात् किसी को प्रसन्न करने के लिये हँसी की बात कही जाय तो कोई बुराई नहीं।

पर ऐसा करना भी तभी उचित है जब हँसी करने का स्वभाव न पड़े और मिथ्या भाषण भी न हो तथा ऐसा करने से किसी के चित्त को खेद भी न हो। जब मनुष्य को हँसी करने का विशेष स्वभाव पड़ जाता है तो उसकी आयु व्यर्थ ही बीत जाती है, उस का हृदय अन्धकारमय हो जाता है, उसकी गम्भीरता नष्ट हो जाती है तथा हँसी-हँसी में कभी अकस्मात् तमोगुण भी उत्पन्न हो जाता है। इसीसे संतजनों ने अधिक हँसी करने का निषेध किया है। महापुरुष ने भी कहा है कि जिस प्रकार मैं भगवान् की महिमा और निरपेक्षता को जानता हूँ उसी प्रकार यदि तुम भी जान जाओ तो हँसी छोड़कर रोते ही रहोगे। एक भगवत्प्रेमी ने किसी अन्य प्रेमी से पूछा था कि क्या तुम्हें नरक के दुःखों का निःसन्देह पता है ? उसने कहा, "हाँ, मुझे पता है।" फिर उसने पूछा कि क्या तुम ऐसा समझते हो कि मैं उनसे छूट जाऊँगा। उसने कहा, "यह तो मैं नहीं जानता।" इस पर वह बोला, "जब ऐसी बात है तो तुम्हें प्रसन्नता और हँसी कैसे आती है ?" इसी निमित्त से एक जिज्ञासु चालीस वर्ष तक नहीं हँसा और परलोक के भय को ही स्मरण करता रहा। एक सन्त का कथन है कि जो पुरुष पाप करके भी इस लोक में हँसता है वह निःसन्देह नरक में बहुत रोवेगा। एक सन्त ने ऐसा भी कहा है कि जैसे स्वर्ग में रोना आश्चर्य है वैसे ही संसार में हँसना आश्चर्य है, क्योंकि यह मनुष्य तो इतना भी नहीं जानता कि मैं परलोक में स्वर्ग को प्राप्त होऊँगा या नरक को। इसी पर एक सन्त ने कहा है कि भगवान् का भय करके हँसी से दूर रहो, क्योंकि हँसी से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से अनेकों अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं। इसी से महापुरुष की सारी आयु में जीवों की प्रसन्नता के लिये बहुत थोड़ी हँसी की बात आयी है। जैसे एक बार उन्होंने किसी वृद्धा स्त्री से कहा कि कोई बूढ़ा आदमी स्वर्ग में नहीं जा सकेगा। इस

पर वह रोने लगी, तब उसे समझाते हुए कहा, "तू रोवे मत" क्योंकि जब कोई-मनुष्य स्वर्ग में जाता है तो पहले उसे युवा बना लिया जाता है।" इसी प्रकार एक बार एक स्त्री ने महापुरुष से कहा है कि आप को मेरे पतिदेव प्रसाद पाने के लिये बुलाते हैं। तब महापुरुष ने कहा, "तेरा पति वही है न, जिस की आँखों में सफेदी है?" स्त्री ने कहा, "नहीं, उनकी आंखों में तो सफेदी नहीं है।" तब आप हँसकर बोले, "ऐसे तो किसी के नेत्र नहीं होते जिनमें सफेदी न हो।" इसके सिवा एक बार मार्ग में जा रहे थे। तब एक वृद्धा स्त्री ने कहा कि मुझे ऊँट पर चढ़ा दीजिये। आप बोले, "तुझे ऊँट के पुत्र पर चढ़ा दें ?" वह बोली, "नहीं ऊँट के पुत्र पर तो मैं नहीं चढूँगी, वह तो मुझे गिरा देगा।' तब हँस कर कहने लगे, 'ऐसा ऊँट तो कोई नहीं होता जो ऊँट का पुत्र न हो।' तात्पर्य यह है कि महापुरुषों का बोलना और हँसना सब विचार के अनुसार ही होता है तथा वह गुणरहित नहीं होता। किन्तु यदि कोई सामान्य पुरुष उन्हें देखकर स्वयं भी ऐसा स्वभाव बनाले और उनके भेद को न समझ सके तो निःसन्देह पापी होता है।

९. किसी की हँसी करके उसे दुःख पहुँचाना और उसकी क्रियाओं के दोष प्रकट करके लोगों को हँसाना—यह नवाँ विघ्न है। यह भी अत्यन्त निन्दनीय है। इसी पर प्रभु ने कहा है कि किसी के छिद्र को देखकर हँसो मत, क्योंकि सम्भव है, वह तुम से अच्छा ही हो और तुम उसकी अपेक्षा नीच गति को प्राप्त हो जाओ। महापुरुष भी कहते हैं कि जब कोई अभिमानपूर्वक किसी के अवगुण देखकर हँसता है तब मरने से पहले ही उसमें वह अवगुण अवश्य आ जाता है।

१०. अपने वचन को न निभाना—यह दसवाँ अवगुण है। यह भी बड़ा भारी पाप है। इस विषय में महापुरुष कहते हैं कि जो परुष मिथ्या भाषण करता है, अपने वचन का निर्वाह नहीं

करता अथवा किसी की चीज चुरा लेता है, वह कपटी है। ऐसा परुष यदि जप, तप एवं व्रत आदि भी करता है तो भी भगवान् से विमुख ही होता है। सन्तजन कहते हैं कि किसी के साथ वचनवद्ध होना एक प्रकार का ऋण ही है। अतः उससे विपरीत न होना ही अच्छा है। धर्म शास्त्र में भी कहा है कि जैसे किसी को कुछ देकर फिर लौटा लेना अनुचित है उसी प्रकार वचन देकर उसे न निभाना भी अनुचित ही है।

११. झूठ बोलना और झूठी गवाही देना—यह ग्यारहवाँ विघ्न है। यह तो बड़ा भारी पाप है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि झूठ से मनुष्य की प्रारब्ध घट जाती है। ऐसा भी कहा है कि व्यवसाय में झूठ बोलना या झूठी गवाही देना बड़ी नीचता की बात है। इसी पाप के कारण व्यापारी और दूकानदारों को नरक में जाना पड़ेगा। यही नहीं, ऐसा भी कहा है कि झूठा आदमी तो व्यभिचारी से भी बुरा है क्योंकि मनुष्य से व्यभिचार तो अकस्मात् धोखे में भी हो जाता है, किन्तु झूठ तो जान बूझकर उद्देश्य की मलिनता के कारण ही बोला जाता है। याद रखो, झूठ का निषेध इसलिये किया है कि इसके कारण हृदय अन्धा हो जाता है। हाँ, यदि झूठ बोलने का कोई विचार न हो, किन्तु किसी विशेष प्रयोजन से अकस्मात् निकल जाय तो ऐसा मिथ्या भाषण क्षम्य भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्या भाषण का कोई विचार न होनेपर भी यदि किसी की भलाई अथवा रक्षा करने के लिये झूठ बोला जाय तो उससे हृदय अन्धा नहीं होता। जैसे मान लो, कोई असहाय पुरुष किसी अत्याचारी के भय से कहीं छिपा हुआ है और तुम्हें उसका पता है। ऐसी स्थिति में यदि वह अत्याचारी उसके विषय में तुमसे पूछे कि अमुक मनुष्य कहाँ है तो उस समय झूठ बोल देना ही अच्छा है। अथवा यदि दो मनुष्यों में परस्पर विरोध हो और तुम्हारे मिथ्या

भाषण करने से उनका विरोध निवृत्त हो जाय तो ऐसी स्थिति में झूठ बोलना बुरा नहीं। या तुम्हें किसी का कोई अवगुण मालूम हो और कोई व्यक्ति उसके अवगुण के विषय में तुमसे पूछे उस समय भी उसे स्पष्ट न कहकर छिपा लेना ही अच्छा है। अथवा कोई दुष्ट पुरुष किसी के धन आदि के विषय में पूछे तो भी स्पष्ट न बताना ही उचित है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि झूठ बोलना अनुचित ही है तो भी विचार करने पर यदि मालूम हो कि इस समय झूठ बोलने से किसी की रक्षा होती है अथवा कोई बड़ा विघ्न निवृत्त होता है तो उस समय झूठ बोल देने में कोई दोष नहीं है। किन्तु यदि अपने मान या धन के लिये मिथ्या भाषण किया जाय तो वह निन्दनीय ही है। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि जब जिज्ञासुओं ने देखा है कि इस समय झूठ बोले बिना निर्वाह नहीं होगा तो उन्होंने ऐसा यत्न किया है जिसमें कोई झूठा शब्द भी न बोला जाय और सामनेवाला व्यक्ति कुछ का कुछ समझ ले। जैसे एकबार एक भगवत्प्रेमी बहुत दिनों पश्चात् राजा से मिलने के लिये गया। तब राजा ने पूछा तुम इतने दिनों पश्चात् कैसे आये। इस पर उसने कहा, "जिस दिन से मैं आपके पास से गया हूँ उस दिन से मैंने अपना शरीर पृथ्वी से तभी उठाया है जब भगवान् ने मुझे शक्ति दी है।" इससे राजा तो समझा कि इन्हें सम्भवत: कोई रोग हुआ होगा, अब रोगमुक्त होकर शक्ति प्राप्त होने पर यहाँ आये हैं। किन्तु उनका कथन इस दृष्टि से भी ठीक ही है कि सामान्य रूप से भी जब-जब भगवान् शक्ति देते हैं तभी-तभी यह शरीर चलने-फिरने में समर्थ होता है। इसी प्रकार एक और भगवत्प्रेमी थे। उन्होंने अपने शिष्य को समझा दिया कि जब मैं भगवद्भजन में बैठ जाऊँ उस समय यदि कोई मेरे विषय में पूछे तो पृथ्वी पर रेखा खींचते हुए कह देना कि यहाँ तो हैं नहीं। फिर यदि वह पूछे कि कहाँ

गये हैं तो कह देना, "किसी पूजागृह में होंगे।" घर के भीतर ही उन्होंने पूजागृह भी बना रखा था। एक और भी भगवत्प्रेमी थे। वे एक राजा के प्रधान होकर किसी देश के शासन के लिये गये हुए थे। जब घर लौटकर आये तो उनकी स्त्री ने पूछा कि हमारे लिये आप क्या लाये हैं? उन्होंने कहा, "मेरे साथ एक रक्षक और था, इसलिये मैं कोई चीज ला नहीं सका।" इससे उनका तात्पर्य तो यही था कि अन्तर्यामी भगवान् मेरे साथ थे, किन्तु स्त्री ने समझा कोई राजकर्मचारी साथ होगा, इसलिये कोई चीज नहीं लाये। किन्तु याद रखो, ऐसी बात भी तभी कहनी उचित है जब ऐसा किये बिना निर्वाह न हो। यदि कोई सर्वथा ऐसा ही स्वभाव बना ले तो यह उचित नहीं, क्योंकि यद्यपि ऐसे शब्द सत्य ही होते हैं, तथापि इनका उद्देश्य तो दूसरे को धोखा देना ही होता है। इसलिये इन्हें निर्दोष नहीं कह सकते। एक महापुरुष का ऐसा भी कथन है कि भगवान् की शपथ करना भी महापाप है। अथवा यदि कोई पुरुष कहे कि भगवान् जानते हैं, यह बात ऐसी ही है किन्तु वास्तव में वह वैसी हो नहीं, तब वह कथन भी महापापरूप है।

१२. वाणी का बारहवाँ विघ्न है निन्दा। यह ऐसा प्रबल विघ्न है कि प्रायः सभी से हो जाता है। इससे तो जिसकी भगवान् ही रक्षा करें, ऐसा कोई विरला पुरुष ही मुक्त रहता है। भगवान् कहते हैं कि निन्दा ऐसी बुरी चीज है कि जैसे कोई अपने बन्धु ही का माँस भक्षण करे। महापुरुष का भी कथन है कि निन्दा व्यभिचार से भी बुरी है, क्योंकि व्यभिचार का त्याग करनेपर तो भगवान् तत्काल उसे शुद्ध कर देते हैं किन्तु निन्दा के पाप से तो तभी छुटकारा मिलता है जब उस व्यक्ति से क्षमा करा ले जिसकी कि निन्दा की हो। एक भगवत्प्रेमी ने कहा है कि एक बार मैंने महापुरुष से सर्वोत्तम सदुपदेश पूछा था। उस समय उन्होंने कहा

कि छोटे से छोटे शुभ कर्म को भी अल्प न समझे। यदि किसी प्यासे को एक कटोरा जल देने का अवसर प्राप्त हो जाय तो उसे भी भगवान् का उपकार माने। सब पुरुषों के प्रति प्रसन्नता का भाव रखे तथा किसी की भी निन्दा न करे। निन्दा का लक्षण यह है कि बात भले ही सच्ची हो, किंतु यदि उससे किसी के हृदय को खेद पहुँचता है तो उसे कहना निन्दा के ही अन्तर्गत है। जैसे किसी लम्बे से 'लम्बा' काले से 'काला' अथवा अन्धे से 'अन्धा' कहा जाय तो यह निन्दा ही मानी जायगी। अथवा किसी छोटी जाति के पुरुष से उसकी जाति का नाम लेकर बोलना, दासीपुत्र से दासीपुत्र' कहना, बहुत बोलनेवाले से 'वाचाल' कहना, चोर को 'चोर' कहकर पुकारना तथा किसी को नास्तिक, मूर्ख, अपवित्र, कृपण, बेईमान, असंयमी, आलसी, गन्दा या चञ्चल कहना भी निन्दा के ही अन्तर्गत है। तात्पर्य यह है कि बात चाहे ठीक ही हो तथापि जिसे सुनकर उसके चित्त में ताप हो वह उस व्यक्ति की निन्दा ही होगी। इस विषय में महापुरुष की सहधर्मिणी का कथन है कि एक बार मैंने एक स्त्री के विषय में कहा था कि वह बौनी है। इस पर महापुरुष ने कहा कि ऐसा कहकर तुमने उसकी निन्दा की है, तुम तुरन्त थूक दो। किंतु जब मैंने थूका तो मेरे मुख से खून निकला।

फिर भी कुछ स्थूलबुद्धि पुरुषों का आग्रह है कि दुष्कर्मियोंकी बुराई करना निन्दा नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से धर्म की वृद्धि होती है। किंतु उनका यह कथन ठीक नहीं। अथवा यदि कोई ऐसा ही अवसर आ जाय कि वहाँ किसी का दोष बताने से उस का हित होता हो तो ऐसा कर सकते हैं। किंतु बिना प्रयोजन वैसा कहना उचित नहीं। साथ ही, यह भी ध्यान रखना चाहिये कि निंदा केवल वाणी से ही नहीं होती, अपितु नेत्र, हाथ या किसी भी अंग से संकेत करके यह दिखाने से भी कि अमुक व्यक्ति

ऐसा है, हो सकती है। यह भी त्याज्य है। तथापि किसी का नाम न लेकर यदि ऐसा कहा जाय कि किसी व्यक्ति ने ऐसा काम किया है तो यह निन्दा नहीं कहलाती।

परन्तु कोई-कोई विद्वान् और तपस्वी तो महापुरुषों की निन्दा करके भी कहते हैं कि हमने निन्दा नहीं की। वे अपनी गोष्ठी में बैठकर चर्चा करते हैं, 'भाई, यह माया बड़ी ठगिनी है, इसके छल से छूटना बड़ा कठिन काम है। इसीसे देखो, अमुक व्यक्ति यद्यपि था तो बड़ा ही सज्जन तथापि माया के अमुक चाल में फँस गया। सो, उसे क्या दोष दिया जाय, हम-तुम भी तो माया से छले ही हुए हैं। वास्तव में यह माया ऐसी ही विघ्नरूप है।" इस प्रकार के कथन का अभिप्राय प्रायः अपनी निन्दा के व्याज से दूसरे की निन्दा करना होता है। यह बड़ी भूल की बात है। यदि कोई व्यक्ति आकर इन लोगों से कहता है कि अमुक व्यक्ति से यह अपकर्म हो गया तो ये बड़े आश्चर्यचकित होकर कहते हैं, 'भगवान् क्षमा करें, यह तो बड़ी असम्भव सी बात हो गयी जो ऐसा गुणी आदमी भी माया के छल में फँस गया।' किंतु ऐसा कहने में उनका अभिप्राय यही रहता है कि इस संवाद को सुनने-वाला पुरुष उत्साहित होकर इसका सविस्तर वर्णन करे और हम सब लोग उसे ध्यान देकर सुनें। अथवा कभी वे ऐसा कहते हैं, 'भाई, भगवान् से सब प्रकार डरना चाहिये। अभिमान करना किसी भी अवस्था में ठीक नहीं है। देखो, अमुक पुरुष कैसा सज्जन था, फिर भी वह माया के जाल में पड़ गया। भगवान् उसकी रक्षा करें।' इस प्रकार यद्यपि मुख से तो वे ऐसी सहानुभूतिपूर्ण बातें कहते हैं, किंतु उनका उद्देश्य यही होता है कि सब लोगों को उस व्यक्ति के अधःपतन का पता लग जाय। यह सब निन्दा ही के अन्तर्गत है और ऐसा महान् कपट है कि दम्भपूर्वक अपने को सर्वथा अनिंद्य प्रकट करना चाहता है। ऐसे व्यक्ति को दो

पाप लगते हैं—(१) निन्दा और (२) कपट । किंतु मूर्ख समझता है कि मैंने निन्दा नहीं की । यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि निन्दा करने वाला और निन्दा सुननेवाला दोनों समान रूप से पाप के भागी होते हैं । किंतु जब निन्दा सुननेवाले के चित्त में ग्लानि रहे और वह निंदक को रोकने का सामर्थ्य न रखता हो तो ऐसी स्थिति में उसे निन्दा सुनने का दोष नहीं लगता । अतः जिज्ञासु को उचित है कि यथासम्भव निन्दक को निन्दा करने से रोक दे ।

इसके सिवा जैसे मुख से निन्दा करना पाप है उसी प्रकार हृदय से भी निन्दा करना पापरूप ही है । किसी के दोष को चित्त में स्मरण करना—यह हृदय से निन्दा करना कहलाता है । यह भी बहुत बड़ा पाप है । इस विषय में महापुरुष का कथन है कि दूसरे का द्रव्य चुराना, किसी की हिंसा करना और किसी के विषय में बुरा अनुमान करना—ये तीनों बहुत बड़े पाप हैं । किंतु यदि ऐसा कोई संकल्प अकस्मात् फुर आवे और तुम उसे बुरा समझकर निवृत्त करने का प्रयत्न भी करो तो, तुम्हें उसका पाप नहीं लगेगा । इसकी यही परीक्षा है कि जब तुम्हारे चित्त में किसी के दोष का संकल्प स्फुरित हो अथवा तुम किसी के मुख से वैसी बात सुनो, तो फिर उसके विषय में कोई छानबीन करने की तुम्हारी प्रवृत्ति न हो और तुम्हारे हृदय में ही वह बात लीन हो जाय । उस समय तुम्हें यही सोचना चाहिये कि जिस प्रकार मेरे मन में अनेकों पाप उठते रहते हैं वैसे ही अन्य मनुष्यों का भी सर्वथा निष्पाप होना बहुत कठिन है । और जिस प्रकार मैं अपने पापों को छिपाना चाहता हूँ उसी प्रकार मुझे दूसरे के पापों को भी प्रकट नहीं करना चाहिये । तथा मैं किसी के दोषों को स्पष्ट जान ही लूँगा तो उस से मुझे क्या लाभ होगा ? अतः उन्हें जानने का प्रयत्न करना व्यर्थ ही है । हाँ, यदि तुम्हें किसी के भी कोई दोष निश्चित रूप से मालूम हो जायँ तो उसे तुम्हें एकान्त में नम्रतापूर्वक समझा देना

चाहिये, किसी के भी आगे उसके छिद्रों का वर्णन नहीं करना चाहिये।

याद रखो, निन्दा की अभिलाषा भी मनुष्य के हृदय का एक रोग है। अतः इसका उपाय करना भी बहुत आवश्यक है। यह उपाय दो प्रकार का है। इनमें पहला उपाय सार्वभौम है अर्थात् वह सब प्रकार की निन्दानिवृत्ति को नष्ट करने में समर्थ है। उसके भी दो भेद हैं—प्रथम तो यह कि निन्दा का निषेध करने के लिये महापुरुष ने जो-जो वचन कहे हैं उनका बार-बार विचार करे और ऐसा समझे कि निन्दा करनेवाले के सम्पूर्ण शुभ कर्मों का फल उसी को प्राप्त होता है जिसकी कि वह निन्दा करता है। इस प्रकार निन्दक पुरुष सर्वथा पुण्यहीन रह जाता है। महापुरुष का कथन है कि जैसे अग्नि सूखी घास को भस्म कर डालती है वैसे ही निन्दा से सम्पूर्ण सुकृत तत्काल नष्ट हो जाते हैं। दूसरा भेद यह है कि अपने अवगुणों का विचार करे और ऐसा समझे कि जिस प्रकार मैं अवगुणों के अधीन हूँ वैसे ही और मनुष्य भी उनसे सर्वथा शून्य नहीं हो सकते। क्योंकि भगवान की माया अत्यन्त प्रबल है। यदि किसी को अपना कोई अवगुण दिखायी न दे तो समझना चाहिए कि यह अवगुण न दीखना ही बहुत बड़ा अवगुण है। और यदि वास्तव में कोई पुरुष सर्वथा निर्दोष और गुणसम्पन्न हो तब तो उसे भगवान् का उपकार मानकर धन्यवाद करना चाहिये और निन्दा से दूर रहना चाहिये। तथा यह समझना चाहिये कि यदि मैं किसी की निन्दा करूँगा तो वह भी भगवान् की ही निन्दा होगी, क्योंकि सबको उत्पन्न करनेवाले तो वे ही हैं। अतः जैसे कारीगरी की निन्दा करने से कारीगर की ही निन्दा होती है उसी प्रकार मनुष्यों की निन्दा करने से भी भगवान् की ही निन्दा होती है। इस प्रकार प्रथम उपाय के ये दोनों भेद समग्र रूप से सभी प्रकार की निन्दा से मुक्त करदेने वाले हैं। दूसरे

उपाय के कई भेद हैं, उनको निन्दा के विभिन्न कारणों को दृष्टि में रख कर प्रयोग किया जा सकता है। अतः पहले जिज्ञासु को यह विचारना चाहिये कि मैं निन्दा क्यों करता हूँ। निन्दा के ऐसे आठ कारण होते हैं। उनके अनुसार उनकी निवृत्ति के भी भिन्न-भिन्न उपाय हैं। आगे हम उनका पृथक्-पृथक् विवेचन करते हैं—

१. निन्दा का प्रथम कारण क्रोध है। जब यह मनुष्य किसी पर कुपित हो जाता है तो उसकी निंदा करना चाहता है। जब ऐसा हो तो जिज्ञासु को यह विचारना चाहिये कि दूसरे पर क्रोध करने के बदले अपने को नरकगामी करना तो बड़ी मूर्खता की बात है। यदि वह भली प्रकार विचार करेगा तो उसे मालूम होगा कि अपनी ऐसी प्रवृत्ति के लिये तो उसे अपने पर ही क्रोध करना चाहिये। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि जब यह पुरुष भगवान् की प्रसन्नता के लिये अपने क्रोध को शान्त कर लेता है तब इस पर प्रभु कृपा करते हैं।

२. जब यह पुरुष किसी को निन्दा करते देखता है तो उसकी प्रसन्नता के लिये स्वयं भी निन्दा करने लगता है। इस प्रवृत्ति को दूर करने का यह उपाय है कि इसे ऐसा विचार करना चाहिये कि ऐसा करके मैं लोगों की प्रसन्नता के लिये भगवान् को अप्रसन्न कर देता हूँ। यह कैसी मूर्खता है? अतः जिज्ञासु को चाहिये कि निन्दक पुरुष को देखकर रोष धारण करे और उसके संग से दूर रहे।

३. जब इस पुरुष का कोई छिद्र प्रकट हो जाता है तो यह उसका दोष दूसरों के मत्थे रखने का प्रयत्न करने लगता है और अपने को बचाना चाहता है। यह भी अनुचित ही है। इसे याद रखना चाहिये कि मेरी किसी

चतुराई के कारण भगवान् का रोष निवृत्त नहीं हो सकता। तथा मैं जिस अपमान से बचने के लिये यह चतुराई करता हूँ उसकी अपेक्षा प्रभु का क्रोध अत्यन्त तीक्ष्ण है, और उसका मूल कारण अपने किसी अपराध का दोष दूसरे के मत्थे रखना ही है। इसके सिवा यदि कोई पुरुष अपने अपराध को दबाने के उद्देश्य से दूसरे के अपराधों का वर्णन करने लगता है तब यह उसकी मूर्खता ही होती है। जैसे यदि कोई कहे कि अमुक पुरुष भी अशुद्ध जीविका करता है और राजा का अन्न भी स्वीकार कर लेता है, इसीसे मैं भी ऐसा करता हूँ—तो उसका सोचना बड़ी मूर्खता की बात है, क्योंकि किसी मनुष्य का मलिन कर्म देखकर स्वयं भी मलिनता में विचरना अनुचित ही है। किसी को आग में जलते देखकर स्वयं भी अग्नि में प्रवेश करना उचित तो नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार पापी को देखकर पाप में प्रवृत्त होना अनुचित ही है।

४. कोई लोग अपनी स्तुति के लिये दूसरों की निन्दा किया करते हैं। यदि कोई कहता है कि अमुक पुरुष शास्त्र-वाक्यों का तात्पर्य नहीं समझता तथा अमुक व्यक्ति पाखण्ड नहीं छोड़ता, तो इसका तात्पर्य यही होता है कि मैं बड़ा समझदार और पाखण्डशून्य हूँ। सो, ऐसी प्रवृत्ति भी ठीक नहीं। ऐसे पुरुष को समझना चाहिये कि बुद्धिमान् पुरुष तो तुरन्त मेरे कपट को पहिचान लेगा और वह मेरी निष्कामता में कभी विश्वास नहीं करेगा। और जो पुरुष स्वयं ही मूर्ख है उसकी प्रीति या प्रतीति से मुझे लाभ ही क्या हो सकता है। अतः यह भी मेरी बुद्धिहीनता ही है कि मैं भगवान् के प्रति तो

अपने को लज्जित करता हूँ और पराधीन जीवों में अपना मान बढ़ाना चाहता हूँ।

५. निन्दा का पाँचवाँ कारण ईर्ष्या है। जब किसी व्यक्ति का धन और मान बहुत बढ़ जाता है तो ईर्ष्यालु पुरुष उस का उत्कर्ष सहन नहीं कर सकता। इसलिये वह उसके अवगुण ढूँढ़ने लगता है और उससे वैर ठान लेता है। किंतु वह मूर्ख ऐसा नहीं समझता कि इस प्रकार तो मैं अपने से ही शत्रुता कर रहा हूँ, क्योंकि ऐसा करने से वह इसलोक में तो ईर्ष्या की अग्नि में जलता रहेगा और परलोक में निन्दा आदि पापों के कारण दारुण यातनाएँ भोगेगा। अतः ऐसा पुरुष दोनों लोकों के सुखों से वञ्चित रहता है। वह मूर्ख इतना भी नहीं समझता कि प्रभु की इच्छा से जिसे धन और मान मिले हैं, मेरे ईर्ष्या करने से उसकी क्या हानि हो सकती है?

६. जिनका हँसी का स्वभाव होता है उनसे भी निन्दा हो जाती है। वह यह नहीं समझता कि मैं हँसी करके किसी व्यक्ति को जितना लज्जित करता हूँ उतना ही मुझे भी भगवान् के सामने लज्जित होना पड़ेगा। यदि वह यह जान जाय कि निन्दा और हँसी करने से परलोक में मेरी ऐसी दुर्गति होगी तो फिर ऐसी क्रिया कदापि न करे।

७. किन्हीं मनुष्यों का सात्त्विकी हृदय किसी का कोई अवगुण देखता है तो विषाद करने लगता है। ऐसी स्थिति में उसकी चर्चा करते हुए यदि उसका नाम भी निकल जाय तो यह एक प्रकार से निन्दा ही हो जाती है। ऐसे लोगों को समझना चाहिये कि यद्यपि अपने हृदय की

कोमलता के कारण वे दयावश उस व्यक्ति में कोई दोष नहीं देखना चाहते, तथापि उसका नाम प्रकट कर देने से वे उस दया के पुण्य से वञ्चित रह जाते हैं।

८. कोई पुरुष यद्यपि धर्मनिष्ठ होने से ही किसी में कोई अवगुण नहीं देखना चाहता। किंतु यदि वह अपने को शुद्ध समझ कर दूसरे का कोई छिद्र मालूम होनेपर आश्चर्य प्रकट करता है और यह सोचकर कि उसने ऐसी अवज्ञा क्यों की विस्मय प्रकट करते हुए दूसरे लोगों के आगे नामोल्लेख करके उसकी त्रुटि प्रकट कर देता है तो वह भी अनुचित ही है और प्रायः निन्दा ही के समान है। अतः किसी की कोई त्रुटि देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये तथा विनम्र ही रहना चाहिये।

याद रखो, निन्दा भी झूठ की तरह ही एक महापाप है। अतः किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य के बिना निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये। इसलिये अब मैं उन्हीं कार्यों का वर्णन करता हूँ जिनमें निन्दा करना भी उचित माना जा सकता है।

१. यदि किसी ने इसे कष्ट पहुँचाया हो अथवा इसका धन लूट लिया हो और इसे उसके विषय में किसी से शिकायत करनी हो तो वह बिना निन्दा किये तो हो ही नहीं सकती। तो भी जिस पुरुष से कहनेपर किसी प्रकार की सहायता मिलनी सम्भव न हो उससे उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

२. जब किसी स्थान पर कोई पाप होता दिखायी दे और ऐसा जान पड़े कि यदि इसे प्रकट नहीं किया जायगा तो यह बढ़ता ही जायगा, तो ऐसी स्थिति में किसी ऐसे ऐश्वर्यवान् व्यक्ति से उसे प्रकट करे जिसके भय से वह पाप

नष्ट हो जाय।

३. यदि कोई धर्मात्मा पुरुष किसी नास्तिक या अनाचारी का संग करता हो तो उसे उसके दोष बता देने चाहिये, क्योंकि उसकी ओर से असावधान रहने पर उस धर्मात्मा की हानि हो सकती है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि तीन प्रकार के मनुष्यों की निन्दा करने में पाप नहीं होता—(१) अन्यायी राजा, (२) सन्तों की मर्यादा से विपरीत चलनेवाला नास्तिक और (३) प्रसिद्ध दुराचारी। इनकी कोई क्रिया गुप्त तो होती ही नहीं, अतः उसे कह देने में निन्दा का दोष नहीं होगा।

४. जब लोगों में किसी का नाम उसके अंगभंग आदि की दृष्टि से ही प्रसिद्ध हो, जैसे—सूरदास, मन्ददृष्टि, कोढ़ी अथवा बहिरा आदि तो उसे उसी प्रकार सम्बोधन करना भी निन्दा या पाप नहीं है। ऐसा कहने से वह स्वयं भी अप्रसन्न नहीं होता। किन्तु यदि उसे भी किसी दूसरे नाम से पुकारे तो और भी अच्छा हो।

५. कोई लोग स्पष्ट ही निर्लज्ज होते हैं, जैसे नपुंसक, नर्तक और मद्यप आदि। इन्हें कोई लज्जा तो होती ही नहीं। अतः अपनी करनी की बात सुनकर ये बुरा भी नहीं मानते। इसलिये संयोगवश इनकी चर्चा हो जाने पर भी निन्दा का दोष नहीं होता। निन्दा तो वही होती है जिसे सुनकर किसी के हृदय में ताप हो।

अतः भगवत्प्रेमी पुरुषों को चाहिये कि जब इससे ऐसा कोई अपराध बन जाय तो तुरन्त ही उसे क्षमा करावे तथा अपने पाप का प्रायश्चित्त कर ले। महापुरुष ने भी कहा है कि इसी लोक में अपने पापों को क्षमा करा लो, क्योंकि परलोक में जब इसे उनका

विशेष दण्ड मिलेगा तब इसके पास उनके प्रायश्चित्त की कोई सामग्री नहीं होगी। इसके सिवा उनके एक वचन में यह भी आया है कि जिस पुरुष की इसने निन्दा की हो उसके निमित्त भगवान् से प्रार्थना करके उससे क्षमा माँगे। पर कुछ मनुष्यों ने इस बात पर जोर दिया है कि जिसकी निन्दा की हो उससे क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं, उसकी अपेक्षा भगवान् से प्रार्थना करना ही श्रेष्ठ है। किन्तु यह बात ठीक नहीं, भगवान् के ही आगे प्रार्थना करना तो तब ठीक हो सकता है जब वह व्यक्ति जीवित न हो, अथवा बहुत दूर हो। किन्तु जब वह मिल सकता हो तब तो नम्रता और दीनतासहित उसी से क्षमा माँगना अच्छा है। ऐसा करने पर भी यदि वह क्षमा न करे तब तो उसी को पाप होता है।

१३. किसी की बात में छिद्र ढूँढ़ना अथवा उसकी चुगली करना तेरहवाँ विघ्न है। यह बड़ा भारी पाप है। महापुरुष का कथन है कि चुगली करनेवाला पुरुष कभी सुखी नहीं होता। तथा ऐसा भी कहा है कि चुगली करनेवाला सब की अपेक्षा नीच है। इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं, एक बार एक देश में दुर्भिक्ष हुआ। तब महात्मा मूसा और उस देश के लोग मिलकर भगवान् से प्रार्थना करने लगे। उस समय मूसा को आकाशवाणी हुई कि तुम्हारे देश में एक चुगल है, उसी के पाप से वर्षा नहीं होती। मूसा ने पूछा, "वह चुगल कौन है ?" इस पर आकाशवाणी हुई कि मैं तो चुगल को अपना शत्रु मानता हूँ, अतः यह कह कर कि अमुक व्यक्ति चुगल है मैं ही उसकी चुगली कैसे कर सकता हूँ ? इसका उपाय तो यही है कि तुम सब लोगों को चुगली करने से रोक दो। बस, तुरन्त वर्षा हो जायगी। इस पर उन्होंने वैसा ही किया और फिर बड़ी भारी वर्षा हुई एवं दुर्भिक्ष दूर हो गया।

एक प्रसंग और भी है। कहते हैं, एक भगवत्प्रेमी दो हजार

कोश की यात्रा करके एक बुद्धिमान् के पास पहुँचा और उससे ये प्रश्न किये।

१. आकाश से भी विशाल क्या है ?

२. धरती से भारी क्या है ?

३. पत्थर से अधिक कठोर क्या है ?

४. अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण क्या है ?

५. बर्फ से भी अधिक शीतल क्या है ?

६. समुद्र से भी उदार क्या है ?

७. जिस बालक के माँ-बाप मर गये हों उससे अधिक निर्मान और दुःखी कौन है ?

तब उस बुद्धिमान् ने उसे ये उत्तर दिये—

१. सत्य वचन आकाश से भी विशाल है।

२. निर्दोष मनुष्य को दोष लगाने का पाप पृथ्वी से भी अधिक भारी है।

३. मनमुखों का हृदय पत्थर से भी ज्यादा कठोर होता है।

४. ईर्ष्या अग्नि की अपेक्षा भी तीक्ष्ण है।

५. भाव और सहनशीलता बर्फ से भी अधिक शीतल होती है।

६. सन्तोषी पुरुष समुद्र से भी अधिक उदार होता है।

७. चुगली करनेवाला मनुष्य मातृ-पितृहीन बालक की अपेक्षा भी मानहीन होता है। चुगली का अर्थ है—वचन, कर्म अथवा संकेतद्वारा किसी के आगे किसी अन्य व्यक्ति के दोष को प्रकट करना और उसके चित्त को चोट पहुँचाना। यह बड़ा भारी पाप है। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि किसी का पर्दा न उघाड़े। हाँ, किसी विशेष परिस्थिति में उसे प्रकट करना भी आवश्यक होता है।

इसके सिवा यदि कोई पुरुष तुम्हारे पास आकर कहे कि अमुक व्यक्ति तुम्हारा बुरा चाहता है, या तुम्हारे लिये दुर्वचन

कहता है तो उसे चुगली से निवृत्त करने के लिये तुम्हें इन युक्तियों का आश्रय लेना चाहिये।

१. प्रायः चुगल और दुराचारी पुरुष झूठे होते हैं, अतः उनके कथन पर विश्वास करना ठीक नहीं।
२. यदि अपना अधिकार हो तो उसे चुगली करने से रोक दो।
३. चुगली करनेवाले पुरुष से मित्रता मत करो।
४. जब किसी के दोष की बात सुनो तो बिना देखे उसके विषय में कोई दूषित अनुमान करना बहुत बुरा है।
५. किसी की बुराई सुनकर यह खोज न करे कि यह बात सत्य है या झूठ।
६. चुगली करनेवाले पुरुष के विषय में भी किसी से यह न कहे कि यह चुगल है। अर्थात् गम्भीरतापूर्वक उसके दोष को छिपा ले।

इस प्रकार सभी को इन छः युक्तियों से काम लेना चाहिये। इस विषय में एक प्रसंग भी है। एक बुद्धिमान् से किसी ने आकर कहा कि अमुक व्यक्ति तुम्हारी निन्दा करता है। इस पर उसने कहा, "यद्यपि तुम हमारे दर्शनों के लिये आये हो, तथापि तुमने तीन पाप इसी समय किये हैं—(१) तुमने मुझे उसके ऊपर क्रुद्ध किया, (२) मेरे चित्त को विक्षेप में डाला और (३) तुम स्वयं भी चुगली करनेवाले बने। इसी से हसन बसरी नाम के एक सन्त ने कहा है कि यदि कोई मनुष्य तुम्हें किसी के दोष सुनाता है तो निःसन्देह जानो कि वह तुम्हारी बात भी दूसरों को जाकर सुनावेगा। अतः उसे अपना शत्रु और निन्दक समझकर उसकी संगति त्यागो। तात्पर्य यह है कि चुगली करनेवाले से कितने ही जीवों का घात होना है। कहते हैं, किसी पुरुष ने एक दास मोल लिया। उस समय दास बेचनेवाले ने उससे कहा कि इसमें कोई और दोष तो है नहीं, किन्तु यह चुगली और वाक्यच्छल (बनावटी बातें)

अवश्य करता है। इस पर वह बोला, "खैर, इतने दोष की क्या बात है ?" बस, अब वह दास उसके घर में रहने लगा। एक दिन उसने अपने स्वामी की पत्नी से कहा कि तुम्हारे पति दूसरा विवाह करना चाहते हैं और तुमसे उनका चित्त फिरा हुआ है। सो, एक काम करना। जब वे सो जायँ तो उनके गले का एक बाल काट कर मुझे दे देना। मैं एक ऐसा मन्त्र पढ़ दूँगा, जिससे तुम्हारे साथ उनका प्रेम सब प्रकार अटल हो जायगा। स्त्री से ऐसा कहकर उधर स्वामी को यह समझाया कि तुम्हारी पत्नी का प्रेम किसी अन्य पुरुष से लगा हुआ है और वह तुम्हें मारना चाहती है। अतः रात को जब तुम शयन करो तो सावधान रहना। बस, जब रात हुई तो स्वामी घर आकर शय्या पर लेट गया, किन्तु बीच-बीच में जागता रहा। इसी समय उसकी स्त्री उस्तरा लेकर आयी और उसके गले का बाल काटने लगी। किन्तु पति ने समझा यह मेरा गला काटना चाहती है। अतः वह कुपित होकर स्त्री को पीटने लगा। यह बात जब स्त्री के सम्बन्धियों ने सुनी तो वे वहाँ आकर उस पुरुष को पीटने लगे। इस प्रकार दोनों ओर के सम्बन्धियों में परस्पर युद्ध छिड़ गया और कई लोग मारे गये। यह है एक चुगल की बात में विश्वास करने का परिणाम।

१४. दो विरोधियों के साथ वाक्यच्छल करना और अपनी-अपनी जगह दोनों ही का मित्र होकर दिखाना—यह चौदहवाँ विघ्न है और चुगली से भी बड़ा पाप है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि इस लोक में जिसका स्वभाव वाक्यच्छल का होगा, परलोक में उसे दो जीभें मिलेंगी, जिनके कारण उसे बहुत दुःख होगा। अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि जब दो विरोधी व्यक्तियों से मिले तब दोनों की बातें सुनकर मौन रहे। अथवा जो यथार्थ बात हो उसे कह देना भी अच्छा है। किन्तु एक की

बात दूसरे से कहना अच्छा नहीं। तथा कपटपूर्वक दोनों ही को मित्र बनकर दिखाना भी बहुत बुरा है।

१५. किसी की व्यर्थ स्तुति करना—यह पन्द्रहवाँ विघ्न है। इससे छः पाप और उत्पन्न होते हैं, जिनमें से दो सुननेवाले को लगते हैं और चार कहनेवाले को। कहनेवाले को चार पाप इस प्रकार लगते हैं—

१. जब वह किसी की योग्यता से अधिक स्तुति करता है तो उसमें निःसन्देह असत्य रहता ही है।
२. यदि वह प्रीति के बिना ही स्तुति करता है तो वह एक प्रकार का कपट ही है।
३. जिसके गुणों का अपने को पता न हो उसकी स्तुति करना भी अनुचित ही है। जैसे बिना जाने ही किसी को विरक्त या पुण्यकर्मा कह डालना मिथ्या भाषण ही है।
४. यदि किसी तामसी पुरुष की स्तुति की जायगी तो वह उससे प्रसन्न होकर और भी अधिक तमोगुण की ही वृद्धि करेगा। सो, यह भी अच्छा नहीं। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जब कोई तामसी पुरुष की स्तुति करता है तब उस पर भगवान् कुपित होते हैं।

ये तो हुए स्तुति करनेवाले को लगनेवाले पाप। अब स्तुति सुननेवाले के पाप बतलाते हैं—

१. जो पुरुष अपनी स्तुति या प्रशंसा सुनता है वह स्वभाव से ही अभिमानी हो जाता है।
२. जब कोई पुरुष अपने गुण और विद्या की प्रशंसा सुनता है तो वह आगे शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने से रुक जाता है और ऐसा समझ बैठता है कि मुझे तो परम पद प्राप्त हो गया। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि तीक्ष्ण

शस्त्र से प्रहार करना तो अच्छा है, किन्तु किसी के मुख पर उसकी स्तुति करना अच्छा नहीं, क्योंकि जब वह पुरुष अपनी प्रशंसा सुनता है तब उसका मन उसे अपने स्थान से गिरा देता है। किन्तु ,बुद्धिमान् तो अपने को पहिचानता है, अतः जब वह अपनी स्तुति सुनता है तब और भी अधिक विनयी हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जब कहने और सुननेवाला इन छः पापों से रहित हो तब स्तुति करने में कोई दोष नहीं। किन्तु अपने ही मुख से अपनी स्तुति करनी तो बड़ी भारी नीचता है। इसे तो शास्त्रों में भी निन्दनीय कहा है।

अतः जिज्ञासु को चाहिये कि जब कोई इसकी स्तुति करे तो अपनी महिमा सुनकर अभिमान न करे, ऐसा समझे कि यदि मैं परलोक के दुःखों से मुक्त नहीं होऊँ तब तो मेरी अपेक्षा शूकर-कूकर भी अच्छे हैं। इसलिये अपनी स्तुति सुनकर तो लज्जित ही होना चाहिये तथा अपनी नीचता को ही सामने लाना चाहिये। कहते हैं, कोई पुरुष एक संत की स्तुति करने लगा। तब वे अत्यन्त दीन होकर भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि प्रभो! यह पुरुष तो मुझे नहीं जानता, किन्तु आप तो अच्छी तरह जानते हैं। अतः आप ही मुझे क्षमा करें। इसी प्रकार एक और संत की भी जब किसी ने प्रशंसा की तो वे कहने लगे, "भगवन्! यह पुरुष जो मेरी प्रशंसा करता है, इसका दण्ड आप मुझे न दें। और इसे जो मेरे दोषों का पता नहीं है, उन दोषों को भी आप ही निवृत्त करें। तथा यह जैसा मुझे समझता है, कृपा करके उससे भी अधिक गुणवान् आप मुझे बनाएँ।" एक पुरुष ऐसा था जिसके हृदय में यद्यपि प्रीति या विश्वास कुछ भी नहीं था, पर सामने आनेपर उसने कपटपूर्वक एक महात्मा की बहुत स्तुति-

की। तब महात्मा ने उससे कहा, "भैया! तू मुख से जैसा कहता है उससे तो मैं अत्यन्त निकृष्ट हूँ। हाँ हृदय में जैसा समझता है उसकी अपेक्षा निःसन्देह उत्कृष्ट हूँ।"

—:o:—

चौथी किरण

क्रोध और ईर्ष्या के दोष तथा उनकी निवृत्ति के उपाय

(क्रोध और उसकी निवृत्ति के उपाय)

क्रोध भी अत्यन्त मलिन स्वभाव है। इसका बीज अग्नि है। किन्तु यह ऐसा अग्नि है जो शरीर को नहीं, हृदय को जलाता है। इससे ऐसा विक्षेप उत्पन्न होता है कि चित्त कभी शान्त नहीं होता। और शान्ति ही सारे शुभ कर्मों का फल है। कहते हैं, एक बार किसी प्रेमी ने महापुरुष से पूछा कि मैं भगवान् के कोप से किस प्रकार छुटकारा पाऊँगा ? उन्होंने कहा कि जब तू किसी पर भी क्रोध नहीं करेगा तो प्रभु के क्रोध से भी मुक्त रहेगा। फिर जब उस प्रेमी ने पूछा कि मुझे कोई ऐसा कर्म बताइये जिसमें क्रिया तो थोड़ी हो, किन्तु उसका फल महान् हो, तब भी उन्होंने यही कहा कि क्रोध से रहित होना ही बहुत अधिक फलदायक है तथा इसमें क्रिया भी बहुत कम है। महापुरुष ने यह भी कहा है कि जैसे शहद को खटाई नष्ट कर देती है वैसे ही क्रोध से धर्म नष्ट हो जाता है। तात्पर्य है कि यद्यपि क्रोध से सर्वथा छुटकारा पाना तो अत्यन्त कठिन है, तो भी जिज्ञासु को यह तो चाहिये ही कि जहाँ तक बने यत्न करके क्रोध का वेग सहन करे। जिन पुरुषों ने धैर्यपूर्वक क्रोध को जीता है उनकी भगवान् ने भी प्रशंसा की है।

ऐसा भी कहा है कि विचार की मर्यादा से रहित होकर क्रोध करना साक्षात् नरक का द्वार है। अतः अपने क्रोध को भक्षण करना ही सब से अच्छा आहार है। तथा कई संतजनों ने मिल-कर यही सिद्धान्त निश्चित किया है कि क्रोध के समय धैर्य रखना और लोभ के अवसर पर सन्तोष करना बड़ी वीरता का काम है। कहते हैं, एक ऐश्वर्यशाली सन्त थे। कोई दुष्ट उनके पास आकर दुर्वचन कहने लगा। किन्तु वे अपना सिर नीचा किये चुपचाप सुनते रहे। फिर उस दुष्ट से बोले कि तुम मुझे क्रोधित करना चाहते हो तथा मेरे चित्त को माया के जाल में फँसाना चाहते हो, सो मैं तो ऐसा करूँगा नहीं। पर याद रखो, भगवान् ने यह क्रोध भी इसलिये रचा है कि यह मनुष्य का एक शस्त्र होगा और इस शस्त्र के द्वारा वह अपने शत्रुओं का संहार करके अपने शरीर की रक्षा कर सकेगा। जैसे भूख और प्यास इसलिये बनायी गयी हैं जिससे शरीर अन्न और जल खींच कर पुष्ट हो सके। अतः निश्चय हुआ कि इच्छा और क्रोध ये दोनों भी मनुष्य के शस्त्र ही हैं। किन्तु जब ये मर्यादा से अधिक बढ़ जाते हैं तब दोनों ही दुःखदायक हो जाते हैं। जिस समय क्रोध-रूपी अग्नि हृदय में प्रज्वलित होता है उस समय उसका धूआँ सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। उसके कारण बुद्धि और विचार भी अन्धकारग्रस्त हो जाते हैं और फिर मनुष्य भलाई-बुराई को भी नहीं पहिचान सकता। इसीसे कहा है कि क्रोध बुद्धि का शत्रु है और अत्यन्त मलिन स्वभाव है। परन्तु यदि क्रोध का सर्वथा मूलोच्छेद हो जाय तब तो कुसंग और अपकर्मों से भी ग्लानि नहीं रहेगी। इसलिये उचित यही है कि क्रोध मर्यादा में ही रहे, न तो अधिक बढ़े और न सर्वथा शून्य ही हो। इसका धर्मानुकूल मर्यादा में रहना ही सबसे अच्छा है।

पहले मैं कह चुका हूँ कि अत्यन्त क्रोधहीन होना भी बहुत

कठिन है। तथापि कई अवसरों पर क्रोध ऐसा लीन हो जाता है कि जाना ही नहीं जाता। इसका विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है कि कि क्रोध का कारण मनोरथ है, सो जब कोई मनुष्य इसकी किसी प्रिय वस्तु को लेना चाहता है तो तुरन्त क्रोध उत्पन्न हो जाता है। जिस पदार्थ में इसका कोई मनोरथ नहीं होता उसके दूर होनेपर इसे क्रोध भी नहीं होता। तथा जब तक इस जीवका देह में अभिमान है तब तक यह भोजन, वस्त्र और स्थान की अपेक्षा से सर्वथा मुक्त भी नहीं हो सकता। इसीसे जब कोई व्यक्ति इन पदार्थों को छीनना चाहता है तो इसे निःसन्देह क्रोध उत्पन्न हो जाता है। अतः निश्चय हुआ कि प्रयोजन ही बन्धन है और प्रयोजन से रहित हो जाना ही मुक्ति है। इसीसे जब जिज्ञासु पुरुषार्थ करके पदार्थों की तृष्णा को घटावे और फिर मानादि की अभिलाषा से रहित हो जाय तब क्रोध भी स्वाभाविक ही घट जाता है। यदि कोई मानी पुरुष का आदर न करे तो उसे अवश्य क्रोध उत्पन्न हो जायगा और यदि निर्मान पुरुष से कोई आगे होकर चले अथवा उसका मान न करे तो उसे क्रोध नहीं होगा। इसीसे यद्यपि लोगों के चित्तों की अवस्थाओं में बहुत भेद होता है, तथापि सामान्यतः धन और मान की अधिकता होनेपर क्रोध भी अधिक होता है। तात्पर्य यह है कि वैराग्य प्रयत्न और अभ्यास के द्वारा क्रोध में कमी तो बहुत आ जाती है, परन्तु वह सर्वथा निःशेष नहीं होता। और जब वह विचार की मर्यादा से अधिक न हो तो उसमें कोई दोष भी नहीं है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यद्यपि मैं भी और मनुष्यों के समान क्रोध करता हूँ अथवा कुछ दण्ड भी देता हूँ, तथापि इससे मेरे हृदय से दया दूर नहीं होती। मेरा वह क्रोध भी उसकी भलाई के लिये ही होता है। एक और सन्त ने कहा है कि जब मैं क्रोध करता हूँ तब भी मेरी जिह्वा से यथार्थ वचन ही

निकलता है।

परन्तु किन्हीं मनुष्यों की तो ऐसी भी स्थिति होती है कि वे सभी कार्यों का कर्ता-धर्ता भगवान् को ही देखते हैं, अतः ऐसी दृष्टि रहने के कारण उनका क्रोध क्षीण हो जाता है। जैसे यदि कोई पुरुष इसे पत्थर मारे तो यह पत्थर पर तनिक भी क्रोध नहीं करता और न उसे अपने दुःख का कारण ही मानता है। इसी प्रकार राजा यदि किसी पुरुष को मृत्युदण्ड देने के लिये आज्ञा पत्र लिख दे तो वह लेखनी पर कभी क्रोध नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि लेखनी तो राजा के हाथ में पराधीन है। इसी तरह जिन लोगों ने निश्चित रूप से भगवान् के सामर्थ्य को जाना है वे सभी जीवों को पराधीन देखते हैं और जानते हैं कि उनके प्रेरक तो एकमात्र भगवान् ही हैं। इसलिये वे किसी पर क्रोध नहीं करते। वे जानते हैं कि यद्यपि कर्म का कारण बल है और बल का श्रद्धा, तथापि मनुष्य की श्रद्धा उसके अधीन नहीं है, वह तो भगवान् की प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है। इसी से सन्तजनों ने कहा है कि यह मनुष्य भी पत्थर और लेखनी के समान ही पराधीन है। यद्यपि कर्म करता हुआ तो मनुष्य ही दिखायी देता है, तथापि इसमें अपना कोई सामर्थ्य नहीं है। जिन मनुष्यों में ऐसी बुद्धि दृढ़ हो जाती हैं वे कभी किसी पर क्रोध नहीं करते। वे दुःख से आक्रान्त होनेपर उद्विग्न भी हो जाते हैं, तथापि उन्हें किसी पर क्रोध उत्पन्न नहीं होता। दुःख से उद्विग्न हो जाना दूसरी बात है और क्रोध करना दूसरी। यदि अकस्मात् किसी का पशु मर जाय तो वह शोक से उद्विग्न तो होगा, किन्तु किसी पर क्रोध नहीं करेगा। परन्तु इस प्रकार सब जीवों को पराधीन देखना और सर्वदा इसी समझ में स्थित रहना है बहुत दुर्लभ। सामान्यतया जीवों में विद्युत् के समान इस दृष्टि की चमक तो होती है, किन्तु वह स्थिर नहीं रहती, स्थूलता की प्रबलता होने के कारण

पुनः विक्षेप हो जाता है। किन्तु ऐसी अवस्था प्राप्त न होने पर भी कितने ही जिज्ञासुओं का परमार्थ में ऐसा दृढ़ अभ्यास हो जाता है कि उन्हें कभी क्रोध नहीं होता। जैसे किन्हीं सन्त से जब किसी ने दुर्वचन कहा तो वे बोले, "यदि मैं परलोक के दुःख से निवृत्त हो गया हूँ तब तो मुझे तुम्हारे कथन का कोई भय है नहीं, और यदि मुझे परलोक का दुःख भोगना ही है तब तुम जैसा कहते हो मैं उससे भी नीच हूँ। ऐसी स्थिति में तो तुम्हारे कथन में कोई सन्देह ही नहीं है।" एक और सन्त से भी किसी ने कुछ दुर्वचन कहा। तब वे बोले, "भाई, मेरे परम सुख के मार्ग में कितनी ही घाटियाँ हैं, जिन्हें मैं पार करना चाहता हूँ। सो यदि मैंने उन्हें पार कर लिया तब तो तुम्हारे कथन का मुझे कोई भय नहीं है, और यदि उन्हें पार न कर सका तो तुम जैसा मुझे कहते हो मैं उससे भी बहुत अधिक नीच हूँ।" इसी प्रकार किसी अन्य सन्त से भी जब किसी ने दुर्वचन कहा तो वे बोले, "भाई, मुझमें जितने अवगुण हैं वे तो तुम्हारी जानकारी से बहुत दूर हैं और उनकी कोई संख्या भी नहीं की जा सकती।"

तात्पर्य यह कि कोई जिज्ञासु वैराग्य और अभ्यास में ऐसे लीन हुए हैं कि उन्हें क्रोध का कोई स्फुरण ही नहीं रहा। कहते हैं, एक भगवत्प्रेमी से किसी स्त्री ने कहा कि तू बड़ा कपटी है। तब उन्होंने कहा, "तुमने मुझे ठीक पहिचाना है।" इसी प्रकार एक भगवत्प्रेमी से किसी ने कोई दुर्वचन कहा तो वे बोले, "यदि तुम्हारा कथन ठीक है तो प्रभु मेरी यह अवज्ञा क्षमा करें और यदि तुम झूठ कहते हो तो वे मेरी रक्षा करेंगे ही।' इससे निश्चय होता है कि इन सब उपायों से क्रोध जीता जा सकता है। और यदि किसी व्यक्ति की ऐसी दृढ़ धारणा हो जाय कि क्रोधहीन पुरुष को भगवान् बहुत अधिक प्रेम करते हैं तो वह भी प्रभु की प्रसन्नता के लिये क्रोध से रहित हो सकता है। जैसे किसी मनुष्य का कोई

अत्यन्त प्रिय जन हो और उसे उसका पिता या पुत्र पीडित करे और वह मनुष्य यही समझे कि मेरा प्यारा ही मुझे यह पीडा पहुँचा रहा है, तो उसके प्रेमवश उस पीडा का विशेष दुःख नहीं होगा और न उसके कारण उसे क्रोध ही होगा। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि किसी ऐसी ही दृष्टि का आश्रय लेकर क्रोध का त्याग करे। यदि उससे उसका सर्वदा त्याग न हो सके तो उसकी प्रबलता को ही क्षीण करे। अर्थात् यदि वह क्रोध को मूल से ही नष्ट न कर सके तो भी इतना प्रयत्न तो अवश्य करे कि वह बुद्धि और सन्तजनों की मर्यादा का उल्लङ्घन न कर सके, क्योंकि निःसन्देह बहुत लोगों को तो यह क्रोध ही नरक में डालता है। तथा यही अनेकों विघ्नों का कारण है। अतः इसे जीतने का उपाय करना परम आवश्यक है।

यह क्रोध को जीतने का उपाय दो प्रकार का है। उनमें पहला उपाय तो ऐसा उत्तम है कि वह क्रोध को मूल से ही उखाड़कर हृदय को शुद्ध कर देता है। तथा दूसरा उपाय मध्यम कोटिका है। वह प्रयत्नपूर्वक धीरे-धीरे क्रोध को निर्बल करता है। उत्तम उपाय तो यही है कि पहले क्रोध के कारण का विचार करे और फिर उसे मूल से ही नष्ट कर दे। क्रोध के कारण पाँच हो सकते हैं—

१. क्रोध का पहला कारण अभिमान है, क्योंकि अभिमानी पुरुष तनिक-सी बात या थोड़ा-सा निरादर होनेपर ही कुपित हो जाता है। इसकी निवृत्ति का उपाय दीनता है। यह सोचना चाहिये कि सभी जीव परमात्मा के उत्पन्न किये हुए हैं और एक समान हैं। यदि किसी को विशेषता दी जाती है तो वह शुभ गुणों के कारण ही होती है। और अभिमान तो बड़ा ही मलिन स्वभाव है तथा नीचता का ही कारण है। इसलिये वह सर्वथा त्याज्य है।

२. हँसी करना क्रोध का दूसरा कारण है। इसका उपाय यह

है कि जिज्ञासु सर्वदा परलोकसम्बन्धी कार्यों में लगा रहे, शुभ गुणों को पाने का विचार रखे और वाद-विवाद एवं हँसी-मजाक से दूर रहे। तथा अपने को इस प्रकार समझावे कि यदि कोई इस लोक में किसी की हँसी करता है तो परलोक में उसे भी लज्जित किया जाता है।

३. निन्दा या दोषारोपण क्रोध का तीसरा कारण है। जब कोई इसकी निन्दा करता है, अथवा इस पर दोषारोपण किया जाता है तो दोनों ही ओर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। इसका उपाय यह है कि अपने को निर्दोष न समझे और ऐसा जाने कि मैं तो दोषों से भरपूर हूँ, फिर मैं किसी पर क्रोध क्यों करूँ? और यदि वास्तव में मुझ में कोई दोष नहीं है तब भी किसी के निन्दा करनेपर मुझे क्या भय है?

४. तृष्णा और ईर्ष्या क्रोध का चौथा कारण है। क्रोधी मनुष्य से जब कोई एक दमड़ी भी माँगता या ले लेता है तो वह क्रोध से आग-बबूला हो जाता है। इसी प्रकार यदि तृष्णाग्रस्त पुरुष को कोई कुछ न दे तो उसे दुःख हो जाता है। सो ये सब बहुत बुरे स्वभाव हैं इन्हें निवृत्त करने का उपाय यह है कि तृष्णा के विघ्न को पहिचाने, क्योंकि तृष्णालु पुरुष इस लोक में भी दुःखी रहता है और परलोक में भी दुःख भोगता है। अतः तृष्णा को हृदय से दूर करे और ऐसे मलिन स्वभावों से विरोध करके आत्मधर्मों में स्थित हो।

५. क्रोधी पुरुषों की संगति क्रोध का पाँचवाँ कारण है। ये लोग ऐसे मूर्ख होते हैं कि क्रोध की अधिकता को भी बड़ा पुरुषार्थ समझते हैं और बड़े गर्व से कहते हैं कि

हमने डाँट-डपट से ही अमुक पुरुष को सीधा कर दिया। अमुक सन्त ने एक ही शापद्वारा अमुक पुरुष को भस्म कर डाला और उसका धन एवं घर सभी नष्ट कर दिया। वे कहते हैं कि बलवान् पुरुष का यही लक्षण है कि उसके सामने जो मुँह खोलता है उसी का सर्वनाश हो जाता है। किन्तु याद रखो, ऐसा करनेवाले पुरुष महा-मूर्ख है। क्रोध को तो सन्तजनों ने कुत्तों का स्वभाव बताया है और ये उसे ही बड़े महत्त्व और गौरव की बात समझते हैं। महापुरुषों का स्वभाव तो सहन-शीलता है, जिसे ये बलहीनता का चिह्न मानते हैं। सो, यह सब मलिन मन का ही स्वभाव है, जो छल करके बुराई को सुन्दर और गुण को कुरूप करके दिखाता है। किन्तु बुद्धिमान् पुरुष तो निःसन्देह जानता है कि यदि क्रोध ही का नाम पुरुषार्थ होता तो रोगी वृद्ध और स्त्रियों को तो बहुत अधिक क्रोध होता है, अतः जगत् में इन्हीं की विशेषता होनी चाहिये थी। पर ऐसी बात तो है नहीं। वास्तव में तो क्रोध को जीतना ही पुरुषार्थ माना जाता है। और यही महा-पुरुषों का लक्षण भी है। क्रोधी पुरुष तो जंगली जीवों की तरह हैं। वे देखने में तो मनुष्य मालूम होते हैं, किन्तु स्वभाव से तो सिंह और व्याघ्ररूप ही हैं। अतः तुम विचार कर देखो कि महापुरुषों के लक्षण का नाम पुरुषार्थ है या पशु और मूर्खों के स्वभाव को पुरुषार्थ कहते हैं।

यह क्रोधनिवृत्ति के उत्तम उपाय का वर्णन हुआ, क्योंकि इससे उसका समूल उच्छेद हो जाता है। अब दूसरे उपाय का वर्णन करते हैं। यह सामान्य कोटि का है, क्योंकि इसके द्वारा

क्रोधरूपी कुरोग कुछ निर्बल तो पड़ जाता है, किन्तु उसका मूलोच्छेद नहीं होता । यह उपाय विचाररूपी मिठाई और हठरूपी कटुता के मेल से बनी हुई ओषधि के समान है, क्योंकि सभी शुभ स्वभाव विचार और आचरण की एकता होनेपर ही सिद्ध होते हैं। इनमें विचार का काम तो यही है कि क्रोध की निन्दा और सहनशीलता की महत्ता के विषय में जितने वचन आये हैं बार-बार उनका मनन करे, और अपने को यह समझावे कि जिस प्रकार तू प्रबल होने के कारण किसी असहाय पर क्रोध करता है उसी प्रकार तेरी अपेक्षा श्रीभगवान् बहुत अधिक प्रबल हैं। अतः यदि तू किसी पर क्रोध करेगा तो तेरे ऊपर भगवान् कुपित होंगे। कहते हैं, एक बार महापुरुष के एक सेवक ने कुछ अवज्ञा की। तब उन्होंने कहा कि यदि मुझे परलोक का भय न होता तो तुझे दण्ड देता। इसके सिवा यह भी विचारना चाहिये कि मैं जो क्रोध करता हूँ उसका कारण तो यही होता है कि अमुक कार्य मेरी इच्छा के अनुसार न होकर श्रीभगवान् की इच्छा के अनुसार हुआ। सो, यह तो एक प्रकार से भगवान् के ही साथ विरोध करना है।

किन्तु जब ऐसा विचार करनेपर भी क्रोध का वेग क्षीण न हो तो इस संसार के प्रयोजन पर विचार करे और यह सोचकर क्रोध का दमन करे कि यदि मैं किसी पर क्रोध करूँगा तो वह भी मेरे विरुद्ध ही आचरण करना चाहेगा। और शत्रु को अल्प जानना उचित नहीं है। उसके सिवा क्रोध के समय तो मनुष्य का स्वरूप कुत्ते के समान हो जाता है, उस भयानक रूप का स्मरण करे। अतः उचित यही है कि ऐसे मलिन स्वभाव को त्यागकर क्षमा और धैर्य जो सन्तजनों के स्वभाव एवं लक्षण हैं उन्हें धारण करे तथा जगत् के मान को त्यागकर प्रभु की ही प्रसन्नता चाहे। इस प्रकार अपने को समझाना ही परम बुद्धिमानी है और यही क्रोध को जीतने का उपाय है। इसका आचरण इस प्रकार

किया जा सकता है कि जब क्रोध की अधिकता जान पड़े तो मुख से ऐसा कहे, "भगवन्! इस क्रोधरूपी दुष्ट से मेरी रक्षा कीजिये।" तथा क्रोध के वेग के समय यदि खड़ा हो तो बैठ जाय और यदि पहले से बैठा हुआ ही हो तो लेट जाय अथवा शीतल जल से स्नान कर ले। इससे स्वाभाविक ही क्रोध का बल क्षीण हो जाता है। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि यदि इस मनुष्य में क्रोध का आवेश हो तो इसे चाहिये कि प्रभु को दण्डवत् प्रणाम करे, अपने मस्तक को पृथ्वी पर रखे और ऐसा विचार करे कि मैं पृथ्वी से ही उत्पन्न हुआ हूँ और यह अत्यन्त क्षमाशीला है, अतः मुझे भी क्रोध नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह कि जब इसे कोई दुःख पहुँचावे अथवा दुर्वचन कहे तब प्रथम तो क्षमा कर देना ही अच्छा है। और यदि ऐसा जान पड़े कि इस समय कुछ कहना ही चाहिये तो थोड़े ही में उत्तर दे। तथा कठोर वचन कहने का भी अवसर न टाला जा सके, तो भी झूट तो कहे ही नहीं।

यह सब होने पर भी जिज्ञासु के लिये तो यह उचित कहा ही नहीं जा सकता कि वह दुर्वचन के उत्तर में स्वयं भी दुर्वचन कहे तथा निन्दा करनेवाले की स्वयं भी निन्दा करने लगे। इसका नाम सहनशीलता नहीं है। कहते हैं, एक वार एक भगवत्प्रेमी से कोई दुष्ट दुर्वचन कहने लगा। उस समय महापुरुष भी उसके पास बैठे थे। किन्तु जब वह प्रेमी उस दुष्ट को कुछ बदले में कहने लगा तो महापुरुष वहाँ से उठ कर चल दिये। इस पर उस प्रेमी ने पूछा, "महाराज! जब वह दुष्ट मुझ से उल्टी-सीधी बातें कर रहा था तब तो आप बैठे रहे और जब मैं बोलने लगा तो उठकर चल दिये।" महापुरुष ने कहा, 'भाई! जबतक तुम मौन थे तब तक देवता तुम्हारी ओर से उसे उत्तर देते थे, किन्तु जब तुम बोलने लगे तो उनकी जगह क्रोधरूपी असुर तुम्हारे भीतर आ गया। और असुरों का संग त्यागना ही चाहिये। इसीसे मैं उठ

खड़ा हुआ।"

इसके सिवा महापुरुष ने यह भी कहा है कि मनुष्यों की अवस्था भगवान् ने भिन्न-भिन्न प्रकार की रची है। इसी से कोई लोग तो बहुत देर में क्रोधित होते हैं और देर ही में प्रसन्न भी होते हैं। तथा कोई लोग बहुत शीघ्र रुष्ट हो जाते हैं और फिर तुरन्त ही प्रसन्न भी हो जाते हैं। इनमें पिछले स्वभाव के लोग ही श्रेष्ठ हैं। किन्तु यदि कोई पुरुष विचार और धैर्यद्वारा क्रोध को सर्वथा लीन कर दे तो वह सबसे अच्छा है। और यदि किसी संयोग या निर्बलता के कारण कोई व्यक्ति क्रोध को व्यक्त तो न करे, किन्तु उसके हृदय में क्षोभ बना रहे, तो इससे उसके चित्त में क्रोध की एक गाँठ पड़ जाती है। यह अत्यन्त निन्दनीय है। इसीसे महापुरुष ने कहा है कि जिज्ञासुजन हृदय में क्रोध की गाँठ नहीं रखते, इससे निश्चय हुआ कि यह हृदय की गाँठ क्रोध की ही सन्तान है। इसके आठ पुत्र हैं, जो सभी धर्म का नाश करनेवाले हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. ईर्ष्या, जिसके कारण मनुष्य अपने शत्रु का सुख देखकर सन्तप्त हुआ करता है।
२. शत्रुता, जिसके कारण मनुष्य अपने प्रतिपक्षी को दुःख प्राप्त होनेपर बड़ी प्रसन्नता से उसका वर्णन करता है।
३. क्रोध के कारण आपस में नमस्कारादि न करना।
४. अपने विरोधी को ग्लानिपूर्वक देखना।
५. उससे दुर्वचन कहना।
६. अपने विरोधी के दोषों को लोगों में प्रकट करना।
७. उसकी हिंसा का चिन्तन करना।
८. उसके किसी कार्य में सहायता न करना तथा उसका ऋणी होनेपर भी धृष्टतापूर्वक उससे विरोध करना। यद्यपि कोई-कोई ऐसे बुद्धिमान् तो होते हैं कि अपने को स्थूल

विकारों से बचा लेते हैं। किन्तु उनके लिये भी अपने विरोधी का उपकार करना बहुत कठिन होता है तथा वे उनके भाव, मिलाप, सहायता और शुभ गुणों का भी वर्णन नहीं कर सकते।

इस प्रकार ये हृदय की गाँठ के आठ भेद हैं और ये सभी स्वभाव चित्त को मलिन करनेवाले हैं। इस विषय में एक कथा भी है। कहते हैं, एक महापुरुष की रसोई बनाने वाला व्यक्ति था। उसने महापुरुष की सहधर्मिणी से बहुत दुर्वचन कहे। उनके पिता ही प्रधान रूप से उस भण्डारी के खान-पान की व्यवस्था करते थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि इसने मेरी पुत्री से बुरा-भला कहा है तो वे कुपित होकर महापुरुष की शपथ करते हुए बोले कि अब मैं तेरी जीविका की कोई व्यवस्था नहीं करूँगा। जब महापुरुष को यह सब बात मालूम हुई तो उन्होंने कहा कि मुझे भगवान् ने ऐसी आज्ञा दी है कि जब कोई तुम्हारा तिरस्कार करे तो तुम उसे क्षमा कर दो और किसी प्रकार की शपथ करके ऐसा मत कहो कि मैं इसके साथ भलाई नहीं करूँगा। तात्पर्य यह है कि जब किसी के प्रति इस पुरुष के चित्त में क्षोभ हो तो उचित है कि पहले तो हठ और धैर्यपूर्वक क्रोध को रोके तथा उसके प्रति भाव और सद्व्यवहार को बढ़ावे। यही उत्तम पुरुषों की स्थिति है। किन्तु यदि विरोधी के प्रति सद्व्यवहार करने की क्षमता न हो तो भी इतना तो अवश्य होना चाहिये कि उसे किसी प्रकार कष्ट न पहुंचावे। यह मध्यम पुरुषों की स्थिति है। बुरे के साथ बुराई करना तो संसारी पुरुषों का काम है और अत्यन्त निकृष्ट अवस्था है। अतः निश्चय हुआ कि बुरे के साथ भलाई करना ही सबसे अच्छी बात है और यही सर्वश्रेष्ठ आचरण है। यदि ऐसा न कर सके तो क्षमा कर देना ही अच्छा है। महापुरुष ने भगवान् की शपथ करके कहा है कि दान देने से धन कभी नहीं घटता और

जो आदमी दूसरों की आशा रखता है उसे अवश्य दरिद्रता घेर लेती है। क्षमाशील पुरुष को तो निःसंदेह भगवान् भी क्षमा कर देते हैं। इसके सिवा महापुरुष की सहधर्मिणी ने भी कहा है कि मैंने उन्हें कभी अपने निमित्त से किसी को दण्ड देते नहीं देखा। हाँ, धर्म का निमित्त होनेपर तो वे ताड़ना भी करते थे। उन्होंने ऐसा भी कहा है कि इहलोक और परलोक में मैंने सर्वोत्तम कर्म यही देखा है कि शत्रु के प्रति भी सद्भाव रखे और अपने को दुःख देनेवाले को भी सुख दे। प्रभु का कथन है कि जो मेरा भय मान कर समय होते हुए भी किसी की अवज्ञा को क्षमा कर देते हैं वे सर्वदा मेरे निकटवर्ती हैं और मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। कहते हैं कि किसी ने एक सन्त की कुछ सामग्री चुरा ली थी। इसपर सन्त रोने लगे। तब उनसे किसी ने पूछा, "आप धन के लिये रोते क्यों हैं?" उन्होंने कहा, "मुझे धन का तो कुछ भी शोक नहीं है। मैं तो इसलिये रोता हूँ कि अब परलोक में उस बेचारे चोर को इस दुष्कर्म का दण्ड दिया जायगा तो वह क्या उत्तर देगा। इस प्रकार उसके प्रति दयावश ही मुझे रोना आ रहा है।" महात्मा दाऊद को भी आकाशवाणी हुई थी कि जब यह पुरुष अपने शत्रु की अवज्ञा को क्षमा कर देता है और वैर भाव से दूर हो जाता है तब इसके सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं। अतः उचित यही है कि जब क्रोध आने लगे तब चित्त को शान्त रखे और दुःख देनेवाले पुरुष का भी उपकार करे। इससे क्रोध निर्बल पड़ जाता है। एक बार महापुरुष ने अपनी पत्नी से कहा था कि जिसे भगवान् ने भाव और दया का गुण दिया है वह लोक और परलोक का सुख भोगता है और जो भाग्यहीन होता है उसे न इस लोक का सुख मिलता है और न परलोक का।

(ईर्ष्या के विघ्न और उसका स्वरूप)

याद रखो, क्रोध से हृदय की गांठ उत्पन्न होती है और उस

गांठ से ईर्ष्या की उत्पत्ति मानी गयी है। यह भी जीव के धर्म का नाश कर देनेवाली है। महापुरुष का कथन है कि जैसे अग्नि लकड़ियों को जला डालती है उसी प्रकार ईर्ष्या शुभ कर्मों को भस्म कर देती है। साथ ही ऐसा भी कहा है कि इस पुरुष को दोषदृष्टि एवं ईर्ष्या से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इसका उपाय यह है कि जब किसी पर दोषदृष्टि उत्पन्न हो तब उसके छिद्रों की खोज न करे और जिस के प्रति कुछ ईर्ष्या होने लगे उस के लिये जिह्वा और हाथों को अपकर्म से रोके रहे। एक बार महापुरुष ने अपने भक्तों से कहा था कि अब मैं तुम लोगों में ईर्ष्या की अधिकता देखता हूँ और इससे पहले भी बहुत लोगों का सर्वनाश हो चुका है। मैं भगवान् की शपथ करके कहता हूँ कि जब तक मनुष्य में धर्म की दृढ़ता नहीं होती तब तक उसे आत्मसुख प्राप्त नहीं हो सकता। और जब तक वह सब मनुष्यों के प्रति सद्भाव एवं प्रेम नहीं रखता तब तक उसमें धर्म की दृढ़ता नहीं होती। प्रभु ने कहा है कि ईर्ष्या करनेवाला पुरुष ऐसा विमुख होता है कि जिसे मैं कुछ देता हूँ उसी का वह शत्रु बन जाता है। मैंने जीवों की जैसी-जेसी प्रारब्ध रची है उसे वह ठीक नहीं जान पड़ती। महापुरुष ने भी कहा है कि छः प्रकार के मनुष्य अपने नैसर्गिक स्वभावों के कारण ही नरक में जायँगे—(१) राजा अधर्म के कारण, (२) सिपाही कठोरता के कारण, (३) धनवान् अभिमान के कारण, (४) व्यवहारी लोग छल के कारण, (५) जंगली आदमी मूर्खता के कारण और (६) विद्वान् ईर्ष्या के कारण नरकगामी होंगे। एक सन्त ने कहा है कि मैं तो किसी से ईर्ष्या नहीं करता, क्योंकि जब मुझे परलोक के सुख का अनुभव होता है तो उसके सामने यह स्थूल सुख तो कुछ भी नहीं है। इसकी मैं क्या ईर्ष्या करूँ ? यदि संसार के सुखों को भोगकर मुझे नरक ही में जाना है तो उसके द्वारा मैं कब तक सुखी होऊँ ?

अब विचार यह करना है कि ईर्ष्या कहते किसे हैं? जब किसी पुरूष को सुख प्राप्त हो और उसके सुखको देख कर इसे सन्ताप हो तथा यह उस सुख का नाश चाहे, तब इसी का नाम ईर्ष्या है। यह बड़ा ही दूषित स्वभाव है, क्योंकि इससे भगवान् की आज्ञा का विरोध होता है। और यह बड़ी मूर्खता की बात है कि अपने को कोई लाभ न होनेपर भी दूसरे की हानि चाहे। यह तो हृदय की मलिनता का ही लक्षण है। किन्तु यदि तुम्हें किसी का सुख देखकर सन्ताप तो न हो, केवल वैसा होने की इच्छा ही हो, तो इसे अभिलाषा कहते हैं। यह अभिलाषा यदि धर्मकार्यों में हो तो निःसन्देह सुख का कारण है और यदि भोगों के निमित्त हो तो यह भी अशुभ ही है। इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि जिज्ञासु को ईर्ष्या करनी उचित नहीं, किन्तु ऐसी अवस्था में वह भी अच्छी है जब किसी सात्त्विकी पुरुष को शुभ कर्मों में प्रवृत्त होते देखे अथवा किसी में विशेष उदारता का भाव दिखायी दे और मन में ऐसी इच्छा हो कि किसी प्रकार मैं भी वैसा ही हो जाऊँ। ऐसी स्थिति में यदि वह पुरुष निर्धन भी हो तो भी अपनी सात्त्विकी श्रद्धा के कारण धनवान् की उदारता का फल प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार यदि कोई धनवान् पुरुष अपने धन के द्वारा तरह-तरह के भोग भोगता हो और उसे देखकर किसी धनहीन व्यक्ति की यह इच्छा हो कि यदि मेरे पास धन होता तो मैं भी इसी प्रकार भोग भोगता, तब ऐसा विचार करनेपर भी उसी के समान पाप का भागी होता है। तात्पर्य यह है कि किसी की सम्पत्ति और सुख को देखकर ही उससे ग्लानि करना उचित नहीं। परन्तु यदि कोई अधर्मी राजा अथवा दुराचारी धनिक हो तो उसके भोगजनित सुख में दोषदृष्टि होना उचित ही है, क्योंकि उसकी सामर्थ्य का नाश होने से उसके पापों का भी अन्त हो जायगा। इसकी पहिचान इस प्रकार हो सकती है कि जब वह

अधर्मी राजा अथवा दुराचारी धनिक उस पाप-प्रवृत्ति को त्याग दे और फिर उसकी सम्पत्ति को देखकर चित्त में प्रसन्ता हो एवं उस के प्रति किसी प्रकार की दोषदृष्टि न हो। तब समझना चाहिये कि उसके प्रति हमारी ईर्ष्या नहीं है। यद्यपि यह ईर्ष्या ऐसी है कि अकस्मात् ही हृदय में इसका स्फुरण हो जाता है और फिर स्वयं ही हृदय से निकलती भी नहीं, तथापि जब यह पुरुष उसके संकल्प को अत्यन्त मलिन समझे और भगवान् का भय रखे तो उससूक्ष्म संकल्प के कारण इसे वैसा पाप नहीं लगता। किन्तु जब इसे इतनी तटस्थता प्राप्त हो जाय और ऐसी स्थिति हो कि इसके शत्रु का सुख-दुःख भी हाथ में हो, तब इसका यही कर्त्तव्य है कि उसे सुख से वञ्चित न रखे। ऐसा करनेपर यह ईर्ष्या के दोष से सर्वथा मुक्त हो सकता है।

(ईर्ष्या-निवृत्ति का उपाय)

ईर्ष्या एक दीर्घ रोग है और इससे हृदय को ही दुःख होता है। अतः इसकी निवृत्ति का उपाय भी विचार और क्रिया के सम्बन्ध पूर्वक ही हो सकता है। विचार तो यही है कि ईर्ष्या के द्वारा लोक और परलोक में होनेवाली अपनी हानि को पहचाने। इस लोक में इसकी मुख्य हानि यह है कि ईर्ष्यालु पुरुष सर्वदा चिन्ताग्रस्त और दुःखी रहता है। वह यद्यपि अपने प्रतिपक्षी को दुःखग्रस्त देखना चाहता है, तथापि इस चिन्तन के कारण पहले तो आप ही जलता है। इससे निश्चय हुआ कि चिन्ता अत्यन्त दुःखरूप और बड़ी भारी मूर्खता ही है। क्योंकि ऐसा पुरुष तो अपने रोष में अपने ही को जलाता है, शत्रु का तो कुछ भी नहीं बिगाड़ पाता। वस्तुतः सब लोगों के सुख-दुःख तो प्रभु की इच्छा के अधीन ही हैं। प्रभु ने जिसके लिये जैसे सुख-दुःख का विधान किया है वह इसके संकल्प से तनिक भी घट-बढ़ नहीं सकता। इससे निश्चय होता है कि ईर्ष्या करनेवाले पुरुष को तो ईर्ष्या से इसी लोक

में पर्याप्त दुःख प्राप्त हो जाता है। इसके सिवा परलोक में भी उसे बहुत दुःख भोगना पड़ता है। ईर्ष्यालु पुरुष भगवान् की आज्ञा का विरोध करता है और उन्होंने जो पूर्ण ज्ञान के द्वारा जीवों की प्रारब्ध रची है उससे विमुख होता है। अतः ईर्ष्या के कारण वह प्रभु का विश्वास खो बैठता है तथा सब जीवों का अहितचिंतन भी करता रहता है। इसी से सन्तों ने कहा है कि ईर्ष्या करना मनमुखता ही है।

इसके विपरीत विचारकर देखा जाय तो जिसके प्रति ईर्ष्या की जाती है उसे तो यह लाभ ही होता है कि उसका शत्रु ईर्ष्या के कारण इसी लोक में जलता रहता है और उसकी कुछ भी हानि नहीं होती। इसके सिवा उसे पुण्यप्राप्ति भी होती है, क्योंकि वह तो ईर्ष्या करनेवाले का कुछ बिगाड़ता नहीं और यह उसका अहितचिंतन करता है, इसलिये इसके जो पुण्य कर्म होते हैं उन का फल उसे ही प्राप्त होगा और इसे उसके पापों का फल भोगना पड़ेगा। अतः यदि विचारकर देखा जाय तो मालूम होगा कि जो पुरुष ईर्ष्यावश किसी के लौकिक सुख का नाश चाहता है उसके चिंतन से उसके लौकिक सुख को तो कोई क्षति पहुँचती ही नहीं, प्रत्युत उस ईर्ष्या के कारण उसे पारलौकिक सुख और भी अधिक मिलता है। तथा ईर्ष्या करनेवाला तो इस लोक में भी दुःखी रहता है और परलोक के दुःखों का भी अधिकाधिक बीजारोपण करता है। इस प्रकार यद्यपि यह तो समझता है कि मैं अपना मित्र और उसका ही शत्रु हूँ। किन्तु वास्तव में यह उसका मित्र और अपना ही शत्रु होता है। अतः ऐसा करके यह स्वयं अपने ही को अत्यन्त सन्तप्त करता है और परलोक के सुखों से भी वञ्चित रह जाता है। तथा जो पुरुष किसी से ईर्ष्या नहीं करते वे यहाँ भी सुखी रहते हैं और परलोक में भी सुखी रहेंगे। महापुरुष ने भी इस विषय में यही कहा है कि उत्तम पुरुष वही है जो किसी

के हृदय में सदुपदेशों की धारणा दृढ़ कराता है और स्वयं भी विद्वानों से उपदेश सुनकर उन्हें धारण करता है, अथवा उन्हीं में अपनी विशेष प्रीति रखता है। ईर्ष्या करनेवाले में तो इन तीनों गुणों का अभाव रहता है। अतः ईर्ष्या करनेवाले में तो यही दृष्टान्त चरितार्थ होता है जैसे कोई अपने शत्रु पर पत्थर फेंके, किंतु वह पत्थर शत्रु के न लगकर उलट कर इसी के नेत्र में लगे और उसे फोड़ दे। इस पर यह कुपित होकर दूसरा पत्थर मारे, किंतु वह भी लौटकर इसके दूसरे नेत्र को फोड़ दे। फिर तीसरा पत्थर फेंके और वह लौटकर इसके सिर को फोड़ दे। बस, इसी प्रकार वह बार-बार अपने को घायल करता रहे और वह शत्रु इसे देखकर हँसा करे। इसी प्रकार ईर्ष्यालु पुरुष अपने आपको ही दुःख पहुंचाता रहता है, अपने शत्रु की कुछ भी हानि नहीं कर पाता। किंतु जो व्यक्ति अपने हाथों से शत्रु को दुःख पहुंचाता है अथवा वाणी से उसकी निन्दा करता है वह तो बड़ा दुःखदायी होता है। परन्तु पहले मैं जो विचाररूप उपाय का वर्णन कर चुका हूँ उसके द्वारा यदि वह ईर्ष्या को हलाहल विष के समान घातक समझेगा तो अवश्य ही उसे त्याग देगा।

अब क्रिया के द्वारा ईर्ष्यानिवृत्ति के उपाय का वर्णन करते हैं। मनुष्य को जिस दोष के कारण ईर्ष्या उत्पन्न होती हो उसे प्रयत्नपूर्वक अपने हृदय से निकाल देना चाहिये। ईर्ष्या का बीज प्रायः अभिमान, शत्रुता अथवा मानप्रियता होती है। अतः जिज्ञासु को मूल से ही ऐसे मलिन स्वभावों का उच्छेद कर देना चाहिये। इससे ईर्ष्या का बीज ही नष्ट हो जायगा। इसके सिवा एक उपाय यह भी है कि जब ईर्ष्यावश किसी की निन्दा करने की प्रवृत्ति हो तब उसकी प्रशंसा करे, जब हानि करने की रुचि हो तब उसकी सहायता करे और जब अभिमान का अंकुर उपजने लगे तब दीनता अंगीकार करे। एक उपाय यह भी बहुत उत्तम

है कि जिसके साथ कुछ शत्रुता का भाव हो उसके शुभ गुणों का वर्णन करे। इससे स्वाभाविक ही ईर्ष्या निवृत्त हो जाती है। किन्तु यह मन ऐसा पापी है कि जब यह कुछ सहनशीलता करता है तो मन कहने लगता है कि यदि तू सहन करेगा तो शत्रु तुझे निर्बल समझेगा। इसीसे कहा है कि यद्यपि मन के स्वभाव से विपरीत चलना उत्तम उपाय है, तथापि ऐसा करना है अत्यन्त कठिन। किंतु जब जिज्ञासु की बुद्धि में यह बात अच्छी तरह जम जाय कि ईर्ष्या और क्रोध इहलोक एवं परलोक दोनों ही में दुःखरूप हैं, इनके त्यागने में ही परमसुख है, तब यह बिना यत्न ही इस ओषधि को स्वीकार कर लेता है। ओषधियाँ तो प्रायः सभी कड़वी या कसैली ही होती हैं, किंतु बुद्धिमान् पुरुष कड़वी होने के कारण ही उनका त्याग नहीं करते। जो रोगी मूर्खतावश कड़वेपन के कारण ही ओषधि को त्याग देता है वह तो शीघ्र ही मृत्यु के मुख में पड़ता है।

यह बात भी ठीक है कि मनुष्य अपने प्रयत्नद्वारा शत्रु और मित्र में समान भाव नहीं रख सकता, क्योंकि यह अल्पशक्ति जीव ही है और प्रभु की इच्छा के अधीन है। पर तो भी इसे इतना तो अवश्य करना चाहिये कि यदि मन से ईर्ष्या और क्रोध को पूर्णतया निवृत्त न कर सके तो भी वचन एवं कर्म से तो वैर-भाव न करे तथा बुद्धि से भी इस स्वभाव को बुरा ही समझे। साथ ही, ऐसा संकल्प भी रखे कि मेरे हृदय से यह मलिन स्वभाव निकल जाय तो बहुत अच्छा हो। जब जिज्ञासु ऐसा पुरुषार्थ करेगा तो अपने इस मानसिक संकल्प के कारण उसमें वे दूषित प्रवृत्तियाँ ठहर नहीं सकेंगी, क्योंकि अब उसकी श्रद्धा में किसी प्रकार की मलिनता नहीं है। यदि जीवभाव से उसे अकस्मात् कोई संकल्प फुरेगा भी तो वह विचार के बल से निवृत्त हो जायगा।

परन्तु कुछ मनुष्य तो ऐसा कहते हैं कि यदि यह जीव वाणी और कर्मद्वारा किसी प्रकार की शत्रुता प्रकट न करे तो मन में ईर्ष्या के दोषों को न जाननेपर केवल मानसिक संकल्पों के कारण परलोक में इसे किसी प्रकार का बन्धन नहीं होगा। किन्तु यह बात ठीक नहीं, क्योंकि वास्तव में ईर्ष्या तो मन का ही कर्म है, सो यदि यह किसी का सुख देखकर सन्तप्त और दुःख देखकर प्रसन्न हो तो इससे बढ़कर और क्या पाप हो सकता है? अतः इस पाप से तो तभी छुटकारा मिल सकता है जब इस स्वभाव को बुरा समझे और सब प्रकार इससे छूटने का संकल्प करे। ऐसी इच्छा होनेपर वह मलिन संकल्प दूर हो जाता है। पर शत्रु और मित्र में समदृष्टि तो तभी प्राप्त होती है जब यह पुरुष एकत्व-भाव में स्थित हो। अर्थात् जब यह सम्पूर्ण जीवों को समान रूप से पराधीन देखे और सब कर्मों के कर्ता एकमात्र श्री भगवान् ही को जाने। सो यह अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। यद्यपि किसी समय बिजली की तरह इसका क्षणिक प्रकाश तो होता है, किन्तु यह स्थिर नहीं रहती। जिन्होंने इस परमपद में स्थिति प्राप्त की है ऐसे तो कोई विरले ही सन्तजन हैं।

—:o:—

पाँचवीं किरण

माया के दोष और उनसे बचने के उपाय

याद रखो, माया सम्पूर्ण विघ्नों की मूल है और इसकी प्रीति ही समस्त पापों का बीज है। यही नहीं, यह श्रीभगवान् के प्रेमियों की बैरिन है और जो प्रभु से विमुख हैं उनकी भी साक्षात् शत्रु है। यह भगवत्प्रेमियों की बैरिन इसलिये है कि उन्हें यह अपना बड़ा रमणीय रूप दिखाती है और उनके आगे तरह-तरह के जाल फैलाती है। इसी से जिज्ञासुजन वैराग्य धारण कर इसे त्यागने का प्रयत्न करते रहते हैं। और इसके पाशों से अपने को बचाना चाहते हैं। इसी प्रकार यह भगवद्विमुखों की भी शत्रु है, क्योंकि पहले तो यह उन्हें अपने पर रिझाती है और जब वे अत्यन्त प्रमादी होकर मोहित हो जाते हैं तब उन्हें भी त्याग देती है। यह कुलटा स्त्री की तरह घर-घर भटकती रहती है और अपने प्रेमियों को भी सर्वदा दुःख देती है। किन्तु जब इससे प्रीति करने-वाले पुरुष परलोक में जाते हैं तब उन्हें प्रभु के कोप का सामना करना पड़ता है। अतः जिस बुद्धिमान् ने इसके छलों को भली प्रकार समझकर इसे त्यागा है वही इसके विघ्नों से छूटता है। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि यह माया अत्यन्त छलरूपा है। तथा भगवान् ने जो सन्तों को संसार में भेजा है और अनेक प्रकार के शास्त्रवचन प्रकट किये हैं उनका उद्देश्य यही है कि जीवों को माया की आसक्ति से बचावें और उन्हें इसके छलों एवं विघ्नों को स्पष्टतया दिखलावें, जिससे वे माया से विरक्त होकर

परलोकमार्ग के प्रयत्नों में जुट जायँ। कहते हैं, एक बार महापुरुष अपने भक्तों के साथ जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक मरा हुआ पशु मिला। उसे देखकर वे कहने लगे, "मैं शपथ करके कहता हूँ कि जैसे यह मृतक पशु इतना घृणित जान पड़ता है कि इसकी ओर देखा नहीं जाता उसी प्रकार सन्तजनों को माया इससे भी अधिक घृणित जान पड़ती है। भगवान् के दरबार में यदि माया का कुछ भी मूल्य होता तो यह मनुष्यों को रञ्चकमात्र भी प्राप्त न होती।" महापुरुष ने यह भी कहा है कि माया को धिक्कार है और इसकी जो सामग्रियाँ हैं उन्हें भी धिक्कार है। केवल उन्हीं पदार्थों को धिक्कार नहीं कहा जा सकता जो केवल भजन के लिये ही अंगीकार किये जाते हैं। इसके सिवा ऐसा भी कहा है कि जिसने माया से प्रेम किया है वह तो परलोक से विमुख है और जिसका परलोक के सुखों में प्रेम है वह माया के भोगों से अनासक्त रहता है। अतः उचित यही है कि नाशवान् पदार्थों का त्याग करे और सत्यस्वरूप श्रीभगवान् की भक्ति में तत्पर रहे।

एक भगवद्भक्त का कथन है कि एकबार एक सन्त ने जल माँगा। तब लोगों ने उन्हें एक कटोरा जल लाकर दिया। उसे पीते हुए वे ऐसा रुदन करने लगे कि उन्हें देखकर और सब लोग भी अपना रोना न रोक सके। उस समय उनमें से किसी को भी उनके रुदन का कारण पूछने का साहस न हुआ। धीरे-धीरे जब सभी लोग शान्त हुए तो उन्होंने उनसे पूछा कि आपके रुदन का क्या कारण था। उन्होंने कहा, "एकबार महापुरुष ध्यान में बैठे थे और हाथों से किसी को हटाने की-सी चेष्टा करते जाते थे। पर मुझे वहाँ कोई चीज दिखायी नहीं देती थी। अतः मैंने पूछा कि आप किसे हटा रहे हैं। वे बोले कि मेरे पास यह माया बार-बार आना चाहती है, किन्तु मैं इसे हटा देता हूँ। अब यह कहती है कि तुम तो मेरे छलों से बच गये हो परन्तु तुम्हारे पीछे जो लोग

होंगे वे अपने को बचा नहीं सकेंगे। तुमने मुझे यह शरबत का कटोरा दिया है, अतः मुझे भय है कि कहीं इसी रूप में मुझे छलने के लिये माया न आयी हो। यदि ऐसी बात हो तो अब मुझे क्या करना चाहिये।"

इसके सिवा महापुरुष ने ऐसा भी कहा है कि यह माया घर न होनेपर भी घर और धन न होनेपर भी धन जान पड़ती है। अतः मूर्ख लोग ही इसमें आसक्त होकर प्रसन्नता से इसका संचय करते हैं। यह प्राप्त भी उन्हीं को होती है जो विद्याहीन हैं तथा इसके लिये प्रयत्न भी वे ही करते हैं जिनकी धर्म में रुचि नहीं होती। अतः जो पुरुष प्रातःकाल से ही माया के कर्मों में लग जाता है वह तो भगवान् से विमुख ही है। ऐसे मायासक्त जीवों में चार लक्षण अवश्य होते हैं—(१) उनकी चिन्ता कभी दूर नहीं होती, (२) वह माया के जंजालों में ऐसा फँसा रहता है कि उनसे कभी छुटकारा ही नहीं मिलता, (३) वह सर्वदा अतृप्त रहता है तथा (४) उसकी आशा कभी पूर्ण नहीं होती। इस विषय में अबूहरेरा सन्त का कथन है कि एकबार मुझसे महापुरुष ने कहा कि क्या तुम माया की पूर्णता देखना चाहते हो ? ऐसा कहकर वे मुझे एक गन्दी जगह ले गये। वहाँ मनुष्यों और पशुओं की हड्डियाँ, विष्ठा और मैले चिथड़े भी पड़े हुए थे। उन्हें देखकर वे कहने लगे, "भाई ! तुम्हें जो ये मनुष्यों की खोपड़ियाँ दिखायी देती हैं किसी समय ये तुम्हारी ही तरह तृष्णा और ईर्ष्या से पूर्ण थीं। किन्तु अब तो इनके ऊपर त्वचा भी नहीं रही। ये अब शीघ्र ही भस्म हो जायँगी। देखो, वे नाना प्रकार के व्यञ्जन, जो मीठे जान पड़ते थे और बहुत प्रयत्न करनेपर प्राप्त होते थे, अब विष्ठारूप हो गये हैं, वे चित्र-विचित्र वस्त्र इस समय गन्दे चिथड़े हुए पड़े हैं तथा जिन हाथी-घोड़ों पर किसी समय बड़े अभिमान से सवारी की जाती थी उनकी भी अब हड्डियाँ ही रह गयी हैं।

सो, माया का सम्पूर्ण आदि अन्त यही है।

इसके सिवा ऐसा भी कहा है कि बहुत से जप-तप करनेवाले पुरुष भी परलोक में नरकगामी होंगे, क्योंकि वे भी जब माया के पदार्थों को देखते हैं तो उन्हें बड़ी तृष्णा से स्वीकार करते हैं। यही नहीं, एक बार महापुरुष ने अपने भक्तों से यह भी कहा था कि जानते हो, अपने को अन्धा बनानेवाला पुरुष कौन है? देखो जो पुरुष माया की तृष्णा रखता है वह मानो अपने को अन्धा बनाना चाहता है। और जो पुरुष आशा-तृष्णा को घटाता है उसके हृदय में भगवान् अनुभवजनित ज्ञान प्रकट कर देते हैं, जिससे उसकी बुद्धि बिना पढ़े ही ऊज्ज्वल हो जाती है और वह परमार्थ-पथ को स्पष्ट देख लेता है। महापुरुष ने ऐसा भी कहा है कि माया के पदार्थों का स्मरण भी न करो। इस प्रकार जिस माया की चर्चा करनी भी अनुचित है उसके साथ प्रीति करना अथवा उसके उपार्जन का प्रयत्न करना कैसे उचित हो सकता है? इसी पर महापुरुष ईसा ने कहा है कि माया को अपना स्वामी मत बनाओ, जिससे यह तुम्हें अपना दास न बना सके। तात्पर्य यह कि माया के साथ विशेष प्रीति मत करो, तभी तुम इसके जाल में बँधने से बच सकते हो। अपितु उस पदार्थ का संचय करो जिसके संग्रह से तुम्हें कभी भय प्राप्त होने की सम्भावना न हो। ऐसा भी कहा है कि माया और परलोक एक ही पुरुष की दो स्त्रियों के समान हैं। जिस प्रकार उनमें से यदि एक प्रसन्न होती है तो दूसरी असन्तुष्ट हो जाती है उसी प्रकार जब वह पुरुष माया की ओर लगता है तो परलोक बिगड़ जाता है और जब परलोक का मार्ग सुधारना चाहता है तो माया के साथ विरोध हो जाता है। इसके सिवा भगवान् ने अपने भक्तों से यह भी कहा है कि मैं तुम्हारे देखते हुए ही इस माया को पृथ्वी पर पटक रहा हूँ। अतः तुम इसे स्वीकार मत करना, क्योंकि यह माया ऐसी है कि सारे पाप इसी की आसक्ति

से होते हैं। तथा जब तक जीव इसका त्याग न करे तब तक उसे परलोक के सुख नहीं मिल सकते। इसलिये तुम माया की आसक्ति से ऊपर उठो और इसके कार्यों को पूरा करने का आग्रह छोड़ दो। ध्यान रखो, सारे पापों की जड़ माया की प्रीति ही है तथा सब प्रकार के भोगों का परिणाम शोक एवं दुःख ही है। जिस प्रकार जल और अग्नि का मेल नहीं हो सकता उसी प्रकार भगवद्भक्ति और माया की प्रीति भी साथ-साथ नहीं रह सकती! इसीसे सन्त-जन माया से विरक्त रहते हैं।

इस विषय में एक कथा भी है। कहते हैं, एक दिन बिजली और बादल का बड़ा उपद्रव था। इसलिये महात्मा ईसा उनसे बचने के लिये कोई स्थान ढूँढ़ने लगे। इतने में वहाँ एक तम्बू दिखायी दिया। उसमें गये तो भीतर एक सुन्दरी स्त्री दिखायी दी। अतः वहाँ से तुरन्त ही निकल कर वे एक पहाड़ की कन्दरा में घुस गये। उसमें एक सिंह बैठा हुआ था। इसलिये वहाँ भी न ठहर सके तथा भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि प्रभो! आपने सभी को विश्रामस्थान दिये हैं, किन्तु मेरे लिये तो कोई भी ठिकाना नहीं है। तब आकाशवाणी हुई कि ईसा! मैंने तुझे कुसंग से बचाया है, अतः मेरी दया ही तेरा विश्रामस्थान है। इसी प्रकार एक और प्रसंग भी है। कहते हैं, जब महापुरुष सुलेमान का ऐश्वर्य बहुत बढ़ गया और सब देवता, मनुष्य, अप्सरा एवं पशु आदि उनकी आज्ञा मानने लगे तब किसी तपस्वी ने उनसे कहा कि आपको भगवान् ने खूब ऐश्वर्य दिया है। इस पर वे बोले कि मेरे सारे ऐश्वर्य से तो एक बार भगवान् का नाम लेना ही बढ़कर है, क्योंकि प्रभु का नाम स्मरण तो अक्षय है और मेरा ऐश्वर्य नाशवान् है। एक बात और भी है—नूह नाम के एक महात्मा थे। उनकी एक हजार वर्ष की आयु हुई। अन्त में जब वे परलोक में गये तो वहाँ देवताओं ने उनसे पूछा कि तुमने इतनी

आयु को संसार में कैसा अनुभव किया। उन्होंने कहा, "जैसे सराय के एक दरवाजे से भीतर जायँ और दूसरे से बाहर निकल आवें वैसे ही मुझे संसार में इतनी आयु तक जीवित रहना मालूम हुआ।" एक बार महापुरुष ईसा से लोगों ने पूछा कि हम किस लक्षण के द्वारा भगवान् के अत्यन्त प्रिय हो सकते हैं? तब उन्होंने कहा कि जब तुम माया के प्रिय न होगे तब स्वाभाविक ही भगवान् के अत्यन्त प्रिय हो जाओगे।

इसी प्रकार सन्तों के अनेकों वचन माया का निषेध करनेवाले हैं। एक सुप्रसिद्ध सन्त ने कहा है कि जिन पुरुषों ने इन छः भेदों को जाना है वे स्वाभाविक ही नरकों से मुक्त होंगे और परम सुख प्राप्त करेंगे। वे छः भेद इस प्रकार हैं—

१. जिसने श्रीभगवान् को पहिचाना है वह निःसन्देह बड़ी तत्परता से भजन में लग जायगा।
२. जिसने मन को छलरूप समझा है वह निःसन्देह उसके विरुद्ध ही चलेगा, कभी भी मन की आज्ञा का अनुसरण नहीं करेगा।
३. जो जानता है कि वास्तव में सत्य ही यथार्थ वस्तु है वह सर्वदा सच्चे पदार्थ को ही स्वीकार करेगा।
४. जिसने झूठ को झूठ (सारहीन) समझा है वह सहज ही में उसे त्याग देगा
५. जिसने माया के आदि-अन्त को देखा है वह स्वाभाविक ही उसके सुखों को नीरस जानेगा और उनसे विरक्त हो जायगा।
६. जिसने विचारद्वारा परलोक के सुख की अनन्तता देखी है वह सर्वदा परलोकमार्ग के प्रयत्न में ही स्थित रहेगा।

एक बुद्धिमान् का कथन है कि आज जो मायिक पदार्थ तुम्हें प्राप्त है वह पहले भी किसी को प्राप्त हो चुका है और आगे भी

किसी और के पास चला जायगा। फिर ऐसे पदार्थ को पाकर तुम क्यों प्रसन्न होते हो ? क्योंकि वास्तव में तो इस संसार में खान-पान के सिवा तुम्हारा किसी से कोई प्रयोजन है नहीं। अतः खान पान के लिये ही तुम अपना सर्वनाश क्यों करते हो ? प्यारे ! उचित तो यह है कि तुम माया के सभी भोगों से व्रत रखो। तब परलोक में जानेपर वहाँ के सुख पाकर तुम्हारे उस व्रत का पारण होगा। इन सांसारिक सुखों की पूंजी तो वासना और तृष्णा ही है तथा इनका फल कुम्भीपाक नरक है। एक बार किसी जिज्ञासु ने एक सन्त से पूछा कि मेरे हृदय से माया की तृष्णा निवृत्त नहीं होती, इसका मैं क्या उपाय करूँ ? तब सन्त ने कहा, "प्रथम तो तू धर्मपूर्वक माया का उपार्जन कर और फिर शुभ कर्मों में ही उसे खर्च कर। इससे स्वभाविक ही तेरी माया की प्रीति निवृत्त हो जायगी।" सन्त ने यह उपाय इसलिये बतलाया था कि यदि धन का उपार्जन धर्मपूर्वक किया जाता है और शुभ कर्मों में ही उसे व्यय किया जाता है तो सहज ही में चित्त उससे विरक्त हो जाता है। एक सन्त ने कहा है कि यदि मिट्टी का पात्र अधिक दिन रहनेवाला हो और सुवर्ण का पात्र जल्दी फूटनेवाला तो स्थिरता के विचार से सुवर्णपात्र को त्यागकर मिट्टी का पात्र ही स्वीकार करना चाहिये। किन्तु यह माया तो मिट्टी की तरह क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होनेवाली है और परलोक का सुख सुवर्ण की भाँति निर्मल एवं अविनाशी है। अतः परलोक के अविनाशी सुखों को त्याग कर माया के क्षणभंगुर सुखों को स्वीकार करना तो बड़ी भारी मूर्खता ही है। इसीपर एक और सन्त ने कहा है कि इस माया के छल से भय करो, क्योंकि परलोक में मायासक्त जीवों से कहा जायगा कि जिस माया के भोगों को निन्दनीय कहा है उन्हीं में इस पुरुष की आसक्ति थी। मसऊद नामी एक सन्त ने कहा है कि इस संसार में सभी मनुष्य परदेशी की तरह हैं और यहां

जो माया की सामग्री है वह सब परायी है। एक दिन परदेशी को तो यहां से जाना ही होगा और तब ये सब सामग्रियाँ यहीं रह जायँगी। इसी प्रकार लुकमान ने अपने पुत्र से कहा था कि जब तू माया के सुख को त्यागकर परलोक का सुख स्वीकार करेगा तो तुझे इस लोक और परलोक दोनों ही के सुख प्राप्त हो जायँगे। और यदि तू माया के लिये परलोक का त्याग करेगा तो दोनों लोकों में तेरी हानि ही होगी। इसीसे फुजैल नामी सन्त ने कहा है कि यदि मुझे माया के सारे सुख निष्पाप उपायों से भी प्राप्त हो जायँ और उनके लिये मुझे परलोक में भी किसी प्रकार के दण्ड की आशंका न हो तो भी जिस प्रकार तुम मृतक पशु से घृणा करते हो उसी प्रकार उन स्थूल भोगों को भोगने में मुझे संकोच होता है। एक बार हसन बसरी सन्त ने उमर अब्दुल अजीज को पत्र लिखा था कि काल को आया देखो, क्योंकि जिसके भाग्य में मृत्यु है उसे वह अवश्य प्राप्त होगी। इसपर उन्होंने उत्तर लिखा था कि हमें तो सर्वदा अपने अन्तकाल का दिन ही दिखायी देता रहता है और यह संसार बिना हुआ-सा ही जान पड़ता है।

इसके सिवा सन्तों ने ऐसा भी कहा है कि मनुष्य मृत्यु को अवश्यम्भावी जानते हुए भी प्रसन्नता का अनुभव करता है—यह कितना बड़ा आश्चर्य है ? तथा नरक को सत्य मानकर भी संसार में हँसता है—यह भी बड़ा भारी आश्चर्य ही है। साथ ही यह भी कितना बड़ा आश्चर्य है कि मनुष्य निरन्तर माया के पदार्थों का परिणाम होते देखता है और फिर भी इन्हीं को विशेष समझ कर इनमें बँध जाता है। तथा यह भी कैसे आश्चर्य की बात है कि जो पुरुष भगवान् को ही अपना भरण-पोषण करनेवाला जानता है वही जीविका की चिन्ता में चिन्तित रहता है। इसी प्रकार एक और सन्त ने कहा है कि इस संसार में ऐसा पदार्थ कोई नहीं है जिसे पाकर पहले प्रसन्नता हो और फिर शोक न आवे। तात्पर्य

यह कि दुःख से रहित निर्मल सुख इस संसार में उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसीसे संत हसन बसरी ने कहा है कि मृत्यु के समय मनुष्य को तीन पाश्चात्ताप अवश्य होते हैं—

(१) जिस माया को यत्नपूर्वक बटोरा था उसे अच्छी तरह भोग न सका।

(२) मनके सारे मनोरथ पूर्ण न हो सके।

(३) परलोक मार्ग का पाथेय संग्रह न कर सका।

एक बार इब्राहीम अदहम नामक संत ने किसी से पूछा था कि तुम्हें स्वप्न का पैसा अधिक प्रिय है या जाग्रत् की मुहर ? उसने कहा, "मुझे तो जाग्रत् की मुहर ही अधिक प्रिय है।" इसपर इब्राहीम कहने लगे कि तुम्हारा कथन मिथ्या है, क्योंकि यह माया तो स्वप्न का पैसा है और परलोक का सुख जाग्रत् की मुहर है। किंतु तुम्हारी प्रीति तो माया में अधिक है। इसलिये तुम जो कहते हो वह झूठ है। एक और सन्त ने भी कहा है कि मनुष्य माया को छोड़कर जाने से पहले ही उसे त्याग दे, मृत्यु आने से पहले ही मुर्दा हो जाय ❀ तथा परलोक में जाने से पहले ही वहाँ का पाथेय संग्रह कर ले।

इसके अतिरिक्त ऐसा भी कहा है कि इस माया की अभिलाषा ही मनुष्य को भगवान् की ओर से असावधान कर देती है। फिर इसके प्राप्त हो जानेपर जैसी मलिनता होती है उसका तो क्या वर्णन किया जाय। एक और संत ने कहा है कि जो पुरुष माया के पदार्थों को भोगकर तृप्त होना चाहता है वह तो ऐसा है जैसे कोई लकड़ियाँ डालकर अग्नि को बुझाना चाहे। ऐसे पुरुष को मूर्ख ही कहा जायगा। इसी प्रकार माया के पदार्थों से संतुष्ट होना असम्भव ही है। अली नामक संत का कथन है कि सम्पूर्ण स्थूल

१. अर्थात् मुर्दे की तरह विषयों से निरपेक्ष हो जाय।

भोगों का सार ये छः भोग हैं–(१) भोजन,(२) पान, (३) गन्ध, (४) वस्त्र,(५) सवारी और (६) स्त्रियों का संग। सो विचारकर देखा जाय तो ये सभी मलिन हैं। भोजन में मधु सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु वह तो मक्खियों का थूक ही है। सब प्रकार के पेय पदार्थों में जल प्रधान है, सो वह सभी को समान रूप से प्राप्त होता है। वस्त्रों में रेशम सबसे कोमल होता है, किन्तु वह भी कीड़ों की लार से ही बनता है। सुगन्धों में कस्तूरी सर्वोत्तम है, परन्तु वह है हरिण का रुधिर ही। सवारी घोड़े की प्रसिद्ध है, सो ऐसी है, मानो अपने अंगों को चीर कर रख दिया हो। तथा स्त्री आदि भोगों की मलिनता तो प्रसिद्ध ही है। अस्थि-मांसादि मलिन पदार्थों के सिवा उनके अंगों में और क्या रमणीय है। एक और संत ने कहा है कि मनुष्यों! तुम्हें भगवान् ने परमपद प्राप्त करने के लिये रचा है। सो यदि तुम्हें ऐसा दृढ़ विश्वास नहीं है तब तो तुम निःसन्देह मनमुखी ही हो। और यदि विश्वास है, केवल असावधानी के कारण निर्भय बने हुए हो, तब तुम निःसन्देह मूर्ख हो।

(माया की मलिनता)

महापुरुष ने कहा है कि यह माया अत्यन्त निन्दनीय है तथा इसकी सारी सामग्री भी सब प्रकार निन्दा के योग्य ही है। केवल वही पदार्थ निन्द्य नहीं है जिसे केवल भगवान् के ही लिये स्वीकार किया जाय। अतः इस भेद की पहिचान अवश्य होनी चाहिये कि इस माया में क्या निन्दनीय है और क्या ग्राह्य है। यदि विचार किया जाय तो सब पदार्थों को तीन कक्षाओं में विभक्त किया जा सकता है—

१. प्रथम कक्षा में जो पदार्थ हैं वे तो केवल मायारूप है; जैसे पाप और भोग। मनुष्य जब तक इनका त्याग नहीं

करता तब तक कदापि शुद्ध नहीं होता, क्योंकि असावधानी और प्रमाद का कारण इन्द्रियादिजनित भोग और तमोगुणी कर्म ही हैं।

२. दूसरे वे पदार्थ हैं जो देखने में तो भगवदर्थ जान पड़ते हैं, पर सकामता के कारण वे भी मायारूप ही हैं; जैसे जप,तप एवं भोगों का त्याग इत्यादि। ये यद्यपि पारलौकिक सुख देनेवाले भी हैं, तथापि तभी जब कि निष्कामभाव से किये जायँ। किन्तु यदि हृदय में इनका उद्देश्य मान आदि की प्राप्ति ही हो, तब तो ये स्थूल भोगों से भी निन्दनीय हैं, क्योंकि उस अवस्था में तो इन्हें दम्भ या पाखण्ड ही कहा जायगा।

३. तीसरी कक्षा वह है जिसमें ऊपर से तो मन का भोग जान पड़े किन्तु उसका आन्तरिक प्रयोजन परमार्थ ही हो। ऐसे पदार्थों को निन्द्य नहीं कह सकते; जैसे शरीरनिर्वाह के लिये ही भोजन करना, अथवा शुद्ध जीविका उपार्जन करनी। ये सब कर्म निष्काम भाव होने के कारण निर्मल ही हो जाते हैं। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जो मनुष्य अपने भोगों के लिये धनसंचय करता है वह परलोक में भगवान् को अपने पर कुपित देखेगा। किन्तु यदि इसलिये व्यवहार करे कि इतना उद्यम करने से मुझे दूसरों के आश्रित नहीं होना पड़ेगा, फिर मैं निश्चिन्त होकर भजन करूँगा, तब परलोक में इसका ललाट पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान देदीप्यमान होगा।

तात्पर्य यह कि वासना के भोगों ही का नाम माया है, जिसके साथ कि परलोकमार्ग का कोई सम्बन्ध न हो। किन्तु जिस क्रिया का उद्देश्य परमार्थ हो उसे मायामात्र नहीं कह सकते; जैसे

कोई तीर्थयात्री यदि अपनी यात्रा के मार्ग में अपनी सवारी के घोड़े और ऊँट की जल एवं घास आदि की व्यवस्था करता है तो उसको इस क्रिया का उद्देश्य भी तीर्थयात्रा ही होता है। इस विषय में प्रभु ने भी कहा है कि मन की वासना का नाम ही माया है। अतः जो पुरुष वासना से विरक्त है वह माया से भी विरक्त कहा जाता है। इससे निश्चय होता है कि सब प्रकार के उपभोगों को इन तीन विभागों में बाँटा जा सकता है—

१. सारी सामग्री भोजन, वस्त्र और स्थान इन तीन के अन्तर्गत ही आ जाती है। इनका सेवन केवल शरीरनिर्वाह की दृष्टि से ही करना चाहिये। यदि निष्काम भाव से इनका सेवन किया जाय तो इनसे मनुष्य का कोई बन्धन नहीं होगा।

२. दूसरी श्रेणी में अनेकों इन्द्रियसम्बन्धी भोग आते हैं। इनसे कभी तृप्ति नहीं हो सकती और परलोक मार्ग का भी इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जो पुरुष केवल प्राणरक्षा के लिये स्थूल सामग्री का स्वीकार करता है वह तो निःसदेह मुक्तरूप है, किन्तु जो इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगों में फँसा हुआ है वह घोर नरकों में पड़ेगा।

३. तीसरा विभाग इन दोनों के बीच का है। यह विचार की सूक्ष्म दृष्टि द्वारा ही जाना जा सकता है, नहीं तो, कुछ पता नहीं लगता। इसमें भूल यही होती है कि जिस पदार्थ की इसे विशेष आवश्यकता न हो उसके विषय में भी यह ऐसा समझ ले कि यह वस्तु मेरे लिये बहुत आवश्यक है और फिर उसे स्वीकार भी कर ले। ऐसा होनेपर इसे निःसन्देह परलोक में दण्ड भोगना होगा। इसीसे जिज्ञासुजनों ने अपने शरीर को संयम में रखा है

और स्थूल सामग्री को अल्पमात्रा में ही स्वीकार किया है। तभी वे मनकी वासनाओं से मुक्त हुए हैं। पूर्वकाल में आवेश करनी नाम के सन्त विरक्तों में शिरोमणि हुए हैं। वे संसार से ऐसे विरक्त थे कि सब लोग उन्हें पागल समझते थे। प्रातःकाल होते ही वे नगर से बाहर चले जाते और एक पहर रात्रि बीतनेपर लौट आते थे। जो बेर और खजूर के फल स्वाभाविक ही वृक्षों से झड़ जाते थे उन्हें बीनकर वे उदरपूर्त्ति कर लेते थे, तथा उन्हीं में से कुछ भगवदर्थ दे देते थे। वे गलियों में पड़े चिथड़ों को धो लेते और उनकी गुदड़ी बनाकर ओढ़ते थे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर लोग उन्हें पागल समझते थे। जब बच्चे उन्हें पत्थर मारने लगते तो वे कहते थे कि छोटे-छोटे पत्थर मारो, जिससे घायल होने के कारण मेरा भजन न छूटे। इसी से नेत्रों से न देखनेपर भी महापुरुष उनकी बहुत प्रशंसा किया करते थे। अन्त में महापुरुष ने अपने प्रिय भक्त उमर और अली को आज्ञा दी कि तुम आवेश करनी के दर्शनों को जाना और उन्हें मेरे गले का जामा पहुँचाना। उनके आशीर्वाद और प्रार्थना से भगवान् मेरे सम्प्रदाय के असंख्य पुरुषों को मुक्त कर देंगे। ऐसा कहकर उन्होंने आवेश करनी की अवस्था के चिन्ह भी उन्हें बता दिये। अतः महापुरुष का शरीर छूटनेपर उमर और अली उनके दर्शनों को गये तथा उस देश के समीप पहुँच कर पूछने लगे कि यहाँ करन देश का कोई पुरुष रहता है। तब एक व्यक्ति ने कहा, "मैं करन देश का रहनेवाला हूँ।" उससे उन्होंने पूछा, "क्या तुम आवेश करनी को जानते हो?" उस ने कहा, "हां, जानता हूँ, किन्तु वह तुम्हारे पूछने-योग्य मनुष्य तो नहीं है, वह तो अत्यन्त विक्षिप्त है। उस का तो किसी से कोई मिलना-जुलना भी नहीं होता।" उमर ने जब यह बात सुनी तो वे रोने लगे और बोले, "हम उसी को तो ढूँढ़ते हैं, हमने तो महापुरुष के मुख से सुना है कि उनकी कृपा से असंख्य जीवों का उद्धार होगा।"

इसी प्रकार हरम नामक सन्त ने भी कहा है कि मैं आवेश करनी की महिमा सुनकर एक बार उनके दर्शनों को गया। उस समय वे करन नगर के समीप नदी में स्नान कर रहे थे। मैंने उन्हें अकस्मात् पहचान कर प्रणाम किया। उनकी अवस्था देख कर मेरा चित्त बहुत कोमल हो गया। तब वे मुझ से बोले, "हसन के पुत्र हरम ! तुम कुशल से हो ? कहो, यहाँ कैसे आये हो ?" मैंने कहा, "आपने पहले मिले बिना ही मुझे और मेरे पिताजी को कैसे पहिचान लिया ?" उन्होंने कहा, "मुझे यह बात भगवान् ने लखायी है और भक्तों के हृदय तो शरीरों का मिलाप न होने पर भी एक दूसरे को पहचान ही लेते हैं।" फिर मैंने अत्यन्त विनीत होकर कहा कि मुझे महापुरुष की कुछ बातें सुनाइये। इस पर वे कहने लगे कि मैं तो उनका दास हूँ। इस शरीर से तो मैंने उनके दर्शन ही नहीं किये । मुझे तो अपने चित्त के अभ्यास से ही कुछ अनुभव हुआ है। अतः पण्डितों की तरह मुझे कुछ कहने-सुनने की रुचि भी नहीं है। तब मैंने कहा, "आप ही मुझे कुछ उपदेश दीजिये।" इस पर वे मेरा हाथ पकड़कर यह कहते हुए कि इस मनरूपी असुर से भगवान् ही रक्षा करें, रोने लगे। फिर बोले, "बड़े-बड़े विचित्र सन्त और महापुरुष हुए हैं और वे सभी मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। अतः हम और तुम भी मृतक रूप ही हैं। फिर भी अच्छा यही है कि सन्तों का मार्ग स्वीकार करो और क्षणभर के लिये भी मृत्यु की ओर से असावधान मत हो तथा अन्य सब लोगों से भी यथार्थ वचन ही कहो। इसके सिवा कभी साधु-सन्त को मत त्यागो, क्योंकि उनका संग किये बिना तुम धर्म से भ्रष्ट हो जाओगे और तुम्हें इस का पता भी नहीं लगेगा। बस, ऐसा कहकर वे चल दिये और मुझे अपने साथ ठहरने न दिया।

तात्पर्य यह है कि जिन्होंने माया के छलों को पहिचाना है उन

ऐसे ही लक्षण हुए हैं। और यही जिज्ञासुजनों का मार्ग है। किन्तु यदि तुम ऐसा पद प्राप्त न कर सको तो भी इतना तो अवश्य करो कि शरीरनिर्वाहमात्र से अधिक भोगों में आसक्त मत हो, जिससे कि दुःखों से मुक्त रहो ।

—:०:—

छठी किरण

धनकी तृष्णा और कृपणता के दोष और उनकी निवृत्ति के उपाय

स्मरण रहे, इस मायारूपी वृक्ष की शाखाएँ बहुत हैं। उनमें एक शाखा धन और सम्पत्ति भी है। इसके सिवा मान और बड़ाई भी इसी की एक शाखा है। इसी प्रकार इसकी बहुत सी शाखाएँ हैं। परन्तु इसकी जो धनरूपिणी शाखा है वह बहुत विघ्नों का कारण है। इसके विषय में महापुरुष ने भी कहा है कि इस धन रूपी घाटी को पार करना बहुत कठिन है, क्योंकि धन का सम्बन्ध शरीरव्यवहार के साथ भी है और यह परलोकमार्ग का पाथेय बनाने में भी सहायक होता है। तात्पर्य यह कि इसी के द्वारा आहार, वस्त्र एवं स्थान की प्राप्ति होती है, अतः शरीर निर्वाहमात्र के लिये इसका उपार्जन अवश्य करना चाहिये। यदि धनोपार्जन नहीं किया जायगा तो कोरी निर्धनता में जीवन व्यतीत करते हुए धैर्य रखना कठिन होगा। और जब धन की प्राप्ति होती है तब मनुष्य अनेक प्रकार के भोगों में फँस जाता है, जो कि तरह-तरह के पापों का बीज है।

किन्तु धनहीन पुरुषों की भी तो अवस्थाएँ होती हैं। उनमें से कोई तृष्णावान् होते हैं और कोई सन्तोषी। तृष्णावान् पुरुष भी दो प्रकार के होते हैं—कुछ तो ऐसे होते हैं जो धनोपार्जन के लिये कोई उद्यम करते हैं और कुछ दूसरे लोगों की ही आशा

करते रहते हैं। इनमें दूसरों की आशा करनेवालों की अपेक्षा स्वयं उद्यम करनेवाले श्रेष्ठ होते हैं। इसी प्रकार धनवानों की भी दो अवस्थाएँ होती हैं। उनमें कोई उदार होते हैं और कोई कृपण। उदारता भी दो प्रकार की है—(१) विचार के अनुसार और (२) विचार की मर्यादा से रहित। इन में विचार के अनुसार जो उदारता होती है वह श्रेष्ठ है और दूसरी निन्दनीय है। परन्तु ये परस्पर ऐसी मिली-जुली होती हैं कि इन्हें पहिचानना बहुत कठिन होता है। तात्पर्य यह है कि धन के द्वारा अनेकों दोष भी होते हैं और यही पुण्य कर्मों का बीज भी है। अतः मनुष्य को धन के दोष और गुणों को अवश्य पहिचानना चाहिये। तथा उन्हें पहचान कर दोषों को पूर्णतया त्यागते हुए गुणों को स्वीकार करना चाहिये।

(धनासक्ति की निषिद्धता)

प्रभु ने कहा है कि जिसे धन और सन्तान आदि की प्राप्ति होती है वह निःसन्देह भजन से विमुख हो जाता है। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि जैसे जल द्वारा तुरन्त ही घास और पौधे आदि उत्पन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार धन से भी तत्काल हृदय में कपट पैदा हो जाता है। एक बार महापुरुष से किसी ने पूछा था कि सारी सृष्टि में नीच पुरुष कौन है? तब उन्होंने कहा कि धन के साथ प्रीति रखनेवाला सबसे नीच है, क्योंकि वह अनेक प्रकार के रसों को भोगता है, तरह-तरह के सुन्दर वस्त्र पहिनता है, स्त्रियों के रूप में आसक्त रहता है और घोड़े-हाथी आदि बड़ी-बड़ी सवारियों पर चढ़ना चाहता है। अतः उसकी आशा कभी पूर्ण नहीं हो पाती। वह सब प्रकार माया की सामग्री में ही आसक्त रहता है, अतः माया को ही भगवान् की जगह पूजता है और जो कुछ क्रिया करता है माया ही के लिये करता है। इसलिये मैं तुम्हें

उपदेश करता हूँ कि ऐसे मनुष्यों के साथ कभी मेल-जोल मत करो। इसके सिवा महापुरुष ने ऐसा भी कहा है कि माया तो सब की सब मायाधारियों को ही सौंप दो, क्योंकि शरीरनिर्वाह से अधिक होनेपर तो माया के सुख मनुष्य के नाश के हेतु ही होते हैं। और उसे उसका पता भी नहीं लगता। तथा ऐसा भी कहा है कि ये अज्ञानी पुरुष सर्वदा यही कहते हैं कि यह धन मेरा है, यह सम्पत्ति मेरी है, किंतु यह नहीं जानते कि शरीर के निर्वाह और नग्नता के आच्छादन से अधिक मेरा और क्या है? अतः इसका अपना धन तो वही है जिसे यह भगवान् के लिये किसी को दे देता है, वही धन परलोक में इसका सर्वदा सहायक होता है।

कहते हैं, एकबार महापुरुष से किसी ने पूछा था कि मेरे पास परलोक के लिये कोई पाथेय नहीं है, मैं क्या करूँ? तब उन्होंने कहा कि यदि तुम्हें अपने पास कुछ धनसंग्रह करने की इच्छा हो तो तुम भगवान् के लिये दान करो, क्योंकि भगवान् के लिये किया हुआ दान इस पुरुष के पास सर्वदा रहता है। इसके सिवा यह भी कहा है कि इस पुरुष के तीन प्रकार के मित्र हैं—(१) जिनकी मित्रता मृत्यु के पश्चात् कुछ नहीं रहती, (२) जो श्मशान तक साथ रहते हैं और (३) जो परलोक में भी निर्वाह करते हैं। तात्पर्य यह कि धन आदि सामग्री का उपभोग केवल जीवित रहने तक ही है सम्बन्धीलोग श्मशान तक साथ देते हैं और इस मनुष्य के कर्म परलोक में भी इसके साथ रहते हैं। जब इस की मृत्यु होती है तब अन्य पुरुष तो यह पूछते हैं कि इसने पीछे क्या सामग्री छोड़ी है? और देवतालोग पूछते हैं कि इसने आगे भी कुछ भेजा है या नहीं? एक बार महात्मा ईसा से उनके साथियों ने पूछा था कि आप जलके ऊपर किस प्रकार सूखे पैर ही चले जाते हैं? और हम लोगों में ऐसा सामर्थ क्यों नहीं है? तब उन्होंने कहा कि मैं रुपये और सुवर्ण को मिट्टी की तरह समझता हूँ और तुम

इन्हें उत्तम पदार्थ समझते हो। बस यही तुम्हारी और मेरी अवस्था में अन्तर है।

इस विषय में एक कथा भी प्रसिद्ध है। कहते हैं, अबू दरदा नामके एक सन्त थे। उन्हें किसी भगवद्विरोधीने बहुत कष्ट पहुँचाया। तब वे कहने लगे, "प्रभो! आप इसे दीर्घायु, अरोग्य और धन-सम्पत्ति प्रदान करें।" उनके इस कथन का तात्पर्य यही था कि वे इन सब वस्तुओं को दुःखरूप समझते थे, क्योंकि जिनसे ये प्राप्त होती हैं वह प्रमादी होकर परलोक से अचेत हो जाता है और उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। सन्त हसन बसरी ने भी कहा है कि जिस मनुष्य की सोने-चाँदी में विशेष आसक्ति होती है उसे परलोक में भगवान् लज्जित करते हैं। तथा याहिया नामक सन्त कहते हैं कि ये सोना-चाँदी साँप और बिच्छू के समान है, अतः जबतक ,इनके मन्त्र का पता न हो तबतक इन्हें छूना नहीं चाहिये। यदि तुम इनका मन्त्र सीखे बिना इन पर हाथ डालोगे तो निःसन्देह इनके विष से मृत्यु के मुख में गिरोगे। इनका मन्त्र यही है कि इनका उपार्जन धर्मपूर्वक किया जाय और धर्म के लिये ही इन्हें व्यय किया जाय। एक बार एक सन्त का शरीर छूटने लगा तो उनसे एक भक्त ने कहा, "आपने अपनी सन्तान के लिये कुछ भी धन न छोड़ा—इसका क्या कारण है?" तब वे बोले, "मैंने अपने पुत्रों का प्रारब्ध तो किसी को नहीं दिया और न किसी अन्य पुरुष का प्रारब्ध ही इन्हें प्राप्त हो सकता है। तथा यह बात भी निश्चित है कि यदि ये धर्मानुकूल जीवन व्यतीत करेंगे तो भगवान् इनका बहुत अच्छी तरह भरण-पोषण करेंगे और यदि धर्मविमुख हुए तो मुझे इनकी चिन्ता भी क्यों करनी चाहिये? इसी प्रकार एक सन्त बड़े धनवान् थे। वे सर्वदा अपनी सम्पत्ति भगवदर्थ दान करते रहते थे। तब किसी ने कहा, "कुछ धन अपनी सन्तान के लिये भी बचा लीजिये।" वे बोले, "मैं तो अपने लिये भगवान्

के पास धन इकट्ठा कर रहा हूँ, पुत्रों का प्रारब्ध भी प्रभु के ही हाथों में है।" सन्त याहिया ने कहा है कि मृत्यु के समय धनवान् मनुष्य को दो दुःख अवश्य होते हैं—एक तो उनकी सारी सम्पत्ति यहीं छूट जाती है और दूसरे वह धर्मराज के दण्ड का पात्र होता है ।

परन्तु अत्यन्त निन्दनीय होनेपर भी इस धनमें एक बहुत बड़ी विशेषता कही गयी है, वह यह कि यह बुराई और भलाई दोनों ही का बीज है। इसी से महापुरुष ने कहा है कि यह धन भी एक उत्तम पदार्थ है, परन्तु उसी को जो धर्मात्मा और बुद्धिमान् हो। इसके सिवा ऐसा भी कहा है कि यदि यह पुरुष अत्यन्त निर्धन होता है तो निःसन्देह भगवान् से विमुख हो जाता है, क्योंकि जब यह अपने सम्बन्धियों को और स्वयं अपने को क्षुधातुर एवं दीन देखता है तो समझता है कि भगवान् ने यह कैसा अन्याय किया है कि पापात्माओं को तो धन दिया है और सात्त्विकी पुरुषों को ऐसा कष्ट दे रखा है कि उनके हाथ एक दमड़ी भी नहीं लगती, जिससे वे अपनी क्षुधा तो शान्त कर लें। इसके सिवा वह ऐसा भी अनुमान करने लगता है कि यदि भगवान् मेरे दुःखको नहीं जनता तो वह अन्तर्यामी कैसे हो सकता है और यदि जानता है किन्तु दे नहीं सकता तो इसे पूर्ण सामर्थ्यवान् कैसे कह सकते हैं? यदि समर्थ होनेपर भी नहीं देता तो उसे दयालु और उदार नहीं माना जा सकता। और यदि इस विचार से नहीं देता कि परलोक में ही पूर्णतया सुखी करूँगा तो ऐसा जान पड़ता है कि वह दुःख दिये बिना सुख दे ही नहीं सकता। यही नहीं, निर्धन पुरुष क्रोधित होकर ऐसा भी कहने लगता है कि अब तो समय बड़ा विपरीत हो गया है, लोग एकदम अन्धे हो गये हैं, इसीसे वे अनधिकारियों को ही धन एवं सब प्रकार के पदार्थ देते हैं। तात्पर्य यह कि सन्तोष न होनेपर निर्धन पुरुष इस प्रकार भगवान

से विमुख हो जाता है। वह अपनी भलाई-बुराई को भी पहिचान नहीं सकता। ऐसा पुरुष तो दुर्लभ ही है जो निर्धन होनेपर भी भगवान् में विश्वास रखकर उसी में अपनी भलाई समझे। अधिकतर तो ऐसे ही लोग होते हैं जो निर्धनता से व्याकुल हो उठते हैं। अतः भगवान् ने यह धन भी जीवों के छिद्रों को छिपानेवाला ही बनाया है तथा इसे शरीर निर्वाहमात्र के लिये उपार्जन करने की आवश्यकता सन्तजनों ने भी बतायी है। इससे निश्चय होता है कि धन सर्वथा निन्दनीय ही नहीं है।

धन का एक लाभ और भी है—सभी जिज्ञासुओं की इच्छा परलोक में सुख पाने की होती है। और परलोक का सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब इस लोकमें तीन स्थितियाँ प्राप्त हों। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. जिज्ञासु में विद्या और कोमलता होनी चाहिये। इन गुणों की स्थिति उसके मन में होती है।

२. उसका शरीर नीरोग और दीर्घायु होना चाहिये।

३. उसकी जीविका शुद्ध होनी चाहिये। यह ऐसी वस्तु है जिसकी स्थिति उसके शरीर से बाहर ही है।

यदि जिज्ञासु का निष्काम भाव हो तो इन पदार्थों के द्वारा वह परलोक का सुख प्राप्त कर सकता है। अतः जो मनुष्य इस रहस्य को जानता है वह धनको केवल कार्यनिर्वाह के लिये ही स्वीकार करता है तथा अधिक धन या सामग्री को हलाहल विषके समान समझता है। इस कथन का तात्पर्य यही है कि उत्तम पुरुषों के लिये धन भी कल्याणकारी ही होता है। यह बात ऊपर भी कही जा चुकी है। इस विषय में महापुरुष भी कहते हैं कि जो व्यक्ति धन से धर्म के लिये ही प्रीति करता है, वास्तव में उस का प्रेम धर्म से ही है। और जो पुरुष अपनी वासनापूर्त्ति के लिये धन से प्रेम करता है वह तो वासना का ही दास है। उसे

इस मानव जन्म के उद्देश्य का पता नहीं है, इसलिये वह अत्यन्त मूर्ख है। इसी पर सन्त इब्राहीम ने कहा है कि प्रभो ! मेरी और मेरे प्रेमियों की प्रेतपूजा से रक्षा कीजिये तात्पर्य यह कि सोना-चाँदी तो मेरे लिये प्रेतरूप हैं, सब लोग लोभवश ही इनका पूजन करते हैं। अतः हमारे हृदय से आप इनकी आसक्ति दूर करें।

(धन के गुण और दोष)

याद रखो, यह धन सर्प के समान है। जैसे विष और मणि ये दोनों सर्प ही से होते हैं, वैसे ही धन में भी गुण और दोष दोनों पाये जाते हैं। किन्तु जब तक इन विष और मणि के स्वरूपों का अलग-अलग विवेचन नहीं किया जायगा तब तक यह बात स्पष्ट नहीं हो सकती, इसलिये मैं धन के गुण और दोषों का पृथक्-पृथक् निरूपण करता हूँ। धन के दो प्रकार के लाभ हैं— संसारी और परमार्थिक। संसारी लाभ तो यही हैं कि धनवान् पुरुष को संसार में सब प्रकार के स्थूल भोग और प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होते हैं, जो स्वयं ही प्रसिद्ध हैं। पारमार्थिक लाभ तीन हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. धन के द्वारा शरीर की जीविका का निर्वाह होता है। और शरीर से जितने शुभ कर्म सम्पन्न होते हैं उनका कारण शुद्ध जीविका ही है। जिस पुरुष को जीविका की चिन्ता रहती है उससे भजन या अभ्यास कुछ भी नहीं होता। अतः जिस मनुष्य का संकल्प धर्ममार्ग में बढ़ने का हो उसके लिये जीविका की प्राप्ति भी उस मार्ग के पाथेय के समान ही है। कहते हैं, किन्हीं सन्त के पास उनकी निष्पाप कमाई का कुछ अन्न आया, तो वे उसकी मुट्ठी भरकर कहने लगे कि मैं निरुद्यमी पुरुषों के आशा लगाये रहने की अपेक्षा इस शुद्ध जीविका को बहुत अच्छी

समझता हूँ। किन्तु इस रहस्य को वही पुरुष समझ सकता है जिसे अपने हृदय की शुद्धि-अशुद्धि की परख होती है। तभी उसे यह पता लगता है कि शुद्ध जीविका के द्वारा हृदय में किसी प्रकार का खेद नहीं रहता, दूसरे लोगों की आशा छूट जाती है और भजन में एकाग्रता होती है।

२. यदि दूसरे लोगों को धन दान किया जाय तो इससे भी इसे बहुत लाभ होता है। किन्तु यह दान भी चार प्रकार का है—(१) धनद्वारा अर्थी और सात्त्विकी पुरुषों का पूजन करना। इस प्रकार उनकी प्रसन्ता होने से दाता को व्यवहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार का सुख प्राप्त होता है। (२) मित्रों और सम्बन्धियों के साथ घनिष्ठता तथा व्यवहारिक उदारता भी धन के द्वारा ही होती है। (३) कितने ही पुरुष धनवान् से आशा रखते हैं और यदि उन्हें कुछ न दिया जाय तो निन्दा करने लगते हैं। जैसे ब्राह्मण, भाट और कवि आदि। इन्हें देने से यह बड़ा भारी लाभ होता है कि वे निन्दा करने के दोष से मुक्त रहते हैं। (४) यह मनुष्य स्वयं ही अपने सब काम नहीं कर सकता। अतः जिनके साथ इसका व्यावहारिक सम्बन्ध होता है उन अपने सेवकों को भी कुछ धन देना आवश्यक होता है। इस प्रकार कई तरह के कामों से निश्चिन्त रहकर यह भजन में लगा रह सकता है यद्यपि अपने शरीर की सब क्रियाएँ स्वयं ही करना बहुत अच्छी बात है, तथापि जिस जिज्ञासु का चित्त आन्तरिक अभ्यास में लगता है उसे अपनी स्थूल क्रियाएँ स्वयं ही करना आवश्यक नहीं होता।

३. धन के द्वारा और भी अनेकों पुण्यकर्म होते हैं, जैसे कुए, ताल और पुल बनवाना तथा अभ्यागतों के लिये धर्मशाला

एवं ठाकुरद्वारे बनवाना। इनके द्वारा चिरकाल तक असंख्य प्राणियों को सुख प्राप्त होता है। किन्तु ये भी धन के द्वारा ही तो बन सकते हैं।

इस प्रकार यह तो धन के लाभों का वर्णन हुआ। अब इसके दोषों का उल्लेख किया जाता है। धन के कई दोष तो स्थूल हैं और कई ऐसे हैं जो धर्ममार्ग से विमुख कर देते हैं। इन दोषों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

१. धन में पहला दोष तो यह है कि इसके द्वारा भोगों की प्राप्ति और पापकर्मों में प्रवृत्ति सुगम हो जाती हैं। इस जीव का मन तो पहले ही से ऐसा चपल है कि सर्वदा विषयों और पापों की ओर दौड़ता रहता है। इसे जब सम्मान और प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति होती है तो यह तत्काल पापों में प्रवृत्त हो जाता है और बुद्धि भी अशुद्ध हो जाती है। यदि कोई पुरुष भोगों और पापों से हटकर अपने को बचाना चाहे तो इसके लिये भी बड़े पुरुषार्थ की आवश्यकता है, क्योंकि सम्पत्ति के रहते हुए उससे असंग रहना बड़ा कठिन काम है।

२. यदि कोई धनवान् ऐसा विचारवान् भी हो कि अपने को पापकर्मों से बचाये रखे, तो भी वह खान-पान और वस्त्र-सम्बन्धी भोगों से अपने को नहीं बचा सकता, क्योंकि जिसके द्वारा सम्पत्ति में रहते हुए भी अपने को संयम में रखा जा सके, ऐसा वैराग्य अत्यन्त दुर्लभ है; जिस प्रकार तरह-तरह के व्यञ्जन रहते हुए भी रूखा-सूखा अन्न खाना अथवा सुन्दर-सुन्दर वस्त्र रहते हुए भी कम्बल आदि मोटे-मोटे वस्त्र ओढ़ कर रह जाना। अतः यदि हृदय में ऐसा वैराग्य न हो तब शरीर का स्वभाव भोगों में बहुत डूब जाता है और उसे राजसी व्यवहार को त्यागना सम्भव

नहीं रहता। तथा भोगों की प्रचुरता बिना पाप किये प्रायः प्राप्त नहीं होती, इसलिये भोगी पुरुष अकस्मात् पाप-समुद्र में बह जाता है और इस संसार में जीते रहने को ही स्वर्ग समझ बैठता है। तथा परलोक के मार्ग से विमुख हो जाता है। और जिसे भोगों की तृष्णा रहती है वह धन के लिये तरह-तरह के पाखण्ड करने लगता है और राजाओं का-सा ठाट-बाट बनाना चाहता है। इससे उसके अनेकों शत्रु और प्रतिस्पर्धी हो जाते हैं और उनके साथ उसका वैर-भाव पक्का हो जाता है। वे सभी कर्म पापरूप ही हैं। तात्पर्य यह कि रजोगुणी बीज से तो निश्चय तामसी वृत्त ही उपजता है। इस विषय में महापुरुष ने भी कहा है कि माया की प्रीति सम्पूर्ण पापों की कारण है। यह ऐसा घोर नरक है जिसका अन्त कभी नहीं होता।

३. यदि धनवान् पुरुष भोगों और पापों से रहित भी हो और सर्वथा विरक्त होकर भी रहे तथा विचार की मर्यादा के साथ खर्च करे, तो भी वह धन की रक्षा के संकल्प में ऐसा संलग्न रहता है कि उससे भजन या अभ्यास कुछ भी नहीं बन पड़ता। शुभ कर्मों का फल तो भगवान् का भजन और भगवत्प्रेम ही है तथा प्रेम का स्वरूप यही है कि भगवान् के सिवा और सभी पदार्थों से विरक्त रहे। किन्तु ऐसी अवस्था तभी प्राप्त होती है जब और सब संकल्पों से मुक्त रहे। पर धनवान् तो सर्वदा विक्षिप्त ही रहता है। वह यदि अधिक सामग्री रखता है तो उसका व्यवहार बढ़ जाता है और यदि विशेष सामग्री न रखकर केवल सोना-चाँदी ही धरती में गाढ़े रहे तो उसे निरन्तर यह शंका रहती है कि कोई पुरुष मेरा धन देख न ले। यदि किसी ने देखकर चुरा लिया तो फिर मैं क्या करूँगा। इस प्रकार धनवान् का अतः-

करण कभी निःसंकल्प नहीं रह सकता। वह तो चिन्ता का समुद्र ही बन जाता है। इसी से सन्तों ने कहा है कि जैसे जल के बीच में सूखा रहना असम्भव है, वैसे ही माया के बीच में निर्लिप्त रहना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार मैंने धन के गुण और दोष दोनों ही का वर्णन किया। इन पर भली प्रकार विचार करके बुद्धिमानों ने यही निश्चय किया है कि शुद्ध जीविका के द्वारा शरीर के निर्वाहमात्र में उपयोगी धन का संग्रह करना तो अमृतरूप है, किन्तु इससे अधिक सम्पत्ति निःसंदेह विष रूप ही है।

(तृष्णा के दोष)

यह तृष्णा का स्वभाव भी अत्यन्त निन्दनीय है। लोभी पुरुष का तो व्यवहार में ही अनादर होता है और यह सदा ही लज्जित रहता है। इसके सिवा लोभ से और भी अनेकों अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं जैसे कपट और पाखण्ड आदि। लोभी पुरुष सर्वदा ही धनिकों का आश्रय ताकता रहता है, उनके द्वारा अपमान सहन करता है और उनके झूठ को भी सत्य कहता है। भगवान् ने आरम्भ से ही मनुष्य को तृष्णायुक्त उत्पन्न किया है। और यह तृष्णा बिना संतोष किसी प्रकार निवृत्त नहीं होती। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि यदि इस मनुष्य को सुवर्ण से भरे दो बंगले मिल जायँ तो यह तीसरे की फिर इच्छा करेगा। अतः इसे तो मृत्यु ही तृप्त कर सकती है, और किसी भी पदार्थ से यह तृप्त नहीं हो सकता। ऐसा भी कहा है कि धनकी तृष्णा और जीवन की आशा कभी समाप्त नहीं होती। अतः उत्तम पुरुष वही हैं जिसे धर्ममार्ग का बोध हो और जो शरीरनिर्वाहमात्र शुद्ध जीविका पर सन्तोष करता हो। कहते हैं, जब तक यह पुरुष अपना सम्पूर्ण प्रारब्ध नहीं भोग लेता तब तक निःसंदेह इसकी मृत्यु नहीं होती। अतः तृष्णा

का त्याग करो और संतोषपूर्वक जीविका का उपार्जन करो, अधिक भोगों की लालसा त्याग दो और जो बात तुम्हें अपने लिये हितकर जान पड़े वही दूसरों के लिये भी चाहो। तभी तुम भागवत्प्रेमी हो सकोगे। एक बार महापुरुष ने कुछ जिज्ञासुओं को यह उपदेश दिया था कि भगवान् के सिवा और किसी की पूजा मत करो, उन्हीं की आज्ञा का पालन करने में तत्पर रहो और किसी से कोई भी वस्तु मत माँगो। इस प्रकार जिन लोगों को महापुरुष ने यह उपदेश दिया उनकी ऐसी स्थिति हुई कि यदि घोड़े पर सवारी करते समय उनके हाथ से चाबुक गिर जाता तो उसे उठाकर देने के लिये भी वे किसी से नहीं कहते थे। स्वयं ही घोड़े से उतरकर उसे उठाते थे।

एक बार मूसा नामक महापुरुष ने भगवान् से प्रश्न किया कि भगवन्! आपकी सारी सृष्टि में सबसे बड़ा धनी कौन है? तब आकाशवाणी हुई कि जिस पुरुष को यथाप्राप्त वस्तु में संतोष है वही सबसे बड़ा धनी है। फिर मूसा ने प्रश्न किया, "प्रभो! उत्तम न्याय करनेवाला कौन है?" आकाशवाणी हुई कि जो अपने प्रति न्याय करता है वही उत्ताम न्याय करनेवाला है। इसीसे एक जिज्ञासु रूखी रोटी पानी में भिगोकर खा लेते थे और कहते थे कि जिसने ऐसी जीविका पर संतोष किया है उसे संसार में किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। इब्न मसऊद नाम के संत ने भी कहा है कि संसार में एक देवदूत सर्वदा ही पुकार-पुकारकर कहता रहता है कि ऐ मनुष्यो! जितनी जीविका तुम्हारे शरीर के लिये पर्याप्त हो तुम्हारे लिये वही श्रेयस्कर है, क्योंकि उससे अधिक जितनी सामग्री होगी उससे प्रमाद और असावधानी ही उत्पन्न होगी। एक और सन्त का भी कथन है कि तुम्हारा यह उदर ही सब प्रकार की मलिनताओं का घर है। अतः तुम उदर की तृष्णा के कारण क्यों नरकगामी होते हो? प्रभु ने भी कहा है कि ऐ मनुष्य! मैं तुझे बहुत-सा धन भी दे दूँ तो भी तेरी

तृप्ति तो आहार से ही होगी। अतः जब मैं तुझे केवल आहारमात्र ही धन दूँ और व्यवहारजनित विक्षेप एवं परलोक के दण्ड का लेखा धनवानों के सिर डाल दूँ, तब तेरे ऊपर इससे बड़ा और क्या उपकार हो सकता है ? एक और बुद्धिमान् ने कहा है कि तृष्णाग्रस्त पुरुष के समान दुःखी और सन्तोषी के समान सुखी कोई दूसरा व्यक्ति नहीं हो सकता। इसी प्रकार ईर्ष्यालु के समान चिन्ताग्रस्त, वैराग्यवान् के समान शान्तचित्त और विद्वान् होकर भी जो सदाचार से शून्य है उससे बढ़कर पश्चात्ताप के योग्य और कोई नहीं हो सकता। कहते हैं, एक व्याध ने किसी पक्षी को जालमें फँसाया। तब पक्षी ने कहा कि तू मुझे मारकर खा लेगा तो भी तेरी तृप्ति तो होगी नहीं। अतः मैं तुझे तीन उपदेश देता हूँ। इनसे तुझे बहुत लाभ होगा। परन्तु एक बात तो मैं तेरे हाथ पर बैठकर कहूँगा, दूसरी जब तू मुझे छोड़ देगा तो वृक्ष पर बैठकर कहूँगा और तीसरी पर्वत पर बैठकर सुनाऊँगा। वधिक ने कहा, "अच्छी बात है, तू पहली बात तो सुना।" पक्षी ने कहा, "जिस कार्य का समय बीत जाय उसके लिये पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये।" तब व्याध ने उसे छोड़ दिया और जब वह वृक्ष पर जा बैठा तो उससे दूसरी बात पूछी। पक्षी ने कहा, "जो बात असम्भव हो उस पर विश्वास न करे।" इतना कह कर वह पहाड़ पर जा बैठा और बोला, "अरे अभागे ! यदि तू मुझे मार डालता तो मेरे पेट से दो लाल निकलते। उनमें से प्रत्येक दो-दो पैसे के बराबर भारी होता और उन्हें पाकर तू इतना धनी हो जाता कि दरिद्रता कभी तेरे पास न फटकती।" बधिक ने जब यह बात सुनी तो वह हा-हाकार करके हाथ मलने लगा और अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए बोला कि अब तीसरी बात सुना। तब पक्षी ने कहा, "तू तीसरी बात सुनकर क्या करेगा ? तूने तो पहले ही दोनों उपदेश भुला दिये। मैंने तुझ से कहा था कि बीते हुए कार्य का पश्चात्ताप नहीं करना चा

तथा असम्भव बात में विश्वास नहीं करना चाहिये। सो बड़े आश्चर्य की बात है कि जब मेरा शरीर भी दो पैसे के बराबर भारी नहीं है तो मेरे पेट में चार पैसे भर के लाल कैसे हो सकते हैं।" ऐसा कहकर वह पक्षी उड़ गया। इस कथानक का तात्पर्य यह है कि लोभी पुरुष को सम्भव या असम्भव बात का भी विचार नहीं होता। वह लोभ से अन्धा हो जाता है। इसीसे किसी सन्त ने कहा है कि इस मनुष्य के गले में लोभ रस्सी के समान है और लोभ ही इसके पैरों की बेड़ी है। यदि यह लोभ को हटा दें तो इसके गले की रस्सी और पैरों की बेड़ी टूट जाय और यह बन्धन-मुक्त हो जाय।

(तृष्णा की निवृत्ति का उपाय)

तृष्णानिवृत्ति की जो औषध है उसमें हठरूपी कटुता, विचार-रूपी मिष्टता और आचरणरूपी तीक्ष्णता का मेल रहता है। यह औषध जब अन्य सब मानसिक रोगों की निवृत्ति के उपायों से मिला दी जाती है तब वे रोग भी दूर हो जाते हैं। तृष्णा की निवृत्ति निम्नाङ्कित पाँच उपायों से होती है—

१. जहाँ तक हो सके अपने कार्य को घटावे। तृष्णारहित जीविका तो इतनी ही हो सकती है कि रूखे आहार और मोटे वस्त्र से निर्वाह हो जाय। यदि चित्त में नाना प्रकार के रस और सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों की इच्छा होगी तो कभी तृप्ति नहीं हो सकेगी। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि जिस पुरुष का व्यावहार संयमपूर्वक होगा वह कभी निर्धन नहीं रहेगा। ऐसा भी कहा है कि ये तीन लक्षण सभी जीवों को मुक्त करने वाले हैं—(१) सभी गुप्त और प्रकट विषयों में भगवान् का भय रखना, (२) क्रोध और प्रसन्नता के समय विचार की मर्यादा के अनुसार बर्तना

तथा (३) सम्पत्ति और विपत्ति के समय संयमपूर्वक जीवन निर्वाह करना। कहते हैं, एक बार अबू दरदा नामक संत वृक्षों से गिरे हुए खजूर चुन रहे थे, और कहते जाते थे कि यथाप्राप्त जीविका से सन्तुष्ट रहना भी बड़ा पुरुषार्थ है।

२. यदि एक दिन की जीविका प्राप्त हो तो दूसरे दिन की चिन्ता न करे। किन्तु यह मनुष्य ऐसा सन्देह करता रहता है कि अभी तो मुझे बहुत दिनों जीना है; सम्भव है, कल कुछ खाने को न मिले, अतः उद्यम करके आज ही संचय कर लें। किन्तु यह इस मन की शत्रुता ही है जो आगे की चिन्ता से इसे आज ही दुःखी कर देती है, तथा निर्धनता के भय से इसे अभी निर्धनता का अनुभव करा देती है। जब जिज्ञासु को ऐसा संकल्प हो तो उसे इस प्रकार विचारना चाहिये कि जीविका का उपार्जन तृष्णा से नहीं हो सकता, क्योंकि प्रारब्ध तो प्रभु का रचा हुआ है। अतः जीव को इसकी जीविका तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। इसके सिवा यह बात भी है कि यदि अगले दिन जीविका न मिली तो भी उसकी प्राप्ति के लिये कल उतना ही प्रयत्न करना पड़ेगा जितना आज करोगे। फिर अभी से चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? कहते हैं, एक बार महापुरुष सन्त इब्न मसऊद के घर गये। तब उन्हें उदास देखकर कहने लगे कि तुम शोक और चिन्ता मत करो, क्योंकि तुम्हारा प्रारब्ध-भोग तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा। इस विषय में प्रभु का भी कथन है कि विरक्त पुरुषों को बिना यत्न किये ही जीविका प्राप्त हो जाती है। सन्त सुफियान सौरी ने भी कहा है कि तुम्हें तृष्णाशून्य ही होना चाहिये, क्योंकि कोई भी सन्तोषी पुरुष कभी भूख से दुःखी नहीं हुआ।

प्रभु सभी जीवों को उसके प्रति दयालु कर देते हैं, अतः याचना किये बिना ही उसका निर्वाह हो जाता है। एक अन्य सन्त का कथन है कि मेरा जो प्रारब्ध-भोग है वह मुझे यत्न किये बिना ही प्राप्त हो जायगा। और जो मेरा भोग नहीं है वह सम्पूर्ण मनुष्य और देवताओं के प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होगा। अतः जीविका के लिये मेरे यत्न और अधैर्य किस काम आयेंगे ?

३. जब इस पुरुष को निराश रहने में कठिनता जान पड़े तब यह सोचना चाहिये कि यदि मैं किसीकी आशा करूँगा तो उसमें प्रयास भी होगा और खेद भी, तथा मुझे अपनी लज्जा भी खोनी पड़ेगी और मैं भगवान् से भी विमुख होऊँगा। यदि मैंने धैर्यपूर्वक निराशता को धारण न किया तो निःसन्देह मुझे लाभ होगा। अतः निराशता में धैर्य धारण करना तो लोभ के अपरिमित दुःख की अपेक्षा सब प्रकार श्रेयस्कर है। महापुरुष ने भी कहा है कि भक्त की महत्ता इसी में है कि वह संतोष करके सारे संसार की ओर से निःस्पृह रहता है। इसी प्रकार सन्त अली ने भी कहा है कि जिससे तुम्हें कोई प्रयोजन है उसीके तुम दास हो और जिसका तुमसे कोई प्रयोजन है वह निःसन्देह तुम्हारा दास है।

४. जिज्ञासु को हृदय में विचारकर यह देखना चाहिये कि मैं तृष्णा या लोभ किस लिये करता हूँ। यदि मैं अहंकारवश ऐसा करता हूँ तो यह तो बैलों और गधों का स्वभाव है और यदि कामादि के कारण करता हूँ तो मेरी अपेक्षा सूअर और पक्षी इन स्वभावों से अधिक ग्रस्त हैं। अथवा यदि नाना प्रकार के वस्त्रादि प्राप्त करने के लिये मेरी ऐसी प्रवृति है तो मेरी अपेक्षा तो अनेकों तमोगुणी पुरुष भी

अधिक धनवान् हैं, मेरी इसमें क्या विशेषता हुई ? तात्पर्य यह है कि इस प्रकार विचार करके तृष्णा को निवृत्त करे। ऐसा करने पर यह संसार में सर्वोत्तम अवस्था प्राप्त कर लेगा तथा संत जनों का परम पद भी पा सकेगा।

५. तृष्णा को घटाने का पाँचवाँ उपाय यह है कि बार-बार धन के विघ्नों का विचार करे और ऐसा अनुभव करे कि धनी पुरुष इस लोक में भयभीत रहता है तथा परलोक में भी दण्ड का अधिकारी होता है। अतः जिज्ञासु को उचित है कि सर्वदा अपने से अधिक धनहीनों पर दृष्टि रखे और धनवानों की ओर न देखे। ऐसी स्थिति में ही भगवान् के उपकार को प्रत्यक्ष अनुभव करे। किन्तु यह मन ऐसा शत्रु है जो सर्वदा इस मनुष्य को भटकाता रहता है और कहता है कि अमुक पुरुष तो ऐसा धनवान् है और अमुक ऐसा विद्वान्, फिर तू ही धन से क्यों भय मानता है, और क्यों उसका त्याग करता है ? इस संकल्प की निवृत्ति का उपाय यह है कि अपने से विशेष स्थितिवालों का परमार्थ सम्बन्ध से ही विचार करे। ऐसा करने से अपना दैन्य प्रकट होगा और अभिमान की निवृत्ति होगी, तथा व्यवहार में अपनी अपेक्षा अधिक धनहीनों की ओर देखे। इससे भगवान् का उपकार सामने आयेगा।

(उदारता की महिमा)

याद रखो, जिस प्रकार निर्धनता में जिज्ञासु को सन्तोष रखना चाहिये उसी प्रकार धन और सम्पत्ति प्राप्त होनेपर उसे उदार होना आवश्यक है। उस समय कृपणता से दूर रहने में ही उसका कल्याण है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि उदारतारूपी वृक्ष मूकाल स्वर्ग में है और उसकी शाखाएँ इस लोक में हैं।

अतः उदार पुरुष उस शाखा को पकड़ कर निश्चय ही स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार कृपणता का मूल नरक में है और उसकी भी शाखाएँ इस लोक में हैं, इसलिये कृपण मनुष्य उस शाखा के द्वारा नरक में पहुँच जाता है। ऐसा भी कहा है कि भगवान् को दो लक्षण अत्यन्त प्रिय हैं—नम्रता और उदारता। इसी प्रकार कठोरता और कृपणता—ये दो लक्षण भगवान् से दूर कर देते हैं। इस के सिवा ऐसा भी कहा है कि उदार पुरुष के अवगुणों पर दृष्टि मत डालो, क्योंकि जब अवसर उपस्थित होता है तब भगवान् ही उदारात्मा की सहायता करते हैं। उदार पुरुष भगवान् का समीपवर्ती है, परम सुख भी उसके निकट ही है और वह दूसरे लोगों को भी अत्यन्त प्रिय होता है। नरक उससे दूर ही रहते हैं। इसके विपरीत कृपण पुरुष भगवदीय सुख से दूर रहता है तथा लोगों के चित्त भी उससे दूर ही रहते हैं। वह तो नरकों के निकट है। इसी से कृपण पुरुष भजन-निष्ठ हो तो भी भगवान् विद्याविहीन उदार पुरुष को उसकी अपेक्षा अधिक प्रेम करते हैं, क्योंकि यह कृपणता अत्यन्त मलिन स्वभाव है।

ऐसा भी कहा है कि जिन लोगों को परम पद की प्राप्ति हुई है उन्हें वह जप, तप या दान के कारण नहीं हुई, अपितु हृदय की शुद्धता, दया और उदारता के कारण ही हुई है। इस विषय में अली नामक सन्त ने कहा है कि जब तुम्हें सम्पत्ति प्राप्त हो तो उसे उदारतापूर्वक खर्च करो। दान करने से सम्पत्ति कभी दूर नहीं होगी। और जब यह धन तुमसे दूर होने लगे तब भी निःशंक होकर दान करो, क्योंकि वह स्वयं भी तो जा ही रहा है। यदि तुम धनसंचय करने का संकल्प करोगे तो दण्ड के अधिकारी होगे। कहते हैं, एक बार पुरुष अपनी आवश्यकताओं को एक पत्र में लिखकर सन्त हसन के पास आया। तब हसनने उसका पत्र बिना पढ़े ही उससे कहा कि तुम्हें जो चीज जितनी चाहिये उतनी

ही माँग लो। उस समय किसी ने हसन से पूछा कि आपने उसका पत्र क्यों नहीं पढ़ा? वे बोले, "यदि मैं पत्र पढ़ता तो मुझे कुछ देर हो जाती। उसके विषय में यदि भगवान् मुझसे पूछते कि तुम ने अर्थी की कामना पूर्ण करने में इतना विलम्ब क्यों किया, तो मैं उन्हें क्या उत्तर देता? इसी भय से मैंने पत्र नहीं पढ़ा।" इसी विषय में एक और प्रसङ्ग भी है। एक बार किसी धनी ने महापुरुष की धर्मपत्नी को पचास हजार रुपये भेंट किये। तब उन्होंने तत्काल वह सब धन बाँट दिया और अपने व्रत का पारण करते समय सूखा अन्न ही भक्षण किया। इस पर उनकी दासी ने पूछा कि यदि आप अपने लिये एक दो पैसा रख लेतीं तो क्या होता। तब उन्होंने कहा, "यदि तू मुझे पहले स्मरण दिलाती तो मैं तुझे भी कुछ दे देती।" इस विषय में एक प्रसंग और भी है। एक बार अली नामक सन्त रुदन करने लगे। तब उनसे किसी ने पूछा कि आप क्यों रोते हैं? वे बोले, "आज सात दिन हो गये, हमारे घर कोई अभ्यागत नहीं आया। इसी से मैं रोता हूँ।" एक कथा और भी है। किसी प्रेमी ने अपने मित्र से कहा कि मुझे दो सौ रुपये देने हैं। मित्र ने तत्काल रुपये लाकर उसे दे दिये। और स्वयं रोने लगा उसकी स्त्री ने कहा, "यदि तुम्हारी श्रद्धा नहीं थी तो रुपये न देते। अब रोते क्यों हो?" तब उसने कहा, "मैं धन के लिये नहीं रोता, बल्कि इसलिये रोता हूँ कि अपने मित्र के कष्ट से मैं इतना अचेत क्यों रहा कि उसे माँगना पड़ा। मुझसे यह मित्र की अवज्ञा बन गयी?"

(कृपणता की निषिद्धता)

स्वयं प्रभु ने भी कहा है कि जिन्हें धन प्राप्त हुआ है और फिर भी वे कृपणता करते हैं उनके लिये तो वह धन ही बड़ा विघ्नकारक होगा। अन्त समय पर वह सम्पत्ति ही उनके गले

की जंजीर बन जायगी। महापुरुष भी कहते हैं कि कृपणता से सदैव दूर रहो, क्योंकि यह पहले बहुत लोगों का सर्वनाश कर चुकी है। तथा जिनमें कृपणता की प्रबलता होती है वे निःशंक होकर जीवों का घात करते हैं और अशुद्ध जीविका को भी शुद्ध करके जानते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि तीन स्वभाव इस पुरुष की बुद्धि का नाश करनेवाले हैं—(१) कृपणता, (२) अशुद्ध वासनाओं के अनुसार आचरण करना और (३) अपने को बड़ा समझ कर अभिमान करना। इस विषय में एक प्रसंग प्रसिद्ध है— एक बार दो व्यक्तियों ने महापुरुष से कुछ धन माँगा। जब महापुरुष ने उन्हें धन दिया तो वे बड़े प्रसन्न हुए। इस पर उन्होंने उमर की ओर दृष्टि करके कहा कि ये लोग मुझसे बहुत अनुनय-विनय करके माँगते हैं, इसलिये मैं इन्हें कुछ देता हूँ। किन्तु यदि भली प्रकार देखा जाय तो यह सकामता का द्रव्य उन्हें अग्नि की भाँति जलाने वाला है। उमर ने पूछा, 'जब आप इस द्रव्य को अग्नि-रूप समझते हैं तब उन्हें यह क्यों देते हैं?' महापुरुष बोले, उन की अत्यन्त दीनता देखकर मुझे भय होता है, और इस बात का भी डर है कि कहीं मैं ही कृपण न हो जाऊँ, जिससे कि मेरी कृपणता के कारण प्रभु मुझपर ही अप्रसन्न न हो जायँ।

इनके सिवा एक और प्रसंग भी है। एक बार कोई मनुष्य भगवान् से प्रार्थना कर रहा था कि प्रभो! मेरे पापों को आप क्षमा करें। तब उसे देखकर महापुरुष ने पूछा, "तेरा क्या पाप है?" वह बोला, "मेरा पाप बहुत बड़ा है। उसका मुँह से वर्णन नहीं किया जा सकता।" तब महापुरुष ने पूछा, "तेरा पाप बड़ा है या पृथ्वी?" वह बोला, "मेरा पाप।" महापुरुष ने पूछा, "तेरा पाप बड़ा है या आकाश?" उसने कहा, "मेरा पाप ही बड़ा है।" महापुरुष ने फिर पूछा, "तेरा पाप बड़ा है या प्रभु की दया?" इस पर वह बोला, "प्रभु की दया तो असीम है, वह निःसन्देह मेरे पाप से

बड़ी है।" तब महापुरुष ने कहा, "तू अपने पाप को स्पष्टतया बता" उसने कहा, "मैं बड़ा धनवान् हूँ, किन्तु जब किसी याचक को आया देखता हूँ तो कृपणता की अग्नि में जलने लगता हूँ।" यह सुनकर महापुरुष ने कहा, "मुझसे दूर रह। तू चाहे सारी आयु तीर्थों में रहे, दिन-रात भजन करे और इतना रुदन करे कि तेरे नेत्रों से जलकी धाराएँ बहने लगें, तो भी जब तक तू कृपणता का त्याग नहीं करेगा, तबतक किसी प्रकार नरकों के दुख से नहीं छूट सकेगा। यह कृपणता तो नास्तिकता है और अग्निरूप है।"

ऐसा भी कहा है कि दो देवता भगवान् के सामने सर्वदा पुकार करते रहते हैं कि प्रभो! इन धन जोड़नेवालों की सम्पत्ति नष्ट करदो तथा जो उदार पुरुष हैं उन्हें अधिक सम्पत्ति प्रदान करो। कहते हैं, एक बार किसी ने शैतान से पूछा था कि तुम किसे प्रेम करते हो और किसे अपना शत्रु समझते हो? उसने कहा, "मुझे तो कृपण तपस्वी प्यारा है, क्योंकि वह तपस्या करके दुःख उठाता है और कृपणता के कारण उसका फल नष्ट कर देता है। तथा राजसी होने पर भी जो पुरुष उदार है उसे मैं अपना शत्रु समझता हूँ, क्योंकि वह शरीर से भी तरह-तरह के सुख भोगता है और मुझे भय है कि उदारता के कारण भगवान् उसे क्षमा कर देंगे तथा दया करके उसे वैराग्य की प्राप्ति करा देंगे।"

(परम उदारता का निरूपण)

याद रखो, एक उदारता है और एक परम उदारता। जिस वस्तु की इसे आवश्यकता न हो उसे भगवदर्थ दे डाले, इसका नाम है उदारता। किन्तु जिस वस्तु की इसे अत्यन्त आवश्यकता हो उसे भी किसी अर्थी को दे डाले तो इसका नाम होगा परम उदारता। इसी प्रकार यदि यह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी अपने पास से खर्च न करे तथा अपने मनो-

रथ को भी दूसरे मनुष्यों की आशा रखकर ही पूरा करना चाहे तो इसे परम कृपणता कहेंगे। ऐसा व्यक्ति अपने धनकी गाँठ नहीं खोल सकता। महापुरुष ने कहा है कि जब पुरुष अपनी आवश्यकता की ओर न देखकर ओरों के प्रयोजन की पूर्ति करता है उस पर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। कहते हैं, किसी भक्त के घर कोई अभ्यागत आया, किन्तु उस समय उसके यहाँ भोजन थोड़ा ही था। अतः उसने दीपक बुझा दिया और सब लोग अंधेरे में ही भोजन करने के लिये बैठे। किन्तु उसने स्वयं कुछ भी नहीं खाया, केवल खाली हाथ थाली में डालता रहा, जिससे कि अभ्यागत तृप्त होकर भोजन करले। उसकी ऐसी बात सुन कर महापुरुष ने उससे कहा कि तुम्हारी इस परम उदारता से भगवान् प्रसन्न होंगे। इसी प्रकार महात्मा मूसा को भी आकाशवाणी हुई थी कि जो सारी आयु में एक बार भी अपने स्वार्थ को त्यागकर दूसरों के प्रयोजन की पूर्ति करता है उसके कर्मों का मैं लेखा नहीं करता।❀

इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं, एक बहुत बड़े धनी और उदार भगवत्प्रेमी विचरते हुए एक खजूर के बाग में पहुँचे। उसी समय बाग के रखवाले के लिये दो रोटियाँ आयीं। इतने ही में वहाँ एक कुत्ता आ गया। रखवाले ने उनमें से एक रोटी कुत्ते को डाल दी। वह उसे तुरन्त चट कर गया। तब रखवाले ने दूसरी रोटी भी डाल दी। यह आश्चर्य देखकर भक्त ने उस रखवाले से पूछा, "तुम्हारे लिये घर से कितना भोजन आता है ?" उसने कहा, "जितना आपने देखा है उतना ही आता है।" भक्त ने पूछा, "तो फिर तुमने सारा ही भोजन कुत्ते को

❀ अर्थात् इस एक ही कर्म के कारण उसके अन्य शुभाशुभ कर्मों का कोई विचार न करके उसे सद्गति प्रदान कर देता हूँ।

क्यों डाल दिया ?" वह बोला, "यहाँ पहले से तो कोई कुत्ता था नहीं। यह दूर से आया था। अतः मुझे ऐसा संकल्प हुआ कि यह भूखा न रहे।" तब वह भक्त सोचने लगा, "लोग मुझे व्यर्थ ही उदार कहते हैं, यह बागवान तो मेरी अपेक्षा परम उदार है।" यह विचारकर उसने वह बाग और बागवान दोनों खरीद लिये और उस बागवान को दासत्व से मुक्त कर वह बाग भी उसी को दे दिया।

इसी प्रकार एक प्रसंग और भी है। एक सुप्रसिद्ध संत के घर कुछ अभ्यागत आये। किन्तु भोजन उनके यहाँ थोड़ा ही था। अतः उन्होंने रोटियों के टुकड़े कर दिये और दीपक बुझाकर सब लोग एक साथ ही भोजन करने के लिये बैठे। पर एक घड़ी बीतने पर जब दीपक जलाया तो भोजन ज्यों का त्यों रखा दिखायी दिया। उसे किसी ने भी ग्रहण नहीं किया था। इस प्रकार उन सभी ने परम उदारता की। उनमें से प्रत्येक यही सोचता था कि मुझे भूखा रहना पड़े तो कोई हानि नहीं, मेरे मित्र तृप्त होकर भोजन करलें।

इसी प्रकार एक अन्य भगवत्प्रेमी ने सुनाया था कि एक बार बड़ा युद्ध हुआ। उसमें बहुत लोग क्षत-विक्षत हुए। उन्हीं में मेरा भाई भी पड़ा था। मैं उसके लिये एक पात्र में जल ले गया। किन्तु जब मैं उसे देने लगा तो एक दूसरे घायल ने कहा कि मुझे जल पिला दो। इस पर मेरे भाई ने कहा कि पहले इसे ही पिलाओ। मैं उसके निकट गया तो एक और घायल ने जल माँगा। तब उस घायल ने कहा कि पहले इसे ही पिलाओ। परन्तु जितनी देर में मैं जल लेकर उसके पास पहुँचा इतने में उसके प्राण छूट गये। फिर जब मैं लौटकर दूसरे घायल और अपने भाई के पास आया तो वे भी प्राणहीन ही मिले। इस प्रकार सभी ने अपने जीने की अपेक्षा अपने मित्रों के जीने को विशेष आवश्यक समझा और

उनकी प्राणरक्षा के लिये अपने प्राणों तक की परवाह नहीं की।

बशरहाफी नाम के एक सन्त तो ऐसे परम उदार हुए हैं कि जब उनका शरीर छूटनेवाला था तभी किसी अर्थी ने आकर याचना की। किन्तु उनके पास कुछ भी नहीं था। तो भी उन्होंने अपने गले का वस्त्र उतारकर उसे दे दिया। फिर किसी दूसरे का वस्त्र माँगकर स्वयं पहना और एक मुहूर्त्त पश्चात् शरीर त्याग दिया। उस समय कई बुद्धिमानों ने कहा था कि बशरहाफी जैसे इस लोक में आये थे वैसे ही परलोक में गये। अर्थात् जिस प्रकार नग्नावस्था में उन्होंने जन्म लिया था उसी प्रकार सर्वथा संग्रहशून्य होकर परलोकगमन भी किया।

(उदारता और कृपणता की मर्यादा)

बहुत लोग ऐसे होते हैं जो अपने को उदार समझते हैं, किन्तु दूसरों की दृष्टि में वे कृपण होते हैं। अतः इस भेद को अवश्य जानना चाहिये कि वास्तव में कौन उदार है और कौन कृपण। यह कृपणता एक दीर्घ रोग है, अतः जबतक इसकी पहिचान न होगी तब तक चिकित्सा भी कैसे की जा सकेगी। यह बात भी निश्चित ही है कि अर्थियों के अर्थ की पूर्त्ति हर कोई नहीं कर सकता। यदि इसे कृपणता माना जाय तो इस दृष्टि से तो सभी कृपण ठहरते हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं है। वास्तव में कृपण तो वही है जो उस वस्तु को नहीं देता जिसे विचार की मर्यादा से दे देना उचित हो। विचारदृष्टि से जिस वस्तु को दे डालना सुगम है उसे जो नहीं देता वह भी कृपण ही है। जो पुरुष भोजन की सामग्री लेते समय बहुत विवाद करे, अपने सम्बन्धियों को आहार या वस्त्र देने में संकोच करे अथवा याचक को देखकर अपना आहार छिपा ले वह निश्चय ही कृपण है। कृपणता का तो अर्थ ही यह है कि जो वस्तु देनी उचित हो, उसे

न दे सके। भगवान् ने यह धन तो व्यवहार के लिये ही रचा है। यदि कोई पुरुष इस रहस्य को न जाने और धन को इकट्ठा ही करता रहे तो यह कृपणता का ही लक्षण है। धन दान करने की शास्त्र में आज्ञा है और इससे हृदय का भाव एवं दया भी जानी जाती है, इसलिये धन दान करना चाहिये। शास्त्र में जो दशांश दान करने का आदेश है वह तो संसारी पुरुषों के लिये है, क्योंकि अल्पबुद्धि पुरुष इससे अधिक कुछ नहीं दे सकते। विचारवानों की दृष्टि में तो यह भी कृपणता ही है।

किन्तु भावपूर्वक जो धन दिया जाता है उसके अधिकार भिन्न-भिन्न हैं। एक वस्तु निर्धन को देनी उचित होती है, किन्तु धनवान् को देने में अच्छी नहीं लगती। इसी प्रकार कोई वस्तु अर्थियों को दी जा सकती है, किन्तु वही मित्र को देनी निन्द्य होती है। कोई पदार्थ अन्य पुरुषों को दे सकते हैं, किन्तु सम्बन्धियों को नहीं दिया जा सकता तथा कोई वस्तु स्त्रियों को देना उचित होता है, किन्तु पुरुषों को देना नहीं। व्यवहार में यद्यपि धनसंग्रह करना भी अच्छा है, किन्तु यदि कोई ऐसा निमित्त उपस्थित हो जाय जो संग्रह करने से भी अधिक आवश्यक हो तो उस समय धन को दे डालना ही अच्छा होता है। हाँ, यदि देने का कोई विशेष प्रयोजन न हो तो उसका संग्रह करना ही अच्छा है। किन्तु कृपण पुरुष इस मर्यादा में स्थित नहीं रह सकता। मान लो, किसी के घर कोई अभ्यागत आवे, तो उस समय धनसंग्रह करने की अपेक्षा उसका सत्कार करना ही अधिक आवश्यक है। ऐसी अवस्था में यदि कोई ऐसा सोचकर कि मैं तो पहले ही दशांश दान कर चुका हूँ, उसकी कोई आवभगत न करे तो यह उसकी कृपणता और नीचता ही होगी। इसी प्रकार यदि इसका पड़ौसी निर्धन हो और इसके पास अन्न की अधिकता हो, किन्तु यह उसे भूखा देखकर भी कुछ न दे, तो यह भी कृपणता ही होगी।

तथा जब यह दयाभाव से यथाशक्ति दान करता रहे, किन्तु इसके पास धन इससे भी अधिक हो तो इसे अपने पारलौकिक कल्याण की दृष्टि सें कुए, ताल, पुल या देवस्थान आदि धार्मिक स्थान भी बनवाने चाहिये, जिनसे चिरकाल तक जनता को सुख प्राप्त हो। यदि धन होनेपर भी यह ऐसे कार्य नहीं करता तो संसारी लोग भले ही इसे कृपण न कहें, विचारवानों की दृष्टि में तो कृपण ही माना जाता है। तात्पर्य यह है कि जब यह पुरुष शास्त्र और भाव के अनुसार दान करता रहे तभी कृपणता से मुक्त हो सकता है।

यह सब होते हुए भी इसे उदार तो तभी कहा जा सकता है जब इसका यह देना उत्तरोत्तर बढ़ता जाय। धन की मर्यादा के अनुसार यह अधिकार भी सबका भिन्न-भिन्न है। तथापि जिसे देना सुगम हो जाता है वही उदार कहलाता है और जो देने में कठिनता का अनुभव करता है वह कृपण है। किन्तु जो मनुष्य यश या मान के लिये देता है अथवा प्रत्युपकार की इच्छा रखता है उसे उदार नहीं कह सकते। वास्तव में उदारता तो निष्काम भाव से देने का ही नाम है। हाँ, इस जीव के लिये प्रयोजन से रहित होना है बहुत कठिन। बिना प्रयोजन देना तो भगवान् का काम है। संसारी पुरुषों की दृष्टि में तो जो पुरुष स्वर्गप्राप्ति या कामनापूर्ति के लिये देता है वह भी उदार ही होता है। किन्तु सन्तजनों के मत में तो उसे ही उदारता कहते हैं जब यह जीव निष्काम होकर अपना शरीर और सर्वस्व भगवान् को अर्पण कर देता है और प्रभु के प्रेम में ऐसा मग्न हो जाता है कि अपने शरीर और जीवन के दान को कोई चीज ही नहीं समझता। अपितु इन्हें देने में ही उसे आनन्द होता है।

(कृपणता की निवृत्ति के उपाय)

याद रखो, कृपणता का उपाय समझ और आचरण का मेल

होनेपर ही हो सकता है। समझ यह कि पहले कृपणता के कारण को पहिचाने, क्योंकि जिस रोग के कारण का ज्ञान नहीं होता, उसका उपाय भी नहीं हो पाता। कृपणता के प्रधानतया दो कारण हैं। उनमें पहला है भोगों की प्राप्ति। भोग बिना धन के सिद्ध नहीं होते, इसलिये स्वभावत: भोगी पुरुष को धनसंग्रह के लिये कृपणता करनी पड़ती है। तथा दूसरा कारण है अधिक जीने की आशा। यदि यह मनुष्य ऐसा समझे कि मुझे कुछ ही दिनों में अथवा कुछ ही श्वासों के पश्चात् मर जाना है तो स्वभाव से ही इसका धन से प्रेम क्षीण हो जाय। किन्तु जिस पुरुष के सन्तान होती है उसका हृदय तो मरने के समय भी नहीं खुलता, क्योंकि मोहवश वह अपने पुत्रों के जीने को भी अपने जीने के समान ही मानता है। इसलिये उसकी कृपणता की गाँठ और भी कस जाती है। इसीपर महापुरुष का कथन है कि सन्तान ही कृपणता और मोह का कारण है।

जो पुरुष भोगों के लिये धन से प्रेम करता है अथवा धनके प्रेमसे ही जिसे अधिक भोगों की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, उसे तो अधिक जीने की आशा से धन-सम्पत्ति का सञ्चय करने की वासना दृढ़ हो जाती है ? किन्तु कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिन्हें केवल सोने-चाँदी का ही राग होता है। वे तो अपने शरीर का भी यथोचित उपचार नहीं कर पाते और न दशांश भी दान कर सकते हैं। उन्हें तो यही अच्छा लगता है कि हमारे पास चाँदी-सोना ही दबा रहे। वे यद्यपि ऐसा भी जानते हैं कि हमारे मरनेपर उस धन को हमारे शत्रु ही ले जायेंगे, तो भी कृपणता के कारण वे उसे खर्च नहीं कर सकते। सो, यह तो ऐसा दीर्घ रोग है जिसका उपाय करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जब तुमने कृपणता का कारण जान लिया तब यह समझना चाहिये कि भोगों की प्रीति का निराकरण संयम के द्वारा हो सकता है। ऐसा सोच

कर जब यह पुरुष सन्तोषपूर्वक भोगों का त्याग करता है तब स्वाभाविक ही धन के प्रति इसकी आसक्ति क्षीण हो जाती है।

कृपणता का दूसरा कारण है—अधिक जीने की आशा सो इसकी निवृत्ति का उपाय यह है कि सर्वदा मृत्यु का स्मरण रखे तथा अपने सम्बन्धियों की ओर विचारपूर्वक देखे कि मेरी तरह वे भी धन संचय करते थे और अपनी मृत्यु की ओर से अचेत थे, किन्तु अन्त में अचानक ही पश्चाताप करते हुए काल के गाल में चले गये और उनका जो धन था वह भी उनके शत्रुओं के ही हाथ में पड़ा। तथा जो लोग अपने पुत्रों की निर्धनता के भय से कृपणता करते हैं उन्हें यह सोचना चाहिये कि सब जीवों की उत्पत्ति और पालन करनेवाले तो श्रीभगवान् ही हैं यदि भगवान् ने उनके भाग्य में निर्धनता लिखी होगी तो मेरे कृपणता करने से वे कदापि धनवान् नहीं हो सकते, यदि मेरी बहुत सी सम्पत्ति बची भी रही तो भी वह नष्ट हो जायगी, और यदि भगवान ने इनके भाग्य में धन-सम्पत्ति रखी है तब तो मेरी सम्पत्ति के न बचनेपर भी इन्हें बहुत-सा धन प्राप्त हो जायगा। यह बात बहुत जगह देखी जाती है कि कोई लोग तो पिता की सम्पत्ति न होनेपर भी धनवान् हो जाते हैं और कोई बहुत अधिक पैतृक सम्पत्ति पानेपर भी निर्धनता का कष्ट भोगते हैं। अतः ऐसा विचार करे कि यदि मेरे पुत्र भगवान् के आज्ञाकारी होंगे तो उन्हें भगवान् की प्रसन्नता ही पर्याप्त है और यदि वे भगवद्विमुख हुए तो निर्धन होने में ही उनका कल्याण है, क्योंकि इस से वे अनेक प्रकार के पापों से बचे रहेंगे।

इसके सिवा कृपणता की निषिद्धता और उदारता की विशिष्टता के विषय में संतजनों के जितने वचन आये हैं उनको बार-बार विचारे और ऐसा जाने कि कृपण मनुष्य भले ही भजननिष्ठ भी हो तो भी निःसन्देह नरकगामी होगा। अतः जो धन और

सम्पत्ति प्रभु की अप्रसन्नता और नरकों का कारण है उससे मुझे क्या लाभ होगा। साथ ही कृपण मनुष्यों की दशा पर भी दृष्टि डाले कि ये इस संसार में ही कैसे अपमान को प्राप्त होते हैं। सभी इनका निरादर करते हैं, इसलिये यदि मैं भी कृपणता करूँगा तो अवश्य ही सब लोगों की दृष्टि में गिर जाऊँगा। इस प्रकार ऊपर जो समझ को कृपणता की निवृत्ति का एक उपाय बतलाया था वह यही है। किन्तु जब ऐसा विचार करने से भी कृपणता दूर न हो तब आचरण के द्वारा इस प्रकार उसकी निवृत्ति का उपाय करे कि जिस समय इसके हृदय में कुछ दया या दानकी श्रद्धा का स्फुरण हो तो तत्काल उसकी पूर्ति करे, उस सात्त्विक संकल्प को व्यर्थ न होने दे। कहते हैं कि कोई सन्त शौचालय में गये हुए थे, उसी समय एक याचक ने कहा कि मुझे कुछ दो। बस, उन्होंने उसी स्थान से अपने अंग का वस्त्र उतारकर अपने सेवक के ऊपर फेंक दिया और उससे कहा कि यह कपड़ा इस याचक को दे दो। पीछे जब वे उस स्थान से बाहर आये तो सेवक ने पूछा कि आपने वस्त्र देने में इतनी उतावली क्यों की? बाहर आने-पर ही दे देते। तब उन्होंने कहा, "मुझे इसबात का डर था कि इस समय तो मेरे चित्त में देने का संकल्प है, यदि पीछे कोई और संकल्प उठा और उसने इस श्रद्धा को शिथिल कर दिया तो बड़ा अनर्थ होगा।" इसमें सचमुच कोई सन्देह नहीं कि धन दिये बिना किसी भी प्रकार कृपणता दूर नहीं हो सकती। जैसे सम्बन्धी का वियोग हुए बिना मोह निवृत्ति का विचार ही उदित नहीं होता उसी प्रकार धन की आसक्ति को दूर करने का भी यही उपाय है कि धन का त्याग करे। यदि विचारदृष्टि से देखा जाय तो कृप-णता करने की अपेक्षा धन को समुद्र में डाल देना भी अच्छा है। धन का संग्रह करना तो अत्यन्त निन्दनीय है।

इसके अतिरिक्त कृपणता को दूर करने का एक उत्तम उपाय

यह भी है कि अपने मन को यश एवं मान का प्रलोभन दे और इसी निमित्त से उदारता में तत्पर रहे। अर्थात् मान की अभिलाषा से धन की तृष्णा को घटावे और जब धन की तृष्णा से छूट जाय तब यत्न करके मान की अभिलाषा को निवृत्त करदे। इस बात को इस दृष्टान्त से समझ सकते हैं कि जैसे जब बालक को माता के दूध से छुड़ाना होता है तो पहले किसी अन्य खान-पान का प्रलोभन देकर फुसलाया जाता है और जब वह दूध उसे विस्मरण हो जाता है तब उस खान-पान का भी विशेष आकर्षण नहीं रहता।

एक यह भी बहुत अच्छा उपाय है कि किसी एक स्वभाव को बढ़ाकर दूसरे को घटावे और फिर उस स्वभाव की प्रबलता को भी शिथिल कर दे। जैसे किसी के वस्त्र में रक्त लगा हो तो पहले भले ही उसे मूत्र से धो ले और जब उस रक्त का धब्बा न रहे तो मूत्र की अशुद्धि को शुद्ध जल से निवृत करले। इसी प्रकार यदि मान की अभिलाषा में आसक्त होने की सम्भावना न हो तो मान के द्वारा कृपणता को निवृत्त कर देना अच्छा ही है। साथ ही यदि भाव की दृष्टि से देखा जाय तो यह बात भी स्पष्ट ही है कि यदि मान में आसक्त होकर भी कृपणता को दूर किया जाय तो भी मान का बन्धन कृपणता के बन्धन की अपेक्षा कोमल है। कृपणता और मान ये दोनों यद्यपि मन के ही स्वभाव हैं, तो भी इनमें इतना भेद है जैसे कि स्वप्न में देखे हुए बगीचे और शौचालय का। जाग्रत् की अपेक्षा यद्यपि ये दोनों ही मिथ्या हैं, तो भी स्वप्नावस्था में शौचालय की अपेक्षा बगीचा श्रेष्ठ है। इससे निश्चय होता है कि यदि मान के लालच से भी उदारता आ जाय तो वह निन्दनीय नहीं है, क्योंकि मान और प्रदर्शन ये भजन में तो अवश्य निन्दनीय हैं, किन्तु व्यवहार में नहीं। तात्पर्य यह है कि यदि कोई मानप्रिय उदार पुरुष हो तो कृपण उसे बुरा न कहे, क्योंकि कृपणता के दोष की अपेक्षा तो मानपूर्वक उदारता करनी

भी अच्छी है।

अतः जिस पुरुष को कृपणता दूर करने की इच्छा हो उसे चाहिये कि जब तक उदारता का स्वभाव दृढ़ न हो तबतक प्रयत्नपूर्वक धन देता रहे। इसी से कितने ही सन्तजन जब किसी जिज्ञासु की किसी स्थानविशेष में आसक्ति देखते थे तो उसे वहाँ से हटाकर दूसरे स्थान में भेज देते थे और फिर उस स्थान की सामग्री भी अर्थी लोगों को बाँट देते थे। उन्हें यदि मालूम होता कि किसी भगवत्प्रेमी का अपने नवीन वस्त्र में राग हो गया है तो वे उसे किसी याचक को दिला देते थे। कहते हैं, एक बार एक भक्त महापुरुष के लिये एक नया जूता जोड़ा लाया। वह उन्होंने पहिन लिया। किन्तु जब वे भगवान् की उपासना करने लगे तो उनकी दृष्टि उस जूते की ओर गयी। तब उन्होंने उससे अपना पुराना जूता ही लाने को कहा। इससे निश्चय होता है कि धन को त्यागे बिना उसका मोह निवृत्त नहीं होता। और जब तक इस पुरुष का हाथ नहीं खुलता तबतक हृदय भी नहीं खुलता। इसी से जब यह निर्धन होता है तब तो उदार और खुले हृदय का रहता है और जब इसके पास कुछ धन इकट्ठा हो जाता है तो उस संचय के रस में बँधकर ऐसा कृपण हो जाता है कि कुछ भी खर्च नहीं कर सकता। हाँ, यदि इसके पास कोई पदार्थ न हो स्वाभाविक ही इसे उसका मोह भी नहीं होता। इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। एक बार एक राजा के आगे किसी पुरुष ने भेंट करने के लिये एक रत्नजटित कटोरा रखा। राजा ने उसे देखकर एक बुद्धिमान् से कहा कि यह कटोरा कैसा आश्चर्यरूप है ? बुद्धिमान् बोला, "यह कटोरा तो शोक और निर्धनता का बीज है, क्योंकि जब यह टूट जायगा तो इसके समान कोई दूसरा कटोरा न मिलने के कारण इसके बिना आपको निर्धनता और शोक का अनुभव होगा। जब तक यह आपके पास नहीं आया था तबतक तो आप इस निर्धनता

और शोक से मुक्त ही थे।" दैवयोग से एक दिन वह कटोरा टूट गया और राजा को उसके कारण बहुत शोक भी हुआ। तब उसने कहा, "उस बुद्धिमान् ने ठीक ही कहा था।"

(धन के मन्त्र)

याद रखो, यह धन सर्प के समान है। इसमें विष और अमृत दोनों ही पाये जाते हैं। इसीसे मैं पहले भी कह चुका हूँ कि मन्त्र सीखे बिना धनरूपी सर्प से हाथ लगाना अच्छा नहीं। किन्तु यदि कोई कहे कि कितने ही संत पहले भी हो चुके हैं; यदि धन का रखना सर्वथा अनुचित होता तो वे क्यों रखते? तो उनका यह कथन ऐसा ही है जैसे कोई बालक सपेरे के हाथ में सर्प देखकर कहे कि यह पुरुष सर्प को कोमल जान कर पकड़े हुए है; और फिर स्वयं भी सर्प पर हाथ डाले। ऐसा करनेपर उसकी मृत्यु ही होगी जिस प्रकार सपेरा मन्त्रोंद्वारा कीलकर ही सर्प को पकड़ता है उसी प्रकार धनरूपी सर्प के भी पाँच मन्त्र हैं—

१. सब से पहले धन के उपयोग को पहचाने। वास्तव में धनोपार्जन करने का उद्देश्य इतना ही है कि इसके द्वारा शरीर के खान-पान और वस्त्रादि का कार्य सिद्ध हो जाता है। शरीर इन्द्रियों का स्थान है और इन्द्रियाँ बुद्धि की चाकर हैं। बुद्धि का कार्य यह है कि इन्द्रियों के द्वारा प्रभु की कारीगरी देखकर उनके सामर्थ्य को पहचाने क्योंकि प्रभु की पहिचान करने से जीवात्मा शुद्ध होता है। अतः जिस पुरुष ने इस भेद को समझा है वह अपने पास निर्वाह-मात्र ही धन रखता है और उसमें विशेष आसक्त भी नहीं होता।

२. धन का उपार्जन निश्छल एवं निष्पाप साधनों से करे और उसे विचार की मर्यादा के अनुसार खर्च करे।

३. जितने में शरीर का निर्वाह हो जाय उससे अधिक संग्रह

न करे। जब कोई अर्थी दिखायी दे तो कृपणता करके उससे धन को छिपाये नहीं। यदि अधिक उदारता न कर सके तब भी अपनी योग्यता के अनुसार अवश्य दान करे।

४. अपनी जीविका का निर्वाह संयमपूर्वक करे। धन को अधिक भोगों में व्यय न करे, क्योंकि संयमसहित आजीविका करनी निर्दोष व्यवहार से भी वढ़कर है।

५. धन को एकत्रित करने और खर्च करने में अपना संकल्प शुद्ध रखे। संकल्प की शुद्धि यही है कि जब किसी पदार्थ को स्वीकार करे तो उसके द्वारा निश्चिन्त होकर भजन में ही स्थित होने का भाव रखे और जब किसी वस्तु का त्याग करे तब भी माया की सामग्री के बन्धन से छूटने के लिये ही त्यागे। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार अपने चित्त की दृष्टि धर्ममार्ग में ही स्थित रखे।

इस प्रकार जो पुरुष इन भेदों को समझकर धन रखता है उस पर धनसंग्रह के दोषों का प्रभाव नहीं होता और न धन का विष ही उसे स्पर्श करता है। इस विषय में सन्त अली का कथन है कि यदि कोई पुरुष सारी पृथ्वी के धन का संग्रह करे किन्तु उसका उद्देश्य सब प्रकार शुद्ध हो तो निश्चय ही उसे कोई दोष नहीं होता वस्तुतः वह तो विरक्त ही है। और यदि कोई पुरुष संग्रह तो न करता हो, किन्तु उसका उद्देश्य निष्काम न हो, तो उसे विरक्त नहीं कहा जा सकता। अतः उचित यह है कि जिज्ञासु का हृदय सब प्रकार भगवान् के भजन की ओर लगा रहे। तब तो उसकी सभी क्रिया सफल होती हैं और उसका भोजन करना तथा मल त्यागना भी पुण्यरूप होता है; क्योंकि शरीर को इन सब क्रियाओं की आवश्यकता है तथा शरीर का धर्ममार्ग से सम्बन्ध है। अतः उद्देश्य शुद्ध होनेपर ही सब कर्म सफल होते हैं।

परन्तु बहुत लोग तो अचेत होने के कारण इन धनरूपी सर्प

के मन्त्रों को जान नहीं सकते और न उन्हें मन की शुद्धता की ही पहचान होती है। अथवा यदि जान भी लेते हैं तो भी उनके अनुसार आचरण करने में तत्पर नहीं हो सकते। अतः उनके लिये यही अच्छा है कि अधिक धन का संग्रह न करें; क्योंकि यदि कोई पुरुष धन की अधिकता होनेपर भी भोगों की अधिकता में आसक्त न हो तो भी उसे धनके संचय और संरक्षण का विक्षेप तो सहना ही पड़ेगा। इस विषय में यह प्रसंग भी प्रसिद्ध है कि एक भक्त महापुरुष के अत्यन्त प्रिय थे और उनके पास धन भी बहुत था। एक बार उनके सेवक मन देश से बहुत सा व्यापारिक संघात (काफिला) लेकर आये। उस समय ऊँटों के शब्द से नगर में बड़ा कोलाहल फैल गया। उसे सुनकर महापुरुष की धर्मपत्नी आयशा ने कहा, "महापुरुष ने सत्य ही कहा था।" यह बात किसी ने उन भक्तराज को सुनायी। वे अत्यन्त विनीत होकर आयशा के पास आये और पूछने लगे कि महापुरुष ने क्या कहा था। तब आयशा ने कहा, "एक बार महापुरुष कहते थे कि हमने सूक्ष्म दृष्टि द्वारा ध्यान करके स्वर्ग को देखा तो वहाँ हमें अनेकों वैराग्यवान् दिखायी दिये, किन्तु हमें कोई धनी स्वर्ग में जाता दिखायी नहीं दिया। पर उन सब वैराग्यवानों के पीछे अमुक भक्त जा रहा था। वह चलने में समर्थ नहीं था, तो भी यत्न करके गिरता पड़ता स्वर्ग में पहुँच गया।" यह बात सुनकर उन भक्तराज ने अत्यन्त प्रसन्न हो अपने सब ऊँट और जो कुछ सामग्री उन पर लदी थी वह सभी अर्थियों को बाँट दी तथा साथ में जितने दास थे उन्हें भी मुक्त कर दिया। फिर कहने लगे कि किसी प्रकार में भी वैराग्यवानों के साथ स्वर्ग में पहुँच जाऊँ तो अच्छा हो।

इसी प्रकार एक और भगवत्प्रेमी का कथन है कि यदि मैं निष्पाप साधनोंद्वारा नित्यप्रति तीन हजार रुपये पैदा करूँ और उन्हें धर्म कार्यों में खर्च करते हुए भगवान् के भजन-स्मरण में

ही लगा रहूँ, तो भी मैं इस धनसम्बन्धी विक्षेप में नहीं पड़ना चाहता। तब किसी ने उनसे पूछा कि आप ऐसे निर्दोष धन को भी क्यों नहीं चाहते? उन्होंने कहा, "मैं अपनी बुद्धि के अनुसार भले ही ऐसी शुद्धि करूँ तो भी जब स्वर्ग में मुझसे पूछेंगे कि तुमने यह धन किस प्रकार पैदा किया और किस कार्य में लगाया तो मुझे अपने में इन प्रश्नों का उत्तर देने का सामर्थ्य दिखायी नहीं देता। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जिन पुरुषों ने पापपूर्वक धनोपार्जन करके पाप में ही उसे खर्चा है वे जिस प्रकार नरक में जायेंगे उसी प्रकार वे लोग भी नरकगामी होंगे जिन्होंने निष्पाप साधनों से धन कमाकर उसे भोगों में लगाया है। इसी प्रकार जिन्होंने पापपूर्वक कमाया हुआ धन दान किया होगा वे भी नरक से नहीं छूटेंगे। हां, जिसने निष्पाप साधनों से धन का उपार्जन किया होगा और धर्म कार्यों में ही उसे लगाया होगा उसीको परलोक में लेजाकर विचार करेंगे कि यह भजन से विमुख तो नहीं रहा? अधिक भोगासक्त तो नहीं रहा? दान करके अभिमानी तो नहीं हुआ? ऐसा तो नहीं हुआ कि इसने किसी सम्बन्धी या निर्धन पड़ोसी की सुधि न ली हो, अथवा विधिपूर्वक प्रभु के उपकार का धन्यवाद न दिया हो? इस प्रकार उस धनवान् से यह एक-एक बात पूछी जायगी और यदि उसने किसी प्रकार की अवज्ञा की होगी तो उसके लिये उसे दण्ड दिया जायगा। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि मैंने इसीलिये निर्धनता स्वीकार की है जिसमें दूसरे लोग भी इसे अच्छा समझें।

कहते हैं, एक बार यह महापुरुष एक भक्त को साथ लिये अपनी पुत्री के द्वार पर गये और पूछा कि हम भीतर आवें? पुत्री ने कहा, बहुत अच्छा, "किन्तु मेरे शरीरपर वस्त्र थोड़ा है।" तब महापुरुष ने अपना वस्त्र उतार कर भीतर फेंक दिया और भीतर गये तो पूछा, "बेटी! तेरी कैसी स्थिति है?" पुत्री ने कहा, "मैं रोग

और भूख से अत्यन्त आतुर हूँ, मुझे उदरपूर्ति के योग्य भी आय नहीं है। अब तो मुझ में भूख सहन करने का सामर्थ्य नहीं रहा है।" तब महापुरुष ने कहा, "बेटी ! तू अधीर मत हो, मुझे भी भूखे रहते तीन दिन बीत चुके हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि मैं प्रभु से याचना करूँ तो मुझे अवश्य मिल सकता है, किन्तु मैंने तो माया के सुखों से विरक्त होकर ही परलोक के सुखों को ही अङ्गीकार किया है। इसलिये मैं उनसे किसी भी वस्तु की याचना नहीं करता।" फिर उन्होंने अपनी पुत्री के सिर पर हाथ रखकर कहा "तू इस वैराग्य के ही प्रभाव से सब स्त्रियों में श्रेष्ठ होगी और परम सुख प्राप्त करेगी। अतः धैर्य रख कर भगवान का धन्यवाद कर।

इसी प्रकार एक प्रसंग और भी है—एक बार मार्ग में महात्मा ईसा का एक पुरुष के साथ संग हो गया। उसके पास तीन रोटियां थीं। चलते-चलते जब वे एक नदी के तट पर पहुँचे तो वहां दोनों ने उनमें से दो रोटियां खा लीं। इसके पश्चात् जब महात्मा ईसा नदी की ओर गये तो दूसरे व्यक्ति ने बची हुई तीसरी रोटी भी खा ली। लौटने पर जब उन्होंने पूछा कि तीसरी रोटी का क्या हुआ, तो उसने कहा "मुझे पता नहीं।" आगे जानेपर उन्हें एक मृग मिला। उसे मारकर दोनों ने भोजन किया और फिर ईसा ने भगवन्नाम के प्रभाव से उसे जीवित कर दिया तथा अपने साथी से कहा कि जिन प्रभु के नाम का तुमने अभी इतना प्रभाव देखा है उन्हीं की शपथ करके कहो कि तीसरी रोटी कहां है ? उसने तब भी यही कहा कि मुझको कुछ खबर नहीं। आगे चलनेपर एक और नदी आयी। ईसा ने उस पुरुष का हाथ पकड़ा और दोनों सूखे ही नदी पार कर गये। अब उन्होंने फिर पूछा कि जिन प्रभु के सामर्थ्य से तुम सूखे ही नदी को पार कर आये हो उन्हें अन्तर्यामी जानकर बताओ कि तीसरी रोटी कहां है ? उसने कहा, "मुझे तो पता नहीं।" आगे बढ़नेपर उन्होंने बहुत-सा रेत

इकट्ठा किया और भगवान् का नाम लेकर उसे सुवर्ण बना दिया। उस सुवर्ण के तीन भाग करके महात्मा ईसा ने कहा, "इनमें से एक भाग मेरा है, एक तुम्हारा और एक उसका जिसने तीसरी रोटी खायी है।" तब तो उसे लोभ हो आया और वह बोला "वह रोटी तो मैंने ही खाई थी।" इस पर ईसा ने कहा "तो तुम्हीं सोने की ये तीनों ढेरियाँ ले लो।" इतना कहकर वे चले गये और वह पुरुष वहीं बैठा रहा। थोड़ी देर में वहाँ दो पुरुष और आ गये और ऐसा विचार करने लगे कि इसे मारकर ये तीनों ढेरियाँ हम ही ले लें और आपस में आधा आधा बांट लें। ऐसा निश्चय कर उनमें से एक आदमी दूसरे के लिये नगर से रोटियां लेने के लिये गया। वहां उसे ऐसा संकल्प हुआ कि सारा सोना मैं ही क्यों न ले लूँ, उसे क्यों लेने दूँ ? इसलिये वह रोटियों में विष मिला लाया। इधर जो दो आदमी सोने की ढेरियों के पास रह गये थे उन्होंने यह विचार किया कि जब वह भोजन लेकर आवे तो उसे मार डालें और यह सारा धन हम ही बांट लें। बस, जैसे ही वह रोटियां लेकर आया कि उन्होंने उसे मार डाला और फिर दोनों मिलकर भोजन करने लगे। थोड़ी देर में विष के प्रभाव से वे भी मर गये और सोने की तीनों ढेरियां वहीं पड़ी रह गयीं। जब ईसा उधर लौटकर आये तो उन्होंने देखा कि सोने की तीनों ढेरियां उसी प्रकार पड़ी हुई हैं और तीन आदमी मरे हुए उनके पास पड़े हैं। यह देखकर इन्होंने अपने भक्तों से कहा, "यह माया ऐसी ही छल-रूपा है, अतः इससे भय मानकर इसका त्याग करो।"

तात्पर्य यह है कि यदि कोई पुरुष बुद्धिमान् और शक्तिसम्पन्न हो तो भी अधिक धन स्वीकार न करे। इसी में उसकी भलाई है, क्योंकि यह देखा गया है कि सर्प पकड़नेवालों में भी अधिकांश पुरुष सर्प के डसने से ही मरते हैं। जिस पर भगवान् की विशेष अनुकम्पा हो और जिसे वे सब प्रकार के विघ्नों से बचा लें उसकी बात तो वाणी का विषय ही नहीं है।

सातवीं किरण

मान-बड़ाई की आसक्ति और उससे छूटने के उपाय

मान, बड़ाई और अपनी प्रशंसा की प्रीति से बहुत लोगों की बुद्धि का नाश हुआ है। मान की आसक्ति के कारण ही लोग शत्रुता तथा और भी अनेकों पापों में प्रवृत्त हो जाते हैं। मनुष्य में जब मान की आसक्ति अधिक बढ़ जाती है तो वह धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाता है और उसका हृदय असत्य एवं कपट में प्रवृत्त होने लगता है। महापुरुष का कथन है कि मान की प्रीति कपट को इस प्रकार बढ़ाती है जैसे खेती को जल तत्काल बढ़ा देता है। संत अली ने भी कहा है कि सारे संसार को दो अवगुणों ने नष्ट किया है–(१) वासना के अनुसार भोगों में विचरना और (२) मान की प्रीति में बँध जाना। इन दो विघ्नों से कोई विरला ही छूट पाता है, जिसे मान और स्तुति की इच्छा न हो और जो मायिक भोगों से विरक्त रहे। इस विषय में प्रभु भी कहते हैं कि परलोक की श्रेष्ठता उसी को प्राप्त होती है जिसे मान और बड़ाई की कोई अभिलाषा न हो। महापुरुष ने भी कहा है कि जिनकी अवस्था बाहर से मलिन जान पड़ती है और लोग जिन्हें पागल समझकर उनकी कोई बात भी नहीं सुनते और न धनवान् ही उनका आदर करते हैं, किन्तु जिनका हृदय भगवत्प्रेम के कारण ऐसा उज्ज्वल है कि उनकी दया से अनेकों लोगों को पवि-

त्रता प्राप्त होती है, वे ही वास्तव में परम सुख के अधिकारी हैं।

ऐसा भी कहा जाता है कि संसारमें कोई पुरुष ऐसे होते हैं कि जब वे किसी से कुछ माँगते हैं तो उन्हें कोई एक पैसा भी नहीं देता; किन्तु यदि वे भगवान् से वैकुण्ठ की इच्छा करें तो वह भी उन्हें सुगमता से प्राप्त हो जाता है। इसी विषय में संत उमर ने कहा है कि मैंने एक भगवत्प्रेमी को एकान्त में रोते देखा, तो मैंने उससे पूछा कि तुम क्यों रोते हो? उसने कहा, "मैंने महापुरुष के मुख से यह सुना है कि थोड़ा कपट भी मनमुखता ही है, भगवान् तो ऐसे विरक्त पुरुषों को प्रेम करते हैं। जो अपने को किसी के आगे प्रकट ही नहीं करते और जिन्हें कोई पहिचान भी नहीं सकता, किन्तु जिनका हृदय अत्यन्त उज्ज्वल है और जो संशयरूपी अन्धकार से मुक्त हैं।" संत इब्राहीम अदहम कहते हैं कि जिसे इन्द्रियादिजनित भोग और अपनी प्रशंसा प्रिय हैं वह मनुष्य धर्ममार्ग में सच्चा नहीं कहा जा सकता। एक और संत ने भी कहा है कि सच्चे पुरुष का चिह्न यह है कि अपने को किसी प्रकार प्रकट न करे। संत हसन बसरी कहते हैं कि जिस पुरुष की बुद्धि दृढ़ नहीं होती और लोग उसका सम्मान करने लगते हैं उसका चित्त स्थिर नहीं रहता।

कहते हैं, एक बार संत अयूब मार्ग में जा रहे थे। उस समय बहुत लोग उनके साथ लगे हुए थे। तब वे कहने लगे, "भगवान् यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि मैं अपने हृदय में संसार के सम्मान को अच्छा नहीं समझता तथा इस प्रकार का सम्मान होते देखकर मैं भगवान् के भय से बहुत संकोच में पड़ जाता हूँ।" तथा सुफियान सौरी संत ने कहा है कि संतजनों ने तो अपने को प्रकट करनेवाले वस्त्र को भी निन्द्य कहा है। तात्पर्य यह है कि जिस नवीन या पुराने वस्त्र के कारण यह मनुष्य विशेष जान पड़े उसे रखना अच्छा नहीं। जिज्ञासु को तो इस प्रकार

विचरना चाहिये कि कोई उसकी किसी प्रकार की चर्चा ही न करे। संत बशरहाफी भी कहते हैं कि मान प्राप्त करने वालाव्यक्ति इस लोक और परलोक में भ्रष्ट हो जाता है।

(माया का स्वरूप)

जिस प्रकार धनवान् पुरुष वह कहलाता है जिसके पास धन और सम्पत्ति की सामग्री अधिक होती है उसी प्रकार ऐश्वर्य-वान् वह कहलाता है जिसका लोगों के चित्तों पर अधिकार हो। उसकी शक्ति का सभी के हृदयों पर प्रभाव होता है। इस प्रकार जिनका हृदय उसके अधीन हो जाता है उनके शरीर और धन पर भी उसका अधिकार हो जाता है। मनुष्य का हृदय उसीके अधीन हो जाता है जिसकी श्रेष्ठता और पूर्णता पर उसका विश्वास होता है; तथा यह श्रेष्ठता और पूर्णता विद्या एवं सत्स्वभाव के कारण हुआ करती है। अथवा जिन मनुष्यों का स्थूल ऐश्वर्य होता है उन्हें भी इस लिये श्रेष्ठता मिल जाती है, क्योंकि सभी लोग मान और ऐश्वर्य को बड़ी चीज समझते हैं। तात्पर्य यह है कि जब यह मनुष्य किसी के सूक्ष्म या स्थूल गुण के विषय में निश्चय करता है तो स्वभाविक ही इसका हृदय उसके अधीन हो जाता है। इसलिये यह प्रसन्न चित्त से उसकी आज्ञा मानने लगता है, जिह्वा से उसकी महिमा का वर्णन करता है और शरीर से उसकी सेवा करने में तत्पर रहता है। जिस प्रकार सेवक सब प्रकार अपने स्वामी के अधीन रहता है उसी प्रकार यह उसके अधीन हो जाता है। किन्तु विचार करनेपर मालूम होगा कि सेवक भय के कारण स्वामी की सेवा करता है और गुणों में विश्वास करनेवाला प्रसन्नता से अपने को उसके अधीन कर देता है। अतः मान का तात्पर्य यही है कि लोगों के चित्त इसके अधीन हो जायँ।

किन्तु तीन कारण ऐसे हैं जिनसे कि इस मनुष्य को मान में धन की अपेक्षा भी अधिक प्रीति होती है—

१. धन के द्वारा सब प्रकार के मनोरथों की पूर्ति होती है, इसीलिये धन प्रिय होता है, और मान ऐसी वस्तु है कि जिसे यह प्राप्त होती है उसे धन भी स्वभाव से ही मिल जाता है। इसके विपरीत यदि कोई नीच पुरुप धन के बल पर मान प्राप्त करना चाहे तो उसे वह नहीं मिल सकता।

२. धन के साथ चोर और राजदण्ड आदि के भय लगे हुए है, किन्तु मान को ऐसा कोई विघ्न बाधा नहीं पहुँचा सकता।

३. धनोपार्जन के लिये तरह-तरह के यत्न करने पड़ते हैं, किन्तु मान बिना यत्न ही बढ़ता जाता है, क्यों कि यदि किसी के प्रति एक पुरुप का विश्वास दृढ़ हो जाता है तो उसके मुखसे प्रशंसा सुनकर स्वयं ही देश-देशान्तर में उसकी कीर्ति फैल जाती है और अधिकाधिक लोगों का चित्त उसकी ओर आकर्षित होने लगता है।

अतः लोगों को जो धन और मान प्रिय जान पड़ते हैं उनका एक कारण तो यह है कि इनके कारण सहज ही में उसके मनोरथ पूरे हो जाते हैं। और दूसरा यह कि मनुष्य यह जानता भी हो कि अमुक देश में मैं कभी नहीं पहुँचूँगा, तो भी यह अवश्य चाहता है कि मेरा मान देश-देशान्तर में फैल जाय। इसमें एक रहस्य है। वह यह कि मनुष्य का हृदय देवताओं के समान उत्तम जाति का है। उसमें ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। महापुरुप ने भी कहा है कि ये सब जीव प्रभु की सत्तास्वरूप ही है। इससे निश्चय होता है कि इस जीव का सम्बन्ध सब प्रकार भगवान् के साथ ही है। प्रभु महान् हैं, इसलिये यह भी अपनी महत्ता चाहता है। अतः जिस मनुष्य में किसी प्रकार का सामर्थ्य होता है उसके हृदय में स्वभाव से ही ऐश्वर्य की अभिलाषा स्फुरित हो जाती है। जैसे फिरऔन नाम के एक नास्तिक राजा ने घोषणा की थी कि मैं ही

सारे जगत् का ईश्वर हूँ। वास्तव में यह स्वभाव सभी मनुष्यों पर प्रबल है। यहाँ 'ईश्वर' का अर्थ यही है कि मेरे समान कोई दूसरा नहीं है, क्योंकि जिसके समान अथवा जिसका प्रतिद्वन्द्वी कोई और होता है उसका ऐश्वर्य खण्डित हो जाता है। जैसे सूर्य की पूर्णता भी इसीलिये मानी गयी है क्योंकि उसके समान कोई नहीं है, सारे प्रकाश उसी के आश्रित हैं। इसी प्रकार सर्वाङ्गपूर्ण तो केवल श्रीभगवान् ही हैं; और सब में भी उन्हीं की सत्ता भरपूर है। वे सर्वदा सत्यस्वरूप हैं, अतः कोई भी पदार्थ उनकी सत्ता के बिना सत्य नहीं भासता। इसीसे कहा है कि सब पदार्थ प्रभु का ही प्रतिविम्ब हैं और उन्हीं के आश्रित हैं, जिस प्रकार कि धूप सूर्य के आश्रित होती है। इससे निश्चय होता है कि सबके ईश्वर केवल भगवान् ही हैं। इसीलिये मनुष्य का स्वभाव है कि वह सर्वदा अपनी महत्ता और पूर्णता चाहता है और यही इच्छा करता है कि सब कोई मेरे ही अधीन हो।

किन्तु जब तक अविद्या और शरीर का सम्बन्ध रहता है तब तक मनुष्य ऐसा सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर सकता, चैतन्यांश का संयोग होने से ही इसमें ईश्वर के स्वभाव का स्फुरण होता है। तथापि मलिन अहंकार और विकारों के कारण यह अत्यन्त पराधीन हो रहा है, अतः यह समस्त पदार्थों को अपने अधीन नहीं कर सकता। इसके सिवा जीव की पराधीनता इसलिये भी है कि एक प्रकार की सृष्टि तो किसी भी प्रकार इसकी बुद्धि और शक्ति का विषय नहीं बनती, जैसे आकाश की पुरियाँ, देवगण, तारामण्डल, भूत-प्रेत आदि प्राणी, पातालान्तर्गत सृष्टि तथा जो अनेक प्रकार की रचना समुद्र और पर्वतों के गर्भ में छिपी हुई है। यह सारी सृष्टियाँ प्रभु ही की रची हुई हैं, किन्तु इन पर मनुष्य का सामर्थ्य किसी प्रकार नहीं पहुँचता। तथापि इस सामर्थ्य से शून्य होनेपर भी यह स्वभाव से ही ऐसा प्रयत्न अवश्य करता

है कि मैं इन सृष्टियों का रहस्य भी जान लूँ। जैसे कोई व्यक्ति शतरंज का खेल न जानने पर भी यह चाहता है कि मैं इसकी गोटों को पहचान लूँ और इस खेल में जीत-हार का स्वरूप भी समझ लूँ। सो, इस प्रकार जानने की इच्छा और उसका वेग भी ऐश्वर्य का ही एक अंग है। दूसरे प्रकार की सृष्टि वह है जिसपर इस मनुष्य का बल वर्तमान रहता है; जैसे वनस्पति और पशु आदि जो पृथ्वी पर प्रभु की रचना है। इसे यह अपने अधीन भी कर लेता है तथा अन्य सब पदार्थों से उत्तम जो मनुष्य का हृदय है उसे भी यह अपने अधीन करना चाहता है। इस प्रकार अपनी सामर्थ्य की वृद्धि में ही इसका प्रेम है। अतः मान का अर्थ यही है कि मनुष्य ईश्वर का अंश है, इसलिये यह अपना ऐश्वर्य चाहता है। किन्तु इसमें अज्ञान यही है कि धन के कारण यह अपने को असमर्थ पाता है, इसलिये धन और मान में ही इसका विशेष प्रेम है।

प्रश्न—यदि परमेश्वर का अंश और उनके साथ सम्बद्ध होने के कारण ही मनुष्य में मान और ऐश्वर्य की अभिलाषा स्फुरित होती है तो इससे तो यह निश्चय हुआ कि इस प्रकार की अभिलाषा करना अनुचित नहीं है, क्योंकि परमात्मा की पूर्णता तो विद्या और सामर्थ्य की दृष्टि से है। अतः जिस प्रकार विद्या से सम्पन्न होना एक विशेष बात है उसी प्रकार धन और मान की अभिलाषा भी एक प्रकार का गुण ही हैं, क्योंकि इनसे सामर्थ्य प्राप्त होता है।

उत्तर—यद्यपि मनुष्य की पूर्णता ज्ञान और सामर्थ्य दोनों ही को प्राप्त करने में है और ये ही गुण श्रीभगवान् के भी हैं, तथापि इस मनुष्य को भगवान् ने समझ की ओर बढ़ने का मार्ग ही दिया है, ऐश्वर्य की ओर ले जानेवाला मार्ग नहीं दिया, क्योंकि जिस ऐश्वर्य के द्वारा भगवान् सब ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और स्थिति

करते हैं वह सामर्थ्य जीव को प्रयत्न करनेपर भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसके सिवा समझ तो ऐसी वस्तु है जिसके बढ़नेपर मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है, किन्तु धन और मान का जो झूठा बल है उसके बढ़नेपर इसे सामर्थ्य की पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। यद्यपि मनुष्य धन और मानकी शक्ति से अपने को बल-वान् समझने लगता है तो भी यह स्थूल बल स्थिर नहीं रह सकता क्योंकि धन और मान का सम्बन्ध इन्द्रियादि पदार्थों के साथ है और ये मृत्यु होनेपर अपने से दूर हो जाते हैं। इस प्रकार जो दार्थ मृत्यु होने पर दूर हो जाते हैं उन्हें सत्तास्वरूप नहीं कहा जा सकता। अतः उनकी प्राप्ति में अपना समय व्यतीत करना मूर्खता ही है। इसके साथ सर्वदा रहनेवाला बल तो वही है जिस से इसे समझ की प्राप्ति हो, क्योंकि समझ का सम्बन्ध साक्षात् हृदय के साथ ही है और हृदय सत्यस्वरूप ही है। अतः समझ वाला पुरुष जब इन्द्रियादि देश को त्याग देता है तब भी समझ का प्रकाश उसके साथ ही रहता है और उसी प्रकाश से वह प्रभु का दर्शन प्राप्त कर आनन्दमग्न हो जाता है। वह आनन्द कैसा विलक्षण है, कि जिसके सामने स्वर्गादिके सुख भी तुच्छ भासते हैं। इसीसे कहा है कि समझ का सम्बन्ध प्रभु ही के स्वरूप और गुणों के साथ है। इसलिये समझ की पूर्णता होनेपर फिर उसमें कोई परिणाम (परिवर्तन) नहीं होता। तात्पर्य यह है कि नाशवान् पदार्थ का तो कभी भाव (सत्य) नहीं होता और जो सत्यस्वरूप है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता।

किन्तु जिनका सम्बन्ध स्थूल पदार्थों से है उन व्याकरण और ज्यौतिष आदि विद्याओं का कोई विशेष मूल्य नहीं है। ये सब तो स्थूल विद्याएँ हैं। व्याकरण आदि की विशेषता तो केवल इसी दृष्टि से है कि उनके अध्ययन से भी मनुष्य को सन्तजनों के वाक्यों का रहस्य समझने की योग्यता प्राप्त होती है। और फिर

वह भगवान् के स्वरूप को पहिचान सकता है तथा प्रभु के मार्ग में जो कठिन घाटियाँ हैं उन्हें पार करने के प्रयत्न को भी जान लेता है। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ परिणामी और नाशवान् होता है उसकी समझ भी विनाशी ही होती है। अविनाशी समझ तो केवल प्रभु की पहिचान ही है, उसका न तो परिणाम होता है और न नाश ही होता है। जिस पुरुष को जितनी समझ प्राप्त हो जाती है उतना ही वह भगवान् के समीप पहुँच जाता है। अतः यह समझ भी यथार्थ स्वरूप ही है। और यथार्थ सामर्थ्य भी वही है जिसके बल से मनुष्य भोगों के बन्धन से मुक्त हो, क्योंकि जिस पुरुष का हृदय भोगवासना से बँधा हुआ है वह तो वासना का ही दास है। वासना की प्रबलता ही जीव की हीनता है और वासना से मुक्त होना ही इसकी पूर्णता है। ऐसी पूर्णता होनेपर यह जीव देवताओं का निर्मल स्वभाव प्राप्त कर लेता है और सब प्रकार के परिणाम से रहित हो जाता है। अतः इस जीव की पूर्णता यथार्थ ज्ञान और भोगों से विरक्ति होने में है। वह अविनाशी स्वरूप है और धनवानों की पूर्णता नाशवान् है। इस प्रकार निश्चय हुआ कि सभी मनुष्य अपनी पूर्णता से अनभिज्ञ हैं और अपनी हीनता को ही पूर्णता समझ कर भटकते रहते हैं। इसीसे वे सर्वदा दुःखी रहते हैं, मूर्खतावश उनकी प्रवृत्ति स्थूल पदार्थों की ओर ही रहती है तथा उनको जो वास्तविक पूर्णता है उससे वे सर्वदा विमुख रहते हैं। इस प्रकार वे अपनी हानि की ओर चले जाते हैं।

पर यह बात ध्यान देने की है कि धन की तरह मान भी सर्वदा निन्दनीय नहीं होता। जिस प्रकार जीविकामात्र धनसंग्रह करना अच्छा है वैसे ही कार्यनिर्वाह के योग्य मान भी उपयोगी है। जब इस मनुष्य का हृदय अधिक धन या अधिक मान में आसक्त हो जाता है तब यह निःसन्देह परलोक के मार्ग से दूर रह जाता

है। मान का स्वरूप यह है कि मनुष्य को अपनी सेवा और रक्षा के लिये सेवक, मित्र, सहायक और राजा आदि का सहयोग प्राप्त होता रहे। और ये तभी प्राप्त होते हैं जब मन में इनका कोई आदर हो और इन्हें अच्छा समझता हो। यदि अध्यापक के हृदय में विद्यार्थी का कोई मान न हो तो वह उसे पढ़ावे ही नहीं, इसी प्रकार यदि विद्यार्थी के मन में अध्यापक का कोई मान न हो तो वह पढ़े ही नहीं। इससे निश्चय होता है कि कार्यनिर्वाह के योग्य मान का संग्रह करना भी अनुचित नहीं है।

इस मान की प्राप्ति चार प्रकार से होती है। उनमें दो प्रकार निन्दनीय हैं और दो उपादेय हैं। दो निन्दनीय प्रकारों का विवरण इस प्रकार है—

१. अपने भजन-भाव का दिखलावा करके मान पाने की इच्छा रखना और अपने को बड़ा भजनानन्दी प्रकट करना। यह केवल दम्भ ही है, क्योंकि भगवान् का भजन तो निष्काम होना चाहिये। अतः भजन के सम्बन्ध से मान पाने की इच्छा रखना बहुत अनुचित है।
२. जिस विद्या का अपने को ज्ञान न हो, मान पाने के उद्देश्य से, उसका भी अपने को ज्ञाता प्रकट करना। यह भी बहुत अनुचित है। जैसे कोई विदेश में जाकर झूठे ही अपने को ब्राह्मण या किसी अन्य उच्च जाति का प्रकट करे अथवा न जाननेपर भी कहे कि मैं अमुक विद्या जानता हूँ। यह बात ऐसी ही है जैसे कोई पाप या छल से धन उत्पन्न करे।

इनसे अतिरिक्त मानप्राप्ति के जो उपादेय साधन बतलाये हैं वे इस प्रकार हैं—

१. यदि कोई मनुष्य अपनी ऐसी क्रिया को, जिसमें छल अथवा भजन का दिखलावा न हो, प्रकट कर दे तो

अनुचित नहीं। इसी प्रकार व्यवहार-कौशल से भी अपने मान की वृद्धि कर लेना कोई बुरी बात नहीं है।

२. यदि अपने पाप को छिपाकर मान-रक्षा करे और उसमें यह दृष्टि रखे कि यदि मेरा दोष प्रकट होगा तो लोग मेरी निन्दा करेंगे और इससे मैं ढीठ हो जाऊँगा, तो इसमें कोई बुराई नहीं। किन्तु इस विचार से कभी अपने पाप को न छिपावे कि लोग मुझे साधु समझते रहें।

(मानासक्ति की निवृत्ति का उपाय)

याद रखो, जब अधिक मानकी आसक्ति बढ़ती है तब यह भी हृदय में एक दीर्घ रोग उत्पन्न हो जाता है। अतः इस रोग की निवृत्ति का उपाय करना चाहिये। यदि आरम्भ में ही इसका उपाय नहीं किया जायगा तो कपट, दम्भ, झूठ, पाखण्ड, वैरभाव और ईर्ष्या आदि और भी अनेकों पाप उत्पन्न हो जायँगे। इसलिये धन और मानका इतना ही संग्रह करना चाहिये जिससे धर्ममार्ग का निर्वाह हो जाय और विशेष आसक्ति न बढ़े। जो पुरुष ऐसा बुद्धिमान् होता है उसे यह रोग नहीं बढ़ता। कारण कि, धन और मान में उसकी आसक्ति नहीं होती, उसका उद्देश्य तो यही होता है कि इनकी ओर से निश्चिन्त होकर मैं भजन में तत्पर रहूँ। किन्तु जिस मनुष्य में मान की ही लालसा बढ़ जाती है उसके चित्त की वृत्ति तो सर्वदा दूसरे लोगों की ओर ही लगी रहती है। वह यही सोचता रहता है कि ये लोग मुझे कैसा समझते हैं, मेरे विषय में क्या कहते हैं और इनका मुझमें कैसा विश्वास है ?

अतः ऐसे रोग की चिकित्सा करनी बहुत आवश्यक है। किन्तु यह चिकित्सा समझ और आचरण दोनों ही की अपेक्षा रखती है। समझ के द्वारा तो मान से होनेवाले विघ्नों का विचार

करे, क्योंकि मानी पुरुष इहलोक और परलोक दोनों ही में दुःखी रहता है। इस लोक में तो वह सर्वदा लौकिक मान और मनोहरताओं के चिन्तन से विक्षिप्त रहता है। जब उसे मान नहीं मिलता तो हृदय में बहुत लज्जित-सा हो जाता है और यदि मान मिलता है तो उसके अनेकों शत्रु और प्रतिद्वन्द्वी पैदा हो जाते हैं। फिर यह भी उन्हें नष्ट करने के लिये शत्रुता को ही पुष्ट करता है और हर समय अपने शत्रुओं के षड्यन्त्र से सशङ्क रहता है। इस प्रकार इसका संकल्प कभी शुद्ध नहीं होता। यदि किसी समय यह शत्रुओं की अपेक्षा प्रबल भी हो जाता है तो भी इसकी यह महत्ता स्थिर नहीं रहती; वह तो एक क्षण में ही दूर हो जाती है, क्योंकि मान-बड़ाई का सम्बन्ध तो लोगों के मन के साथ है और लोगों का मन समुद्र की लहर के समान पल-पल में परिवर्तित होता रहता है। तात्पर्य यह कि जिस महत्ता का मूल संसारी पुरुषों का मन है वह महत्ता वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं है, क्योंकि जब उनके चित्त में इसके विपरीत थोड़ा-सा भी संकल्प फुरता है तभी यह सारी महत्ता नष्ट हो जाती है।

यह तो हुई जनसाधारण के सम्बन्ध से प्राप्त होनेवाले मान की बात। यही मान जब किसी राजा के सम्बन्ध से होता है तब तो इसे और भी तुच्छ समझना चाहिये, क्योंकि राजा के मन में तो थोड़ा-सा भी विपरीत संकल्प फुरे तो वह तत्काल अपने प्रधान को भी पदच्युत कर देता है। इस प्रकार एक क्षण में ही उसका सारा मान मिट्टी में मिल जाता है। इससे निश्चय होता है कि मानी पुरुष सर्वदा इस लोक में दुःखी ही रहता है। किन्तु अल्पबुद्धि पुरुष इस बात को नहीं समझते। जिनके बुद्धिरूप नेत्र खुले हुए हैं वे तो स्वयं ही देख लेते हैं कि यदि इस लोक में किसी को उदयाचल से लेकर अस्ताचलपर्यन्त निष्कण्टक राज्य मिल जाय और सभी लोग उसे प्रणाम करने लगें, तो भी इस प्रकार की प्रस-

न्नता कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, क्योंकि मृत्यु होने के साथ ही ये सारी वस्तुएँ अपने से दूर हो जाती हैं। कुछ दिनों में ही न तो वह स्वयं ही रहता है और न उसकी प्रजा ही रहती है। जिस प्रकार पहले अनेकों चक्रवर्ती राजा आज स्वप्नवत् हो गये हैं, अब उनका कोई स्मरण भी नहीं करता, उसी प्रकार यह सारा वैभव भी स्वप्नरूप हो जायगा। अतः थोड़े-से दिनों की प्रसन्नता के लिये परलोक के अमर राज्य को खो बैठना बड़ी भारी मूर्खता ही है। कारण कि जिस पुरुष का हृदय स्थूल महत्ता में बँध जाता है उसके चित्त से प्रभु का प्रेम निकल जाता है। और जो पुरुष भगवान् के सिवा किसी अन्य की प्रीति से बँधा हुआ परलोक में पहुँचता है वह अवश्य ही दीर्घकालीन दुःख का अधिकारी होता है। इस प्रकार यह समझ के द्वारा मानकी वासना को निवृत्त करने के उपाय का वर्णन हुआ।

आचरण के द्वारा दो प्रकार से मान की निवृत्ति का उपाय किया जाता है—

१. जिस देश में इसकी मानप्रतिष्ठा हो उसे त्यागकर अन्यत्र चला जाय और ऐसी जगह रहे जहाँ इसे कोई जानता ही न हो। यह एक उत्तम उपाय है। यदि यह अपने ही नगर में किसी एकान्त स्थान पर रहेगा तो लोग इसे त्यागी समझकर और भी अधिक मान करेंगे। इससे इसकी मान के रस में आसक्ति हो जायगी और फिर यदि कोई निन्दा करेगा तो उससे इसे बहुत दुःख होगा। फिर तो अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये यह मिथ्या भाषण से भी नहीं डरेगा।
२. ऐसा आचरण करे कि जिससे अपने प्रति लोगों का श्रद्धा-विश्वास निवृत हो जाय। किन्तु इस उद्देश से भी पापकर्म न करे, क्योंकि ऐसे भी अनेकों मूर्ख होते हैं जो पापकर्म

करते रहते हैं और कहते हैं कि हम ऐसा आचरण प्रतिष्ठा से बचने के लिये करते हैं। किन्तु यह बात सर्वथा अनुचित है। अतः जिज्ञासु को इस प्रकार बर्तना चाहिये जिससे पापकर्म से भी बचा रहे और अपने प्रति लोगों के श्रद्धा विश्वास में भी शिथिलता आ जाय। जैसे एक बार कोई राजा किसी सन्त के दर्शनार्थ गया तो सन्त उसे आता देखकर हाथ में रोटी और मूली लेकर बड़े-बड़े ग्रास खाने लगे। इससे राजा ने समझा कि ये तो बहुत तृष्णाग्रस्त जान पड़ते हैं, और फिर अपने घर लौट गया। इसी प्रकार एक और सन्त की भी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी थी। तब उन्होंने ऐसा किया कि जब स्नानगृह में जायँ तब किसी दूसरे आदमी का वस्त्र पहन कर बाहर दरवाजे पर खड़े हो जायँ। इससे लोगों ने समझा कि ये तो चोर हैं और उन्हें बहुत तंग किया। इसी तरह एक और अन्य सन्त का मान भी बहुत बढ़ा। तब उन्होंने एक शीशे के गिलास में शरबत डाल कर अपने पास रख लिया और थोड़ा-थोड़ा पीते रहे इससे लोगों ने समझा कि ये तो मदिरा पान करते हैं। अतः जिज्ञासुओं ने मान के पंजे से निकलने के लिये ऐसे ही अनेकों उपाय किये हैं।

(अपनी प्रशंसा सुनने की आसक्ति से छूटने के उपाय)

बहुत लोगों को संसार में अपनी प्रशंसा सुनने की बड़ी लालसा रहती है, वे सर्वदा अपनी बड़ाई सुनना चाहते हैं। यदि प्रशंसा मिलने की सम्भावना हो तो वे शास्त्र की मर्यादा से विपरीत कर्म भी कर डालते हैं और यदि लोकनिन्दा की सम्भावना हो तो शुभ कर्म भी नहीं करते। यह भी एक प्रकार का दीर्घ रोग है और जब तक इसके कारणों की पहिचान न हो तबतक इसका

उपचार करना भी कठिन ही है। अतः हम इसके कारणों का विचार करते हैं। इस स्तुति सुनने की अभिलाषा के चार कारण हैं—

१. मनुष्य स्वभाव से ही अपनी महत्ता चाहता है और दीनता से ग्लानि करता है। अतः जब कोई इसकी स्तुति करता है तो इसमें अपनी महत्ता समझकर यह प्रसन्न होता है, क्योंकि महिमा सुनने से इसे अपने ऐश्वर्य का निश्चय होता है और ऐश्वर्य इसे अत्यन्त प्रिय है ही। इसके विपरीत जब अपनी निन्दा सुनता है तब प्रत्यक्ष ही अपनी हीनता देखता है और उससे दुःखी होता है। इसी से जब यह किसी बुद्धिमान् पुरुष के मुँह से अपनी निन्दा सुनता है तो इसे अधिक खेद और अप्रसन्नता होती है, क्योंकि इसके यथार्थ वचनों में इसका अधिक विश्वास होता है। किन्तु जब वही बात किसी मूर्ख के मुख से सुनता है तो उसकी बात का विशेष मूल्य न समझने के कारण इसे उतना खेद और अप्रसन्नता भी नहीं होती।

२. जो कोई इसकी प्रशंसा करता है उसे यह अपने सेवक के समान समझता है और जानता है कि इसके हृदय में मेरे गुणों का आदर है। अतः अपने को उसका स्वामी समझता है। इसीसे जब किसी उत्तम पुरुषसे अपनी प्रशंसा सुनता है तब अधिक प्रसन्न होता है और जब किसी नीच पुरुष से सुनता है तो उतना आनन्दित नहीं होता।

३. जब यह किसी को अपनी प्रशंसा करते सुनता है तो ऐसा भी समझने लगता है कि मेरी महिमा सुनकर और लोग भी मुझ पर विश्वास करेंगे और मेरे अधीन हो जायँगे। इसीसे जब सभा के बीच में अपनी प्रशंसा सुनता है तो अधिक प्रसन्न होता है और जब एकान्त में सुनता है तो

उतना हर्षित नहीं होता।

४. स्तुतिकरने वालों को यह अपने बल के अधीन समझता है और उसे अपना सेवक न भी समझे तो भी इतना तो मानता ही है कि यह किसी प्रकार के भय या प्रयोजन से ही मेरी स्तुति कर रहा है। यह बात भी इसे अत्यन्त प्रिय है। इसके कारण यह अपने को बड़ा जानकर प्रसन्न होता है। यही कारण है कि जब इसे प्रशंसा करनेवाले की बात सच नहीं जान पड़ती, उसका कथन विश्वसनीय नहीं जँचता अथवा वह श्रद्धापूर्वक या किसी प्रकार के भय और प्रयोजन से भी इसकी स्तुति नहीं करता केवल उपहास के लिये ही इसकी बड़ाई करता है, तो उसमें प्रसन्नता का कोई कारण न होने से इसे कोई आनन्द भी नहीं होता।

इस प्रकार जब तुम इस रोग के कारण जान लोगे तो इसकी निवृति का उपाय भी तुम्हारे लिये सुगम हो जायगा। और फिर जब तुम पुरुषार्थ करोगे तो इस रोग को निर्मूल कर डालोगे। अतः उपर्युक्त कारणों में से जो पहला कारण बतलाया गया है कि स्तुति करनेवाले के वचनों से यह अपनी महत्ता का निश्चय करके प्रसन्न होता है, सो इसकी निवृति का उपाय तो यह है कि चित्त में ऐसा विचार करे कि यद्यपि यह पुरुष समझ, वैराग्य अथवा किसी अन्य शुभ गुण के कारण ही मेरी स्तुति करता है और इसकी बात भी ठीक है, तो भी मुझे तो भगवान् के उपकार पर ही प्रसन्न होना चाहिये, क्योंकि ये शुभ गुण मुझे भगवान् ही से तो मिले हैं, और किसी के स्तुति या निन्दा करने से ये घट-बढ़ भी नहीं सकते।

इसके सिवा यदि कोई पुरुष ऐसा कहकर इसकी स्तुति करे कि आप बड़े धनवान् हैं, राजा-महाराजा हैं, अथवा किसी और

स्थूल पदार्थ का वर्णन करे, तो ऐसी बात पर तो प्रसन्न होना अनुचित ही है, क्योंकि ये सब सामग्री तो नाशवान् हैं। और यदि प्रसन्न भी हो तो जिस प्रभु का ये सामग्रियाँ प्रसाद हैं उनके उपकार का निश्चय करके ही हर्षित हो। किन्तु यदि विचार किया जाय तो अपने गुणों पर प्रसन्न होना भी उचित नहीं है, क्योंकि इस बात का पता किसी पुरुष को नहीं है कि अन्तकाल तक उसका निर्वाह किस प्रकार होगा। और जब तक जिज्ञासु को यह पता न लगे कि परलोक में उसकी कैसी गति होगी, तब तक उसका प्रसन्न होना कभी उचित नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त यदि कोई पुरुष इसे गुणवान् कहे और इसे ऐसा जान पड़े कि मुझ में ऐसा कोई गुण नहीं है, तो ऐसी स्तुति से प्रसन्न होना तो बड़ी भारी मूर्खता ही है। जैसे यदि कोई कहे कि अमुक पुरुष का शरीर और उसके सारे अंग दिव्य गन्ध से भरपूर हैं और उसके मलमूत्र में भी दुर्गन्ध नहीं है, किन्तु वह पुरुष प्रत्यक्ष जनता हो कि मेरे सब अंगों में तो मल-मूत्र और कफ आदि मलिन वस्तुएँ ही हैं और फिर भी उसकी स्तुति सुनकर वह प्रसन्न हो तो उसे महामूर्ख ही कहा जायगा।

इसे मान-बड़ाई के कारण जो अपनी स्तुति अच्छी लगती है उसका उपाय तो मैं पहले ही बता चुका हूँ। और यदि कोई तुम्हारी निन्दा करे तो उसके ऊपर कुपित या अप्रसन्न होना तो बड़ी भारी मूर्खता ही है, क्योंकि यदि वह सच कहता है तो देवता है और झूठ कहता है तो तो असुर है तथा यदि उसे अपने झूठ का भी ज्ञान न हो तो पशु या गधा ही है। तात्पर्य यह है कि सत्य कहनेवाले को तो अपना गुरु समझे, इसलिये उसकी बात सुनकर ग्लानि न करे, प्रत्युत अपने अवगुण के लिये ही खेद करे, और जो मनुष्य पशु या गधा हो उसकी बात पर तो विश्वास करना ही अनुचित है। तथा जब कोई तुम्हारी किसी

स्थूल परिस्थिति की निन्दा करे कि यह अङ्गहीन अथवा निन्दक है, तो उससे भी अप्रसन्न होना उचित नहीं, क्योंकि सन्तों की दृष्टि में तो यह बड़ाई ही है। इसके सिवा ऐसा सोचना भी बहुत अच्छा है कि जिस पुरुष ने तुम्हारा कोई अवगुण साफ-साफ तुम से कहा है, उसका वह कथन निम्नलिखित तीन प्रकारों से बाहर नहीं जा सकता।

१. यदि उसने यथार्थ और दयापूर्वक कहा है तब तो उसका उपकार मानो, क्योंकि जब कोई तुमसे कहे कि तुम्हारे वस्त्र में सर्प है, तो उस सर्प लखानेवाले का निःसन्देह यह उपकार ही है। इन अवगुणों से होनेवाला दुःख तो सर्पदंश से भी अधिक तीक्ष्ण है, क्योंकि अवगुणों के द्वारा बुद्धि का नाश होता है। अतः दोष लखानेवाले को तो अपना मित्र ही समझना चाहिये। जैसे तुम किसी राजा के पास जाने का विचार करो और कोई पुरुष तुम्हें लखा दे कि तुम्हारे वस्त्र तो मलिनता से भरे हुए हैं, पहले इन्हें धोकर स्वच्छ कर लो, उस समय यदि तुम उसकी बात ठीक मानकर वस्त्र धो लेते हो तो तुम्हें उसका उपकार ही मानना चाहिये, क्योंकि तुम उन दुर्गन्धपूर्ण वस्त्रों को पहने हुए राजा के पास जाते तो निश्चय ही तुम्हें उसकी सभा में लज्जित होना पड़ता।
२. यदि निन्दा करनेवाले ने ईर्ष्यावश तुम्हारा अवगुण कहा है तो भी उसने अपने ही धर्म की हानि की है, तुम्हारी तो कोई हानि की नहीं है। यदि उसकी बात सुनकर तुम सहन कर लोगे तो इससे तुम्हें धैर्य का गौरव ही प्राप्त होगा।
३. यदि उसने झूठ ही कहा है, वास्तव में वह अवगुण तुममें है ही नहीं, तो भी और तो अनेकों दोष तुम्हारे में हैं ही।

अतः तुम्हें तो भगवान् का उपकार ही मानना चाहिये कि उन्होंने तुम्हारे वे दोष प्रकट नहीं किये। इसके सिवा तुम्हें निन्दक के शुभ कार्यों का पुण्य भी प्राप्त होगा।

इस प्रकार यदि विचार करके देखोगे तो मालूम होगा कि जो पुरुष तुम्हारी स्तुति करता है वह तो तुम्हारे दुःखका ही कारण है, क्योंकि उस स्तुति को सुनकर तो तुम्हारा अभिमान ही बढ़ता है। अतः तुम तो मूर्खतावश अपने दुःख की बात से ही प्रसन्न होते हो और अपनी भलाई की बात सुनकर खेद मानते हो। जिस पुरुष की ऐसी अवस्था हो, जान लो कि वह तो स्थूलता को ही देखता है गुणोंके भेदका उसे पता नहीं है। और जो पुरुष बुद्धिमान् होता है वह स्थूलता की ओर नहीं देखता, वह तो उसके आन्तरिक रहस्य को ग्रहण करता है। तात्पर्य यह कि जब तक इस पुरुप को सम्पूर्ण संसार की ओर से पूर्णतया निराशा नहीं होती तबतक उसका यह स्तुति और मान का रोग नष्ट नहीं होता।

(स्तुति-निन्दा में विभिन्न पुरुषों की पृथक्-पृथक् अवस्थाओं का वर्णन)

स्तुति या निन्दा सुननेपर जीवों की चार प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

१. कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्नता होती है और जो स्तुति करनेवाले का उपकार मानते हैं। तथा जो निन्दा सुन कर कुपित होते हैं और निन्दक का अनिष्ट करना चाहते हैं। यह अवस्था अत्यन्त नीच है।

२. दूसरी अवस्था सात्त्विकी पुरुषों की है। यह स्थिति प्राप्त होनेपर मनुष्य यद्यपि हृदय में स्तुति-निन्दा को समान न जानता हो तो भी बाह्य व्यवहार में वह निन्दा और

स्तुति करनेवाले दोनों ही पुरुषों के साथ समान बर्ता करेगा।

३. तीसरी अवस्था विचारवान् पुरुषों की होती है। वे लोग निन्दा और स्तुति करनेवाले दोनों ही पुरुषों के मन, वचन और कर्म से समान समझते हैं। इसलिये वे निन्दा सुन कर प्रसन्न नहीं होते और न ईर्ष्या या क्रोध ही करते हैं। इसी प्रकार स्तुति को भी वे कोई महत्त्व नहीं देते उनका हृदय तो स्तुति-निन्दा से विरक्त ही रहता है। यह बहुत उत्तम अवस्था है, किन्तु कुछ मन्दमति जीव ऐसा समझने लगते हैं कि हमें यह पद प्राप्त हो गया है। तथापि जबतक अपने हृदय की परीक्षा न कर ली जाय तबतक यह सारा कथन झूठा ही है। इसकी परीक्षा यही है कि निन्दक समीप बैठा रहे, तब भी उसके प्रति ग्लानि न हो। तथा जब वह किसी प्रकार की सहायता चाहे तो स्तुति करने-वाले के समान ही उसकी सहायता की जाय और उसीकी तरह उसे प्रिय समझे। इसके सिवा जिस तरह स्तुति करनेवाले का चित्त में स्मरण होता है उसी प्रकार अधिक समय बीत जानेपर निन्दक की भी प्रीतिपूर्वक हृदय में याद आवे; तथा यदि कोई पुरुष उसे कष्ट पहुँचावे तो जैसे स्तुति करने वाले के दुःख से दुःखी होता है वैसे ही उसके दुःख से भी दुःखी हो। पर यह स्थिति है अत्यन्त कठिन कि जिस प्रकार स्तुति करनेवाले के अवगुण का चित्त में कोई विचार नहीं होता उसी प्रकार निन्दक के दोष को देखकर भी चित्त में क्रोध न हो। तथापि अभि-मानी लोग तो यही कह देते हैं कि हम धर्मरक्षा के निमित्त ही क्रोध करते हैं और इस प्रकार उस निन्दक के दोष को ही दूर करना चाहते हैं। सो, यह भी मन का

छल ही है, क्योंकि और भी अनेकों लोग अपकर्म तो करते ही हैं और वे भी दूसरों की निन्दा करते हैं, अतः जबतक उनको देखकर भी वैसी ही ग्लानि न हो तब तक तो यही समझना चाहिये कि निन्दक के प्रति क्रोध, धर्मरक्षा के लिये नहीं अपितु अपनी वासना के अनुसार ही होता है। परन्तु इन तपस्वियों को भला ऐसे सूक्ष्म छल की पहिचान कब होती है ? अतः विचार के विना साम्य स्थिति पाने के उनके सभी यत्न व्यर्थ होते हैं।

४. चौथी अवस्था उत्तम पुरुषों की है। वे स्तुति करनेवाले को अपना शत्रु समझते हैं और निन्दक में अत्यन्त प्रेम करते हैं, क्योंकि निन्दक के वचनों से अपने दोषों का पता लगता है, और फिर वे उन दोषों की निवृत्ति करने के प्रयत्न में लग सकते हैं। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जो पुरुष दिन में उपवास और रात्रि में जागरण करता है तथा तरह-तरह के वेष धारण करता है, किन्तु जबतक वह माया से विरक्त नहीं होता, अपनी महिमा को बुरी नहीं समझता और अपने निन्दक से प्रेम नहीं करता, तब तक उसकी सभी क्रियाएँ व्यर्थ होती हैं। किन्तु इस वाक्य के अर्थ पर विचार किया जाय तो इस पद का प्राप्त होना है अत्यन्त कठिन। जीवों को तो दूसरी अवस्था भी कि हृदय में स्तुति और निन्दा करनेवालों को समान न माननेपर भी बाह्य व्यवहार में तो दोनों के साथ किसी प्रकार का भेद न रखे, कठिन ही होती है। मनुष्य तो सवदा अपनी स्तुति करनेवालों से प्रेम करते हैं और उन्हींके कार्यों में सहायता करते हैं तथा निन्दक को कष्ट पहुँचाना चाहते हैं। अतः वे तो बाह्य क्रिया में भी पाप करते हैं, हृदय की समता तो अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है।

इस प्रकार यह चौथी अवस्था जो निन्दक को मित्र और प्रशंसक को शत्रु समझने की कही गयी है, इसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसे तो वही प्राप्त कर सकता है जो अपने मन का विरोधी हो और सर्वदा अपनी वासनाओं के साथ युद्ध करता रहे। अतः वह जब किसी के मुख से अपना अवगुण सुने तो प्रसन्न हो और निन्दक की बुद्धि को इस प्रकार उज्ज्वल देखे कि उसने किस प्रकार मेरे दोष को ढूँढ़ लिया तथा इसी प्रकार प्रसन्न हो जैसे अपने शत्रु के अवगुण को सुनकर होता है। ऐसा जिज्ञासु भी कोई विरला ही होता है। इसी से कहा है कि यदि कोई पुरुष सारी आयुपर्यन्त यत्न और पुरुषार्थ करे तो भी उसके लिये स्तुति और निन्दा को समान समझना कठिन ही है।

याद रखो, जब यह पुरुष अपनी महिमा से प्रेम करने लगता है और निन्दा से ग्लानि करता है तब इस की यह वासना इतनी प्रबल हो जाती है कि अपनी प्रशंसा कराने के लिये भजन में भी दम्भ करने लगता है। और जब इसे मालूम होता है कि अमुक पाप करने से मेरी प्रशंसा होगी तो पाप का भी कोई भय नहीं मानता। तात्पर्य यह कि जबतक मान और स्तुति की वासना का बीज मूल से ही नष्ट न हो तबतक तो पापकर्मों में तुरन्त आसक्त होने की सम्भावना रहती है। किन्तु जब बाह्य क्रिया में मित्र और शत्रु के साथ समान बर्ताव करे तथा मन वचन और कर्मद्वारा निन्दक को कष्ट न पहुँचावे, उसका भला ही चाहे। ऐसा करते हुए यदि हृदय में शत्रु और मित्र की समता न भी कर सके तो भी पापी नहीं होता, क्योंकि यह तो जीवका स्वभाव ही है और अपने स्वभाव से भिन्न होना अत्यन्त कठिन है।

अतः सन्तजनों ने कहा है कि यदि स्थूल पापों से छूट जाय तो यह भी बड़ी बात है, क्योंकि सभी लोग प्रशंसा की प्रीति और निन्दा की ग्लानि के कारण बहुत से अपकर्म भी करते रहते हैं।

उनके चित्त की वृत्ति सर्वदा इसी लालसा में लगी रहती है कि किसी प्रकार लोग हमारी प्रशंसा करें और इस मन की वासना से वे अपकर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। इससे यही निश्चय हुआ कि सभी मनुष्यों को दूसरों का सम्मान और आदर करना चाहिये। किन्तु मानप्राप्ति के लिये दम्भ या कपट करना अत्यन्त निन्दनीय और दुखोंका बीज है।

—o—

आठवीं किरण

दम्भ का स्वरूप, उसका दोष और उसकी निवृत्ति के उपाय

याद रखो, भगवान् के भजन में दम्भ करना महापाप है और प्रभु से विमुख होना है। अतः इसके समान और कोई रोग नहीं है, क्योंकि वेषधारियों का संकल्प सर्वदा यही रहता है कि किसी प्रकार लोग हमारा भजन देखें और हमें बड़ा भजनानन्दी समझें। जिस भजन में ऐसी वासना रहे उसे भगवान् का भजन नहीं कह सकते। यह तो केवल लोकपूजा ही है। भजन में जब कोई कामना रहती है तो उसमें दम्भ घुस बैठता है। और भजन में दम्भ का आ जाना तो एक प्रकार की मनमुखता ही है। इसी से प्रभु ने कहा हैं कि जिस पुरुष को मेरे दर्शन की लालसा है उसे चाहिये कि मेरे भजन में लोगों की पूजा को स्थान न दे, अर्थात् सर्वदा दम्भ से दूर रहे। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि जो लोग असावधानी और दम्भपूर्वक मेरा भजन करते हैं वे परलोक में पश्चात्ताप करेंगे। एकबार महापुरुष से किसी ने पूछा था कि इस जीव की मुक्ति कैसे हो सकती है? तब उन्होंने कहा कि यदि यह पुरुष दम्भ छोड़कर भगवान् की आज्ञाओं का पालन करने में तत्पर रहे तो इसकी तत्काल मुक्ति हो जाय।

ऐसा भी कहा है कि परलोक में जब किसी पुरुष से पूछा जायगा कि तूने किस प्रकार भजन किया और वह कहेगा कि मैंने धर्म

के लिये सिर दिया था तो उसी समय आकाशवाणी होगी कि यह झूठ बोलता है, इसने तो अपने को शूरवीर जताने के लिये सिर दिया था, तब वह पुरुष नरक में ही पड़ेगा। फिर जब किसी दूसरे पुरुष से पूछेंगे कि तूने प्रभु की आज्ञा किस प्रकार मानी थी? और वह कहेगा कि मैंने प्रभु के निमित्त धन दान किया है, तब आकाशवाणी होगी कि यह भी झूठ बोलता है, इसने तो अपनी उदारता प्रकट करने के लिये दान दिया था, अतः वह भी नरकगामी होगा। इसी प्रकार जब तीसरे पुरुष से पूछेंगे कि तूने किस प्रकार भजन किया था, और वह कहेगा कि मैंने बड़े मनोयोग से प्रभु के वचनों को पढ़ा था, तो उस समय भी आकाशवाणी होगी कि यह भी झूठ कहता है,इसने तो अपनेको विद्वान् ने प्रदर्शित करने के लिये पाठ किया था। अतः वह भी नरक में डाल दिया जायगा। फिर जब चौथे पुरुष से पूछेंगे कि मैंने तुझे पृथ्वी का राज्य दिया था, सो तूने किस प्रकार प्रजा का पालन किया? और वह कहेगा कि मैंने शास्त्रमर्यादा के अनुसार न्याय किया था, तो उसी समय आकाशवाणी होगी कि यह भी झूठ बोलता है, इसने तो अपने को धर्मात्मा प्रकट करने के लिये न्याय किया था, अतः वह भी नरक में ही पड़ेगा। महापुरुष ने तो यह भी कहा है कि भगवत्प्रेमी को और कोई विघ्न इतना दूषित नहीं करता जितना कि यह दम्भ करता है। परलोक में मनुष्यों के लिये यह आकाशवाणी होगी कि अरे पाखण्डियो! तुमने जिन्हें दिखाने के लिये पाखण्ड किया था उन्हीं से अब अपने भजन का फल भी माँगो। उसके सिवा महापुरुष यह भी कहते हैं कि अरे भगवत्प्रेमियो! अपने को दम्भरूपी नरक से बचाओ और प्रभु से प्रार्थना करो कि भगवन्! इस दम्भरूपी क्लेश से आप हमारी रक्षा करें।

इस विषय में प्रभु ने कहा है कि जिन पुरुषों ने मेरे भजन में लोगों से प्राप्त होनेवाली मान-प्रतिष्ठा को मिलाया है, अर्थात्

दम्भ किया है वे मुझसे बहुत दूर हैं। मैं उनका भजन उसकी प्रतिष्ठा करनेवाले लोगों को ही समर्पित कर देता हूँ, क्योंकि मुझे किसी के साथ मिलने की अपेक्षा नहीं है। महापुरुष भी कहते हैं कि भगवान् को ऐसा कोई आचरण प्रिय नहीं है, जिसमें रञ्चकमात्र भी दम्भ रहता है। कहते हैं, एक बार उमर नामक संत ने किसी पुरुष को सिर नीचा किये बैठा देखा था। तब वे कहने लगे कि भगवन् ! आप इसकी ग्रीवा सीधी कर दीजिये,क्यों कि एकाग्रता तो हृदय में होती है, सिर टेढ़ा करने से तो एकाग्रता नहीं होती। इसी प्रकार एक सन्त ने किसी पुरुष को सभा के बीच रोते देखा। तब उन्होंने कहा कि यदि तुम अपने घर के भीतर रोते तो तुम्हें अधिक लाभ हो सकता था। इस विषय में सन्त अली का कथन है कि दम्भी मनुष्य के दो लक्षण प्रसिद्ध हैं-(१) जब वह अकेला होता है तो आलस्य करता है और जब लोगों को देखता है तब प्रसन्न चित्त से भजन करने लगता है। (२)जब अपनी प्रशंसा सुनता है तब सब कामों में विशेष सावधान हो जाता है और जब निन्दा सुनता है तब थका-सा रह जाता है।

एक बार किसी जिज्ञासु ने एक सन्त से पूछा कि जो पुरुष दान देने में कुछ तो निष्काम भाव से और कुछ संसार में प्रशंसा पाने के लिये दे तब उसकी क्या स्थिति होती है ? तब उन्होंने कहा कि वह पुरुष भगवान् से विमुख ही रहता है, क्योंकि प्रभुकी प्रसन्नता के लिये तो सब काम निष्काम भाव से ही होने चाहिये। एक समय सन्त उमर से किसी पुरुष की कुछ अवज्ञा हो गयी। तब उन्होंने उससे कहा कि तुम मुझे इस अवज्ञा के लिये दण्ड दो। वह बोला कि मैंने भगवान् के और तुम्हारे निमित्त तुम्हें क्षमा किया। इस पर उमर ने कहा कि तुम या तो भगवान् के निमित्त ही मुझे क्षमा करो या मेरी प्रसन्नता के लिये ही, दोनों की प्रसन्नता का सम्बन्ध लेकर क्षमा करना तो काम नहीं आता

तब उसने कहा कि मैंने भगवान् के निमित्त ही तुम्हें क्षमा किया। सन्त फुजैल ने कहा है कि पूर्व काल में जिज्ञासुजन दम्भ किये बिना ही शुभ कर्म किया करते थे और अब शुभकर्म किये बिना ही दम्भ करते हैं। एक अन्य सन्त का कथन है कि जब यह पुरुष दम्भ करता है तब भगवान् कहते हैं कि देखो यह मेरा जीव मेरे ही साथ किस प्रकार हँसी करता है।

इसी पर महापुरुष ने कहा है कि सात पुरियों के सात देवता रक्षक भी भगवान् ही ने बनाये हैं। सो जब इस पुरुष के शुभकर्मों का लेखा प्रथम पुरी में पहुँचता है तब उस पुरी का अधिष्ठाता देवता कहता है कि इसकी सभी क्रियाएँ निष्फल हैं, क्योंकि यह पुरुष लोगों की निन्दा करता था, अतः इस निन्दक के शुभ कर्मों को मैं स्वीकार नहीं करता। जो पुरुष निन्दक नहीं होता उसके कर्मों का लेखा दूसरी पुरी तक पहुँचता है। तब वहाँ का अधिष्ठाता कहता है कि इसके कर्म इसी के मुँह पर डालदो, क्योंकि इसने शुभकर्म करके स्वयं ही अपनी प्रशंसा की है, अतः मैं इसके शुभकर्मों को स्वीकार नहीं करता। किसी पुरुष के कर्मों का लेखा तीसरी पुरी तक पहुँचता है। उसमें दान, जप, तप, व्रत आदि अनेकों शुभ कर्मों का उल्लेख रहता है। किन्तु वहाँ का अधिष्ठाता यह कहकर उन्हें अस्वीकार कर देता है कि इसके सब सद्गुण अभिमान के कारण निष्फल हो गये हैं। किसी व्यक्ति के कर्मोंका लेखा चौथी पुरी तक पहुँच जाता है तो वहाँ का देवता कहता है कि इसने विद्या और शुभकर्मों में लोगों से ईर्ष्या की थी इसलिये मैं इसके कर्मों को स्वीकार नहीं करता। किसी का लेखा जब पाँचवी पुरी तक पहुँचता है तो वहाँ का देवता कहता है कि इसने दुखिया और अनाथों पर दया नहीं की और मुझे भगवान् की यह आज्ञा है कि सुकर्मी होनेपर भी यदि कोई पुरुष दयाहीन हो तो तुम उसके शुभ कर्मों का स्वीकार मत करना। इसी प्रकार

किसी के कर्मों का लेखा छठी पुरी तक पहुँचता है तो वहाँ का अधिष्ठाता कहता है कि इसने तो लोगों से स्तुति पाने के निमित्त भजन-स्मरण किया था, अथवा इसे परलोक की कामना रहती थी, इसलिये मैं इसके शुभ कर्मों को नहीं मानता। निदान किसी किसी कर्मों का लेखा सातवीं पुरी में भी पहुँच जाता है। उसके कर्मों का तेज सूर्य के समान देदीप्यमान होता है। तब उसे देखकर वहाँ का देवता कहता है कि इसके हृदय में सूक्ष्म अहंकार है और यह अपने को कर्मों का कर्ता मानता है, अतः मैं इसके कर्मों को स्वीकार नहीं करता। तात्पर्य यह है कि जिसके कर्म निष्काम और सब प्रकार के दोषों से रहित होते हैं उसी के कर्मों का लेखा सातों पुरियों को पार करके भगवान् के दरबार में पहुँचता है और प्रभु उसे स्वीकार करते हैं, और सबके कर्म तो निष्फल ही होते हैं।

(दम्भ का स्वरूप)

अपने को विरक्त और भजननिष्ठ दिखाना, वेष-भूषा के द्वारा संसार में मेल-जोल बढ़ाना, अपनी विशेषता प्रकट करना और अपने प्रति लोगों का विश्वास बढ़ाना—यह सब दम्भ का ही स्वरूप है। यह दम्भ पाँच प्रकार का होता है, जैसे—

१. शरीर को रंग कर अपनी तेजस्विता प्रकट करनी, शरीर को दुर्बल कर देना, भ्रुकुटि चढ़ाकर अपने को भयानक प्रकट करना, अपनी गम्भीरता सूचित करने के लिये उच्च स्वर से न बोलना तथा मैं बड़ा तपस्वी हूँ यह दिखाने के लिये ओठों को सूखा रखना। ये सब क्रियाएँ यदि लोगों को छलने के लिये की जायँ तो उसे दम्भी ही समझना चाहिते।

२. रङ्गीन, अल्प, मलिन अथवा पुराने वस्त्र पहिनना, अपने को बड़ा तपस्वी दिखाना तथा मृगचर्म आदि धारण करना भी प्रायः दम्भ के निमित्त ही होता है। इन लोगों की वृत्ति

ऐसी होती है कि यदि संयोगवश इन्हें कोई विशेष प्रकार का वस्त्र पहनने को कहे तो ये लज्जा वश उसे पहन नहीं सकते। कोई-कोई तो ऐसे कपटी होते हैं कि महीन वस्त्रों को फाड़ कर उनकी गुदड़ी सिला लेते हैं, जिससे कि धनी और राजालोग भी सम्मानित समझ कर इनका आदर करें। इनके पास मोटा वस्त्र फाड़ा हुआ हो तो भी उसे पहन नहीं सकते, क्योंकि इससे इन्हें लोकनिन्दा की आशंका रहती है। ये लोग इतना नहीं समझते कि ऐसा करके हम लोगों की ही पूजा करते है, भगवान् से तो दूर ही रहते हैं!

३. निरन्तर ओठों को हिलाते रहकर अपने को बड़ा भजन-निष्ठ दिखाना, मौन होकर एकाग्रता प्रदर्शित करना, तरह-तरह से शास्त्रों की व्याख्या करना, अपने को बहुत बुद्धिमान् प्रदर्शित करना, ठंडी सांस छोड़ कर अपने को प्रेमी प्रकट करना, अपने को बड़ा सत्संगी सूचित करने के लिये अनेकों बीते हुए सन्तों की चर्चा करना—ये सब पाखण्ड की ही बातें हैं। यह वाणी का दम्भ है।

४. लोगों को देखते ही बहुत सिर झुकाना, सिर नीचा करके बैठना और किसी की ओर दृष्टि न उठाना, अथवा लोगों को दिखाकर दान देना और मार्ग में बड़ी गम्भीर मुद्रा से चलना। यह भजन में होने वाला दम्भ है।

५. अपने शिष्य और सखा आदि अधिक दिखलाना, अपने ऐश्वर्य को भरी सभा में स्वयं ही प्रकट करना तथा यह कहना कि अमुक राजा हमारा सेवक है, अमुक सेठ हमारा पुजारी है। इसी प्रकार जब किसीसे विरोध हो तो उससे यह कहना कि तेरा गुरु कौन है और किससे तेरा मेल-जोल है, मैंने तो इतने वर्षों तक बड़े-बड़े महा-पुरुषों का संग किया है। यह पाँचवें प्रकार का दम्भ है।

तात्पर्य यह है कि दम्भी पुरुष अपने मान के लिये तरह-तरह के कष्ट उठाता है। कभी वह एक ही ग्रास का आहार करता है और कभी निराहार भी रह जाता है। किन्तु ये सारी करतूतें महापापरूप हैं, क्योंकि जप, तप, व्रत और भजन तो भगवान् के लिये ही होने चाहिये। जब इन कर्मों में मान और बड़ाई की कामना रहती है तब तो इन्हें केवल पाखण्ड ही समझना चाहिये। उचित तो यह है कि यदि अपना मान बढ़ाने की इच्छा हो तो व्यवहारकौशलद्वारा अपनी विशेषता प्रकट करे। उसे पाप नहीं कह सकते; जैसे ज्यौतिष, व्याकरण, वैद्यक आदि विद्याओं में अपनी प्रवीणता प्रकट करना। किन्तु मान पाने के लिये अपने को विरक्त या भजनानन्दी दिखाना सर्वथा अनुचित है। हाँ, यदि स्नान और उज्ज्वल वस्त्र के द्वारा शरीर को परिष्कृत करने का ही उद्देश हो तो इसे भी दम्भ नहीं कह सकते, क्योंकि यह विचार भी अच्छा ही है कि हमारे शरीर की मलिनता के कारण भगवद्-भक्तों की गोष्ठी में किसी को ग्लानि न हो। ऐसा आचरण तो स्वयं महापुरुष का भी रहा है।

यहाँ भजन में दिखलावा करना जो अनुचित बताया है उसके दो कारण हैं।

१. यदि किसी पुरुष का विचार तो सकाम हो किन्तु वह अपने को निष्काम प्रदर्शित करे तो यह कपट ही है, क्योंकि जब लोगों को इसकी सकामता प्रकट होगी तो वे इसका विश्वास नहीं करेंगे।

२. भजन, स्मरण और सारे शुभ कर्म केवल भगवान् के निमित्त ही करने चाहिये यदि ऐसी क्रियाएँ संसार को दिखाने के लिये की जायँ तो यह भी भगवान् के साथ उपहास करना ही होगा। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई पुरुष किसी मण्डली के अध्यक्ष के समीप रहे और अपने को उसीके

सेवक रूप से प्रदर्शित भी करे, किन्तु हृदय में उद्देश्य यही हो कि इस अध्यक्ष के सुन्दर दास को देखता रहूँ। इस प्रकार जब इसकी दृष्टि और वृत्ति उस रूपवान् दास में अटकी हुई हैं तो अपने को अध्यक्ष का सेवक कहना तो उसका उपहास करना ही होगा। इसी प्रकार जो भजन स्मरण केवल भगवान् के लिये होना चाहिये उसे यदि पराधीन जीवों को दिखाने लगे तो यह केवल कपट ही है। इससे तो यही प्रकट होता है कि वह पुरुष भगवान् को दण्डवत्-प्रणाम नहीं करता, बल्कि जगत् की ही वन्दना करता है, क्योंकि उसके संकल्प की दृढता तो संसार को दिखाने में ही है। अतः जो मनुष्य शरीर से तो भगवान् की वन्दना करता है, किन्तु उसका मन संसार की उपासना करता रहता है वह निःसन्देह भगवान् से विमुख ही है।

(दम्भ की अवस्थाओं के भेद)

(१) याद रखो, दम्भ में भी कई प्रकार के भेद होते हैं। एक दम्भ बहुत बड़ा होता है और एक सामान्य कोटि का होता है। बड़ा दम्भ वह है जिसमें केवल दम्भ का ही उद्देश्य रहता है; जैसे कोई व्यक्ति अकेला होनेपर तो बिलकुल भजन स्मरण न करे और लोगों के सामने बड़ी तत्परता से भजन में लगा रहे। ऐसा पुरुष तो भगवान् के कोप का पात्र होता है। यदि किसी का थोड़ा-बहुत पुण्य-संकल्प भी हो, तो भी यदि वह एकान्त में बिलकुल भजन नहीं करता तो पूर्वोक्त दम्भी के ही समान है। किन्तु जिस पुरुष के हृदय में पुण्य का संकल्प इतना प्रबल हो कि एकान्त में भी भूल से ही आलस्य करे, सब लोगों के सामने तो प्रसन्नता से भजन में लगा रहे तथा भजन करना उसके लिये सुगम भी हो जाय, तो इतना दम्भ करने से उसका

सारा कर्म निष्फल नहीं होता; हां उसके भजन में जितना दम्भ का संकल्प रहता है उतने दण्ड का अधिकारी वह अवश्य होता है, अथवा उतना ही उसका पुण्य क्षीण हो जाता है। और यदि दम्भ एवं पुण्य के संकल्प समान हों तो भी उसके भजन का कोई फल नहीं होता, क्योंकि पुण्य की श्रद्धा को दम्भ का संकल्प व्यर्थ कर देता है।

(२) जिस पुरुष की भगवान् पर कुछ भी श्रद्धा न हो वह शरीर से भजन-स्मरण करता भी रहे तो भी महान् कपटी ही कहा जाता है और भगवान् से भी वह अत्यन्त विमुख है, क्योंकि उसके हृदय में तो श्रद्धा का सर्वथा अभाव है, केवल ऊपर से अपने को बड़ा प्रेमी एवं विश्वासी प्रकट करता है। ऐसा पुरुष तो सर्वदा नरकों में ही निवास करेगा। इसी प्रकार जिस पुरुष की परलोक और सन्तों की मर्यादा में कुछ भी श्रद्धा नहीं है, वह दम्भपूर्वक शरीर से भले ही शास्त्रमर्यादा के अनुसार आचरण करे, तो भी नरकों का ही अधिकारी होता है।

(३) दम्भ का तीसरा भेद मनुष्य के प्रयोजन की दृष्टि से है। जैसे कोई पुरुष भजन में मान का प्रयोजन रखे और फिर मान होनेपर भोगों और पापों में आसक्त हो जाय, तो यह अत्यन्त निन्दनीय है। अथवा कोई पुरुष अपने को इसलिये विरक्त और उदारात्मा प्रकट करे कि लोग मुझे त्यागी समझकर अर्थियों एवं सात्त्विक पुरुषों के लिये धन दें और जब उनसे धन मिले तो उसे अपने शरीर की सेवा में लगा ले, तो यह भी महान् पाप है। अथवा किसी कथा-कीर्तन की सभा में जाय और उद्देश्य यह रहे कि वहां किसी रूपवान् पुरुष को देखूँ अथवा उससे प्रीति बढ़ाऊँ या ऐसे ही किसी अन्य अपकर्म का प्रयोजन रखे तो यह अत्यन्त दुःख का ही कारण है, और अपराध रूप है, क्योंकि इसने तो भजन को पापकर्मों का ही साधन बना रखा है। इसी प्रकार यदि

किसी पुरुष का कोई दोष संसार में प्रसिद्ध हो जाय और फिर वह उस अपयश से छूटने के लिये विरक्ति या उदारता का ढोंग रचे तो यह भी अत्यन्त निन्दनीय है।

इस प्रकार ये सभी प्रयोजन अत्यन्त तामसी हैं, किन्तु जिसका राजसी प्रयोजन हो; अर्थात् जो दम्भ करके अपने शरीर और कुटुम्ब का पालन करना चाहे, वह भी भगवान् के कोप का अधिकारी होता है। अथवा मान पाने के ही उद्देश्य से यदि मार्ग में धैर्य और संकोच के साथ चले, ठंडी सांस छोड़े, और हँसने से दूर रहे तथा ऐसा कहे कि इस संसार में जीव को आनंद होने का अवसर ही कहाँ है, क्योंकि सभी मनुष्य काल के गाल में जा रहे हैं, अथवा यदि कोई पुरुष किसी की निन्दा करे तो अपने को अदोषदर्शी दिखाने के लिये कहे कि दूसरे का दोष देखने की अपेक्षा तो अपना ही दोष देखना अच्छा है—तो ये सारे व्यवहार यद्यपि सात्त्विक हैं, तथापि जिसका उद्देश्य सात्त्विक नहीं है, अपितु राजसी है और केवल मान पाने के लिये ही जो ऐसे कर्म करता है, वह निःसन्देह अन्तर्यामी प्रभु से विमुख हो जाता है, क्योंकि भगवान् तो उसके हृदय की जानने वाले हैं। अतः उनके साथ छल करना बड़ी भारी विमुखता है; अल्पबुद्धि जीव तो इस रहस्य को समझ नहीं सकते, क्योंकि दम्भ तो ऐसा सूक्ष्म होता है कि कितने ही पण्डित और बुद्धिमान् भी इसे देख नहीं पाते, जो मूर्ख तपस्वी हैं उनकी तो बात ही क्या है।

(दम्भों की सूक्ष्मता का स्पष्टीकरण)

यह तो स्पष्ट ही दम्भ है कि लोगों के सामने तो भजन करे और जब अकेला हो तब आलस्य कर जाय। इससे सूक्ष्म दम्भ यह है कि एकान्त में भी भजन के नियम को पूरा तो करे, किन्तु जब लोगों को देखे तब प्रसन्नता के कारण वही नियम उसे सुगम जान

पड़े। यह दम्भ भी अपेक्षाकृत स्थूल ही है, इससे भी सूक्ष्म वह दम्भ है जिसमें लोगों को देखकर भले ही प्रसन्नता भी न हो, तथापि उसके भीतर एक ऐसा गुप्त पाखण्ड रहता है, जैसे कि चकमक पत्थर में अग्नि। यह दम्भ तब प्रकट होता है जब संसार में उस पुरुष का मान बढ़ जाता है और वह अपने को ऐश्वर्य-शाली देखने लगता है। इससे निश्चय होता है कि यद्यपि ऐसे पुरुष की क्रिया में पहले दम्भ दिखायी नहीं देता था तो भी उसमें गुप्त रूप से वह अवश्य था। अतः जब तक पुरुष दोषदृष्टि के द्वारा मान के रस को बुरा नहीं समझता तब तक अवश्य ही दम्भ प्रकट हो जाता है। ऐसा व्यक्ति यद्यपि मुँह से अपनी प्रशंसा नहीं करता तो भी लक्षणों से अपने को अवश्य भजनानन्दी दिखाता है तथा अपने हृदय की स्थिरता, गम्भीरता एवं जागृति को भी प्रकट करना चाहता है। परन्तु एक दम्भ तो इससे भी अत्यन्त सूक्ष्म है। यह हो सकता है कि कोई पुरुष लोगों से मान पानेपर भी हर्षित न हो, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह दम्भ से रहित है, क्योंकि यदि कोई पुरुष उसे पहले प्रणाम न करे, अधिक आदर न दे, प्रसन्नतापूर्वक उसका कार्य न करे अथवा व्यवहार में और लोगों की अपेक्षा उसको अधिक न दे तो उसे बड़ा आश्चर्य होता है कि ये लोग सम्भवतः मुझे जानते नहीं। सो यदि उसने दम्भ-शून्य होकर भगवद्भजन किया होता तो उसे ऐसा आश्चर्य नहीं हो सकता था।

तात्पर्य यह है कि जबतक किसी कर्म का होना और न होना इसके लिये समान न हो जाय तबतक दम्भ दूर नहीं होता। अर्थात् दम्भ हृदय से तभी निकलता है जब अपने कर्म की कोई विशेषता नहीं रहती; जैसे कोई पुरुष किसी को एक रुपया देकर बदले में हज़ार रुपये की वस्तु ले ले तो वह अपने एक रुपया देने की कोई विशेषता नहीं समझता, और न इसे किसी के प्रति अपना

उपकार ही मानता है। इसी प्रकार जो पुरुष कुछ दिन भजन करके अविनाशी पद का राज्य प्राप्त कर लेता है वह किसी के प्रति अपने भजन का उपकार नहीं मान सकता और न उसे हृदय में ही अपने भजन का अभिमान होता है। और यदि कोई पुरुष शुभ कर्म करके लोगों से सत्कार चाहता है तथा निरादर होनेपर आश्चर्य-चकित हो जाता है, तो यह तो एक प्रकार से चींटी की चाल से भी सूक्ष्म दम्भ है। पूरा विचार किये बिना यह दिखायी भी नहीं देता। इस विषय में सन्त अली का कथन है कि परलोक में विरक्त पुरुषों की भी इस प्रकार भर्त्सना की जायगी कि लोगों ने तुम्हें व्यवहार में मोल से अधिक वस्तु दी है, वे हाथ जोड़े हुए सर्वदा तुम्हारे कार्यों में तत्पर रहे हैं और सबने तुम्हें ही पहले प्रणाम किया है। अतः तुम्हारा आचरण केवल निष्काम नहीं रहा, तुमने तो संसार में ही अपने शुभ कार्यों का फल भोग लिया है।

वास्तव में ऐसा तो कोई विरला ही पुरुष होता है जो सारे संसार को त्यागकर साधन-भजन में तत्पर रहे और संसार के संसर्ग-रूप विघ्न से डरता रहे। तथा जब उसे कोई प्रणाम करे अथवा आदर दे तो सकुच जाय। ऐसा ही पुरुष परलोक के दण्ड से छूट सकता है। इसीसे जिज्ञासु पुरुषों ने अपने शुभ कर्मों को इस प्रकार छिपाया है जैसे दूसरे लोग अपनी चोरी या व्यभिचार को छिपाते हैं। उन्होंने इस बात को निःसन्देह पहचाना है कि परलोक में निष्कामता के बिना कोई भी शुभ कर्म स्वीकार नहीं किया जायगा। जैसे यदि किसी पुरुष ने सुना हो कि अमुक देश में खोटा सोना-चाँदी नहीं चलता वहाँ के लोग खरे को ही स्वीकार करते हैं, और उसे उस देश में जाने की इच्छा हो तो वह अपने साथ खरे सोना-चाँदी ही रखेगा, खोटे को तो वहीं छोड़ देगा। इसी प्रकार जो पुरुष इस लोक में अपने कर्मों को सकामता से अशुद्ध कर लेता है उसे परलोक में बहुत दुःख उठाना पड़ता है

और उसके सारे शुभ कर्म व्यर्थ हो जाते हैं। वहाँ अपने निष्काम कर्मों के सिवा और किसी से कोई सहायता नहीं मिलती।

अब, निष्कामता क्या है—इस पर विचार किया जाता है। निष्कामता का अर्थ तो यह है कि जिस प्रकार यह पुरुष पशुओं के सामने निष्कपट भाव से भजन-साधन करता रहता है उनकी ओर इसका कोई ध्यान ही नहीं जाता, उसी प्रकार मनुष्यों के प्रति भी यह सर्वथा दम्भशून्य रहे। जबतक इसे पशु और मनुष्य दोनों का देखना समान नहीं हो जाता तब तक यह पूरा निष्काम नहीं कहा जा सकता। अथवा यदि कोई इसे भजन करता देखे तो इसको ऐसा ही मालूम हो जैसे कोई भोजन करने या सोने के समय इसे देखता हो। अर्थात् जिस प्रकार अपना भोजन या निद्रा दिखाने का यह कोई संकल्प नहीं करता और यदि कोई देख भी लेता है तो उससे इसे कोई प्रसन्नता नहीं होती, उसी प्रकार भजन में भी यह समान भाव से स्थित रहे। इसी पर महापुरुष का कथन है कि रञ्चकमात्र दिखावा भी भगवान् से विमुखता ही है, क्योंकि दम्भी परुष तो भगवद्भजन में लोगों को भी साक्षी करना चाहता है। केवल अन्तर्यामी ही जाने—इतने में उसे सन्तोष नहीं होता, इसीसे वह उसे पराधीन जीवों को भी दिखाना चाहता है। इसीसे दम्भी पुरुषको महापुरुष ने भगवान् से विमुख कहा है।

तात्पर्य यह है कि जब तक लोगों के देखने से इसे प्रसन्नता होती है तब तक यह दम्भ से कभी मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु यदि भगवान् का उपकार मानकर प्रसन्नता हो तो इसे दम्भ नहीं कहते। ऐसा विचार तीन प्रकार से हो सकता है—

१. जिसने स्वयं तो अपने भजन को गुप्त रखा था, किन्तु भगवान् ने उसका कोई संकल्प न होनेपर भी उसे प्रकट कर दिया और उसके जो अनेकों अवगुण थे उन्हें प्रकट नहीं किया। इससे जिज्ञासु समझता है कि प्रभु मुझपर

ऐसे कृपालु हैं कि मेरे दोषों को तो छिपा लेते हैं और भलाई को प्रकट कर देते हैं। अतः प्रभु की दया और उपकार का विचार करके वह भक्त प्रसन्न होता है।

२. कोई जिज्ञासु समझता है कि जिन प्रभु ने इस संसार में मेरे दोषों को छिपाया है वे ही करुणा करके उन्हें परलोक में भी प्रकट नहीं करेंगे और मुझे क्षमा कर देंगे।

३. इसके शुभकर्मों को देखकर यदि दूसरे लोग भी शुभ-क्रियाओं में लगें तो उनका यह सौभाग्य ही होगा। अतः इससे प्रसन्न होना भी अच्छा ही है। परन्तु अपने मानके लिये हर्षित नहीं होना चाहिये। जो पुरुष इसके शुभकर्मों को देखकर सात्त्विक आचारविशेष में लगा है उसकी जिज्ञासा और श्रद्धा को पहिचानकर ही इसे प्रसन्नता हुई है या नहीं, इसकी परीक्षा इस तरह हो सकती है कि जब वह जिज्ञासु किसी अन्य पुरुष को ऊँची स्थिति देखकर उसका सग करने लगे और उससे उसकी भगवदाज्ञापालन की तत्परता और भी पुष्ट हो जाय, तो उससे भी इस पुरुष को इतनी ही प्रसन्नता हो जितनी कि अपने सत्संग में रहते समय उसकी जिज्ञासा देखकर होती थी।

(दम्भ के द्वारा शुभकर्मों के निष्फल होने का प्रसंग)

दम्भ भजन के आरम्भ में भी हो सकता है तथा मध्य और अन्त में भी। यदि भजन के आरम्भ में ही दम्भ का उद्देश्य रहे तब तो उसके द्वारा शीघ्र ही वह भजन नष्ट हो जाता है, क्योंकि निष्कामता की स्थिरता ही इस जीव का उद्देश्य है और जब आरम्भ में ही दम्भ के कारण उद्देश्य अशुद्ध हो जाय तो स्वाभाविक ही निष्कामता नष्ट हो जाती है। किन्तु यदि भजन के आरम्भ में उद्देश्य शुद्ध हो और भजन करते समय लोगों को

देखकर अधिक भजन करने का ढंग करे तब अधिक भजन करने का ही फल नष्ट होता है, मूल ही से सारा भजन व्यर्थ नहीं होता, क्योंकि आरम्भ में तो उसका उद्देश्य शुद्ध ही था। और यदि भजन के नियम को तो निष्काम भाव से ही पूरा करे, किन्तु पीछे से कुछ दम्भ का संकल्प फुर आवे और इसी से अपने भजन को प्रकट कर बैठे तो इससे भजन का फल नष्ट नहीं होता, परन्तु दम्भ का सम्बन्ध रहने के कारण कुछ दण्ड का अधिकारी अवश्य होता है। पर इस बात का निर्णय करते समय कुछ बुद्धिमानों ने ऐसा भी कहा है कि यदि वह पुरुष अपने शुभकर्मों को पूरा करके पीछे प्रकट कर दे तो उसे उस कर्म का कोई फल नहीं मिलता। जैसे इब्न मसऊद नामक सन्त से किसीने जब इस प्रकार कहा कि मैं नित्यप्रति इतना पाठ करता हूँ तो उन्होंने कहा, "तुझे उस पाठ का इतना फल नहीं होगा।" तथा महापुरुष से भी जब किसीने कहा कि मैं व्रती हूँ, तो वे बोले, "तू व्रती भी नहीं और अव्रती भी नहीं।" अर्थात् व्रत करके तू भूखा तो रहता है, किन्तु अपने मुँह से उसे प्रकट करके उसका फल नष्ट कर देता है। यहाँ यद्यपि इब्न मसऊद और महापुरुष का भी कथन यथार्थ है, परन्तु इसका कारण यह है कि उन्होंने यह समझा था कि ये पाठक और व्रती आरम्भ से ही दम्भशून्य नहीं थे, इसी से उनके कर्म को निष्फल कहा। वास्तव में तो जिसका भजन आरम्भ से दम्भशून्य होगा और पीछे से ही उसमें अकस्मात् दम्भ का समावेश होगा उसका सब कुछ किया कराया व्यर्थ होना कठिन ही है। किन्तु यदि भजन के बीच में दम्भ का संकल्प इतना बढ़ जाय कि वह भजन के उद्देश्य को ही दबा दे तब तो सारा ही भजन व्यर्थ हो जायगा। हाँ, जिसका उद्देश्य तो निष्काम हो, केवल लोगों को देखकर कुछ प्रसन्नता फुर आवे, तो उसका भजन निष्फल नहीं हो सकता, केवल उस दम्भ के कारण कुछ पाप का भागी होगा।

(दम्भ को दूर करने का उपाय)

यह दम्भरूपी रोग अत्यन्त प्रबल है। अतः इसकी निवृत्ति का उपाय अवश्य करना चाहिये। किन्तु अत्यन्त धैर्य और पुरुषार्थ के बिना इसका उपाय हो नहीं सकता, क्योंकि यह दम्भ का स्वभाव मन की वृत्तियों में एकदम घुला-मिला हुआ है। मनुष्य बाल्यावस्था से ही सबको ऐसी प्रवृत्ति देखता है कि वे संसार में अपने को भला दिखाना चाहते हैं तथा जीवों के सारे व्यापार इसी उद्देश्य से होते हैं। इसलिये बाल्यावस्था में ही इसका यह स्वभाव बद्धमूल हो जाता है और फिर धीरे-धीरे ऐसा बढ़ जाता है कि वह इस रोग की बुराई को भी नहीं जान सकता। फिर तो वह इस स्वभाव के नशे में अचेत-सा हो जाता है। इसीलिये इस दम्भरूपी रोग की निवृत्ति कठिन बतलायी गयी है। साथ ही, ऐसा भी कोई विरला ही वीर होता है जो इस रोग से मुक्त हो। इसलिये सभी को इसका उपाय करना चाहिये।

इसकी निवृत्ति का उपाय दो प्रकार से होता है। उनमें एक प्रकार तो ऐसा है जो दम्भ को मूल से ही नष्ट कर डालता है। यह उपाय समझ और आचरण दोनों ही की सहायता से निष्पन्न होता है। समझ के द्वारा साधक को दम्भ के विघ्नों की पहिचान करनी चाहिये। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि मैं इस समय भले ही दम्भ करके प्रसन्न हो लूँ, किन्तु परलोक में इसके लिये मुझे ऐसी ताड़ना मिलेगी कि मैं सहन नहीं कर सकूँगा। जो पुरुष इस बात को निश्चित रूप से पहिचान लेता है उसके लिये दम्भ को त्यागना सुगम हो जाता है। जैसे किसी मनुष्य को यदि यह पता लग जाय कि इस मधु में विष मिला हुआ है तो फिर, भले ही उसे उसके आस्वादन की अत्यन्त तृष्णा हो तथापि वह सुगमता से ही उसे त्याग देता है, इसी प्रकार जिसे परलोक का भय प्रबल होगा वह दम्भ को अङ्गीकार नहीं

कर सकेगा।

इसके सिवा, दम्भ में यद्यपि सभी के धन और मान ही प्रयोजन रहते हैं, तथापि इसकी वासना के तीन मूल हैं :—

(१) दम्भ के द्वारा जगत् से अपनी प्रशंसा चाहना।

(२) निन्दा के भय से दम्भ करना।

(३) लोगों से पूजा कराने की आशा रखना।

अतः जिज्ञासु को चाहिये कि पहले अपने चित्त से प्रशंसा की वासना को दूर करे और ऐसा समझे कि यदि मैं भजन में दम्भ करूँगा तो परलोक में निश्चय ही मेरा अपमान होगा, और मुझ से ऐसा कहा जायगा कि अरे दम्भी! कपटी! महापापी! तूने भगवद्भजन को जगत् में प्रशंसा सुनने के लिये बेच दिया! तू ऐसा निर्लज्ज है कि ऐसा करने में तुझे लज्जा नहीं आयी। धिक्कार है तुझे, जिसने संसार को प्रसन्न किया और भगवान् की अप्रसन्नता का कोई भय नहीं किया! संसार की निकटता तो स्वीकार की तथा भगवान से दूर पड़ जाने का भय नहीं किया! इससे जान पड़ता है कि तूने जगत् से मान पाना भगवान् से मान पाने की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा है। तथा प्रभु के कोप को तुच्छ समझकर जगत् की स्तुति को स्वीकार किया है। अतः तेरे समान निर्लज्ज और कोई नहीं है। इस प्रकार जब बुद्धिमान् पुरुष इस अपमान का विचार करता है तो अच्छी तरह जान जाता है कि यह लौकिक प्रशंसा परलोक में मेरे किसी काम नहीं आयेगी, क्योंकि भगवान् का भजन सम्पूर्ण भलाइयों का बीज होनेपर भी दम्भ के कारण पापों का बीज हो जाता है।

इसके सिवा उसे यह भी समझना चाहिये कि यदि मैं दम्भ-हीन रहूँगा तो मुझे सन्तों का सहवास प्राप्त होगा, दम्भ से तो निश्चय मनमुखों का ही संग मिलेगा। और जिस जगत् की प्रसन्नता के लिये मैं दम्भ करता हूँ वास्तव में वह संसार की

प्रसन्नता भी तो मुझे कभी प्राप्त नहीं होती, क्योंकि यहाँ यदि एक की प्रसन्नता होती है तो दूसरा अप्रसन्न ही रहता है। इसी तरह जब एक व्यक्ति प्रशंसा करता है तो दूसरा निन्दा करने लगता है। और यदि सब लोग भी स्तुति करने लगें तो भी इसका प्रारब्ध, आयु और लोक-परलोक की भलाई तो उनमें से किसी के भी हाथ में नहीं है। अतः ऐसे पराधीन जीवों की प्रसन्नता के लिये अपने को विक्षेप में डालना बड़ी भारी मूर्खता और दुःखों का ही कारण है। अतः इस पुरुष को बार-बार इसी प्रकार विचार करना चाहिये। इससे इसके हृदय से प्रशंसा सुनने की वासना का मूलोच्छेद हो जायगा।

तथा जगत् की आशा को निवृत्त करने के लिये इस बात को ध्यान में रखे कि प्रथम तो जगत् की आशा रखने से कोई फल प्राप्त ही नहीं होता और यदि प्राप्त भी होता है तो संसारी लोग इसके ऊपर बड़ा आभार रख देते हैं और इससे जीव भगवान् की प्रसन्नता भी खो बैठता है। इसके सिवा भगवान् की प्रेरणा के बिना लोगों के हृदय कोमल और अपने अधीन भी नहीं हो सकते। अतः जिन्होंने भगवान् को प्रसन्न कर लिया है स्वभाव से उन्हीं के अधीन जीवों के चित्त भी हो सकते हैं। इसके विपरीत जिसने भगवान् को प्रसन्न नहीं किया उसके तो अवगुण ही संसार में प्रसिद्ध होते हैं। इसलिये सभी लोग उसे त्याग देते हैं।

अब जगत् की निन्दा के भय को दूर करने के विषय में विचार किया जाता है। उसका उपाय यह है कि अपने को इस प्रकार समझावे कि यदि भगवान् ने मुझे स्वीकार कर लिया है तब तो लोगों के निन्दा करने से भी मेरी क्या हानि हो सकती है और यदि प्रभु की दृष्टि में मेरा निरादर है तो इन लोगों की स्तुति से भी मेरा क्या लाभ होगा। जो पुरुष निष्काम होकर संसार की ओर चित्त नहीं लगाता उसके प्रति प्रभु ही सब लोगों के

चित्तोंमें प्रीति और प्रतीति दृढ़ कर देते हैं। यदि वह ऐसा नहीं करता तो लोग बहुत जल्द उसके छल को पहिचान लेते हैं और जिस निन्दा का उसे भय रहता है वही उसके सिर पड़ती है तथा वह भगवान् की प्रसन्नता से भी वञ्चित रह जाता है। इसके विपरीत यदि वह भली प्रकार विचार करे और पुरुषार्थ करके निष्कामता में दृढ़ रहे तो जगत् के मोह से मुक्त रहेगा और उसका चित्त प्रकाशपूर्ण हो जायगा तथा भगवान् की सहायता से उसे निष्कामता का अलौकिक आनन्द प्राप्त होगा। किन्तु इसका उपाय आचरण के द्वारा ही हो सकता और वह तभी होना सम्भव है जब अपने शुभ कर्मों को इस प्रकार छिपा कर रक्खे जैसे अपने दुष्कर्मों को छिपाया जाता है। बस, इतने ही में सन्तुष्ट रहे कि सर्वान्तर्यामी प्रभु तो सब कुछ जानते ही हैं। ऐसा आचरण यद्यपि आरम्भ में दुष्कर है तथापि पुरुषार्थ करनेपर शीघ्र ही सुकर हो जाता है। तब तो यह निष्कामता और भजन के रहस्य का अनुभव कर परमानन्द प्राप्त कर लेता है। इसे ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है कि भले ही लोगों के समूह इसे देखा करें तथापि इसकी मनोवृत्ति एक क्षण के लिये भी उनकी ओर नहीं जा सकती। यह ऐसा उपाय है कि जिससे दम्भ का मूलोच्छेद हो जाता है।

दूसरा उपाय ऐसा है कि उससे केवल दम्भ का बल ही क्षीण होता है, उसका मूलोच्छेद नहीं होता। बात यह है कि जब यह मनुष्य भजन में स्थित होता है तब इसके चित्त में यह संकल्प स्फुरित हो जाता है कि लोगों ने मेरे भजन को जान लिया है अथवा नहीं जाना तो अब जान लेंगे। यही संकल्प जब बढ़ जाता है तो इसे ऐसी अभिलाषा दृढ़ हो जाती है कि यदि लोग मुझे भजनानन्दी जानेंगे तो मुझ में अधिक श्रद्धा करेंगे। इस प्रकार इस दम्भ के संकल्प और अभिलाषा को सामने रखकर

यह ऐसा चाहने लगता है कि लोग मेरे भजन को जानें तो अच्छा हो। किन्तु जिज्ञासु को तो आरम्भ में ही प्रयत्नपूर्वक इस संकल्प को दूर कर देना चाहिये। उसे अपने को इस प्रकार समझाना चाहिये और ऐसा विचार करना चाहिये कि जगत् का जानना मेरे किस काम आयेगा और लोगों के जानने से मेरा कौन कार्य सिद्ध होगा, क्योंकि संसार को उत्पन्न करनेवाले श्री भगवान् तो सर्वान्तर्यामी हैं। अतः मेरे लिये तो उनका जानना ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है, क्योंकि लोगों के हाथ में तो मेरा कोई भी कार्य है नहीं। और यदि लोगों ने मुझे विशेष पुरुष भी समझा तो भी प्रभु के समीप मुझे ताड़ना मिलनेपर इनकी जानकारी मेरी कैसे रक्षा कर सकेगी।

इस प्रकार जब यह विचार जिज्ञासु के चित्त में जम जाता है तब तत्काल ही दम्भ के प्रति उसकी दोषदृष्टि हो जाती है। अर्थात् वह दम्भ को निश्चयपूर्वक बुरा मानने लगता है और यह दोषदृष्टि ही दम्भ की आसक्ति के मार्ग में अड़चन डालने लगती है। फिर तो जैसे दम्भ को आसक्ति इसे लोगों की ओर खींचती है वैसे ही दोषदृष्टि वहाँ से हटाना चाहती है। उस समय जिस संकल्प का बल अधिक होता है वही इसके मन को अधीन कर लेता है। इस प्रकार ऊपर जिनका वर्णन किया गया है उन (१) दम्भ के संकल्प, (२) दम्भ की अभिलाषा और (३) लोगों से मान पाने का संकल्प—इन तीनों दोषों का सामना ये तीन गुण करते हैं—(१) वह समझ जिसके द्वारा यह दम्भ की बुराई को पहिचानता है, (२) इस समझ से उत्पन्न होनेवाली दोषदृष्टि, जिससे कि जीव को दम्भ में ग्लानि होती है तथा (३) अपने को दम्भ के उद्देश्य और संकल्पों से रोकना। किन्तु यदि यह दम्भरूपी रोग इतना बढ़ गया हो कि उसका आवेश होने के समय समझ काम ही न करे और उसमें ग्लानि भी न

हो (तात्पर्य यह है कि पहले चाहे इसने सब बात समझ ली हो और अपने को दम्भ से रोकने का निश्चय भी किया हो, तथापि उस अवसर पर इसकी वह समझ स्थिर न रहे) तब स्वाभाविक ही यह अपने मन की वासना के अधीन हो जाता है। जैसे कोई व्यक्ति पहले तो अपने को क्रोध सहन करने के विचार में स्थित करे और क्रोध के दुष्परिणामों का भी विचार करे, किन्तु जब क्रोध का अवसर आवे तब तमोगुण बढ़ जाने के कारण उसका सारा विचार विस्मृत हो जाय, इसी प्रकार विचारद्वारा दम्भ की बुराई को समझ लेनेपर भी वासना की प्रबलता होनेपर दोष-दृष्टि उत्पन्न नहीं होती। और यदि दोषदृष्टि हो भी तो भी पुरुषार्थ की कमी के कारण अपने स्वभावको निवृत्त करने में यह सफल नहीं होता तथा दम्भ की प्रीतिमें आसक्त हो जाता है। फिर तो यह जगत् की प्रशंसा को प्रसन्नतापूर्वक सुना चाहता है। इसी-से कितने ही विद्वान् यह जानते भी हैं कि अमुक बात हम दम्भ के लिये कह रहे हैं, तो भी वैसा कहनेसे वे अपने को रोक नहीं सकते और दम्भ के चंगुल में ही बँध जाते हैं। तात्पर्य यह है जितनी इस पुरुष दोषदृष्टि उत्पन्न होती है उतना ही यह दम्भ का त्याग करनेमें समर्थ होता है। और दोषदृष्टि इसे अपनी समझ की मर्यादा के अनुसार उत्पन्न होती है। तथा समझ का बल इसे उतना ही प्राप्त होता है जितनी श्रीभगवान् में इसकी आस्था होती है। इस प्रकार ये गुण इसे भगवान् की सहायता पाकर ही प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत दम्भ की अधिकता मायिक भोगों की आसक्ति के कारण होती है और भोगों की आसक्ति का प्रेरक मन एवं वासनाएँ हैं।

इस प्रकार इस मनुष्य का मन सर्वदा इन दोनों विरोधी सेनाओं की रस्साकशी के बीच में पड़ा हुआ है। अतः इसकी जैसी वृत्ति और जैसा स्वभाव प्रबल होता है तथा जैसे पदार्थ में इसकी

विशेष प्रीति होती है, उसी स्वभाव और उसी वृत्ति को यह स्वीकार कर लेता है। अर्थात् जिस मनुष्य की वृत्ति पहले ही से निर्मल रहती है वह तो भजन के समय भी दम्भशून्य रह सकता है, किन्तु जिस पर पहले से रजोगुण-तमोगुण का प्रभाव रहता है वह भजन के समय दम्भ और मान की ओर जाता है। यह सामान्य नियम है। परन्तु भगवान् की प्रेरणा और आज्ञा इन सब नियमों से परे है। उसका रहस्य अपनी बुद्धि के द्वारा कोई नहीं जान सकता। अतः उनकी जैसी प्रेरणा होती है उसी ओर वह जीव को खींच ले जाती है। किसी को वह दिव्य स्वभावों में स्थित कर देती है और किसी को मलिन स्वभावों में डाल देती है। एक बात तुम ध्यान में रखो, यदि तुम दम्भ के आकर्षण से संघर्ष करते हो और दोषदृष्टि के द्वारा उसे अपने हृदय में बुरा भी समझते हो, किन्तु बीच में तुम्हारे चित्त में कोई दम्भ का संकल्प भी फुर आता है, तो इससे तुम्हें पाप नहीं होगा, क्यों कि अकस्मात् कोई सदोष संकल्प फुर आना तो जीवका स्वभाव ही है और यह मनुष्य अपने स्वभाव से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। इसीके संतजनों ने भी कहा है कि मलिन स्वभाव को पहले तो मलिन समझना चाहिये और फिर यथाशक्ति उसके विपरीत आचरण करना चाहिये। ऐसा करनेपर ही जीव की नरकों से रक्षा हो सकती है। उन्होंने ऐसा नहीं कहा कि अपने सामर्थ्य से सदाके लिये अपने स्वभावों से मुक्त हो जाओ, क्योंकि ऐसा तो होना ही कठिन है। अतः जब तुम संतजनों की आज्ञा मानकर यथाशक्ति पुरुषार्थ करोगे तो निःसन्देह शनैः शनैः अपने उस स्वभाव को अधीन कर लोगे। बस, तुम्हें इतना ही प्रयत्न करना है कि जैसे तुम्हें दम्भादि दोषों में प्रीति है और उनके लिये उद्यम भी करते रहते हो, वैसे ही उन्हें मलिन समझकर यथाशक्ति उन्हें त्यागने का प्रयत्न करो। ऐसा करने में ही तुम्हारी

भलाई है। एक बार महापुरुष के प्रेमियों ने उनसे प्रार्थना की थी कि जब हमारे चित्त में कोई मलिन संकल्प फ़ुरता है तो हमें ऐसा दुःख होता है कि यदि हमें कोई पाताल में पटक दे तो उसका दुःख भी हमें उसके सामने तुच्छ जान पड़ेगा। इस पर महापुरुष ने कहा कि यदि तुम्हें ऐसी दोषदृष्टि प्राप्त हुई है तो निश्चय जानो कि धर्म और श्रद्धा का उत्तम लक्षण यही है। संकल्पों की निवृत्ति करनेवाले तो भगवान् हैं, अतः उनसे छुटकारा पाने के लिये तुम प्रभु की शरण लो। इससे निश्चय होता है कि धर्म का चिह्न तो दोषदृष्टि ही है। जिसे दोषदृष्टि प्राप्त हुई है उसके मलिन संकल्प स्वभाव से ही नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि संकल्प की प्रबलता तो रुचि और प्रीति होनेपर ही होती है, दोषदृष्टि से तो संकल्प क्षीण हो जाता है।

परन्तु इसमें भी एक रहस्य है। वह यह कि जिसे मन के स्वभावों से विरुद्ध आचरण करने का बल प्राप्त हुआ है उसे भी माया आकर छल लेती है। उस छलका स्वरूप यह है कि वह पुरुष फिर मलिन संकल्पों से संघर्ष करने में ही उलझा रहता है, उसे भजन की एकाग्रता प्राप्त होनी कठिन हो जाती है। माया उसे संकल्पों के विरोध में ही बाँधे रखती है। किन्तु ऐसा होना भी ठीक नहीं। यह अवस्था चार प्रकार की होती है –

१. अपना सारा समय संकल्पों के विरोध में ही खोना और भजन से विमुख रहना।
२. पहले कुछ समय मलिन संकल्पों के विरोध में लगाना और फिर उसे भी मिथ्या समझकर भजन में स्थित होना।
३. मिथ्या संकल्प की ओर चित्त ही न देना और न उसके निषेध में अपनी आयु को व्यर्थ गँवाना। बस, भजनानन्द में ही स्थित रहना।
४. मिथ्या संकल्प के आते ही उसे तीव्र वैराग्य से निराश

कर देना तथा भजन की एकाग्रता में चित्त की वृत्ति को लीन कर देना। यह अवस्था बहुत उत्तम है, क्योंकि यह छल को भी छल लेनेवाली है। ऐसा पुरुष स्वयं ही छल से मुक्त रहता है। वह जब छल को देखता है तो तुरन्त ही बड़ी तेजी से बढ़कर अपने लक्ष्य में स्थित हो जाता है। उसकी ऐसी सावधानी देखकर बेचारा छल लज्जित हो जाता है।

इन अवस्थाओं को दृष्टान्तद्वारा इस प्रकार समझाया जाता है कि जैसे चार पुरुष विद्याध्ययन के लिये जा रहे हों। उसी मार्ग में कोई पुरुष आकर ईर्ष्यावश उन्हें रोकना चाहे, तब उनमें से एक विद्यार्थी तो ऐसा हो जो सारा समय उससे विरोध करने में ही बिता दे, तो वह विद्याध्ययन से वञ्चित ही रह जायगा। दूसरा विद्यार्थी उसे झूठा करने के लिये कुछ समय तो लगावे, किन्तु वहीं अटका न रहे, उसे दबाकर वह चला जाय और विद्याध्ययन भी कर ले। तीसरा विद्यार्थी ऐसा हो कि जब उसे वह पुरुष रोकना चाहे तब वह उसकी ओर ध्यान न दे, और उसे दुःखदायक समझकर अपने मार्ग पर बढ़ा चला जाय। तथा चौथा विद्यार्थी ऐसा हो कि वह उस विरोधी को देखते ही बड़ी तेजी से भागकर विद्याध्ययन में तत्पर हो जाय। इन चारों पुरुषों की अवस्थाओं का विचार करें तो मालूम होगा कि इनमें से पहले दो पुरुषों से तो उस विरोधी का उद्देश्य पूरा हुआ, तीसरे से उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ तथा चौथे से प्राप्त भी कुछ नहीं हुआ, प्रत्युत स्वयं लज्जित होकर पश्चात्ताप करना पड़ा कि यदि मैं इसके मार्ग में न आता तो यह इतनी तेजी से दौड़कर तो विद्याध्ययन में न लगता। अतः वास्तव में बलवान् पुरुष तो यही है। इसी प्रकार दृढ़ पुरुषार्थ उसी जिज्ञासु का माना जाता है जो संकल्पों के विरोध में भी आसक्त नहीं होता, अपितु जल्दी से जल्दी भजनानन्द में निमग्न

हो जाता है।

(भजन प्रदर्शित करने की स्थिति)

एक बात ध्यान देनेयोग्य है कि जिस प्रकार भजन को गुप्त रखने में यह लाभ है कि मनुष्य दम्भ से मुक्त रहता है वैसे ही भजन प्रकट करने में भी एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि भजनानन्दी पुरुष को देखकर दूसरे लोग भी भजन में प्रवृत्त होते हैं तथा सात्त्विक कर्मों में उनकी श्रद्धा बढ़ती है। इसी से प्रभु ने भी कहा है कि यदि शुद्ध उद्देश्य से सब लोगों के देखते हुए भी दान दे तो अच्छा ही है। और जो गुप्तरूप से दान देता है वह तो उत्तम है ही। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि जब यह पुरुष सात्त्विकी कर्मों की नींव दृढ़ कर लेता है और इसके उन कर्मों को देखकर दूसरे लोग भी शुभ कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, तब उसे अपने शुभकर्मों का फल तो मिलता ही है, वह दूसरे लोगों को प्राप्त होनेवाले पुण्य फल में भी अपना भाग प्राप्त करता है। जिस प्रकार एक तीर्थयात्री को देखकर दूसरे लोग भी तीर्थयात्रा का संकल्प करते हैं तथा जो पुरुष रात्रि में जोर-जोर से भगवन्नामकीर्तन करता है उसकी ध्वनि सुनकर दूसरे लोगों की भी निद्रा टूट जाती है और वे भी भजन में प्रवृत्त होने लगते हैं इसी प्रकार अन्यान्य शुभ कर्मों को देखकर भी दूसरे लोगों की सदाचार में प्रवृत्ति होने लगती है। तब इसे अपने शुभ कर्मों के फल के साथ दूसरे लोगों के सत्कर्मों के फल का भी अंश प्राप्त होता है। और ऐसे शुभकर्मों का अनुष्ठान करने की तो भगवान् की विशेष रूप से आज्ञा है। तात्पर्य यह है कि जिसका उद्देश्य दम्भरहित हो वह यदि अन्य जीवों के कल्याण के लिये अपने भजन और शुभकर्मों को प्रकट भी करदे तो यह उत्तम अवस्था ही है। किन्तु ऐसा करते हुए जिसके चित्त में दम्भ की वासना फुरे उसका भजन तो व्यर्थ ही होता है। जो पुरुष शुद्ध

वासना से भजन करता है उसी को सफलता प्राप्त होती है। महापुरुष ने भी कहा है कि भजन करो किन्तु हृदय में दम्भ की वासना मत आने दो, सर्वदा शुद्ध उद्देश्य रखकर ही भजन में प्रवृत्त होओ।

इसके सिवा ऐसा भी कहा है कि दम्भ का संकल्प करना तो मूर्खों का काम है। जो लोग पर्दे के साथ गुप्त रूप से भजन करते हैं उन्हींको उसका फल प्राप्त होता है। जिस प्रकार बीज बोते हैं तो जो बीज धरती में दबा होता है वही उगता है, जो बाहर रह जाता है वह नहीं उगता। जिसके चित्त में धन आदि की खोटी वासना रहती है वह यदि अन्य जीवों के कल्याण के लिये अपने भजन को प्रकट करे तो उससे कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि दम्भ के कारण उसका उद्देश्य मलिन हो जाता है, इसी से अन्य जीवों पर उसके भजन या उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः ऐसे पुरुष का तो गुप्तरूप से ही भजन करना अच्छा है। प्रकट भजन करनेवाले को तो अच्छी तरह देखते रहना चाहिये कि उसके हृदय में दम्भ की वासना का प्रवेश तो नहीं हुआ, क्योंकि कितने ही पुरुषों के हृदय में दम्भ की प्रीति गुप्तरूप से रहती है। वे अपने चित्त में अनुमान तो यह कर लेते हैं कि हम जगत् के कल्याण के लिये ही अपने भजन को प्रकट करते हैं, परन्तु पीछे वे दम्भ की प्रीति के कारण अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाते हैं। ऐसे पुरुषार्थहीन पुरुषों के लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे कोई पुरुष तैरना तो जानता न हो, किन्तु दूसरों की देखा-देखी तैरने के लिये नदी में कूद पड़े, तो वह स्वयं तो डूबता ही है, उसे जो निकालने का प्रयत्न करता है उसे भी ले डूबता है। किन्तु जो महापुरुष समर्थ हैं वे तो उस कुशल तैराक के समान हैं जो स्वयं भी नदी पार कर लेते हैं और अपने साथ दूसरे मनुष्यों को भी तैराकर पार ले जाते हैं। वास्तव में यह तो

सन्तजनों की अवस्था है, हर किसी को ऐसा नहीं करना चाहिये। यदि महापुरुषों की स्थिति देखकर ये भी वैसा ही करने का दुःसाहस करेंगे और दम्भशून्य होकर अपने भजन को गुप्त नहीं रखेंगे तो निःसन्देह इनका अकल्याण होगा। जो पुरुष जगत् के कल्याण के लिये भजन करने का दम भरते हैं उनकी परीक्षा इस प्रकार की जा सकती है कि जब कोई उनसे ऐसा कहे कि तुम अपने भजन को प्रकट मत करो, क्योंकि लोगों के कल्याणमार्ग का उपदेश करनेवाले तो अमुक विरक्त महात्मा प्रसिद्ध हैं और उनके ही संग से इन्हें लाभ भी अधिक हो सकता है तथा तुम्हें भजन को गुप्त रखने से विशेष लाभ होगा—किन्तु इसपर भी वे अपने भजन को प्रकट करने का ही आग्रह करें तब समझना चाहिये कि उन्हें मान और ऐश्वर्य की वासना है तथा वे परमार्थप्राप्ति के उद्देश्य से रहित हैं।

कोई ऐसे भी लोग होते हैं जो अपने भजन का नियम पूरा करके फिर लोगों से कहते रहते हैं कि हमने क्या-क्या किया है। उन्हें ऐसा करने से ही प्रसन्नता होती है। किन्तु उचित तो यह है कि आत्मश्लाघा से अपनी जिह्वा को संकोच में रक्खे। तात्पर्य यह है कि जबतक मान-अपमान और निन्दा-स्तुति में इसकी समदृष्टि न हो तबतक किसी प्रकार अपनी विशेषता को प्रकट न करे। हाँ, जब मन से मान की अभिलाषा का मूलोच्छेद हो जाय तब अपनी स्तुति के द्वारा भी इसे कोई दोष नहीं लगता। तब तो इसकी बात को सुनकर और भी कितने ही जीवों का शुभकर्म के लिये संकल्प हो जाता है। इसी से कितने ही समर्थ पुरुषों ने अपनी विशेषता का भी वर्णन किया है। जैसे एक सन्त ने कहा है कि मैंने भगवान् का भजन कभी सकाम भाव से नहीं किया, मैंने तो महापुरुष के मुख से जो वचन सुना उसको यथार्थ समझकर वैसा ही निश्चय रखा है। उमर नामक संत ने कहा है

कि जब मैं प्रातःकाल उठता हूँ तो मुझे किसी भी सुगम या अगम कार्य में किसी प्रकार का भय नहीं होता। मैं यह जानना चाहता हूँ कि देखें मेरा कल्याण किस कार्य से होगा। इसी प्रकार सन्त इब्न मसऊद ने भी कहा है कि मेरे सामने जब जैसा अवसर उपस्थित होता है तब मैं अपनी वासना के अनुसार उसे कभी बदलना नहीं चाहता। सन्त सुफियान सौरी का जब अन्तकाल उपस्थित हुआ तब उनके सम्बन्धी रोने लगे। उस समय उन्होंने कहा कि मेरी मृत्यु पर रुदन मत करो, क्योंकि जिस दिन से मैंने प्रभु के पथ पर पैर रखा है उस दिन से कोई पाप नहीं किया। एक और सन्त का भी ऐसा ही कथन है कि जिस प्रकार भगवान् की आज्ञा हुई है उससे विपरीत मैंने कोई वासना नहीं की।

किन्तु जो सामर्थ्यहीन दुर्बल जीव हैं उनके लिये यह उचित नहीं है कि उन महापुरुषों को देखकर स्वयं भी अभिमान करने लगें। महापुरुषों की लीलाओं में ऐसे गुप्त रहस्य भी रहते हैं कि जिन्हें हम अपनी बुद्धि से पहिचान नहीं सकते। कभी-कभी तो विघ्नों में भी ऐसी भलाई छिपी रहती है कि हमें उसका पता नहीं होता। जैसे दम्भ करने से यद्यपि दम्भी पुरुष का तो अकल्याण ही होता है, तथापि उसे देखकर कितने ही जीवों की वृत्ति सात्त्विक आचरण में स्थिर हो जाती है। अपने शुद्ध संकल्प के कारण वे उस दम्भी को भी निष्काम ही समझते हैं, अतः वे स्वयं तो निष्कामता में ही दृढ़ता प्राप्त करते हैं।

(अपने पाप को छिपाने की आज्ञा)

याद रखो, भजन को प्रकट करने में तो निःसन्देह दम्भ होता है, किन्तु सन्तजनों ने तो अपने अवगुणों को छिपाने की भी अनुमति दी है और वे इसे दम्भ भी नहीं बताते। क्योंकि अपने पाप को छिपाने में निम्नलिखित पाँच विशेषताएँ हैं—

१. पाप कर्म को देखकर लोग निन्दा करते हैं, और जब इस

पुरुष की वृत्ति निन्दा-स्तुति की ओर लग जाती है तो इससे भजन छूट जाता है।

२. निन्दा सुनकर इस मनुष्य का हृदय अप्रसन्न होता है, क्योंकि निन्दा-स्तुति को समान समझना तो अत्यन्त कठिन है। इसके सिवा निन्दा के भय से यद्यपि निष्काम भजन करना ही श्रेष्ठ होता है, तथापि इसी निमित्त से निन्द्य कर्मों को छिपाना भी बुरा नहीं है, क्योंकि यद्यपि यह पुरुष लोगों से स्तुति सुनने की ओर से तो उपराम हो सकता है तथापि निन्दा सुननेपर निर्विकार रहना अत्यन्त कठिन है।

३. जब किसी का कोई निन्द्य कर्म प्रकट हो जाता है तो उसे उदाहरण बनाकर लम्पट मनुष्य और भी ढीठ हो जाते हैं और निःशंक होकर निन्दनीय आचरण करने लगते हैं। अतः इस बात को सामने रखकर अपनी बुराई को छिपा लेना भी अच्छा है। किन्तु जब इस उद्देश्य से अपने पाप को छिपावे कि लोग मुझे विरक्त और भजन-निष्ठ समझें तो ऐसा करना अनुचित है।

४. यदि लज्जावश अपने दोषों को छिपाले तो भी अच्छा ही है, क्योंकि सब मनुष्यों से लज्जा करनी जीव के लिये उचित ही है। किन्तु यदि कोई ऐसा कहे कि लज्जा और दम्भ तो एक ही है, तो यह बात ठीक नहीं, क्योंकि इन दोनों में बड़ा अन्तर है। पर यदि कोई ऐसा पुरुष हो जो बाहर-भीतर से एक समान हो, तो यह बहुत उत्तम अवस्था है। और ऐसी स्थिति उसी की हो सकती है जिसके हृदय में भी पाप का संकल्प न फुरे। यदि कोई पुरुष पाप करके कहे कि मेरे पाप को भगवान् तो जानते ही हैं, फिर मैं इसे लोगों से क्यों छिपाऊँ तो यह बहुत

बड़ी मूर्खता है, क्योंकि भगवान् ने भी गुह्य विषय को छिपाना ही अच्छा बताया है।

५. यदि इस पुरुष का कोई अवगुण संसार में प्रसिद्ध न हो तो इसे भगवान् की दया समझकर ऐसा माने कि उनकी कृपा से परलोक में भी मेरा यह अवगुण प्रकट नहीं होगा। अतः अपने पाप को छिपाकर यदि प्रभु की दया के प्रति विशुद्ध आशा रखे तो यह भी बहुत बड़ी विशेषता है।

(दम्भ का भय और शुभ कर्म)

याद रखो, शुभ कर्म तीन प्रकार के कहे गये हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. जिन कर्मों का सम्बन्ध केवल श्रीभगवान् से होता है; जैसे—भजन, व्रत और साधन इत्यादि, जिन्हें जिज्ञासु-जन करते हैं।

२. वे कर्म जिनका सम्बन्ध निश्चित रूप से मनुष्यों के ही साथ होता है; जैसे—राजनीति की मर्यादा का पालन, देशों का पालन और रक्षा आदि।

३. वे कर्म जिनका सम्बन्ध लोगों के साथ भी हो तथा जिनका शुभ प्रभाव अपने पर भी पड़े और उस कर्म से सम्बन्धित अन्य लोगों पर भी; जैसे—कथा, कीर्तन आदि शुभकर्म तथा भजन एवं सत्संग आदि।

इन शुभकर्मों का दम्भ के भय से त्याग करना उचित नहीं। किन्तु इन्हें करते हुए यदि किसी को अकस्मात् दम्भ का संकल्प फुर आवे तो उस मलिन संकल्प को ही विचारद्वारा निवृत्त करने का प्रयत्न करना चाहिये तथा भजन के शुद्ध संकल्प को चित्त में स्थिर करे। इसके सिवा लोगों के देखने के निमित्त से भी भजन को बढ़ाना ही चाहिये, घटाना ठीक नहीं। पहले से जिस प्रकार भजन करता रहा हो उसी प्रकार करता रहे—यही अच्छा है।

और यदि भजन का उद्देश्य कुछ भी न रहे, केवल दम्भ का ही संकल्प दृढ़ हो जाय तो यह तो भजन ही नहीं कहा जा सकता। किन्तु जब तक इस पुरुष के हृदय में शुद्ध उद्देश्य का बीज भी शेष रहे तब तक ऐसे कर्मों का त्याग न करे। इस विषय में फुजैल नामक सन्त का कथन है कि लोगों की दृष्टि के भय से शुभकर्मों को त्याग देना ही दम्भ है। जो पुरुष संसार को दिखाने के लिये भजन करे वह तो निःसन्देह मनमुख है। पर यह दुष्ट मन ऐसा शत्रु है कि यदि छल के द्वारा भजन का त्याग नहीं करा पाता तब ऐसा संकल्प फुर आता है कि जब तू भजन करता है तब और लोग तुझे देखते हैं और यह दम्भ ही है, अतः तू भजन ही को त्याग दे। परन्तु याद रखो, यदि तुम मन की आज्ञा मानकर पृथ्वी को खोदो और उसमें बैठकर भजन करो, तो भी वह तुमसे यही कहेगा कि लोग तुम्हें बड़ा भजनानन्दी समझते हैं, इसलिये तुझे भजन करना उचित नहीं। मन की इस कुचाल से बचने का उपाय यह है कि उसे यह समझाया जाय कि लोगों की ओर चित्त की वृत्ति को ले जाना और इसी भय से भजन को छोड़ बैठना भी केवल दम्भ ही है। अतः लोगों का देखना न देखना तो मेरे लिये समान ही है, क्योंकि मुझे तो इस ओर ध्यान न देकर भजन में ही स्थित होना चाहिये और यह समझना चाहिये कि मुझे कोई नहीं देखता। दम्भ के भय से भजन छोड़ बैठना तो ऐसा ही है जैसे कोई अपने सेवक से कहे कि अमुक अनाज को साफ करलो और सेवक यह समझकर कि यदि सफाई करने पर भी उसमें कोई रोड़ी या कंकर रह गया तो अनाज ठीक-ठीक शुद्ध नहीं होगा उसकी सफाई का प्रयत्न ही न करे। तब तो उसका स्वामी उससे यही कहेगा कि मूर्ख ! तूने जो मूल से ही सफाई का उद्यम नहीं किया इससे क्या अनाज साफ हो जायगा ? अर्थात् इस प्रकार तो वह अत्यन्त अशुद्ध ही रहेगा।

इसी प्रकार इस जीव को भगवान् ने निष्काम कर्म की आज्ञा की है। परन्तु यदि यह दम्भ के भय से शुभ कर्म ही न करे तब इसे निष्कामता कैसे प्राप्त होगी, क्योंकि निष्कामता तो शुभकर्मों में ही रहती है। सन्त इब्राहीम के विषय में यह बात सुनी जाती है कि वे सर्वदा अपनी कुटी में पुस्तक का पाठ करते रहते थे और जब किसी को आता देखते तब पुस्तक बन्द कर देते थे। इसका तात्पर्य इतना ही था कि वे यह बात निश्चित रूप से जानते थे कि जब कोई हमारे पास मिलने के लिये आया है तब उसके साथ कुछ बातचीत अवश्य ही करनी होगी, अतः इस समय पुस्तक बन्द कर देना ही अच्छा है। सन्त हसन बसरी ने भी इस प्रकार कहा है कि जब जिज्ञासुजनों को प्रभु के प्रेमवश रोना आता था तब वे निष्काम लोग अपना मुँह छिपा लेते थे, जिससे दूसरे लोग उनके आँसुओं को न देख सकें। सो ऐसा करना भी उचित ही है. क्योंकि गुप्त रुदन की अपेक्षा प्रकट रुदन में कोई विशेषता नहीं होती; और वे लोग, मनुष्य देखते हैं–इसलिये रुदन का त्याग तो करते नहीं थे, केवल अपनी प्रीति के प्रवाह को गुप्त कर लेते थे। किन्तु यदि कोई ऐसा पुरुष हो कि जो मार्ग में काँटा या पत्थर देखकर उसे उठावे ही नहीं, यह सोचे कि ऐसा करने से लोग मुझे दयालु समझेंगे, तो यह उसकी अत्यन्त पुरुषार्थ-हीनता ही है, क्योंकि वह तो लोगों के देखने से अपने चित्त में ही भयभीत होता रहता है और इस संकल्प की अधिकता के कारण भजन ही नहीं कर सकता। सो, यह अवस्था कुछ अच्छी नहीं है, उचित तो यह है कि जो भगवत्प्रेमी हो वह दम्भ को तो दूर रखे, किन्तु भजन का त्याग न करे। इसी में उसकी भलाई है।

दूसरा शुभ कर्म जो राजनीति और देशों का पालन आदि बताया गया है, जिसमें कि इसका अन्य पुरुषों के साथ सम्बन्ध

होना अवश्यम्भावी है, उसमें यदि यह धर्म और विचार की मर्यादा के अनुसार आचरण करे तो वह भी उत्तम प्रकार का भजन ही है और यदि धर्ममर्यादा को त्याग दे तो वही महापाप हो जाता है। अतः जिस किसी पुरुष को अपने ऊपर ऐसा दृढ़ विश्वास न हो कि राजनीति का पालन करते हुए मेरा मन धर्म की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करेगा, उसे राज्यादि व्यवहार को अङ्गीकार ही नहीं करना चाहिये। क्योंकि यदि इससे राजधर्म का पालन करते हुए अनीति का आचरण हुआ तो बड़ा भारी पाप होगा। यह राजव्यवहार अन्य नियम और व्रतों के समान नहीं है, क्योंकि भजन के नियमों में मन को आरम्भ से ही कोई प्रसन्नता प्रतीत नहीं होती, पीछे लोगों के देखनेपर और उन से मान पानेपर ही हर्ष होता है, किन्तु राजव्यवहार के साथ-साथ ही सब प्रकार के भोग और मान आदि प्राप्त होने लगते हैं। इसलिये इसका चित्त तुरन्त चंचल हो जाता है। इसीसे कहा है कि राजनीति में कोई विरला ही पुरुष विचार की मर्यादा में स्थित रहता है। और यह अवस्था उसी को प्राप्त होती है जिसने पहले ही अपने मन को परीक्षा कर ली हो। अतः यह मन भले ही राजधर्म स्वीकार करने से पहले यह दिखावे कि मैं राज्यका शासनादि करते समय भी धर्मानुसार आचरण करूँगा और भोगों में आसक्त नहीं होऊँगा, तथापि जिज्ञासुओं को इससे भय और दोषदृष्टि करना ही अच्छा है, क्योंकि सम्भव है, यह भीमन का छल ही हो, जिस समय राज्यासन पर आरूढ़ हो जायँ तब यह बुद्धि स्थिर न रहे। इस लिये जबतक बुद्धि स्थिर न हो इस व्यवहार को स्वीकार करना उचित नहीं। इसीसे संत अबूबक्र ने अपने एक प्रेमी से कहा था कि यदि तुम्हें दो मनुष्यों में भी मुखिया बनाया जाय तो भी तुम स्वीकार मत करना। फिर जब महापुरुष के पश्चात् अबूबक्र को सार्वभौम राज्य प्राप्त हुआ तो उस पुरुष ने पूछा कि तुम मुझे तो मना करते थे,

फिर तुमने राज्य क्यों स्वीकार किया ? तब उन्होंने कहा कि तुम्हें तो मैं अब भी मना करता हूँ, क्योंकि जो पुरुष सिंहासन पर बैठकर न्याय न करे वह प्रभु के दरबार से विमुख हो जाता है। वास्तव में अबूबक्रजी ने जो उसे राज्यकार्य से रोका था और स्वयं राज्य अंगोकार किया था वह ऐसी ही बात थी जैसे कोई पुरुष अपने पुत्र से कहे कि तू जल के प्रवाह में प्रवेश मत करना, क्यों कि तू तैरना नहीं जानता, इसलिये नदी में घुसेगा तो डूब जायगा, किन्तु स्वयं अच्छा तैराक होने के कारण उसे नदी से कोई भय नहीं होता, वह सुगमता से ही उसे पार कर लेता है। इस पर यदि उसका पुत्र भी उसे देखकर नदी में घुसे तो वह निःसन्देह डूब जायगा। इसी प्रकार जो पुरुष राजव्यवहार में विचार की मर्यादा के अनुसार न चल सके वह दण्ड का अधिकारी होता है। अतः ऐसे पुरुष को राजधर्म स्वीकार करना उचित नहीं होता किन्तु यदि कोई ऐसा विचारवान् हो कि जब कोई भली प्रकार न्याय करनेवाला आवे तब उसके साथ ईर्ष्या या वैर न करे, प्रत्युत उसे देखकर और भी प्रसन्न हो और ऐसी आशंका न करे कि इसको अधिकार प्राप्त होने से मेरी शक्ति क्षीण हो जायगी, तो समझना चाहिये कि इसने धर्म के लिये ही राज्य स्वीकार किया है।

तीसरा कर्म बतलाया लोगों को शुभ मार्ग का उपदेश करना तथा परमार्थ चर्चा करके जोवों का सन्देह निवृत्त करना। यह कर्म यद्यपि बहुत महत्त्वपूर्ण है, तथापि इस में मन को बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती है और इसमें दम्भ के लिये भी बहुत अवकाश रहता है। यद्यपि मानका सम्बन्ध रहने से तो यह राजधर्म के समान ही है, तथापि इतना भेद अवश्य है कि इससे शुभ मार्ग का उपदेश सुननेवाले को भी लाभ होता है और कहनेवाले को भी। राजधर्म में ऐसो बात नहीं है। किन्तु यदि इस कार्य में भी किसी को

दम्भ का संकल्प होने लगे तो इसे विचारपूर्वक त्याग देना ही अच्छा है। कितने ही जिज्ञासुजनों का ऐसा व्यवहार भी रहा है कि जब उन से कोई प्रश्न पूछता था तो वे कह देते थे कि अमुक विद्वान् से पूछ लो, हम यह बात अच्छी तरह नहीं जानते। इसी से बशरहाफी नाम के संत ने अपनी पुस्तकों का सन्दूक पृथ्वी में गाड़ दिया था और कहते थे कि मैं अपने हृदय में उपदेशरूपी भोग की अभिलाषा देखता हूँ, इसलिये मैंने परमार्थचर्चा करनी भी छोड़ दी है। यदि मुझे अपना हृदय इस अभिलाषा से शून्य दिखायी देता तो मैं परमार्थचर्चा कर सकता था। इसी प्रकार अन्य संतोंने भी कहा है कि उपदेश करना भी मनका एक भोग है, क्यों कि जिस पुरुष को मान-बड़ाई की प्रीति हो उसे तो जगत् का नेता होना भी उचित नहीं है। एक बार सन्त उमर से उनके एक प्रेमी ने पूछा था कि यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं लोगों को शुभ मार्ग का उपदेश करूँ। तब उन्होंने कहा कि यदि ऐसा करने से तुम्हें मान की रुचि बढ़ी और बड़ाई का बवण्डर उड़ा ले गया तो इससे तुम्हारा अपकार ही होगा—यही मेरे चित्त में भय है। इसी प्रकार संत इब्राहीम ने भी कहा है कि यदि तुम्हें अपने हृदय में बोलने की उत्सुकता जान पड़े तो उस अवस्था में तुम्हारा मौन रहना ही विशेष उपयोगी है और जब मौन की विशेष प्रवृत्ति हो तब परमार्थचर्चा कर लेना अच्छा है।

परन्तु मेरे चित्त को तो ऐसा भासता है कि उपदेश करनेवाला पुरुष अपने हृदय में अच्छी तरह विचारकर देखे और यदि उसे सात्त्विक संकल्प और दम्भ का संकल्प दोनों फुरते हों तो वह उपदेश करना न छोड़े, क्योंकि भजन के नियम के समान उपदेश करना भी दम्भ के किञ्चित् संकल्प के कारण त्यागना उचित नहीं। ऐसी स्थिति में वह शुद्ध संकल्प के बीज को पुष्ट करे और दम्भ ही को निवृत्त करने का प्रयत्न करे। किन्तु राजधर्म में

यदि मलिनता का थोड़ा सा भी संकल्प हो तो भी राजव्यवहार ही छोड़ देना अच्छा है, क्योंकि उसमें मान और भोग की प्रचुरता रहने के कारण मलिनता बहुत शीघ्र बढ़ जाती है और शुद्ध संकल्प का वीज तत्काल नष्ट हो जाता है। इसी से जब अमूहनीफा संत को राजा का प्रधान वनाने लगे तब उन्होंने कहा कि मैं प्रधानपद का अधिकारी नहीं हूँ। इस पर राजा ने कहा कि तुम तो पूर्ण विद्वान् हो और नीति-अनीति का विचार भी कर सकते हो, अतः तुम्हीं उत्तम अधिकारी हो। उन्होंने कहा, "यदि मैं सत्य कहता हूँ तब तो निःसन्देह अधिकारी नहीं हूँ और यदि झूठ कहता हूँ तब झूठा आदमी तो अधिकारी हो ही नहीं सकता।" ऐसा कहकर उन्होंने राजधर्म तो स्वीकार नहीं किया किन्तु लोगों को धर्मोपदेश सारी आयु करते रहे। और न उन्होंने परमार्थचर्चा ही का त्याग किया। हाँ, यदि उपदेश करनेवाले के चित्त में धर्म का संकल्प कुछ भी न रहे, सर्वथा दम्भ की ही रुचि रहे, तो ऐसे पुरुष के लिये उपदेश छोड़ देना ही अच्छा कहा है। यदि कोई पुरुष मुझसे पूछे कि मैं उपदेश करता रहूँ या छोड़ दूँ तो मैं इस प्रकार विचारकर देखूँगा कि यदि उसके उपदेश से लोगों को धर्म का लाभ कुछ भी नहीं होता, उसमें कवियों के चातुर्य और मत-मतान्तरों का विवाद ही रहता है, अथवा वह संसारी पुरुषों को भगवान् की दया का वर्णन सुनाकर उन्हें पापों की ओर से निःशंक कर देता है, तो उसे तो कथा-वार्ता छोड़ देना ही अच्छा है, क्योंकि उसके मौन रहने से ही लोगों को विशेष लाभ होगा और वह स्वयं भी दम्भ एवं मानसे मुक्त रहेगा। तथा जिस पुरुष का कथन धर्म की मर्यादा के अनुसार हो और लोग उसे निष्काम समझकर धर्म को अंगीकार करते हों, तो ऐसे पुरुष को मैं उपदेश करना छोड़ने की अनुमति नहीं दूँगा, क्योंकि उपदेश करने में दम्भ का संकल्प रहने से यद्यपि उसे दोष ही होता

है, तथापि उसकी बात सुनकर बहुत लोगों को तो धर्मकी प्राप्ति होती है। और यदि यह उपदेश करना छोड़ दे तो उसे तो स्पष्ट ही लाभ है, किन्तु और बहुत लोगों को हानि होगी सो, तुम निश्चय जानो कि सहस्रों पुरुषों का लाभ तो एक मनुष्य की हानि से श्रेष्ठ ही है। इसीसे मैं ऐसा उपदेश करनेवाले एक दम्भी को सहस्रों जिज्ञासुओं पर निछावर कर देना चाहता हूँ। इस विषय में महापुरुष ने भी यह कहा है कि जिज्ञासुओं को तो सकाम पण्डितों से भी धर्म ही प्राप्त होता है और वे पण्डित अपना धन और मानादि रूप प्रयोजन ही पाते हैं। अतः मैं तो ऐसे पुरुष को यही अनुमति दूँगा कि तुम शुभ उपदेशों का त्याग मत करो, परन्तु यथाशक्ति दम्भ को ही त्यागो। इसी में तुम्हारी भलाई है। पुरुषार्थपूर्वक निष्काम श्रद्धा में स्थित हो जाओ और लोगों को उपदेश करके उन्हें भगवान् के भय में स्थित करो।

किन्तु जब कोई ऐसा प्रश्न करे कि उपदेश करनेवाले का उद्देश्य शुद्ध और निष्काम है—यह बात कैसे जानी जा सकती है? तो इसका उत्तर यह है कि शुद्ध उद्देश्य तभी समझना चाहिये जब इस पुरुष की यही श्रद्धा रहे कि किसी प्रकार ये लोग भगवान् के मार्ग को अंगीकार करें और माया से विरक्त हों। यह लोगों के प्रति उसकी दया ही होती है। ऐसी अवस्था में यदि कोई ऐसा अन्य पुरुष प्रकट हो जाय कि जिसके उपदेश से लोगों को विशेष धर्म-लाभ हो सके तथा लोगों की भी उस पर अधिक श्रद्धा हो तो इससे इसे अधिक प्रसन्नता होनी चाहिये। इस बात को दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं—जैसे कोई पुरुष अंधेरे कुए में गिर गया हो और कोई दूसरा पुरुष दयावश उसे निकालना चाहे, उस समय यदि कोई अन्य पुरुष आकर इस कार्य में उसकी सहायता करे तो इससे निस्सन्देह उसे प्रसन्नता ही होगी। इसी प्रकार यदि किसी उपदेश करनेवाले पुरुष को दूसरे विवेकीजन को देखकर

प्रसन्नता न हो तो समझना चाहिये कि वह उपदेश करके अपने को पुजाना ही चाहता है। उसका मुख्य उद्देश्य दूसरे लोगों को भगवान् के मार्ग में लगाना नहीं है।

इसके सिवा शुद्ध उद्देश्य का दूसरा लक्षण यह है कि जब सभा में परमार्थचर्चा करते समय कोई राजा या धनी पुरुष आ जाय तो भी यथार्थ वचन का त्याग न करे, उनका ऐश्वर्य देखकर संकोच न करे तथा अपने स्वभाव के अनुसार यथार्थ वचन पर ही दृष्टि रखे, तब समझना चाहिये कि इस पुरुष का उद्देश्य निष्काम है। तात्पर्य यह कि उपदेश करनेवाला पुरुष पहले इन लक्षणों को अपने चित्त में विचार कर देखे और यदि अपने में कोई ऐसा चिह्न न मिले तब यह निश्चय करे कि मैं शुद्ध उद्देश्य से रहित हूँ और मेरे चित्त में स्पष्ट ही दम्भ है। इस प्रकार जब देखे कि मुझे इस दम्भ में दोषदृष्टि होती है तब समझना चाहिये कि इसके हृदय में स्पष्ट ही शुद्ध उद्देश्य का बीज है। अतः इसे पुरुषार्थ करके निष्काम श्रद्धा को बढ़ाना और दम्भ को त्यागना चाहिये।

एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि कई अवसरों पर भजन करते हुये इनसे अन्य लोगोंके मिलने-जुलने से भी प्रसन्नता होती है। पर इसे दम्भ नहीं कहते। उस समय उसकी प्रसन्नता का कारण यह होता है कि मानलो किसी जिज्ञासु के चित्त में अकस्मात् कोई संशय उत्पन्न हो जाय और उस संशय के कारण भजन में विक्षेप होने लगे, ऐसे समय यदि उसे कोई सात्त्विकी पुरुष मिल जाय और उसके द्वारा उसका संशय निवृत्त हो जाय तो उसकी चित्तवृत्ति प्रसन्नता से भजन में स्थिर हो जायगी। इसलिये वह प्रसन्नता दम्भ नहीं कही जाती। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई पुरुष यदि अपने घर में आलस्य एवं निद्रा को न त्याग सके अथवा अपने कुटुम्बियों की बातचीतों से उसे विक्षेप होता हो और वह अपने घर से निकल कर किसी कथा-कीर्तन के स्थान

पर जा बैठे तो वहाँ उसे तुरन्त ही भजन की रुचि और प्रसन्नता उत्पन्न हो जायगी और वह विक्षेप दूर हो जायगा, क्योंकि दूसरों के स्थान पर निद्रा भी अधिक नहीं आती और अन्य भजनानन्दियों को देखकर यह भी सजग और भजनमें तत्पर हो जाता है, जैसे कि संयमी और तपस्वी पुरुषों को देखकर इसे भी संयम की रुचि पैदा होती है। तात्पर्य यह है कि ऐसी प्रसन्नता और भजन की अधिकता सात्त्विकी संगति में रहने से बढ़ती ही है, इसलिये इसे दम्भ नहीं कह सकते। किंतु यह मन ऐसे अवसरों पर भी इस प्रकार का सन्देह खड़ा कर देता है कि यह काम दम्भ का सम्बन्ध लेकर है, इसलिये इसका कोई शुभ परिणाम नहीं होगा। इसीको मन का छल कहते हैं, क्योंकि यह इसके चित्त में संशय खड़ा कर के इसे शुभ कर्म से निवृत्त करना चाहता है। जिज्ञासु को विचारपूर्वक यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कर्म दो प्रकार के हैं, उनमें एक निःसन्देह दम्भ को उद्देश्य करके ही होता है और दूसरा सात्त्विकी संगति में पड़ जाने से होने लगता है। इन दोनों का विवेचन करना बहुत आवश्यक है। इस विवेचन की पहचान यह है कि जब लोग इसे न देखें और यह उन्हें देख रहा हो तब भी यह प्रसन्नतापूर्वक भजन में लगा रहे तो इसे उनके सत्संग का ही प्रभाव समझना चाहिये। और यदि एक-दूसरे को देखते हों तो भी विचारद्वारा इस बात का विवेचन करे कि इस समय जो मेरा भजन होता है वह सात्त्विकी संगति के प्रभाव से है या दम्भ के कारण है। और फिर शुद्ध संकल्प के द्वारा दम्भ की रुचि को निवृत्त करे तथा संशयरहित होकर भजन में स्थित हो जाय। मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि जब यह किसी को भय या प्रीति के कारण रुदन करते देखता है तो इसका चित्त भी भर आता है और स्वयं भी रोने लगता है। सो यद्यपि उसे एकान्त में रोना न आता हो तो भी इस कर्म को दम्भ नहीं कह सकते, क्योंकि उस समय

रुदन करनेवाले व्यक्ति को देखकर इसका चित्त स्वभाव से ही द्रवीभूत हो जाता है। हाँ, इसमें एक भेद अवश्य है, वह यह कि आँसू का चलना तो हृदय की कोमलता के कारण होता है और उच्च स्वर से पुकारना अथवा पृथ्वी पर गिर पड़ना दम्भ के कारण हुआ करता है। अतः उचित यह है कि यदि अकस्मात् मुख से ऊँची पुकार निकल जाय अथवा पृथ्वी पर गिर पड़े तो तुरन्त ही सचेत होकर अपने प्रीति के प्रवाह को संकुचित करले। इस समय जिसके चित्त में ऐसा संकल्प हो कि ऐसा करने से ये लोग समझेंगे कि इसके हृदय में वास्तव में प्रीति नहीं है, इसीसे यह इतनी जल्दी सँभल गया है, और ऐसा सोचकर जो उच्च स्वर से पुकारता अथवा पृथ्वी पर पटकें खाता है वह निःसन्देह दम्भी है।

तात्पर्य यह है कि सभी शुभ कर्म दम्भसे भी हो सकते हैं और सात्त्विकी संगति के प्रभाव से भी। अतः जिज्ञासु सर्वदा अपनी रुचि को परखता रहे और कभी दम्भ के भयसे शून्य न हो। महापुरुष कहते हैं कि शुभ कर्मों में नाना प्रकार से दम्भ का संकल्प फुर आता है। अतः जब अपने मन में दम्भ की अभिलाषा देखे तब ऐसा विचार करे कि भगवान् मेरे हृदय की मलिनता को प्रत्यक्ष जानते हैं, अतः यदि मैं कोई अशुद्ध संकल्प करूँगा तो निःसन्देह प्रभु के दण्ड का अधिकारी होऊँगा। ऐसा जानकर दम्भ को निवृत्त करे और महापुरुषों के इस वचन को स्मरण रखे कि जिस एकाग्रता में दम्भ की अभिलाषा मिली हो उससे तो भगवान् ही रक्षा करें। इसका आशय यह है कि यदि किसी का चित्त तो चञ्चल रहे, किन्तु वाह्य अंगों की स्थिरता से वह अपने को भजननिष्ठ दिखावे तो वह केवल दम्भी ही कहा जाता है।

मनुष्य को भजन और हृदय की एकाग्रता में तो अवश्य निष्काम रहकर दम्भ से दूर रहना चाहिये। इसके सिवा और भी

ऐसे कई सात्त्विक कर्म हैं कि यदि उनके उत्तम फल प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो उन्हें करते हुए भी निष्काम रहना ही अच्छा है। जैसे किसी मित्र या अर्थी पुरुष की आवश्यकतापूर्ति करे तो इस प्रकार निष्काम रहे कि उससे किसी प्रकार के प्रत्युपकार या प्रशंसा आदि की इच्छा न रखे। अथवा किसी को विद्याध्ययन करावे तो ऐसी अभिलाषा न रखे कि भविष्य में यह विद्यार्थी मेरे काम आयेगा, मेरी सेवा करेगा अथवा मेरे पीछे चलेगा। ऐसा संकल्प रखना भी सकामता ही है और इससे धर्मलाभ होना असम्भव हो जाता है। किन्तु यदि इसकी अपनी इच्छा तो सेवा कराने की न हो और वह स्वयं ही इसकी टहल में लगा रहे, तो भी उत्तम पक्ष तो यही है कि उसकी सेवा-पूजा स्वीकार न करे। परन्तु मना करने पर भी यदि वह सेवा न छोड़े तो इसके विद्याध्ययन करानेका पुण्य व्यर्थ नहीं होता। यदि यह अभिमानशून्य रहे और अपने को उसका स्वामी न समझे तो दोनों ही पुरुषों को अपनी शुद्ध भावना का फल प्राप्त हो जाता है। यह बात यद्यपि निःसन्देह है, तो भी कितने ही विद्वान् अपने विद्यार्थियों से सेवा-पूजा कराने में भय मानते रहे हैं। कहते हैं, एक विद्वान् दैवयोग से कुए में गिर गये। उन्हें जब कई आदमी रस्सा डालकर निकालने लगे तब उन्होंने कुए में से ही भगवान् की शपथ कराकर कहा कि भाई जिसने मुझसे कुछ अध्ययन किया हो वह इस रस्से से हाथ न लगावे। इससे उनका वही प्रयोजन था कि किसी भी प्रकार मेरी निष्कामता का फल नष्ट न हो।

इसी प्रकार एक और पुरुष सुफियान सौरी सन्त के पास कुछ भेट लेकर आया। किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। इस पर उस मनुष्य ने कहा कि मैंने तो आपके मुख से कोई परमार्थचर्चा भी नहीं सुनी, फिर आप यह पूजा क्यों स्वीकार नहीं करते? उन्होंने कहा, "तुम्हारा भाई यहाँ आकर सर्वदा परमार्थचर्चा

सुनता है, अतः मुझे यह भय है कि तुम्हारी पूजा स्वीकार करने पर मेरा चित्त उससे अधिक प्रीति न करने लगे। यदि ऐसा हुआ तो वह अच्छी बात नहीं होगी। इसी तरह एक अन्य पुरुष भी उनके पास दो थाल मुहरें भरकर लाया था और इस प्रकार कहता था कि मेरे पिता आपके भक्त थे और वे शुद्ध व्यवहार ही करते थे। इसलिये यह धन शुद्ध वृत्ति से ही उपार्जन किया हुआ है, आप इसे अंगीकार करें। इस पर सुफियान सौरीजी ने वह धन ले लिया, किन्तु जब वह पुरुष अपने घर की ओर गया तो उन्हों ने वह सारा धन अपने पुत्र के द्वारा उसी के यहाँ भेज दिया और इस प्रकार कहलाया कि मेरे साथ तुम्हारे पिता का प्रेम भगवत्सम्बन्ध से था, अब तुम उसके बीच में यह धन का पर्दा क्यों डालते हो? इसके पश्चात् जब उनका पुत्र घर लौटा तो अधीर होकर अपने पिता से कहने लगा—"आपका चित्त पत्थर से भी अधिक कठोर है। आप देखते नहीं, हमारा कुटुम्ब कितना बड़ा है, इसकी निर्धनता तो आपसे छिपी है ही नहीं, किन्तु आपको हमारे ऊपर दया नहीं आती?" सन्त बोले, "भाई! तुम्हें तो खान-पानादि का सुख चाहिये, किन्तु मैं परलोक की यातनाओं से डरता हूँ। इसलिये मेरे हृदय में इतना बल नहीं है जो तुम लोगों को सुखपूर्वक रखूँ और परलोक के दण्ड को अपने सिर पर चढ़ाऊँ।" इसी तरह विवेकी पुरुष को चाहिये कि अपने सेवक से सेवा-पूजा की आशा न रखे और सर्वदा भगवान् की प्रसन्नता ही चाहे।

इसके सिवा उसे अपना भजन-स्मरण भी सेवक के आगे प्रकट नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसे तो श्रीभगवान् की दृष्टि में ही सम्मान पाने का प्रयत्न करना चाहिये, वहाँ अन्य लोगों से प्राप्त होनेवाला सम्मान इसके कुछ भी काम न आयेगा। यही नहीं, जब माता-पिता की सेवा करे तब भी भगवान् की ही प्रसन्नता चाहे और उनके प्रति अपनी कोई विशेषता प्रकट न करे। तात्पर्य

यह है कि सभी शुभ कर्मों में इस जीव को ऐसी निष्कामता होनी चाहिये कि यह श्रीभगवान् की प्रसन्नता के सिवा और कुछ भी प्रयोजन न रखे ।

—:o:—

नवीं किरण

अभिमान या अहंकार के कारण, दोष और उसकी निवृत्ति के उपाय

याद रखो, अभिमान या अपने को विशेष जानने का स्वभाव अत्यन्त निन्दनीय है। यदि विचार किया जाय तो अभिमानी पुरुष एक प्रकार से भगवान् का भागीदार बनना चाहता है, क्योंकि ऐश्वर्य और महत्ता से तो भगवान् की ही शोभा होती है और अभिमानी पुरुष अपना ऐश्वर्य बढ़ा देखता है। इसीसे महाराज के वचनों में भी अभिमान की बहुत निषिद्धता वर्णन की गयी है। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि जिसके हृदय में रञ्चकमात्र भी अभिमान होता है वह आत्मसुख प्राप्त नहीं कर सकता। और ऐसा भी कहा है कि अपनी महत्ता प्रकट करनेवाले पुरुष को पापियों की तरह ताड़ना होगी। इस विषय में एक गाथा भी है कि एक बार सुलेमान नामक महापुरुष ने अपनी सेना इकट्ठी की। तब कई लाख मनुष्य, देवता, अप्सरा, पक्षी और भूत आदि प्राणी एकत्रित हुए। इतने ही में एक वायु का वेग उठा, वह उस सारी सेना को उड़ाकर आकाश में ले गया और उसे देवताओं की पुरियों से भी ऊपर पहुँचा दिया। फिर वहीं उसे पृथ्वी पर ले आया और समुद्र के तल में पहुँचा दिया। तब सुलेमान जी को आकाशवाणी हुई कि यदि तुम्हें अपने बल का रञ्चकमात्र भी अभिमान होता तो मैं तुम्हारी सारी सेना को तुम्हारे सहित रसातल में लीन कर

देता। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि परलोक में अभिमानी पुरुषों का आकार चींटी के समान होगा। तात्पर्य यह है कि वे अपमानित होकर लोगों के पैरोंतले मसल दिये जायँगे। तथा यह भी कहा है कि नरकों में एक कुम्भीपाक नरक है, जो अत्यन्त भयानक है। जितने घोर पापी और अभिमानी पुरुष हैं वे उसी नरक में पड़े जलेंगे। संत सुलेमान ने भी कहा है कि जिस पाप को कोई भी शुभकर्म निवृत्त नहीं कर सकता वह अभिमान है। और महापुरुष ने भी कहा है कि जो पुरुष बड़प्पन के कारण अपने वस्त्र को पृथ्वीपर घसीटता और झूमता हुआ चलता है [१] उसकी ओर भगवान् तनिक भी दयादृष्टि से नहीं देखते।

इसी विषय में भगवद्वचनों में एक गाथा भी आयी है। कोई पुरुष अत्यन्त सुन्दर वस्त्र पहनकर अपनी ओर देखता था और अपना बड़प्पन जताते हुए झूम-झूमकर चलता था। इसी पाप के कारण वह भगवान् के कोप से पृथ्वी में लीन हो गया। ऐसा भी कहते हैं कि इसी प्रकार अभिमानी पुरुष प्रलयकालपर्यन्त रसातल के नीचे चला जायगा। एक बार इब्नबासा संत ने अपने पुत्रको लटक-लटककर चलते देखा। तब वे उससे पुकारकर कहने लगे, "पुत्र! क्या तू अपने को जानता है कि तू किसकी सन्तान है। तेरी माँ को तो मैंने कुछ रुपये देकर मोल लिया था और मैं तेरा पिता अत्यन्त नीच और अधम हूँ।" इसी प्रकार एक और संत ने जब किसी अभिमानी पुरुष को झूम-झूमकर चलते देखा तो उसे वैसा करने से मना किया। तब वह बोला, "तुम मुझे नहीं जानते।" सन्त ने कहा, "मैं तो तुम्हें जानता हूँ, आरम्भ में

---

१. प्राचीनकाल में राजा आदि बड़े आदमी ऐसा चोगा पहनते थे जो पृथ्वी पर घिसटता हुआ चलता था। वे लोग जब चलते थे तो कुछ सेवक उसे ऊपर उठा कर उनके पीछे चलते थे।

तुम एक गन्दी जल की बूँद थे, अन्त में अत्यन्त घृणित शव के रूप में रहोगे तथा मध्य में भी मल-मूत्र की ही पोट ढोनेवाले हो।"

(नम्रता की प्रशंसा)

महापुरुष ने कहा है कि जिस मनुष्य ने नम्रता धारण की है, उसे निश्चय ही भगवान् ने बड़ाई दी है, और ऐसा भी कहा है कि प्रभु ने सभी मनुष्यों के गले में रस्सी डाली हुई है। किन्तु जो मनुष्य दीन होता है उसकी रस्सी तो देवदूत ऊपर की ओर खींचते हैं और कहते हैं कि भगवन्! इस जीव को आप उत्तम गति दीजिये, और जो पुरुष अभिमानी होता है उसकी रस्सी को वे नीचे की ओर खींचते हैं और प्रार्थना करते हैं कि भगवन्! इस जीव को आप अत्यन्त नीच गति में डालिये। अतः उत्तम पुरुष वही है जो सामर्थ्य रहते हुए भी दीनता और गरीबी स्वीकार करे, सात्त्विकी वृत्तिद्वारा धनोपार्जन करे, उसे शुभ कर्मों में ही लगावे, अनाथों पर सर्वदा दयादृष्टि रखे तथा सदैव विवेकी पुरुषों के साथ मेल और प्रीति रखे। एक सन्त का कथन है कि एकबार महापुरुष हमारे घर आये थे। तब हमने उनका व्रत खोलने के लिये दूध और मधुका शर्बत बनाया। किन्तु उन्होंने जब उसे चखा तो कटोरा पृथ्वी पर रख दिया; उसे पिया नहीं और कहने लगे, "मैं यद्यपि इस शर्बत पीने को पाप नहीं कहता, परन्तु यह बात निःसंदेह है कि जब यह पुरुष भगवान् का भय मानकर गरीबी को स्वीकार करता है तब भगवान् इसे बड़ाई देते हैं और प्रसन्न रखते हैं, तथा जो पुरुष अभिमानपूर्वक बर्तता है उसे भगवान् लज्जित करते हैं और नीचा दिखाते हैं। इसी प्रकार जो पुरुष संयमपूर्वक खान-पान का व्यवहार करता है वह संसारी जीवों के अधीन कभी नहीं होता और जो पुरुष मर्यादारहित होकर बर्तता है वह सर्वदा निर्धनता और अपमान प्राप्त करना है।

इसके सिवा जो पुरुष भगवान् का विशेष स्मरण करता है उस पर भगवान् भी बहुत प्रेम करते हैं। इस विषय में एक गाथा है कि एक बार एक कुष्ठी ने महापुरुष के द्वार पर आकर याचना की। महापुरुष उस समय भोजन कर रहे थे। उन्होंने उस याचक को भीतर बुला लिया। जब वह भीतर गया तो सब लोग उसकी गन्दगी से डरकर वस्त्र समेटने लगे, किन्तु महापुरुष उसे अपने आसन पर बिठाकर भोजन कराने लगे। उस समय उनके एक सम्बन्धी ने उसके प्रति विशेष ग्लानि की थी, सो कुछ काल पश्चात् कुष्ठ रोग से ही उसकी मृत्यु हुई। महापुरुष ने ऐसा भी कहा है कि एक बार प्रभु ने मुझसे प्रश्न किया कि तुम दास होना चाहते हो अथवा राजा या आचार्य? तब मैंने अत्यन्त विनीत होकर कहा कि मुझे तो आप अपना दास ही बनाइये। इसी प्रकार महापुरुष मूसा को भी आकाशवाणी हुई थी कि मैं उसी पुरुष के भजन को स्वीकार करता हूँ जो महत्त्वशाली होनेपर भी सर्वदा मेरे अधीन रहता है, मेरे जीवों के आगे अभिमान नहीं करता, अपने चित्त में सदैव मेरा भय रखता है, एक क्षण भी मेरे भजन से अचेत नहीं होता और मेरी प्रसन्नता के लिये भोगों से अपने को बचाये रहता है। इसीसे महापुरुष ने कहा है कि उदारता का कारण वैराग्य है और इस मनुष्य के हृदय का निश्चय ही सारी सम्पदों का कारण है। इसी प्रकार महापुरुष ईसा ने भी कहा है कि जिन पुरुषों में दीनता और नम्रता है वे इस लोक में भी सुखी रहते हैं और परलोक में भी ऊँची पदवी प्राप्त करते हैं, जिनका चित्त माया में आसक्त नहीं हैं वे भी अत्यन्त श्रेष्ठ पुरुष हैं और उन्हीं को भगवान् के दर्शन प्राप्त होते हैं। तथा जो पुरुष इस लोक में जीवों का विरोध दूर करते हैं उनको परम सुख की प्राप्ति होती है। तथा महापुरुष कहते हैं कि जिसे भगवान् ने सात्त्विकी धर्म का मार्ग दिखाया है और जिसका स्वभाव अत्यन्त कोमल है तथा

ऐसे गुणों से युक्त होकर भी जिसका हृदय अहंकारशून्य है वही निःसन्देह भगवान् का अत्यन्त प्रिय है। इसी प्रकार एक बार उन्होंने अपने भक्त से कहा था कि मुझे तुम्हारे हृदयों में भजन का रहस्य दिखायी नहीं देता, इसका क्या कारण है? तब भक्तों ने पूछा, "भजन का रहस्य क्या है?" इसपर महापुरुष ने कहा, "भजन का रहस्य दीनता और गरीबी है।" इस विषय में किन्हीं का ऐसा भी मत है कि जब दीन पुरुष से मिलो तब दीनता करो और जब अभिमानी को देखो तब तुम भी अपना गौरव रखो, अर्थात् उनके आगे अधीन मत होओ; जिससे वह अपनी धृष्टता को पहचान सके। महापुरुष की धर्मपत्नी का कथन है कि समस्त शुभ कर्मों में दीनता और गरीबी श्रेष्ठ है और तुम लोग ऐसे महत्वपूर्ण गुण से असावधान हो। सन्त फुजैल कहते हैं कि यदि कोई बालक भी यथार्थ बात कहे तो उसे अङ्गीकार कर लेना ही गरीबी का चिन्ह है। एक अन्य सन्त ने कहा है कि यदि तुम निर्धनों को देखकर अपने को उनसे भी निम्न कोटि का प्रदर्शित करो तब समझना चाहिये कि तुम धनादि के अभिमान से रहित हो। और यदि किसी धनवान् को देखकर उसके अधीन हो जाओ तो स्पष्ट ही है कि तुम्हारी दृष्टि में धन और माया की निषिद्धता कुछ भी नहीं है।

एक बार महापुरुष ईसा को आकाशवाणी हुई थी कि मैंने तुम्हें अनेक प्रकार के सुख दिये हैं। यदि तुम उन्हें दीनतापूर्वक स्वीकार करोगे तो मैं उनमें और भी वृद्धि करता रहूँगा और तुम सदा ही सुखी रहोगे। इसी प्रकार एक सन्त ने किसी राजा को उपदेश किया था कि यदि तुम दीनता और गरीबी में स्थित रहोगे तो वह तुम्हारे लिये राज्य से भी बढ़कर होगी। इसपर राजा ने कहा कि आपने यह बात बहुत उत्तम कही है, पर इसके सिवा कुछ और भी उपदेश कीजिये। सन्त ने कहा, "जिस पुरुष का चित्त धन

पाकर विरक्त रहे, महत्ता पाकर विनम्र रहे और सौन्दर्य पाकर भी कामादि विकारों से शून्य रहे, उसे भगवान् के दरबार में सदाचारी माना जाता है।" राजा ने इस उपदेश को सुनकर कागज पर लिख लिया। सन्त सुलेमान अपने राज्यकाल में ऐसा आचरण करते थे कि धनवानों के साथ तो बहुत कम बातचीत करते, किन्तु गरीबों की गोष्ठी में जा बैठते थे और कहते थे कि ये लोग भी गरीब हैं और मैं भी अनाथ और गरीब हूँ। सन्त हसन बसरी का कथन है कि जब अपनी अपेक्षा सभी मनुष्य श्रेष्ठ जान पड़ें तब समझना चाहिये कि इसमें नम्रता के चिह्न प्रकट हुए हैं। संत मलिक दीनार ने कहा था कि यदि कोई पुरुष सभा में आकर कहे कि यहाँ जो सबसे निम्न कोटि का पुरुष हो वह बाहर आ जाय, तो सबसे पहले मैं ही उठूँगा, क्योंकि मैं अपने को अत्यन्त अधम और नीच समझता हूँ। यह बात जब सन्त मुबारिक ने सुनी तो वे कहने लगे कि इस गरीबी के कारण ही मलिक दीनार की विशेषता प्रसिद्ध है। कहते हैं, एक बार किसी ने संत शिबली के पास आकर पूछा कि आप अपने को क्या समझते हैं? तो उन्होंने कहा कि अक्षरों के ऊपर जो बिन्दु होती है मैं अपने को उससे भी हल्का समझता हूँ। यही बात जब सन्त जुनैद ने सुनी तो वे कहने लगे कि प्रभु उनके अहंकार को दूर करें तो अच्छा हो, वे अब भी अपने को कुछ समझते तो हैं, अभी वे पूर्णतया अहंकारशून्य नहीं हुए।

एक बार एक भगवत्प्रेमी ने संत अली से कहा था कि मुझे कुछ उपदेश कीजिये। तब उन्होंने कहा कि यदि कोई पुरुष धनवान् होकर भी विनीत हो तो यह उसकी बहुत बड़ी सुन्दरता है। किन्तु यदि कोई निर्धन पुरुष केवल भगवान् का ही आश्रय लेकर धनवानों के अधीन न हो तो यह उससे भी बड़ी सुन्दरता है। एक और संत का कथन है कि जब कोई उत्तम पुरुष वैराग्यवान् होता

है तब वह गरीबी और दीनता धारण करता है और यदि कोई नीच पुरुष विरक्त होता है तो वह अभिमानी हो जाता है। संत बायजीद का कथन है कि जबतक यह पुरुष अपने से किसी को नीचा समझता है तबतक यह निःसन्देह अभिमानी है। संत जुनैद ने एक बार अपनी सत्संग गोष्ठी में कहा था कि यदि मैंने यह बात न सुनी होती कि कलियुग में नीच पुरुष ही उपदेश करनेवाले और मुखिया होंगे तो मैं सभा में कभी उपदेश न करता। इसके सिवा उन्होंने यह भी कहा कि ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में तो अपने को दीन जानना भी अहंकार ही है। तात्पर्य यह कि दीन जानना भी अपने को कुछ सत्ता देना ही है, अहंकारहीन पुरुष तो अपने को कुछ भी नहीं समझते। एक जिज्ञासु की ऐसी स्थिति थी कि जब अन्धकार छा जाता, बिजली चमकती अथवा कोई और उत्पात होता तो वे हा-हाकार करके अपना सिर पीटने लगते थे और कहते थे कि मेरे ही पापों के कारण जीवों को यह कष्ट प्राप्त हो रहा है। एक बार कुछ लोग संत सुलेमान के पास आकर उनकी प्रशंसा करने लगे। तब उन्होंने कहा, "वीर्य हमारा आदि है और अन्त में हम शवमात्र रह जायँगे तथा उसके पश्चात् हमें परलोक में तरह-तरह की यातनाएँ और दण्ड भोगने होंगे। सो, यदि इस कष्ट से हम मुक्त हो सकें तब तो हमारी विशेषता है, नहीं तो हम अत्यन्त नीचों से भी नीच हैं।"

(अभिमान का स्वरूप और उसके दोष)

यद्यपि अभिमान की उत्पत्ति पहले हृदय में ही होती है, किन्तु फिर इसका प्रभाव सभी अङ्गों पर प्रकट होने लगता है। अभिमान का स्वरूप है—और लोगों से अपने को विशेष समझना और अपनी महत्ता प्रकट करना। जब किसी के हृदय में यह महत्ता की वायु चलने लगती है तब उसके कारण उसे एक प्रकार का

हर्ष होता है। इसी को अभिमान भी कहते हैं। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि अभिमान की वायु के वेग से भगवान् ही रक्षा करें, क्योंकि जिसके चित्त में अभिमान का प्रवेश होता है वह अपने से अन्य मनुष्यों को नीचा समझने लगता है। वह समझता है कि सब मनुष्य मेरे दासों के समान हैं और मैं इनका स्वामी हूँ। तथा जिनमें अभिमान की अधिकता होती है वे तो ऐसा समझते हैं कि ये लोग मेरीसेवा के भी अधिकारी नहीं हैं। वे उनसे कहते हैं कि भला, तुम मेरी सेवा और टहल के अधिकारी कैसे हो सकते हो। जैसे राजालोग हर किसी को अपने सिंहासन के आगे दण्डवत् भी नहीं करने देते तथा पत्र में किसी-किसी को अपना दास लिखने में भी संकोच करते हैं। वे सोचते हैं कि यह पुरुष भला हमारी सेवा का अधिकारी कब हो सकता है। जो कोई ऐश्वर्यवान् पुरुष होता है उसे ही अपने समीप आने देते हैं और उसी से कुछ बातचीत भी करते हैं; अन्य सब लोगों पर तो माथा ही सिकोड़ते रहते हैं। उनको अभिमान इतना बढ़ जाता है कि वे अपना ऐश्वर्य भगवान् से भी बढ़कर देखना चाहते हैं। भगवान् सम्पूर्ण ईश्वरों के ईश्वर हैं; किन्तु वे सभी जीवों पर दयादृष्टि रखते हैं, सभी की प्रार्थना सुनते हैं और उसे स्वीकार भी करते हैं। अभिमानी पुरुष ऐसा नहीं करता। उसका ऐश्वर्य बहुत बढ़ा-चढ़ा न हो, तो भी वह सबसे आगे चलना चाहता है, सबसे ऊँचा बैठना चाहता है और सब मनुष्यों से आदर एवं सम्मान पाने की अभिलाषा रखता है। यदि उसे कोई यथार्थ उपदेश करता है तो भी वह उसे स्वीकार नहीं करता, उल्टा क्रोधित हो जाता है। और जब स्वयं किसी को उपदेश करता है तब क्रोध और आवेश से भरे शब्द बोलता है तथा सब मनुष्यों को पशुवत् समझता है।

एक बार किसी ने महापुरुष से पूछा था कि अभिमानी पुरुष का

क्या लक्षण है ? तब उन्होंने कहा कि जो पुरुष यथार्थ वचन के आगे अपना सिर न झुकावे तथा सब जीवों से ग्लानि करे उसे अभिमानी कहते हैं। ये दोनों स्वभाव जीव और ईश्वर के बीच में बड़े पर्दे के समान हैं, क्योंकि इन्हीं से सब प्रकार के कुलक्षण उत्पन्न होते हैं और मनुष्य सब प्रकार के गुणों की प्राप्ति से वञ्चित रह जाता है। जिस पुरुष के चित्त में महत्ता और अभिमान का वेग होता है वह किसी को अपना समकक्ष देखना नहीं चाहता और किसी के भी सामने सिर नहीं झुकाता। किन्तु ये भगवद्भक्तों के चिह्न नहीं हैं, क्योंकि ऐसा पुरुष न तो ईर्ष्या के कारण अपने क्रोध को ही शान्त कर सकता है और न निन्दा एवं कपट आदि दूषित स्वभावों से ही बच सकता है। ऐसे पुरुष का जब कोई आदर नहीं करता तो उसके हृदय में क्रोध की गाँठ दृढ़ हो जाती है और वह सर्वदा अपनी श्रेष्ठता एवं उन्नता को ही प्रकट करता रहता है; इसलिये झूठ, कपट और दम्भ के चंगुल में फँस जाता है। वह सब प्रकार अपना बड़प्पन रखना चाहता है, इसलिये यदि कोई उसके दर्शनों के लिये नहीं आता तो उसकी प्रसन्नता जाती रहती है। इसीसे वह न तो इस लोक में सुखी रहता है और न परलोक में ही सुख पाता है, क्योंकि जबतक यह पुरुष अपने को भूल नहीं जाता तबतक इसे धर्म की गन्ध भी प्राप्त नहीं होती। इसीसे एक संत ने कहा है कि यदि तुम आत्मसुख की सुगन्ध सूँघना चाहते हो तो सब मनुष्यों के प्रति दैन्य और दासभाव को स्वीकार करो।

यदि कोई विचारपूर्वक देखे तो उसे यह बात स्पष्ट मालूम होगी कि जब दो अभिमानी पुरुषों का परस्पर समागम होता है तब उनमें दुर्गन्ध ही फैलती है, उनके हृदय कुत्तों की तरह दुःखदायी हो जाते हैं और वे स्त्रियों की तरह अपने बनाव-ठनाव में लग जाते हैं। दो भगवत्प्रेमियों के मिलने पर उनमें आपस में

जिस रहस्य और प्रसन्नता का उन्मेष होता है वह अभिमानी पुरुष को कभी प्राप्त नहीं होतीं। अतः जब तुम किसी भगवद्भक्त को देखो तब सबसे अच्छी बात यही है कि अपने आपे को खोकर उसी से अभिन्न हो जाओ और सर्वथा दासभाव स्वीकार कर लो। तात्पर्य यह है कि या तो तुम उसकी महत्ता में समाप्त हो जाओ या वही तुम्हारे में लीन हो जाय। इस प्रकार दोनों में भेद कुछ भी न रहे और दोनों अभिन्न होकर श्रीभगवान् में लीन हो जायँ, फिर अपने-आपकी कुछ भी स्फुरणा न रहे। इसी प्रकार तुम परम-सुख प्राप्त कर सकोगे। इसी का नाम पूर्ण एकता है और यही परमानन्द है। जबतक अभिमान बना रहने से द्वैत की निवृत्ति नहीं होती तबतक यह पुरुष एकता का सुख कभी प्राप्त नहीं कर सकता। अभिमान के स्वरूप और उसके दोषों का इसी प्रकार वर्णन किया गया है।

(अभिमान की विभिन्न अवस्थाएँ)

अभिमान की एक अवस्था अत्यन्त स्पष्ट और बढ़ी-चढ़ी होती है तथा दूसरी उसकी अपेक्षा क्षीण होती है। कोई पुरुष तो ऐसे अभिमानी होते हैं कि अपने से भिन्न कोई दूसरा ईश्वर ही नहीं मानते, जैसे फरऊन और नमरूद ऐसे भगवद्विरोधी थे कि अपने ही को भगवान् कहलाते थे।* उनका ऐसा विचार था कि यदि कोई अन्य भगवान् होता तो प्रत्यक्ष दिखायी देता। ऐसा है नहीं, इसलिये हम ही भगवान् हैं। तब हम भजन किसका करें। यह अभिमान अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा है, क्योंकि सभी देवता, आचार्य और संतजन तो अपने को भगवान् मानते नहीं, वे तो अपने को प्रभु का दास समझकर ही उनकी सेवा में तत्पर रहते हैं। अतः यह अभिमान अत्यन्त निन्दनीय है।

* भारतवर्ष में हिरण्यकशिपु, रावण, वेन और कंस आदि इसी कोटि के थे।

जो दूसरे प्रकार के अभिमानी हैं वे यद्यपि ऐसा मानते हैं कि हम भगवान् के उत्पन्न किये हुए हैं, पर तो भी वे संतजनों को तुच्छ समझते हैं और कहते हैं कि अमुक संत की जाति नीच है, उसका कुल नीच है, अतः हम उसके आगे कैसे सिर झुका सकते हैं। वे समझते हैं कि हमारी तरह संतजन भी देहधारी हैं, इसलिये खान-पान आदि व्यवहारों में बँधे हुए हैं। अतः हमें इनका दास बनना उचित नहीं। ऐसे मनुष्य भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो वे जो अभिमान का पर्दा पड़ा होने के कारण सन्तजनों की कोई विशेषता नहीं समझते और विचारहीन भी होते हैं। जैसे प्रभु ने कहा है कि अभिमानी मनुष्यों को यथार्थ ज्ञान का मार्ग कभी नहीं खुलता। इसीसे वे सन्तजनों के लक्षण पहचान भी नहीं सकते। तथा दूसरे वे हैं जो यद्यपि अपने हृदय में सन्तों की महत्ता को समझते हैं तो भी उनका दासभाव ग्रहण नहीं कर सकते। सो, यह उनकी बुद्धिहीनता ही है।

अभिमान की तीसरी अवस्था में वे लोग हैं जो यद्यपि संतों को तो अपने से श्रेष्ठ समझते हैं, पर और जीवों के आगे अपनी श्रेष्ठता प्रकट करते हैं तथा उन्हें ग्लानि की दृष्टि से देखते हैं, इस लिये वे किसी के यथार्थ वचन भी स्वीकार नहीं कर सकते और अपने ही को सबसे बड़ा समझते हैं। यह अवस्था यद्यपि अभिमान की पहली दो अवस्थाओं की अपेक्षा कुछ क्षीण है, तथापि दो कारणों से यह भी बहुत मोटा पर्दा है और अत्यन्त दुःखों की खानि है। उनमें पहला कारण तो यह है कि सब प्रकार के ऐश्वर्य और महत्ता के स्थान तो श्री भगवान् ही हैं, यह मनुष्य तो अत्यन्त दीन और पराधीन है, इसे महत्व का अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है? ऐसी स्थिति में यदि यह अभिमानवश अपने को कुछ समर्थ समझता है तो इससे यही जान पड़ता है कि यह भगवान् का भागीदार बनना चाहता है। यह ऐसी ही बात है जैसे किसी चक्र-

वर्ती सम्राट् का सेवक अपने प्रभु के राजसिंहासन पर जा बैठे और अपने सिर पर भी छत्र धारण कर चँवर डुराना चाहे। ऐसी स्थिति में, तुम विचार कर देखो कि वह टहलुआ कैसे दण्ड का अधिकारी होगा। प्रभु कहते हैं कि समर्थता और महत्ता तो मुझे ही शोभा देती हैं, क्योंकि मैं किसी के अधीन नहीं हूँ। परन्तु यदि कोई पुरुष पराधीन होकर भी मेरा भागीदार होना चाहता है तो उसे मैं तत्काल नष्ट कर देता हूँ। इससे निश्चय होता है कि जीव को उत्पन्न करनेवाले प्रभु के सिवा और किसी जीव को किसी दूसरे जीव के प्रति अभिमान नहीं करना चाहिये।

इसके सिवा दूसरा कारण यह है कि अभिमान के कारण मनुष्य को यथार्थ वचन भी स्वीकार करना कठिन हो जाता है। इसी से जब दो पुरुष धर्ममार्ग के विषय में प्रश्नोत्तर करते हैं तब उनमें से एक व्यक्ति सत्य वचन भी कहता हो तो भी अभिमान-वश दूसरा उसे स्वीकार नहीं करता। वह समझता है कि इससे मेरी मानहानि होगी। सो, यह मनमुखों और कपटियों का ही लक्षण है, क्योंकि यदि उससे कहा जाय कि तुम भगवान् से नहीं डरते और यथार्थ बात को भी अस्वीकार करते हो, तो भी अभि-मानवश वह अपने मिथ्या दुराग्रह को छोड़ नहीं सकता, उसी को ठीक मानता है। इसीसे वह महापापी है। इस विषय में सन्त इब्न मसऊद कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति इस मनुष्य से कहे कि तू भगवान् का भय कर और यह कहने लगे कि तुम मुझे क्यों डराते हो, तुम्हें तो अपना ही कार्य करना चाहिये, तो ऐसा कहना भी महापाप होगा। याद रखो, शैतान को जो धिक्कार हुई थी, और जिसका वृतान्त कि भगवान् के वचनों में आया है उसका तात्पर्य भी यही है कि तुझे अभिमान के दोष स्पष्ट मालूम हो जायँ। वह प्रसंग इस प्रकार है कि जब शैतान को भगवान् की आज्ञा हुई कि

तू, आदम* को सिर झुका तो उसने कहा कि मैं तेजस्तत्त्व से उत्पन्न हुआ हूँ और आदम पृथ्वीतत्व से, अतः मैं इसके आगे सिर क्यों झुकाऊँ, तो इस अभिमान ने ही उसे भगवान् से विमुख कर दिया। उसने भगवान की आज्ञा न मानी—आदम को सिर नहीं झुकाया। इसी से भगवान् ने उसे धिक्कारा और वह सदा के लिये उनसे दूर पड़ गया।

(अभिमान के कारण)

जब यह मनुष्य अपने में कोई ऐसा गुण देखता है जो इसे दूसरों में दिखायी नहीं देता तो उसी के कारण यह अभिमान करने लगता है। इस अभिमान की उत्पत्ति के सात कारण हैं। उनमें पहला कारण तो विद्या है, क्योंकि विद्वान् पुरुष जब अपने को विद्याविभूपित और दूसरों को विद्याहीन देखता है तो उन्हें पशु के समान समझने लगता है। इस प्रकार उस पर अभिमान का अधिकार हो जाता है। अभिमान की प्रबलता का लक्षण यह है कि वह लोगों से सेवा-पूजा और मान-बड़ाई की आशा रखने लगता है और यदि वे ऐसा नहीं करते तो आश्चर्य करने लगता है। किसी के घर आतिथ्यसत्कार ग्रहण करता है तो उसके ऊपर अपना बड़ा उपकार मानता है। ऐसा समझता है कि मैं भगवान् के समीपवर्ती हूँ तथा मुक्तस्वरूप हूँ किन्तु दूसरे लोग ऐसे नहीं हैं, अतः ये मेरी सेवा-पूजन करेंगे तो मेरी प्रसन्नता से इनका नरक से उद्धार हो जायगा। महापुरुष का कथन है कि यह विद्या भी निःसन्देह अभिमान का कारण है, अतः विचारदृष्टि से तो ऐसे विद्वान् को मूर्ख कहना ही अच्छा है। जो सच्चे बुद्धिमान् हैं उनकी दृष्टि में तो उसी को विद्वान् कहना चाहिये जो परलोक के

---

* वैदिक सिद्धान्त के अनुसार जैसे स्वायम्भुव मनु प्रथम मानव हैं, वैसे ही मुस्लिम सिद्धान्त के अनुसार आदम प्रथम मानव हैं।

मार्ग की कठिनाई को जाने और उससे डरता रहे। जो इस भेद को समझ लेता है यह सर्वदा विकारों से बचा रहता है और अपनी बलहीनता को देखकर भयभीत भी रहता है। वह तो समझता है कि यह विद्या तो परलोक में मुझे अधिक ताड़ना दिलानेवाली होगी, क्योंकि जब किसी जानकार आदमी से कोई काम बिगड़ता है तो अनजान की अपेक्षा उसे अधिक दण्ड दिया जाता है। इसलिये ऐसा समझनेवाला पुरुष कभी अभिमानग्रस्त नहीं होता।

विद्वान् को जो अभिमान बढ़ता है उसके निम्नलिखित दो कारण हैं:—

१. ये लोग निवृत्ति मार्ग की विद्या का अभ्यास नहीं करते। निवृत्ति मार्ग की विद्या वह है जिसके द्वारा भगवान् और अपने को पहिचाना जाता है तथा उसीसे अपने और भगवान् के बीचमें जो पर्दा है उसका पता लगता है। इसलिये यह विद्या भगवान् के प्रति प्रेम और दैन्य को बढ़ानेवाली है तथा अभिमानको नष्ट कर देती है। किन्तु यदि कोई वैद्यक, ज्यौतिष, व्याकरण और कोष आदि का ही अध्ययन करे, अथवा आपसके मतभेदसम्बन्धी वाद-विवाद में लगा रहे तो ऐसी विद्याओं से तो उसे अवश्य अभिमान उत्पन्न हो जायगा। इसके सिवा ये विद्याएँ अधिक दिन ठहरनेवाली भी नहीं हैं, क्योंकि ये स्थूल हैं और स्थूलता को ही पुष्ट करनेवाली हैं। इसी से जीव के हृदय में परलोक का भय उत्पन्न नहीं करतीं और भय के बिना हृदय अन्धा हो जाता है। इसी कोटि में इतिहास और काव्य आदि अन्य विद्याएँ भी हैं। लोग यद्यपि इन विद्याओं के दोषों को नहीं जानते, किन्तु यदि तुम विचारकर देखोगे तो स्पष्ट मालूम होगा कि ये सभी विद्याएँ अभिमान की

मूल हैं तथा ईर्ष्या और वैर को बढ़ानेवाली हैं। इसी से इनके कारण हृदय में प्रेम का अंकुर प्रस्फुटित नहीं होता तथा मान-बड़ाई का वायु बढ़ने लगता है।

२. जो लोग निवृत्ति मार्गीय विद्या पढ़ते हैं और धर्ममार्ग की सूक्ष्मता को भी समझते हैं, उनका भी यदि उद्देश्य पहले ही से मलिन होता है तो वे ऐसी विद्या पढ़कर भी अभिमानी हो जाते हैं, क्योंकि ऐसे पुरुषों का विचार विद्या पढ़कर भी आचरण करने का नहीं होता, वे अपनी महत्ता स्थापित करने के लिये ही इस विद्या का भी अध्ययन करते हैं। अतः उनका सारा पुरुषार्थ परमार्थसम्बन्धी बातचीत करने तक ही रहता है। यद्यपि यह विद्या निर्मल है तथापि उसके मलिन संकल्प का संसर्ग पाकर यह मलिन होजाती है। जैसे कोई पुरुष अत्यन्त रोगी हो तो पहले प्रयत्नपूर्वक उसके शरीर की सफाई करनी होगी। यदि ऐसा किये बिना आरम्भ से ही ओषधि दी जायगी तो वह भी रोग ही का स्वभाव ग्रहण कर लेगी। अथवा जैसे मेघोंद्वारा आकाश से निर्मल जल ही बरसता है, किन्तु यदि वह कड़वी ओषधियों में जाता है तो उनकी कटुता ही बढ़ाता है और यदि ईख आदि मीठी खेती में पहुँचता है तो उनका मिठास ही बढ़ता है। इसी प्रकार यदि काँटेवाले वृक्षों में जाता है तो उनके काँटों की वृद्धि करता है और कमल आदि फूलों में जाता है तो उनकी सुगन्ध बढ़ाता है। इसी विषय में महापुरुष ने कहा है कि कलियुग में कोई लोग ऐसे होंगे जो यद्यपि रात-दिन निवृत्ति-शास्त्रों का ही पाठ करेंगे तथापि उनके समीप कोई जा नहीं सकेगा, क्योंकि वे सर्वदा ऐसी ही बातें करेंगे कि हमारे समान कौन पाठ कर सकता है और ऐसा कौन है जो हमारी तरह समस्त

भगवद्वचनों का तात्पर्य समझ सके। परन्तु वास्तव में ये लोग नरकों के ही ईंधन होंगे। संत उमर ने कहा है कि धर्मशून्य विद्वान् मत बनो, क्योंकि आचरण के बिना विद्या का कोई लाभ नहीं होता। उससे केवल अभिमान ही बढ़ता है। इसी से पहले जो महापुरुष के भक्त हुए हैं उन्होंने दीनता ही धारण की है और सर्वदा अभिमान से डरते रहे हैं। एक बार हदी नामक संत को सब लोग मिल कर एक विशेष स्थान पर बैठाने लगे। तब उन्होंने कहा कि मुझे इस स्थान पर बैठाना उचित नहीं है, क्योंकि इतने ही आदर से मेरे मन में ऐसा संकल्प होने लगा है कि मैं अन्य मनुष्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ। तात्पर्य यह है कि जब ऐसे उत्तम मनुष्य भी अभिमानयुक्त संकल्प से छुटकारा नहीं पा सके तब अल्पबुद्धि जीव उससे कैसे मुक्त हो सकते हैं? ऐसे समय में अभिमानशून्य पण्डित तो मिल ही कहाँ सकते हैं? ऐसा तो कोई विरला ही विद्वान् होता है जो अभिमान की मलिनता को पहिचानकर उसे त्याग सके। हाँ, ऐसे तो बहुत पण्डित मिलते हैं जो अभिमान को ही अपनी विशेषता समझते हैं, और कहने लगते हैं कि मैं भला, अमुक पुरुष को क्या समझता हूँ, मैं तो उस की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। इसीलिये वे सर्वदा इस अभिमान में हीं बँधे रहते हैं। जिन विद्वानों ने ऐसे मलिन स्वभावों की नीचता को अच्छी तरह पहिचाना है उनका तो दर्शन ही उत्तम कोटि का भजन है। उनकी प्रसन्नता से ही जीव का कल्याण हो जाता है।

अभिमान का दूसरा कारण तप और वैराग्य है। विरक्त, तपस्वी और संसार के संसर्ग से दूर रहनेवालों के लिये भी अभिमानशून्य होना बहुत कठिन है। वे समझते हैं कि अन्य सब जीवों

का कल्याण तो हमारे दर्शन और सेवा करने में ही है । इसलिये दूसरे जीवों पर वे अपना बड़ा उपकार समझते हैं। अथवा ऐसा मानते हैं कि गृहस्थ और धन-सम्पत्ति रखनेवाले लोग तो सभी डूबे हुए हैं; बस, एक हम ही मुक्त हैं। यदि किसी से इन्हें कुछ कष्ट पहुँच जाय और फिर दैवयोग से उसे भी कष्ट उठाना पड़े तो ये समझते हैं कि इस पर यह विपत्ति हमारी शक्ति और सिद्धि के प्रभाव से ही आयी है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जो पुरुष अभिमानवश दूसरों को नष्ट हुआ समझता है वह निःसन्देह स्वयं ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि किसी के प्रति दोषदृष्टि करना ही महापाप है। यदि कोई पुरुष भगवान् की प्रसन्नता के लिये इसकी सेवा-पूजा करे और इसे प्रसन्न करना चाहे, तथा यह अभिमानवश उसका निरादर कर दे, तो ऐसी स्थिति में यह आशंका रहती है कि कहीं प्रभु इसकी विशेषता उसी व्यक्ति को न दे डालें और यह अभिमानी अपने पुण्यकर्मों के फल से वञ्चित ही न रह जाय।

इस विषय में एक गाथा भी है। कहते हैं, किसी नगर के समीप एक बहुत बड़ा तपस्वी रहता था और उसी नगर में एक अपकर्मी भी था। वह तपस्वी ऐसा शक्तिशाली था कि उसके सिर पर सर्वदा मेघ छाया किये रहते थे। एक दिन वह अपकर्मी अत्यन्त विनीत होकर उसके समीप आया और उसे एक पहुँचा हुआ संत समझकर ऐसा विचार करने लगा कि इस तपस्वी की संगति से मैं भी पापमुक्त हो जाऊँगा। इधर तपस्वी ने विचार किया कि मेरे समान तो कोई तपस्वी नहीं है और इसके बराबर कोई दुराचारी नहीं है, इसलिये यह मेरे सत्संग का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः उसने उस पुरुष को अपने समीप बैठने दिया और अनेकों कठोर वचन कहकर उसका निरादर किया। बस, जब वह पुरुष अत्यन्त दीन और संकुचित होकर वहाँ से चला तो उस तपस्वी के सिर पर

से मेघों की छाया जाती रही। उस समय एक महापुरुष को आकाशवाणी हुई कि अभिमान के कारण इस तपस्वी का सारा जप-तप व्यर्थ हो गया है और शुद्ध भावना के कारण इस दुराचारी के सारे पाप वहीं नष्ट हो गये। अतः तुम मेरा यही सन्देश दोनों पुरुषों को पहुँचा दो, जिससे कि तपस्वी का अभिमान और दुराचारी की दुराशा निवृत्त हो जायँ।

इसके सिवा, एक अन्य गाथा भी है। दैवयोग से एक तपस्वी के सिर में किसी पुरुष का पैर लग गया। तब वह कुपित होकर कहने लगा कि भगवान् की शपथ है, तुम्हारे इस अपराध को प्रभु क्षमा नहीं करेंगे। तब आकाशवाणी हुई कि अरे तपस्वी! तू मेरे क्षमा करने न करने के विषय में निःशंक होकर शपथ कर रहा है, इसलिये मैं भी अपनी शपथ करके कहता हूँ कि मैं तेरा यह अपराध कभी क्षमा नहीं करूँगा और दयावश उस अपराधी के सब पाप क्षमा कर दूँगा। तात्पर्य यह कि यदि तपस्वी को किसी पुरुष से कोई कष्ट पहुँचता है तो वह यही मानने लगता है कि प्रभु इसके अपराध को क्षमा नहीं करेंगे और इसी से क्रोध भी करने लगता है तथा उसे शाप भी दे बैठता है। परन्तु यह है उसकी मूर्खता ही, क्योंकि पूर्व काल में अनेकों नास्तिकों ने तपस्वियों को कष्ट पहुँचाया है और इससे उन्हें कुछ भी कष्ट प्राप्त नहीं हुआ। कभी-कभी तो उलटा उनका मन शुभ मार्ग में ही लग गया है। परन्तु ये मूर्ख तपस्वी अभिमानवश अपने को बड़ा समझते हैं। इसी से जब ये अपने किसी विरोधी पर कुपित होते हैं तो कहने लगते हैं कि मेरा तिरस्कार करने के कारण तेरा धर्म, धन और कुल भी नष्ट हो जायँगे। अथवा यदि वह अकस्मात् विपत्ति में पड़ा दिखायी देता है तो समझते हैं कि मेरे कोप से ही इसकी ऐसी दुर्दशा हुई है।

किन्तु ऐसी अवस्था तो मूर्ख तपस्वियों की ही होती है, जो

बुद्धिमान् विरक्तजन हैं उनका लक्षण तो यह है कि जब वे किसी को दुःखी देखते हैं तो समझते हैं कि इसे यह कष्ट हमारे ही पापों के कारण प्राप्त हुआ है। तात्पर्य यह कि जिज्ञासुजन विरक्त होने पर भी धर्म का भय मानते हैं। और जो बुद्धिहीन तपस्वी होते हैं वे यद्यपि शरीर से शुभ कर्मों का अनुष्ठान करते रहते हैं, तो भी उनका हृदय भीतर से मलिन रहता है और वे उस मलिनता से डरते नहीं हैं। परन्तु यदि यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो जो पुरुष किसी भी प्रकार अपने को विशेष समझता है वह निःसन्देह अपने तप और भजन के फल को नष्ट कर देता है, क्योंकि अभिमान से बढ़कर और कोई पाप नहीं है। इस विषय में एक गाथा भी है। एक बार महापुरुष के भक्त किसी पुरुष की प्रशंसा कर रहे थे। किन्तु जब महापुरुष ने उसे देखा तो वे कहने लगे कि मुझे इस में दम्भ के चिह्न दिखायी देते हैं। यह सुनकर प्रशंसा करनेवाले भक्तों को बड़ा विस्मय हुआ। तब महापुरुष ने उस पुरुष को अपने पास बुलाकर पूछा कि तुम अपने को अन्य पुरुषों की अपेक्षा विशेष मानते हो या नहीं? उसने कहा कि हाँ, मैं अपने को औरों से विशेष समझता हूँ। महापुरुष ने अपने आन्तरिक प्रकाश से उसमें यह अभिमान का चिह्न प्रत्यक्ष देख लिया था, किन्तु दूसरे लोग उसे ठीक-ठीक नहीं पहिचान सके।

इस प्रकार यह अभिमानरूपी दोष तपस्वी और विद्वानों में निःसन्देह अधिक होता है। इसमें भी मनुष्यों की तीन प्रकार की अवस्थाएँ होती है—

१. कुछ मनुष्य तो ऐसे होते हैं जो यद्यपि हृदय से तो अभिमानशून्य नहीं हो सकते तथापि प्रयत्न करके दीनता और गरीबी अंगीकार करते हैं और कर्म करते हुए भी दास भाव ग्रहण किये रहते हैं। इसलिये व्यवहार और वाणीके द्वारा उनमें किसी प्रकार अभिमान दिखायी नहीं देता। वे उस

पुरुष के समान हैं जो किसी वृक्ष को मूलसे तो उखाड़ नहीं पाता, किंतु उसकी शाखा और डालियाँ सब काट देता है। ऐसा करने से उसे बलवान् तो कह ही सकते हैं।

२. दूसरे वे लोग हैं जो मुँह से तो अपनी बढ़ाई नहीं करते, बल्कि सब प्रकार अपने को तुच्छ ही प्रकट करते हैं, परन्तु उनके कर्मों में उनका अभिमान स्पष्ट भासता है, जैसे किसी विशेष स्थान पर ही बैठना और सबसे आगे रहकर चलना अथवा किसी की ओर दृष्टि न उठानी और भ्रुकुटि चढ़ाये रहना। यह सब अभिमान के ही लक्षण हैं। इन लोगों को इतनी समझ नहीं होती कि विद्या और आचरण भ्रुकुटि चढ़ाने में नहीं हैं, ये तो हृदय से सम्बन्ध रखनेवाले धर्म हैं और इनका प्रकाश सभी इन्द्रियों में व्याप्त हो जाता है। वे दास भाव, दीनता और सर्वभूतदया के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। इसी से महापुरुष यद्यपि विद्या और वैराग्य में सभी मनुष्यों से बढ़कर थे, परन्तु उनके समान नम्र और कोमल स्वभाव किसी भी व्यक्ति में नहीं पाया जाता। वे सभी जीवों की ओर प्रसन्नता और दया की दृष्टि से देखते थे और सदा ही अपना मस्तिष्क खुला रखते थे। इसी से भगवान् ने भी उनकी प्रशंसा की थी कि तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त कोमल है और तुम प्रसन्नवदन भी हो। इसलिये कोई भी व्यक्ति तुमसे भयभीत होकर दूर भागना नहीं चाहता।

३. तीसरे मनुष्य वे हैं जो अपने ही मुख से अपनी बड़ाई करते हैं तथा अपनी सिद्धियों और विलक्षण अवस्थाओं का भी बखान करते रहते हैं। वे कहने लगते हैं कि अमुक तपस्वी क्या है ? मैं तो सर्वदा दिन में व्रत रखता हूँ, इतने पाठ करता हूँ तथा रात्रि में जागरण करता रहता हूँ। वे

यदि किसी को भजन करते देखते हैं तो स्वयं उससे बढ़कर ही रहना चाहते हैं। ऐसी बात विद्वान् लोग भी कहा करते हैं कि अमुक पुरुष ऐसा क्या विद्या पढ़ा है ? हम तो इतनी विद्या जानते हैं। ये लोग जब प्रश्नोत्तर होता है तो सर्वदा दूसरों को दबाना ही चाहते हैं। स्वयं झूठ कहते हों तब भी अपनी बात को छोड़ना नहीं चाहते। सभा में बड़ी चतुराई से नयी-नयी बातें कहते हैं तथा अपनी महत्ता प्रकट करना चाहते हैं। इस प्रकार के ये सभी तपस्वी और विद्वान् कब अभिमानशून्य हो सकते हैं ?

किन्तु जिन्होंने अभिमान को स्पष्टतया निन्दनीय जाना है वे तो प्रीति और नम्रता में ही स्थित रहते हैं। प्रभु ने भी कहा है कि जब तुम अपने को तुच्छ समझोगे तभी मेरी दृष्टि में तुम्हारी महत्ता होगी, जब तक तुम अपने को श्रेष्ठ समझते हो तबतक तो मेरी दृष्टि में अत्यन्त नीच हो। जिसने इस रहस्य को नहीं समझा वह विद्वान होनेपर भी मूर्ख ही है।

अभिमान का तीसरा कारण उत्तम कुल है; जैसे ब्राह्मण और उत्तम पुरुषों की जो सन्तान होती है वह यदि विरक्त और विद्वानों को भी देखे तो भी अभिमानवश अपने सेवक ही समझती है। यदि उस समय वह अपने अभिमान को प्रकट न भी करे, तो भी क्रोध के आनेपर तो वह स्वयं ही प्रकट हो जाता है। एक बार एक संत ने क्रोध में भरकर किसी से 'दासी पुत्र' कह डाला। तब उसने कहा कि भगवान् की दृष्टि में दासीपुत्र और रानीपुत्र में कोई श्रेष्ठता-निकृष्टता नहीं है, इसलिये आप अभिमान न करें। यह बात सुनकर संत उसके घर गये और उसके पैरों में सिर रखकर अपना अपराध क्षमा कराया। इस प्रकार जब उन्होंने अभिमान की बात को निन्दनीय समझा तभी तो ऐसी नम्रता धारण

की। इसी तरह एक बार दो आदमी महापुरुष के पास ही विवाद करने लगे कि मैं तो अमुक का पुत्र और अमुक का पौत्र हूँ, तू मेरी अपेक्षा नीच है, फिर भी मेरे आगे मुँह खोलने की धृष्टता कर रहा है। इस प्रकार उनमें से एक व्यक्ति अपनी नौ पीढ़ियां तक का वर्णन कर गया। तब महापुरुष को आकाशवाणी हुई कि इसके नौ पुरुखा तो पहले ही नरकाग्नि में जल रहे हैं, अब यह उनके पास जाकर और जलेगा। अतः इसे समझा दो, यह तना अभिमान क्यों करता है ? यदि यह कुल का अभिमान करेगा तो विष्ठा के कीड़े की तरह अत्यन्त नीच गति को प्राप्त होगा।

अभिमान का चौथा कारण रूप है। यह रूप और शृंगार बनाने की प्रवृत्ति स्त्रियों में अधिक होती है। जैसे एक बार महा-पुरुष की स्त्री आयशाने किसी अन्य स्त्री के लिये कहा था कि यह बौनी है। इससे उसका यह अभिमान प्रकट होता है कि मेरा शरीर ठीक है।

पाँचवाँ कारण धन है, क्योंकि जब कोई धनी आदमी किसी निर्धन व्यक्ति पर कुपित होता है तो कहने लगता है कि मेरे पास इतना धन और वैभव है, तू अत्यन्त तुच्छ मेरे सामने क्या चीज है जो बोलने का साहस करता है। मैं चाहूँ तो तेरे-जैसे कितने ही दास खरीद सकता हूँ।

छठा कारण बल है। बलवान् पुरुष भी अपनी अपेक्षा निर्बलों को देखकर अवश्य अभिमानग्रस्त हो जाता है।

अभिमान का सातवाँ कारण प्रभुता है; जैसे अपने आश्रित सम्बन्धियों, विद्यार्थियों, सेवकों और दासों के प्रति भी मनुष्य अभिमानी हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस पदार्थ को विशेष समझता है उसी को पाकर अभिमानी हो जाता है। वह पदार्थ भले ही तुच्छ

हो, किन्तु अपनी समझ में उसे ऊँचा समझता है तो उसी से अपना महत्त्व मानने लगता है, जैसे नपुंसक लोग अपनी निर्लज्जता पर ही अभिमान करते हैं। परन्तु अभिमान की उत्पत्ति के प्रधान कारण ये सात ही हैं। अभिमान का प्राकट्य प्रायः ईर्ष्या या वैरभाव के कारण ही होता है। कभी-कभी दम्भ के वशीभूत होकर भी यह मनुष्य अपनी विशेषता प्रदर्शित करने लगता है। वाद-विवाद में भी अभिमान के चिह्न स्पष्ट भासने लगते हैं। किन्तु जब तुमने अभिमान के कारणों को अच्छी तरह पहचान लिया तो इनकी निवृत्ति के उपाय भी अवश्य समझ लेने चाहिये, क्यों कि रोग के कारणों को पहचान कर उन्हें दूर करने से ही रोग की निवृत्ति होती है।

(अभिमान की निवृत्ति के उपाय)

इस अभिमान का अंशमात्र भी जीव को आत्मसुख से वञ्चित कर देता है, इसलिये इस रोग की निवृत्ति का उपाय करना बहुत आवश्यक है। यह रोग ऐसा प्रबल है कि कोई विरला पुरुष ही इसकी व्यथा से छुटकारा पाता है। इसकी निवृत्ति के उपाय भी दो प्रकार के हैं। उनमें एक उपाय तो ऐसा है जो मूल ही से सब प्रकार के अभिमान को नष्ट कर देता है और दूसरा ऐसा है कि जिसमें अभिमान के कारणों का पृथक्-पृथक् विचार करके उन्हें निवृत्त करना होता है। ये दोनों उपाय समझ और आचरण का संयोग होनेपर ही सिद्ध होते हैं।

इन में पहला उपाय तो यह है कि प्रभु के ऐश्वर्य को पहचाने और ऐसा जाने कि महत्त्व के अधिकारी तो एकमात्र भगवान् ही हैं। तथा अपने को ऐसा समझे कि मेरे समान नीच, मलिन, पराधीन और बुद्धिहीन कोई नहीं है। यह उपाय ऐसा श्रेष्ठ है कि मूल से ही अभिमान के रोग को नष्ट कर देता है। इस जीव

की तुच्छता को पहचानने के लिये एक ही वाक्य पर्याप्त है। भगवान् कहते हैं कि इस मनुष्य का आदि वीर्य है। इस वचन का तात्पर्य यह समझना चाहिये कि मनुष्यदेह के समान घृणित वस्तु कोई नहीं है, क्योंकि आरम्भ में तो इसका कोई नाम-रूप ही प्रकट नहीं था। फिर रज और वीर्य से, जो भूमि और जल के विकार हैं, इसके शरीर की उत्पत्ति हुई। यदि विचारकर देखा जाय तो इन रज और वीर्य के समान तो कोई भी वस्तु घृणित नहीं है। इसके पश्चात् एक मांसपिण्ड का आकार प्रकट होता है, जिसमें, आँख, कान और बुद्धि आदि कुछ भी नहीं होते। इस प्रकार चैतन्य का कोई चिह्न न होने से वह पत्थर के समान जड-रूप ही भासता है। और जो स्वयं ही जड हो वह किसी भी पदार्थ को कैसे पहचान सकता है। इसीसे भगवान् ने अपने ही सामर्थ्य से उस मांसपिण्ड को सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और बुद्धि प्रदान कीं। यह बात तो स्पष्ट ही है कि बुद्धि और इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति पृथ्वी और जल का धर्म नहीं है, ये सब आश्चर्य तो भगवान् के ही उत्पन्न किये हुए हैं, जिससे कि यह मनुष्य भगवान् के ज्ञान और बल को पहचान सके। भगवान् ने इसे ऐसा बल और ऐसे अंग अभिमान के लिये तो दिये नहीं हैं। यही इस मनुष्य की आरम्भिक अवस्था है। यदि विचारकर देखें तो यह अवस्था जीव को लज्जित करनेवाली ही है, इसमें अभिमान के लिये तो कहीं अवकाश नहीं है।

मनुष्य की मध्यम अवस्था का विचार करें तो वह ऐसी है कि यद्यपि यह सम्पूर्ण गुण और सम्पूर्ण इन्द्रियों से सम्पन्न होकर संसार में आया है, तो भी अत्यन्त दीन और पराधीन है। यदि संसार में आकर यह अपनी इच्छा के अनुसार आचरण कर सकता तब भी इसे अभिमान करने का अधिकार हो सकता था। यह तो भ्रम से ही ऐसा समझता है कि मैं स्वयं ही उत्पन्न हुआ हूँ। किन्तु

इसके ऊपर तो भूख, प्यास, शीत, उष्ण, दुःख, चिन्ता आदि अनेकों विघ्नों का अधिकार है, जिनके दुःख से इसे एक क्षण भी छुटकारा नहीं मिलता। ये सभी कष्ट ऐसे हैं कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसके सिवा जब इसे कोई रोग हो जाता है तब उसकी निवृत्ति कड़वी दवा पीने से ही होती है और रोगों की उत्पत्ति शरीर के भोगों से होती है। इसलिये यदि कोई मनुष्य अपनी वासनाओं के अनुसार सुख भोगता है तो अवश्य दुःखी हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इस जीव का कोई कार्य इसकी इच्छा के अनुसार नहीं रचा गया। यहाँ तक कि जब यह किसी बात को जानना चाहता है तो जान नहीं सकता और भुलाना चाहता है तो भुलाने में भी समर्थ नहीं होता। इससे निश्चय होता है कि यद्यपि यह मनुष्य सम्पूर्ण अंग और शक्तियों से सम्पन्न रचा गया है, तो भी अत्यन्त दीन, पराधीन और तुच्छ है।

तथा इसकी अन्तिम अवस्था ऐसी है कि जब यह मर जाता है तो इसमें नेत्र, श्रवण, बल और रूप आदि कोई भी गुण नहीं रहते। बस, अत्यन्त घृणित शवमात्र रह जाता है, जिसे देखकर सभी को ग्लानि होती है। इस पर भी केवल इतने ही दुःख से इसे छुटकारा नहीं मिलता, क्योंकि जब यह परलोक में जाता है तो वहाँ अनेक प्रकार के भयानक रूप देखता है। फिर यह दण्ड का अधिकारी ठहराया जाता है और अपने जीवनकाल में किये हुए दुष्कर्मों को देखकर लज्जित होता है। जब देवता लोग इससे पूछते हैं कि तूने अमुक आहार, अमुक आचरण अथवा अमुक संकल्प क्यों किया था? तो उनके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर न दे सकने के कारण यह झूठा सिद्ध होता है और घोर नरकों में डाल दिया जाता है। तब तो यह ऐसा कहने लगता है कि इससे तो मैं कुत्ता, सूअर, या मिट्टी बनता तो अच्छा होता, क्योंकि इन्हें परलोक का दण्ड तो नहीं भोगना पड़ता। अतः जिस पुरुष ने अपने को इस प्रकार जड़

पदार्थ और पशुओं से भी गया-गुजरा समझा है वह महत्ता और अभिमान के पंजे में कैसे फँस सकता है ? यह मनुष्य तो इतना गिरा हुआ है कि यदि आकाश में उड़नेवाले पृथ्वी के परमाणु भी इसकी नीचता और पापों को पहचानकर रोने लगें तो भी उनका अन्त नहीं आ सकता। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई कोतवाल किसी चोर को पकड़ कर बन्दीगृह में डाल दे और उस चोर के चित्त में शूलीपर चढ़ने का भय हो; तो ऐसी अवस्था में वह अभिमान कैसे कर सकता है ? इसी प्रकार ये सब लोग पापरूपी चोरी करते रहते हैं और संसार रूपी बन्दीगृह में बँधे पड़े हैं । तथा नरकों का भय ही शूली पर चढ़ने के समान है। सो, जिस पुरुष ने इस रहस्य को अच्छी तरह समझा है उसका यह ज्ञान ही अभिमानरूपी रोग को मूल से नष्ट कर डालता है, क्यों कि ऐसा मनुष्य अपने को सबसे नीचा समझता है ।

यह तो हुआ समझद्वारा अभिमाननिवृत्ति का उपाय। आचरण के द्वारा इसकी निवृत्ति इस प्रकार हो सकती है कि मन, वचन और कर्मद्वारा दास भाव को ग्रहण करे, क्योंकि भगवद्भजन का तात्पर्य तो नम्रता और दीनता ही है। जैसे अरब के लोग किसी के आगे सिर नहीं झुकाते थे, इसलिये उनके लिये महापुरुष ने पृथ्वी पर माथा टेकने का आदेश दिया। अतः जिज्ञासु पुरुष को उचित है कि वह यदि कोई अभिमान के अनुरूप आचरण करता हो तो उससे विपरीत प्रकार का व्यवहार करे। यह अभिमानरूपी रोग ऐसा प्रबल है कि नेत्र, जिह्वा, वस्त्र और शरीर के सभी अंगों में प्रकट हो जाता है। अतः जिज्ञासु को उचित है कि प्रयत्नपूर्वक सभी अंगों में दास भाव ग्रहण करे। जैसे मानी पुरुष अकेला नहीं चल सकता, यह उसके अभिमान का ही चिह्न है; अतः विनयशील पुरुष को ऐसा आचरण नहीं करना चाहिये। इसीसे संत हसन बसरी किसी को भी अपने पीछे नहीं चलने देते थे। और

कहा करते थे कि लोगों के आगे चलने से इस जीव का मन ठिकाने पर नहीं रहता। इसी प्रकार संत अबू दरदा ने भी कहा है कि जितना इस मनुष्य का लोगों के साथ अधिक मेल-मिलाप होता है उतना ही यह भगवान् के मिलाप से दूर पड़ जाता है। इसीसे जब महापुरुष मार्ग में चलते थे तो कभी अपने भक्तों के बीच में रहते और कभी उन्हें आगे रखकर स्वयं सबसे पीछे रहते थे। इसके सिवा यदि लोग उनके उठने से पहले खड़े हो जाते तो इससे भी उन्हें बड़ी ग्लानि होती थी और वे ऐसा करने से लोगों को रोकते भी थे। इस विषय में संत अलीने भी कहा है कि यदि कोई नरक जानेवाले मनुष्य को देखना चाहे तो उसे देखे जो स्वयं तो बैठा हो और दूसरे लोग उसके सामने खड़े हों।

अभिमान का एक चिह्न यह भी है कि अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ पुरुष के भी दर्शनों के लिये न जाय और दीन पुरुष को अपने पास न बैठने दे। इसीसे महापुरुष सभी लोगों से बड़े भावपूर्वक मिलते थे और यदि कोई रोगी पुरुष अपवित्र होता था तो उसे अपने पास बैठाकर भोजन कराते थे। इसके सिवा अभिमानी पुरुष अपने-आप अपना निजी काम भी नहीं कर सकता। महापुरुष तो स्वयं ही अपने घर का सब काम कर लेते थे। इस विषय में एक गाथा भी है। एक बार एक भगवद्भक्त राजा के घर उसका कोई मित्र आया। रात्रि के समय जब दीपक बुझने लगा तो उस मित्र ने उसमें तेल डालने का विचार किया। तब राजा ने उसे रोकते हुए कहा, "आप बैठे रहिये, आप तो हमारे अतिथि हैं, इसलिये आपसे टहल करानी ठीक नहीं।" मित्र ने कहा, "तो क्या सेवक को जगा दूँ?" राजा बोला, "नहीं, वह अभी सोया है।" ऐसा कहकर राजा उठा और उसने स्वयं ही दीपक में तेल डाला। इस पर मित्र कहने लगा, "आपको स्वयं ही उठना पड़ा।" राजा बोला, "मैं जब बैठा था तब भी वही था और अब भी वही हूँ।

इससे मेरा कुछ गया तो नहीं है।" इसीसे भक्त अबू हरेरा यद्यपि राज्य करते थे, तो भी जीविका के लिये बाजार में लकड़ियों का बोझ बेच लेते थे।

अभिमानी मनुष्यों का एक स्वभाव यह भी होता है कि वे सुन्दर वस्त्र पहिने बिना घर से बाहर नहीं निकलते। किन्तु भगवद्भक्त अली राजकार्य करते समय भी छोटा जामा ही पहिनते थे। तब किसी ने उनसे कहा, "आप इतनी कृपणता क्यों करते हैं?" वे बोला, "इससे मेरा चित्त भी प्रसन्न रहता है और ऐसा देखकर दूसरे जिज्ञासुजन भी संयम में रहेंगे। तथा निर्धन पुरुषों को संकुचित होने का अवसर भी नहीं मिलेगा।" इसी प्रकार एक और भगवद्भक्त राजा थे। वे जब राजकुमार थे तब एक हजार रुपये की पोशाक पहनते थे, किन्तु जब राज्य करने लगे तो दो रुपये का एक मोटा-सा वस्त्र पहनकर रहने लगे। वे कहते थे कि यदि इससे भी मोटा पहना जाय तो और भी अच्छा हो। तब किसी पुरुष ने उनसे पूछा कि पहले तो आप सुन्दर वस्त्रों की बड़ी अभिलाषा रखते थे, अब इतना मोटा क्यों पहनने लगे? उन्होंने कहा, "भगवान् ने मेरा चित्त रसग्राही बनाया है, अतः यह जहाँ कुछ सुख देखता है उसी ओर दौड़ने लगता है।" अर्थात् पहले यह स्थूल भोगों को ही बड़ा समझकर उनसे प्रेम करता था और अब यह सच्चे सुख की अभिलाषा करता है। किन्तु सर्वथा ऐसा भी नहीं कह सकते कि सुन्दर वस्त्रों को पहनने से ही अभिमान होता है। कितने ही लोग तो पुराने वस्त्र पहनने से ही अभिमान करते हैं और अपने को बड़ा विरक्त समझते हैं। इसी से महापुरुष ईसा ने कहा है कि पुराने वस्त्र पहनने से ही वैराग्य प्राप्त नहीं होता। यदि तुम्हारा हृदय भगवान् के भय से कोमल हो तो उजले वस्त्र पहनने में भी कोई दोष नहीं है।

तात्पर्य यह है कि जिस मनुष्य को दीनता और नम्रता की

इच्छा हो वह महापुरुषों के आचरणों का भली प्रकार अध्ययन करे और उनकी नम्रता को पहचानकर स्वयं भी उसे अङ्गीकार करे। महापुरुष का भी ऐसा ही स्वभाव था। वे स्वयं ही अपने वस्त्र सीते थे और घर में झाड़ू आदि लगाने का काम भी स्वयं ही करते थे। यदि उनका सेवक थक जाता था तो उसके अंग दबा देते थे तथा धनी-निर्धन, बालक-वृद्ध जिसे भी देखते पहले ही प्रणाम कर लेते थे। ऊँच-नीच अथवा सुन्दर-असुन्दर में उनका कोई भेद-भाव नहीं था। यदि कोई भी उनसे भावपूर्वक प्रसाद पाने के लिये कहता था तो उसकी थोड़ी-बहुत वस्तु बिना किसी प्रकार की ग्लानि किये खा लेते थे। इस प्रकार वे अत्यन्त नम्र, उदार प्रसन्नवदन और चाञ्चल्यशून्य थे। भगवान् का भय मानकर वे बड़े संकुचित रहते थे, उनके मस्तिस्क में कभी कठोरता नहीं आती थी तथा वे बिना प्रयोजन ही अधीनचित्त रहते थे। वे बड़े संयमी और उदार थे, सब पर दया करते थे और सर्वदा अपना सिर झुकाये रखते थे। अतः जो पुरुष अपना कल्याण चाहे वह महापुरुष के आचरण का अनुकरण करे।

यहाँ तक अभिमान की निवृत्ति के पहले उपाय का वर्णन किया गया, जिसके द्वारा अभिमान का समूल उच्छेद किया जा सकता है। अब दूसरे उपाय का वर्णन किया जाता है, जिसमें अभिमान के पृथक्-पृथक् कारणों का अनुसन्धान करके उन्हें निवृत किया जाता है। अतः सबसे पहले अपने अभिमान के कारण की खोज करनी चाहिये। यदि उत्तम कुल के कारण अभिमान होता हो तो ऐसा समझे कि मेरा कुल तो रज और वीर्य है, क्योंकि इन्हीं से इस शरीर की उत्पत्ति हुई है। अतः रज इसकी माता है, वीर्य पिता है और मिट्टी पितामह है। ये सभी पदार्थ अत्यन्त अपवित्र और तुच्छ हैं। इसलिये विचारवान् पुरुष को इन्हीं बातों का विचार करके अपने कुलाभिमान को निवृत करना चाहिये। देखो, नाई या

कुम्हार का बालक जब अपने कुलपरम्परागत निकृष्ट व्यापारों को देखता है तो उसे उनके कारण कभी अभिमान नहीं होता। इसी प्रकार केवल रज और वीर्य की सन्तान होकर भी यह मनुष्य क्यों अभिमान करता है ? यह ऐसी ही बात है जैसे कोई पुरुष झूठ-मूठ अपने को ब्राह्मण कहलाता है, किन्तु दो साक्षी आकर कह दें कि यह तो नाई का लड़का है। इस प्रकार सच्ची बात खुल जानेपर उसे कैसी लज्जा होगी। इसी प्रकार जो अपने शरीर की उत्पत्ति का वृत्तान्त अच्छी तरह जान लेता है, उसे कभी अभिमान नहीं हो सकता।

अभिमान का दूसरा कारण रूप है। अतः जिस मनुष्य को अपने रूप का अभिमान हो उसे उचित है कि अपने शरीर की मलिनता को पहिचाने। शरीर के सारे अंग दुर्गन्ध से पूर्ण हैं और यह शरीर इतना मलिन है कि मनुष्य को दिन में दो बार इसकी सफाई करनी पड़ती है। जिस मलिनता को देखने और सूँघने की भी इसमें शक्ति नहीं है उसी के आश्रित इसका यह रूप है। इसकी उत्पत्ति भी रज और वीर्य से हुई है। एक बार संत ताऊस ने किसी पुरुष को अकड़ कर चलते देखा, तब वे उससे कहने लगे कि जिस मनुष्य ने अपने उदर की मलिनता को पहचाना है वह इस प्रकार मटक-मटक कर नहीं चल सकता। यह शरीर तो मल-मूत्र के स्थान से भी अधिक गन्दा है और उन स्थानों में जो गन्दगी है वह भी इसी की गंदगी के कारण है। इसके सिवा जिस रूप का यह अभिमान करता है वह इसका स्वयं बनाया हुआ तो है नहीं और न यह उसे कुरूप ही कर सकता है। अतः कुरूप या सुरूप के कारण इसका ग्लानि या अभिमान करना व्यर्थ है। यह रूप है भी ऐसा क्षणभङ्गुर कि एक ही रोग या फोड़े-फुन्सी से बिगड़ जाता है। अतः इसका अभिमान करना बड़ी मूर्खता की बात है।

जब बल के कारण अभिमान हो तब ऐसा विचार करना चाहिये कि इस शरीर की एक नाड़ी में भी पीड़ा होती है तो यह अत्यन्त निर्बल हो जाता है तथा मक्खी, मच्छर और चीटी के काटने से भी अपने को बचा नहीं पाता। यदि यह अच्छा बलवान् भी हो तो भी हाथी, बैल, ऊँट और गधे में इसकी अपेक्षा अधिक शक्ति होती है। फिर ऐसी तुच्छ वस्तु का क्या अभिमान करना ?

यदि इसे धन दास-दासी अथवा राज्य का अभिमान हो तो ये सब चीजें तो शरीर से अलग हैं। इसके सिवा धनादि को तो चोर भी चुरा ले सकते हैं तथा राज्य भी एक क्षण में नष्ट हो सकता है। यदि इनमें आसक्ति होगी तो इनका विछोह होनेपर कैसी दीनता प्राप्त होगी। कितने ही तो भगवद्विमुख भी बहुत अधिक धनी और राजा तक होते हैं। अतः ऐसे धन या राज्य का क्या अभिमान किया जाय ? क्योंकि जितने भी पदार्थ तुमसे भिन्न हैं वे वास्तव में तुम्हारे नहीं हो सकते। इसलिये तुम जिन-जिन पदार्थों का भी अभिमान करते हो वे सभी मिथ्या हैं।

किन्तु एक दृष्टि से देखा जाय तो इस मनुष्य को विद्या और तप के अभिमान का अधिकार हो सकता है, क्योंकि स्थूल दृष्टि से स्पष्ट ही ये दोनों गुण इसी के पुरुषार्थ के परिणाम हैं और हैं भी ऐसे उत्तम कि जीव को भगवान् की सन्निधि प्राप्त करा देते हैं। ये तो साक्षात् भगवान् के ही लक्षण हैं। अतः यह बहुत कठिन बात है कि विद्वान् होकर भी कोई अभिमानरहित रहे। इस अभिमान की निवृत्ति दो प्रकार से हो सकती है—

१. ऐसा निश्चय जाने कि परलोक में विद्वान् के लिये अधिक बन्धन और भय है, क्योंकि जब अनजान पुरुष से कोई काम बिगड़ जाता है तो उसे इतनी ताड़ना नहीं दी जाती, जानकार को ही अधिक दण्ड होता है। अतः आचरण-हीन विद्वान् के लिये जो निषेधवाक्य आये हैं उनका

विचार करे। भगवान् कहते हैं कि आचरणहीन विद्वान् गधे के समान है, जो पुस्तकों का बोझा तो ढोता है, किन्तु उनकी विशेषता कुछ नहीं जानता। अथवा उसे कुत्ते के समान समझना चाहिये, क्योंकि वह अपने मलिन स्वभाव को त्याग नहीं पाता। भला, गधे और कुत्ते से भी नीच और कौन है? यदि विद्या पाकर भी मनुष्य परलोक के दुःख से मुक्त न हो तब तो जड़ पदार्थ भी इससे अच्छे हैं। इसीसे कितने ही भगवद्भक्तों ने कहा है कि हम पक्षी, मृग अथवा घास होते और परलोक के दुःख से छूट जाते तो अच्छा होता। तात्पर्य यह है कि जिसके हृदय में परलोक का भय रहता है उसे स्वभाव से ही अभिमान नहीं होता। इसलिये यदि वह किसी अनजान पुरुष को देखता है तब ऐसा समझता है कि यह मुझसे अच्छा है, क्योंकि इसे तो पापों की बुराई का ठीक-ठीक पता ही नहीं है, इसलिये इसे विशेष ताड़ना नहीं मिलेगी। और जब किसी विशेष विद्वान् को देखता है तब समझता है कि यह मुझसे बड़ा है, क्योंकि जिस रहस्य को यह समझता है उसका मुझे पता नहीं है। इसी प्रकार जब वृद्ध को देखता है तब समझता है कि इसने मेरी अपेक्षा भजन अधिक किया होगा और जब बालक को देखता है तब सोचता है कि इसने मेरी अपेक्षा पाप कम किये होंगे। इसलिये ऐसा पुरुष दुराचारी को देखकर भी अभिमान नहीं करता, क्योंकि वह सोचता है, ऐसा होना भी कोई आश्चर्य नहीं है कि अन्त समय में यह सदाचारी हो जाय और मैं दुराचारी हो जाऊँ।

२. ऐसा विचार करे कि यह महत्ता प्रभु को ही शोभा देती है और उन समर्थ प्रभु से इसमें साझा बाँटना बड़ी

मूर्खता की बात है। इसीसे भगवान् ने सब जीवों को आज्ञा की है कि जब तुम अपने को तुच्छ समझोगे तब मेरी दृष्टि में श्रेष्ठ होंगे। इसीसे सब संत विनम्र और दीनचित्त हुए हैं। इस प्रकार की समझ से ही उनका अभिमान निवृत्त हुआ है।

तपस्वी को भी उचित है कि यदि कोई विद्वान् उसे वैराग्य-हीन जान पड़े तो उससे घृणा न करे। ऐसा समझे कि इसके पास जो उत्तम विद्या है, आश्चर्य नहीं, उसी के कारण भगवान् इसे क्षमा कर दें। इसी प्रकार जब किसी विद्याहीन को देखे तो ऐसा समझे कि मुझे इसकी स्थिति का क्या पता है ? सम्भव है, यह मेरी अपेक्षा अधिक भजननिष्ठ हो। ऐसी स्थिति में इसके आगे मेरा अभिमान करना किस प्रकार उचित हो सकता है ? और जब किसी अपकर्मी को देखे तो यह समझे कि यह तो प्रकट रूप से पाप करता है, मेरे तो चित्त में अनेकों पापसंकल्प उत्पन्न होते रहते हैं। तथा यह बात निःसन्देह है कि जिसके चित्त में तो पापों का चिन्तन हो, किन्तु ऊपर से अपने को निष्पाप प्रदर्शित करे वह पुरुष प्रकट पाप करनेवाले की अपेक्षा निकृष्ट है। इसके सिवा कोई पाप तो ऐसा बलवान होता है कि वह अकेला ही सम्पूर्ण जप-तप को नष्ट कर देता है, और कोई गुण भी ऐसा प्रबल होता है कि वह अनेकों पापों को ध्वंस कर देता है। तात्पर्य यह कि ठीक-ठीक विचार किया जाय तो अभिमान करना मूर्खता ही है। इसीसे महापुरुष, संतजन और बुद्धिमान् लोग अभिमानशून्य थे।

(अहंकार की निषिद्धता और उसके दोष)

याद रखो, अहंकार सम्पूर्ण विघ्न और अशुभ कर्मों का बीज है। महापुरुष कहते हैं कि इस जीव के तीन स्वभाव अत्यन्त दुःखदायी हैं—१. कृपणता, २. वासना की प्रबलता और ३. अहं-

कार। एक बार महापुरुष ने अपने भक्तों से कहा था कि यद्यपि तुम पाप नहीं करते तो भी मुझे भय है कि तुम अहंकारी न हो जाओ। यदि ऐसा हुआ तो तुम्हारा घोर अधःपतन होगा, क्योंकि अहंकार सभी पापों से बुरा है। संत इब्न मसऊद ने कहा है कि जब यह पुरुष भगवान की दया का आश्रय छोड़ देता है तो अपने पर दृष्टि रखकर अहंकारी होकर भगवान् से विमुख हो जाता है। क्योंकि अहंकारी और निराश पुरुष के हृदय से प्रीति और पुरुषार्थ विदा जाते हैं। एक और संत का कथन है कि यदि मैं सारी रात जगकर भजन करूँ और प्रातःकाल उठकर अहंकार करने लगूँ तो यह अच्छा है कि मैं रातभर सोता रहूँ और सवेरे अधीनचित्त एवं लज्जित होकर उठूँ।

अब तुम इस बात पर ध्यान दो कि अहंकार से कितने दोष उत्पन्न हो जाते हैं। पहला दोष तो अभिमान है, जिसके कारण मनुष्य अपने को सबसे श्रेष्ठ समझता है। तथा अपने अवगुणों को नहीं पहिचानता, प्रत्युत समझता है कि मैं तो मुक्तस्वरूप हूँ। इसके सिवा भगवद्भजन में आलस्य करने लगता है और यदि कुछ जप-तप भी करता है तो भी उसके विघ्नों को नहीं विचारता, इसलिये भगवान् का भय छोड़ बैठता है। समझता है कि मैं भगवान् की दृष्टि में भी औरों की अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ। यह भजन-स्मरण यद्यपि भगवान् की देन है तो भी यह इसे अपना पुरुषार्थ समझता है। अहंकार के कारण किसी से कोई बात पूछ भी नहीं सकता तथा यदि इससे कोई यथार्थ बात कहता है तो भी अहंकारवश उसे स्वीकार नहीं करता। इसलिये मूर्ख और नीच ही रहता है।

(अहंकार का स्वरूप)

विद्या और शुभकर्मों के जितने भी गुण हैं वे सब श्रीभगवान् की ही देन हैं। जो पुरुष इन गुणों को पाकर दाता की ओर दृष्टि

रखता है और अपने को कुछ नहीं समझता वह अहंकारशून्य रहता है, और जो किसी गुण को पाकर उसे अपना पुरुषार्थ समझता है तथा उसके कारण हर्षित होता है वह अहंकारी है। यदि कोई पुरुष अपने आचरण को विशेष समझकर किसी पद को प्राप्त करना चाहे और अपने को उत्तम अधिकारी समझे उसे भ्रम में समझना चाहिये। भ्रम के कारण ही वह कुछ का कुछ समझता है। यथार्थ विषय को नहीं जान पाता। महापुरुष का तो कथन है कि यदि तुम प्रीतिपूर्वक रुदन करो और फिर उसका अहंकार करने लगो, तो इससे तो यह अच्छा है कि हँसते हुए अपना समय व्यतीत करो और उसके कारण जो अवज्ञा हो उसे उदासीन होकर देखते रहो, क्योंकि अहंकार तो अविद्या का मूल है; इसीके कारण जीव अपने को शरीर, वर्णाश्रमी अथवा कर्मों का कर्ता मानता है। अतः यह अहंकार ही जीव और ईश्वर के बीच का पर्दा है।

(अहंकार उत्पन्न न होने का उपाय)

अहंकाररूपी रोग का कारण केवल अज्ञान है, अतः इसकी उत्पत्ति न होने का उपाय केवल ज्ञान और समझ है। यदि कोई पुरुष रात-दिन ज्ञान-वैराग्य में ही तत्पर रहे और अपनी इस करतूत का अभिमान करे तो मैं उससे यह कहूँगा कि तुम जो अपने को कर्ता समझकर अहंकार करते हो, सो ध्यान रखो तुम्हारा यह कर्म तुम्हारे पुरुषार्थ के अधीन नहीं है, तुम्हें तो प्रभु ने इस कर्म में अपना यन्त्र बनाया है, जैसे लेखक के हाथ में लेखनी अथवा दर्जी के हाथ में सुई होती है। लिखना और सीना लेखनी या सुई के कर्म नहीं कहे जा सकते, क्योंकि वे तो परतन्त्र हैं। यदि तुम कहो कि नहीं, इन कर्मों का कर्ता तो मैं ही हूँ, क्योंकि ये मेरी श्रद्धा और भक्ति से ही सम्पन्न होते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि जिन श्रद्धा और शक्ति से ये कर्म सिद्ध होते हैं उन्हें तुम कहाँ

से लाये ? इसके सिवा जिस इच्छा और प्रयत्न के अधीन होकर तुम कर्मों में लगते हो, उस इच्छा की प्रेरणा भी तुम्हारे भीतर किसने की तथा तुम्हारे गले में श्रद्धारूपी रस्सी डालकर तुम्हें किसने इस कर्म में लगाया। याद रखो, यह इच्छा और श्रद्धा ही प्रभु के दूत हैं। उनके द्वारा जिस पुरुष को प्रभु की जैसी आज्ञा होती है उसे वह किसी प्रकार बदल नहीं सकता। इससे निश्चय हुआ कि श्रद्धा, पुरुषार्थ एवं और भी जितने गुण हैं वे सब भगवान् की ही देन हैं; तुम जो किसी गुण का अहंकार करते हो यह तुम्हारी बड़ी मूर्खता है, क्योंकि तुम्हारे बल से कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। अतः तुम्हें किसी गुण का अभिमान करना उचित नहीं।

इसके सिवा जब तुम प्रसन्न होओ तब भी प्रभु का उपकार मानकर ही प्रसन्न और आश्चर्यचकित होना उचित है, क्योंकि बहुत लोगों को तो उन्होंने धर्ममार्ग से ऐसा अचेत कर दिया है कि उनकी सारी शक्ति अपकर्मों में ही लगती है और तुम्हें उन्होंने दया करके सात्त्विकी श्रद्धारूप अपने दूत से प्रेरित किया है। अतः तुम्हें जो बलात्कार से वे अपनी ओर खींच रहे हैं यह उन्हींका उपकार है; जैसे यदि कोई राजा अपने सेवक को अकारण कृपा करके पारितोषिक और नाना प्रकार के पदार्थ दे तो उसे अपने स्वामी का ही उपकार मानना चाहिये, अपनी सफलता पर अभिमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसे यह उपहार बिना इसका अधिकार प्राप्त हुए ही मिला है। यदि वह सेवक कहे कि राजा ने मुझे अधिकारी समझकर ही वह उपहार दिया है तो उससे पूछना चाहिये कि तुम्हें यह अधिकार किसने दिया। वास्तव में अधिकार और उपहार दोनों राजा की ही देन हैं। जैसे राजा पहले तुम्हें घोड़ा दे और फिर घोड़े के लिये साईस भी दे और इससे तुम यह अहंकार करने लगो कि मुझे साईस इसलिये प्राप्त

हुआ, कि मैं घोड़ा रखता था तो यह तुम्हारी मूर्खता ही होगी, क्योंकि तुम्हें घोड़ा भी उसी ने दिया था और साईस भी उसी की देन है। अतः तुम व्यर्थ ही अहंकार करते हो। इस प्रकार यदि यह पुरुष इसलिये अहंकार करे कि भगवान् ने मुझे भजन का बल इसलिये दिया है कि मैं उनसे अत्यन्त प्रेम रखता था तो उससे पूछना चाहिये कि तुम्हारे हृदय में वह प्रेम किसने उत्पन्न किया था? फिर यदि वह कहे कि मैं भगवान् के स्वरूप को अच्छी तरह पहचानता था, इसी से उनके प्रति मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न हुआ था, तो उससे पूछना चाहिये कि वह पहचान और समझ तुझे किसने दी थी। तात्पर्य यह कि जब सब गुणों को देने-वाले भगवान् ही हैं तब सब प्रकार उन्हींका उपकार मानना उचित है, क्योंकि तुम्हें भी उन्हींने उत्पन्न किया है।

इसके सिवा श्रद्धा और पुरुषार्थ आदि गुण भी तुम्हारे भीतर उन्हींने उत्पन्न किये हैं। इसलिये तुम स्वयं तो कुछ भी नहीं हो और न तुम्हारे अधीन ही कोई कार्य है। प्रभु के सामर्थ्य के अधीन ही तुम हो। अब यदि तुम यह प्रश्न करो कि जब मैं किसी भी कर्म का कर्ता नहीं हूँ तो मेरे कर्मों से मुझे पुण्य-पाप प्राप्त होते हैं—ऐसा क्यों लिखा है? इससे तो यही जाना जाता है कि कर्म हमारे पुरुषार्थ से ही होते हैं। इसी से हम पुण्य-पाप के अधिकारी भी होते हैं—तो इसका उत्तर यह है कि निःसन्देह तुम स्वयं कुछ भी नहीं हो और भगवान् के सामर्थ्य के ऐसे अधीन हो कि तुम्हारे द्वारा कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। किन्तु जब तुम्हारे हृदय में श्रद्धा, समझ और शक्ति का स्फुरण होता है तब तुम यही समझते हो कि यह कर्म मैंने किया है। इस कथन का रहस्य इतना गम्भीर है कि इस बुद्धि के द्वारा तुम समझ नहीं सकोगे। पर तुम्हारी अल्पबुद्धि के अनुसार मैं उसका कुछ विवे-चन करता हूँ। तुम्हारे सम्पूर्ण कर्मों की कुञ्जी समझ, श्रद्धा

और शक्ति हैं, क्योंकि इनके बिना कोई कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। और ये तीनों भगवान् की देन हैं। यह ऐसी ही बात है जैसे किसी खजाने में अनेक प्रकार के पदार्थ हों, किन्तु तुम्हारे पास उसकी कुञ्जी न हो। जब खजानची कृपा करके तुम्हें कुञ्जी दे तब ताला खोलकर तुम प्रभूत सम्पत्ति प्राप्त कर सको। इस प्रकार यद्यपि उस सम्पत्ति को तुमने अपने ही हाथों से उठाया है तथापि उसकी प्राप्ति में अधिक उपकार कुञ्जी देनेवाले का ही है। उसमें तुम्हारे कर्म का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार सम्पूर्ण कर्मों की कुञ्जी तो प्रभु की ही देन है। अतः तुम्हें सब प्रकार उन्हींका उपकार मानकर प्रसन्न होना चाहिये। उन्हीं प्रभु ने दया करके तुम्हारा अधिकार न होनेपर भी तुमसे शुभ कर्म कराया है और पापी लोगों को इस पुण्यरूप खजाने से वञ्चित रखा है। इसमें उनकी अवज्ञा कारण नहीं, प्रत्युत प्रभु की आज्ञा ने ही उन्हें अशुभ मार्ग में डाल रखा है। इस प्रकार जो प्रभु को ही सबका प्रेरक समझता है वह कभी अहंकारी नहीं हो सकता।

परन्तु कैसे आश्चर्य की बात है कि जब कोई बुद्धिमान् पुरुष निर्धन हो जाता है तब आश्चर्य करने लगता है कि अमुक मूर्ख को तो इतनी सम्पत्ति प्राप्त है और मैं बुद्धिमान् हूँ तब भी मुझे कुछ नहीं मिला। वह यह नहीं समझता कि मेरे पास जो यह विद्या-बुद्धिरूप धन है वह भी तो प्रभु की ही देन है। यदि भगवान् उस मूर्ख धनी को विद्या भी दे देते तो क्या उनके ऐश्वर्य और नीति में कोई अन्तर आ जाता? अतः उस विद्वान् का यह आश्चर्य करना ऐसा ही है जैसे कोई रूपवती स्त्री किसी कुरूपा के पास बहुत-से आभूषण देखकर आश्चर्य करे कि इसे तो कुरूपा होनेपर भी इतने आभूषण मिल गये और मुझे रूपवती होनेपर भी कोई आभूषण नहीं मिला। वह मूर्खतावश यह नहीं सोचती

कि यदि रूप और आभूषण दोनों उस (कुरूपा) को ही मिल जाते तो क्या भगवान् के सामर्थ्य में कोई अन्तर आ जाता ? अथवा जैसे राजा किसी सेवक को तो घोड़ा दे और किसी को दास और इसपर घोड़ा पानेवाला सेवक आश्चर्य करे कि जब घोड़ा मुझे दिया है तो दूसरे सेवक को दास क्यों दिया ? तो उसका ऐसा सोचना मूर्खता ही होगी। इस विषय में एक गाथा भी है। एकबार महात्मा दाऊद को अभिमान हुआ और वे भगवान् से कहने लगे, "प्रभो ! मैं सारी रात आपका भजन करता हूँ और नित्यप्रति दिन में उपवास करता हूँ।" तब उन्हें आकाशवाणी हुई कि तुम्हें ऐसा पुरुषार्थ मेरे सिवा और कहाँ से मिला ? अच्छा, अब एक क्षण के लिये मैं तुम्हें अपनी सहायता से दूर करता हूँ। बस, उसी क्षण उनसे एक ऐसा पाप बना कि उसी के कारण तिरस्कृत और लज्जित होकर वे सारी आयु रोते रहे। ऐसा की अहंकार महात्मा अयूब ने भी किया था कि भगवान् ! कितने ही वर्षों से आपने मुझे जितना कष्ट दिया है उसमें मैं बराबर धैर्य धारण किये रहा हूँ। तब उन्हें भी बड़े भयानक शब्द से आकाशवाणी हुई कि मेरी दया के विना तू इतना धैर्य कहाँ से ले आया ? यह सुनकर अयूबजी बड़े भयभीत हुए और अपने सिर पर धूलि डालकर कहने लगे, "प्रभो ! सब कुछ आपकी दया से ही प्राप्त होता है, अतः मैं इस अहंकार को त्यगता हूँ।" इसी से प्रभु ने कहा है कि यदि मेरी दया न होती तो कोई भी पुरुष शुद्ध पद प्राप्त नहीं कर सकता था। महापुरुष ने भी कहा है कि कोई भी पुरुष अपने पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त नहीं करता। तब किसी ने उनसे पूछा, "क्या आप भी अपने पुरुषार्थ से मुक्त नहीं हुए ?" उन्होंने कहा, "मैं भी भगवान् की दया का ही भरोसा रखता हूँ।" अतः निश्चय हुआ कि जिन्होंने इस रहस्य को अच्छी तरह समझा है वे कभी अहंकारी नहीं होते।

कितने ही लोग तो मूर्खतावश उस वस्तु का अहंकार करते हैं जिसका उनके पुरुषार्थ के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं होता। जैसे बल, रूप और कुल। इनके कारण अहंकार करना तो अत्यन्त मूर्खता है। जो लोग धनी या राजाओं के कुल में उत्पन्न होने का अहंकार करते हैं उनके पिता-पितामहों की परलोक में जैसी दुर्गति होती है उसे यदि ये अहंकारी प्रत्यक्ष देखें तो बड़े ही लज्जित हों। कोई-कोई मूर्ख तो अपने उत्तम कुल के भरोसे कहने लगते हैं कि पाप हमारा स्पर्श ही नहीं कर सकता। वे बुद्धिहीन इतना नहीं समझते कि हमारे पिता-पितामह अवश्य निष्पाप हुए हैं, किन्तु यदि हमने पाप किये हैं तो हमारा-उनका क्या सम्बन्ध रहा ? वे सज्जन तो वैराग्य और नम्रता के कारण ही बड़े माने गये थे, कुछ कुल की श्रेष्ठता के कारण तो उन्हें यह महत्ता प्राप्त हुई नहीं थी। अतः जिन्होंने निन्द्य कर्म स्वीकार किये हैं वे भले ही महापुरुष की सन्तान हों तथापि नरकों के कीड़े होंगे। इसी से महापुरुष ने भी कुल के अभिमान को वर्जित किया है और ऐसा कहा है कि हम सब मनुष्यजाति ही हैं और मनुष्य शरीर का उपादान तो मिट्टी ही है। उन्होंने अपनी पुत्री से कहा था कि बेटी ! तू शुभ मार्ग में तत्पर हो, क्योंकि परलोक में मेरा आश्रय लेने से तू मुक्त नहीं होगी। सो, यद्यपि महापुरुषों के भक्त और सम्बन्धी उनकी दया का आश्रय रखते हैं, किन्तु यदि उनके पापकर्म बहुत अधिक हों तो स्थूल सम्बन्ध का आसरा किस काम आयेगा ? महापुरुष ने कहा है कि मेरा या सन्तजनों का आश्रय लेकर पापों से निःशंक हो जाना ऐसा है जैसे किसी वैद्य का पुत्र रोगी हो और पिता की वैद्यक का महत्त्व मानकर कुपथ्य का त्याग न करे तो यह उसकी अत्यन्त मूर्खता है, क्योंकि जब कुपथ्य करने से रोग असाध्य हो जायगा तो पिता की वैद्यक उसके किस काम आयेगी ? अथवा जैसे धर्मज्ञ राजा से उसका मन्त्री या

प्रधान भी किसी अपराधी के दोष को क्षमा नहीं करा सकता, क्योंकि वह तो स्वयं ही यथायोग्य न्याय करता है, उसी प्रकार यह पाप तो भगवान् का कोप ही है और इसे तुम अल्प समझते हो ! इसलिये जो पुरुष निःशंक होकर पापों में तत्पर रहता है वह किसी भी सम्बन्ध या कुल के आश्रय द्वारा दुःख से नहीं छूट सकता । तात्पर्य यह कि यद्यपि जिज्ञासुओं को सन्तजनों का भरोसा है तो भी भगवान् की ओर से उपेक्षा करने से डरते रहते हैं और जो पुरुष भगवान् से भय मानता है उसके चित में अहंकार का स्फुरण कदापि नहीं हो सकता ।

—:०:—

दसवीं किरण

अज्ञान, भ्रम और छलों का वर्णन तथा उनकी निवृत्ति के उपाय

मनुष्य जो आत्मसुख से वञ्चित रहता है उसका कारण यह है कि वह उस मार्ग में ही नहीं चला है तथा शुभ मार्ग में न चलने का कारण यह है कि उसने उसे जाना ही नहीं है। अथवा यह भी कारण हो सकता है कि वह शुभ मार्ग में चल ही न सका और चलने की असमर्थता का कारण है भोगों का बन्धन, क्योंकि जो पुरुष भोगों में बँधा हुआ है वह अपनी वासनाओं के विपरीत आचरण नहीं कर सकता। तथा शुभ मार्ग से अनजान रहने का कारण है सत्संग का अभाव, क्योंकि जो पुरुष सन्तजनों के वचनों की पहचान और श्रवण नहीं कर पाता वह स्वाभाविक ही अनजान रह जाता है, अथवा भ्रमवश कुमार्ग में चलने लगता है या उसे कोई ऐसा छल हो जाता है जो उसे शुभ मार्ग से गिरा देता है।

ऊपर जो यह कहा गया है कि भोगों का बन्धन इसे शुभ मार्ग में नहीं चलने देता, सो उसका कारण मैं पहले बता चुका हूँ। मान, धन की प्रीति, काम और क्रोध आदि जितने भी मलिन स्वभाव हैं, वे सभी धर्ममार्ग की कठिन घाटियाँ हैं। इसलिये मनुष्य इन्हें पार नहीं कर पाता। अथवा किसी एक घाटी को पार कर भी ले तो दूसरी या तीसरी घाटी में अटक जाता है। किन्तु

जब तक सब घाटियों को पार न करे तब तक परम पद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस जीव के मन्द भाग्यों का कारण जो अज्ञान (अनजानता) बताया गया है वह भी तीन प्रकार का है—

१. केवल अज्ञान या अचेतना। इसी का नाम मूर्खता भी है। अर्थात् सन्तजनों के वचन न सुनने के कारण भले-बुरे की पहिचान न होना। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई व्यक्ति मार्ग में सोया ही पड़ा रहे। उसे जबतक कोई आकर नहीं जगावेगा तबतक वह अपने संगियों के साथ नहीं लग सकता और अकेला ही पड़ा मर जायगा।

२. अज्ञान का दूसरा प्रकार भ्रम है। जैसे कोई पुरुष पूर्व दिशा को जाना चाहे और भूलकर पश्चिम को चला जाय। उसके विषय में यह बात निश्चित है कि वह जितना ही तेजी से दौड़ेगा उतना ही अपने मार्ग से दूर होता जायगा। इसका नाम घोर भ्रम है। और यदि विपरीत दिशा में न जाकर मार्ग के दायें-बायें हो जाय तो उसका नाम क्षीण भ्रम होगा।

३. अज्ञान के तीसरे प्रकार का नाम छल है। यह ऐसी बात है जैसे कोई पुरुष तीर्थयात्रा के लिये चले और मार्ग के खर्च के लिये अपने साथ कुछ सोना-चाँदी ले ले। किन्तु जब मार्ग के किसी नगर में उस धन को दिखावे तो वह खोटा ही निकले। वह पुरुष पहले तो उस धन को खरा समझ कर प्रसन्न होता था, किन्तु अब खोटा निकलने से पश्चाताप करता है तथा तीर्थयात्रा से भी वञ्चित रह जाता है। इसी विषय में प्रभु का कथन है कि जिन लोगों ने इस लोक में जप-तप तो बहुत किया है, किन्तु जिनका हृदय शुद्ध और निष्काम नहीं हुआ वे जब परलोक में

जाकर अपने शुभ कर्मों का कोई फल नहीं देखेंगे तब अत्यन्त पश्चाताप और परम हानि का अनुभव करेंगे। इनकी हानि का कारण ऐसा ही है जैसे किसी पुरुष ने स्वयं तो सराफी सीखी न हो और किसी सराफ को दिखाकर भी सोना-चाँदी न खरीदा हो, तो ऐसा पुरुष जब अपने सोने को कसौटी पर कसेगा तो वह खोटा ही निकलेगा, खरा सोना उसे नहीं मिल सकता। यहाँ विवेक-वैराग्य ही सराफी की विद्या है। अतः जिस पुरुष को विवेक-वैराग्य प्राप्त न हुए हों उसे विवेकीजनों की संगति में रहकर शुभ और अशुभ का भेद पहिचानना चाहिये। और यदि ऐसी संगति मिलनी भी सम्भव न हो तो कसौटी की तरह इस बात को ध्यान में रखे कि जिस भोग में मन की अभिरुचि हो उसे झूठा और खोटा ही समझे। यद्यपि पूर्ण विवेक या विवेकियों की संगति के बिना वैराग्यरूपी कसौटी में छले जाने की आशंका रहती है तथापि अधिकतर तो मन की वासनाओं के विपरीत चलने से सीधे मार्ग पर ही पड़ जाता है।

इस प्रकार मैंने जो यह तीन प्रकार के अज्ञान का वर्णन किया है इसकी निवृत्ति का उपाय भी जिज्ञासुजनों को जानना चाहिये, क्योंकि पहले तो सीधे मार्ग को जानना उचित है और फिर पुरुषार्थपूर्वक उसमें चलना चाहिये। अतः जिस पुरुष को सन्मार्ग की पहिचान और उसमें चलने का पुरुषार्थ प्राप्त हुए हैं उसके परमपद पर पहुँचने में कुछ सन्देह नहीं रहता। इसी से एक महात्मा प्रभु से प्रार्थना किया करते थे कि प्रभो! पहले तो मुझे यथार्थ मार्ग की पहिचान दीजिये और फिर कृपा करके उस कर्म के लिये पुरुषार्थ दीजिये। अतः अब मैं अज्ञाननिवृत्ति के उपायों का वर्णन करता हूँ।

(केवल अज्ञान या मूर्खता का स्वरूप तथा उसकी निवृत्ति का उपाय)

बहुत मनुष्य तो अज्ञान के कारण ही भगवान् से दूर पड़े हुए हैं। अज्ञानी वह है जिसे परलोक के सुख-दुःख का कुछ भी पता न हो, क्योंकि जिसे परलोक के विषय में कुछ ज्ञान हो जाता है वह ऐसे मार्ग में फिर आलस्य नहीं करता। ऐसा पुरुष जब किसी बात में हानि देखता है तो दुःख स्वीकार करके भी उससे दूर रहता है। किन्तु परलोक के सुख-दुःख का ज्ञान संतजनों की बुद्धि के प्रकाश से अथवा उनके वचनों द्वारा हो सकता है। इसके सिवा विद्वानों के वचन सुनकर भी इस जीव को भले-बुरे की पहिचान हो सकती है। यदि कोई पुरुष रास्ते में सोया पड़ा हो तो उसके लक्ष्य तक पहुँचने का उपाय यही है कि कोई जाग्रत् पुरुष उसे जगा दे, तभी वह अपने देश में पहुँच सकता है। यहाँ जाग्रत् पुरुष सन्तजन ही हैं अथवा उनके वचनों को जानने-वाले विद्वान् हैं। प्रभु ने इसी निमित्त से संतजनों को संसार में भेजा है कि वे जीव को अज्ञान-निद्रा से जगा दें और उन्हें यह सुना दें कि भगवान् ने सब जीवों को नरक के किनारे खड़ा किया हुआ है। अतः जो पुरुष अपने मन की वासनाओं के अनुसार स्थूल भोगों में आसक्त रहेगा वह निःसन्देह नरक में गिरेगा और जो मनुष्य अपनी वासनाओं से विपरीत आचरण करेगा वह परम सुख को प्राप्त होगा। अतः निश्चय हुआ कि सारे भोग नरकों में डालनेवाल जंजीरें हैं और परम सुख की प्राप्ति में कठिन घाटी के समान हैं। भगवान् कहते हैं कि मैंने स्वर्ग को दुःखों के साथ लपेटा है और नरकों की अग्नि को इन्द्रिय-जनित भोगों के साथ। परन्तु जितने लोग घन, जंगल और पर्वतों

में रहते हैं वे तो इस अज्ञान-निद्रा में ही सोये पड़े हैं, ॐ क्योंकि उनमें ऐसा विद्वान् कोई नहीं होता जो उन्हें यथार्थ वचनोंद्वारा सचेत करे। इसीसे उनमें धर्ममार्ग में चलने की श्रद्धा ही नहीं होती। इसीसे संतजनों ने कहा है कि विद्वानों की संगति से दूर रहनेवाले लोग ऐसे हैं जैसे श्मशानों में रहनेवाले भूत। नगरों में भी यद्यपि शास्त्रचर्चा सुनानेवाले पण्डित तो रहते हैं, किन्तु वे सकामी और लोभी होते हैं, अतः उनकी बात सुनकर भी अज्ञान निवृत्त नहीं होता, क्योंकि जो पुरुष स्वयं निद्रा में सोता हो वह किसी को कैसे जगा सकता है।

इसके सिवा, कितने ही विद्वान् तो ऐसे होते हैं जो यद्यपि शास्त्रचर्चा भी करते हैं तो भी जीव के कल्याण का उपदेश नहीं करते। वे तरह-तरह की चतुराई की बातें और निरर्थक दृष्टान्त ही सुनाते रहते हैं, अथवा यह कहते हैं कि इस मनुष्य के लिये गृहस्थ धर्म ही श्रेष्ठ है, या भगवान् की दया का वर्णन करके जीवों का भय (धर्मभीरुता) ही दूर कर देते हैं। किन्तु ऐसी बातें सुननेवाले लोगों की स्थिति तो अज्ञानियों से भी नीची हो जाती है। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई पुरुष किसी सोये हुए मनुष्य को जगा कर ऐसा नशा पिलावे जो उसे एक दम उन्मत्त ही कर दे। ऐसा होनेपर तो उसकी नींद (अचेतता) और भी गहरी हो जाती है, क्योंकि जब वह बिना नशा किये सो रहा था तब तो थोड़े से शब्द से ही जग सकता था, किन्तु अब तो ऐसा अचेत हो जाता है कि पचास लाठियाँ खानेपर भी उसकी नींद नहीं टूटती। अतः अनजान पुरुष यदि ऐसी संगति में बैठता है तो उसका यही निश्चय पक्का हो जाता है कि हमारे पापों से प्रभु को क्या

ॐ यहाँ अर्ध सभ्य जंगली लोगों से तात्पर्य है, वनवासी मुनियों से नहीं।

स्पर्श होगा, वे तो परम दयालु हैं, अतः हमें सुखी करने में वे क्यों कृपणता करेंगे ? ऐसा जानकर वे परलोक की यातनानों से निर्भय हो जाते हैं।

अतः इस प्रकार का उपदेश करनेवाले भी जीव को धर्म-भ्रष्ट ही करते हैं। ये लोग ऐसे मूर्ख हैं जैसे कोई अनाड़ी वैद्य किसी सन्निपात के रोगी को शीतवीर्य औषधि दे। इससे तो उस रोगी की तत्काल मृत्यु ही होगी। अतः भगवान् की दया और कृपा का उपदेश भी केवल दो प्रकार के लोगों के लिये ही कल्याण-कारक है—

१. वह मनुष्य जो बहुत अधिक पाप करने के कारण अपनी सद्गति से निराश हो गया हो और इस निराशता के कारण पापों को छोड़ न सकता हो। ऐसा पुरुष जब भगवान् की दया के विषय में सुनता है तो उस निराशता से छूट जाता है और उसमें पापों को त्यागने की श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

२. इसका दूसरा अधिकारी वह है जिस पर परलोक के भय का बहुत अधिक आतङ्क हो और इसीसे जो ऐसी कठिन तपस्या में लगा हुआ हो कि भूख और जागरण के कारण अपने को नष्ट करनेपर ही उतारू हो गया हो। ऐसे पुरुष के लिये भगवान की दया का भरोसा रखना अधिक हितकर है।

किन्तु भोगी पुरुषों को इस प्रकार के वचन सुनाने तो ऐसे हैं जैसे कोई पुरुष कटे हुए अंग पर नमक लगावे। इससे तो उसकी पीडा बढ़ेगी ही। इसी से कहा है कि आत्मज्ञान का उपदेश करने-वाले पण्डित और भगवान् की दया का वर्णन करनेवाले विद्वान् विषयी जीवों को और भी अधिक लम्पट कर डालते हैं और उन्हें धर्मभ्रष्ट कर देते हैं।

इसके सिवा जिन उपदेशकों की बात तो धर्म की मर्यादा के अनुसार हो, किन्तु आचरण कथन के विपरीत हो उनके उपदेश से भी जीवों का अज्ञान दूर नहीं होता। उनकी स्थिति ऐसी ही है जैसे कोई पुरुष मिठाई का थाल रखकर खाता तो जाय किन्तु मुख से कहे कि इस मिठाई में विष मिला हुआ है, इस लिये किसी को भी इसे खाने की इच्छा नहीं करनी चाहिये। ऐसी स्थिति में उसके कथन से लोगों की मिठाई खाने की तृष्णा दूर नहीं हो सकती, क्योंकि वे उसे स्वयं ही रुचिपूर्वक खाते हुए देखते हैं; अतः वे यही समझते हैं कि यह स्वयं सारी मिठाई उड़ा जाने के उद्देश्य से ही हमें उसमें विष बता रहा है। इसी प्रकार तृष्णा-ग्रस्त पण्डित का उपदेश सुनकर लोगों के हृदय से माया की प्रीति दूर नहीं होती। हाँ, जिस विद्वान् के कथन और आचरण एक समान होते हैं उसके उपदेश से जीव निःसन्देह अचेतता की नींद से जग जाते हैं। इसलिये जब ऐसे पुरुष का ऐश्वर्य संसार में प्रसिद्ध होता है तब उससे सभी को लाभ पहुँचता है।

तात्पर्य यह कि सभी लोग मूढ़ता की नींद में सोये हुए हैं। सहस्त्रों में कोई एक ही, जो परलोक की भलाई-बुराई को अच्छी तरह जानता है, इस निद्रा से जगता है। किन्तु यह अज्ञानरूपी रोग ऐसा कठिन है कि अपने-आप इसकी चिकित्सा नहीं हो सकती, क्योंकि अज्ञानी पुरुष तो अपने अज्ञान को जानता नहीं इसलिये वह इसका उपकार कैसे कर सकता है? इसीसे कहा है कि अज्ञानी पुरुषों का उपचार ज्ञानी महानुभावों की दया के ही अधीन है। जैसे बालक को पहले माता-पिता और अध्यापक सचेत करते हैं, इसी प्रकार अचेत पुरुषों को विद्वानों के उपदेश से ही चेत हो सकता है। किन्तु इस समय विरक्त विद्वान् बहुत दुर्लभ हैं, इसीसे इस अज्ञानरूपी रोग ने सारे संसार को घेर रखा है। कोई आदमी मुख से परलोक की बातें करता भी है, तो भी

उसके हृदय में परलोक का कोई भय या त्रास नहीं है, और इस भयशून्य कथन से कोई लाभ नहीं होता।

(भ्रम का रूप और उसकी निवृत्ति के उपाय)

कितने ही मनुष्यों ने भ्रमवश कुछ का कुछ निश्चय पक्का कर लिया है, इसलिये वे यथार्थ मार्ग से दूर हो गये हैं। उनका विपरीत निश्चय ही उन्हें भ्रम में डालनेवाला पर्दा है। यद्यपि ऐसे मत और पन्थ अनेक हैं, तथापि मैं यहाँ पाँच प्रकार के भ्रमों का वर्णन करता हूँ। उन्हीं के अनुसार अन्य भ्रम भी समझे जा सकते हैं।

१. कितने ही लोग तो परलोक को ही नहीं मानते और कहते हैं कि जब इस मनुष्य की मृत्यु होती है तो यह मूल से ही नष्ट हो जाता है, जैसे पृथ्वी पर घास सूख जाती है अथवा जैसे दीपक बुझ जाता है। ऐसा समझकर उन्होंने धर्म और वैराग्य को त्याग दिया है और सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करना ही उन्हें प्रिय है। उनका ऐसा विचार है कि आचार्यों ने लोगों को मर्यादा में रखने के उद्देश्य से ही परलोक का भय दिखलाया है। अथवा उन्होंने अपने मान के लिये जीवों को आतङ्कित किया है। इसलिये वे स्पष्ट कहते हैं कि उन्होंने मनुष्यों को नरकों का भय इसी प्रकार दिखलाया है जैसे माता-पिता बच्चों को डराने के लिये उनसे कहते हैं कि यदि तू विद्या नहीं पढ़ेगा तो तुझे चूहे के बिल में बन्द कर दिया जायगा। किन्तु ये अभागे लोग यदि इस दृष्टान्त को भी विचारकर देखें तो भी बहुत अच्छा हो कि यदि वह बालक विद्याहीन रहकर मूर्ख ही रहा तब तो उसकी वह मूर्खता चूहे के बिल से भी बुरी होगी। अतः बुद्धिमानों ने यही समझा है कि भगवान् के वियोग का दुःख तो नरकों से भी बुरा है और वह भगवान् का वियोग वासनाओं के सम्बन्ध से होता है। अतः

बहुत मनुष्यों के हृदयों में जो ये स्थूल भोग घर कर गये हैं इसी कारण से यद्यपि वे स्पष्टतया परलोक का निषेध नहीं करते, थापि इनके कारण भोगी मनुष्य के आचरण में तो साफ-साफ परलोक को न मानना दिखायी देता है, क्योंकि ये लोग जब व्यावहारिक कार्यों में इतना उद्यम करते हैं और कष्ट भी कम नहीं उठाते, तब हृदय में परलोक के प्रति दृढ़ आस्था होनेपर ये वासनाओं के अधीन होकर पापों में कैसे प्रवृत्त हो सकते थे ?

अब, परलोक को लखानेवाले मार्गों के विषय में विचार किया जाता है। ये तीन प्रकार के बताये जाते हैं :—

१. परलोक का सबसे उत्तम मार्ग तो वह है जिसे महापुरुषों ने अनुभव की दृष्टि से देखा है। उन्हें नरक-स्वर्ग और पापी धर्मात्मा की अवस्थाएँ प्रत्यक्ष दिखायी दी हैं। वे सज्जन यद्यपि इन्द्रियादिजनित व्यवहार भी करते थे, तो भी अपने अन्तःकरण की एकाग्रता के कारण उन्हें इन्द्रियातीत पदार्थ भी प्रत्यक्ष दिखायी देते थे, क्योंकि वे विषयों के आकर्षण से पूर्णतया मुक्त थे। किन्तु अन्य जीवों की दृष्टि पर इन्द्रियादिजनित भोगों ने परलोक की अवस्था को देखने में पर्दा डाल रखा है। और इन भोगों से सर्वथा मुक्त रहना अत्यन्त कठिन है। पर जिन्हें परलोक की बात पर ही विश्वास नहीं है, उन्हें ऐसी उत्तम अवस्था का अनुभव और प्रेम कैसे हो सकता है।

२. परलोक का दूसरा मार्ग यह है कि युक्तिपूर्वक अपने यथार्थ स्वरूप को पहिचाने और यह जाने कि जीवात्मा क्या वस्तु है। उस समय ऐसा विचार करे कि यह चैतन्यस्वरूप जीव अविनाशी है और शरीर इसके घोड़े के समान है। अतः शरीर का नाश होने से जीव का नाश नहीं होता। यह मार्ग भी अत्यन्त दुर्लभ और कठिन है और यथार्थ विद्या

में आस्था होने से ही इसकी प्राप्ति होती है।

३. सन्तजनों और विद्वानों की संगति से जो इस परमार्थ-सम्बन्धिनी बुद्धि का प्रकाश होता है वह परलोक का तीसरा मार्ग है। इसमें सभी मनुष्यों का अधिकार है। जो पुरुष सच्चे सद्गुरु और वैराग्यसम्पन्न विद्वानों की संगति से वञ्चित है वह निःसन्देह मन्दभागी है। सत्संग के द्वारा जो समझ प्राप्त होती है उसे इस दृष्टान्त से समझ सकते हैं—जैसे कोई बालक प्रत्यक्ष अपने माता-पिता को देखे कि जब वे अकस्मात् किसी सर्प को देखते हैं तब डरकर भाग जाते हैं। ऐसा बार-बार देखने से वह बालक भी डरने लगता है। वह यद्यपि बुद्धि से सर्प के विष को नहीं जानता तो भी स्वाभाविक ही सर्प को देखकर भाग जाता है। इनमें भी सन्तजनों का ज्ञान तो ऐसा है जैसे कोई पुरुष प्रत्यक्ष देखे कि अमुक पुरुष को सर्प ने काटा था और वह तत्काल मर गया। यह तो परम निश्चय है, इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। और विद्वानों का ज्ञान ऐसा है जैसे कोई पुरुष वैद्यक विद्या की युक्तियों से सर्प के स्वभाव को पहिचाने और मनुष्य के शरीर की सुकुमारता को भी अच्छी तरह समझ ले तथा इस बात को भी जान जाय कि सर्प का विष किस प्रकार मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रकार अध्ययन करने से भी सर्प डसने का दुःख स्पष्ट जान लिया जाता है, किन्तु यह मध्यम कोटि का निश्चय है। तथा सन्तजनों की संगति के द्वारा जो परलोक का भय उत्पन्न होता है वह माता-पिता की संगति से बालक को उत्पन्न हुए सर्प के भय के समान है। इसमें सभी जीवों का पूरा अधिकार है। परन्तु यह कनिष्ठ कोटि का निश्चय है।

२. दूसरे भ्रान्त पुरुष ऐसे होते हैं जो परलोकसम्बन्धी वश्वास से न तो पूर्णतया शून्य होते हैं और न स्पष्टतया उसका निषेध ही करते हैं, परन्तु कहते हैं कि परलोक की बात पूर्णतया समझ में नहीं आती। संसार के सुख तो प्रत्यक्ष हैं, किन्तु परलोक के सुख-दुःखों की बात संशयात्मक है। इसीलिये सन्दिग्ध दुःख के भय से प्रत्यक्ष सुख का त्याग नहीं किया जा सकता। किन्तु उनकी यह बात मनःकल्पित और मिथ्या ही है, क्योंकि विश्वासी पुरुषों की दृष्टि में तो परलोक अत्यन्त प्रत्यक्ष है और इस संसार के सुख तो कोई वस्त ही नहीं हैं। अतः उन्हें इस प्रकार समझना चाहिये कि संसार में कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनमें प्रत्यक्ष सुख को त्यागकर भी दुःख स्वीकार किया जाता है, जैसे रुग्णा-वस्था में आरोग्यप्राप्ति का सुख यद्यपि संदिग्ध होता है तो भी उसकी प्राप्ति के लिये कड़वी ओषधि खाने का दुःख स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार धन का लाभ अनिश्चित होनेपर भी कितने ही लोग उसकी प्राप्ति की आशा से समुद्र और परदेशों में भटकते रहते हैं तथा तरह-तरह के कष्ट मोल लेते हैं। अथवा जब तुम्हें कड़ाके की प्यास लगी हो और पास में जल भी हो, किन्तु कोई कहदे कि इस जल में सर्प ने मुँह डाल दिया है, तब संदिग्ध विष की आशंका से तुम जल के प्रत्यक्ष सुख-स्वाद को क्यों छोड़ देते हो? इसका मुख्य कारण यही है कि यद्यपि जल का स्वाद प्रत्यक्ष है तो भी उसे त्याग देना बहुत तुच्छ बात है, तथा सर्प का संदिग्ध विष है तो भी उसका दुःख बहुत बड़ा है। इसी से संदिग्ध होने-पर भी उसे त्यागना सरल हो जाता है। इसी प्रकार इस संसार के सुख तो कुछ दिनों के ही हैं और जब ये दिन बीत जाते हैं तब स्वप्नवत् ही जान पड़ते हैं, किन्तु परलोक के सुख-दुःख अविनाशी हैं। इसीलिये सदा रहनेवाले दुःख से डरकर स्थूल सुखों को त्याग देना अच्छा ही है। और यदि तुम्हें परलोक के सुख-दुःख अपनी

बुद्धि से झूठे ही जान पड़ते हैं, तो भी तुम्हें सोचना चाहिये कि अपने जन्म से पहले तुम इस संसार में नहीं थे और अन्त में भी नहीं रहोगे। इसी प्रकार मध्य में भी तुम अपने को बिना हुआ ही समझो। और यदि तुम परलोक के दुःख को सच्चा मानते हो तब तो निःसन्देह वैराग्य के द्वारा ही तुम इस परम दुःख से मुक्त हो सकोगे।

३. तीसरे भ्रान्त पुरुष वे हैं जो यद्यपि परलोक को सत्य मानते हैं, तथापि कहते हैं कि संसार का सुख नकद है और परलोक के सुख-दुःख उधार हैं। अतः नकद वस्तु उधार की अपेक्षा श्रेष्ठ है। किन्तु ये मूर्ख यह नहीं जानते कि उधार की अपेक्षा नकद वस्तु तभी श्रेष्ठ होती है जब दोनों समान कोटि की हों, और यदि उनमें समानता न हो तो उधार भी श्रेष्ठ हो सकती है। देखो व्यवहार का लेन-देन प्रायः इसी बुद्धि के कारण होता है, किन्तु जो लोग इस बात को न समझ सकें वे तो केवल भ्रान्त ही कहे जा सकते हैं।

४. चौथे वे लोग हैं, जो परलोक के सुख-दुःख को यथार्थ मानते हुए भी स्थूल सुख की सामग्री पाकर अधिक प्रसन्न होते हैं। इसलिये वे अपने मन में ऐसा अनुमान कर लेते हैं कि जिस प्रकार प्रभु ने कृपा करके हमें यहाँ सुख दिया है उसी प्रकार परलोक में भी वे हमें ताड़ना नहीं देंगे, क्योंकि वे परम दयालु हैं और उन्होंने हमें विशेष रूप से अपनाया है। ऐसा जानकर ये लोग निर्भय और ढीठ हो जाते हैं। इन लोगों को इस प्रकार समझाना चाहिये कि तुम्हारा यह विचार इसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जैसे किसी पुरुष को अपना पुत्र अत्यन्त प्रिय हो और एक उसका दास भी हो, तथा अपने पुत्र को मर्यादा में चलाने के लिये वह उसे तो सर्वदा किसी अध्यापक के अनुशासन में रखता हो, किन्तु दास से कुछ भी न कहता हो और इससे वह दास ऐसा समझने लगे कि मुझे

स्वामी अपने पुत्र की अपेक्षा भी अधिक प्यार करते हैं, इसीसे वे पुत्र को तो सर्वदा ताड़ना दिलाते रहते हैं और मुझसे कुछ भी नहीं कहते। उस दास का ऐसा समझना मूर्खता नहीं तो क्या है, क्योंकि उसके स्वामी की इस व्यवस्था का आशय तो यही है कि वह पुत्र को तो प्रेमवश शुभ गुण सिखाना चाहता है और दास की ओर उसका कोई ध्यान ही नहीं है। इसी प्रकार भगवान् भी अपने प्रिय भक्तों को तो मायिक भोगों से दूर रखते हैं और मनमुखों को भोगों में फँसाये रहते हैं। अतः भ्रान्त पुरुष जो वैराग्यादि साधनों को सम्पन्न करने में ढील करता है वह ऐसा है जैसे कोई पुरुष अपनी खेती में बीज ही न बोए। उसकी खेती भला कैसे सफल हो सकेगी? इसी प्रकार जो पुरुष इन्द्रियजनित भोगों का त्याग नहीं करता वह परमानन्द कैसे प्राप्त कर सकता है?

५. जो लोग समझते हैं कि भगवान् परम दयालु हैं और उनमें कृपणता का अंश तो है ही नहीं, अतः वे अपने सुख को कैसे छिपा सकते हैं और हमारे कर्मों की ओर भी कब देख सकते हैं—वे पाँचवीं कोटि के मूर्ख हैं। वे मन्दमति ऐसा नहीं विचारते कि मनुष्य पृथ्वी में एक दाना बोता है और उससे हजार दाने पैदा हो जाते हैं—सो जिन प्रभु ने तुम्हारे लिये ऐसी व्यवस्था की है, उनकी इससे बढ़कर और क्या कृपा हो सकती है? इसी प्रकार कुछ दिन साधन करने से ही इस पुरुष को अविनाशी पद की प्राप्ति होती है—यह भी प्रभु की परम कृपा ही है। यदि कृपा का अर्थ यह है कि बिना बोये ही खेती बढ़ जाय, तो तुम तरह-तरह के उद्यम और व्यवहार क्यों करते हो? फिर तो तुम्हें निरुद्यम होकर बैठ जाना चाहिये, क्योंकि भगवान् तो परम कृपालु हैं, तुम्हारे उद्यम किये बिना ही वे तुम्हें लाभ दे देंगे। और उन्होंने ऐसा कहा भी है। ही कि मैं सब जीवों का प्रतिपालक हूँ। किन्तु जब व्यवहार में तुम्हें इस प्रकार का विश्वास नहीं है तब शुभ

कर्मों में ही क्यों प्रमाद करते हो ? क्योंकि साधन के बिना सिद्धि की इच्छा करना ऐसी ही बात है जैसे कोई गृहस्थ हुए बिना ही सन्तान चाहे। अतः यह बड़ी भारी मूर्खता है। भगवान् को कृपालु जानने का अर्थ तो यह है कि पहले विधिवत् उद्योग करे और फिर विघ्नों से रक्षा पाने के लिये भगवान् का भरोसा रखे। ऐसा व्यक्ति ही बुद्धिमान् कहा जाता है। जो पुरुष भगवान् में विश्वास ही नहीं रखता और न शुभकर्मों में ही तत्पर रहता है, यह तो निःसन्देह भ्रान्त है। मनुष्यों में कितने ही तो मायिक पदार्थों को देखकर भ्रान्त हुए हैं और कितनों ही ने भगवान् की कृपा का उल्टा अर्थ समझा है; सो, प्रभु ने इन दोनों ही प्रकार के भ्रमों की निन्दा की है और आदेश किया है कि यदि कोई शुभकर्म करेगा तो उसे उत्तम फल प्राप्त होगा और जो अशुभ कर्म करेगा वह निकृष्ट फल पायेगा। अतः सावधान होकर मेरी यह बात सुनो, किसी पदार्थ को देखकर भ्रान्तचित्त मत होओ और मेरी दया का आश्रय रखकर अशुभ कर्मों से दूर रहो।

(छलों के रूप और उनसे छूटकारा पाने के उपाय)

बहुत लोग कर्मों की शुद्धि-अशुद्धि को अच्छी तरह नहीं पहचानते, इसलिये वे अपने कर्मों को निर्दोष समझकर हर्षित होते हैं और दोषों की ओर से निःशंक रहते हैं। ऐसे लोग छले हुए कहे जाते हैं, क्योंकि उन्हें विवेकरूपी सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त नहीं हुई, इसलिये वे कर्मों की स्थूलता से ही छले हुए हैं। तथा ये छल भी ऐसे अगणित हैं कि हजारों में कोई एक पुरुष ही इनसे बच पाता है। ऐसे ग्रन्थों और मतों की कोई गणना होनी असम्भव है। तथापि छले हुए सभी लोगों को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विद्वान्, (२) तपस्वी, (३) फकीर और (४) धनवान्।

(१) विद्वान् लोग तो इसलिये छले हुए हैं, कि वे अपनी

सारी आयु विद्याध्ययन ही में लगा देते हैं और अपनी किसी भी इन्द्रिय को पापों से नहीं रोक सकते। उन्होंने अपने चित्त में ऐसा अनुमान कर रखा है कि हम अपनी विद्या के ही द्वारा परलोक के दुःखों से मुक्त हो जायँगे तथा हमारी प्रसन्नता होनेपर और लोग भी दुःख से छूट जायँगे। इन लोगों की स्थिति उस रोगी के समान है जो रात-दिन आयुर्वेद के ग्रथों का अभ्यास करता है तथा रोग और ओषधियों को अच्छी तरह विचारकर लिख तो लेता है। परन्तु उन्हें कड़वी समझकर सेवन नहीं करता। सो इस प्रकार ओषधियों को विचारने या लिख लेने से उसका रोग कैसे दूर हो सकता है? इसीसे भगवान् ने कहा है कि अपने मन को वासनाओं से शून्य करो।

अतः परम सुख तो वही पाता है जो मन और इन्द्रियों को निर्विकार कर लेता है, ऐसा तो कहीं नहीं कहा कि निर्विकार होने की विद्या पढ़नेवाले भी सुखी हो जायँगे। यदि कोई पुरुष विद्वानों की विशेषता सुनकर प्रसन्न होता है तो आचरणशून्य विद्वानों की नीचता का विचार क्यों नहीं करता? भगवान् ने तो वैराग्यहीन विद्वानों को गधे की तरह बताया है, जो पुस्तकों का बोझा लिए हुए तो फिरता है, किन्तु उनका तात्पर्य कुछ नहीं समझता। तथा ऐसा भी कहा है कि आचरणहीन विद्वान निःसन्देह नरकों की आग में जलेंगे और कहेंगे कि हमने लोगों को तो धर्म का उपदेश किया था, किन्तु स्वयं उन कर्मों से विमुख रहते थे, इसीसे इस नीच गति को प्राप्त हुए हैं। एक संत का कथन है कि अनजान मनुष्यों को तो परलोक में एकगुना ही पश्चात्ताप होगा किन्तु आचरणहीन विद्वानों को उनसे दस गुना खेद होगा, क्योंकि ये तो जान-बूझकर विमुख हुए हैं।

कुछ विद्वान् ऐसे होते हैं जो यद्यपि बाह्य नियम-धर्मों का विधिवत् अनुष्ठान करते हैं, तथापि अपने आन्तरिक मलिन

स्वभावों को दूर नहीं करते और सर्वदा दम्भ, ईर्ष्या एवं मान की लालसा में डूबे रहते हैं। उनका भगवान् के इन वचनों पर ध्यान ही नहीं जाता कि जिसके भीतर रञ्चकमात्र भी दम्भ और अभिमान होता है वह परम सुखों को कभी प्राप्त नहीं हो सकता। तथा ईर्ष्यारूपी अग्नि इस पुरुष के धर्म को घास की तरह जला देती है। प्रभु ने ऐसा भी कहा है कि मैं सर्वदा तुम्हारे हृदय की ओर देखता हूँ, स्थूल कर्मों की ओर नहीं देखता। ऐसे विद्वानों की स्थिति उस पुरुष के समान है जो काँटों के वृक्ष को मूल ही से नष्ट नहीं करता, केवल उसके पत्तों को ही तोड़ता रहता है। किन्तु इस प्रकार उसके काँटे तो कभी दूर नहीं हो सकते। इसी प्रकार मलिन कर्मों का बीज बुरे स्वभाव हैं। अतः इन्हें हृदय से ही निर्मूल कर देना चाहिये। जिस पुरुष का अन्तःकरण अशुद्ध हो किन्तु जो ऊपर से अपने को शुद्ध दिखावे वह तो ऐसा है जैसे कोई मन्दिर के ऊपर तो दीपक जलाये रहे और उसके भीतर अँधेरा हो।

इनसे भिन्न कुछ विद्वान् ऐसे होते हैं जो यद्यपि हृदय की शुद्धता को अच्छी तरह समझते हैं, किन्तु अभिमान से छले होने के कारण अपने को निष्पाप जानते हैं; अथवा ऐसा अनुमान कर लेते हैं कि हमारा मान परम धर्म की दृढ़ता का कारण है, क्योंकि हमारी महत्ता देखकर धर्महीनों को तो लज्जा होगी और प्रेमी पुरुषों की धर्म में रुचि बढ़ेगी। अतः ये लोग अपने रजोगुणी स्वभाव को राजसी नहीं समझते। इन मूर्खों की ऐसी विपरीत बुद्धि है कि इन्होंने सन्तजनों के वैराग्य और संयम को तो भुला ही दिया है। ये इतना नहीं समझते कि धर्म की वृद्धि तो उनके वैराग्य से ही होती थी। इसी प्रकार अपने ईर्ष्या और दम्भ को भी समझते हैं कि हमारे इस दम्भ से भी जीवों की सात्त्विक कर्मों में रुचि बढ़ती है। तथा जब किसी सभा में जाते हैं तब ऐसा

समझते हैं कि हमारे सत्संग से इनका भला होगा। किन्तु यदि यथार्थ विचार करके देखा जाय तो मालूम होगा कि माया से दूर रहनेपर ही धर्म की वृद्धि हो सकती है। अतः जिसके राजसी स्वभाव को देखकर अन्य जीवों के चित्त में चञ्चलता हो तब समझना चाहिये कि ऐसे पुरुष का न होना ही धर्म की वृद्धि है। इनकी संगति से तो उल्टी धर्म की हानि ही होती है। अतः इस प्रकार जानने वाले सभी विद्वान् छले हुए हैं।

कुछ विद्वान् ऐसे होते हैं जो निवृत्ति-विद्या से वञ्चित ही रहते हैं। जिस विद्या से वैराग्य और निष्कामता का तथा भगवान्, आत्मा और धर्ममार्ग की बाधाओं के परिचय का निरूपण है उस का वे अध्ययन ही नहीं करते। अपनी सारी आयु विविध पन्थों के विवाद और वाक्-चातुर्य सम्बन्धी विद्याओं के अनुशीलन में ही व्यतीत कर देते हैं। वे लोग इतना नहीं जानते कि विद्या का तात्पर्य तो यह है कि माया से दूर रहे, तृष्णा को त्यागे, सन्तोष धारण करे, दम्भ को छोड़े, पूर्ण निष्काम रहे तथा प्रमाद से दूर रहकर भगवान् का भय और विषयों से वैराग्य करे। किन्तु जो पुरुष ऐसे वचनों पर विचार नहीं करते, कोरी चतुराई में भूले रहते हैं, वे सब अत्यन्त मूर्ख ही हैं। बहुत से विद्वान् तो धर्म-शास्त्र और राजनीति का ही अध्ययन करते रहते हैं, और ऐसा नहीं समझते कि ये विद्याएँ तो लौकिक मर्यादा को ही स्थापित करनेवाली हैं। परलोकमार्ग की विद्या तो दूसरी ही है, क्योंकि जितने कर्म शास्त्रमर्यादा के अनुसार लोक में निर्दोष समझे जाते हैं उनमें से बहुत से सन्तों के मतमें पाप हैं। इसके सिवा पाप-पुण्य का वर्णन करनेवाले इन प्रवृत्तिमार्गीय पण्डितों की दृष्टि तो कर्म के बाह्य रूप पर रहती है और सन्तजन हृदय की ओर देखते हैं जैसे यदि कोई पुरुष किसी से कुछ माँग ले तो लोक में इसे पाप नहीं समझा जाता, किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय

तो यह माँगना भी ऐसा ही है जैसे कोई अन्यायपूर्वक किसी के लाठी मारे और उसका धन हर ले। इसी प्रकार यहाँ भी लज्जा रूपी लाठी मार कर दूसरे से कोई वस्तु ली जाती है। भला, स्थूल विद्या पढ़नेवाले लोग ऐसे सूक्ष्म भेदों को कैसे समझ सकते हैं। इस बात का पूरा-पूरा वर्णन किया जाय तो बहुत विस्तार हो जायगा।

(२) छले हुए लोगों में तपस्वी भी गिनाये गये हैं, क्योंकि वे शारीरिक शौच में लगे रहने के कारण भजन से विमुख रह जाते हैं। ये लोग जब किसी को बाह्य शौच से शून्य देखते हैं तब ग्लानिपूर्वक कठोर वचन कहने लगते हैं और स्वयं अशुद्ध जीविका तक नहीं त्याग सकते। यह इनकी अत्यन्त मूर्खता ही है। ये लोग यद्यपि अपने को पवित्र दिखाते हैं तो भी सन्तजनों के मन में अत्यन्त भ्रष्ट हैं। इस विषय में सन्त उमर कहते हैं कि मैंने कई बार अशुद्ध आहार के भय से शुद्ध जीविका को भी त्याग दिया है। तात्पर्य यह है कि सन्तजनों ने जीविका की शुद्धि के लिये ही अधिक प्रयत्न किया है तथा स्नानादि की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। किन्तु इन मूर्खों ने उनके आचारको तो भुला दिया है और शरीर की शुद्धि में ही लगे हुए हैं। अतः जो पुरुष अपनी जीविका को तो शुद्ध नहीं रखता, किन्तु बाह्य शुद्धि में लगा हुआ है उसे निःसंदेह मिथ्याचारी समझना चाहिये।

कुछ तपस्वी ऐसे पाठ करनेवाले होते हैं कि उनकी चित्तवृत्ति सर्वदा अक्षरों में ही लगी रहती है और वे मात्राओं को ही सुधारते रहते हैं। वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि वचनों का पाठ करते समय उनके अर्थों में चित्त को एकाग्र करना चाहिये। कोई पाठ करनेवाले ऐसे होते हैं कि जिन्हें अधिक से अधिक पाठ करने का संकल्प रहता है, किन्तु अर्थ वे कुछ भी नहीं समझते। उन्हें इतनी बुद्धि नहीं होती कि पाठ करने का तात्पर्य तो भले-बुरे

की पहचान होने में ही है, अतः उचित तो यह है कि जब भय-सम्बन्धी वचनों का पाठ करें तब भययुक्त हो जायँ, प्रभु की दया के वचनों को पढ़ें तब आशायुक्त हो जायँ और जब प्रभु की महत्ता के विषय में पढ़ें तब विनीत हो जायँ। तभी उनका पाठ करना सफल हो सकता है। किन्तु ये मूर्ख तो जीभ हिलाना ही अपना परम पुरुषार्थ समझते हैं। इसलिये इनके अर्थज्ञानशून्य पाठ से लाभ कुछ भी नहीं होता। यदि कोई सेवक अपने स्वामी के पत्र को बार-बार बढ़ता रहे, किन्तु उसमें लिखा हुआ काम कुछ भी न करे, तो वह निःसन्देह दण्ड का भागी होता है।

इनके सिवा कोई लोग व्रत और तीर्थाटन में ही विशेष परिश्रम करते हैं, किन्तु अपनी इन्द्रियों को पापकर्मों से नहीं रोकते तथा सर्वदा अपने को पुजाने की इच्छा रखते हैं। कुछ तपस्वी ऐसे होते हैं जो खान-पान और वस्त्रादि का संयम तो करते हैं, पर मानके रस को नहीं त्याग सकते तथा लोगों के मिलने-जुलने से भी प्रसन्न होते हैं। वे यह नहीं जानते कि मनका दोष भोगों से अधिक दुःखदायी है। वे मानी लोग तो सर्वदा अपनी महत्ता के लिये ही अधिक प्रयत्न करते हैं तथा बाह्य नियम-धर्मों में बहुत सतर्क होनेपर भी इन्हें हृदय की शुद्धि का कुछ भी परिचय नहीं होता। इसलिये ये अभिमान ईर्ष्या और दम्भ में ही डूबे रहते हैं। प्रभु के जीवों से कटु वाक्य कहते हैं और क्रोध से भौंहें चढ़ाये रहते हैं। ये इतना नहीं समझते कि कठोर स्वभाव से तत्काल सारे पुण्य कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण तपों का फल कोमलता ही है। ये भाग्यहीन तो अन्य लोगों पर अपने जप-तप का आभार मानते हैं और घृणा के कारण अपने को उनसे अलग-सा रखते हैं। ये लोग यदि महापुरुष के वैराग्य और विनय का अच्छी तरह विचार करें तो इनका अभिमान निवृत्त हो जाय, क्योंकि वे तो अत्यन्त मलिन अवस्था में पड़े हुए पुरुष से भी ग्लानि नहीं

करते थे और सब जीवों पर दयादृष्टि रखते थे। उनके ऐसे स्वभाव से विपरीत होना ही मनुष्य का दुर्भाग्य है और सब प्रकार के छलों का मूल है।

(३) फकीर या विरक्तजनों को भी छला हुआ कहा गया है, क्योंकि इनमें और सब लोगों की अपेक्षा अधिक अभिमान होता है। जो वस्तु जितनी श्रेष्ठ मानी जाती है उसकी पहचान भी उतनी ही कठिन होती है और जो पुरुष उसे पहचानने में असावधान है वह निश्चय ही छला हुआ है। भगवन्मार्ग में उत्तम विरक्त वही माना जाता है जिसमें तीन लक्षण पाये जायँ—

१. जिसने अपने मन को जीता है, जो मन और भोगों के रससे उपराम है तथा विचार की मर्यादा छोड़कर जिसमें किसी भी प्रकार का स्वभाव प्रबल नहीं होता, इस प्रकार जिसका अपने मन की सभी प्रवृतियों पर अधिकार है, जैसे यदि कोई राजा अपने शत्रु को परास्त कर दे तो उस शत्रु के गढ़ की प्रजा सेना भी उस राजा के ही अधीन हो जाती है।

२. जिसके चित्त से लोक-परलोक का चिन्तन दूर हो जाता है, अर्थात् जो इन्द्रिय और संकल्प के देश को लाँघकर परम पद में स्थित है। इन्द्रिय और संकल्प के द्वारा जितने पदार्थ सिद्ध होते हैं उनमें तो पशु भी मनुष्य के समान ही है और इन्द्रियजनित भोगों को ही स्थूल पदार्थ कहा जाता है। स्वर्ग भी संकल्प और इन्द्रियों का ही देश है, अतः वहाँ भी स्थूल भोग ही पाये जाते हैं। इसलिये उत्तम विरक्त वही है जिसके चित्त में संकल्प और इन्द्रियों से ग्रहण किये जानेवाले पदार्थों की सत्ता न रहे, जैसे अमृतपान करनेवाले के लिये घास का स्वाद कुछ भी नहीं रहता। जिस प्रकार घास के अधिकारी पशु हैं वैसे ही स्वर्ग के

अधिकारी भी मूर्ख ही हैं ।

३. जिसका चित्त प्रभु के शुद्ध स्वरूप में लीन हो, अर्थात् जिसे देश, दिशा और अहंकार का कछ भी स्फुरण न रहे, जैसे नेत्र को राग या शब्द का कुछ भी भान नहीं होता उसी प्रकार जिसे सब पदार्थ विस्मृत हो जायँ ।

जिस व्यक्ति में ये तीन लक्षण पूर्णतया पाये जायँ, समझना चाहिये कि उसी को सच्चे विरक्त का पद प्राप्त हुआ है । उसकी अवस्था वाणी का विषय नहीं होती । किन्तु जिज्ञासुओं को समझने के लिये सन्तजनों ने इस अवस्था को जीव और ब्रह्म की एकता कहा है । जिस मनुष्य की बुद्धि दृढ़ नहीं होती वह इस भेद को समझ ही नहीं सकता, क्योंकि यदि कोई वाणी द्वारा इस पद को सिद्ध करना चाहे तो शास्त्र और लोक की तो वहाँ गति हीं नहीं हैं । अतः यह आनन्द तो अनुभवद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ।

इस प्रकार उत्तम फकीर या विरक्त जनों की अवस्था का वर्णन किया गया । अब तुम वेषधारी बाबा लोगों के छलों की पहिचानें सुनो । कितने ही लोग तो गुदड़ी और आसनद्वारा अपना वेष बनाते हैं और संतों के समान बहुत कम बोलते हैं । ये लोग अपने को बड़ा स्थिरचित्त प्रदर्शित करते हैं, इसीसे दृढ़ आसन लगाकर सिर नीचा किये बैठते हैं, यदि बीच-बीच में संकल्प का वेग उठता है तो सिर हिलाने लगते हैं । और अपने चित्त में ऐसा अनुमान कर लेते हैं कि हमने पानेयोग्य वस्तु प्राप्त कर ली है । इनकी ऐसी ही दशा है जैसे कोई बूढ़ी स्त्री सैनिक के वस्त्र धारण करले । उसे वीर-विद्या का तो कोई ज्ञान होता नहीं और न वह यह जानती है कि शूरवीर लोग किस प्रकार एक-दूसरे को ललकारते हुए शस्त्र-प्रहार करते हैं, अतः संग्रामभूमि में उसे अवश्य लज्जित होना पड़ेगा और कपट खुलनेपर राजदण्ड भी भोगना पड़ेगा, जिससे

इसकी तरह कोई और कपट न करे। इसी प्रकार भगवान् भी वेष धारियों के कपट का भंडा फोड़ कर देते हैं और उसे कठोर ताड़ना भी देते हैं।

कोई लोग तो ऐसे नीच होते हैं कि मोटा-झोटा वेष और संयम भी नहीं रख सकते। इसलिये नये महीन वस्त्र फाड़कर गुदड़ी बनाते हैं और समझते हैं कि बस, रंगीन वस्त्र पहन लेना ही विरक्ति है। ये इतना भेद भी नहीं समझते कि विरक्त पुरुषों ने रंगीन वस्त्र धारण करने की मर्यादा तो इसलिये रखी है कि बार-बार वस्त्र धोने न पड़ें अथवा भगवान् के विरह की अनुभूति के लिये ही उन्होंने काले कपड़े पहन लिये थे, जैसा कि शोकग्रस्त पुरुषों का आचार है। किन्तु इन मूर्खों को तो प्रभु का कोई विरह या शोक है नहीं, इसलिये इन्हें रंगीन वस्त्र से क्या लाभ हो सकता है? ये लोग ऐसे अपरिग्रही भी तो नहीं हैं जो पुराने वस्त्रों को सीते-सीते गुदड़ी बन जाय; इसलिये ये नये-नये वस्त्र फाड़ते हैं और उनकी गुदड़ी बना कर पहनते हैं।

इनके सिवा कुछ लोग ऐसे मन्दबुद्धि होते हैं कि उनमें पापों को त्यागने का भी सामर्थ्य नहीं होता और वे भजन-स्मरण में भी बड़े आलसी होते हैं, किन्तु अभिमानवश अपने को दीन भी नहीं मानते। उनमें भोगों की अधिकता रहती है, इसलिये वे कहा करते हैं कि सब से बड़ी तपस्या तो हृदय की एकाग्रता है, बाह्य कर्मों में कोई विशेषता नहीं है। हमारा चित्त तो सर्वदा भजन में लीन रहता है, इसलिये हमें बाह्य कर्मों की कोई अपेक्षा नहीं है। संत जनों ने जो बाह्य कर्मों की प्रशंसा की है वह तो विषयी जीवों के अधिकारकी दृष्टि से है। हमारा मन तो विषयवासनाओं की ओर से मुर्दा हो चुका है, अतः हमारे भीतर किसी प्रकार के पाप का प्रवेश नहीं हो सकता। ये लोग जब तपस्वियों को देखते हैं तो कहते हैं कि ये व्यर्थ कष्ट भोगनेवाले हैं और विद्वानों को देखते

हैं तो कहते हैं कि ये प्रश्नोत्तरों में ही बँधे हुए हैं, यथार्थ ज्ञान का इन्हें कुछ भी पता नहीं है। किन्तु वास्तव में तो ये लोग राजदण्ड के अधिकारी हैं, क्योंकि ऐसे मूर्ख उपदेश करने से कभी सीधे नहीं होते।

कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो विषयों से विरक्त होकर विधिवत् साधन करते हैं और चित्तवृत्ति का संकोच कर जब भजन में स्थित होते हैं तो अन्तर्मुखता के अभ्यास से उनकी ऐसी स्थिति होती है कि भावी घटनाओं को प्रत्यक्ष देख लेते हैं तथा उन्हें श्री भगवान् और देवताओं के मूर्त्त रूप में दर्शन होने लगते हैं। यह अवस्था यद्यपि सच होती है, तथापि स्वप्न के समान अकस्मात् निवृत्त भी हो जाती है। किन्तु वे लोग इतना चमत्कार होने से ही ऐसा अभिमान करने लगते हैं कि हमें चौदहों लोकों का वृत्तान्त मालूम हो गया है और समझते हैं कि सन्तजनों की सर्वोत्तम अवस्था यही है। परन्तु यदि यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो उन्हें तो भगवान् के आश्चर्यमय भेदों का बालभर ज्ञान भी प्राप्त नहीं हुआ। वे अभिमानवश इस तुच्छ ऐश्वर्य को ही पाकर फूल उठते हैं और अपनी महत्ता प्रसिद्ध करना चाहते हैं फिर तो मान-बड़ाई में फँसकर उनके चित्त की वृत्ति फैलने लगती है। किन्तु उन्हें पता भी नहीं लगता कि यह बड़ा भारी छल है और इसे पहचानना भी बहुत कठिन है। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि किसी शक्ति या सिद्धि में न फँसे और अपने मन की वासनाओं का विरोध करने में तत्पर रहे, और जब मन के स्वभाव बदल कर विचार के अधीन हो जायँ, कोई भी स्वभाव उच्छृङ्खल न रहे, तब इसे ही उत्तम अवस्था समझे। इस विषय में एक संत का कथन है कि जलों पर चलने, आकाश में उड़ने और भविष्य की सूचना देने की सिद्धियाँ भी कुछ नही हैं, सबसे उत्तम सिद्धि तो यही है कि इस जीव का मन संतजनों की आज्ञानुसार चलने लगे। तात्पर्य

यह कि जब विचार की मर्यादा से रहित किसी भी प्रकार के स्वभाव की आसक्ति न रहे, तब इस अवस्था को विश्वसनीय कहा जा सकता है। और तो सभी ऐश्वर्य छलरूप हैं, क्योंकि भविष्य की सूचना तो तपस्या के प्रभाव से अनेकों असुरों को भी हो जाती थी उन्हें अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हो जाती थीं, किन्तु फिर भी उनके मन की मलिनता दूर नहीं होती थी। अतः विश्वसनीय अवस्था तो यही है कि इस जीव के मन की वासना सर्वथा दूर हो जाय और विचार की मर्यादा स्थित हो जाय। इसीसे कहा है कि यदि तुम सिंहों पर सवार न हो सको तो कोई चिन्ता नहीं, किन्तु क्रोधरूपी कुक्कुर को वश में कर लो तो बड़ी बात होगी। यदि तुम अपने दोषों को पहचान सको तो वह भविष्य का ज्ञान होनेसे बढ़कर होगा। इसी प्रकार यदि तुम संकल्प और इन्द्रियों के विषयों से ऊपर उठ सको तो उस अवस्था को तुम जलों पर चलने और आकाश में उड़ने से ऊँची समझो। इसके सिवा यदि तुम सिद्धि के द्वारा एक रात में सहस्रों योजन का मार्ग न काट सको तो भी चिन्ता नहीं, क्योंकि यदि तुम संसार के भोगों और जंजालों से ऊपर उठ जाते हो तो तुमसे यह सहस्रों योजन का मार्ग तो पीछे पड़ जाता है। और यदि तुम एक ही पगमें पर्वत पर न चढ़ सको तो भी घबराओ मत, क्योंकि जब तुम पाप से उत्पन्न हुए पैसे को त्याग देते हो तो यह पर्वतलङ्घन से बड़ी बात है। अस्तु, इस प्रकार सभी छलों का पूरा-पूरा वर्णन किया जाय तो बहुत अधिक विस्तार हो जाता है।

(४) धनी लोग भी अनेक प्रकार से छले हुए हैं, क्योंकि वे लोग पहले तो पापपूर्वक धनोपार्जन करते हैं और फिर उसी धन से कुए, ताल और पुल बनवाते हैं तथा इसी को अपना बड़ा भारी पुरुषार्थ समझते हैं। वास्तव में अच्छी बात तो यह हो कि जिस पुरुष का धन पाप और छलपूर्वक लिया हो उसी को वह

लौटा दिया जाय। किन्तु अपने सम्मान की रक्षा के लिये ये लोग अभिमानवश ऐसा नहीं कर पाते। इसीसे ये छले हुए कहे जाते हैं।

कोई धनी ऐसे भी होते हैं जो शुद्ध व्यवहार से ही धनोपार्जन करते हैं और उस धन के द्वारा भी नाना प्रकार के धर्मस्थान बनवाते हैं। किन्तु इसमें भी उनका उद्देश्य मान और दम्भ ही रहता है। इसीसे उन स्थानों के द्वार पर वे अपना नाम खुदवा देते हैं। यदि उनसे कोई कहे कि भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, तुम अपना नाम क्यों लिखवाते हो ? तो भी वे नाम लिखाने का मोह छोड़ नहीं सकते। सो यह स्पष्ट ही दम्भ का लक्षण है, क्योंकि वे किसी अभावग्रस्त को तो एक पैसा भी नहीं दे सकते और मान के लिये हजारों रुपये खर्च कर डालते हैं। कारण कि अभावग्रस्त का मस्तक मिट्टी के घर के समान तो है नहीं जिसपर वे अपना नाम लिख सकें।

कोई धनिक ऐसे होते हैं जो मान और दम्भ का प्रयोजन न रख कर भी धर्मस्थान बनवाते हैं। किन्तु ऐसे स्थानों में जो तरह तरह की चित्रकारी करा देते हैं, यह उनकी मूर्खता ही है, क्योंकि धर्मस्थानों में जब विशेष चित्रकारी होती है तो उसे देखकर प्रथम तो लोगों के चित्त में बड़ा विक्षेप होता है तथा उनमें ऐसी वासना भी उत्पन्न हो जाती है कि हम भी ऐसे भवन बनवायें। और इसी से संसार में वे दोनों प्रकार के पाप प्रसिद्ध होते हैं। किन्तु चित्रकारी करानेवाले पुरुषों को इस भेद का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। इसीसे महापुरुष ने कहा है कि भजन के स्थान में चित्रकारी करना और पुस्तकों पर सुवर्ण मढ़वाना बड़ी भारी अवज्ञा है, क्योंकि इनके कारण जिज्ञासु भजन की एकाग्रता और वचनों के तात्पर्य से शून्य रह जाते हैं। भजन का मूल तो यही है कि इसका चित्त माया से विरक्त होकर स्थिर हो जाय। किन्तु जिस

स्थान को देखकर चित्त की चञ्चलता बढ़े, जान लो, उस भजन स्थान को तो उजाड़ दिया गया है। किन्तु मन्दबुद्धि जीव इस रहस्य को नहीं जान सकते।

कोई धनवान् ऐसे होते हैं जो अपने को उदार प्रसिद्ध करने के लिये यज्ञ, क्षेत्र और सदावर्त लगाकर विरक्त लोगों को अपने दरवाजे पर इकट्ठा कर लेते हैं। वे सोचते हैं, इससे नगर-नगर में हमारी उदारता की प्रशंसा होगी। किन्तु वे लोग सर्वथा मान और दम्भ से छले हुए हैं, क्योंकि गुप्तरूप से तो ये भूखे को एक रोटी भी नहीं दे सकते और प्रसिद्ध स्थानों पर नाना प्रकार के यज्ञ एवं दान करते हैं। इस विषय में एक गाथा है। किसी पुरुष ने संत वशरहाफी से कहा था कि मेरे पास एक सहस्र रुपया है, इसे मैं तीर्थों के मार्गों में खर्च करना चाहता हूँ। उन्होंने पूछा, "तुम तीर्थों में भगवान् की प्रसन्नता के लिये जाते हो या तमाशा देखने के लिये?" वह बोला, "मैं तो भगवान् की प्रसन्नता ही चाहता हूँ।" तब वे बोले, "फिर तो तुम यह धन किसी ऋणी या धनहीन कुटुम्बी को दे दो, उसके हृदय की प्रसन्नता हजारों तीर्थों के फल से भी बढ़कर होगी।" वह पुरुष बोला, "मुझे तो तीर्थयात्रा की रुचि अधिक है।" वे बोले, "तुम्हारा धन पापद्वारा कमाया हुआ जान पड़ता है। इसलिये जबतक तुम इसे किसी अशुभ कार्य में नहीं लगाओगे तबतक तुम्हें शान्ति नहीं हो सकती।"

इनके सिवा कोई धनवान् ऐसे कृपण होते हैं कि यद्यपि अपनी आयका दशमांश ही दान करते हैं तो भी बदले में अपनी प्रशंसा और सेवा करा लेते हैं तथा अन्य अभावग्रस्तों को कुछ भी नहीं दे सकते। इस प्रकार का दान निष्फल ही होता है, क्योंकि प्रशंसा और सेवा की कामना उसके फल को नष्ट कर डालती है और देनेवाला पुरुष मूर्खतावश समझता है कि मैंने दशमांश देकर शास्त्र की आज्ञा का पालन किया है। परन्तु ये लोग दान की

युक्ति विना समझे व्यर्थ ही अपना धन खोते हैं और झूठा अभिमान करते हैं।

कोई धनवान् तो ऐसे होते हैं कि वे दशमांश भी दान नहीं कर सकते। इसलिये वे धन को इकट्ठा करके अपने पास ही रखते हैं और रात-दिन भजन-स्मरण में लगे रहते हैं। परन्तु पैसा खर्चना उनके लिये बहुत कठिन होता है। वे अपने को बड़ा भजनानन्दी समझते हैं। उनकी दशा ऐसी ही है जैसे किसी के सिर में दर्द हो और वह पैरों पर दवा लगावे। ऐसी ओषधि से भला उसकी पीड़ा कैसे दूर हो सकती है? इसी प्रकार ये कृपण तपस्वी ऐसे विपरीतबुद्धि होते हैं कि इतना भी नहीं समझ सकते कि हमारे हृदय में कृपणता का रोग बढ़ा हुआ है या अधिक भोजन करने का? बस, व्रत और संयम करके अपने आहार को घटाते रहते हैं और दया-दानरूपी जो कृपणता की ओषधि है उसका सेवन नहीं करते।

इस प्रकार मैंने जितने छलों का वर्णन किया है तथा और भी जितने छल हैं, उनसे धनी लोग छुटकारा नहीं पा सकते। इन छलों से तो वही पुरुष छूट सकता है जिसे कुछ धर्म की पहचान हो। मेरे इस कथन का तात्पर्य यह है कि जिज्ञासुओं को मन के छलों और भजन के विघ्नों की ठीक-ठीक पहचान होनी चाहिये। तभी उनके हृदय में भगवान् का निष्काम प्रेम जाग्रत् हो सकता है और वे छलों से अपनी रक्षा कर सकते हैं। उन्हें शरीरनिर्वाहमात्र से अधिक माया का मोह नहीं होना चाहिये, सब प्रकार अपनी मृत्यु के समीप देखना चाहिये और परलोक-मार्ग के पाथेयरूप धर्म के सिवा और किसी वस्तु में आसक्त नहीं होना चाहिये। किन्तु यह बात उसीके लिये सुगम होती है जिस पर भगवान् की कृपा होती है, और किसी प्रकार ऐसा होना सम्भव नहीं है।

[८]

अष्टम उल्लास

(हृदय को सत्स्वभावों से सम्पन्न करना)

पहली किरण

त्याग के विषय में

जिज्ञासु की आरम्भिक अवस्था पापों का त्याग है। धर्ममार्ग में सभी मनुष्यों को अनिवार्य रूप से त्याग की अपेक्षा होती है, क्योंकि आरम्भ से ही मनुष्य पूर्णतया निष्पाप नहीं होता। पूर्ण निष्पाप और निर्मल तो देवता लोग कहे गये हैं और असुरगण सर्वथा पापरूप होते हैं। इससे निश्चय होता है कि भगवान्‌का भय मानकर पापों को त्यागना यह मनुष्य का ही अधिकार है। तथा सारी आयु पापासक्त रहना असुर का लक्षण है। जिसने भविष्य में पाप करने का संकल्प त्याग दिया है और बीते हुए पापों का प्रायश्चित्त किया है वही उत्तम पुरुष कहा जाता है। किन्तु आरम्भ में इस जीव की उत्पत्ति नीच और मलिन होती है, क्योंकि पहले तो भगवान् इसमें भोगों की ही प्रेरणा करते हैं, भोगों की विरोधिनी बुद्धि तो किशोरावस्था में उत्पन्न होती है। इस प्रकार भोग तो बाल्यावस्था में ही हृदयरूप गढ़ को घेर लेते हैं और इन्हीं के साथ मन के स्वभाव भी मिले हुए हैं। पीछे जब निर्मल बुद्धि प्रकट होती है तब इस जीव को निश्चय ही भोगों के त्याग और पुरुषार्थ की अपेक्षा होती है। इसीसे कहा है कि मनुष्यों का सबसे पहला अधिकार पापों का त्याग है और यही जिज्ञासु की आरम्भिक अवस्था है। त्याग का अर्थ है अपने मुख को अशुभ मार्ग की ओर से फेरना और शुभ मार्ग के सम्मुख करना।

(त्याग की महिमा)

याद रखो, भगवान् ने सब मनुष्यों के लिये त्याग ही को बड़ा बताया है और यह आज्ञा की है कि जिस पुरुष को मुक्त होने की इच्छा हो उसे सबसे पहले पापों का त्याग करना चाहिये। महापुरुष कहते हैं कि भगवान् इस जीव के त्याग को अन्त समय तक स्वीकार कर लेते हैं। जब इस मनुष्य से कोई पाप हो जाय तो उसके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये इसीका नाम त्याग है। ऐसा भी कहा है कि जहाँ विषयी जीव इकट्ठे हों और तरह-तरह के चाञ्चल्यपूर्ण वचन कहें उस स्थान में कभी नहीं रहना चाहिये, क्योंकि ऐसी जगह निश्चय ही इस जीव का धर्म नष्ट हो जाता है। और यह नरकों का अधिकारी होता है। जो पुरुष ऐसे स्थानों को त्याग देता है उसका धर्म दृढ़ रहता है। इसी प्रकार जो पुरुष पापकर्म करके फिर अपने को भूला हुआ मानता है उसके उस पाप को चित्रगुप्त ❀ भी भूल जाता है। तथा ऐसा भी कहा है कि जिससे इस लोक में दिन के समय कोई पाप हो जाय और रात्रि होनेपर अपने को भूला समझकर उसे त्याग दे तो भगवान् उसका त्याग स्वीकार कर लेते हैं और फिर उसके लिये अपनी दया का द्वार बन्द नहीं करते। फिर तो जबतक इस जीव का प्राणान्त नहीं होता तबतक वह द्वार खुला ही रहता है। ऐसा भी कहा है कि जो पुरुष पाप करके अपने को भूला हुआ जाने और फिर सदा के लिये उसे त्याग दे उसकी निःसन्देह उत्तम गति होती है, क्योंकि पापकर्म करके फिर उसे त्याग देना ऐसा ही है जैसे किसी ने पाप किया ही न हो। किन्तु पापों का त्यागना तभी समझना चाहिये जब फिर वैसा करने का संकल्प ही न रहे।

❀ यमराज का सेवक, जो सब जीवों के पाप-पुण्य का लेखा रखता है।

इसके सिवा यह भी कहा है कि त्यागी पुरुष भगवान् को अत्यन्त प्रिय है। उसे देखकर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। जो पुरुष पाप करके अपने को क्षमा कराना चाहता है, प्रभु उसके अपराध को निःसन्देह क्षमा कर देते हैं। परन्तु जो पुरुष सर्वदा कामासक्त रहता है और कामवासना को त्यागने का भाव भी नहीं रखता वह सर्वदा सन्तों की सहायता से वञ्चित रहता है। इस विषय में यह गाथा भी है कि एक बार संत इब्राहीम ने किसी पापी को देखकर ग्लानि की थी। तब उन्हें आकाशवाणी हुई कि तुम इससे ग्लानि मत करो, क्योंकि यदि यह मेरा भय मानकर पापों को त्याग देगा तो मैं इसका वह त्याग स्वीकार कर लूँगा और जब यह अपने को भूला हुआ जानकर मेरे आगे दीनचित्त होगा तो मैं इसे क्षमा भी कर दूँगा, क्योंकि मेरा नाम तो दीनदयालु है।

(त्याग का अर्थ)

त्याग से पहले जिज्ञासु के चित्त में धर्म का प्रकाश प्रकट होता है। उस प्रकाश के द्वारा वह पाप को हलाहल विष के समान जानता है। वह ऐसा समझता है कि मैंने इस विष को बहुत अङ्गीकार किया है और इसके कारण मैं मृत्यु के समीप पहुँच चुका हूँ। ऐसा जानकर वह चित्त में बहुत भयभीत होता है और पश्चात्ताप करने लगता है, जैसे किसी मनुष्य ने मूर्खतावश मधु के साथ विष खा लिया हो और फिर विष का निश्चय होनेपर वह अत्यन्त त्रस्त हो, यत्न करके वमन करना चाहे और उसी के उपचार में लग जाय। इसी प्रकार जब जिज्ञासु को यह समझ प्राप्त होती है कि मैंने जिन भोगों को मीठा समझकर प्रीतिपूर्वक भोगा है उन सभी में पापरूप विष मिला हुआ था। इसीलिये वह भय और पश्चात्ताप की आगमें जलने लगता है और उसी अग्नि से उसकी भोगवासना जल जाती है। फिर तो उसने जितने पाप किये होते हैं उनका प्रायश्चित्त करने का वह संकल्प करता है। इसलिये

रजोगुणी-तमोगुणी पोशाक को त्यागकर वह सात्त्विकी धर्ममयी पोशाक धारण करता है, और पहले जहाँ विषयी पुरुषों की संगति करता था वहाँ अब ज्ञानवानों का संग करने लगता है। तात्पर्य यह कि त्यागरूपी वृक्ष का स्वरूप तो भय और त्रास है, मूल धर्म का प्रकाश है, पापों का प्रायश्चित्त इसकी शाखा है तथा सब इन्द्रियों को पापों से रोकना और भगवान् के भजन में तत्पर रहना—यही इसका फल है।

(त्याग का अधिकार)

इस मनुष्य को सबसे पहले तो विश्वासहीनता का त्याग करना चाहिये। यद्यपि लोगों से सुनकर यह भगवान् में विश्वास करता है, तथापि हृदय से उस ओर से अचेत है। अतः इसे उस अचेतता का त्याग करना चाहिये और धर्म के अर्थ को भली प्रकार पहचानना चाहिये। धर्म का पहचानना विद्या की अधिकता से करना नहीं कहा जाता। धर्म की दृढ़ता का लक्षण तो यह है कि सब कर्मों का धर्म और विचार की मर्यादा के अनुसार आचरण करे, सन्तजनों की आज्ञा को प्रेमपूर्वक स्वीकार करे तथा अपने मनकी वासनाओं का अनुसरण न करे। अतः निश्चय जानो कि जिस पुरुष का आचरण मलिन हो उसका विश्वास दृढ़ नहीं है, क्योंकि जिसने पापों को विषरूप जाना हो वह ऐसी दुःखदायिनी वस्तु को कैसे स्वीकार कर सकता है। इस मनुष्य से पाप तभी होता है जब भोगों की प्रीति में इसकी दृढ़ आस्था हो अथवा शुद्ध-बुद्धि का प्रकाश वासना के अन्धकार में छिप जाय। तात्पर्य यह कि पहले तो इस मनुष्य को विश्वासहीनता का त्याग करने के लिये कहा है और फिर इसे इन्द्रियजनित पापों का त्याग करना चाहिये। इस प्रकार जब इन्द्रियजनित पापों से मुक्त हो जाय तब मान, दम्भ, ईर्ष्या और अभिमान आदि जो हृदय के दोष हैं उन्हें त्यागना आवश्यक है, क्योंकि ये दोष बुद्धि का आवरण करने

वाले हैं और सब प्रकार के पापकर्मों के बीज हैं। अतः उचित है कि हृदय के सभी स्वभाव अपने अधीन रखे। किन्तु यह साधना बड़े पुरुषार्थ से सिद्ध होती है।

इसके पश्चात् जिज्ञासु को व्यर्थ चिन्तन और मन के संकल्पों का त्याग करना कहा है। वह जो किसी समय भगवान के भजन में असावधानी करता है उसे भी दूर करना चाहिये, क्योंकि भगवान को एक क्षण के लिये भी भूलना सम्पूर्ण दोषों का बीज है। अतः इस मनुष्य को हर समय भगवद्भजन में तत्पर रहना चाहिये। भजन के भी अनेकों भेद हैं। एक भजन स्थूल होता है और फिर उससे सूक्ष्म और सूक्ष्मतर क्रमशः उत्तरोत्तर सूक्ष्म अवस्थाएँ प्राप्त होती जाती हैं। अतः उचित है कि स्थूलता को त्यागकर उत्तरोत्तर सूक्ष्मता की ओर बढ़ता जाय, किसी भी अवस्था विशेष में अटके नहीं, क्योंकि सर्वोच्च स्थिति में पहुंचने से पहले किसी निम्न अवस्था में अटका रह जाना भी हानिकारक है। इसलिये पूर्णपद की प्राप्ति के मार्ग में जितने स्थान हैं उन सब को त्यागनेपर ही प्रेमकी दृढ़ता होती है। इस विषय में महापुरुष कहते हैं कि मैंने एक दिनमें सत्तर बार अपने को भगवान् का विस्मरण करने जाना था, अब उस अवस्था को त्यागकर भगवान् के आगे दीन होता हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि उन की अवस्था क्षण-क्षणमें बढ़ती जाती थी और वे निरन्तर आगे-आगे के पद में स्थित होते जाते थे। इस प्रकार जब वे एक पद को त्यागकर दूसरे पद में स्थित होते थे तब उन्हें पहला पद अपना प्रमाद ही जान पड़ता था। इसलिये अपने को भूला जानकर वे भगवान् से क्षमा कराने लगते थे। यह ऐसी स्थिति है जैसे कोई पुरुष पहले पाँच पैसे रोज की मज-दूरी करता हो तो उसी में प्रसन्न रहता है। किन्तु जब उसे पता लगता है कि अमुक व्यापार करने से मुझे पाँच रुपये रोज मिल सकते हैं तो उस स्थिति से असन्तुष्ट होकर उसे त्याग देता है और

इस व्यापार को ग्रहण कर लेता है । अब नित्यप्रति पाँच रुपये पाकर प्रसन्न होता है । किन्तु जब वह जानता है कि रत्नों का व्यापार करने से मुझे हज़ारों रुपये नित्यप्रति मिल सकते हैं, तो इस स्थिति को भी त्याग देता है और रत्नों का व्यापार करने लगता है । इसी से सन्तजनों ने कहा है कि जिज्ञासु की आरम्भिक अवस्था के जितने शुभ कर्म हैं ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में तो वे पाप-रूप ही हैं ।

किन्तु जब कोई यह प्रश्न करे कि यद्यपि विश्वासहीनता, पाप और प्रमाद तो अवश्य त्यागनेयोग्य हैं, क्योंकि इनका त्याग न करनेपर तो मनुष्य अवश्य पापी होता है, तथा निम्न पद को त्यागकर उच्च पद में स्थित होना भी उचित है, तथापि उत्तम पुरुषों ने जो उच्च पदमें ठहरने को भी प्रमाद कहा है, इसका क्या कारण है ? सो, इसका उत्तर यह है कि योग्य और अयोग्य कर्म भी दो प्रकार के हैं ।

१. संसारी पुरुषों के लिये तो स्थूल पापों के ही त्याग का विधान किया है, जिससे कि ये अल्पबुद्धि पुरुष भी नरकों की यातना से मुक्त रहें ।
२. जिज्ञासु का आधार ही सदसद्विवेक है । ये लोग भलाई-बुराई का बहुत सूक्ष्म विवेचन करते हैं । संसारी जीव इस अवस्था में स्थित नहीं हो सकते । ज्ञानीजनों को यद्यपि नरकों का दुःख तो किसी भी तरह नहीं हो सकता, परन्तु जब वे अपने से उत्तम स्थितिवालों को देखते हैं तो अपनी न्यून स्थिति पर उन्हें शोक होता है और कहते हैं कि हमने ऐसा पुरुषार्थ क्यों न किया ।

इसी से कहा है कि उत्तम अवस्था प्राप्त न करके न्यून पद में स्थित रहना भी अनुचित है । इसलिये उचित यही है कि जिज्ञासु किसी भी पद में अटके नहीं, उच्च से उच्चतर पद की ओर बढ़ता चला

जाय। तभी इस दुःख से मुक्त हो सकता है। इसीसे सन्तजनों ने कहा है कि परलोक में सभी को पश्चात्ताप होगा। पापी मनुष्य तो अपने पाप को देखकर पश्चाताप करेंगे और भजनानन्दी कहेंगे कि हमने और अधिक भजन क्यों नहीं किया? ऐसा जानकर बुद्धिमान् लोग परमार्थमार्ग में प्रमाद नहीं करते। यथाशक्ति आगे ही बढ़ते जाते हैं। वे पापरहित भोगोंको भी स्वीकार नहीं करते। एक बार आयशाने महापुरुष से पूछा था कि आप तो निष्पाप हैं, फिर निद्रा और आहार का इतना संयम क्यों करते हैं? उन्होंने कहा, "मेरे भाई अनेकों महापुरुष मुझसे आगे गये हैं और उन्होंने पुरुषार्थ करके उत्तम पद प्राप्त किया है। अतः मैं चाहता हूँ कि संसार के सुखों में आसक्त होकर मैं उनसे पीछे न रहूँ तो अच्छा हो। संसार में तो कुछ ही दिनों जीना है, इस समय को त्याग-वैराग्य में ही व्यतीत करना चाहता हूँ।"

इस विषय में एक गाथा भी है—एक समय कोई महापुरुष अपने सिर के नीचे पत्थर लगाये सो रहे थे। तब माया मनुष्यरूप धारण कर उनके पास आयी और बोली, "सन्तजी! मालूम होता है, माया को एक बार त्यागकर आपको पश्चात्ताप हुआ है, इसीसे सिर के नीचे पत्थर लगाकर आप सुख की नींद लेना चाहते हैं।" यह सुन कर उन्होंने पत्थर निकाल दिया और बोले, "माया के सुखों के साथ यह पत्थर भी तू ही ले।" तात्पर्य यह कि जिज्ञासुजन जिस प्रकार परलोक के भय से परम वैराग्य में स्थित हुए हैं, उस अवस्था को भला, संसारी पुरुष कब पा सकते हैं? अतः तुम अपने मन में ऐसा अनुमान मत करो कि उनका वह प्रयत्न वृथा ही था। दृढ़ विश्वास करके उसी मार्ग को अङ्गीकार करो, संसारी जीवों के अभीष्ट पुण्य के ही पीछे मत पड़े रहो, क्योंकि उनका तो मार्ग ही दूसरा है?

इससे निश्चय होता है कि यह मनुष्य किसी भी समय और

किसी भी अवस्था में त्याग की अपेक्षा से रहित नहीं हो सकता। इसीसे एक सन्त ने कहा है कि जब यह मनुष्य किसी पदार्थ की ओर प्रीतिसहित देखता है तो अपना समय व्यर्थ खोता है। उस प्रीति के कारण अन्त समय में इसे अवश्य पश्चात्ताप होता है। किन्तु यह बड़ा आश्चर्य है कि यह पुरुष बीते हुए समय की तरह आगे भी अपनी आयु को व्यर्थ खोता है और मूर्खतावश इस रहस्य को जान नहीं पाता। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जिस प्रकार इस मनुष्य के श्वासरूपी रत्न व्यर्थ जा रहे हैं उसके कारण इसे सर्वदा रोते ही रहना चाहिये। यदि अज्ञानवश यह इस समय नहीं रोता तो परलोक में इसे दुःखित होकर और भी अधिक रोना पड़ेगा, क्योंकि यह आयुरूपी पदार्थ अमोल है और इसीके द्वारा वह परमपद प्राप्त कर सकताहै। किन्तु भोगों की आसक्तिमें यह व्यर्थ ही बीत जाती है और इस मूर्ख को इसका पता भी नहीं चलता। इसे चेत तो तब होता है जब इसके सचेत होने से कुछ भी नहीं बनता। इसी विषय में महापुरुष कहते हैं कि जब यह मनुष्य अन्त समय में यमदूतों को देखता है तब जानता है कि मेरे मरने का समय आ गया है और अत्यन्त पश्चात्ताप करके रोने लगता है। किन्तु उस पश्चात्ताप का फल कुछ भी नहीं होता। तब यह यमदूतों से कहता है कि मुझे एक दिन या एक घड़ी का अवकाश दो तो मैं कुछ भजन कर लूँ। इस पर यमदूत कहते हैं कि पहले तो प्रभुने तुझे बहुत-से दिन और प्रहर दे रखे थे, अब तो तेरी आयु पूरी हो गयी, इसलिये कोई भी पल या घड़ी शेष नहीं है। फिर जब यह प्राणी निराश हो जाता है तो इसकी धर्म में अस्था नहीं रहती और अनेकों प्रकार के दुःखों का अधिकारी हो जाता है! तब तो जिसपर प्रभुकी कृपा होती है उसी का धर्म नष्ट होने से बचता है और वही परम सुख भी प्राप्त कर लेता है। इसीसे सन्तजनों ने कहा है कि भगवान् दो बार

मनुष्य से सम्भाषण करते हैं— पहली बार तो वे गर्भ में आज्ञा देते हैं कि अरे मनुष्य ! मैंने तुझे भजन स्मरण का अधिकारी बनाया है और इसके लिये तुझे आयुरूपी अवकाश भी दिया है, अतः तुझे मेरे भजन में खूब सावधान रहना चाहिये, मेरे इस कृपा-प्रसाद को पापों में नहीं लगाना चाहिये। तथा दूसरी बार मृत्यु होनेपर कहता है कि अरे मनुष्य ! यदि तूने मेरे दिये हुए पदार्थों को शुभ कर्मों में लगाया है तो तू उनका फल प्राप्त कर, और यदि उन्हें पापों में नष्ट किया है तो नरकों के दुःख भोग।

(मनुष्य के विधिवत् त्याग को भगवान् स्वीकार करते हैं)

यह याद रखो, यदि तुमने विधिवत् पापों का त्याग किया है तो भगवान् उसे अवश्य अंगीकार करेंगे। इससे तुम्हें सन्देह नहीं करना चाहिये। किन्तु इस बात को अच्छी तरह विचार कर देखो कि तुम्हारा त्याग भक्तिपूर्वक है या नहीं। सो, जिस मनुष्य ने इस जीव के रहस्य को अच्छी तरह पहिचाना है. जिसने जीव और देह के सम्बन्ध को समझा है और भगवान् के साथ इस जीव का जो सम्बन्ध है उसे भी अच्छी तरह पहिचाना है उसे इस बात में कुछ भी सन्देह नहीं होता कि भोग और पाप आवरणरूप हैं और इनका त्याग प्रभु की निकटता का कारण है, क्योंकि इस जीव की उत्पत्ति का स्थान परम निर्मलस्वरूप है, इसलिये यदि इसके हृदयदर्पण से पाप और भोगवासनारूप जंगाल हटा दी जाय तो उसमें प्रभु के निर्मल स्वरूप का प्रतिबिम्ब भासने लगेगा। पापकर्म करने से तो हृदयरूपी दर्पण मलिन हो जाता है, किन्तु जब यह शुभ कर्मों में स्थित होता है तब उनका प्रकाश पापों के अन्धकार को दूर कर देता है। इस प्रकार इस जीव के हृदय पर रज-तमरूपी अन्धकार और सत्त्वगुण रूप प्रकाश यद्यपि सर्वदा ही विद्यमान रहते हैं, किन्तु जब पापों का अन्धकार बढ़े और यह

पुरुष भगवान् का भय मान कर पापों को त्याग दे तो निःसन्देह सत्वगुण का प्रकाश उस अन्धकार को नष्ट कर डालता है और इसका हृदयरूपी दर्पण निर्मल हो जाता है। किन्तु जिसका हृदय पापों के अन्धकार से इतना मलिन हो जाय कि इसकी बुराई को कुछ समझ ही न सके उस पुरुष से इसका त्यागरूपी उपाय कभी हो नहीं पाता। फिर यह यद्यपि मुख से तो कहता है कि मैंने भोगों को त्याग दिया, किन्तु इसका यह कथन व्यर्थ ही होता है, जिस प्रकार वस्त्र को जल और साबुन से धोया जाय तब तो वह स्वच्छ हो जाता है, किन्तु यदि धोने की केवल बात ही की जाय तो उससे कभी निर्मल नहीं हो सकता। इसी विषय में महापुरुष ने कहा है कि यदि तुम से कोई पाप हो जाय तो उसके पीछे तुम तत्काल शुभ कर्म करो, जिससे वह बुराई नष्ट हो जाय। और यदि तुम्हारे पाप इतने अधिक हों कि वे आकाश को भी ढाँप लें तो भी जब तुम श्री भगवान् का भय मान कर उन्हें त्याग दोगे तो तुम्हारे उस त्याग को प्रभु दया करके स्वीकार कर लेंगे।

ऐसा भी कहा है कि कोई लोग पापके ही सम्बन्धसे स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं। एक बार किसी ने महापुरुषसे पूछा कि यह मनुष्य पापके द्वारा परम सुख का अधिकारी कैसे हो सकता है? तब उन्होंने कहा कि पहले जिससे कुछ दोष हो जाय किन्तु फिर वह भयभीत होकर उसे त्याग दे और सर्वथा भुला दे एवं सर्वदा विनीत रहे, तो वह निःसन्देह परमसुखका अधिकारी हो जाता है। ऐसा भी कहा है कि जैसे जलके द्वारा मैल उतर जाता है वैसे ही शुभ कर्मों से अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है। इस विषय में यह गाथा है कि जिस समय शैतानको धिक्कारा गया था उस समय उसने कहा था, "महाराज ! मैं तुम्हारी शपथ करके कहता हूँ कि जबतक इस मनुष्य की मृत्यु न होगी तबतक मैं इसके हृदय से बाहर नहीं निकलूँगा।" इसपर प्रभुने कहा कि मैं भी अपनी महिमाकी

शपथ करके कहता हूँ कि जबतक मनुष्य का शरीर न छूटेगा तब-तक मैं भी उसके लिये त्याग का द्वार बन्द नहीं करूँगा। इस विषयमें एक सन्तका कथन है कि भगवान् ने सभी महापुरुषों को यह आज्ञा की है कि तुम पापी पुरुषोंसे हमारी ओर से कहो कि यदि तुम ग्लानि और भय मानकर पापों को त्याग दोगे तो मैं तुम्हारे सब पाप क्षमा करके तुम्हें अपना लूँगा, तथा धर्मात्मा पुरुषों को सावधान कर दो कि यदि मैं ठीक-ठीक न्याय करूँगा तो वे भी दण्ड के अधिकारी होंगे। एक अन्य सन्तने भी कहा है कि जिह्वाके द्वारा भगवान् के उपकारों को कोई गिन नहीं सकता, अतः जिज्ञासु को चाहिये कि रात-दिन अपने अपराधोंको क्षमा कराता रहे। ऐसा होनेपर भगवान् दया करके इस जीवके सब पापोंको क्षमा कर देते हैं।

इस विषयमें एक गाथा भी है—एक तामसी मनुष्यने किसी तपस्वीसे पूछा कि मैंने पाप बहुत किये हैं और अब तक निन्यानवे व्यक्तियों को मार चुका हूँ, तो यदि अब मैं भविष्यमें पाप करना छोड़ दूँ तो भगवान् मुझे क्षमा करेंगे या नहीं? तपस्वीने कहा कि तू क्षमा का अधिकारी नहीं है, क्योंकि तू तो बड़ा भारी पापी है। यह सुनकर वह अत्यन्त निराश हुआ और उसने उस तपस्वी को मार डाला। फिर उसने एक विद्वान्से पूछा कि मैंने सौ मनुष्यों की हत्या की है, परन्तु यदि मैं भविष्यमें पाप करना छोड़ दूँ तो भगवान मेरे अपराधों को क्षमा करेंगे या नहीं? उस बुद्धिमान् ने कहा, "तू जिस नगरमें रहता है उसमें सब लोग तामसी ही हैं, सो यदि तू इनकी संगति छोड़कर अमुक नगरमें सात्त्विकी पुरुषोंकी संगतिमें जाकर रहने लगे तो तेरा त्याग भगवान् के दरबार में स्वीकृत हो सकता है।" तब वह पुरुष पाप कर्मोंको त्यागकर अपने नगरसे चल दिया। किन्तु भगवान् की इच्छासे मार्गमें ही उसका शरीर छूट गया। तब यमदूत और भगवान्के पार्षद उसे लेने के

लिये आये और अपनी-अपनी ओर खींचने लगे। इसी समय आकाशवाणी हुई कि यह पुरुष अपने नगरकी भूमिसे भगवद्भक्तोंकी भूमिकी ओर एक हाथ अधिक आ गया है, इसलिये अब मुक्तिका अधिकारी है। तात्पर्य यह कि यद्यपि शरीरधारी पुरुष कभी पापों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते, तथापि यदि पापों की अपेक्षा इनकी शुभकर्मों में थोड़ी भी अधिक रुचि हो, और ये पापोंका संकल्प छोड़ दें, तो भी मुक्तिके अधिकारी हो जाते हैं।

(अल्प और महान् पापों के भेद)

याद रखो, कोई पाप तो अल्प होता है और कोई महान् होता है। किन्तु यदि इस पुरुष से कोई अल्प पाप हो जाय और फिर उसमें अधिक न ठहरकर यह उसे त्याग दे तो वह पाप सुगमता से ही क्षमा हो जाता है। महापुरुष ने कहा है कि यदि तुम महान् पापों से बचे रहे तो तुम्हारे अल्प पाप मैं क्षमा करा लूँगा। अतः महान् पापों की पहचान बहुत आवश्यक है। सो, इस विषय में विद्वानों ने अनेक प्रकार की बातें कहीं हैं। किन्तु मुझे तो ऐसा भासता है कि निम्नलिखित चार महा पाप तो मन के हैं—

१. भगवान् और परलोक में विश्वास न करना।
२. पापों में दोषदृष्टि न करना।
३. भगवान् की दया से निराश होना।
४. प्रभु की ओर से असावधानी करने का भय न होना और अपने को निष्पाप समझ कर निडर रहना।

तथा चार महापाप जिह्वा के कहे जाते हैं—

१. झूठी सीख देना।
२. लोभवश झूठी शपथ करना अथवा झूठ बोलना।
३. मन्त्र-यन्त्र पढ़कर किसी को कष्ट पहुँचाना।
४. निन्दा करना।

और दो महापाप उदर के हैं—

१. निषिद्ध और गरिष्ठ आहार करना।

२. अनाथों को कष्ट पहुँचाकर अथवा छल करके अपनी जीविका उपार्जन करना।

इसी प्रकार उपस्थेन्द्रिय का एक मात्र महापाप व्यभिचार है तथा हाथ के द्वारा दो महापाप होते हैं—(१) किसी मनुष्य की हिंसा करना और (२) किसी की वस्तु चुरा लेना। अशुभ कर्मों की ओर गमन करना— यह पैरों का महापाप है और माता-पिता की सेवा न करना यह सारे शरीर का महापाप है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन सब पापों से जिज्ञासुओं को बहुत डरना चाहिये।

एक बात यह भी जान लेनी चाहिये कि यदि इस मनुष्य से भजन के नियम में कुछ ढील हो जाती है तो उसे तो प्रभु क्षमा कर देते हैं, किन्तु यदि किसी पुरुष का एक पैसा देना रह जाय, तो उसे दिये बिना इसे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता। इसी विषय में सन्तजनों ने कहा है कि सब पाप तीन प्रकार के हैं-

१. मनमुखता और विश्वासहीनता। अतः जब तक यह पुरुष इस पाप को नहीं त्यागता तब तक कभी क्षमा का अधिकारी नहीं हो सकता।

२. भगवान् के भजन या पाठ आदि में कुछ प्रमाद हो जाना। इस पाप को दीनता होनेपर भगवान् क्षमा कर देते हैं। किसी भी प्रकार लोगों को कष्ट पहुँचाना। इस पाप को भगवान् कभी क्षमा नहीं करते। अतः इसका प्रायश्चित्त यही है कि उस अपराध को उस दुःखी पुरुष से ही क्षमा करावे और जिसका धन हर लिया हो वह उसे ही लौटा दे तथा किसी भी पुरुष को धर्म से विमुख न करे। अभयताकी बातें सुनकर लोगों को निःशंक कर देना भी महा-

पाप ही है।

(अल्पपाप को महापाप बना देनेवाले कारण)

यद्यपि जिज्ञासुजनों को अल्पपापों के क्षमा हो जाने की आशा रहती है, तथापि कुछ कारण ऐसे हैं जिनसे वे अल्पपाप भी महा पाप हो जाते हैं। और फिर उनके लिये क्षमा मिलना कठिन हो जाता है। इन कारणों का हम क्रमशः वर्णन करते हैं।

१. जिस पाप का स्वभाव चिरकाल के अभ्यास से दृढ़ हो जाता है वह भी महापाप की कोटि में आ जाता है, जैसे सुन्दर वस्त्र पहनने और रूपवानों के मुँह से संगीत सुनने का व्यसन दृढ़ हो जाय तो रजोगुण की प्रबलता के कारण इसका चित मलिन हो जाता है और फिर शीघ्र ही तमो-गुण उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार सर्वदा भजन करते रहने से निश्चय ही हृदय उज्ज्वल हो जाता है, उसी प्रकार दीर्घकालतक पाप में प्रवृत्त रहने से हृदय अवश्य अन्धा हो जाता है। महापुरुष कहते हैं कि थोड़ा सा भी शुभ कर्म हो, किन्तु यदि उसे निरन्तर करते रहें तो वह भी बहुत बढ़ जाता है, जैसे पत्थर पर धीरे-धीरे जलकी बूँदें पड़ती रहें तो कालान्तर में उसमें छिद्र हो जाता है। और यदि एक साथ उस पर जलका प्रवाह भी बहा दिया जाय तो उससे उस पर तनिक भी चिह्न नहीं बनता। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि जब उससे कोई अल्प पाप हो जाय तो अपने को भूला समझकर पश्चाताप करे और आगे के लिये उसका संकल्प निर्मूल करदे। ऐसा होनेपर वह पाप निः-सन्देह क्षमा हो जाता है। इसी विषय में सन्तजनों ने कहा है कि भय और पश्चाताप के द्वारा महापाप भी लघु हो जाता है और स्वभाव में बद्धमूल हो जानेपर अल्प पाप भी महान् हो जाता है।

२. जब यह पुरुष अपने पाप को अल्प मानता है तब तो वह बढ़ जाता है और जब यह उसे महान् समझता है तब वह घट जाता है, क्योंकि अल्प पाप को महान् तभी समझा जाता है जब हृदय में भगवान् का भय और विश्वास हो। इसलिये ऐसी स्थिति में इसका हृदय प्रकाश से भर जाता है और उसमें पापवासनाजनित अन्धकार नहीं रहता। इसके विपरीत अपने पाप की अल्पता प्रमाद और भोगासक्ति के कारण प्रतीत होती है। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार के कर्मों का प्रेरक तो इसका मन ही है। अतः जिस कर्म में इसके मन की वृत्ति बँध जाती है उसी पर इसका अधिक जोर रहता है। इसीसे महापुरुष ने कहा है कि भगवत्प्रेमी महानुभाव तो थोड़े से पाप को भी पर्वत के समान समझते हैं। और ऐसा मानते हैं कि यदि ऐसा पाप मुझसे बन गया तो मैं उसके नीचे दब जाऊँगा। तथा मनमुखी लोग अपने पाप को मक्खी की तरह नगण्य समझते हैं, इसलिये वह उनसे कभी नहीं छूटता। एक बार एक महापुरुष को आकाशवाणी हुई थी कि तुम अपने पापों को थोड़ा मत देखो और इस बात पर ध्यान दो कि इस पापके कारण हम किस प्रकार प्रभु से विमुख हो गये हैं। अतः जो पुरुष प्रभु के सामर्थ्य और निरपेक्षता को अच्छी तरह जानता है वह थोड़े पाप को भी बहुत समझता है, क्योंकि सभी पापों के भीतर प्रभु का कोप छिपा हुआ है।

३. जो पुरुष पापकर्म करके प्रसन्न होता है और उसे कोई बड़ी चीज समझता है, उसका पाप भी बढ़ जाता है। जैसे कोई मूर्ख कहे कि हमने किस प्रकार दाँव-पेच करके उसका धन ऐंठ लिया और फिर भरी सभा में उसे खरी-खोटी सुनाकर तथा उसकी खिल्ली उड़ाकर उसे खूब लज्जित किया तो

जो लोग पाप करके इस प्रकार अपनी बड़ाई करते हैं इस से जाना जाता है कि उनका हृदय मलिन हो गया है, और उनका वह पाप ही उन्हें ले डूबेगा ।

४. जिस मनुष्य का पाप जगत्प्रसिद्ध हो, किन्तु वह समझता हो कि मेरे ऊपर तो भगवान् की कृपा है और उस कृपा के भरोसे ही उस पाप को छोड़ता न हो, तो उससे उसे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता।

५. जब यह मनुष्य किसी विद्वान् या श्रेष्ठ पुरुष को पाप करते देखता है तो भी ढीठ और निःशंक हो जाता है और कहने लगता है कि अमुक विद्वान् सुन्दर वस्त्र पहनता है, राजसभा में जाता है और राजा का धन स्वीकार करता है, तो मैं ऐसा क्यों न करूँ ? यदि यह कर्म बुरा होता तो वह ऐसा क्यों करता ? ऐसा सोचकर यह भी निःशंक होकर पापों में बर्तने लगता है । इस प्रकार जो अनेकों लोग धर्म से भ्रष्ट होते हैं उन सबका पाप उस विद्वान् को ही लगता है, क्योंकि आरम्भ में इस पाप की नींव उसी ने रखी थी। इस विषय में एक गाथा भी है। एक विद्वान् पहले पापकर्मों में डूबा हुआ था। फिर उसने उन्हें त्याग दिया। तब उसे आकाशवाणी हुई कि मैंने तेरे पाप तो क्षमा किये, किन्तु तेरे आचरण और कथन के कारण जो कितने ही लोग पापों में प्रवृत्त हुए हैं, उन्हें तू कैसे क्षमा करेगा। इसीसे सन्तजनों ने कहा है कि और लोगों की अपेक्षा विद्वानों को पाप का अधिक भय होता है, क्योंकि उनका पाप सहस्र गुना बढ़ जाता है । इसी प्रकार उनका शुभ कर्म भी सहस्र गुना बढ़ ही जाता है । अतः विद्वानों को उचित है कि प्रथम तो पापकर्म करे ही नहीं, और यदि अकस्मात् हो जाय तो उसे प्रकट न करे तथा अपने शरीर

सम्बन्धी व्यापार में भी संयम रखे तो अच्छा है, जिससे उसे देखकर और लोग भी प्रमाद न करें। एक संत ने कहा है कि पहले मैं हँसने-खेलने में किसी प्रकार की शंका नहीं करता था, किन्तु जब संसार में मेरा ऐश्वर्य प्रकट हुआ तो अब मुझे मालूम होता है कि मेरे लिये बिना प्रयोजन मुसकाना भी उचित नहीं है। तात्पर्य यह है कि यों तो किसी भी पुरुष के छिद्रों को प्रकट करना उचित नहीं है, तथापि विद्वानों के छिद्रों को छिपाना तो अत्यन्त आवश्यक है। सन्तजनों का ऐसा भी कथन है कि जिस मनुष्य की मृत्यु होनेपर उसका कोई पाप शेष न रहे, वह उत्तम कहा जाता है और जिसका पाप सहस्रों वर्षों तक रहे उस की तो अत्यन्त अधोगति होती है। तात्पर्य यह कि जिसके पाप को देखकर और लोग भी पापों की ओर से निःशंक हो जाते हैं उसका पाप बहुत समय तक बना रहता है।

(त्याग की युक्ति)

याद रखो, पापों से डरना—यही त्याग का मूल है और इसका फल सात्त्विकी श्रद्धा है। पापों से डरने का आशय यह है कि उन्हें देखकर सर्वदा दीनचित्त, विषादग्रस्त और भजननिष्ठ रहे, क्योंकि जिस पुरुष को अपनी मृत्यु समीप दीख पड़ती है वह भला पश्चात्ताप और रुदन के बिना कब रह सकता है ? अथवा यदि कोई लोभी वैद्य किसी से कह दे कि इस रोग से तुम्हारे पुत्र की जल्दी ही मृत्यु हो जायगी, तो उसे किस प्रकार चिन्तानल जलाने लगेगी। सो, यह बात निश्चत है कि बुद्धि का नष्ट होना पुत्र की मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी है। और सन्तों के वचन लोभी वैद्य के वचनों से अधिक विश्वसनीय हैं। इसके सिवा शरीर के नाश का कारण जो स्थूल रोग है उसकी अपेक्षा पापरूप रोग अधिक प्रबल

है, जो कि तत्काल ही बुद्धि को नष्ट कर देता है। अतः जो पुरुष संतों के ऐसे वचन सुनकर भी न डरे, समझना चाहिये कि उसे उनमें दृढ़ विश्वास ही नहीं है। अथवा उसने पापों के विघ्नों को ही ठीक-ठीक नहीं समझा। जिस पुरुष की बुद्धि तीक्ष्ण होती है, उसके हृदय में तत्काल विचार उत्पन्न हो जाता है। तथा भयरूपी अग्नि उत्तरोत्तर बढ़ने लगती है। अन्त में उसी अग्नि से उसके पापों का अन्धकार नष्ट हो जाता है और उसकी बुद्धि उज्ज्वल हो जाती है। एक संत का कथन है कि सर्वदा त्यागी पुरुषों का संग करना अच्छा होता है, क्योंकि उनका हृदय निर्मल और स्थिर होता है और जितना ही इस पुरुष का हृदय उज्ज्वल होता है उतना ही यह पापों से ग्लानि करता है। भोगों से जो प्रसन्नता होती है उसे तो भय और पश्चात्ताप नष्ट कर देते हैं और फिर उनका त्यागना आवश्यक हो जाता है। कहते हैं, एक पुरुष ने प्रभु से प्रार्थना की थी कि अन्तर्यामिन्! मेरे त्याग को अंगीकार कीजिये। तब उसे आकाशवाणी हुई कि यदि तेरे लिये सारा विश्व प्रार्थना करे तो भी जब तक तेरे हृदय से भोगों की अभिलाषा दूर नहीं होगी तब तक मैं तेरे त्याग को कभी स्वीकार नहीं कर सकता।

अतः स्मरण रखो, यद्यपि इस मनुष्य को पाप और भोग मक्खी की तरह तुच्छ जान पड़ते हैं परन्तु त्यागी पुरुष तो उन्हें विष मिले हुए मधु के समान जानता है। यदि कोई पुरुष अकस्मात् ऐसे मधु को खा ले तो वह दुःख से व्याकुल हो जायगा, भय से उसके रोमाञ्च हो जायगा और वह स्वाभाविक ही उससे ग्लानि करने लगेगा। इस प्रकार उस मधु को खाने की उसे कोई अभिलाषा नहीं रहेगी। इसी प्रकार जिज्ञासु को चाहिये कि सब प्रकार के पापों में प्रभु के कोपरूप विष को प्रत्यक्ष अनुभव करे।

ऊपर त्याग का फल सात्त्विकी श्रद्धा बतलायी गयी है। उसके भी तीन लक्षण हैं—

१. सब पापों से विरक्त होना और करणीय कर्मों में सावधान रहना।

२. भविष्य के लिये भी यही श्रद्धा रखना कि यह पाप मैं कदापि नहीं करूँगा, भगवान् को अन्तर्यामी जानकर त्याग के निर्वाह का संकल्प रखना तथा एकान्त और शुद्ध जीविका को अंगीकार करना। तात्पर्य यह कि जब तक पुरुष सब प्रकार के पाप और भोगों की वासना से निवृत्त नहीं होता तब तक उसे पूर्ण त्यागी नहीं कह सकते। संतों का कथन है कि यदि किसी के प्रति भोगों की प्रबलता हो तो उसे सात बार हठ और प्रयत्न करके उन्हें त्यागना चाहिये। ऐसा करने से वह कठिनता दूर हो जाती है।

३. बीते हुए पापों का प्रायश्चित्त करने में तत्पर रहना और इस बात को पहिचानना कि मुझ से भगवान् के क्या-क्या अपराध हुए हैं।

ये भगवान् के अपराध दो प्रकार के होते हैं—(१) करने योग्य कर्मों से विमुख रहना और (२) पाप कर्मों में आसक्ति रखना। अतः बाल्यावस्था से लेकर जिस-जिस नियम के पालन में प्रमाद किया हो अथवा अपनी आय का दशमांश दान न किया हो, या किसी अनधिकारी को दान दिया हो, तो इन सब पापों का प्रायश्चित्त इस प्रकार करे कि भजन और दान की अधिकता रखे तथा बाल्यावस्था से लेकर जो-जो भी महापाप किया हो उसे स्मरण करके भयपूर्वक भगवान् से क्षमा करावे एवं शरीरद्वारा विशेष रूप से तपस्या और प्रयत्न करता रहे। तथा अल्प पापों का प्रायश्चित्त इस प्रकार करे कि यदि अतिभाषण किया हो तो मौन रहे और यदि किसी के प्रति कुदृष्टि की हो तो लज्जापूर्वक नेत्रों को मूँदे रहे। इसी प्रकार अन्य सब पापों के विषय में भी

विपर्ययभाव अंगीकार करे। इससे विकारों की अशुद्धि दूर हो जायगी। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि यदि दुष्कृत के पश्चात् सुकृत किया जाय तो फिर सुकृत ही बढ़ जायगा। इसी से विषयसम्बन्धी राग सुनने का प्रायश्चित्त यह है कि सन्तजनों के वचन सुनता रहे और यदि किसी के सामने निःशंक होकर बोला हो तो सबका भय माने और सभी का आदर करे। तात्पर्य यह है कि पाप करने से जितना ही इसका हृदय मलिन होता है उतनी ही प्रायश्चित्त करने से वह मलिनता दूर होती है। अतः उचित यह है कि यदि इसने मायिक पदार्थों को देखकर प्रसन्नता मानी हो तो अब संयम और कष्टों को स्वीकार करे, क्योंकि भोगों की आसक्ति से इसका हृदय बन्धन में पड़ जाता है और घृणा तथा संयम स्वीकार करने से वह बन्धन निवृत्त हो जाता है। इसीसे सन्तों ने कहा है कि यदि सात्त्विकी पुरुषों के पैर में काँटा गड़ जाता है तो वह भी उनके पापों को ही क्षीण करता है। तथा महापुरुषों ने भी कहा है कि शोक और चिन्ता के द्वारा भी कितने ही पापों का प्रायश्चित्त हो जाता है।

किन्तु यदि तुम कहो कि शोक और चिन्ता तो इसके पुरुषार्थ से नहीं होते; अतः वे इसके पापों का प्रायश्चित्त कैसे हो सकते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि जिस संयोग से भी इस पुरुष का हृदय माया के पदार्थों से हट जाय वह निःसन्देह हितकारी है। भले ही, वह इसके पुरुषार्थ से हुआ हो अथवा प्रभु की प्रेरणा से अकस्मात् हो गया हो। दोनों ही अवस्थाओं में वह संयोग निश्चित रूप से इस जीव के कल्याण का हेतु होता है।

इसीसे यदि इसने किसी को कष्ट पहुँचाया हो, किसी का धन हरा हो अथवा किसी की निन्दा की हो तो उचित है कि याद करके उन सबसे क्षमा माँगे और जिसका धन लिया हो उसे वह

लौटा दे। इसी प्रकार जिसका घात किया हो उसके सम्बन्धियों को अपना शरीर समर्पित कर दे। किन्तु यह बात राजाओं और व्यापारियों के लिये कठिन है, क्योंकि उनका बहुत लोगों के साथ सम्बन्ध रहता है। अतः ये इस प्रकार इसका प्रायश्चित्त न कर सकें तो इन्हें वैराग्य और भगवद्भजन में ही दृढ़तापूर्वक स्थित होना चाहिये। जिस पुरुष से कोई पाप नित्यप्रति होता हो उसे शीघ्र ही उसका प्रायश्चित्त करते रहना चाहिये। इस विषय में सन्तजनों का कथन है कि यदि यह पुरुष पापकर्म करके उसे सदा के लिये त्याग दे अथवा त्यागने का संकल्प कर ले, उसके कष्ट से भयभीत होकर भगवान् की दया की आशा रखे, यथा-शक्ति दान करे और सन्तजनों की संगति में रहे तो यह सब करने से उसका पाप क्षीण हो जाता है। किन्तु हृदय में भय और प्रीति तो हो नहीं, केवल मुँह से ही त्राहि-त्राहि कहता रहे, तो इससे कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि लाभ का कारण तो भय, पश्चात्ताप और हृदय की कोमलता ही है।

किन्तु यदि कोई पुरुष हृदय में थोड़ा भय रखकर श्रीभगवान् का नाम लेता रहे और उनसे प्रार्थना करके अपने पापों को क्षमा कराता रहे तो कम से कम निन्दा और वाद-विवाद से तो मुक्त रहता है। इसलिये यह भी बहुत अच्छा है। इस विषय में एक जिज्ञासु ने अपने गुरुदेव से पूछा था कि जब मैं मुँह से भगवान् का नाम लेता रहता हूँ तब मेरा मन एकाग्र नहीं रहता। इस पर गुरुदेव ने कहा, "तू इसे भी प्रभु का उपकार ही समझ, क्योंकि ऐसा करने से तेरी एक इन्द्रिय तो शुभ कर्म में लगी रहती है, पीछे प्रभु की सहायता मिलनेपर मन भी एकाग्र होने लगेगा।" किन्तु यह मन ऐसा कपटी है कि जब जिज्ञासु को भजन में लगा देखता है तो कहने लगता है कि एकाग्रता बिना भगवान् का नाम लेना व्यर्थ है, इसलिये तू इस भजन को ही छोड़ दे। उस समय

जो उत्तम पुरुष हैं वे तो मन को यह उत्तर देते हैं, "भाई ! तेरा कथन ठीक है। इसलिये अब मैं मन को भी एकाग्र किये लेता हूँ। तब तो मेरा भजन सार्थक हो जायगा।" यह उत्तर ऐसा है जो मन के छल को सर्वथा नष्ट कर डालता है। जो मध्यम पुरुष हैं वे कहते हैं, "यद्यपि मैं मन को तो एकाग्र नहीं कर पाता, तथापि निद्रा, आलस्य और वाद-विवाद की अपेक्षा तो भगवान् का नाम लेना ही अच्छा है। अतः मैं इसे त्यागूँ क्यों ? जिस प्रकार सर्राफ के व्यवसाय की अपेक्षा यद्यपि राज्य करना श्रेष्ठ है, किन्तु यदि किसी को राज्य प्राप्त न हो सके तो क्या वह सर्राफ का काम छोड़कर चाण्डाल का धंधा करने लगेगा ?" किन्तु कोई मनुष्य ऐसे अधम होते हैं कि जो मन का कहना मानकर भजन ही को छोड़ बैठते हैं। वे समझते हैं कि चित्त की एकाग्रता के बिना भला, भजन से क्या लाभ है ? अतः हमारा भजन को त्याग देना भी बड़ी बुद्धिमानी का काम है। परन्तु यदि विचार किया जाय तो उन्होंने मन की अधीनता स्वीकार करके ही भजन को त्यागा है। इसलिये वे बड़े ही अभागे हैं।

(त्याग की प्राप्ति का उपाय)

जो लोग पापों का त्याग नहीं करते और सर्वदा भोगों में आसक्त हैं, उन्हें पहले उस कारण को जानना चाहिये कि जिससे उनके चित्त में त्याग की श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। उसे त्याग के संकल्प से दूर रखनेवाले पाँच कारण हैं और उन सबकी निवृत्ति के भिन्न-भिन्न उपाय हैं। उनका विवरण इस प्रकार हैं—

१. जिनके हृदय में परलोक के प्रति विश्वास नहीं होता अथवा जो इस विषय में सन्दिग्ध होते हैं वे लोग पापों को नहीं त्याग पाते। उनके इस दोष की निवृत्ति के उपाय का मैंने सप्तम उल्लास की अन्तिम किरण में भ्रान्त

बुद्धियों के प्रसंग से स्पष्ट निरूपण किया है।

२. जिनके हृदय में भोग वासनाओं की विशेष प्रबलता रहती है वे भी त्याग नहीं कर सकते। इसी से वे परलोक के दुःखों का स्मरण भी नहीं करते, क्योंकि उनमें से अधिकांश मनुष्यों को भोगासक्ति दबाये रहती है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जब भगवान् ने नरकों को उत्पन्न किया तब देवताओं से पूछा कि ये कैसे दुःखरूप हैं? देवताओं ने कहा, "भगवन्! जो पुरुष इन दुःखों के विषय में सुनेगा वह सब प्रकार अपने को इनसे बचाना चाहेगा।" फिर भगवान् ने नरकों के चारों ओर भोग उत्पन्न किये। तब देवताओं ने कहा, "प्रभो! इनकी अभिलाषा से तो कोई छूट नहीं सकेगा। अतः हमें भय है कि भोगासक्ति के कारण तो बहुत लोग नरकगामी होंगे।" इसके पश्चात् भगवान् ने स्वर्ग उत्पन्न किया। उसे देखकर देवता लोग कहने लगे, "भगवन्! जो पुरुष इसकी महिमा सुनेगा वह तो निश्चय इसी को प्राप्त करना चाहेगा।" तदनन्तर भगवान् ने स्वर्ग के मार्ग में बड़े-बड़े यत्न और दुःख उत्पन्न किये। तब देवताओं ने कहा, "प्रभो! इन दुःखों को पार करके तो कोई विरला ही स्वर्ग में पहुँच सकेगा, अधिकांश पुरुष तो भयभीत होकर बीच ही से लौट जायँगे।" इससे निश्चय होता है कि भोगासक्ति नरकों का मार्ग है और दुःख सहन करना स्वर्ग का साधन है।

३. संसार में आकर यह पुरुष भोगों को तो नकद समझता है और परलोक को उधार। इसलिये भोगों में इसकी विशेष प्रीति हो जाती है और फिर यह नरकों के दुःख को स्मरण ही नहीं करता। किन्तु यह है इसकी बुद्धि

हीनता ही।

४. इस मनुष्य में यदि त्याग का कुछ संकल्प होता भी है तो भी प्रमादवश उसमें ढील कर देता है, और जब इसे कोई भोग प्राप्त होता है तो सोचता है कि अब तो इसे भोग लूँ, फिर इसका त्याग कर दूँगा।

५. जो व्यक्ति भगवान् की दया के विषय में सुन लेता है वह अपने चित्त में ऐसा भी अनुमान कर लेता है कि भगवान् मुझे क्षमा कर देंगे।

किन्तु जो मनुष्य भोगों को नकद और परलोक को उधार समझता है उसे यह सोचना चाहिये कि इनमें से जो वस्तु जिस समय आनेवाली होती है वह उस समय अवश्य आ जाती है। मान लो, यदि इसी समय इसकी मृत्यु हो जाय तो इसके लिये परलोक नकद हो जायगा और स्थूल भोग उधार हो जायँगे। तथा मनुष्य में जो भोगासक्ति है उसकी निवृत्ति के लिये यह विचारना चाहिये कि यदि मेरे चित्त में भोगों को त्यागने का भी सामर्थ्य नहीं है तो मैं इनके परिणाम में प्राप्त होनेवाले नरक के दुःखों को कैसे सहन कर सकूँगा ? अतः जिस प्रकार रोगी पुरुष किसी वस्तु में विशेष रुचि होनेपर भी वैद्य की आज्ञानुसार उसे त्याग देता है उसी प्रकार जिज्ञासु को भी उचित है कि भगवान् और सन्तजनों की आज्ञा मानकर प्रयत्नपूर्वक भोगों को त्याग दे। इसी में उसका हित है। जो मनुष्य पापों को त्यागने में ढील करता है उसे यह सोचना चाहिये कि यदि कल ही मेरी मृत्यु आ गयी तो मैं क्या करूँगा ? क्योंकि जीवन तो मेरे हाथ में है नहीं। इस विषय में सन्तजनों का कथन है कि जो लोग त्याग करने में ढील करते हैं वे परलोक में अत्यन्त दुःखी होकर पुकारेंगे। अतः मनुष्य को चाहिये कि पुरुषार्थपूर्वक शीघ्र ही भोगों को त्याग दे और जब मन में ऐसी ढील आवे कि अभी तो

भोगों को त्यागना कठिन है तब यह सोचना चाहिये कि यह कठिनता तो जैसी आज है वैसी ही कल भी रहेगी। ढील करनेवाले पुरुष के लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे कोई बुद्धिमान् किसी से कहे कि यदि तुम अभी इस बबूल के पेड़ को उखाड़ डालो तो अच्छा है और वह उसे उत्तर दे कि अभी तो मैं दुर्बल हूँ और इस पेड़ के जड़ बहुत दृढ़ है, अतः मैं इसे एक वर्ष पश्चात् उखाड़ दूँगा। उस मूर्ख को समझाना चाहिये कि एक वर्ष पश्चात् तो तू और भी निर्बल हो जायगा और इस वृक्ष की जड़ और भी अधिक दृढ़ हो जायगी। इसी प्रकार भोगों का स्वभाव भी उत्तरोत्तर प्रबल होता जायगा और तुम्हारी बुद्धि के बल में शिथिलता आती जायगी। इसलिये यदि तुम शीघ्र ही इन्हें त्यागने का उद्योग करो तो अच्छा है।

इसी तरह जो पुरुष भगवान् को दयालु समझकर पापों को न त्यागता हो उसे समझना चाहिये कि उनकी दया तुम्हारे अधीन तो है नहीं; और जब पापों के कारण तेरा धर्म ही नष्ट हो जायगा तो निःसन्देह अन्त समय में पश्चाताप ही तेरे हाथ लगेगा। सन्तजनों का कथन है कि धर्मरूपी वृक्ष तभी बढ़ता है जब उसे भजनरूपी जल से सींचा जाता है। यदि उसे भजनरूपी जल प्राप्त न हो तो वह निःसन्देह नष्ट हो जाता है। संसार में संतजनों के आने का प्रयोजन भी यही है कि पापों का फलरूप जो दुःख है वह जीवों को प्रत्यक्ष दिखा दिया जाय। तात्पर्य यह कि भगवान् की दया के भरोसे पापाचार में प्रवृत्त रहना बड़ी मूर्खता की बात है। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई पुरुष अपना सर्वस्व लुटाकर चित्त में ऐसी आशा रखे कि मुझे स्वाभाविक ही वन में धन का खजाना मिल जायगा अथवा कोई धनी आदमी मेरे घर में आकर मर जायगा और उसका सारा धन मेरे ही पास रह जायगा। यद्यपि अकस्मात् ऐसा संयोग भी हो सकता है, परन्तु

ऐसी आशा से धन लुटाकर निश्चिन्त होना तो बड़ी भारी मूर्खता ही है।

कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि जब तक सम्पूर्ण पापों का त्याग न करे, केवल थोड़े ही पाप छोड़े, तब तक उसे पूर्ण त्यागी नहीं कह सकते। जैसे कोई व्यभिचार तो छोड़ दे, किन्तु मद्यपान न छोड़े तो उसे त्यागी कैसे कह सकते हैं, क्योंकि पापकर्म तो सभी निन्दनीय और त्याज्य हैं। परन्तु मुझे तो यह बात ऐसी जान पड़ती है कि जिसने व्यभिचार को मद्यपान से बुरा समझा है, अथवा ऐसा समझा है कि मद्य पीने से व्यभिचार भी होता है इसलिये मद्यपान ही अधिक निन्दनीय है—और ऐसा सोचकर जिसने बड़ी बुराई को त्यागा है, उसका त्याग भी उचित ही है। जैसे कोई पुरुष समझे कि निन्दा करने से तो दूसरे जीवों को कष्ट होता है और मद्य पीने से अपना ही चित्त चञ्चल होता है, इसलिये अधिक दोषावह समझकर वह निन्दा को त्याग दे, किन्तु मद्यपान न छोड़े, तो भी उसका त्याग उचित ही होगा; क्योंकि वह जितने अधिक पापकर्म करेगा, उतना ही उसे दण्ड भी अधिक होगा। और यह भी कोई माननेयोग्य बात नहीं है कि यदि वह किसी पापविशेष का त्याग करने में असमर्थ हो तो जिस दूसरे पाप को छोड़ सकता है उसे भी न छोड़े। तात्पर्य यह कि जितने पाप से भी वह छूटेगा उतनी ही भलाई उसे प्राप्त होगी। हाँ, पूर्ण त्यागी तो वही है जो सभी प्रकार के पापों से छूट जाय। और पूर्ण त्यागी होने के लिये आवश्यक है कि पहले धीरे-धीरे महापापों का त्याग करे और फिर सर्वथा निष्पाप हो जाय, क्योंकि इस मनुष्य से एक ही साथ सम्पूर्ण पापों का त्याग होना कठिन है। अतः तुम्हें चाहिये कि क्रमशः त्याग ही के मार्ग से चलते रहो। ऐसा करने से तुम शीघ्र ही पूर्ण त्याग की स्थिति प्राप्त कर सकोगे।

दूसरी किरण

सन्तोष और धन्यवाद के विषय में

याद रखो, धर्म का मूल यद्यपि त्याग है तथापि सन्तोष के बिना त्याग हो नहीं सकता। इसी प्रकार सन्तोष न होनेपर किसी शुभकर्म का आचरण अथवा पाप का त्याग होना भी असम्भव ही है। इसीसे महापुरुष ने कहा है कि सन्तोष आधा धर्म है किसी ने महापुरुष से पूछा था कि धर्म का स्वरूप क्या है? तब उन्होंने कहा कि सन्तोष ही धर्म है। प्रभु ने भी अपने वचनों में इसकी बहुत प्रशंसा की है और यह बताया है कि जो-जो भी उत्तम पद हैं वे सब सन्तोष से ही प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये भी सन्तोष का विशेष महत्व है, धर्ममार्ग में सन्तोष ही सब से आगे ले जाने वाला है और ऐसा ही कहा है कि मैं सन्तोषी पुरुषों के अत्यन्त समीप हूँ, सन्तोषियों को ही मेरी सहायता, दया और उत्तम विवेक प्राप्त होते हैं। ये तीनों गुण एक साथ किसी को प्राप्त नहीं होते। तथा ऐसा भी कहा है कि जिन्हें ये तीनों गुण प्राप्त हैं उन्हीं के पाप क्षमा होते हैं और वे ही परलोक में दूसरे पापियों के भी पाप क्षमा कराते हैं। जिनके हृदय में सन्तोष है उन्हीं को भगवान् का मार्ग भी प्राप्त होता है। सन्तोष का महत्व इसलिये भी है कि भगवान् को यह अत्यन्त प्रिय है; इसीसे वे किसी बिरले भक्त को ही इसे प्राप्त कराते हैं, अन्य जीवों को यह दिया भी नहीं जाता। महापुरुष ने भी कहा है कि जिस पुरुष को शुभ कर्मों में विश्वास और सन्तोष प्राप्त हुआ है उससे कह

दो कि निर्भय रहे। सन्तोषी पुरुष विशेष व्रत और तप आदि नहीं करता तो भी निर्भय रहता है।

महापुरुष ने अपने भक्तों से कहा था कि तुम लोगों का जैसा निश्चय है उसीमें यदि तुम दृढ रहो और सन्तोष करो तो इस बात से मैं बहुत प्रसन्न होऊँगा। तुम सब लोग मिलकर जितना भजन करते हो उतना यदि एक-एक व्यक्ति ही करने लगे तो भी मेरी विशेष प्रसन्नता तो तब होगी जब मैं तुम लोगों में सन्तोष देखूँगा। किन्तु मैं डरता हूँ कि मेरे पीछे तुम्हारे ऊपर माया की प्रबलता हो जायगी और तुम आपस में युद्ध करने लगोगे। इस समय जो देवता तुम्हारी सहायता करते हैं वे तुम्हारे विरुद्ध हो जायँगे, क्योंकि मुझे तुम्हारे भीतर सन्तोष की दृढता नहीं दिखायी देती।

ऐसा भी कहा है कि जो पुरुष सन्तोष करता है और पुण्य की आशा रखता है उसे निःसन्देह पूर्ण पुण्य प्राप्त होता है। अतः तुम सन्तोष करो, क्योंकि जो पदार्थ तुम्हारे समीप हैं वे तो एक दिन अवश्य नष्ट हो जायँगे। तात्पर्य यह कि माया की सामग्री तो नष्ट होनेवाली है और जो कुछ प्रभु के पास है वह स्थिर और सत्य पदार्थ है। कहते हैं, सन्तोष परलोक का खजाना है, सन्तोषी पुरुष उदार होता है और सन्तोषी लोग भगवान् के अत्यन्त प्रिय होते हैं। एकबार किसी महात्मा को आकाशवाणी हुई थी कि तू अपना स्वभाव मेरे स्वभाव की तरह बना ले। मेरा एक ही स्वभाव है, वह यह कि मैं सन्तोष करनेवाला हूँ। एक अन्य महापुरुष का कथन है कि जब तक तुम अपनी वासनाओं से सन्तोष नहीं करोगे तब तक जिस पद को तुम चाहते हो उसे प्राप्त नहीं कर सकोगे। एक बार एक जमात को देखकर महापुरुष ने पूछा कि तुम क्या भक्त लोग हो। उन्होंने कहा, "हाँ, हम भगवान् की भक्ति करते हैं।" महापुरुष ने पूछा, "तुम्हारी भक्ति का चिह्न क्या है?" तब उन्होंने

कहा, "हम सुख मिलनेपर प्रभु को धन्यवाद देते हैं और दुःख आनेपर सन्तोष से रहते हैं। इस प्रकार हर समय भगवदिच्छा में प्रसन्न रहते है।" इस पर महापुरुष बोले, "तुम निःसन्देह भगवान् के भक्त हो।" ऐसा भी कहा है कि जैसे शरीर में सर्वश्रेष्ठ अंग सिर माना जाता है उसी प्रकार शुभ गुणों में सन्तोष सबसे उत्तम है। अतः जिस पुरुष में सन्तोष नहीं होता उसका धर्म भी दृढ नहीं होता।

सन्तोष का स्वरूप

सन्तोष मनुष्य का ही स्वभाव है, क्योंकि पशुओं में सन्तोष का सामर्थ्य नहीं है। पशु तो अत्यन्त निम्न कोटि में हैं और देवताओं को सन्तोष करने की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वे तो स्वभाव से ही शुद्ध और सात्त्विक होते हैं। वे भोगों से मुक्त हैं और पशु भोगों के बन्धन में पड़े हुए हैं। पशु तो भोगरूप ही हैं, इसलिये उन्हें और कुछ नहीं सूझता तथा देवता भगवान् के प्रेम में लीन हैं इसलिये उन्हें किसी भी पदार्थ से विक्षेप नहीं होता, जिसे दूर करने के लिये वे सन्तोष करें। अतः सन्तोष में केवल मनुष्यों का ही अधिकार है, क्योंकि अपनी आयु की आरम्भिक अवस्था में मनुष्य भी पशु के समान ही होता है, क्योंकि उस समय उसके स्वभाव में खाने, पीने, खेलने और अपने को सजाने-सँवारने के भाव की ही प्रधानता रहती है। फिर जब किशोरावस्था में उसे कुछ दैवी प्रकाश प्राप्त होता है तो वह भलाई-बुराई के परिणाम को समझने लगता है। इस समय उसकी रक्षा के लिये प्रभु उसके पास दो देवता भेजते हैं। उनमें से एक उसके पथप्रदर्शक का कार्य करता है। अर्थात् जब मनुष्य में उस देवता का प्रकाश प्रकट होता है तब उसी प्रकाश के द्वारा वह कर्म के फल को पहचानता है और विधिपूर्वक आचरण की विशेषता अनुभव करता है। इसके सिवा उसी प्रकाश के द्वारा वह अपने

को और भगवान् को भी पहचानता है। तथा इस बात को भी जानता है कि ये सारे भोग अन्त में नष्ट हो जायँगे। यद्यपि आज ये बड़े रमणीक जान पड़ते हैं, तो भी ये हैं नाशवान् ही। इसके अतिरिक्त इनमें जो सुख है वह तो शीघ्र ही नीरस हो जाता है और दुःख चिरकाल तक बना रहता है। यह समझ पशुओं को प्राप्त नहीं होती, इसका अधिकारी तो केवल मनुष्य ही है। किन्तु केवल इतनी समझ से ही काम नहीं चलता, क्योंकि अमुक पदार्थ मुझे हानि करनेवाला है—ऐसा जान लेनेपर भी जब तक अपने में उसे त्यागने की शक्ति न हो तब तक उस जानकारी से कोई लाभ नहीं होता। जैसे रोगी जानता है कि मुझे यह रोग दुःख देता है, किन्तु जब तक उसमें उसे दूर करने का सामर्थ्य न हो तब तक उसे सुख नहीं मिल सकता। अतः भगवान् की कृपा सेदूसरा देवता उसे यह शक्ति देता है और उसकी सहायता करता है। जैसे पहले देवता के प्रकाश से मनुष्य यह जानता है कि अमुक पदार्थ मेरे लिये दुःखदायक है उसी प्रकार दूसरे देवता से शक्ति पाकर वह उसका त्याग करता है। पहले जैसे उसे भोग भोगने की इच्छा थी वैसे ही अब भोगों को त्यागने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है और वह चाहने लगता है कि मैं भोगों के दुःख से छूटकर सुखी हो जाऊँ। पहले जो भोग भोगने की इच्छा थी वह आसुरी सेना थी और भोगों के त्याग की इच्छा दैवी सेना है। भोगों को भोगने की इच्छा का नाम वासनास्तम्भ है और भोगों को त्यागने की इच्छा धर्मस्तम्भ कहलाती है। इन दोनों सेनाओं में सर्वदा विरोध और संघर्ष चलता रहता है, क्योंकि आसुरी सेना भोगों को भोगने का आदेश देती है और दैवी सेना उन्हें त्यागने के लिये जोर देती है। मनुष्य इन दोनों सेनाओं की खींच-तान में पड़ा रहता है। किन्तु जब यह मनुष्य धर्म की दृढ़ता में अपने पैर जमा देता है और भोगवासना से युद्ध करने के लिये

कमर कस लेता है, तो इस तैयारी का नाम ही 'सन्तोष' है। इस प्रकार जब वह भोगों को अपने अधीन कर लेता है और उनका प्रभु हो जाता है तो उसे 'परमजीत' कहा जाता है। भोगवासनाओं के साथ जो यह संघर्ष होता है इसे एक प्रकार का मानसिक युद्ध कह सकते हैं। अतः सन्तोष का तात्पर्य यह है कि धर्म की दृढता में अपने पैर जमा दे और भोगों की वासनाओं का सामना करता रहे। जिन प्राणियों में ये दोनों सेनाएँ नहीं होती उन्हें सन्तोष की भी अपेक्षा नहीं होती। इसीसे कहा है कि देवताओं को भी सन्तोष का अधिकार नहीं है और पशु एवं बालकों में भी सन्तोष का सामर्थ्य नहीं होता।

भगवान् ने मनुष्य की रक्षा के लिये जो दो देव नियुक्त किये हैं वे ही इसके कर्मों का लेखा लिखनेवाले हैं। भगवान् की कृपा से जिसे विवेकवती बुद्धि प्राप्त होती है और जो युक्तिपूर्वक शास्त्र के तात्पर्य को समझता है उसे जान पड़ता है कि कारण के बिना किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। अतः विवेकी पुरुष देखता है कि बालक को तो किसी प्रकार की समझ या पहचान नहीं होती, जिससे कि वह कर्मफल का विचार कर सके। साथ ही उसमें सन्तोष की श्रद्धा और शक्ति भी नहीं होती। फिर जब किशोरावस्था आती है तब इन देवताओं के कारण ही उसे समझ और शक्ति प्राप्त होती है। इनमें भी समझ या विवेक ही सबका मूल है, क्योंकि पहले यही होता है। उसके पश्चात् श्रद्धा, शक्ति और क्रिया फूल और फल की तरह उत्पन्न होती हैं। अतः इन दोनों देवताओं में भी पहला, जो इसे मार्ग प्रदर्शित करता है, अधिक श्रेष्ठ है; इसीसे उसका स्थान मनुष्य का दाहिना अंग कहा गया है। वह इसे शुभ मार्ग दिखाकर इसकी रक्षा करता है। यदि तुम उसके कथन की ओर कान लगाये रहोगे तो उसके द्वारा तुम्हें समझ और पहचान की योग्यता प्राप्त होगी। उसकी बात

सुनने के लिये सजग रहना—यही उस देवता के प्रति तुम्हारा उपकार होगा, क्योंकि ऐसा करके तुम उसकी बात को व्यर्थ नहीं होने दोगे। इस सावधानी को वह देवता तुम्हारे सद्‌गुणों की सूची में लिखेगा। और यदि तुम उस देवता के कथन से विरुद्ध आचरण करोगे या उसकी बात सुनने के लिये सावधान नहीं रहोगे तो तुम भी पशुओं के समान ही हो जाओगे। फिर तुम्हें समझ और कर्मफल की पहचान प्राप्त नहीं हो सकेगी। तुम्हारी इस विमुखता को वह देवता तुम्हारे दुर्गुणों की सूची में अङ्कित करेगा। इसी प्रकार दूसरा देवता भी, जो तुम्हें भोगों को त्यागने की शक्ति देता है, जब तुम उसके अनुसार पुरुषार्थ करते हो तो तुम्हारे उस प्रयत्न को सद्‌गुणों में लिखता है और जब उससे विपरीत चलते हो तो वह तुम्हारी बुराई में सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार वे दोनों देवता तुम्हारी बुराई-भलाई दोनों को लिखते रहते हैं। उनका यह सारा व्यापार अन्तर्जगत् में होता है, इसलिये तुम्हारे जानने में नहीं आता, क्योंकि वे देवता और उनका लेखन इस जगत् के समान आधिभौतिक नहीं है, इसलिये इन नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। किन्तु जब मृत्यु का समय आता है और ये स्थूल नेत्र मुँद जाते हैं तो परलोक को देखने-वाले नेत्र खुलते हैं। उस समय उनका लेख स्पष्ट दिखायी देता है तथा परलोक में भी अपने कर्म विस्तारपूर्वक दिखायी देते हैं। इस प्रकार जीव चिरकाल तक स्वर्ग और नरकों में सुख-दुःख भोगता रहता है। इस बात का अन्य ग्रन्थों में अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है, यहाँ केवल संक्षेप में निर्देश कर दिया। है

कहने का प्रयोजन यह है कि सन्तोष का अधिकार उन्हीं को है जिनके चित्तोंमें दोनों सेनाओं का संघर्ष चल रहा है। इनमें एक देवताओं की सेना है और दूसरी असुरोंकी। ये दोनों विरोधी सेनाएँमनुष्यके हृदय में नाकेबन्दी किये खड़ी रहती हैं। अतः

धर्ममार्गमें सबसे पहला पग रखना यही है कि इनके संघर्ष में मनुष्य सावधान रहे। कारण कि, अपनी आरम्भिक अवस्था बाल्यकालमें तो मनुष्यके हृदयरूप गढ़पर आसुरी सेनाका ही आधिपत्य रहता है, किशोरावस्था आती है तब देवसैन्यके अग्रसर होने का अवसर आता है। अतः जबतक यह दैत्यसेनाको अपने अधीन नहीं करता तबतक इसे उत्तम भोगोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और जबतक पुरुषार्थ करके युद्ध न करे और इस युद्धमें ही सन्तोष का आश्रय न ले तब तक भोगोंकी सेना अपने अधीन नहीं होती और न हृदयरूपी गढ़ही दुष्ट वासनाओं से मुक्त होता है। अतः जो पुरुष इस युद्धमें सावधान नहीं है वह तो ऐसा है जैसे कोई प्रमादी राजा अपना देश शत्रुओंको सौंप दे और उन्हें यथेच्छ लूट की छुट्टी दे दे। इस मनुष्यकी विजय तो तभी समझनी चाहिये जब भोग उसके अधीन हों और विचारकी मर्यादा के अनुसार उनका सेवन किया जाय। किन्तु ऐसा तो कोई बिरला ही होता है। बहुत लोग तो कभी जीतते हैं और कभी हारते हैं। उनमें कभी भोगकी प्रबलता होती है और कभी धर्मकी। सो, जबतक सन्तोषकी दृढ़ता नहीं होती तबतक इस गढ़को कभी नहीं जीता जा सकता।

(सन्तोष पूरा धर्म है और व्रत आधाधर्म)

धर्म किसी एक वस्तु का नाम नहीं है। इसके लक्षण और भेद अनेकों हैं। महापुरुषने कहा है कि धर्मके अनेकों द्वार हैं, किन्तु उनमें सबसे बढ़कर है भगवान् को पहचानना और भगवान्की एकतामें ही चित्तको स्थित करना। तथा धर्मका निम्न कोटिका द्वार है पापों को त्यागना। इसी प्रकार धर्म के लक्षण भी बहुत हैं, पर उन सबके मूल तीन ही हैं--१. समझ २. चित्तकी स्थिति और ३. आचरण। इन तीनोंके बिना कोई भी धर्म सिद्ध नहीं हो सकता; जैसे त्याग का मूल है पापों को विषवत् समझना।

इसी का नाम 'समझ' है। पहले जो पाप किया हो उसके लिये पश्चात्ताप करना—यह 'चित्तकी स्थिति' है। यह त्यागरूप वृक्षकी शाखाके समान है। तथा फल है पापोंको त्याग देना और भजनमें सावधान होना। यही त्यागका 'आचरण' है। इस प्रकार समझ, चित्त की स्थिति और आचरण ये ही तीनों धर्मके स्वरूप हैं। इन तीनोंमें भी समझ प्रधान है, क्योंकि यही सबका मूल है। चित्तकी स्थिति भी समझ ही के द्वारा होती है और उस स्थितिके अनुसार ही आचरण होता है, जो कि फलरूप है।

अतः निःसन्देह धर्म दो पदार्थों का नाम हुआ, उनमें एक समझ है और दूसरा आचरण है। ये सन्तोषके बिना सिद्ध नहीं हो सकते। इसीसे सन्तोषको पूर्णधर्म कहा है। सन्तोषके भी दो भेद हैं—जब विषयोंके त्यागमें उसका प्रयोग होता है तब उसे 'सन्तोष' कहते हैं और जब क्रोधके सहन करनेमें उसका आश्रय लिया जाता है तो वह 'धैर्य' कहलाता है। व्रत करनेमें भी भोगोंकी ओर से संयम किया जाता है, इसलिये उसे आधा सन्तोष कहा है। यदि आचरण पर पूरी दृष्टि दी जाय तो वह बहुत कठिन है और सन्तोषके बिना उसका होना भी असम्भव है। अतः सम्पूर्ण धर्म सन्तोषके द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। तबतक यह पुरुष वासनाओंके विरुद्ध संघर्ष कर रहा है तबतक इसे भोगोंके त्याग और दुःखोंके सहन करनेके लिये सन्तोषका ही आश्रय लेना चाहिये।

धर्मात्मा पुरुषके आचणके विषयमें ऐसा कहा है कि वह दुःख के समय सन्तोष और सुखमें भगवान् का धन्यवाद करता है। इस दृष्टिसे देखें तो आधा धर्म सन्तोष हुआ और आधा धन्यवाद। महापुरुषने भी कहा है कि धर्मके दो भाग हैं। एक भाग सन्तोष है और एक धन्यवाद्। और यदि इस दृष्टिसे देखें कि सन्तोष करना अत्यन्त कठिन है तो यही सम्पूर्ण धर्म सिद्ध होता है।

(सन्तोषकी सभी काल और सभी अवस्थाओं में आवश्यकता है)

यह मनुष्य इष्ट और अनिष्ट इन दो अवस्थाओं से कभी नहीं छूट सकता। इन दोनों ही में सन्तोषकी आवश्यकता है। इष्ट अवस्थाओं में सन्तोषकी इसलिये आवश्यकता होती है क्योंकि मनुष्यको सम्पत्ति, भोग, मान, आरोग्यता, स्त्री, पुत्र तथा और भी जो इसी प्रकारके पदार्थ हैं उनमें तृप्ति होनी बहुत कठिन है। जो मनुष्य अन्तर्मुख होना चाहता है वह यदि भोगों को सत्य समझेगा और रमणीयताबुद्धिसे उनका सेवन करेगा तो अपने लक्ष्यसे विमुख होकर प्रमादी हो जायगा। इसीसे सन्तजनोंने निर्धनता की प्रशंसा की है, क्योंकि निर्धनता में सन्तोष किया जा सकता है। धन और सम्पत्ति पाकर सन्तोष होना कठिन है, ऐसा पुरुष तो दुर्लभ ही है जो सब प्रकार की सम्पत्ति पाकर भी सन्तुष्ट हो। एक बार महापुरुषसे उनके भक्तोंने कहा था कि जब हमारे पास कुछ भी सम्पत्ति नहीं थी तब हम सन्तुष्ट थे, किन्तु अब माया बढ़जानेपर हमसे सन्तोष नहीं होता। यही बात प्रभुने भी कही है कि धन मान और सन्तान तुम्हारे धर्ममें विघ्नकारक हैं, इन्होंने तुम्हें उलट-पलट कर रखा है। अतः मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि सब प्रकारके भोगोंके रहते हुए सन्तोष होना कठिन है, उनमें तभी सन्तोष हो सकता है जब हृदयकी शुद्धिका विशेष बल हो। सुखोंमें सन्तोष करनेका आशय भी यही है कि मायाके पदार्थों में हृदय बँधे नहीं, उन्हें देखकर प्रसन्न न हो और ऐसा समझे कि ये पदार्थ कुछ दिन तो मेरे पास रहेंगे, किन्तु फिर मुझसे ये दूर हो जायगें। ऐसा विचारकर सुखोंको सुख न समझे, क्योंकि ये भोग मनुष्य को भगवान् से दूर कर देनेवाले हैं। जब इसकी यह दृष्टि रहेगी तो इसे भगवान् जो-जो भी सुख देगें उनके लिये यह उनका धन्यवाद करेगा और प्रभुके अनुकूल रहेगा। भगवान्का धन्यवाद करनेसे यही आशय है कि अपना शरीर और सर्वस्व उन्हींके लिये

लगा दे और ऐसा धन्यवाद सन्तोष होनेपर ही होसकता है।

दूसरी अवस्था जो अनिष्ट कही थी वह तीन प्रकारकी है--

१. जिसमें यह पुरुष प्रयत्न कर सके और जिसकी प्राप्ति अपने अधीन भी हो, जैसे भजन करना और पापोंको त्यागना।
२. जो अपने प्रयत्न से नहीं, अपितु भगवान् की इच्छा से प्राप्त होती है; जैसे रोग और विपत्ति आदि। इनमें इसका बल काम नहीं देता।
३. जिसकी प्राप्ति में तो अपना बल काम नहीं देता, किन्तु पीछे उसे अपने अधीन किया जा सकता है, जैसे यदि कोई पुरुष हमें कष्ट पहुँचावे तो उसकी वह प्रवृत्ति तो अपने अधीन नहीं होती, किन्तु उसका बदला न लेना-यह अपने अधीन है।

यहाँ 'भजन करना और पापों का त्यागना' यह जो पहली अवस्था अपने अधीन बतायी गयी है, इसमें संतोष की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि भजन, तप, व्रत और दान आदि सन्तोष के विना सिद्ध नहीं हो सकते। इनको आदि, मध्य और अन्त सभी में सन्तोष की अपेक्षा होती है। भजन के आरम्भ में सन्तोष की इस प्रकार आवश्यकता है कि भजन विधिवत् और पवित्रतापूर्वक होना चाहिये। उस समय दृष्टि को समेट लेना चाहिये तथा मनके संकल्पों को शुद्ध रखना चाहिये। भजन के अन्त में सन्तोष की इस प्रकार आवश्यकता है कि किसी के सामने उसे प्रकट न करे और अभिमान से दूर रहे। यह बात तो निःसन्देह निश्चित है कि सन्तोष के बिना पापों का त्याग नहीं होता, क्योंकि भोग की तृष्णा जितनी बढ़ जाती है उतना ही पाप में प्रवृत्त होना सुगम हो जाता है और फिर उसमें सन्तोष होना भी कठिन होता है। मान लो, किसी से जिह्वासम्बन्धी पाप होता है तो उसमें सन्तोष या संयम होना कठिन हो जाता है, क्योंकि जिह्वा से बोलना तो

सुगम ही है, उसमें किसी प्रकार के प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। इसीसे जिसे अधिक बोलने का स्वभाव पड़ जाता है उससे उसका छूटना बहुत प्रयत्न करनेपर भी कठिन है। यह अधिक बोलना भी अविद्या की सेना का एक सैनिक ही है। वाचाल पुरुष समझता है कि मेरी बात सुनकर लोग प्रसन्न होते हैं, इसलिये वह अपने स्वभाव को छोड़ नहीं सकता, उसके लिये मौन रहना तो अत्यन्त कठिन है। इसलिये वाचाल पुरुष को चाहिये कि पहले तो सांसारिक लोगों में मिलना-जुलना कम करे और एकान्त में रहे, ऐसा करनेपर ही वह अति-भाषण के पाप से मुक्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

दूसरी अवस्था[1] का आरम्भ तो भगवान् की इच्छा से होता है, किन्तु पीछे उसमें अपना बल भी काम दे सकता है, जैसे कोई पुरुष इसे शरीर या वाणी से कष्ट पहुँचावे तो उसका बदला लेना न लेना तो इसीके बल के अधीन है। अतः इसमें भी इसे सन्तोष की अपेक्षा होगी ही जिससे कि यह उससे बदला लेने का प्रयत्न न करे : और यदि बदला ले भी तो उसमें मर्यादा से अधिक न बढ़े। यह बात तो इसके अधीन ही है। इसी सम्बन्ध में एक संत का कथन है कि जबतक हमने लोगों को कष्ट पहुँचाने में सन्तोष नहीं किया तबतक हमें सम्पूर्ण धर्म भी प्राप्त नहीं हुआ। भगवान् ने भी महापुरुष से कहा था कि यदि तुम्हें कोई कष्ट पहुँचावे तो तुम उससे बदला मत लो। और मेरा भरोसा रखो। इसके सिवा

---

१. मूल लेखक ने पहले इन अवस्थाओं का जो क्रम रखा है उससे यहां कुछ अन्तर है। पहले जो तीसरी अवस्था बतायी गयी है वह यहां दूसरी बोलकर कही जा रही है और पहले जिसे दूसरी अवस्था कहा था उसका तीसरी बोलकर वर्णन किया जायगा। पढ़ते समय पाठक यह भेद ध्यान में रखें। यहां अनुवाद मूल के अनुसार हीकिया गया है।

ऐसा भी कहा है कि यदि कोई पुरुष तुमसे दुर्वचन कहे तो तुम उस स्थिति में भी सन्तुष्ट रहो और उसकी संगति त्याग दो। तथा यों भी कहा है कि मैं जानता हूँ, दुर्जनों के वचनों से तुम्हारा हृदय खीझेगा। परन्तु तुम भजन में मस्त रहो और उनकी ओर ध्यान ही मत दो। इस विषय में महापुरुष के ही सम्बन्ध की एक गाथा है। एक समय की बात है वे लोगों को कुछ धन बाँट रहे थे। तब किसी दुष्ट ने कहा कि इनका यह अर्थवितरण भगवान् के लिये और विचारपूर्वक नहीं है। यह बात जब महापुरुष ने सुनी तो एक बार उनका माथा गर्म हुआ, किन्तु फिर वे बोले, "प्राचीन महापुरुष धन्य थे, उन्हें लोग इससे अपेक्षा कहीं अधिक कष्ट पहुँचाते थे, किन्तु वे सब सह लेते थे।" प्रभु ने भी कहा है कि यदि तुम्हें कोई कष्ट पहुँचावे तो तुम्हारे लिये यही अच्छा है कि उससे तुम बदला न लो, और लो भी तो बहुत मर्यादा के साथ, अधिक नहीं। महापुरुष ईसाने अपने भक्तों से कहा था कि यद्यपि भूतकाल में किसी नीतिकार का ऐसा कथन है कि यदि कोई तुम्हारा हाथ काटे तो तुम भी उसका हाथ काट लो और यदि तुम्हारे नेत्र और कानों को कष्ट पहुँचावे तो तुम भी उसके नेत्रों और कानों को कष्ट पहुँचाओ, सो मैं इस बात को तो झूठी नहीं कहता, परन्तु मेरा तो तुम्हें यही उपदेश है कि तुम बुराई के बदले बुराई मत करो, यदि कोई तुम्हारे दायें अंग में मारे तो तुम उसके आगे बायाँ अंग भी कर दो, तुम्हारी पगड़ी उतार ले तो तुम उसे अपना अँगरखा भी दे दो और यदि तुम्हें बेगार में पकड़कर एक कोश ले जाय तो तुम स्वयं ही दो कोश चले जाओ। इसी प्रकार महापुरुष का भी कथन है कि यदि कोई तुम्हें भावपूर्वक कोई चीज न दे तो तुम उसे भावपूर्वक दो, और यदि कोई तुम्हारे साथ बुराई करे तो तुम उसके साथ भलाई करो। यही सत्पुरुषों का सन्तोष है।

तीसरी अवस्था वह है, जिसमें मनुष्य का बल कुछ नहीं

चलता, जैसे किसी का पुत्र मर जाय, धन नष्ट हो जाय अथवा शरीर का अंग कट जाय। इसे आकाशी दुःख कहते हैं। किन्तु ऐसे समय भी सन्तोष करना कठिन होता है। यदि ऐसे समय सन्तोष रखे तो उसका बड़ा उत्तम परिणाम होता है। इसी प्रकार एक सन्त ने कहा है कि सन्तोष तीन प्रकार का है—

१. सन्तजनों की आज्ञानुसार केवल भजन में दृढ़ रहे। ऐसे पुरुष को बहुत उत्तम फल मिलता है।
२. सन्तजनों ने जो पदार्थ निन्द्य कहे हैं उनमें न बर्ते, सन्तोष-पूर्वक उन्हें त्याग दे। ऐसे पुरुष को पहले की अपेक्षा भी दुगुना फल प्राप्त होता है।
३. प्रभु की इच्छा से यदि कोई दुःख या संकट आ पड़े तो उसे सन्तोषपूर्वक सह ले। इससे तिगुना फल मिलता है, क्योंकि दुःख के समय सन्तोष करना सच्चे पुरुषों का ही काम है।

इसीसे महापुरुष भी प्रभु से प्रार्थना करते थे कि भगवन्! मुझे ऐसा निश्चय दीजिये कि जिसके द्वारा मैं प्रसन्नतापूर्वक संसार के कष्टों को सह लूँ। महापुरुष कहते हैं, "यह भगवान् का वाक्य है कि जिस पुरुष को मेरी इच्छा से कोई कष्ट प्राप्त हो और वह उसमें धैर्यपूर्वक रहे, किसी के आगे उसे प्रकट न करे, तो मैं सदा के लिये उसे नीरोग कर देता हूँ। इसी बीच में यदि उसका शरीर नष्ट भी हो जाय तो भी मैं उसपर कृपा करता हूँ।" सन्त दाऊद ने भगवान् से प्रश्न किया था कि प्रभो! जिसके लिये आप कोई विपत्ति भेजते हैं और वह पुरुष उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेता है, उसे आप क्या फल देते हैं? तब भगवान् ने कहा, "मैं उसे आर्थिक पारितोषिक देता हूँ और किसी भी प्रकार के विघ्न से उसका धर्म नष्ट नहीं होता।" प्रभु ने यह भी कहा है कि जिस मनुष्य को मैं दुःख देता हूँ और वह उनमें भी प्रसन्नता

पूर्वक सन्तुष्ट रहता है। उसके अपकर्मों का मैं विचार नहीं करता। तथा ऐसा भी कहा है कि मैं जिसके नेत्रों की ज्योति हर लूँ और फिर भी वह पुरुष प्रसन्न रहे तो मैं उसे अपना साक्षात्कार करा देता हूँ। एक जिज्ञासु ने किसी सन्त से सुनकर यह वचन कागज़ पर लिख लिया था कि प्रभु की इच्छा में सन्तुष्ट रहना बहुत अच्छा है। सो, जब उसे कोई कष्ट प्राप्त होता तो वह उस कागज को पढ़कर ही सन्तोष कर लेता था। इसी विषय में एक गाथा और भी है—एक माई ठोकर खाकर रास्ते में गिर गयी और उसके अंगूठे का नख उतर गया तथा रुधिर बहने लगा। किन्तु इसपर भी वह प्रसन्नतापूर्वक हँसने लगी। इसपर लोगों ने पूछा कि ऐसा दुःख पाकर भी तू क्यों हँसती है? वह बोली, "सन्तोष से प्राप्त होनेवाले फल की प्रसन्नता ने मेरा सब दुःख भुला दिया है। इसलिये मुझे कोई खेद नहीं जान पड़ता।"

महापुरुष ने भी कहा है कि प्रभु की महत्ता जानने का अर्थ तो यही है कि यदि इसके ऊपर कोई दुःख या कष्ट आ पड़े तो भी यह उसे अन्य पुरुष के आगे प्रकट न करे और प्रसन्न बना रहे। एक सन्त ने भी कहा है कि दुःख के कारण रोने या मुँह पीला पड़ जाने से भी सन्तोष नष्ट नहीं होता, क्योंकि दुःख की वेदना होनेपर रोना या मुँह पीला हो जाना तो स्वाभाविक ही है। सन्तोष तो तभी नष्ट हुआ समझो जब अधीर होकर जोर-जोर से रोने लगे और मुँह से भगवान् की निन्दा करे। इस सम्बन्ध में महापुरुष की एक घटना है—जब उनके पुत्र की मृत्यु हुई तो उनकी आँखों में कुछ आँसू आ गये। तब भक्तों ने कहा, "रोने के लिये तो सभी ने निषेध किया है, फिर आप क्यों रोते हैं?" तब महापुरुष ने कहा, "यह रोना नहीं, यह तो दया है। इस समय दया से मेरा हृदय द्रवीभूत हो गया है। और दया करनेवाले पर तो प्रभु भी दया करते हैं। एक सन्त ने कहा है कि यदि किसी का कोई

सम्बन्धी मर जाय तो उसे शोकसूचक वस्त्र नहीं पहनने चाहिये तथा और भी किसी प्रकार अपना शोक प्रकट नहीं करना चाहिये। इससे पूर्ण सन्तोष प्राप्त होता है। इसके विपरीत यदि कोई अपना सिर पीटे, शोक-सूचक वस्त्र पहने और उच्च स्वर में रुदन करे तो उसका सन्तोष (धैर्य) नष्ट हो जाता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ये सब जीव भगवान के ही हैं, भगवान् ने ही इन्हें उत्पन्न किया है और उन्हीं के आदेश से इनकी मृत्यु होती है। इसलिये इनके लिये शोक करना व्यर्थ है।

इस विषय में एक माई की गाथा भी है। उस माई का एक पुत्र था। दैवयोग से उसकी मृत्यु हो गयी। उन दिनों उसका पति कहीं गया हुआ था। जब वह आया तो उसने पूछा कि हमारा जो लड़का बीमार था उसका क्या हाल है। स्त्री ने कहा, "आज तो वह बहुत विश्राम में है।" ऐसा कहकर उसने पति को भोजन कराया और स्वयं भी भोजन किया। फिर उसने पति से कहा, "मेरी एक वस्तु पड़ोसिन ने माँग ली थी। अब जब मैं माँगती हूँ तो वह बहुत रोने चिल्लाने लगती है और वह वस्तु मुझे नहीं देती।" पति ने कहा, "वह बहुत मूर्ख है, जो दूसरे की वस्तु लेकर देने का समय आनेपर रोने-चिल्लाने लगती है, और देना नहीं चाहती।" तब स्त्री ने कहा, "आपका पुत्र भी तो हमारे पास भगवान् की धरोहर ही था। अब भगवान् ने अपनी वस्तु सँभाल ली, इसलिये हमें उसके लिये शोक नहीं करना चाहिये।" पति बोला, "निःसन्देह ऐसी ही बात है। वह जब हमारे पास था तब भगवान् की धरोहर था और अब भी उन्हींने सँभाल लिया है।" जब महापुरुष ने इनके ऐसे सन्तोष की बात सुनी तो उन्होंने इन्हें बधाई दी और कहा कि तुम्हें भगवान् की इच्छा मीठी जान पड़ती है, इसीसे प्रभु ने तुम्हें अपना प्रीतिभाजन बनाया है। मैंने ध्यानद्वारा देखा है कि तुम्हारा निवास बड़े उत्कृष्ट सुख में है।

इन सब बातों से निःसन्देह यही सिद्ध होता है कि सभी अवस्था और सभी कालों में जिज्ञासु को सन्तोष ही रखना चाहिये। यदि सब कुछ त्यागकर एकान्त में रहने लगे और सब प्रकार के भोगों से छूट जाय तो ऐसी स्थिति में सन्तोष की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि जब एकान्त में बैठेगा है तब भी अनेकों प्रकार के संकल्प आकर घेर लेंगे और उसके कारण भजन में विघ्न होगा। इस प्रकार उसका समय व्यर्थ ही नष्ट होगा और इस मनुष्य की जो आयुरूपी पूँजी है वह भी व्यर्थ बर्बाद होगी। यह मनुष्य की बहुत बड़ी हानि है। अतः इसका उपाय तो यही है कि भजन में रुचि हो और सन्तोष में दृढ़ता। तभी संकल्प-विकल्पों से छुटकारा मिल सकता है। किन्तु जब तक इसका मन भजन में एकाग्र न हो तब तक अन्य प्रकार के संकल्पों से छूट नहीं सकता। इसी से महापुरुष ने कहा है कि जो पुरुष युवा और नीरोग हो वह यदि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म छोड़ बैठेगा तो भगवान् से विमुख होजायगा, क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ भले ही निश्चेष्ट हों, मन तो संकल्प-विकल्पों से शून्य नहीं हुआ। इसलिये वह वास्तव में निष्कर्म नहीं है, क्योंकि उसका चित्त तो संकल्पों में फँसा हुआ है। अतः अविद्या उसके समीप ही है और बुद्धि भी संकल्पों का घर बनी हुई है। इसलिये जो पुरुष भजन की दृढ़ता के द्वारा संकल्पों का विरोध न कर सके उसे चाहिये कि अपनी इन्द्रियों को सेवा या किसी शुभकर्म में लगावे। ऐसे पुरुष का एकान्त में बैठना ठीक नहीं। अतः जिसके हृदय में भजन का बल न हो उसके लिये शरीर के द्वारा शुभ कर्मों में लगा रहना ही अच्छा है।

(सन्तोष की प्राप्ति का उपाय)

सन्तोष न रहने के अनेकों कारण हैं। उन कारणोंके रहते हुए सन्तोष होना कठिन ही है। इसीसे संतोष प्राप्ति के साधन भी

अनेकों हैं। किन्तु अब सब साधनोंके मूल ये दो ही उपाय हैं—(१) ज्ञान और (२) आचरण। बुरे स्वभावोंकी निवृत्ति सन्तोष से ही हो सकती है। इस बात को यहाँ मैं एक दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करता हूँ। पहले सन्तोष का अर्थ बताया गया है-चित्त को भोगों की वासनासे निवृत्त करना और शुभवासनाओं में जोड़ना। इन दोनों ही भावों की प्राप्तिके लिये सन्तोष करना आवश्यक है। इस बात को एक दृष्टान्त से समझ सकते हैं। किसी पुरुषके यहाँ दो पहलवान रहते हों और वह चाहता हो कि इनमें से एक तो प्रबल हो जाय और दूसरा दब जाय तो उसका उपाय यह है कि जिसे वह निर्बल करना चाहता हो उसकी सहायता करना छोड़दे। और उसे पौष्टिक आहार भी न दे। ऐसा करनेसे वह निर्बल हो जाता है। इसी प्रकार जो पुरुष कामका बल तोड़ना चाहे उसे सबसे पहले तो कामोत्पादक आहारों को त्यागना चाहिये। वह दिन में व्रत करे और जब रात्रिके समय भोजन करे, तब भी आधा ही अन्न ग्रहण करे। तथा वह आहार भी रूखा-सूखा ही होना चाहिये। दूसरी बात यह है कि कामवासना प्रायः सुन्दर रूप देखनेपर उत्पन्न होती है। अतः साधक को एकान्त देशमें रहना चाहिये। जहाँ सुन्दरी स्त्रियाँ और बच्चे आते जाते हों ऐसी जगह न जाय। तथा नेत्रोंको सुन्दर रूप की ओर जाने से रोके रहे। तीसरा उपाय यह है कि मनके संकल्पोंको विचारपूर्वक स्थिर करे और ऐसा समझे कि यह शरीर रुधिर, माँस, विष्ठा, मूत्र और अन्य सब प्रकार की दुर्गन्धोंका घर है। इसलिये काम-सुख तो अत्यन्त निकृष्ट है। इस प्रकार के वचनों से मन को समझावे। यह मन उद्दण्ड पशु के समान है, इसलिये इसे ताड़ना देना बहुत आवश्यक है। जिस प्रकार उद्दण्ड पशुको इसप्रकार घास और पानी दिया जाता है कि वह मरे भी नहीं और यथेच्छ खा-पीकर विशेष बलवान् भी न हो तभी वह ढीला पड़ता है, इसी

प्रकार आहार, नेत्र और संकल्पों का संयम करने से काम का बल क्षीण हो जाता है।

इसके सिवा इस पुरुष को चाहिये कि दो प्रकार से धर्मकी वासनाको बल प्रदान करे। प्रथम तो मनको त्यागके फलका लाभ समझावे और जिन लोगों ने भोगों को त्यागा है उनके वचनों का स्वाध्याय करे। इस प्रकार जब विश्वास दृढ़ हो जाता है तब यह पुरुष जानता है कि भोगोंके सुख क्षणिक हैं और इनके त्याग से प्राप्त होनेवाला सुख अविनाशी है। ऐसा जाननेसे उसकी धर्म-वासना दृढ़ हो जाती है। दूसरा प्रकार यह है कि भोगों की वृत्ति के विपरीत आचरण करे। इसके लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे कोई पहलवान यदि चाहता है कि मेरा बल बढ़े तो पहले तो वह आहारादि से शरीर को पुष्ट करता है और फिर बल से सम्पन्न होनेवाले कार्य करता है, तभी क्रमशः उसका बल बढ़ता है। इसके अतिरिक्त वह अपनेसे न्यून बलवालों के साथ मल्लयुद्ध भी करता है। इसी प्रकार उसका बल बढ़ता है। सन्तोष प्राप्त होने का भी यही उपाय है कि धीरे-धीरे अपनी भोगवास-नाओंके विपरीत आचरण करे। ऐसा करनेसे उसमें वासनाओं को दूर करनेकी शक्ति आ जाती है। तथा सन्तोषकी विद्या ही बल-दायक आहार के समान है। उससे भी सन्तोष की दृढ़ता होती है।

(धन्यवाद की महिमा)

धन्यवाद भी बहुत उत्तम वस्तु है और यह भगवान् को बहुत प्रिय है। धन्यवाद की पूर्ण स्थिति को प्राप्त होना बहुत कठिन भी है। इसीसे भगवानने कहा है कि मुक्ति प्रदान करनेवाले लक्षण दो प्रकारके हैं। उनमें एक प्रकारके लक्षण तो भगवान् के मार्ग के साधन हैं; जैसे त्याग, सन्तोष, वैराग्य, संग्रह और मन के साथ संघर्ष करना इत्यादि। ये सब परम पदके साधनमात्र हैं। परमपद

स्वयं तो इनसे परे ही है, वह इनके द्वारा प्राप्त हो सकता है। तथा दूसरे लक्षण स्वयं ही परमपद या आनन्दरूप हैं और वे सर्वदा इस पुरुष के साथ रहते हैं। वे किसी पदके साधन नहीं हैं, जैसे प्रेम, एकता और विश्वास। धन्यवाद भी इन्हींके अन्तर्गत है। अतः यह परमपदस्वरूप है। इसीसे यद्यपि धन्यवाद की व्याख्या पुस्तक के अन्त में करनी चाहिये थे। किन्तु धन्यवाद का सन्तोष के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, इसलिये यहाँ इसका वर्णन करना आवश्यक हो गया। इसके सिवा धन्यवाद की महिमा भी बहुत है और धन्यवाद तो एक प्रकार का भजन ही है। इसीसे प्रभु ने भी कहा है कि धन्यवाद करना भजन ही है। और ऐसा भी कहा है कि तुम मेरा भजन करो तो मैं तुम्हारा स्मरण करूँगा। तथा यों भी कहते हैं कि मेरा धन्यवाद करो, मनमुखता मत करो। महापुरुषका भी कथन है कि जो पुरुष भोजन पाकर धन्यवाद करता है उसे ऐसा फल प्राप्त होता है जैसा कि सन्तोष का व्रत करनेवालेको होता है। फिर वे कहते हैं कि परलोकमें भगवान् कहेंगे कि धन्यवाद करनेवाले जीव कहाँ हैं? जिन्होंने धन्यवाद किया हो वे खड़े हो जायँ। तब धन्यवाद करनेवाले उठेंगे और उनपर प्रभु अत्यन्त दया एवं प्यार करेंगे।

एक बार भगवान्ने महापुरुषको आज्ञा दी कि अपने भक्तों से कहो, वे विशेष धन इकट्ठा न करें। यह बात सुनकर एक भक्तने महापुरुषसे पूछा, 'तो फिर क्या इकट्ठा करें?" तब महापुरुषने कहा, 'भगवान् का नाम जपनेवाली जिह्वा, धन्यवाद करनेवाला हृदय और सत्संगी मित्र, जो भजनकी युक्ति सिखावे, माया-जालसे निकालकर भजन में ही दृढ करे और भगवत्प्राप्ति के मार्ग में लगावे। इन्हीं तीनों को इकट्ठा करो।" एक अन्य सन्तने भी कहा है कि धन्यवादसे भरोसा प्राप्त होता है। एक सन्त कहते हैं, "मैंने एक बार महापुरुष की पत्नी से पूछा कि मुझे महा-पुरुष की कोई आश्चर्यपूर्ण बात सुनाओ। तब उन्होंने कहा कि

उनकी तो सभी बातें आश्चर्यपूर्ण हैं। एक दिन उन्होंने सायंकालीन उपासना की और फिर रात्रि भर खड़े रोते रहे। मैंने कहा, 'भगवान् ने आपके तो सभी अपराध क्षमा कर दिये हैं, फिर आप क्यों रोते हैं?' तब वे बोले, "अब मैं प्रभु का धन्यवाद करते हुए रोता हूँ। मुझे उन्होंने आज्ञा की है कि तुम सोते, जागते, उठते, बैठते भजन में ही दृढ़ रहो तथा पृथ्वी और आकाश में मैंने जो कुछ रचना की है उसे देखकर आश्चर्य मत करो, तथा मैंने तुम्हें जो यह अवस्था दी है, इसके लिये धन्यवाद करो और उस धन्यवाद के प्रेमावेश से ही रुदन भी करो, भयसे नहीं।" इस विषय में एक गाथा भी है। किसी समय एक महापुरुष थे। वे घूमते-फिरते कहीं पर्वतों में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक पत्थरको रोते देखा। उन्होंने उससे पूछा कि तू क्यों रोता है? भगवदिच्छा से वह बोलने लगा कि जब से मैंने भगवान् का यह कथन सुना है कि मैं मनमुखों और पत्थरों को नरक की आग में जलाऊँगा तब से ही मेरा रुदन नहीं रुकता। तब उन महापुरुषने भगवान् से प्रार्थना की कि प्रभो! इस पत्थर को अभयदान दीजिये। प्रभु ने यह प्रार्थना स्वीकार कर उसे अभय कर दिया। दूसरी बार जब वे महापुरुष वहाँ गये तबभी उन्होंने उस पत्थर को उसी प्रकार रोते देखा। तब उससे पूछा कि अब तू क्यों रोता है, नरक से तो तुझे अभय प्राप्त हो गया। उसने कहा, "पहले तो मैं भयवश रोता था, किन्तु अब धन्यवाद करता हुआ रोता हूँ।" अतः याद रखो, मनुष्य का हृदय पत्थर से भी अधिक कठोर है, वह तभी कोमल होता है जब उस पत्थर की तरह कभी भय से और कभी प्रेम से रुदन करे। अन्यथा नहीं।

(धन्यवाद का स्वरूप)

पहले हमने तीन पदार्थ धर्म के मूल बताये हैं—(१) समझ

(२)चित्त की स्थिति और (३) आचरण। ये तीनों मिलकर धर्म के मूल बनते हैं। इनमें सबसे पहले समझ है। उससे चित्त की स्थिति उत्पन्न होती है, और चित्तकी स्थितिसे आचरण का आविर्भाव होता है। यहाँ धन्यवाद के लिये ऐसी समझ होनी चाहिये कि भगवान् ने जितने भी सुख और पदार्थ दिये हैं वे सब उनका कृपाप्रसाद ही हैं। धन्यवाद के विषयमें चित्तकी स्थिति यह है कि इसका चित्त प्रभु के उपकारों की प्रसन्नता से छका रहे। तथा आचरण यह है कि उन पदार्थों को उन्हीं कामों में लगावे जिनसे प्रभुकी प्रसन्नता हो। धन्यवाद करनेवाले का सम्बन्ध बुद्धि, जिह्वा और इन्द्रियों के साथ होता है। सो जबतक वह इस सम्बन्ध को अच्छी तरह नहीं पहचानता तब तक भी पूर्णतया धन्यवाद नहीं कर सकता। इसके सिवा जबतक सम्पूर्ण सुख भगवान् की ही देन नहीं जानता तब तक धन्यवाद की पूरी समझ प्राप्त नहीं होती। जैसे यदि राजा किसी को पुरस्कार दे और वह यह समझे कि मुझे यह पुरस्कार प्रधान की प्रसन्नता से मिला है, ❀ तो ऐसा समझने से राजा का पूर्ण धन्यवाद नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि उसको प्रसन्नता वास्तव में राजा के पुरस्कार-प्रदान से नहीं हुई है। किन्तु यदि कोई ऐसा समझे कि मुझे पुरस्कार तो राजा के आज्ञापत्र से ही मिला है, हाँ वह आज्ञापत्र अवश्य कागज, स्याही और लेखनी के सहयोग से बना था, तो इस प्रकार आज्ञापत्र को पुरस्कार प्रदान में साधन मानने से राजा के प्रति धन्यवाद में कोई त्रुटि नहीं आती, क्योंकि कागज, लेखनी और स्याही तो स्वतःसिद्ध नहीं हैं, वे तो पराधीन हैं। जैसे यदि कोषाध्यक्ष राजा की आज्ञा से किसी को कुछ दे तो उसमें उसका

❀ क्योंकि राजा की ओर से दिये जानेवाले पुरस्कार प्रायः राजाज्ञा से प्रधान या प्रान्तीय शासक ही देते हैं।

उपकार नहीं माना जाता, क्योंकि वह तो राजा की आज्ञा के अधीन है, स्वयं तो कुछ भी देने का उसमें सामर्थ्य नहीं है। इसी-प्रकार भगवान् ने जीव को जो सब प्रकार के सुख दिये हैं तथा जीवों के जीवन और सुख के लिये उन्होंने जो अन्न आदि अनन्त पदार्थ पृथ्वीपर प्रकट किये हैं उनकी उत्पत्ति यदि वर्षा के द्वारा माने और वर्षा को मेघों से समझे, इसी तरह जहाजों का अपने लक्ष्य पर निर्विघ्न पहुँच जाना अनुकूल वायु के कारण जाने, तो इससे प्रभु का धन्यवाद नहीं होता। किन्तु जब ऐसा समझे कि इन्द्र, मेघ, पवन, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा और भी सब देवगण एकमात्र भगवान् की प्रेरणा से ही अपना-अपना कार्य कर रहे हैं, ये सब उन्हीं के हाथ की लेखनी है, स्वयं अपना इनमें कुछ भी सामर्थ्य नहीं हैं, तभी प्रभु का पूरा धन्यवाद हो सकता है।

अतः जब तुम्हें कोई मनुष्य कुछ दे और तुम उसे उसी की देन समझो तो यह बड़ी मूर्खता की बात होगी। इससे प्रभु के प्रति किये जानेवाले धन्यवाद में त्रुटि आ जायगी। किन्तु जब ऐसा समझोगे कि उस मनुष्य ने मुझे यह पदार्थ तब दिया है जब प्रभु ने उसके पास अपना दूत भेजा है और उस दूत ने ही उससे बलात्कार से मुझे यह चीज दिलायी है तो प्रभु के प्रति तुम्हारा यथावत् धन्यवाद हो सकेगा। वह प्रभु का दूत है श्रद्धा, जो प्रभु ने उसके हृदय में प्रेरित की है। उस श्रद्धा के कारण ही उस पुरुष ने ऐसा समझा है कि इस लोक और परलोक में मेरा हित तभी होगा जब मैं इस पुरुष को अपनी अमुक वस्तु दूँगा। इस प्रकार उसने अपने प्रयोजन से ही यह वस्तु दी है। इसके द्वारा उसने इस लोक और परलोक में अपना हित चाहा है। अतः उसने अपने ही को दिया है, किसी दूसरे को नहीं। अतः जब ऐसी दृष्टि होगी तब मालूम होगा कि सब कुछ भगवान् ने ही

दिया है, और बिना किसी प्रयोजन के केवल दयावश ही दिया है। इस प्रकार जब तुम जानोगे कि सब लोग भगवान् के ही कोषाध्यक्ष हैं और उन्हीं की आज्ञा से देते हैं, तब ऐसा जाननेपर ही तुम्हारा धन्यवाद पूर्ण होगा और तुम प्रभु के सम्मुख हो सकोगे। इसी विषय में एक बार महापुरुष मूसा ने भगवान् से पूछा था कि भगवन्! आपने जब सृष्टि के आरम्भ में आदम को उत्पन्न किया था और उन्हें अनेक प्रकार के सुख दिये थे तब उन्होंने आपका धन्यवाद किस प्रकार किया था? तब प्रभु ने कहा कि उसने सब सुखों को मेरी ओर से प्राप्त हुए ही समझा था और अन्य किसीकी ओर भी चित्त नहीं लगाया। इसलिये उसका धन्यवाद पूर्ण था।

याद रखो, धर्म के द्वार तो अनेकों कहे गये हैं; उनमें से तीन का यहाँ उल्लेख किया जाता है—

१. भगवान् को निर्लेप और अकर्ता जानना तथा उन्हें सब सब प्रकार के स्वभावों से शून्य और सङ्कल्पातीत समझना।
२. भगवान्को एक समान समझना और यह जानना कि उनके समान और कोई भी नहीं है।
३. सम्पूर्ण पदार्थों को उत्पन्न करनेवाले श्रीभगवान् ही हैं तथा वे ही सबका पालन करनेवाले भी हैं। अतः सभी प्रकार उनका धन्यवाद है। ऐसा जानना ही सबसे बढ़कर है।

इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि प्रभु को अकर्ता और निर्लेप जानने से दस गुनी भलाई होती है, जब ऐसा समझे कि भगवान् एक हैं और उनके समान कोई नहीं है तो बीस गुनी भलाई होती है तथा उन्हें सब पदार्थों का रचयिता जानकर उनका धन्यवाद करने से तीस गुनी भलाई होती है। किन्तु इन तीन वचनों को केवल पढ़ लेने से यह फल प्राप्त नहीं होता। किन्तु जब चित्त में इनका अर्थ दृढ़ हो तभी निःसन्देह इनका फल प्राप्त

होता है। धन्यवाद का अर्थ तो यही है कि ऐसा जानकर चित्त में प्रसन्नता हो। यही धन्यवाद की अवस्था भी है कि जब कोई पुरुष किसी से कोई पदार्थ पाता है तो वह उसके प्रति प्रसन्न होता है। वह प्रसन्नता भी तीन प्रकार की है—

१. जैसे कोई राजा अपने किसी सेवक को घोड़ा दे और वह यह समझकर प्रसन्न हो कि यह मुझे बहुत अच्छी वस्तु मिली, मुझे इसकी आवश्यकता भी थी। घोड़े के बिना मैं दुःखी था, अब इसे पाकर मैं सुखी हो जाऊँगा। यह प्रसन्नता उसे राजा के उपकार के कारण नहीं होती, क्योंकि यदि उसे दैवयोग से वन में ही घोड़ा मिल जाता तब भी वह ऐसा ही प्रसन्न होता।

२. जिसे राजा घोड़ा दे वह यह समझकर प्रसन्न हो कि राजा की मुझपर कृपा है, अतः अब अपनी कृपा के कारण वह मुझे और भी पदार्थ देगा। यह प्रसन्नता पदार्थ देनेवाले के प्रति है, उस पदार्थ के कारण नहीं। अतः ऐसे पुरुष को यदि वन में घोड़ा मिलता तो ऐसी प्रसन्नता न होती, क्योंकि राजा से घोड़ा मिलनेपर उसे और भी अनेकों पदार्थों के मिलने की आशा हो जाती है। इसीसे प्रसन्न होता है। यह भी धन्यवाद है, परन्तु सकाम होने के कारण पूर्ण धन्यवाद नहीं है।

३. जिस सेवक को घोड़ा प्राप्त हो वह यह सोचकर प्रसन्न हो कि अब इस पर चढ़कर मैं राजा के पास पहुँच सकूँगा। और फिर उसी के साथ रहूँगा तथा उसी की सेवा करूँगा। यह प्रसन्नता सम्पूर्ण धन्यवाद के कारण होती है।

इसी प्रकार भगवान् ने इसे जो सुख दिये हैं उन सुखों के कारण यदि यह अपने को सुखी [मानकर प्रसन्न होता है तो वह भगवान् के प्रति धन्यवाद नहीं है। और जब यह सोचकर प्रसन्न

हो कि जिस प्रभु ने कृपा करके इतने सुख दिये हैं वे और भी अनेकों सुख देंगे, इस प्रकार सुखों की प्राप्ति को ही भगवान् की कृपा समझे तथा अन्य सुखों की भी आशा रखे तो यह भी सकाम धन्यवाद होगा। किन्तु जो पुरुष यह समझकर प्रसन्न हो कि ये सारे सुख भगवान् का ही कृपाप्रसाद हैं और मेरे धर्माचरण के साधन हैं, क्योंकि इस सुख-सुविधा को पाकर मैं भजन-साधन में तत्पर हो सकूँगा और अपने सब पदार्थों को भगवान् की सेवा में ही लगाऊँगा तथा ऐसा करके उनके साक्षात् दर्शन प्राप्त करूँगा— तो उसका इस प्रकार प्रसन्न होना ही सम्पूर्ण धन्यवाद है।

सम्पूर्ण धन्यवाद का लक्षण यह है कि पदार्थ को देखकर इसे मोह उत्पन्न न हो, पदार्थ की प्राप्ति को तो यह विपत्ति माने और जब वह पदार्थ न रहे तभी अपनी भलाई और सुख समझे। उसके दूर होनेपर भगवान् का धन्यवाद करे। जो वस्तु भगवान् के मार्ग में सहायक न हो उसे देखकर इसे विषाद हो, प्रसन्नता न हो। सन्त शिबली ने कहा है कि प्रभु के उपकार का ठीक-ठीक धन्यवाद तो यह है कि सुख देनेवाले भगवान् को ही देखे, सुख को न देखे। जिसके नेत्र सुन्दर रूप देखना चाहते हैं, जिह्वा स्वाद लेना चाहती है और अन्यान्य इन्द्रियाँ अपने भोग चाहती हैं ऐसे विषयी पुरुष को विचार नहीं हो सकता, विचार के बिना सन्तोष नहीं होता और सन्तोष हुए बिना धन्यवाद नहीं हो सकता। धन्यवाद की क्रिया का सम्बन्ध मन, जिह्वा और शरीर तीनों से है। मन के द्वारा धन्यवाद की क्रिया यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि का भला चाहे, किसी के धन और मान को देखकर ईर्ष्या न करे। जिह्वा की क्रिया यह है कि सभी अवस्था और समयों में धन्यवाद का उच्चारण करे और सुख प्रदान करनेवाले भगवान् के प्रति मन की प्रसन्नता प्रकट करे। कहते हैं, एक बार महापुरुष ने किसी पुरुष से पूछा कि तुम्हारा क्या हाल है? उसने कहा, "कुशल है।" महापुरुष ने फिर

कहा कि तेरा क्या हाल है ? उसने भी कहा, "बड़े आनन्द में हूँ, प्रभु का धन्यवाद है ।" तब महापुरुष ने कहा, "मेरे बार-बार पूछने का यही उद्देश्य है कि पुनः पुनः प्रभु का धन्यवाद प्रकट हो ।" अतः मनुष्यों को चाहिये कि जब कोई पूछे, 'तुम्हारा क्या हाल है ?' तो यही उत्तर दें कि प्रभु का धन्यवाद है । इससे दोनों पुरुषों को उत्तम फल प्राप्त होगा । और यदि किसीसे कोई कुछ पूछे और वह अपने दुःख एवं ग्लानि की चर्चा करने लगे तो दोनों ही को पाप लगता है । अतः यह मनुष्य भले ही दुःखी भी हो तो भी मुँह से भगवान् का धन्यवाद ही कहे, क्योंकि सभी जीव पराधीन हैं, उनके हाथ में तो कुछ है नहीं । इसलिये उनके आगे भगवान् की निंदा करनी कैसे उचित हो सकती है । अतः सब प्रकार के दुःख और संकट में भी धन्यवाद करना ही अच्छा है, क्योंकि इस जीव को तो पता नहीं लग सकता, किंतु आश्चर्य नहीं कि भगवान् की दृष्टि में दुःख से ही इसका कल्याण होता हो । इसलिये सर्वदा धन्यवाद करना ही श्रेष्ठ है । और यदि धन्यवाद न कर सके तो सन्तोष करे ।

शरीर के द्वारा धन्यवाद का इस प्रकार आचरण होता है कि भगवान् ने इसे जो अंग जिस काम के लिये दिये हैं उन्हें उसी कार्य में लगावे । इससे प्रभु की प्रसन्नता प्राप्त होती है । भगवान् यद्यपि जीव की भलाई-बुराई से निर्लेप हैं, तथापि इसकी भलाई देखकर उन्हें प्रसन्नता होती है । जैसे कोई राजा अपने किसी सेवक पर बहुत कृपालु हो और वह सेवक उससे बहुत दूर रहता हो, तो राजा उसके लिये घोड़ा और खर्च भेज देता है, जिससे कि वह राजा के पास पहुँच जाय और फिर राजा उसे बड़ी पदवी प्रदान करता है । राजा के लिये उस सेवक का दूर या पास रहना समान ही है, वह तो केवल उसी का सुख चाहता है, उसे अपना कुछ भी प्रयोजन नहीं होता । किन्तु उस सेवक के द्वारा अपने स्वामी का

पूर्ण धन्यवाद तभी समझा जा सकता है जब वह घोड़े पर चढ़कर राजा की ओर आवे। यदि उस घोड़े पर चढ़कर वह राजा की ओर से पीठ करके चलता है तो वह निःसन्देह उससे दूर पड़ जाता है और यदि किसी दूसरी दिशा को चला जाता है तो भी राजा से विमुख ही रहता है। इसके सिवा यदि वह घोड़ा का प्रयोग ही न करे, उसे यों ही छोड़ दे, तो भी मनमुख हो जाता है। वह यद्यपि दूसरी दिशा की ओर जानेवाले के समान नहीं होता, तो भी राजा को तो प्राप्त नहीं कर पाता।

इसी प्रकार प्रभु ने जो इसे इन्द्रियाँ और अनेक प्रकार के सुख दिये हैं उन्हें धर्ममार्ग में लगानेपर ही यह भगवान् को प्राप्त कर सकता है। और तभी इसका धन्यवाद पूर्ण होता है। इसके विपरीत यदि यह उन्हें पापकर्मों में लगाता है तो भगवान् से दूर हो जाता है और मनमुखता को प्राप्त होता है। तथा जब यह इन्द्रियों को पाप या पुण्य किसी में भी नहीं लगाता, केवल शारीरिक भोगों में ही आसक्त रहता है तो भी मनमुख हो जाता है। अतः सम्पूर्ण सखों के लिये तब धन्यवाद होता है जब पहले तो प्रभु की आज्ञा को पहचाने और फिर अपनी इन्द्रियों को उसी आज्ञा में नियुक्त करदे। सो, ऐसी अवस्था अत्यन्त कठिन और सूक्ष्म है। सब इस बात को पहचान भी नहीं सकते कि ऐसा करने से प्रभु प्रसन्न होते हैं, तथा इस जीव को भगवान् ने किस निमित्त से इन्द्रियाँ और ये सब पदार्थ दिये हैं। अतः पहले तो यह जानना चाहिये कि प्रभु ने यह सारी सृष्टि और वस्तुएँ बिना प्रयोजन ही नहीं बनायीं। इस प्रकार जब पहले इनके प्रयोजन को समझता है तब धन्यवाद का अधिकारी होता है।

(मनमुखता का स्वरूप)

मनमुखता का अर्थ है पदार्थों के प्रयोजन को न समझना और जिस कार्य के लिये वे बनाये गये हैं उससे विपरीत उनका प्रयोग

करना। धन्यवाद तो तब होता है जब जैसे प्रभु की आज्ञा हुई है उसी का दृढ़ता से अनुसरण करे। उससे विपरीत कार्य में लगने से मनमुखता होती है। किन्तु पूर्ण विद्या प्राप्त किये बिना भगवान् की आज्ञा भी नहीं समझी जा सकती। वह विद्या यही है कि भगवान् ने जितने पदार्थ दिये हैं उन्हें भगवान् के भजन में ही लगाना चाहिये और भजन में दृढ़ता तब होती है जब बुद्धि के नेत्र खुलते हैं। ऐसा होनेपर ही जीव यथार्थ मार्ग में चलता है और अनुभव के द्वारा सब पदार्थों के प्रयोजन को समझ सकता है। तभी वह धन्यवाद करने का अधिकारी होता है।

किन्तु जिस-जिस कार्य के लिये भगवान् ने पदार्थों को उत्पन्न किया है उन सबका समझना भी है कठिन। यद्यपि अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ा बहुत तो सभी समझते हैं, तथापि सभी भेदों को समझ सकना बहुत कठिन है। जैसे ये बातें तो सभी समझते हैं कि वर्षा खेती के लिये होती है, खेती आहार के लिये है तथा सूर्य के द्वारा दिन और रात्रि प्रकट होते हैं, उनमें रात्रि विश्राम के लिये है और दिन व्यवहार के निमित्त। इसी प्रकार और भी जो अनेकों स्थूल पदार्थ हैं उनके प्रयोजन का ज्ञान तो प्रायः सभी लोगों को है, किंतु रात्रि-दिवस बनाने के सिवा सूर्य के और भी ऐसे अनेकों कार्य हैं कि जिनका ज्ञान सर्वसाधारण को नहीं हो सकता। तथा आकाश में जो तारामण्डल है उसकी बात भी कोई नहीं जानता और न कोई यही जानता है कि उनकी उत्पत्ति का भेद क्या है। जैसे सब लोग यह तो जानते हैं कि हाथ ग्रहण करने के लिये बनाये गये हैं, और आँखें देखने के लिये, पर यह नहीं जान सकते कि नेत्रों के साथ पलक किस लिये बनाये गये हैं तथा उदर में जिगर और तिल्ली बनाने का क्या प्रयोजन है, क्योंकि यह रहस्य सूक्ष्म है और कोई रहस्य तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म होता है। उसे तो कोई विरला बुद्धिमान् ही समझ सकता है। और

यदि उसका वर्णन करें तब भी बहुत विस्तार हो जाता है।

अतः मैं मानवजीवन के उद्देश्य को स्पष्ट बतलाता हूँ कि भगवान् ने इसे अपने ज्ञान और परिचय के लिये ही बनाया है। अतः मनुष्य को चाहिये कि परलोक को जाने तथा अपने शरीर और इन्द्रियों को भगवान् के भजन में लगावे और चित्त में परलोक का चिन्तन ही स्थिर करे। हृदय में ऐसा न समझे संसार में सारे पदार्थ प्रभु ने मेरे ही लिये रचे हैं, क्योंकि जब ऐसी समझ होती है तब जिस पदार्थ में अपना लाभ दिखायी नहीं देता उसके विषय में यह सोचता है कि यह पदार्थ भगवान् ने क्यों उत्पन्न किया है? इसकी उत्पत्ति का क्या प्रयोजन हो सकता है? भला, मक्खी और चींटी की उत्पत्ति की क्या आवश्यकता थी? सो, यह बड़ी मूर्खता की बात है, क्योंकि ऐसी ही शंका मक्खी और चींटी भी कर सकती हैं कि मनुष्य क्यों उत्पन्न किया गया, इसकी उत्पत्ति से भला क्या लाभ है जो हमें तंग करता है और व्यर्थ ही भटकता रहता है। इस प्रकार एक मकोड़ा जैसा अनुमान कर सकता है सा ही यह पुरुष भी करता है। किन्तु जब विचार कर देखा जाय तो भगवान् की कृपा सर्वत्र भरपूर है और समान है। प्रभु का सामर्थ्य ऐसा है कि जो पदार्थ जैसा होना चाहिये था वैसा ही उन्होंने उत्पन्न किया है। उन्होंने पशु, वृक्ष, खानि तथा और भी सम्पूर्ण स्थावर-जंगम सृष्टि सर्वथा ठीक-ठीक बनायी है और इन्हें जिस-जिस वस्तु की अपेक्षा थी कृपा करके वह सभी इन्हें दी हैं; जैसे सिर, हाथ, पाँव और सुन्दरता आदि, क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो प्रभु के पास न हो। तथा उनमें कृपणता भी नहीं है, जो देने में किसी प्रकार की कमी रहे। इसलिये उन्होंने सभी को सुन्दर और पूर्णांग बनाया है।

प्रभु ने जो पदार्थ उत्पन्न नहीं किया वह वास्तव में उत्पत्ति का अधिकारी ही नहीं था; जैसे अग्नि में शीतलता। वास्तव में

अग्नि में उष्णता ही रहनी चाहिये थी और जल में शीतलता ही। इसलिये उन्होंने जल और अग्नि को परस्पर विरोधी बनाया है। इनके आपस में विरोधी होने की आवश्यकता थी। जैसे अग्नि में उष्णता रहनी आवश्यक है वैसे ही जल में शीतलता रहनी जरूरी थी। इन दोनों ही की आवश्यकता है। यदि अग्नि में उष्णता न रहे तो वह अपना कार्य ही नहीं कर सकती। इसलिये निश्चय जानो कि प्रभु ने वही पदार्थ उत्पन्न किया है जो उत्पत्ति का अधिकारी था, जो उत्पत्ति का अधिकारी नहीं था उसे उन्होंने उत्पन्न ही नहीं किया। मक्खी को उन्होंने आर्द्रता से उत्पन्न किया है, क्योंकि उसे आर्द्रता का ही अधिकार था। अतः उन्होंने उसे उसका अधिकार दिया, क्योंकि उनकी दया में किसी प्रकार की कृपणता नहीं है। इसीसे अपनी परम उदारता के कारण उन्होंने मक्खी को भी जीव, बल, इन्द्रिय, सुन्दर अंगोपाङ्ग, पंख, हाथ, पाँव, नेत्र, मुँह, नाक, सिर, गुदा और अन्न पचाने का अवयव तथा और भी जिस-जिस अंग की आवश्यकता थी वे सभी दिये हैं, छिपाकर कुछ भी नहीं रखा। मक्खी को नेत्रों की अपेक्षा थी, किन्तु उसका सिर छोटा था, इसलिये उसे पलक उठाने-गिराने की अधिकारी न देखकर उसके नेत्र पलकहीन ही बनाये हैं। पलकों का उद्देश्य है नेत्रों की धूलि आदि से रक्षा करना। जैसे सिकलीगर दर्पण को शुद्ध करता है वैसे ही पलक नेत्रों को स्वच्छ करते हैं। मक्खी के नेत्र पलकहीन थे, इसलिये उसे उन्होंने दो हाथ अधिक दिये, जिनसे मलकर वह अपनी आँखें साफ कर लेती है और फिर उन हाथों को भी झाड़ डालती है।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् की दया केवल मनुष्य पर ही नहीं है, वह सर्वत्र भर-पूर है। इसीसे कीट, पतंग तथा अन्यान्य जीवों को भी जिस-जिस वस्तु की अपेक्षा थी वह

सभी उन्होंने दी हैं। उन्होंने जो हाथी को दिया है वह और सबको भी दिया है तथा इन्हें मनुष्यों के ही लिये नहीं बनाया। जैसे मनुष्य की उत्पत्ति उन्होंने इनके लिये नहीं की उसी प्रकार उन्होंने सबको अपने-अपने लिये ही बनाया है। उत्पत्ति के आरम्भ में भगवान् का मनुष्य के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं था, जिससे कि केवल मनुष्य को ही उत्पत्ति का अधिकारी माना जाय, अन्य जीवों को नहीं। भगवान् की दया तो समुद्र के समान भरपूर है और सारे पदार्थ उसी में स्थित हैं। अतः उसी में मनुष्य है और उसी में अन्य सब पदार्थ भी हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि उत्तम पदार्थ पर निकृष्ट पदार्थ निछावर किया जा सकता है और पृथ्वी पर जितनी सृष्टि है उसमें मनुष्य सब से श्रेष्ठ है। इसीसे और सब जीव मनुष्य की सेवा करनेवाले बनाये गये हैं। यद्यपि सामान्यतया ऐसी बात है, तथापि समुद्रों में ऐसे जीव भी उत्पन्न किये गये हैं जिन्हें प्रभु ने दया करके सब प्रकार सुन्दर बनाया है, किन्तु मनुष्य का उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। सब मनुष्य तो उनकी सुन्दरता को पहचान भी नहीं सकते, उन्हें तो वही पहचानता है जो समुद्रसम्बन्धी विज्ञान का पण्डित हो।

मेरे इस कथन का तात्पर्य यह है कि तुम ऐसा ही मत समझो कि भगवान् ने सब कुछ तुम्हारे लिये ही बनाया है। और जिससे अपनी कोई प्रयोजनसिद्धि दिखायी न दे उसके विषय में ऐसी शंका मत करो कि इसे भगवान् ने क्यों बनाया है। अब यदि तुम यह जान गये हो कि मकोड़ा तुम्हारे लिये नहीं बनाया गया तो यह भी निश्चय जानो कि सूर्य, चन्द्रमा, तारे और देवता भी तुम्हारे लिये उत्पन्न नहीं किये गये हैं। यद्यपि इनसे तुम्हारे भी कार्य सिद्ध होते हैं तथापि इनकी उत्पत्ति केवल मनुष्य के लिये ही नहीं की गयी। जैसे मक्खी यद्यपि तुम्हारे शरीर की दुर्गन्ध को चूस लेती है और उसे कम कर देती है, पर इसी निमित्त से

उसकी रचना नहीं की गयी। जब तुम ऐसा समझते हो कि सब कुछ मेरे लिये ही रचा गया है तो यह ऐसी ही बात है जैसे मक्खी यह समझे कि हलवाई लोग सारी मिठाइयाँ मेरे ही लिये बनाते हैं। यद्यपि हलवाई की मिठाई से मक्खी को भी आहार मिल जाता है, किन्तु हलवाई तो अपने काम में इतना व्यस्त रहता है कि मक्खियों का तो उसे स्मरण भी नहीं होता। इसी प्रकार तुम भी समझते हो कि सूर्य नित्यप्रति मेरे लिये ही उदित होता है। किन्तु सूर्य तो प्रभु की आज्ञा का पालन करने में इतना तल्लीन है कि तुम तो उसकी स्मृति में भी नहीं आते। अतः निश्चय जानो कि सूर्य तुम्हारे ही लिये नहीं बनाया गया, यद्यपि उसके प्रकाश से तुम्हारे नेत्रों को भी ज्योति मिलती है। इसके सिवा सूर्य की उष्णता से पृथ्वी के स्वभाव में समता आती है। तभी वह जल खींचती है और उससे उसमें अनेकों प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

यद्यपि पदार्थों की उत्पत्ति का रहस्य पूर्णतया वर्णन नहीं किया जा सकता तथापि दृष्टान्तमात्र कुछ वर्णन करता हूँ। जिस प्रकार तुम्हारे नेत्र हैं, इन्हें दो कार्यों के लिये बनाया गया है। पहला कार्य तो यह है कि इनके द्वारा तुम्हारे शरीर का व्यवहार सिद्ध होता है और दूसरा यह कि तुम इनसे प्रभु की नाना प्रकार की रचना देखते हो और उसे देखकर उनकी महत्ता, सामर्थ्य और पूर्णता को पहचान सकते हो। किन्तु यदि तुम इन नेत्रों से परस्त्री को देखने लगो तो यह तुम्हारे द्वारा भगवान् की दी हुई वस्तु का दुरुपयोग होगा। नेत्रों में देखने का सामर्थ्य सूर्य से आता है और सूर्य पृथ्वी और आकाश के मध्य में है। अतः जब तुम नेत्रों के द्वारा कुदृष्टि करते हो तो इससे तुम्हारे द्वारा पृथ्वी, आकाश और सूर्य तीनों ही का अपराध होता है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जब यह मनुष्य पाप करने

लगता है तब इसे पृथ्वी और आकाश भी धिक्कारते हैं। तथा भगवान् ने तुम्हें हाथ-पाँव इसलिये दिये हैं कि इनके द्वारा तुम खाना-पीना और स्नान आदि क्रियाएँ कर सको। सो इनके द्वारा जब तुम पापकर्म करने लगते हो तो वह भी मनमुखता होती है। प्रभु की प्रसन्नता तो विचार के द्वारा ही होती है और विचार का स्वरूप यह है कि उत्तम वस्तु को उत्तम कर्म में और निकृष्ट वस्तु को निकृष्ट कार्य में लगाया जाय। जैसे तुम्हारे जो दो हाथ हैं उनमें दायाँ सबल और उत्तम है तथा बायाँ दुर्बल और निकृष्ट। अतः तुम्हें उत्तम हाथ से उत्तम कार्य करने चाहिये और निकृष्ट से निकृष्ट, तब तुम्हारी प्रवृत्ति विचारयुक्त मानी जायगी।

और यदि तुम ऐसा नहीं करते तो पशु के समान मूर्ख समझे जाओगे। जैसे कोई मूर्ख यदि शुद्ध स्थान में थूके तो यह उसकी उच्छृङ्खलता होगी। अथवा बिना प्रयोजन किसी वृक्ष की शाखा या फल-फूल को तोड़े तो यह भी मनमुखता ही होगी, क्योंकि प्रभु ने शाखा में भी नाडी बनायी है, जिससे रस खींचकर वह पुष्ट होती है और फिर उसमें फल लगते हैं, जिनमें कि अनेकों गुण हैं। अतः जब तुम उसे बिना किसी प्रयोजन के तोड़ते हो तो यह तुम्हारी मनमुखता ही है। किन्तु जब तुम्हारा कोई विशेष प्रयोजन हो तब तुम उसे काट भी सकते हो, क्योंकि तुम्हारी महत्ता पर उसकी महत्ता निछावर की जा सकती है। तथापि इस विषय में एक बात ध्यान में रखने की है। यदि वह वृक्ष किसी दूसरे व्यक्ति का हो तो तुम्हें उसे नहीं काटना चाहिये, भले ही उस समय तुम्हें उसे काटने की आवश्यकता भी हो, क्योंकि तुम्हारी आवश्यकता की अपेक्षा जिसका वह वृक्ष है उसका कार्य प्रधानता रखता है। यदि अच्छी तरह विचार करें तब तो किसी भी वस्तु पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, क्योंकि भगवान् ने यह माया एक थाल के समान बनायी है, जिसमें सब पदार्थ भोजन की तरह

परोसे हुए हैं और सब जीव अभ्यागत की भाँति हैं। उस भोजन पर किसी एक व्यक्ति का कोई दावा नहीं है। यद्यपि सभी उसमें से अलग-अलग ग्रास उठाते हैं तथापि वह भोजन है सभी का। परन्तु जब किसी मनुष्य ने ग्रास तोड़कर हाथ में ले लिया हो तो दूसरे व्यक्ति को ऐसा करना भी उचित नहीं है कि उसके हाथ का ग्रास छीन ले। इसी प्रकार सब जीवों का जो अपना-अपना स्वत्व है वह भी हाथ में लिये हुए ग्रास के समान ही है। इससे अधिक कुछ भी नहीं है। इसीसे किसी की वस्तु को चुराना भी ठीक नहीं। साथ ही यह भी उचित नहीं है कि उस थाल से भोजन लेकर किसी गुप्त स्थान में रखता जाय, जिससे कि वह किसी दूसरे के हाथ न लगे। इसी प्रकार इस मनुष्य को यह भी उचित नहीं है कि अधिक धन सञ्चय करे, खजाना इकट्ठा करले और जिसे देना उचित समझे उसे भी न दे।

परन्तु यह बात भी संसार में स्पष्ट नहीं कही जा सकती, क्योंकि हर-किसी का प्रयोजन भी प्रत्यक्ष नहीं जान पड़ता। यदि यही सिद्धान्त माना जाय कि आवश्यकता से अधिक सञ्चय करना अनुचित है और जिन्हें उसकी आवश्यकता है उनसे उसे नहीं बचाना चाहिये, तब तो सब कोई बेधड़क होकर एक-दूसरे की वस्तु हरने लगेंगे और कहेंगे कि तुम्हारे पास अधिक है और मुझे आवश्यकता है। इसीसे धर्मशास्त्रों में भी यह बात स्पष्ट नहीं कही गयी, क्योंकि इसका वास्तविक रहस्य समझना कठिन है। किन्तु अधिक धन सञ्चय करने के लिये भगवान् ने भी निषेध किया है और विचारदृष्टि से भी ऐसा करना अनुचित है।

इसी प्रकार अधिक अन्न संग्रह करना भी अनुचित है, क्योंकि अन्न जीवों का जीवन है और जो मनुष्य यह सोचकर अन्न सञ्चय करता है कि जब महँगा होगा तब बेचेंगे उसे प्रभु भी

धिक्कारते हैं। जिन्हें उसकी आवश्यकता है उन्हें न देना और लोभवश इकट्ठा रखना—यह बड़ा निन्दनीय कार्य है। इसी प्रकार सोना-चाँदी को इकट्ठा करना भी अनुचित है, क्योंकि इन्हें भगवान् ने दो कामों के लिये बनाया है—

१. सब पदार्थों का मूल्य इन्हीं के द्वारा निश्चित होता है। इनके बिना यह निश्चय नहीं हो सकता कि घोड़े का क्या मूल्य है, गाय का क्या मूल्य है और कपड़े का क्या मूल्य है? यह निश्चय न होने से इन्हें एक-दूसरे को बेचा नहीं जा सकता और किसी को कोई वस्तु अपेक्षित हो तो बिना मूल्य निश्चय किये उसे लेना-देना सम्भव नहीं होता। अतः भगवान् ने जो चाँदी-सोना बनाया है इसे इकट्ठा करके दबा देना ऐसा ही है जैसे कोई धर्मात्मा राजा को कैद करले। ऐसा पुरुष निःसन्देह पापी होता है। और यदि कोई पुरुष सोने-चाँदी के पात्र बनवाता है तो यह ऐसा ही है जैसे कोई श्रेष्ठ पुरुष को नीची श्रेणी के काम में लगावे तथा राजा से मजदूरी करावे। बर्तन तो मिट्टी, काठ और धातु के भी बनवाये जा सकते हैं, इसलिये उनके लिये चाँदी-सोने का प्रयोग करना अनुचित है।
२. सोना और चाँदी दुर्लभ पदार्थ बनाये गये हैं। सब पदार्थ इन्हीं से प्राप्त होते हैं, इसलिये सभी इन्हें चाहते हैं और इन्हींसे सबका व्यवहार सिद्ध होता है। विचारपूर्वक देखा जाय तो अन्न-वस्त्र आदि जितने पदार्थ हैं वे खान-पान अथवा शीतनिवारण आदि अपना-अपना कार्य ही कर सकते हैं, परस्पर एक-दूसरे का नहीं; जैसे अन्न से शीतनिवारण और वस्त्र से खान-पान का काम नहीं हो सकता। किन्तु सोना-चाँदी से सभी कुछ प्राप्त हो सकता

है। इसी से संसार में इनकी श्रेष्ठता और दुर्लभता है।

अतः याद रखो, भगवान् ने जो कुछ बनाया है वह बिना प्रयोजन नहीं है। किन्तु इसमें ऐसे गुप्त रहस्य हैं कि हर-कोई उन्हें समझ नहीं सकता। कोई विरले संत ही उन्हें पहचान पाते हैं। तथा कुछ भेद ऐसे हैं जिन्हें बुद्धिमान् विद्वान् भी समझ सकते हैं, दूसरे जीव नहीं। किन्तु यदि कोई अज्ञानी पुरुष बिना प्रयोजन किसी वृक्ष की शाखा तोड़े अथवा कोई और विचार-विरुद्ध कार्य करे तो मैं उसे उतना अपराधी नहीं समझता, क्योंकि वह मूर्ख है और पशु के समान निम्नकोटि का है। तथापि बुद्धिमान् जिज्ञासु को तो यही उचित है कि अज्ञानियोंका-सा आचरण न करे, सब काम विचारपूर्वक ही करे, परलोक के मार्ग में सावधान रहे तथा सब कार्यों के भेद को पहचाने। तभी वह देवताओं का स्वभाव प्राप्त कर सकेगा। और यदि ऐसा नहीं करेगा तो उसे पशुओं का ही स्वभाव मिलेगा।

(सुख का स्वरूप)

भगवान्ने इस मनुष्यके लिये जो कुछ उत्पन्न किया है वे सब पदार्थ चार प्रकारके हैं—

१. कुछ पदार्थ तो ऐसे हैं जो इस लोक और परलोक दोनों ही में सुख देनेवाले हैं। ये हैं समझ और अच्छा स्वभाव। ये ही वास्तवमें सच्चा सुख हैं।
२. कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाले हैं, जैसे मूर्खता और बुरा स्वभाव। ये ही वास्तवमें दुःख हैं।
३. कुछ ऐसे हैं जो इस लोकमें तो सुखरूप भासते हैं, किन्तु परलोकमें दुःखरूप हैं। ये सब मायिक भोग हैं। इन्हें मूर्खलोग सुखरूप समझते हैं किन्तु बुद्धिमान् दुःखमय जानकर त्याग देते हैं। जैसे कोई भूखा आदमी हो और उसे विष मिला हुआ मधु प्राप्त हो जाय, तो यदि उसे

अज्ञानवश उसमें विषका पता नहीं होता तो उसे सुखरूप समझकर वह खा लेता है और यदि उसे उसमें विष की पहचान हो जाती है तो उसे दुःखरूप समझकर त्याग देता है। इसी प्रकार मायाके भोगोंको मूर्खलोग तो सुख समझते हैं और बुद्धिमान् उन्हें दुःखरूप समझकर त्याग देते हैं।

४. कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो यहाँ तो दुःखरूप जान पड़ते हैं किन्तु परलोकमें सुखरूप हैं। ये हैं तप, वैराग्य और भोगोंका त्याग। इन्हें मूर्खलोग तो दुःखरूप समझते हैं, किन्तु बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें ये ही परम सुख हैं; जैसे कड़वी ओषधिको बुद्धिमान् तो बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार करता है, किन्तु मूर्ख त्याग देता है।

सामान्यतया तो इस लोकमें सब पदार्थ आपस में मिले हुए हैं। उनमें भलाई-बुराई दोनों ही का सम्बन्ध रहता है। अतः जिस पदार्थमें लाभ अधिक हो और हानि कम उसे अच्छा ही समझना चाहिये! किन्तु इसका निर्णय भी अधिकारीके अनुसार ही होता है। शरीरनिर्वाहयोग्य धनमें तो लाभ अधिक है हानि कम; और प्रयोजनसे अधिक धनमें लाभ कम है हानि अधिक। अधिकांश मनुष्योंको तो ऐसा ही अधिकार है। किन्तु कोई-कोई ऐसे भी होते हैं जिन्हें थोड़ा धन भी दुःख देता है. क्योंकि उनके पास जब बिलकुल धन नहीं होता तब तो वे तृष्णाशून्य रहते हैं, और यदि थोड़ा-सा भी प्राप्त हो जाता है तो उनके चित्तमें विशेष धनप्राप्ति की तृष्णा जग उठती है। कोई-कोई ऐसे भी ज्ञानी पुरुष होते हैं जिन्हें अधिक धनसे भी कोई हानि नहीं होती, क्योंकि वे धनकी अपेक्षावालों को खुले हाथसे दे सकते हैं और बिना विचार किये उसका दुरूपयोग नहीं करते। इससे निश्चय हुआ कि एक ही पदार्थ किसीको दुःख देनेवाला होता है और किसी को सुख देने-

वाला। यह सब अपने-अपने अधिकारकी बात है।

इसके अतिरिक्त जो पदार्थ सुखदायक समझे जाते हैं वे भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) कोई आरम्भ में सुख देते हैं, (२) कोई अन्तमें सुखदायक होते हैं और (३) कोई स्वयं ही सुखरूप एवं सुन्दर होते हैं। इसी प्रकार जिन वस्तुओंको दुःखरूप कहा जाता है वे भी तीन प्रकार की ही हैं—(१) कोई आरम्भ में दुःख देने वाली (२)कोई अन्त में दुःखद और (३) कोई स्वयं ही दुःखरूप, नीच और मलिन। किन्तु जो वस्तु आरम्भ और अन्त में सुख देने-वाली है तथा मध्य में भी सुन्दर और श्रेष्ठ है, वह है बुद्धि और अनुभव। यही परम सुखरूप है और इसके समान कोई भी पदार्थ नहीं है। तथा जो आदि, अन्त और मध्य में भी दुःखरूप है, वह है मूर्खता। यह स्वयं ही अत्यन्त कुरूप है। मूर्खता का आरम्भ में तो यह दुःख है कि यदि कोई मूर्ख पुरुष किसी पदार्थ को समझना चाहे तो उसे ठीक-ठीक जानने में समर्थ नहीं होता। इससे उसे निश्चय ही दुःख होता है। मूर्खता को कुरूप भी कहा गया है, सो स्थूल रूप से तो इसकी कोई कुरूपता नहीं भासती, किन्तु इसके कारण चित्त अन्धकार से आच्छादित हो जाता है, और यह आन्तरिक कुरूपता बाह्य कुरूपता से भी बुरी है। तथा जो कार्य मूर्खता से किया जाता है उसके अन्त में भी दुःख ही होता है।

कोई पदार्थ ऐसे भी होते हैं जिनमें पहले दुःख रहता है, किन्तु परिणाम में वे सुखरूप होते हैं; जैसे कोई व्यक्ति सर्पद्वारा काटे जानेपर इस दृष्टि से अँगुली को काट दे कि इससे सारे हाथ की रक्षा हो जायगी। तथा कोई पदार्थ ऐसे होते हैं जो एक दृष्टि से देखनेपर तो दुःखरूप जान पड़ते हैं और दूसरी दृष्टि से सुखरूप होते हैं, जैसे यदि किसी पुरुष का जहाज डूबने लगता है तो वह निःसन्देह होकर अपना धन और सामान समुद्र में डालने लगता है और चाहता है कि किसी प्रकार मेरी रक्षा हो जाय।

इस कार्य को धन-सम्पत्ति की दृष्टि से देखें तो प्रत्यक्ष धन की हानि है ही, किन्तु शरीररक्षा की दृष्टि से देखें तो ऐसे समय धन और सामान का त्याग ही सुखरूप होता है।

१. भोजन और कामादि भोग— ये अत्यन्त निम्नकोटि के सुख हैं। किन्तु अधिकांश पुरुष इन्हीं को सुख समझते हैं और जो भी कर्म करते हैं उसमें ये ही उनके लक्ष्य रहते हैं। मैंने जो इसे निम्नकोटि का सुख कहा है उसका कारण यह है कि ये कामादि भोग तो पशुओं को भी प्राप्त हैं। यही नहीं, मनुष्यों की अपेक्षा उनमें इनकी अधिकता भी है। मक्खी, मकोड़ा और दूसरे कीड़े भी इस सुख में मनुष्य के समान ही हैं। अतः जिस मनुष्य ने अपने जीवन को इसी सुख के उपार्जन में लगाया है वह तो पृथ्वी पर कीड़े के ही समान है, उसमें मनुष्ता कुछ भी नहीं है।

२. मान-बड़ाई दूसरा सुख है। इसकी वृत्तियाँ क्रोध और अहंकार की प्रबलता होने पर ही होती हैं। यद्यपि कामादि भोगों की अपेक्षा यह सुख विशेष है, तो भी है निम्न कोटि का ही। यह सुख भी कितने ही पशुओं को स्वभाव से प्राप्त है; जैसे सिंह और चीते भी महत्ता की तृष्णा रखते हैं और अपनी प्रबलता चाहते हैं।

३. तीसरा सुख विद्या, अनुभव और भगवान् की कारीगरी को पहचानने का है। यही परम सुख है और पूर्वोक्त दोनों प्रकार के सुखों से श्रेष्ठ है। अतः यह सुख किसी भी पशु में नहीं पाया जाता, क्योंकि ज्ञान और विद्या तो देवताओं के लक्षण हैं अथवा भगवान् के गुण हैं। इसलिये जिस मनुष्य में ज्ञान और विद्या का रस इतना बढ़ा हो कि वह और किसी सुख को सुख ही न समझे वही

'पूर्ण मानव' कहा जाता है। तथा जिसे ज्ञान और विद्या का कुछ भी रस न हो वह तो पशुओं के समान नीच और रोगी है। अर्थात् जैसे रोगी के समीप ही मृत्यु रहती है वैसे ही ऐसे पुरुष के निकट बुद्धि का नाश रहता है। कोई मनुष्य ऐसे भी होते हैं, जिन्हें कुछ तो ज्ञान और विद्या का रस रहता है और कुछ मान एवं भोगों का भी आस्वादन करते रहते हैं। तथापि जिन्हें ज्ञान का प्रबल रस प्राप्त है उन्हें तो स्वर्गपर्यन्त सभी सुख रसहीन हो जाते हैं। और जिन्हें विषयों का रस प्रबल होता है उन्हें ज्ञान और विद्या में कोई रस नहीं आता। वे तो अत्यन्त नीच स्थिति में पड़े रहते हैं।

अतः इस पुरुष को यही पुरुषार्थ करना चाहिये कि भोगों के रस की अपेक्षा विद्या के रस को बढ़ावे। यही बात सन्तजनों ने भी कही है कि वही पुरुष परम भाग्यवान् है जिसके शुभ कर्म अधिक हों और वही परलोक में सुखी हो सकता है। इस वचन का तात्पर्य यही है कि भोगों के रस से विद्या का रस अधिक हो, तभी सुख प्राप्त हो सकता है।

(सुखों के भेद)

पूर्ण सुख परलोक की भलाई है। वह इस जीव को स्वयं ही सुख देने वाली है, उसे किसी अन्य पदार्थ के आश्रय की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वह स्वयं ही परम सुखरूप है। यह परलोक की भलाई चार लक्षणों से सिद्ध होती है। वे लक्षण इस प्रकार हैं—(१) वह ऐसी सत्ता है जिसका किसी प्रकार नाश नहीं होता, (२) वह ऐसा परम आनन्द है कि उसमें शोक का कभी प्रवेश ही नहीं होता, (३) वह ऐसी चैतन्यता है कि मूढतारूप मल के लिये उसमें कोई अवकाश ही नहीं है तथा (४) वह ऐसा सामर्थ्य है कि जिसमें तनिक भी दीनता या पराधीनता नहीं है। यह सम्पूर्ण सुख श्रीभगवान् के

दर्शन होनेपर ही प्राप्त होता है। इसमें कभी किसी भी प्रकार का परिणाम नहीं होता। अतः यही सच्चा सुख है और सदा एकरस रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य पदार्थों को तो केवल इसीलिये सुख कहा जाता है कि वे इस परम सुख के साधन हैं। परम सुख तो वही होता है जिसमें स्वतः ही सबसे अधिक प्रीति हो और अपने लिये जिसे किसी अन्य सुख की अपेक्षा न हो। जिस सुख को किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा होती है वह पूर्ण सुख नहीं कहा जा सकता। महापुरुषों ने भी कहा है कि पूर्ण सुख परलोक की भलाई ही है। यह बात उन्होंने तब कही थी जब वे नास्तिकों के उपद्रव से संकट में पड़ गये थे। किन्तु जब उन्होंने शत्रुओं को परास्त कर दिया, उनका बहुत प्रताप बढ़ा, बहुत लोग उनके अनुयायी होकर उनसे धर्म के विषय में जिज्ञासा करने लगे तथा वे स्वयं जिस समय घोड़े पर चढ़कर जा रहे थे उस समय भी उन्होंने यही कहा कि सच्चा सुख परलोक का ही है। उनके इस कथन का तात्पर्य यही था कि हमारा मन माया के पदार्थों को देखकर प्रसन्न नहीं होता और दुःखों के आ पड़नेपर दुःखी भी नहीं होता। इस विषय में एक दूसरा प्रसंग भी है। एक पुरुष भगवान् से प्रार्थना करता था कि प्रभो! मुझे सम्पूर्ण सुख प्रदान कीजिये। तब महापुरुष ने उसकी बात सुनकर पूछा, "क्या तू जानता है कि सम्पूर्ण सुख किसे कहते हैं?" वह बोला, "मैं तो नहीं जानता, कृपया आप ही बताइये।" तब महापुरुष ने कहा, "संपूर्ण सुख पारलौकिक भलाई को कहते हैं।" इसलिये याद रखो, जो पदार्थ पारलौकिक हित का साधन न हो उसे विचारदृष्टि से सुख नहीं कह सकते। वह तो परम दुःखरूप होता है। तथा जो पदार्थ पारलौकिक हित में सहायक हैं और इस लोक में पाये जाते हैं वे सोलह हैं—चार मन में, चार शरीर में, चार शरीर से बाहर और चार इन सबके अन्तर्गत हैं।

पहले जो चार पदार्थ मन में बताये गये हैं वे इस प्रकार हैं—(१) धर्म के निश्चय की विद्या, (२) बर्ताव की विद्या, (३) संयम और (४) विचार। भगवान् के स्वरूप को पहचानना, उनके गुणों को समझना और सन्तजनों के लक्षणों की पहचान—यही धर्म के निश्चय की विद्या है। बर्ताव की विद्या यह है कि भक्तिमार्ग में जो-जो पर्दे हैं उन्हें पहचाने, परलोकमार्ग का पाथेय जो भगवान् का भजन है उसे स्वीकार करे और उस मार्ग के पड़ावरूप जो शुभ गुण हैं उन्हें भी पहचाने तथा उसी मार्ग में चले। संयम का अर्थ है भोग और क्रोध की प्रबलता को दूर करना। तथा विचार का तात्पर्य यह है कि यदि सभी भोगों को त्याग दिया जाय तब तो शरीर नष्ट हो जायगा और भोगवासना एवं क्रोध की प्रबलता होनेपर मनमुखता प्राप्त होती है। अतः उचित यह है कि इनका सर्वथा नाश भी न करे और इन्हें प्रबल भी न होने दे। इसलिये इन्हें विचार की तराजू में तोलकर समभाव में रखे।

परन्तु ये चारों विद्याएँ तब प्राप्त होती हैं जब इसे पहले शरीर-सम्बन्धी चार सुख प्राप्त हों। वे चार सुख हैं आरोग्य, बल, सुन्दरता और आयु। इनमें आरोग्य, बल और आयु तो प्रत्यक्ष ही पारलौकिक हित में सहायक हैं, क्योंकि विद्या, आचरण और सद्गुण इनके बिना प्राप्त नहीं हो सकते। सुन्दरता का अवश्य इसमें थोड़ा ही प्रयोजन है। जिस प्रकार लोकव्यवहार के लिये सामान्यरूप से धन और मान की अपेक्षा होती है उसी प्रकार यहाँ सामान्यरूप से सुन्दरता भी अपेक्षित है। भगवान् के मार्ग में इसकी विशेष आवश्यकता नहीं है, थोड़ी-सी कार्यनिर्वाहमात्र चाहिये। बात ऐसी भी है कि जो पदार्थ इस लोक में सुखदायक हैं, यदि मनुष्य का उद्देश्य ठीक हो तो, उनके द्वारा परलोक में भी सुख प्राप्त होता है, क्योंकि इस लोक का आचरण परलोक की खेती के समान है। तात्पर्य यह है कि जो कुछ यहाँ बोया जाता है उसी को

परलोक में भोगते हैं। इसके सिवा सुन्दरता को इसलिये भी अच्छा कहा है कि यह हृदय की सुन्दरता को सूचित करती है। अतः मनुष्य को चाहिये कि जिस प्रकार यह शरीर को सुन्दर बनाता है उसी प्रकार हृदय को भी शुभगुणों द्वारा सुन्दर बनावे। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि कभी कुरूप सेवक न रखे। अतः यहाँ मैंने जिस सुन्दरता के विषय में कहा है वह ऐसी नहीं समझनी चाहिये जिसे देखकर कामवासना जाग्रत् हो और चित्त दूषित हो जाय। ऐसी सुन्दरता तो प्रायः स्त्रियों में हुआ करती है। अतः इस वचन से तो सुन्दर पुरुष अभिप्रेत है जिसे देखकर ग्लानि उत्पन्न न हो, जिसका मस्तक खुला हुआ और प्रसन्न हो तथा शरीर समान एवं सुडौल हो तथा जो अपने शरीर में दुर्गन्ध या मलिनता न आने दे। ये सब भी शरीर की उत्तमता ही हैं।

इनसे अतिरिक्त शरीर से बाहर जो चार पदार्थ सुखके साधन कहे गये हैं वे धन, मान, सेवक और उत्तम कुल हैं। इनका विशेष विवरण इस प्रकार है—

१. धन का संग्रह तो उतना ही होना चाहिये जितने से परलोक के पथ में प्रगति हो, क्योंकि जब मनुष्य के पास धन का सर्वथा अभाव होता है तो उसका सारा समय उदरपूर्त्ति के लिये उपार्जन करने में ही लग जाता है। इसलिये वह ज्ञान और कर्म की पूर्त्ति नहीं कर सकता। धन की श्रेष्ठता इसी से मानी गयी है कि इसके द्वारा निःसंकल्प होकर मनुष्य शुभकर्मों में लग सकता है। उस स्थिति में धन भी मित्र हो जाता है।
२. मान को भी इसी दृष्टि से उपादेय कहा गया है। जिस मनुष्य का कुछ भी मान नहीं होता वह निरादर के कारण दुःखी रहता है और अपने शत्रु से भी निर्भय नहीं रह

सकता। इससे उसके चित्त में विक्षेप रहा करता है और उससे कोई शुभ कर्म नहीं हो पाता। अतः धन और मान को जो निन्द्य माना गया है वह इनकी अधिकता होनेपर ही है। उसी समय ये विघ्नरूप भी होते हैं। यदि ये केवल कार्यनिर्वाहयोग्य ही हों तब तो सुखदायक और निर्विघ्न ही हैं। इसीसे महापुरुषों ने भी कहा है कि जो पुरुष प्रातः-काल उठे और उसे किसी का भी भय न हो तथा एक दिन का आहार भी उसके पास हो, तब समझना चाहिये कि उसके पास सम्पूर्ण पदार्थ हैं। तथा ये निर्भयता और आहारमात्र का संग्रह धन एवं मान का सर्वथा अभाव होने-पर हो नहीं सकते। इसीसे महापुरुष ने भी कहा है कि जिस पुरुष का संकल्प शुद्ध है उसका तो धन भी मित्र ही होता है।

३. सेवक की आवश्यकता भी इसीलिये है कि उसके कारण मनुष्य शरीर की बहुत सी क्रियाओं से छुट्टी पा लेता है तथा भजन में लग सकता है। यदि सारी क्रियाएँ इसे ही करनी पड़ती हैं तो इसका सारा समय उन्हीं में लग जाता है।

४. उत्तम कुल से मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि किसी राजा या महन्त का कुल हो। इससे मेरा तात्पर्य केवल विद्वान् और सात्त्विकी कुलसे है, क्योंकि इससे उस मनुष्यमें भी सात्त्विकी गुण आजाते हैं। इस प्रकार उत्तम कुल भी भग-वान् के मार्ग में सहायक होता है।

अब उन चार पदार्थों का वर्णन करते हैं जो उपर्युक्त बारह पदार्थोंको सिद्ध करते हैं। वे पदार्थ ये हैं—(१) भगवान् के मार्गका ज्ञान, (२) श्रद्धा, (३) बल और (४) भगवदाकर्षण। जबये चारों एकत्रित होते हैं तब उसे ही भगवान्‌की सहायता करते हैं, क्यों

कि सहायताका अर्थ है भगवान्के नेतृत्वके साथ जीव की श्रद्धाका सम्बन्ध या मेल हो जाना । अब इन चारों पदार्थोंका विशेष विवरण किया जाता है—

१. भगवान्के मार्गकी पहचान सभीको अवश्य होनी चाहिये, क्योंकि जो पुरुष पारलौकिक कल्याण में आस्था रखता हो और उसे शुभ मार्ग या अशुभ मार्गकी कोई पहचान न हो तो उसके विश्वासका कोई विशेष लाभ नहीं होता । इससे निश्चय होता है कि इस जीवके सब काम विवेक और परिचय होनेपर ही सिद्ध होते हैं, अन्यथा नहीं। इस विषय में सन्तजनोंका कथन है कि भगवान्ने दो उपकार सभी जीवोंपर किये हैं—(१) उन्होंने सब जीवोंको उत्पन्न किया है और (२) सबको अपने-अपने कामकी समझ दी है। वह समझ भी तीन प्रकार की है—

(१) भले बुरेको पहचानना। भगवान्ने यह बुद्धि सभी लोगोंको दी है। परन्तु कोई तो अपनी बुद्धिसे ही भले-बुरेकी पहचान कर लेते हैं और कोई सन्तजनोंके वचनोंसे उनका भेद समझ सकते हैं। इसी प्रकार प्रभुने भी कहा है कि मैंने सभी मनुष्योंको उनके भोगों की भलाई-बुराईकी पहचान दी है। परन्तु जो उससे विमुख हैं वे तो जान-बूझकर अन्धे हैं। जिस पुरुषको यह समझ प्राप्त नहीं हुई उसका कारण यह है कि वह ईर्ष्या, अभिमान और व्याव-हारिक झंझटों में बँधा हुआ है। इस लिये उसे संतजनों के वचनोंको सुनने का अवसर ही नहीं मिलता। इसीसे वह नासमझ (विवेकशून्य) रह जाता है। तथापि भले-बुरे की पहचानका बीज सभी मनुष्योंमें पाया जाता है।

(२) दूसरे प्रकार की समझ शनैः शनैः धर्म मार्गमें प्रयत्न करने पर प्राप्त होती है। ऐसे मनुष्यको फिर अनुभवका मार्ग खुल

जाता है। इस विषयमें प्रभुका भी कथन है कि जो पुरुष दृढ़तापूर्वक पुरुषार्थ करता है उसे मैं अपना मार्ग दिखा देता हूँ। इस वचन में यह बात रहस्यकी है कि भगवान् ने अपना मार्ग दिखाने की बात कही है, किन्तु अपने प्रयत्न बिना मार्ग दिखाने की बात नहीं कही।

(३) तीसरी समझ इससे भी बढ़कर है। उसका प्रकाश संतजनों के हृदय और अवतारों में ही होता है। इस समझ के द्वारा भगवानका साक्षात्कार होता है। परन्तु यह समझ मनुष्यको अपनी बुद्धि और शक्ति से प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तवमें यह समझ ही मनुष्यका वास्तविक जीवन है।

२. दूसरा पदार्थ कहा श्रद्धा। मनुष्य समझके द्वारा जो कुछ जानता है, उस मार्गपर चलनेका संकल्प श्रद्धाके द्वारा होता है। बालक जब किशोरावस्थामें पहुँचता है तो बुद्धि के द्वारा वह धनसंग्रह और लौकिक व्यवहार को अच्छा समझता है। किन्तु उस बुद्धिके अनुसार उसका आचरण में प्रवत्त होना श्रद्धाके कारण होता है। और यदि व्यवहार को अच्छी तरह समझकर भी वह वैसा आचरण न करे तो उसे श्रद्धाहीन कहा जायगा।

३. बलसे यह तात्पर्य है कि जिस बातको बुद्धिसे जाना है और उसमें श्रद्धा भी है उसी को प्राप्त करने के लिये मन और इन्द्रियोंको उसी में लगादे और तत्काल अपना प्रयोजन सिद्ध कर ले।

४. हृदयमें भगवान् का आकर्षण रहनेपर प्रभुकी सहायता प्राप्त होती है, बुद्धि उज्ज्वलहो जाती है और सब इन्द्रियों के लिये शुद्धमार्गमें चलने का बल प्रकट हो जाता है। भगवान् की वह सहायता ऐसी है जैसे कोई पुरुष किसी

को प्रत्यक्ष मार्ग दिखावे और कुमार्गसे रोके। इसी प्रकार भगवान् की सहायता प्राप्त होनेपर मनुष्यके हृदयमें पाप कर्मोंसे भय उत्पन्न होता है और शुभ मार्ग स्पष्ट भासने लगता है।

इस प्रकार यहाँ तक जिन सोलह पदार्थों का वर्णन किया गया है वे सब इसी लोकमें प्राप्त होते हैं और परलोकके सहायक हैं तथा इनका परस्पर सम्बन्ध भी है। पीछे इनसे और भी कितने ही पदार्थोंका संसर्ग होता है तब मनुष्यको पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति होती है। तभी इसे सच्चा सुख प्राप्त होता है और भगवान्‌के दर्शन भी होते हैं। वे प्रभु ही सम्पूर्ण जीवों को अपना मार्ग दिखानेवाले हैं वे ही सब प्रकार सबकी सहायता करते हैं।

(भगवान्‌का धन्यवाद न कर सकने के कारण)

यह मनुष्य दो कारणों से भगवान्‌का धन्यवाद नहीं कर पाता। उनमें पहला कारण तो यह है कि भगवान्‌के उपकार अगणित हैं और उन्होंने जीव को इतने सुख दिये हैं कि जीव उन्हें पहचान भी नहीं सकता। इसीसे महापुरुषने कहा है कि जीवको भगवान्‌ने जितने सुख दिये हैं और उसपर जितने उपकार किये हैं वे किसी प्रकार गिने नहीं जा सकते और न इन जीवों को उन का ठीक-ठीक पता ही है। और यह बात स्पष्ट ही है कि यदि किसी पुरुषको किसी अन्य व्यक्तिके उपकारोंका पता न हो तो वह उसका धन्यवाद भी नहीं करता। जैसे यह प्राण भी सुखरूप है और जिस वायुको यह नासारन्ध्रों से खींचता है वह भी परमसुखरूप है, क्योंकि उसी वायु से इसके हृदय को सुख प्राप्त होता है और जठराग्निकी उष्णता शान्त होती है। तथा यह भी देखा गया है कि जिस व्यक्तिका एक श्वास भी रुक जाता है उसे मरणतुल्य कष्ट होता है। किन्तु इस मनुष्यको ऐसे सुखमें तो सुखबुद्धि ही नहीं होती। इसी प्रकार भगवान् के ऐसे अनन्त उपकार हैं, जिनका इसे

पता ही नहीं है। यही नहीं, इस प्राणवायुके उपकार का भी इसे तब पता लगता है जब यह किसी मलिन, दुर्गन्धपूर्ण या उष्ण स्थानमें पहुँचता है। वहाँ जब इसका दम घुटने लगता है तब इसे पवन की शीतलता और श्वास-प्रश्वासके सुखका ज्ञान होता है। इसी प्रकार जब तक इसे नेत्रों की पूर्ण ज्योति प्राप्त रहती है तब-तक इसके उपकार और सुखका भी ज्ञान नहीं होता। किन्तु जब नेत्रोंमें पीडा या दृष्टिकी मन्दता होती है तब इसे पता लगता है कि नेत्र कितने सुखरूप हैं। फिर तो जिसकी ओषधियों से इसके नेत्रों का दुःख दूर होता है उसका यह अत्यन्त उपकार मानता है। ऐसे मनुष्यके लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे किसी मनुष्यका सेवक दुष्ट हो, तो वह दण्ड देनेपर ही अपने स्वामीकी सेवामें तत्पर होता है। यदि उसे दण्ड न दिया जाय तो वह मूर्खता-वश अचेत ही रहता है और उसकी कुछ भी सेवा नहीं करता। इसी प्रकार यह मनुष्य भी जब तक दुःख नहीं पाता तबतक प्रभु के उपकारोंको नहीं जान पाता। अतः इसका उपाय यह है कि अपने चित्तमें भगवान्के उपकारोंको स्मरण करता रहे, उन्हें भूले नहीं। परन्तु यह उपाय भी तो किसी बुद्धिमान् से ही हो सकता है। अन्य मनुष्यों को चाहिये कि रोगियों, वन्दियों या मृतकोंके स्थानमें जाय और उनके दुःखोंको देखे तथा अपने चित्तमें ऐसा विचार करे कि ये मृतक यही चाहते हैं कि यदि हमें एक दिनके लिये भी मानव देह मिल जाय तो हम अपने पापोंका प्रायश्चित्त करलें। किन्तु अब तो इन्हें एक दिनके लिये भी जीवन प्राप्त नहीं हो सकता। मुझे तो अभी आयुके कितने ही दिन प्राप्त हैं, परन्तु उनके लिये मैं भगवान्का कोई उपकार नहीं मानता यह मेरी बड़ी मूर्खता है।

मनमुखताका दूसरा कारण यह है कि मनुष्यकी प्रभुके उन अनन्त उपकारों पर दृष्टि ही नहीं जाती, जो उन्होंने इसके

प्रति किये हैं। और वे सब पदार्थ इसे प्राप्त भी सुगमतासे ही हो जाते हैं; जैसे प्राण, नेत्र, सूर्य तथा ऐसे ही और भी अनेकों पदार्थ । इनके सुख को यह जीव सुख ही नहीं समझता इसे तो केवल धन ही सुखरूप जान पड़ता है। तथा जो पदार्थ केवल इसीके पास हैं दूसरे जीवोंके नहीं, उन्हें भी यह सुख रूप नहीं जानता। किन्तु यह बड़ी भारी मूर्खता ही है। जो पदार्थ सुखरूप हैं, उन्हें यदि परमात्माने परम उदारतापूर्वक सभी जीवों को प्रदान किया है तो इससे उनकी सुखरूपता नष्ट नहीं हो सकती। विचारपूर्वक देखनेपर तो इसे ऐसी भी कई सुखरूप वस्तुएँ मिलेंगी जो केवल इसी को प्राप्त हैं, अन्य पुरुषोंको नहीं; जैसे प्राय: सभी लोग समझते हैं कि मेरे समान किसी अन्य पुरुषकी बुद्धि नहीं है और न मेरे सदृश किसीका स्वभाव ही है। इसीसे दूसरे लोगों को वह मूर्ख और कुलक्षणी समझता है। इससे यही सिद्ध होता है कि अपनी बुद्धि और स्वभाव को वह सबसे अच्छा मानता है। यदि ऐसी बात है तो उसे प्रभुका उपकार मानकर उनका धन्यवाद करना चाहिये, तथा अन्य किसी के भी अवगुणों की ओर नहीं देखना चाहिये क्योंकि संसार में ऐसा तो कोई भी पुरुष नहीं है जिसमें अवगुणों का सर्वथा अभाव हो।

इसके सिवा, इस जीव में जितने दोष और अवगुण पाये जाते हैं उन्हें तो यह स्वयं ही जान सकता है, किसी दूसरे को उन का पता नहीं लग सकता, क्योंकि श्रीभगवान् ने कृपा करके उन्हें गुह्य रखा है, प्रकट नहीं किया। इसके हृदय में जैसे-जैसे बुरे संकल्प फुरते हैं वे इतने मलिन होते हैं कि यदि किसी दूसरे को उनका पता लग जाय तो इसे अत्यन्त निरादर और अपमान का भागी होना पड़ेगा। अतः यह भी प्रभु की अत्यन्त कृपा है कि उन्हें कोई दूसरा जान नहीं पाता। तथा प्रभु का यह उपकार सभी मनुष्यों पर है। अतः इसके लिये प्रभु का धन्यवाद करना चाहिये।

इसके सिवा जो पदार्थ इसके पास न हो उसकी अभिलाषा न करे, क्योंकि यह प्रभु की इच्छा में प्रसन्न रहना नहीं, अपितु मनमुखता है। अतः उचित तो ऐसा ही जानना है कि प्रभु ने मेरे प्रति ऐसे उपकार किये हैं जिनका मैं अधिकारी ही नहीं था। उन्होंने मेरे ऊपर सब प्रकार दया ही की है। इस विषय में एक गाथा भी है। एक बार एक पुरुष किन्हीं सन्त के पास गया और उनके आगे अपनी निर्धनता प्रकट करने लगा। तब सन्त ने कहा, "भाई, यदि तुम विचारपूर्वक देखो तो तुम निर्धन तो हो नहीं, क्योंकि यदि तुम्हें कोई दस हजार रुपये दे और तुम्हारी आँखें लेना चाहे, तो क्या तुम दोगे ?" उसने कहा, "नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकूँगा।" सन्त ने कहा, "अच्छा, यदि कोई तुम्हारी बुद्धि, कान और हाथ-पाँव लेकर तुम्हें चालीस हजार रुपये देना चाहे, तो क्या तुम स्वीकार करोगे ? वह बोला, "मैं ऐसा भी नहीं कर सकता।" तब सन्त बोले, "इस प्रकार पचास हजार से अधिक की सामग्री तो तुम्हारे पास है ही, फिर तुम अपने को निर्धन कैसे मानते हो ? और धनकी चिन्ता क्यों करते हो ?" तथा ऐसी बात भी है ही कि यदि किसीसे यह कहा जाय कि तुम अमुक पुरुष की अवस्था से अपनी अवस्था बदल लो तो वह ऐसा करना स्वीकार नहीं करेगा। इससे निश्चय होता है कि वह अपनी अवस्था को ही श्रेष्ठ समझता है। इस प्रकार जब उसी की अवस्था सर्वश्रेष्ठ है तो उसे अवश्य भगवान् का धन्यवाद करना चाहिये और अपने प्रभु के सम्मुख (अनुकूल) रहना चाहिये।

(दुःख के समय भी धन्यवाद करना ही अच्छा है)

इस जीव को दुःख के समय भी धन्यवाद करना चाहिये, क्यों कि दुःख के द्वारा भी इसके पाप क्षीण होते हैं। परन्तु मनमुखता और पाप ऐसे परम दुःख हैं कि इन्हें भगवान् का कोप भी कहा जा सकता है। इनसे भिन्न और जितने भी शारीरिक दुःख हैं

उन सभी में इस जीव की भलाई है। उस भलाई को यद्यपि यह जीव नहीं जान सकता, तथापि भगवान् अच्छी तरह जानते हैं। अतः दुख के समय पाँच प्रकार से भगवान् का धन्यवाद करना उचित है—

१. दुःख इसके शरीर में होता है अथवा मन में। किन्तु जब तक इसका धर्म अक्षुण्ण है तब तक इसको धन्यवाद करना ही उचित है। एक पुरुष ने सुहेल नामक संत के पास आकर कहा कि मेरे घर एक चोर सारी सम्पत्ति चुरा ले गया है। तब संत ने कहा कि यदि तेरे चित्त में दुर्वासना-रूपी चोर आ घुसता और तेरे धर्म को चुरा लेता तो तू क्या करता? अतः तू भगवान् का धन्यवाद कर।

२. यदि कोई मनुष्य हजार बेंतें खाने का अधिकारी हो और उसे बीस बेंत मारकर ही छोड़ दिया जाय तो उसे धन्य-वाद ही करना चाहिये। इसी प्रकार ऐसा दुःख तो कोई भी नहीं है जिससे बढ़कर कोई और दुःख न हो। अतः उचित यह है कि जब इसे कोई दुःख प्राप्त हो तो ऐसा विचार करे कि यदि मुझे इससे भी अधिक दुःख होता तो मैं क्या करता? अतः इसे धन्यवाद करना ही अच्छा है। एक संत अनेकों सत्संगप्रेमियों के साथ एक नगर की गली में जा रहे थे। तब किसी ने अटारी के ऊपर से उनपर राख का थाल डाल दिया। संत अपने वस्त्र झाड़कर भगवान्का धन्यवाद करने लगे। इस पर किसी ने पूछा, "आप धन्य-वाद क्यों करते हैं?" वे बोले, "मैं तो अग्नि से जलाये जानेयोग्य था। परन्तु भगवान् ने कृपा करके राख से ही मेरा छुटकारा कर दिया। इसलिये मैं उनका धन्यवाद करता हूँ।"

३. इस मनुष्य को जो दुःख होता है वह इसी के पाप का परि-

णाम है, और यदि इसे इस लोक में वह दुःख नहीं मिलेगा तो परलोक में इसे बहुत अधिक दुःख भोगना पड़ेगा। प्रभु ने भी कहा है कि इस लोक की अपेक्षा परलोक का दुःख बहुत अधिक है। अतः यह सोचकर भी धन्यवाद करना चाहिये कि इस लोक में थोड़ा दुःख भोगकर यह परलोक के बड़े दुःख से छूट जाता है। महापुरुष भी कहते हैं कि जिस पुरुष को भगवान् इस लोक में कुछ दुःख भोग कराते हैं वह परलोक के दुःख से मुक्त हो जाता है, क्योंकि दुःख के द्वारा ही इस पुरुष के सम्पूर्ण पापों का प्रायश्चित्त होता है। और जब यह पुरुष दुःख भोगने से निष्पाप हो जाता है तब परलोक में पुनः दुःख प्राप्त नहीं करता। जैसे कोई वैद्य किसी रोगी को कड़वी दवा पिलावे और उसका रुधिर निकाले तो यद्यपि ऐसा करने से पहले कुछ कष्ट होता है तथापि उस रोगी को धन्यवाद ही करना चाहिये, क्योंकि थोड़ा-सा दुःख भोगकर वह बड़े दुःख से मुक्त हो जाता है।

४. मनुष्य जो दुःख भोगता है वह उसके प्रारब्ध में निश्चित था और उसे अवश्य प्राप्त होनेवाला था। अतः इस दुःख का अवसर आने से तुम उसे भोगकर उससे परे हो गये हो। ऐसा होनेपर भी तुम्हें निःसन्देह धन्यवाद करना चाहिये। एक संत घोड़े पर सवार हुए चले जाते थे। वे अकस्मात् उससे गिर गये और फिर उठकर धन्यवाद करने लगे। तब लोगों ने पूछा, "इसमें धन्यवाद करने की क्या बात थी?" उन्होंने कहा, "प्रभु की इच्छा निश्चय ही पूर्ण होती है, वह किसी प्रकार बदली नहीं जा सकती। अतः यह घोड़े से गिरना भी मेरे भाग्य में निश्चत था और अब मैं उसे भोगकर उससे पार हो गया हूँ। इसीसे धन्यवाद करता हूँ।"

५. मनुष्य इस लोक में दुःख भोगने से परलोक में पुण्य प्राप्त करता है। इसके दो प्रकार है—(१) जैसा कि संतजनों ने कहा है कि दुःख भोगने से जीव के पाप क्षीण होते हैं और उसे पुण्य की प्राप्ति होती है। (२) सब पापों का मूल माया की प्रीति है, क्योंकि इसीके कारण जीव भोगों को सुख-रूप समझता है और इस संसार में जीवित रहना स्वग के समान तथा परलोक में जाना बन्दीगृह के समान मानता है। किन्तु जब इसे संसार में कष्ट प्राप्त होता है तो उसके कारण इसकी संसार से प्रीति नष्ट हो जाती है और यह इस संसार को कारागार के समान समझकर इससे निकलना चाहता है तथा संसार में मृत्यु होनी भी इसे सुखरूप जान पड़ती है।

अतः निश्चय जानो, ये सब दुःख ऐसे हैं जैसे माता-पिता बालक को दण्ड देकर बुद्धि सिखाते हैं। वह बालक यदि बुद्धिमान् होता है तो उस शिक्षा को अच्छी ही मानता है और उसके लिये माता-पिता का धन्यवाद करता है, क्योंकि उस दण्ड से ही उसे अनेकों गुण प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार इस जीव को सिखाने के लिये प्रभु दुःखरूपी दण्ड देते हैं और उसके द्वारा इसे बुद्धि प्रदान करते हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष दुःख के समय भी उनका धन्य-वाद करते हैं। सन्तजनों ने कहा है कि भगवान् जब अपने भक्तों को कोई दुःख देते हैं तो मानो उनसे प्रतिज्ञा करते हैं कि इसके पीछे मैं तुम्हें बहुत सुख दूँगा, जैसे कोई उत्तम वैद्य रोगी को वचन दे कि यदि तू अमुक आहारको त्याग देगा तो तेरा रोग दूर हो जायगा। और फिर मैं तुझे खूब भोजन कराऊँगा। कहते हैं, कोई पुरुष महापुरुष के पास आकर कहने लगा कि मेरा धन और सामान चोर ले गये हैं। तब महापुरुष ने कहा, "जिसका धन चोर ले जाय अथवा जिसका शरीर रोगी हो, उसका बहुत बड़ा हित

होनेवाला होता है।" इसके सिवा महापुरुष ने यह भी कहा है कि भगवान् जिसे अपना प्रीतिपात्र करना चाहते हैं उसे पहले दुःख देते हैं। तथा ऐसा भी कहा है कि सुख के बहुत स्थान ऐसे भी हैं जिनपर यह पुरुष अपने प्रयत्न से नहीं पहुँच सकता। तब प्रभु दुःख भोग कराकर उनपर पहुँचा देते हैं। एक बार महापुरुष आकाश की ओर देखकर कहने लगे कि मुझे भगवान् का अभिप्राय देखकर आश्चर्य होता है कि जब वे किसी जीव को सुख देते हैं और उस से इसे प्रसन्नता होती है तो उसके कारण इसका हित ही होता है और जब उनकी प्रेरणा से इसे कुछ दुःख प्राप्त होता है, और यह उसमें धैर्य रखता है तो उससे भी इसकी भलाई ही होती है। अर्थात् सम्पत्ति में धन्यवाद और विपत्ति में धैर्य धारण करे तो इन दोनों ही अवस्थाओं से जीव का हित होता है।

महापुरुष ने यों भी कहा है कि यहाँ सुख भोगनेवाले पुरुष परलोक में पहुँचनेपर ऐसा कहेंगे कि यदि मर्त्यलोक में हमारा शरीर नखों से काटा जाता तो भी अच्छा था, क्योंकि जिन्होंने मर्त्यलोकमें दुःख सहा है उन्हें परलोक में उत्तम सुख प्राप्त होते हैं। अतः जब इस लोक में सुख भोगनेवाले पुरुष उन स्थानों को देखेंगे तो कहेंगे कि यदि हमने वहाँ दुःख सहा होता तो यहाँ इन दिव्य सुखमय स्थानोंको प्राप्त होते। कहते हैं, एक संतने भगवान् से कहा था कि प्रभो! आप मनमुखों को तो तरह-तरह के सुख देते हैं और सात्त्विकी पुरुषों को दुःख भोग कराते हैं, इसका क्या कारण है? तब प्रभु ने कहा, "ये सब मेरे ही तो जीव हैं और सुख दुःख भी मेरे ही बनाये हुए हैं। परन्तु जब मैं सात्त्विकी पुरुष में कोई पाप देखता हूँ तब चाहता हूँ कि यह पुरुष मृत्यु के समय विशुद्ध और निर्लेप होकर मेरे पास आवे। अतः उसे मर्त्यलोक में ही दुःख भोग कराकर उसके पापों का प्रायश्चित्त कर लेता हूँ। और जो तामसी पुरुष होता है उसमें कोई गुण भी हो तो भी उसे

शारीरिक सुखों को भोगने की कामना रहती है। इसलिये मैं उसे शारीरिक सुख भोग कराकर उसकी कामना पूर्ण करता हूँ। किन्तु जब वह परलोक में जाता है तब महान् दुःख का भागी होता है, क्योंकि उसमें जो थोड़ा-सा गुण था उसके पुण्य का फल तो वह मर्त्यलोक में ही भोग चुकता है। अब तो उसके दोष ही रह जाते हैं। इसलिये वह घोर नरक में पड़ता है।

एकबार भगवान् ने महापुरुष से कहा था कि जो पुरुष बुराई करता है वह उसका फल भी बुरा ही देखता है। तब महापुरुष के एक भक्त ने भयभीत होकर पूछा कि हे प्रभु के प्यारे! ऐसे दण्ड से हम किस प्रकार छूट सकेंगे? तब महापुरुष ने कहा कि सात्त्विकी पुरुषों को जो रोग होता है वह उन्हें एक प्रकार का दण्ड है और इस दण्ड से ही उनके पाप क्षीण हो जाते हैं तथा उन्हें परलोक के दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। जैसे किसी महापुरुष के पुत्र का शरीर छूट गया। इससे उसे बड़ा शोक हुआ। तब भगवत्प्रेरणा से दो देवता मनुष्य का रूप धारण कर उसके पास खड़े हो गये और आपस में झगड़ने लगे। उनमें से एक ने कहा, "मैंने अपनी धरती में बीज बोया था, सो इसने मेरी सारी खेती खूँद डाली।" दूसरा बोला, "इसने रास्ते में बीज बो दिया था और उसके दायें-बायें किसी भी ओर मार्ग नहीं था। इसीसे उस खेत के ऊपर होकर निकलना पड़ा। अतः अवश्य वह खेती खूँदी गयी, किन्तु और कोई उपाय भी तो नहीं था।" तब महापुरुष ने पहले व्यक्ति से कहा, "क्यों, तुम्हें मालूम नहीं था कि मार्ग में खेती नहीं बोनी चाहिये? क्योंकि मार्ग तो यात्रियों से खाली नहीं रहता।" तब उस पुरुष ने महापुरुष से कहा, "क्या आप नहीं जानते कि हम सभी लोग काल भगवान् के पथ के पथिक हैं और अन्त में सभी की मृत्यु होती है। फिर आपको पुत्र के मरने से शोक क्यों होता है?" इससे उन महापुरुष को पता

लगा कि मैं भूला हुआ हूँ और वे भगवान् से प्रार्थना करके अपने अपराधों को क्षमा कराने लगे।

ऐसे ही एक और संत भी थे। उन्होंने जब अपने पुत्र को मरते देखा तो उससे कहने लगे, "बेटा! तू आगे चलता है, किन्तु मुझे यह बात बहुत प्रिय है, क्योंकि इस घटना के द्वारा मैं तेरी तराजू से ही तौला जाऊँगा (अर्थात् अब मेरे धैर्य की परीक्षा होगी)।" तब पुत्र ने कहा, "पिताजी! आप जैसा चाहते हैं वही मेरी भी इच्छा है।" एक अन्य संत ने भी किसी से कहा था कि तुम्हारी पुत्री मर गयी है। तब उसने कहा, "जब वह हमारे पास थी तब भी भगवान् ही की थी और अब भी वह उन्हीं की ओर गयी है।" ऐसा कहकर वह भजन करने लगा और बोला, "मुझे प्रभु की यही आज्ञा है कि तुम सभी अवस्थाओं में भजन और धैर्य में दृढ़ रहो तथा मेरी सहायता चाहो।" एक अन्य संत ने कहा है कि भगवान् परलोक में चार प्रकार के पुरुषों से चार संतों का उदाहरण देकर पूछेंगे। वे धनिकों से पूछेंगे कि तुमने धन और राज्य में सुलेमान के समान बर्ताव क्यों नहीं किया? फिर यूसुफ का उल्लेख करते हुए रूपवानों की परीक्षा करेंगे। विरक्तों से पूछेंगे कि तुम लोग ईसा की तरह त्यागी और निःस्पृह क्यों नहीं हुए? तथा अयूब का उदाहरण देकर रोगियों से प्रश्न करेंगे और उनके धैर्य की परीक्षा करनी चाहेंगे।

इस प्रकार यहाँ धन्यवाद के विषय में इतना ही वर्णन पर्याप्त है।

—:o:—

तीसरी किरण

भय और आशा के विषय में

भय और आशा* ये दोनों जिज्ञासु के पंख हैं। अर्थात् सम्पूर्ण शुभ गुणों और उत्तम गतियों को वह इन्हीं के द्वारा प्राप्त करता है, क्योंकि भक्तिमार्ग में जितने भी उपाय और साधन हैं वे शुद्ध आशा के बिना कभी सिद्ध नहीं होते तथा जितने भी इन्द्रिय-सम्बन्धी भोग हैं वे सर्वदा इस जीव को छलनेवाले हैं। अतः भगवान् के भय बिना उन्हें त्यागना अत्यन्त कठिन है। इसीसे सब संतों ने भय और आशा की प्रशंसा की है। आशारूपी लगाम जिज्ञासु को भगवान् की ओर खींचती है और भयरूपी कोड़ा उसे कहीं अटकने नहीं देता। अतः अब मैं शुद्ध आशा का वर्णन करता हूँ। और उसके पश्चात् भय के स्वरूप का निरूपण करूँगा।

याद रखो, भगवान् का भजन उनकी कृपा की आशा रखकर करना विशेष उपयोगी है। क्योंकि इससे भगवान् का प्रेम उत्पन्न होता है। और उनका प्रेम ही मनुष्य की सर्वोत्तम अवस्था है। जो भजन भयपूर्वक किया जाता है वह इसके समान नहीं हो सकता, क्योंकि भय का कारण दुःख है। अतः भय से प्रेम उत्पन्न नहीं होता। महापुरुष ने भी कहा है कि मनुष्य को मरने के समय भगवान् की आशा ही लाभदायक होती है। तथा भग-

---

* यहां 'भय' शब्द से भगवान् का अथवा पापों का भय और 'आशा' से भगवत्कृपा की आशा समझनी चाहिये।

वान् ने भी कहा है कि मुझे जो जैसा जानता है मैं भी उसके साथ वैसा ही बर्ताव करता हूँ। एक बार महापुरुष ने किसी भक्त से पूछा था कि इस समय तेरे चित्त की कैसी अवस्था है। उसने कहा, "इस समय मैं अपने पापों को देखकर भयभीत हो रहा हूँ और केवल प्रभु की कृपा का ही भरोसा रखता हूँ।" इस पर महापुरुष ने कहा, "जिसे श्रीभगवान् अभय करना चाहते हैं उसीको ऐसे अवसर पर अपना भय और आशा देते हैं।" इसी तरह एक महात्मा को आकाशवाणी हुई थी कि मैंने तुझमें और तेरे प्रिय पुत्र में इसलिये वियोग कर दिया है क्योंकि तूने कहा था कि ऐसा न हो इसे भेड़िया मार जाय और इसके भाई असावधान रहें। ऐसा सोचकर तूने उनकी असावधानता का तो भय किया और मेरी रक्षा का भरोसा त्याग दिया। इसीसे मैंने तुझे यह दण्ड दिया है।

इसी प्रकार एक महात्मा ने एक पुरुष को देखा कि वह अपने पापों की अधिकता के कारण भगवान् की कृपा से निराश है। तब महात्मा ने उससे कहा कि तुम निराश मत होओ, क्योंकि तुम्हारे पापों की अपेक्षा प्रभु की कृपा बहुत बड़ी है। एक बार महापुरुष ने अपने प्रेमियों से कहा था कि मैंने भगवान् की निरपेक्षता को जिस रूप में जाना है वैसी ही यदि तुम भी उसे जानो तो सर्वदा रोते रहोगे और अत्यन्त भयभीत होगे। यह बात सुनकर सभी भक्त रोने लगे। तब महापुरुष को आकाशवाणी हुई कि तुम मेरे जीवों को इतना क्यों डराते हो ? इन्हें मेरी दया की बातें सुनाओ। तथा महात्मा दाऊद को भी आकाशवाणी हुई थी कि तुम मेरे साथ प्रेम करो और अन्य पुरुषों के चित्तों में भी मेरी भक्ति ही दृढ़ करो। अतः जब तुम इन्हें मेरी दया के वाक्य सुनाओगे तो ये निःसन्देह मेरे साथ प्रेम करेंगे। कहते हैं, एक तपस्वी अपनी गोष्ठी में लोगों को दण्ड और ताड़ना की

बातें सुनाकर उन्हें भयभीत करता था। तब उसे आकाशवाणी हुई कि जैसे तू मेरे जीवों को मेरी दया से निराश करता है उसी प्रकार मैं तुझे परलोक में निराश करूँगा।

(आशा का स्वरूप

आशा दो प्रकार की है—एक शुद्ध और एक अशुद्ध। अशुद्ध आशा तो केवल मूर्खता और छल ही है, किन्तु मन्दमति प्राणी इस भेद को नहीं समझते। यदि कोई पुरुष धरती को जोतकर शुद्ध बीज बोता है, उसे समयानुसार सींचता है तथा काँटों को दूर करता है और फिर सब प्रकार के विघ्नों की निवृत्ति के लिये भगवान् का भरोसा रखता है, तो इसे शुद्ध आशा कह सकते हैं। और यदि कोई धरती को जोते नहीं, बीज भी निकम्मा बोए और समयानुसार जल भी न दे, किन्तु फिर भी खेती के बढ़ने की आशा रखे, तो इसे तो मूर्खता और छल ही समझना चाहिये। इसी प्रकार जो पुरुष हृदय में दृढ विश्वास रखता है, मलिन स्वभाव से चित्त को दूर रखता है, भजनरूपी जल से श्रद्धा-विश्वासरूपी खेती को सींचता रहता है और फिर अनेक प्रकार के मायिक छलों से सुरक्षित रहने के लिये भगवान् की कृपा चाहता है, तो इसे संतजन शुद्ध आशा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् का भरोसा भी रखे और करनेयोग्य कर्मों को भी न छोड़े, क्योंकि करनेयोग्य कर्मों को छोड़ना ही निराशता का लक्षण है। परन्तु जिस पुरुष को न तो विश्वास ही दृढ हो और न भगवद्भजन की ही लगन हो, तथापि वह मुक्ति की आशा रखता हो, तो इसका नाम केवल मूर्खता है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जो पुरुष अपने मन की वासनाओं के अनुसार बर्तता है और साथ ही भगवान् की दया की आशा रखता है, वह तो महामूर्ख है। इसे भगवान् की दया का भरोसा रखना तो तभी उचित है जब

यह अपने करनेयोग्य सब कर्म भी करता हो।

महापुरुष ने कहा है कि मन में संकल्प कर लेने से ही धर्म की दृढता प्राप्त नहीं होती। अतः जो पुरुष पापों को त्याग दे उसी को उस त्याग के स्वीकृत होने की आशा रखनी चाहिये। अथवा यदि कोई पुरुष पापों को त्याग न सके किन्तु अपने अवगुणों को देखकर शोकाकुल रहे और चित्त में यह आशा रखे कि भगवान् मुझ से ये पाप छुड़वा देंगे, तो इसे भी शुद्ध आशा कह सकते हैं। किन्तु यदि पापों को देखकर शोक भी न करे और त्याग किये बिना ही अपने को क्षमा कराना चाहे, तो यह इसके मन का ही छल होगा। यद्यपि मूर्ख लोग इसे शुद्ध आशा कहते हैं, पर विचारवानों के मत में तो इसका नाम व्यर्थ चिन्तन है। इस विषयमें एक संत का कथन है कि जो पुरुष नरकों के बीज बोए और स्वर्ग की आशा रखे वह महामूर्ख है। एक भक्तने महापुरुष से पूछा था कि मन्दभागियों का लक्षण क्या है और भाग्यवानों का क्या लक्षण है ? तब उन्होंने कहा कि जब तू प्रातःकाल उठता है तो तेरे चित्त की क्या स्थिति होती है ? उसने कहा, "मुझे शुभ कर्म और सत्पुरुष ही प्रिय होते हैं तथा शुभकर्म ही मुझे विश्वसनीय और सफल दिखायी देते हैं, अतः उन्हें मैं तुरन्त स्वीकार कर लेता हूँ। और जब कभी मेरे हाथ से शुभ कर्म का अवसर निकल जाता है तो मुझे शोक भी होता है। तब महापुरुषने कहा, "ये ही भाग्यवानों के लक्षण हैं और जिनकी अवस्था इससे विपरीत होती है वे मन्दभागी कहलाते हैं।"

(शुद्ध आशा की प्राप्तिके उपाय)

आशारूपी औषधिके अधिकारी दो पुरुष हैं—(१) जिसने बहुत पाप किये हों और निराश होकर ऐसा समझता हो कि भगवान् मेरे त्याग को स्वीकार नहीं करेंगे। ऐसे पुरुष को भगवान्की दयाका भरोसा रखना चाहिये। (२) जो कठिन तपस्याके

द्वारा अपने शरीरको क्षीण कर रहा हो ऐसे पुरुषको भी भगवान्‌की आशा सुखदायक होती है। किन्तु इस आशारूपी ओषधिमें लम्पट पुरुषों का अधिकार नहीं है उनके लिये यह हलाहल विषके समान है। इस आशाकी प्राप्ति दो प्रकार से हो सकती है—

१. इसका पहला साधन हृदयकी श्रद्धा है। मनुष्यको उचित है कि विचारपूर्वक भगवान्‌की दयाको पहचाने तथा जिस प्रकार प्रभुने सब जीवों को आश्चर्यरूप बनाया है उसे भी अच्छी तरह समझे। और ऐसा जाने कि भगवान्‌के बिना कोई भी जीव कुछ नहीं कर सकता। अतः भगवान्‌के उपकारों को अनुभव करे। तब निश्चय ही इसे भगवान्‌की कृपामें विश्वास हो जाता है, क्योंकि प्रभुने इसे सभी अभीष्ट पदार्थ दिये हैं और दयावश केवल सुन्दरताके लिये भी अनेकों वस्तुएँ दी हैं। इस प्रकार उनकी दया सम्पूर्ण सृष्टिमें भरपूर है। उन्होंने मच्छर और मकोड़ों को भी आश्चर्यरूप बनाया है और उन्हें भी अपने-अपने व्यवहार की बुद्धि दी है। अतः जो पुरुष इस प्रकार भगवान्‌के उपकारों को पहचानता है वह कभी उनसे निराश नहीं होता और ऐसा अनुभव करता है कि भगवान्‌की कृपा अपार है।

२. दूसरा उपाय यह है कि यदि अपनी बुद्धिसे प्रभुके उपकारों को न पहचान सके तो भगवान् और सन्तजनोंके वचनोंका विचार करे, जैसे भगवान्‌ने कहा है कि मैं अत्यन्त दयालु और कृपालु हूँ। तथा महापुरुषने भी कहा है कि जब इस लोकमें सात्त्विकी पुरुषोंको कोई रोग आता है तब उससे उनके पापोंका प्रायश्चित हो जाता है। इसलिये वे नरकोंके दुःखसे मुक्त रहते हैं। तथा यह भी कहा है कि यदि इस मनुष्यसे कोई अवज्ञा हो जाती है और

फिर अपनेको भूला जानकर यह अपना अपराध क्षमा कराना चाहता तब भगवान् प्रसन्न होकर देवताओंसे ऐसा कहते हैं कि यह मनुष्य धन्य है, क्योंकि मुझे अन्तर्यामी जानकर यह भयभीत हुआ है। अतः मैं इसे क्षमा कर दूँगा। साथही ऐसा भी कहा है कि जब इस मनुष्यसे कोई पापकर्म होता है और यह दीनचित्त होकर उसे क्षमा कराना चाहता है तब देवता उस पापको लिखते ही नहीं, अथवा उस पापका प्रायश्चित हो जाता है।

ऐसा भी कहा है कि जबतक यह पुरुष अपने पापों को क्षमा कराने से थक नहीं जाता तबतक भगवान् भी उसे क्षमा करते रहते हैं और कभी नहीं थकते। एक बार किसी भक्त ने महापुरुष से पूछा था कि मैं यथाशक्ति भजन-स्मरण तो करता रहता हूँ किन्तु मेरे पास धन बिलकुल नहीं है, इस लिये दया या दान का पुण्य प्राप्त नहीं कर सकता। सो, भगवन्! न जाने परलोक में मेरी क्या गति होगी? तब महापुरुष ने हँसकर कहा, "तुम संतजनों की सभा में प्राप्त होगे। परन्तु तभी जब तुम अपने चित्त को ईर्ष्या और अभिमान से शुद्ध रखोगे, जिह्वा को मिथ्या भाषण और निन्दा से बचाओगे, नेत्रों को कामादि दृष्टि से सुरक्षित रखोगे और किसी को भी ग्लानिपूर्वक नहीं देखोगे। ऐसा होनेपर तुम्हें निःसंदेह परम सुख प्राप्त होगा।" फिर उस भक्त ने पूछा, "परलोक में जीवों के पाप-पुण्य का निर्णय कौन करेगा?" महापुरुष ने कहा, "सबका न्याय स्वयं भगवान् ही करेंगे।" यह सुनकर वह पुरुष बहुत प्रसन्न हुआ और हँसकर कहने लगा, "जब न्याय करनेवाला पुरुष उदार और दयालु होता है तब अधिकतर वह क्षमा और दया ही करता है, विशेष ताडना नहीं करता।" तब महापुरुष ने कहा, "ऐसी ही बात है, क्योंकि भगवान् के समान दयालु और उदार कोई नहीं है।" तथा भगवान् ने भी कहा है, "मैंने

जीवों को सुख और लाभ देने के लिये ही उत्पन्न किया है, इस लिये नहीं कि इनके द्वारा मैं कोई सुख या लाभ प्राप्त करूँ।" उन्होंने ऐसा भी कहा है कि मेरे कोप से मेरी दया बहुत बड़ी है। अतः जिस पुरुष का विश्वास मेरे सिवा किसी और वस्तु में नहीं होता वह नरकों का दुःख नहीं देखता। महापुरुष ने भी ऐसा ही कहा है कि भगवान् अपने जीवों पर माता-पिता से भी अधिक दयालु हैं, क्योंकि सम्पूर्ण मनुष्य और पशुओं में जितनी दया है वह भगवान् की दयारूप समुद्र की एक बूँद के समान है। तथा यह भी कहा है कि भगवान् तो पतितपावन हैं, क्योंकि पुण्यवान् तो स्वाभाविक ही सुख के अधिकारी होते हैं।

महापुरुष ऐसा भी कहते हैं कि परलोक में दो पापी पुरुष भगवान् के सम्मुख आयेंगे। भगवान् उनसे कहेंगे कि मैं किसी के साथ अन्याय नहीं करता। अतः अपने पापों के अनुसार तुम नरकों में जाओ। तब वे दोनों पापी यम के पाशों में बँधे हुए नरक की ओर चलेंगे। किन्तु उनमें से एक दौड़ता हुआ चलेगा और दूसरा मन्द गति से जायगा। उनसे पूछा जायगा कि तुममें से एक मन्द गति से और एक दौड़ता हुआ क्यों चलता है? तब उनमें से एक कहेगा कि भगवन्! आपकी आज्ञा से विमुख होनेपर ही मैं नरकगामी हुआ हूँ। इसीसे अब दौड़कर चलता हूँ, जिससे अब तो आपके आदेश का पालन करने में ढील न हो। तथा दूसरा कहेगा कि मैं तो आपकी दया का ही भरोसा रखता हूँ। इसीसे यह सोचकर ढीला चल रहा हूँ कि आप अभी मुझे क्षमा कर देंगे। उनके ये उत्तर सुनकर भगवान् प्रसन्न हो जायँगे और कहेंगे कि तुम्हारी भावनाएँ शुद्ध हैं, अतः मैं तुम दोनों को मुक्त करता हूँ। इसीप्रकार एक बार एक सन्तने भगवान् से प्रार्थना की थी कि प्रभो! मेरे पापों को क्षमा कीजिये। तब आकाशवाणी हुई कि तेरी तरह तो सभी लोग निष्पाप होना चाहते हैं। किन्तु यदि सभी निष्पाप

हो जायेंगे तो मेरी दया और क्षमा कैसे प्रकट होगी।

तात्पर्य यह है कि भगवान् की दया और कृपा को सूचित करनेवाले ऐसे ही अनेकों वचन हैं। किन्तु जिस पुरुष के हृदय में अपने पापों का भय प्रबल हो उसीको ऐसे वचनों का विचार करने से लाभ हो सकता है। जो पुरुष पहले से भोगों में आसक्त और असावधान हो उसे तो भगवान् के भय और वैराग्य के मार्ग को ही ग्रहण करना चाहिये। इसी दृष्टि से एक सन्त ने कहा है कि यदि कोई कहे कि परलोक में एक ही पुरुष नरकगामी होगा तो मुझे भय के कारण ऐसा भासता है कि कहीं वह पुरुष मैं ही तो नहीं हूँ। और यदि कोई कहे कि परलोक में एक ही पुरुष उत्तम गतिका अधिकारी होगा तो भगवान् की कृपा के भरोसे ऐसा समझता हूँ कि आश्चर्य नहीं, भगवान् मुझे ही परमगति का अधिकारी कर दें। इस प्रकार बुद्धिमानों के हृदय में आशा और भय समान रूप से रहते हैं।

(भय की श्रेष्ठता)

श्री भगवान् का भय मानना भी एक उत्तम अवस्था है। तथा इसकी विशेषता और फल भी बहुत है। इसका कारण विवेक है। महापुरुष कहते हैं कि सम्पूर्ण सद्गुणों की कुञ्जी भगवान् का भय है तथा संयम और वैराग्य इसका फल है, क्योंकि भय के बिना भोगों का त्याग नहीं होता, और भोगों का त्याग किये बिना कोई परमार्थ पथ में चल नहीं सकता। उन्होंने ऐसा भी कहा है कि परलोक में सब जीवों को भगवान् की ऐसी आज्ञा होगी कि मैंने जब से तुम्हें उत्पन्न किया है तबसे ही मैं तुम्हारी सब प्रकार की बातें सुनता रहा हूँ, पर अब मेरी एक बात तुम भी सुन लो। मैं तुम्हें तुम्हारे कर्म स्पष्ट दिखलाता हूँ, क्योंकि तुमने मुझसे विमुख रहकर विशेषतया अपने सम्बन्धियों की ही पूजा की है। मेरे संबंधी तो विरक्त और भक्तजन ही हैं। अतः अब मैं उनकी विशेषता प्रकट

करता हूँ । ऐसा कह कर वे सब विरक्त और भगवान् का भय मानने-वाले पुरुषों को मुक्त कर देंगे । प्रभु ने ऐसा भी कहा है कि मैं दो भय और दो निर्भयताओं को इकट्ठे नहीं करता । अर्थात् जो पुरुष मुझ से संसार में डरता है उसे मैं परलोक में अभय कर देता हूँ और जो संसार में अभय रहता है उसे परलोक में बड़े भारी भय का सामना करना पड़ता है । तथा महापुरुष ने भी कहा है कि जो पुरुष भगवान् से भय मानता है उसके भय से सारा संसार डरता है । अतः उत्तम बुद्धिमान् वही है जिसे भगवान् का भय बहुत अधिक हो । जो पुरुष भगवान् के भय से कुछ रुदन भी करता है वह निःसन्देह नरक के भय से छूट जाता है ; और जिसके रोम अपने पापों के स्मरण और भगवान् के भय से खड़े हो जाते हैं, उसके सब पाप इस प्रकार झड़ जाते हैं जैसे शरद ऋतु में वृक्षों के पत्ते । तथा ऐसा भी कहा है कि भगवान् को भय और प्रीति-पूर्वक रोने के समान और कोई स्थिति प्रिय नहीं है । जो पुरुष एकान्त में भगवान् का भजन करे और हृदय में उनका भय रखे वह परलोक की तपन में प्रभु की छाया तले रहेगा ।

एक अन्य सन्त कहते हैं कि जिस दिन मुझे भगवान् का भय अधिक हुआ उस दिन मैंने निश्चय ही उत्तम विवेक प्राप्त किया । एक संत ने कहा है कि जैसे दो सिंहों की झपट में आया हुआ जीव किसी प्रकार नहीं छूटता वैसे ही भगवान् के भय और आशा के द्वारा जिज्ञासु के पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं । एक दूसरे संत कहते हैं, "यह मनुष्य जैसे निर्धनता से डरता है वैसे ही यदि नरकों से डरता तो निःसन्देह परम सुख प्राप्त कर लेता, क्योंकि जो पुरुष इस लोक में भगवान् का भय करता है वह परलोक में अभय रहेगा । उसके सिवा जिनके वचन सुनकर तुम्हारा भय दूर हो जाय उनकी संगति को तुम सुखदायक समझो ।" एक बार आयशा ने महापुरुष से पछा था कि प्रभु ने जो यह वाक्य कहा है कि

जो करते हैं और डरते हैं—इसका क्या तात्पर्य है ? तब महापुरुष ने कहा कि जिज्ञासुजन भजन और दानादि शुभकर्म तो करते हैं, किन्तु हृदय में डरते रहते हैं कि ऐसा न हो प्रभु हमारे इन शुभ कर्मों को स्वीकार ही न करें। एक अन्य सन्त ने कहा है कि भगवान् का भय मानकर रुदन करो और यदि स्वाभाविक रूप से तुम्हें रुलाई न आवे तो प्रयत्न करके भी चित्त को द्रवीभूत करो।

(भय का स्वरूप)

भयरूपी अग्नि इस पुरुष के हृदय में ही प्रकट होती है। इसका कारण विद्या और समझ है। जब इस पुरुष को परलोक के दुःखों की समझ प्राप्त होती है और यह स्थूल भोगों को अपनी हानि का हेतु जानता है तब स्वाभाविक ही इसके हृदय में भयरूपी अग्नि प्रकट हो जाती है। किन्तु वह समझ भी दो प्रकार की होती है–

१. जिसे अपनी पराधीनता और अवगुण प्रत्यक्ष भासते हैं और जो भगवान् के उपकारों को भी अनुभव करता है उसे स्वाभाविक ही भगवान् का भय रहता है। जैसे किसी पुरुष ने राजा से बहुत पारितोषिक पाया हो और फिर उस से चोरी या व्यभिचार जैसा अपराध बन जाय, तथा उसे यह भी मालूम हो कि राजा ने मेरी यह करतूत देख ली है और ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो मेरे इस अपराध को उस से क्षमा करा दे तथा राजा का स्वभाव बहुत तेज है, तो ऐसी स्थिति में उसे अवश्य ही बड़ा भय उत्पन्न होगा।

२. जिसने श्रीभगवान के ऐश्वर्य और निरपेक्षता को अच्छी तरह पहचाना है उसे भी उनसे बहुत भय रहता है, जैसे कोई पुरुष अकस्मात् सिंह के समीप पहुँच जाय तो स्वभाव से ही भय से काँपने लगेगा। यद्यपि उसका यह भय किसी अपराध के कारण नहीं होता, किन्तु सिंह की प्रबलता और अपनी निर्बलता को देखकर स्वयं ही कम्प उत्पन्न हो जाता

है। इसी प्रकार जिसने भगवान् के ऐश्वर्य को ऐसा समझा है कि सारे ब्रह्माण्ड का संहार कर डालने पर भी उनका कुछ नहीं घटता, सभी जीवों को नरक में डाल देनेपर भी उनको कुछ दोष नहीं लगता तथा सन्तजन उन्हें यद्यपि दयालु-कृपालु कहते हैं तथापि उनका शुद्ध स्वरूप कृपा और कोप से परे है और सब प्रकार के भावों से निर्लिप्त है—वह पुरुष सर्वदा उनका भय मानता रहेगा।

इसीसे संतजन यद्यपि सर्वथा निष्पाप होते हैं, तो भी उन्हें प्रभु के अतुलित प्रभाव के कारण भय बना रहता है। महापुरुष कहते हैं कि जिस पुरुष को भगवान् की जितनी अधिक पहचान है उसे उतना ही भय भी अधिक है। प्रभु भी कहते हैं कि जो मुझे नहीं जानता वही निर्भय रहता है। एक बार महात्मा दाऊद को आकाशवाणी हुई थी कि दाऊद! तू मुझ से इसी प्रकार भयमीत रह जैसे मनुष्य मेघ की गम्भीर गर्जन अथवा सिंह से डर जाते हैं। इस प्रकार भय का कारण ऐसी समझ ही है। इसका फल हृदय में प्रकट होता है तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों में भी उसका प्रकाश होता है। हृदय में इस भय की उत्पत्ति का यह लक्षण है कि सभी भोग रसहीन जान पड़ते हैं, जैसे सिंह के समीप अथवा राजा के बन्दीखाने में भोगों की चपलता नहीं रहती तथा चित्त अत्यन्त भयग्रस्त होकर दीन और एकाग्र हो जाता है। अथवा उसे यही भय लगा रहता है कि देखें, मुझे कैसी ताड़ना दी जाती है इसीसे उसमें अभिमान, ईर्ष्या, तृष्णा और असावधानी आदि कोई दोष नहीं रहता।

इस भय का लक्षण शरीर और इन्द्रियों में भी प्रकट होता है। इसके कारण शरीर कृश हो जाता है और इन्द्रियों की पाप में प्रवृत्ति नहीं होती। प्रत्युत वे शुभकर्मों में तत्पर रहती हैं। किन्तु भय की अवस्थाओं में भी बड़ा भेद है। जो पुरुष अपने को

पापजनित भोगों से बचाये रहता है उसे त्यागी कहते हैं, जो राजसी भोगों से दूर रहे वह विरागी कहलाता है और जो सात्त्विक भोगों में भी आसक्त नहीं होता वही सच्चा पुरुष है। किन्तु जो पुरुष कभी तो रुदन करने लगता है और मुँह से त्राहि-त्राहि की रट लगा देता है, तथापि भोगों की प्राप्ति होनेपर सब कुछ भूल जाता है, उसे संशयात्मा कहते हैं। इसे भय नहीं कह सकते, क्यों कि जिस पुरुष को किसी वस्तु से भय होता है वह उसे अङ्गीकार नहीं कर सकता; जैसे किसी पुरुष को अपने वस्त्र में सर्प दिखायी दे तो वह तुरन्त उसे फेंक देगा, केवल मुँह से ही त्राहि-त्राहि नहीं चिल्लायेगा। एक बार किसी ने एक सन्त से पूछा था कि भययुक्त पुरुष का क्या लक्षण है ? तब उन्होंने कहा कि जैसे रोगी मरने के भय से सब प्रकार के भोगों को त्याग देता है वैसे ही भययुक्त पुरुष वह है जो परलोक की यातनाओं के भयसे सभी प्रकार के सुखों को सारहीन समझे।

(भय की अवस्थाओं के भेद)

भय की तीन अवस्थाएँ हैं—तीक्ष्ण, समान और निर्बल। इन में समान अवस्था ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि निर्बल के द्वारा तो जीवका कोई कार्य नहीं बनता, कुछ घड़ी-पल के लिये उसे कुछ सावधानी भी होती है तो भी शीघ्र ही अचेत हो जाता है। तथा तीक्ष्ण अवस्था वह है जिसमें भयके कारण निराशा और स्तब्धता आ जाय। इसकी प्रबलता से शरीर की मृत्यु तक हो जाती है। इसलिये ये दोनों ही अवस्थाएँ त्याज्य हैं, क्योंकि इनके द्वारा पापों का त्याग और शुभकर्मों में स्थिति नहीं होती। भय की अधिकता इसलिये भी ठीक नहीं है, कि वह अवस्था ज्ञान, विश्वास और प्रेम के समान सुखरूप नहीं है। ये गुण तो सुखरूप हैं, भय की आवश्यकता तो इनकी प्राप्ति के लिये ही है। इसीसे कहा है कि भय का कारण पराधीनता और अज्ञान है, क्योंकि असम-

र्थता और अज्ञता का अंश आये बिना भय उत्पन्न नहीं होता। इसीसे भागवान् को निर्भयस्वरूप कहा है। उनमें तो अज्ञता और असमर्थता का अंश ही नहीं पाया जाता। किन्तु भगवन्मार्ग की साधना के लिये जीव को अवश्य ही भय की अपेक्षा है। अचेत पुरुषों को तो भय ही सचेत करता है। बालक और पशु तो भय के बिना कभी सचेत नहीं होते।

रही निर्बल भय की बात। वह तो ऐसा ही है जैसे अध्यापक बालक को पीटे अथवा पशु को कोई अंगुली के संकेत से चलाना चाहे। इससे तो उनकी शिथिलता तनिक भी दूर नहीं हो सकती। तथा तीक्ष्ण भय ऐसा है जैसे कोई इतने तीक्ष्ण शस्त्र से बालक या पशुपर प्रहार करे कि उसका अंग ही कट जाय अथवा उसकी मृत्यु ही हो जाय। जिस प्रकार ये दोनों प्रकार की ताडनाएँ अभीष्ट फल देनेवाली नहीं होतीं उसी प्रकार तीक्ष्ण या निर्बल भय से जीवका कोई काम नहीं हो सकता। जिस समय यह जीव समान भय की अवस्था प्राप्त करता है तभी पापों से डरने लगता है और इसमें शुभ कार्मों की श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। अतः बुद्धिमान् पुरुष समान भयमें ही स्थित होते हैं। और जब भय की अधिकता होती है तब भगवान् का आश्रय तकते हैं और भय की निर्बलता होनेपर उनकी निरपेक्षता का विचार करते हैं।

किन्तु जो पुरुष भयशून्य हो और फिर भी अपने को बुद्धिमान् समझता हो उसे तो मन्दमति ही समझना चाहिये। वह तो मिथ्या अभिमान करनेवाला है। इसी प्रकार भगवद्भयशून्य पुरुष की और सब विद्याएँ भी झूठी ही हैं, क्योंकि सम्पूर्ण विद्याओं का मूल तो अपने को और श्रीभगवान् को पहचानना ही है। अर्थात् अपने अवगुणों को अच्छी तरह देखना और भगवान् को सर्वगुण-निधान, समर्थ एवं निरपेक्ष समझना। अतः जिस पुरुष ने अपनी अधीनता और भगवान् की समर्थता को अच्छी तरह समझा है,

उसके हृदय में अवश्य भय उत्पन्न होता है। इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि पहले इस जीव को भगवान् की महत्ता और निरपेक्षता जाननी चाहिये, फिर उन्हीं का दासत्व स्वीकार करना चाहिये तथा अपने को सर्वदा दीन और पराधीन देखना चाहिये। इस प्रकार जिस मनुष्य ने इस भेद को समझा है वह किस प्रकार भयशून्य रह सकता है।

(भय के भेद)

भय की उत्पत्ति किसी-न-किसी त्रास के कारण होती है और वह त्रास भिन्न-भिन्न कारणों से होता है। कितने ही लोग तो नरकों के त्रास से भययुक्त रहते हैं और कितनों ही को अपने अवगुणों का भय रहता है। उन्हें यह आशंका रहती है कि कहीं पापों का त्याग हुए बिना ही शरीर न छूट जाय। यदि ऐसा हुआ तो हमारा बड़ा अनर्थ होगा। किन्हीं को इस बात का भय रहता है कि भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, अतः यदि मुझसे कोई अपराध हो गया तो मैं उनकी अप्रसन्नता का पात्र होऊँगा और फिर मुझे अविनाशी दुःख भोगना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि इसे जिस-जिस प्रकार भय उत्पन्न हो सकता हो उसी साधन में लगना चाहिये। जिसे अपने मलिन स्वभाव का भय हो और ऐसी आशंका हो कि मैं अपने मन के अधीन होकर पापोंमें आसक्त न हो जाऊँ, उसे चाहिये कि अपने बुरे स्वभाव से विपरीत होकर भले स्वभाव का उपार्जन करे। जो पुरुष भगवान् को अन्तर्यामी जानकर भय करता हो उसे उचित है कि अपने चित्त को मलिन संकल्पों से शुद्ध रखे।

तथापि जिज्ञासुओं को अधिकतर यह भय रहता है कि पता नहीं अन्तकालतक मेरे धर्म का निर्वाह होगा या नहीं। तथा इससे भी अधिक यह आशंका रहती है कि देखें, भगवान् ने मेरे प्रारब्ध में क्या लिखा है? क्योंकि भगवान् ने जैसा-जैसा जिसके प्रारब्ध

में लिख दिया है वह पलट नहीं सकता। इसीसे बहुत से लोग, जो पहले पापों में आसक्त रहते हैं, भगवान् की कृपा से अन्त में शुद्ध और निर्मल स्वभाववाले हो जाते हैं। तथा बहुत से लोग, जो पहले चिरकाल से सात्त्विकी कर्म करते रहते हैं, ऐसे गिरते हैं कि अन्त समय पर उनकी बुद्धि बिगड़ जाती है और वे कुमार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। अतः भाग्यवान् वही है जिसको भगवान् ने अपने प्रथम संकल्प में ही भाग्यशील रचा है तथा अत्यन्त भाग्यहीन वह है जिसे उन्होंने अपने आरम्भिक संकल्प में ही अभागा बनाया है। इसीसे बुद्धिमानों को भगवान् के आदि संकल्प का ही भय रहता है। सो यह भी बहुत अच्छा है, क्योंकि जिसे अपने पापों का भय रहता है वह तो पापों को त्यागने से निर्भय और अभिमानी भी हो सकता है, परन्तु भगवान् की निरपेक्षता का भय कभी निवृत्त नहीं होता, क्योंकि यद्यपि भगवान् ने संतजनों को उत्तम अवस्था में स्थित किया है और दुर्बुद्धियों को अधोगति में डाला है, तथापि यदि विचार करें तो सृष्टि के आरम्भ में न तो किसी ने भगवान् की अवज्ञा ही की थी और न किसी ने सेवा-पूजा करके उन्हें रिझाया ही था। अतः बिना किसी कारण ही जिन पर वे दयालु हुए उसे उन्होंने सन्मार्ग दिखलाया और बिना निमित्त ही दूसरों को उन्होंने पापकामनाओं में आसक्त कर दिया। इस प्रकार प्रभु ने जैसा-जैसा जिसे सुझाया है वैसा-वैसा ही उसने देखा है। जिसको उन्होंने स्थूल भोग सुखरूप दिखाये हैं वह उन्हें त्याग नहीं सकता और जिसे वे विषरूप दिखाये हैं वह उन्हें स्वीकार नहीं कर सकता। जिसके नेत्रों को उन्होंने मूँद दिया है वह दुःख को दुःख नहीं जान सकता और जिसके नेत्रों को प्रभु ने खोला है वह उस दुःख के मार्ग में चल नहीं सकता। इस प्रकार धर्मात्मा और पापी दोनों ही पराधीन हैं और भगवान् की आज्ञानुसार ही पुण्य या पाप को ग्रहण करते हैं। भगवान् ने जिसे मन्द

भागी बनाया है वह अधोगति को प्राप्त होता है और जिसे भाग्यवान् रचा है वह परम सुख प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रभु को किसी का भय नहीं है, जो जैसा चाहता है वैसा ही कर लेता है और जिसकी आज्ञा को कोई नहीं फेर सकता, ऐसे प्रभु से सर्वदा डरते रहना उचित है। इसी विषय में दाऊदजी को आकाशवाणी हुई थी कि जैसे गर्जते हुए सिंह को देखकर भय उत्पन्न होता है वैसे ही मुझ से भयभीत रहो क्योंकि सिंह जिसे मारता है उससे किसी प्रकार का भय नहीं मानता और न उसे किसी अपराध के कारण ही मारता है; और यदि छोड़ देता है तो किसी गुण या अवगुण के कारण नहीं छोड़ता, उसका मारना या छोड़ना बिना कारण ही होता है। इसी प्रकार जिसने प्रभु की महिमा और तेज को इस प्रकार समझा है, सो कभी निर्भय नहीं होता।

(अन्तकाल का रहस्य)

बहुत से भयशील पुरुष अन्तकाल की विभीषिका से बहुत डरते हैं। इसका कारण यह है कि वह समय वास्तव में बड़ा कठोर होता है और इस पुरुष का मन तो क्षण-क्षण में चलायमान होता रहता है। अतः यह जाना नहीं जा सकता कि उस समय इसका चित्त किस स्वभाव में स्थित होगा। एक बुद्धिमान् का कथन है कि यदि कोई पुरुष पचास साल मेरे साथ रहे और मैं निरन्तर उसकी स्थिति को देखता रहूँ, किन्तु फिर यदि एक घड़ी के लिये भी वह मुझसे दूर हो जाय तो भी मैं उसकी अवस्था के विषय में कोई निश्चित बात नहीं कह सकूँगा, क्योंकि इस मनुष्य का मन अत्यंत चपल है, इसलिये कह नहीं सकते कि उसके जीवन की अन्तिम एक घड़ी में उसके चित्त की क्या स्थिति थी। एक सन्त ने भगवान् की शपथ करके कहा है कि किसी भी पुरुष को अपने अन्तकाल के भय से निर्भीक नहीं होना चाहिये। पता नहीं, उस समय उससे

अपने धर्म का निर्वाह होगा या नहीं ?

सन्त सुहेल ने कहा है कि जिज्ञासुजन अन्तकाल के भय से श्वास-श्वास में डरते रहते हैं। एक सन्त मृत्यु के समय रोने लगे थे। तब लोगों ने उससे कहा कि आपके पापोंसे तो भगवान् की महत्ता और दयालुता बहुत बड़ी है। अतः तुम रुदन मत करो। तब उन्होंने कहा, "मैं जानता हूँ कि यदि मेरा दृढ़ विश्वास होगा तो मैं अपने पापों को देखकर डरूँगा नहीं। किन्तु मैं तो यह भी नहीं जानता कि अन्ततक मेरे धर्म का निर्वाह कैसे होगा ?" सन्त सुहेल ने कहा है कि भक्त को तो मनमुखता का ही भय रहता है तथा ज्ञानी पुरुष तो अहंकार फुरने को भी मनमुखता समझते हैं और ऐसे मनमुखी पुरुष से डरते रहते हैं, क्योंकि अहंकार और कपट अन्त समय में उनके विश्वास को नष्ट कर डालते हैं। सन्त हसन बसरी ने कहा है कि मनके सकल्पों और शरीरकी क्रियाओं को भिन्न रूप से प्रकट करना ही कपट है। अतः अन्तकाल में ऐसे पुरुष की स्थिति स्थिर नहीं रहती।

किन्तु मृत्यु के समय जो इस जीव की स्थिति स्थिर नहीं रहती उसके भी अनेकों कारण हैं। यहाँ उनका विस्तार प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है, अतः मैं केवल दो कारणों को ही स्पष्ट करके बताता हूँ—

१. जिसने सन्तजनों की मर्यादा से विपरीत क्रिया ग्रहण की है और अपनी सारी आयु मनमाने मार्ग से चलने में ही बितायी है तथा कभी उस मार्ग को झूठा भी नहीं समझा, ऐसे पुरुष की जब मृत्यु का समय आता है तो उसके भी हृदय के कपाट खुल जाते हैं और वह अपने आचरण को झूठा जानने लगता है। और उस अवस्था से विपरीत स्थिति होनेपर तो पहले यदि उसे थोड़ा-सा भगवान् का विश्वास भी हो तो वह भी शिथिल पड़ जाता है, क्योंकि

पहले भी उसका विश्वास ढीला ही था। इसी प्रकार जो पुरुष अनेक शास्त्रों के मतों को पढ़ता-सुनता है, उसका निश्चय भी अवश्य स्थिर नहीं रहता। इसके विपरीत जिन पुरुषों की बुद्धि यद्यपि थोड़ी है तथापि जो सन्तजनों के वचनों को यथार्थ मानकर उनमें दृढ़ विश्वास कर लेते हैं, उनका निश्चय प्रायः अन्तकाल में भी नहीं जाता। इसी कारण महापुरुष ने अधिक शास्त्र पढ़ने को मना किया है और भोले भाव को श्रेष्ठ बतलाया है।

२. जिस पुरुष की भोगों में अधिक प्रीति होती है उसके हृदय में भी भगवान् का दृढ़ विश्वास नहीं होता। अतः जब यह अन्तकाल में स्थूल पदार्थों का वियोग होते देखता है और इच्छा न होनेपर भी अपने को परलोक की ओर ले जाये जाते जानता है, तो वहाँ की भीषण यातनाओं और भोगों के वियोग के कारण उसका वह निर्मल विश्वास भी नष्ट हो जाता है। जैसे किसी पुरुष की अपने पुत्र में थोड़ी प्रीति हो, किन्तु वह अपने पिता की अत्यन्त प्रिय वस्तु लेना चाहे, तब उस पुत्र के साथ उसकी यह थोड़ी भी प्रीति नहीं रहती। प्रत्युत, उससे विरोध हो जाता है। तथा जो पुरुष भगवान् में विशेष प्रीति होने से पहले ही सब पदार्थों से विरक्त है उसे अन्तकाल का विशेष भय नहीं होता, क्योंकि उसे तो भोगों का वियोग सुखरूप ही जान पड़ता है तथा सूक्ष्म पद में ही उसकी विशेष प्रीति होती है। अतः शरीर का नाश होने से उसे कुछ भी ग्लानि नहीं होती। यही अन्तकाल की शुभ स्थिति का लक्षण है।

किन्तु जो पुरुष चाहता हो कि अन्त समय में मेरे चित्त की वृत्ति निश्चिन्त रहे उसे चाहिये कि प्रथम तो सन्तजनों की मर्यादा से विपरीत निश्चय को स्वीकार ही न करे और उनके यथार्थ

वचनों में दृढ़ विश्वास रखे। तथा और सब पदार्थों से विरक्त होकर भगवान् की प्रीति में ही स्थित हो। परन्तु माया के पदार्थों से यह पुरुष तभी विरक्त हो सकता है जब पहले यह धर्ममर्यादा का पालन करे और पापों से दूर रहे। तथा भगवान् की प्रीति तब होती है जब संतजनों की संगति और भगवान् के भजन में साव-धान हो तथा कुसंगियों से अलग रहे। किन्तु जिसके हृदय से माया की प्रीति दूर नहीं होती वह किसी भी प्रकार अन्तकाल के भय से मुक्त नहीं हो सकता।

(भय की प्राप्ति का उपाय)

जिज्ञासु को सबसे पहले धर्म के मार्ग की समझ प्राप्त होतीहै। और उस समझ से ही उसे भगवान् का भय प्राप्त होता है। भय से ही त्याग, वैराग्य और सन्तोष उत्पन्न होते हैं तथा सन्तोष से ही निष्कामता और भगवान् के भजनका आनन्द बढ़ता है। इस से निश्चय होता है कि सारे शुभ गुणों का कारण भगवान् का भय ही है। और इस भय की प्राप्ति के तीन मार्ग हैं—

१. सबसे पहला और उत्तम मार्ग है विद्या और समझ, क्यों कि जिसने भगवान् के तेज, ऐश्वर्य और निरपेक्षता को अच्छी तरह समझा है तथा जीवों की इस पराधीनता को भी जाना है कि मन्दभागी और भाग्यवान् सभी जीव बिना किसी अन्य निमित्त के केवल श्रीभगवान् के आदेश से ही उत्पन्न हुए हैं, उन्हें अवश्य ही उनका भय उत्पन्न होजाता है, जैसे सिंह के समीप अनायास ही मनुष्य का चित्त भयाक्रान्त हो जाता है। सन्तजनों का कथन है कि जिस पुरुष की जितनी ही अच्छी समझ होती है उतना ही उसे अधिक भय उत्पन्न होता है। एक बार महापुरुष रुदन कर रहे थे। तब आकाशवाणी हुई कि तुम क्यों रोते हो?

तुमको तो मैंने निर्भय कर दिया है। इस पर महापुरुष ने प्रार्थना की, "प्रभो! मैं आपके रहस्य को समझ नहीं सकता। इसलिये रोता हूँ कि कहीं यह भी आपकी परीक्षा ही न हो।" तब पुनः आकाशवाणी हुई कि यह बात ठीक है। अतः तुम मेरे भय से सर्वदा रोते रहो, कभी भी असावधान मत होओ। इसी प्रकार एक बार मनमुखों से लड़ाई करते समय महापुरुष की बहुत सी सेना मारी गयी। तब वे प्रार्थना करने लगे कि प्रभो! सात्त्विकी पुरुषों की सहायता करनेवाले तो आप ही हैं। इसपर उनके एक भक्तने कहा, "आप धैर्य धारण करें, क्योंकि प्रभु ने अन्त में विजय तो आपकी ही बतायी है। और भगवान् तो सर्वदा ही अपने वचनों को पूरा करते हैं।" किन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो यहाँ भक्त की आस्था तो भगवान् की दया और महापुरुष में अधिक है तथा महापुरुष प्रभु की निरपेक्षता का विचार करके सोचते हैं कि यदि वे हमारी जीत न करें तो भी भला, उनका क्या घटता है? उन्होंने यद्यपि स्वयं ही कहा था, परन्तु उनका यह कथन यदि केवल परीक्षा के ही लिये हो तो भी क्या आश्चर्य है? क्योंकि वास्तव में उनके कथन और आचरण के भेदों को कोई पुरुष समझ नहीं सकता।

२. भयवानों का संग करने से भी निश्चय ही भय उत्पन्न होता है। जैसे माता-पिता को सर्प से डरता देखकर बालक भी उससे डरने लगता है। किन्तु इस प्रकार भयवानों के संग से भय उत्पन्न होना समझदारी से उत्पन्न हुए भय की अपेक्षा निम्न कोटि का है; क्योंकि बालक जिस प्रकार देखा-देखी सर्प से डरने लगता है उसी प्रकार सपेरे के हाथ में साँप देखकर उसे पकड़ने को भी तैयार हो

जाता है। अतः उचित यह है कि जब तक इसकी समझ पक्की न हो तबतक असावधान पुरुषों का संग न करे। और जो भयशून्य विद्वान् हों उनका संग तो कदापि न करे।

३. यदि इसे भयवान् पुरुषों का संग प्राप्त न हो सके तो उनकी अवस्था और उनके वचनों का ही श्रवण करे। तथा अपने चित्त में ऐसा विचार करे कि जब ऐसे बुद्धिमान् और विचारशील पुरुष डरते रहे तो हमें तो अवश्य ही भय रखना चाहिये। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जब मुझे आकाशवाणी होती है तो मेरा शरीर भय से काँपनें लगता है कि देखें, भगवान् की मुझे क्या आज्ञा होती है। संत दाऊद तो जब रोने लगते थे तो उनके आँसुओं से पृथ्वी पर घास उत्पन्न हो जाती थी। उन्होंने भगवान् से यह प्रार्थना की थी कि प्रभो! मेरे पापों को मेरे हाथोंपर लिख दीजिये, जिससे मैं सर्वदा अपने अपराधों को देखता रहूँ। तब भगवान् ने ऐसा ही किया और वे अपने हाथों को देखकर सभी कार्यों को करते समय रोते रहे। वे जब जल पीने लगते थे तो उनके आँसुओं से वह कटोरा भर जाता था। एक बार दाऊद ने ऐसा भी कहा था कि प्रभो! आप मेरे रोने की ओर नहीं देखते। तब उन्हें आकाशवाणी हुई कि तू अपने रोने की बात करता है और अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है। तू जानता नहीं, मैं तो ऐसा निरपेक्ष हूँ कि जब मैंने आदम को उत्पन्न किया था तब सब देवताओं को उसी के अधीन कर दिया था तथा उसे और भी बहुत से पारितोषिक दिये थे। एवं उसीको मैंने अपना प्रधान भी बनाया था। किन्तु जब उससे एक ही अवज्ञा हुई तो उसे तत्काल

अपने द्वार से गिरा दिया। अतः जो पुरुष मेरी आज्ञा मानता है उसीको मैं भी अंगीकार करता हूँ। और जो मुझसे विमुख हो जाता है वह निश्चय ही मेरे क्रोध का लक्ष्य बनता है। अतः तू मेरे ही अभिमुख रहेगा तो मैं तुझे निश्चय ही मुक्त कर दूँगा। इन दाऊद जी का रुदन सुनकर सहस्रों पुरुषों के प्राण प्रयाण कर जाते थे तथा कितनों ही को मूर्च्छा हो जाती थ .

संत याहिया की कथा है कि जब उनकी बाल्यावस्था थी तब बालक उन्हें खेलने के लिये बुलाते थे और वे बालकों से ऐसा कहते थे कि मुझे भगवान् ने खेलने के लिये तो उत्पन्न किया नहीं है। तथा भगवान् का भय मानकर वे इतना रुदन करते थे कि उनके कपोलों का मांस आँसुओं के कारण गल गया था। महापुरुष के एक भक्त ऐसे थे जो पक्षी को देखते तो भय मानकर कहते थे कि मैं भी पक्षी होता तो अच्छा था। तथा एक संत कहते थे कि मैं वृक्ष होता तो कितने ही पापों से मुक्त रहता। एक और संत थे, वे जब भय के वचन सुनते तो मूर्च्छित होकर गिर पड़ते थे। आयशा तो ऐसा कहा करती थीं कि मैं तो यदि मूल से ही उत्पन्न न होती तो इस अज्ञानमय जीवन से अच्छा ही होता। एक संत जब भजन करने के लिये बैठते थे तो उनके मुँह का रंग पीला पड़ जाता था। तब किसी ने उनसे पूछा कि तुम्हारी ऐसी अवस्था क्यों हो जाती है ? उन्होंने कहा, "भगवन्नामस्मरण के समय उन श्रीभगवान् के सामने होना होता है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के एकमात्र प्रभु हैं। इसलिये मेरा चित्त भयभीत हो जाता है।" एक संत ने कहा है कि अच्छा स्थान पाकर अभिमान न करो, क्योंकि थोड़ी-सी भी अवज्ञा करनेपर बड़े-बड़े महात्माओं का पतन हो जाता है। तथा भजन की अधिकता का भी अभिमान मत करो, क्योंकि कितने ही महापुरुषों ने लाखों वर्ष जप-तप

किया, फिर भी अभिमान के कारण ही उन्हें धिक्कार का अधिकारी होना पड़ा। इसी प्रकार विद्या के कारण भी अभिमान मत करो। एक विद्वान् ने सब विद्याएँ अच्छी तरह पढ़ी थीं। किन्तु एक विमुख राजा का संग करने से भगवान् ने उसे कुत्ते की तरह बताया तथा अपने द्वार से लौटा दिया। तथा सन्तजनों के दर्शन करने का भी अभिमान मत करो, क्योंकि महापुरुषों के कितने ही सम्बन्धी जो मनमुखी थे, वे महापुरुष को देखते रहनेपर भी भगवान् की प्रीति प्राप्त नहीं कर सके।

एक संत ने कहा है कि मैं सर्वदा उठकर अपना मुँह दर्पण में देखता हूँ कि कहीं पापों के कारण वह काला तो नहीं हो गया है। एक संत चालीस वर्ष तक हँसे ही नहीं थे तथा संसार में दुर्भिक्ष का कोई अन्य संकट उपस्थित होता तो कहते थे कि मेरे पापों के कारण ही जीवों को यह कष्ट हो रहा है। एक बार सन्त हसन बसरी से किसी ने पूछा कि तुम्हारी क्या स्थिति है। तब उन्होंने कहा, "जिसकी नौका अगाध समुद्र में टूट जाय उसकी कैसी अवस्था होती है।" तात्पर्य यह है कि मेरी अवस्था भी ऐसी ही घबराहट की है। इसीसे वे सर्वदा शोकग्रस्त-से रहते थे, मानो किसी राजा के बन्दीगृह में बन्द हों।

अब विचारना यह है कि जब ऐसे उत्तम पुरुष इतने भयभीत रहते थे और तुम्हें थोड़ा भी भय नहीं होता इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि तुम निष्पाप हो और वे पापी थे। इससे तो यही जाना जाता है कि तुम अत्यन्त मलिनता, मूर्खता और पापों की अधिकता के कारण निर्भीक बने हुए हो। और वे समझदारी की अधिकता और सर्वगुणसम्पन्न होनेपर भी भययुक्त रहते थे।

यदि कोई प्रश्न करे कि सन्तजनों के वचनों में भय और आशा की महिमा तो अधिक है, किन्तु इन दोनों में श्रेष्ठ क्या

है, जिसकी प्रबलता रहनी चाहिये ? तो इसका उत्तर यह है कि भय और आशा दोनों ही औषध हैं, और औषधों को एक-दूसरे से बढ़कर नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जिसका जैसा रोग होता है उसकी वैसी ही ओषधि की जाती है और जिससे उसका रोग नष्ट हो उसके लिये वही ओषधि श्रेष्ठ कही जाती है। आगे मैंने यह वर्णन किया है कि भय और आशा ये दोनों ही जिज्ञासुओं के मार्ग के साधन हैं। तथा इन दोनों से भी उत्तम अवस्था यह है कि साधक सर्वदा श्रीभगवान् के प्रेम में तल्लीन रहे तथा भूत भविष्य और वर्तमान के जो प्रेरक हैं उनकी ओर दृष्टि रखे। यहाँ तक कि काल की उसे स्मृति भी न रहे। जिसे ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है उसके लिये तो भय और आशा भी आवरणरूप हैं। किन्तु यह अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है।

सामान्य जीवोंका अधिकार तो यही है कि जिसका मृत्युकाल समीप हो उसे भगवान् की दयाकी आशा बनी रहे। यह भी विशेष उपयोगी है, क्योंकि शुद्ध आशासे प्रीति का प्रादुर्भाव होता है। तथा जो पुरुष भोगों में आसक्त हो उसे भय की प्रबलता रखनी चाहिये। और जो पुरुष शुद्ध बुद्धि एवं वैराग्य से सम्पन्न हो उसमें ये दोनों ही गुण समान रूप से होने चाहिये। इसके सिवा भजन और शुभ कर्मों के समय त ,आशा की अधिकता ही उत्तम है, क्योंकि शुद्ध आशा प्रीति की कारण है और प्रीति के द्वारा भजन का आनन्द विशेष प्राप्त होता है। तथा पापकर्मों के समय भय की प्रबलता रहनी अच्छी है। इसी तरह खान-पान आदि जो शरीर के व्यवहार हैं उनमें भी भययुक्त रहना ही अच्छा है। तात्पर्य यह है कि भय और आशा का उपयोग मनुष्यों की वृत्तियों के अनुसार प्रकट होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वथा भय ही श्रेष्ठ है अथवा आशा ही श्रेष्ठ है।

—०—

चौथी किरण

निर्धनता, वैराग्य और संकल्पशुद्धि का विवेचन

याद रखो, धर्ममार्गका मूल अपना और भगवान्का ज्ञान प्राप्त करना है तथा माया और परलोक का भी परिचय पाना है। इस प्रकार अपने को पहचानकर अपनत्व को त्यागना और श्रीभगवान्की ओर बढ़ना तथा इसी प्रकार मायाको त्यागकर परलोककी ओर सावधान होना ही वास्तव में धर्ममार्गका स्वरूप है। अतः सम्पूर्ण शुभगुणोंका फल यही है कि इसका अपना आप श्रीभगवान् में विलीन हो जाय तथा यह मायाको त्यागकर परलोकके अविनाशी सुख में स्थित हो जाय, क्योंकि मायाकी प्रीति जीवकी बुद्धि को नष्ट कर देती है। जो पुरुष इससे विरक्त है वह तो मुक्तरूप है। अतः अब मैं पहले निर्धनताकी महिमा कहता हूँ।

(फकीरी अर्थात् निर्धनताका वर्णन)

जिस पुरुषको किसी पदार्थकी इच्छा हो और वह वस्तु उसके पास हो नहीं उसे फकीर या निर्धन पुरुष कहते हैं। यदि इस दृष्टिसे देखा जाय तो सभी पुरुष संग्रहशून्य और निर्धन हैं, क्योंकि प्रथम तो जीवमात्रको जीनेकी इच्छा है और उसके लिये खान-पान एवं और भी अनेकों पदार्थ अपेक्षित हैं। किन्तु इन सब पदार्थोंमें से इसके हाथ में कोई भी वस्तु नहीं है, और यह स्वयं इन सबके अधीन है। इससे निश्चय होता है कि ये सभी जीव अत्यन्त निर्धन और दीन हैं। इन सबके धनी एकमात्र श्रीभगवान् ही हैं, क्योंकि धनी उसी को कह सकते हैं जो अन्य किसी के

अधीन न हो और अपने में ही सन्तुष्ट हो। ऐसे धनी केवल श्री भगवान् ही हैं। उनसे भिन्न और सभी निर्धन हैं। प्रभु कहते हैं, "एक मैं ही धनी हूँ, और तुम सभी निर्धन हो।" महापुरुष ईसा ने कहा है, "मैं स्वयं तो अत्यन्त पराधीन हूँ, मेरे सब कार्यों की कुञ्जी तो भगवान् हीके हाथमें है। अतः मैं अत्यन्त कङ्गाल हूँ।"

किन्तु ज्ञानवानोंके मतमें तो वह पुरुष असंग्रही माना जाता है जो ममताशून्य हो और सब कामों में अपनी पराधीनता अनुभव करता हो। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि यदि यह पुरुष भजन-स्मरण भी करे तब तो यह नामका ही असंग्रही कहा जा सकता है, क्योंकि जब यह शुभ कर्म करता है तब उसके फलका अधिकारी भी होता ही है, इसलिये इसे सर्वथा संग्रहशून्य नहीं कह सकते। किन्तु ऐसी बात कहना तो मनमाना आचरण करनेवालों का स्वभाव है और यह उनके मन्द भाग्य का कारण है। ऐसे पुरुष यद्यपि अपने को बुद्धिमान् समझते हैं तो भी मनके अधीन होकर धर्ममार्गसे गिर जाते हैं। ये लोग अशुभ विषय को भी शुभ शब्दों में लपेटकर वर्णन करते हैं, जिससे कि अल्पबुद्धि जीव उन्हें बुद्धिमान् समझें। ये मूर्ख इतना नहीं समझते कि यदि भजन और शुभ कर्मोंके द्वारा भी माया ही का संग्रह होता है तो क्या भगवान से भी विरक्त हो जाना चाहिये, क्योंकि जिसे भगवान् का आश्रय होता है वह तो सभी पदार्थों से सम्पन्न हो सकता है। अतः जो पुरुष निरभिमान होकर भजन में तत्पर रहता है वह तो संग्रह-शून्य ही कहा जाता है। इसीसे महापुरुष का कथन है कि भगवान्का भजन मेरे बलसे नहीं होता, वे स्वयं ही मुझसे भजन कराते हैं।

मैंने भगवान्के मार्गमें जो असंग्रह की बात कही है उसीका निर्धनतारूप से वर्णन किया है। अतः अब मैं निर्धनताका निर्णय करता हूँ। निर्धनता दो प्रकार की है:—

१. जिसमें अपने पुरुषार्थसे धनका त्याग किया जाय। इसीको वैराग्य भी कहते हैं।

२. जिसे धन प्राप्त ही न हो। ऐसा पुरुष ही निर्धन या कङ्गाल कहा जाता है। ये निर्धन पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं—

(१) जिन्हें धनसंग्रह की इच्छा है किन्तु जिन्हें धन प्राप्त नहीं होता। ये लोग तृष्णालु कहे जाते हैं।

(२) जो पुरुष धनके लिये यत्न और याचना करते हैं और जब इन्हें कोई कुछ देता है तो प्रसन्न होकर ग्रहण कर लेते हैं तथा न मिलने पर भी सन्तुष्ट रहते हैं। इन्हें सन्तोषी कहा जाता है।

(३) जिन्हें धनकी अभिलाषा भी न हो और जो प्राप्त होने पर भी धनको स्वीकार न करें, वे विरक्त कहे जाते हैं।

इनसे अतिरिक्त यदि कोई पुरुष ऐसा हो जिसे धनकी इच्छा तो हो, किन्तु उसे कुछ प्राप्त न होता हो, वह भी अच्छा है, किन्तु सन्तोषी पुरुष निःसन्देह उससे श्रेष्ठ है।

(सन्तोषी निर्धन की श्रेष्ठता का वर्णन)

महापुरुष का कथन है कि भगवान् सन्तोषी निर्धनको अधिक प्रेम करते हैं। तथा ऐसा भी कहा है कि ऐ भक्तजनो ! ऐसा पुरुषार्थ करो कि निर्धनताके द्वारा परलोक प्राप्त कर सको। धनी रहकर मृत्युके ग्रास न बनो। एक बार महापुरुषको आकाशवाणी हुई थी कि यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हारे लिये सारे पहाड़ सोनेके कर सकता हूँ। तब महापुरुष ने प्रार्थना की कि मैं ऐसा नहीं चाहता, क्योंकि निर्धन के लिये तो धन मायारूप है और धन न होना ही उसके लिये धनके समान है। इनका संग्रह करनेवाले तो अत्यन्त मूर्ख हैं। एक बार महापुरुष ईसा ने किसीको मार्गमें सोते

देखा। तब उससे कहा, "उठ, भगवान् का भजन कर।" वह बोला, "तुम मुझसे क्या कहते हो ? मैंने माया तो मायाधारियोंको सौंप दी है।" इसपर वे बोले, "यदि ऐसी बात है तो तू निश्चिन्त होकर सोता रह।" इसी तरह महापुरुष मूसाको आकाशवाणी हुई थी कि यदि निर्धनता तुम्हारे पास आवे तो तुम उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेना। महापुरुष ने कहा है कि जब मैंने ध्यानावस्थामें स्वर्ग को देखा तो वहाँ मुझे अधिकतर निर्धन ही दिखायी दिये। उन्होंने ऐसा भी कहा है कि अमुक सन्त मेरे भक्तां में सबसे पीछे परम पद प्राप्त करेंगे, क्योंकि वे धन अधिक रखते हैं। यह बात सुनकर उन सन्त महोदयने हजारों भार धनके सहित बहुतसे ऊँट दीन-दुखियोंको बाँट दिये। जब यह बात महापुरुषने सुनी तो वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले, "ऐसा करके उन्होंने अपना हित ही किया है।" उन्होंने ऐसा भी कहा है कि भगवान् जिसे अपना प्रेम प्रदान करते हैं उसके धन और सम्बन्धियोंको हर लेते हैं। तथा उस पर अनेक प्रकार की विपत्तियाँ भी डालते हैं। एक अन्य महापुरुषने कहा है कि धनवान् तो प्रयत्न करनेपर स्वर्ग प्राप्त करेंगे, किन्तु निर्धनोंको अनायास ही उसकी प्राप्ति हो जायगी। एक महापुरुष ने भगवान्से प्रार्थना की थी कि प्रभो ! इस संसार में आपके भक्त कौन हैं, जिनसे मैं भी प्रीति करूँ ? तब उन्हें आकाश वाणी हुई कि जो निर्धनता प्राप्त होनेपर सन्तुष्ट रहते हैं वे ही मेरे भक्त हैं।

महापुरुष कहते हैं कि परलोकमें भगवान् निर्धनों से कहेंगे कि मैंने तुम्हें नीच समझकर निर्धन नहीं किया है, अपितु अपना पारितोषिक देनेके लिये तुम्हें धन से बचा लिया है, जिससे तुम पाप और भोगों से सुरक्षित रहो। अतः जिस-जिसने खान-पानसे तुम्हारी कुछ सेवा की है उसे अपने साथ लेकर तुम सुखमय स्थानोंमें जाओ। उन्होंने ऐसा भी कहा है कि निर्धनों के साथ

प्रीति करो और यथाशक्ति उनकी सेवा करो, क्योंकि ऐसे पुरुष बड़े भाग्यशाली होते हैं। ऐसा भी कहते हैं कि जो लोग निर्धनों की सेवा से दूर रहते हैं और धनसंचय करने में आसक्त हैं उनके चार विघ्न अवश्य होते हैं—(१) दुर्भिक्ष, (२) राजदण्ड, (३) भोगों की अधिकता और (४) रोग। एक और सन्तका कथन है कि जो पुरुष निर्धनोंको उनकी धनहीनताके कारण नीच समझता है और धनवानोंके साथ प्रीति करता है उसे सर्वदा धिक्कार है। सन्त सुफयनका यह स्वभाव था कि वे निर्धनों को अपने समीप बैठाते थे और धनवानोंको सबके पीछे। एक सत्पुरुषने अपने पुत्रसे कहा कि बेटा ! निर्धनोंसे कभी घृणा मत करना, क्योंकि उनका और तेरा भगवान् एक ही है। एक सन्तका कथन है कि जैसे यह पुरुष निर्धनतासे डरता है वैसे ही यदि इसे नरकोंसे भय हो यो यह दोनों ही स्थितियोंसे निर्भय हो जाय, यह जैसा पुरुषार्थ मायिक पदार्थों के लिये करता है वैसा ही यदि आत्मसुखके लिये करे तो परलोक में सुखी रहे और जिस प्रकार यह लोगों से संकोच करता है वैसे ही यदि अन्तर्यामी प्रभुसे करे तो दोनों इसके अनुकूल हो जायँ। किसी पुरुष ने एक सन्तको चार हजार रुपया दिया। किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। जब उसने विशेष प्रार्थना की तो वे बोले, "तुम मुझे थोड़ा-सा धन देकर निर्धनों के समाज से अलग करना चाहते हो, सो मैं तो ऐसा नही करूँगा।'

एक बार महापुरुषने आयशासे कहा था कि यदि तुम परलोक में मेरे साथ उत्तम पद पर स्थित होना चाहती हो तो निर्धनोंके समान जीवन व्यतीत करो, जब तक तुम्हारा वस्त्र अत्यन्त जीर्ण न हो जाय तब तक उसे उतारकर दूसरा नवीन वस्त्र मत पहनो तथा धनवानोंकी संगतिका त्याग करो। उन्होंने ऐसा भी कहा है कि जिस पुरुषको धर्मके मार्गमें प्रीति है और जो थोड़ी-सी जीविकामें भी सन्तोषपूर्वक अपना समय व्यतीत करता है वह

पुरुष धन्य है। वे ऐसा भी कहते हैं कि ऐ निर्धनो ! निर्धनताको श्रेष्ठ समझकर प्रसन्न रहो तभी तुम्हारा धनहीन होना सफल होगा। इस वचनसे यद्यपि ऐसा जान पड़ता है कि तृष्णावान् धनिकको कोई फल प्राप्त नहीं होता, किन्तु और वचनोंमें यही बात कही गयी है कि निर्धनता स्वयं भी निष्फल नहीं है, क्योंकि इससे कितने ही पापोंसे मनुष्यकी रक्षा हो जाती है। हाँ, यह बात निःसन्देह ठीक है कि सन्तोषी निर्धनको विशेष फल प्राप्त होता है। इस विषयमें महापुरुषका कथन है कि सन्तोषी निर्धनोंके साथ प्रीति करना उत्तम सुखकी कुञ्जी है, क्योंकि ऐसे पुरुष भगवान्के समीपवर्ती होते हैं। ऐसा भी कहा है कि परलोकमें सब लोग यही पश्चात्ताप करेंगे कि यदि संसारमें हमें केवल निर्वाह-मात्र धन मिला होता तो अच्छा था। महापुरुष ईसाको भी आकाश-वाणी हुई थी कि दीन हृदयोंके भीतर ही मेरा निवास है, अतः तुम मुझे वहीं पा सकोगे। एक और सन्तका कथन है कि जो पुरुष धनकी अधिकतामें प्रसन्न नहीं होता और आयुके घटने पर शोकाकुल नहीं होता वही महापुरुष है। किसी व्यक्तिने एक भक्त को नमकके साथ रोटी खाते देखा, तब उससे पूछा कि क्या तुमने इतनी ही जीविका पर सन्तोष किया हुआ है? भक्तने कहा, "जिसने परलोकके सुखको त्यागकर मायाको अंगीकार किया है उसने तो इससे भी तुच्छ वस्तुपर सन्तोष किया हुआ है।" एक बार एक सन्तसे उनकी स्त्रीने आकर कहा कि आज तो तुम्हारे घरमें खाने-पीनेके लिये भी कुछ नहीं है, फिर भी तुम ऐसे निश्चिन्त बैठे हो? तब उन्होंने कहा, "हमारे मार्गमें एक घाटी अत्यन्त कठिन है। उसे हल्के लोग ही पार कर सकेंगे, भारी तो उसीमें गिर जायँगे।" इतना सुनकर वह स्त्री प्रसन्नतापूर्वक घर चली गयी।

(एक प्रश्न और उसका उत्तर)

कितने ही बुद्धिमानोंने पूर्वकालमें एक प्रश्न पर विचार किया

है। प्रश्न यह है कि उदार धनवान् श्रेष्ठ है या सन्तोषी निर्धन ? मेरे चित्तको तो ऐसा लगता है कि इन दोनोंमें सन्तोषी निर्धन ही श्रेष्ठ है, क्योंकि ऐसे पुरुषके स्वभाव सर्वदा निवृत्त होते रहते हैं और वह शरीरके दुःखोंके कारण धीरे-धीरे विरक्तचित्त होता जाता है तथा निरन्तर भगवान्के प्रेमका ही पोषण करता है। इसलिये मृत्युके समय भी किसी पदार्थके साथ उसका मोह नहीं रहता। धनवान् पुरुष तो उदार और सात्त्विकी प्रकृतिका होनेपर भी तरह-तरहके सुख भोगता रहता है। इसी से वह विरक्तचित्त नहीं हो सकता। इसके सिवा भजन-स्मरणका नियम पालन करते हुए भी उसके चित्तमें विक्षेप बना रहता है। किन्तु सन्तोषी निर्धन का चित्त स्वाभाविक ही दीन और एकाग्र रहता है। किन्तु यदि धनी और निर्धन दोनों ही तृष्णावान् हों तो उन्हें धनका ही अर्थी कहा जायगा और वे धनमें ही बँधे होंगे। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो भगवान्की ओरसे असावधान होना ही बुरा है। सो यह असावधानी किसी को धनके कारण होती है और किसी पर निर्धनता ही पर्दा डाल देती है। इसीसे संतजनोंने जीविकामात्र धनको बुरा नहीं कहा, क्योंकि उत्तम स्थिति तो वही है जिसमें इस जीवका चित्त स्थिर रहे।

किन्तु धनवान् भी यदि सात्त्विक और उदार हो तथा निर्धन को धनकी कोई अभिलाषा न हो तो उन दोनोंकी स्थिति प्रायः समान होती है। धनवान्का चित्त यद्यपि भोगोंके कारण मलिन हो जाता है तथापि उदारताके कारण उसमें निर्मलता भी आ जाती है। इसी प्रकार निर्धन पुरुषका चित्त यदि तृष्णाके कारण मलिन होता है तो कष्ट-सहनेके कारण उसको निर्मलता भी प्राप्त हो जाती है। वास्तव में बन्धन का नाम मलिनता है और बन्धन न होना ही निर्मलता है। इसीसे जिस धनवान्के लिये धनका होना और न होना समान हो, जो अर्थियोंको देनेके लिये ही धन संचय

करता हो और जिसका चित्त सब पदार्थोंसे विरक्त हो वही निःसन्देह सबसे श्रेष्ठ है। जिस प्रकार आयशाको कहींसे तीस हजार रुपया भेटमें मिला तो उन्होंने उसे एक ही दिनमें अर्थियोंको बाँट दिया, अपने लिये एक पैसा भी नहीं रखा। यह अवस्था बहुत ऊँची है। किन्तु यदि धनी और निर्धन दोनोंके चित्तोंकी वृत्तियाँ समान हों तो ऐसी अवस्थामें निर्धनता ही श्रेष्ठ है, क्योंकि निर्धन पुरुष जब दीन होकर एक बार भी भगवान्का नाम लेता है तो दीनताके कारण ऐसा एकाग्रचित्त हो जाता है कि धनवान्का मन बहुत भजन और दान करनेपर भी वैसा संयत नहीं होता, क्योंकि पदार्थजनित प्रसन्नताके कारण उसका चित्त कठोर हो जाता है। तथा यह भजनरूपी बीज कठोर चित्तमें उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः जिस पुरुषका चित्त किसी भी पदार्थमें आसक्त नहीं है और जो प्रतिपूर्वक भजनमें तत्पर रहता है वह निःसन्देह प्रभुकी सन्निधि प्राप्त करता है।

किन्तु यदि कोई पुरुष ऐसा मान बैठे कि मैं तो धनसे निर्लिप्त रहता हूँ तो इसे तो बड़ी भारी मूर्खता ही समझना चाहिये, क्योंकि जबतक इसकी पूरी-पूरी परीक्षा न हो तबतक ऐसा अभिमान करना वृथा है। इसकी परीक्षा इसी प्रकार हो सकती है जैसे आयशाने एकबार ही सारा धन बाँट दिया था और उसके चित्तमें संचयका संकल्प तक नहीं फुरा। पर यदि यह अवस्था सुलभ होती तो सन्तजन और भक्तवृन्द धन एवं राज्यादिका त्याग क्यों करते? एवं विरक्त वृत्तिसे क्यों रहते? इस विषयमें एक महापुरुषका कथन है कि धनवानोंकी ओर दृष्टि न करो, क्योंकि उनके कारण प्राप्त होनेवाली प्रसन्नताकी दृष्टि ही तुम्हारे धर्मका नाश कर देगी और भजनसे प्राप्त होनेवाली प्रसन्नता तुमसे दूर हो जायगी, क्योंकि एक ही चित्तमें दोनों ओरकी प्रसन्नताएँ समा नहीं सकतीं। इनमें एक वस्तु सत्य है और एक असत्य। अतः जिसका चित्त

असत्य वस्तुओंमें बँधा हुआ है वह सत्य या शुभ पदार्थोंकी ओरसे विमुख रहता है। चित्त जितना ही असत्य वस्तुओंके मोहसे दूर रहेगा उतना ही सत्यस्वरूपके अभिमुख होगा। एक संतसे किसीने कहा था कि मेरा कुटुम्ब बड़ा है और मैं अत्यन्त निर्धन हूँ, अतः तुम मेरे लिये भगवान् से प्रार्थना करो। तब उन्होंने कहा कि जिस समय तेरे बालक भोजनके लिये रोने लगें और तेरा चित्त अत्यन्त द्रवीभूत और शोकाकुल हो उस समय मेरी जगह तू ही प्रार्थना कर लिया कर, क्योंकि ऐसे समयकी हुई तेरी प्रार्थना मेरी प्रार्थनासे भी अधिक सफल होगी।

(निर्धनतामें रहनेकी युक्ति)

निर्धनता भी उसी पुरुष की सफल होती है जिसका चित्त प्रसन्न रहे और जो किसीके आगे अपना दुःख प्रकट न करे। अतः भगवद्भक्तको चाहिये कि निर्धनताको भगवान् की कृपा समझ कर प्रसन्न हो और ऐसा समझे कि प्रभु अपने भक्तोंको निर्धनता ही दिया करते हैं। और यदि ऐसी प्रसन्नता प्राप्त न कर सके, निर्धनताके कारण चित्त उद्विग्न हो जाता हो तो भी इसे प्रभुकी इच्छा समझकर ग्लानि न करे। दुःखके कारण दुःखी हो जाना दूसरी बात है और उससे ग्लानि होना दूसरी बात है; जैसे अपना रक्त दान करने वाला पुरुष उसकी पीडासे दुःखी तो होता है, किन्तु उसके कारण उसे रक्त निकालने वालेपर ग्लानि नहीं होती। इसी प्रकार यदि कोई पुरुष निर्धनताके कारण दुःखी तो हो, किन्तु भगवदिच्छा समझकर उस दुःखमें भी अपना कल्याण समझे तो वह भी बहुत उत्तम स्थिति है। परन्तु जो पुरुष उसे भगवदिच्छा न समझकर निर्धनतासे ग्लानि करता है अथवा भगवान्की दयामें विश्वास नहीं रखता, उसका ऐसा विचार अनुचित है। ऐसी स्थितिमें निर्धनता से कोई विशेष फल भी प्राप्त नहीं होता। अतः सभी समय और सभी अवस्थाओंमें भगवान् का उपकार मानना चाहिये और यह

समझना चाहिये कि प्रभुकी कोई क्रिया निष्फल नहीं होती। सर्वदा सभी का कोई-न-कोई शुभ फल होता है। अतः उनके विधान में ग्लानि करना उचित नहीं। उचित तो यही है कि जिह्वासे अपनी निर्धनताका वर्णन भी न करे, उसे धैर्यपूर्वक गुप्त ही रखे।

इसी विषय में एक सन्तका कथन है कि एक निर्धनता तो दुःखका कारण होती है, उसका लक्षण कठोरता एवं ग्लानि है तथा एक निर्धनता सुख देनेवाली होती है, उसमें कोमलता और धन्य-वाद रहते हैं। इसके सिवा सन्तजनोंने निर्धनता में रहनेकी दूसरीयुक्ति यह बतायी है कि धनवानों का संग कभी न करे तथा धनके लिये उनके आगे दीन भी न हो एवं उनका बहुत आदर भी न करे। एक संतका कथन है कि जो पुरुष त्यागी होकर धनवानों की संगति करता है उसे कपटी समझना चाहिये और जो राजाओं की समीपता चाहता है उसे तो लुटेरा समझो। निर्धनतामें रहने की तीसरी युक्ति यह है कि अपनी अभिलाषाओंका संकोच करके यथा-शक्ति दान भी देता रहे इस विषयमें महापुरुषका कथन है कि जिस पुरुषके पास दो पैसे हों और वह उनमेंसे एक पैसा किसी अर्थीको दे डाले तो उसका वह दान धनवानोंके हजारों रुपयोंके दानसे बढ़कर है।

तथा दान लेनेकी युक्ति यह है कि सकाम और अशुद्ध पूजा तो कभी अङ्गीकार न करे एवं शरीरनिर्वाहसे अधिक भी ग्रहण न करे। किन्तु यदि अन्य अर्थियोंके लिये अधिक भी ले ले तो उसमें आपत्ति नहीं, क्योंकि साक्षात् अपने लिये पूजा स्वीकार करना और भगवान्के लिये अर्थियोंको भी सहायता पहुँचाना—यह बहुत सच्चे पुरुषोंका काम है। जिसमें ऐसा सामर्थ्य न हो उसे तो दान देनेवाले से यही कह देना चाहिये कि यह तुम ही किसी अधिकारीको दे देना। साथ ही दान देनेवालेके भावको पह-चानना भी बहुत आवश्यक है कि यह पुरुष मुझे श्रद्धापूर्वक देता

है अथवा किसी कामना या मानके लिये। यदि वह श्रद्धापूर्वक देता हो और लेने वालेके ऊपर किसी प्रकारका आभार भी न रखता हो तभी उसकी पूजा को अङ्गीकार करना चाहिये। तथा उस स्थितिमें भी उसकी जितनी श्रद्धा हो उससे अधिक स्वीकार न करे। कहते हैं, किसी पुरुषने एक संतकी पूजाके लिये उनके आगे पचास रुपये रखे। और कहा कि यदि बिना माँगे ही कोई भावपूर्वक कुछ देने लगे तो उसका निरादर नहीं करना चाहिये। यह बात सुनकर संतने उसमेंसे एक रुपया ले लिया और उनचास फेर दिये। इसी प्रकार एक पुरुष संत हसन बसरी के पास भी कुछ धन ले आया था। किन्तु उन्होंने यह कह कर उसे अंगीकार नहीं किया कि जो पुरुष धर्मका उपदेश करनेवाला हो और दूसरोंसे पूजा भी स्वीकार कर लेता हो तो उसकी निष्कामता नष्ट हो जाती है और वह भगवान्‌के दर्शन प्राप्त नहीं कर सकता। यह बात उन्होंने इसलिये कही थी कि वह पुरुष उनका ऐश्वर्य देखकर पूजा करना चाहता था, उसके हृदय में उनके प्रति निष्काम प्रीति नहीं थी। इसी प्रकार एक अन्य संतको उनका एक मित्र भेंट देने लगा तो उन्होंने कहा कि यदि इस वस्तुको देनेसे तुम्हारे भाव में वृद्धि हो तब तो मैं इसे ग्रहण कर सकता हूँ और यदि इसके कारण तुम्हारे विश्वासमें कमी आवे तो मैं इसे स्वीकार नहीं करना चाहता। तुम इसे किसी अधिकारी को दे दो। इसी कारण सुफियान संत किसी की पूजा ग्रहण नहीं करते थे। वे कहा करते थे कि यदि मैं इन की पूजा में केवल निष्कामता देखूँ तो उसका निरादर न करूँ। किन्तु लोग तो जब किसी को कुछ देते हैं तो अपनी उदारता का वर्णन करने लगते हैं और उसपर अपने उपकारका आभार रख देते हैं। इसीसे सन्तजनोंने केवल निष्काम मित्रोंकी पूजा ही स्वीकार की है, वे आभार रखनेवाले संतों की पूजा से दूर रहे हैं। बशर संतने कहा है कि मैं और किसीसे तो कुछ नहीं माँगता, पर

सिर्री संतसे तो माँग भी लेता हूँ, क्योंकि ये जब किसी को कुछ देते हैं तो इन्हें विशेष प्रसन्नता होती है।

तात्पर्य यह है कि यदि कोई पुरुष इसे मान या दिखलावे के लिये कुछ देना चाहे तो उसे स्वीकार न करे और यदि अपनेको विशेष आवश्यकता हो तो मना भी न करे। तथा यों भी कहा है कि यदि कोई पुरुष बिना माँगे ही इसे भाव और प्रीतिपूर्वक कुछ देना चाहे और यह अभिमानवश उसका निरादर कर दे, तो भगवान् इस अवज्ञाके लिये यह दण्ड देते हैं कि इसे लोगोंसे माँगना पड़ता है और वे माँगनेपर भी इसे नहीं देते। कहते हैं, एक बार सन्त सिर्रीने कुछ धन एक सन्तके पास भेजा था, किन्तु उन्होंने उसे अङ्गीकार न किया। तब सिर्रीने कहा, "आप मना करनेसे प्राप्त होनेवाले दण्डसे क्यों नहीं डरते ? यह सुनकर वे विचार करने लगे और बोले कि मेरे पास एक रात्रिकी जीविका विद्यमान है, अतः आप इस धनको अपने पास रखें, जब मेरी यह जीविका समाप्त हो जायगी तब मैं आपसे माँग लूँगा।

(याचनाकी निषिद्धता)

महापुरुषने कहा है कि याचना करना अत्यन्त मलिन कार्य है। इसलिये अत्यन्त आवश्यकता हुए बिना इसमें प्रवृत्त होना अनुचित है। इसकी मलिनता तीन प्रकारसे जानी जाती है—

१. याचना करनेसे प्रभुकी निन्दा प्रकट होती है और ऐसा करनेसे मनुष्य भगवान्के उपकारोंके प्रति कृतघ्न होता है। यदि कोई सेवक अपने स्वामीके सिवा अन्य किसीसे कुछ माँगे तो इससे स्वामीकी भी निन्दा होती है। इसलिये अत्यन्त आवश्यकता हुए बिना किसीसे भी याचना न करे तो अच्छा ही है।

२. याचना करनेसे अपना भी अपमान होता है। जिज्ञासुके

लिये यह बात भी अच्छी नहीं है कि वह लोभवश भगवान्के सिवा किसी और के आगे अपमानित हो। किन्तु जब विशेष आवश्यकता हो तो किसी निष्काम मित्र या अत्यन्त उदार व्यक्तिसे माँग लेना भी बुरा नहीं है, क्योंकि ये लोग देनेपर ग्लानि नहीं करते और न किसी प्रकार का अशा ही रखते हैं। पर तो भी सामर्थ्य रहते हुए किसीसे भी याचना करना अत्यन्त अनुचित है।

३. जिससे याचना की जाती है उसके चित्तको दुखाना भी हो जाता है, क्योंकि यदि उसका चित्त देनेसे प्रसन्न न हो, केवल लज्जा और अभिमानके भयसे ही वह कुछ दे तो ऐसा करनेसे उसके चित्तमें दुःख ही पहुँचता है। इसलिये उचित यह है कि यदि माँगना अनिवार्य हो तो भी स्पष्ट शब्दोंमें न माँगे, संकेतसे अपना अभिप्राय सूचित कर दे तो अच्छा है, जिससे कि देनेका संकल्प न होनेपर भी उसे लज्जा या संकोचमें पड़कर न देना पड़े। और यदि स्पष्ट ही माँगना हो तो किसी एक व्यक्ति की ओर मुँह करके न माँगे, सभाके बीचमें सामान्यरूपसे सभीको सुनाकर कह दे, जिससे कि जिस की इच्छा हो वही दे। किन्तु यदि किसी दूसरे अर्थी पुरुषके लिये स्पष्ट भी माँग ले तो भी ठीक है। तात्पर्य यह, कि यदि कोई पुरुष लज्जा या अपमानके भयसे इसे कुछ दे तो उसके दानको स्वीकार करना इसके लिये उचित नहीं, क्योंकि यह एक प्रकारका दण्ड लेना हो जाता है।

इससे निश्चय हुआ कि अत्यन्त आवश्यकता हुए बिना किसी से माँगना अत्यन्त निन्दनीय है। माँगनेका अधिकार तो उसीका है जो सर्वथा धनहीन और दीन हो तथा जिसमें कोई व्यापार करनेकी शक्ति न हो। जिज्ञासुको तो यहाँ तक करना चाहिये कि जीविकाकी अत्यन्त

अपेक्षा होनेपर अपने वस्त्र और पात्र भले ही बेच डाले; किन्तु यथासम्भव याचना न करे। महापुरुष कहते हैं कि जो पुरुष कुछ संचय रहनेपर भी किसीसे याचना करता है यह निःसन्देह नरकों का अधिकारी होता है। यदि विचार किया जाय तो इसे शरीरके निर्वाहके लिये तीन ही पदार्थोंकी आवश्यकता होती है—

१. थोड़ा आहार जिससे प्राण बने रहें।
२. इतना वस्त्र जिससे शरीर नग्न न रहे।
३. शीत, उष्ण और वर्षा से बचनेयोग्य कोई स्थान।

सो, जिसने इस रहस्य को समझा है, वह किसी न किसी तरह संयमपूर्वक अपने शरीर का निर्वाह कर लेता है। किन्तु जो पुरुष अनेक प्रकार के भोजन और साज-शृंगार के लिये याचना करता है, वह तो निःसन्देह पापी ही है।

(तपस्वियों की निरपेक्ष अवस्था का वर्णन)

तपस्वियों की अवस्था तीन प्रकार की होती है—

१. उत्तम तपस्वी तो कभी किसी से कुछ नहीं माँगते। उन्हें कोई कुछ देना चाहता है तो भी वे स्वीकार नहीं करते। ये लोग सर्वथा अभिलाषाशून्य होते हैं।
२. जो याचना तो नहीं करते, किन्तु यदि बिना ही माँगे कोई कुछ वस्तु अत्यन्त श्रद्धापूर्वक दे तो उसे स्वीकार कर लेते हैं। ये भी परम सुख के अधिकारी हैं।
३. कोई ऐसे भी भक्त पुरुष होते हैं जो अत्यन्त प्रयोजन होनेपर माँग भी लेते हैं। किन्तु भोगों के लिये ये कभी नहीं माँगते। यह अवस्था भी सात्विक जनों को ही प्राप्त होती है। किन्तु पूर्वोक्त दो अवस्थाओं की अपेक्षा यह सुलभ भी है।

इसी प्रसंग से इब्राहीम ने एक संत से पूछा था कि तुमने बलख के तपस्वियों को कैसी स्थितिमें देखा था? उन्होंने कहा, "उनकी

स्थिति तो अच्छी है, क्योंकि उन्हें जब कुछ प्राप्त नहीं होता, तो वे उसके लिये भगवान् का धन्यवाद करते हैं और जब प्राप्त हो जाता है तो उतने ही में सन्तोष कर लेते हैं।" यह सुनकर इब्राहीम ने कहा कि यह तो सूअरों की अवस्था का वर्णन हुआ। फिर उस संत ने पूछा, "अच्छा, तुमने तपस्वियों की अवस्था कैसी देखी है?" इब्राहीम ने कहा, "उन्हें जब कुछ प्राप्त नहीं होता तो वे भगवान् का धन्यवाद करते हैं और जब मिल जाता है तो उसे उदारता पूर्वक बाँट देते हैं।" यह बात सुनकर सन्त ने प्रणाम किया और कहा कि सच्चे पुरुषों की अवस्था ऐसी ही होती है।

एक प्रसंग और भी है। एक संत को किसी ने माँगते हुए देखा। तब उसने संशयालु होकर जुनेद नाम के सन्त से पूछा कि ये सन्त तो माँगनेवाले हैं नहीं, अतः इस समय इनके माँगने-का क्या प्रयोजन हो सकता है? जुनेद ने कहा, "इनके माँगने की ओर देखकर तुम ग्लानि मत करो, क्योंकि यह माँगकर भी लोगों का कल्याण ही करते हैं। इनके हृदय की दृष्टि तो सर्वदा श्रीभगवान् की ही ओर है। इसलिये इनका माँगना भी लोगों का कल्याण करनेवाला ही है।" तात्पर्य यह है कि सच्चे पुरुषों की ऐसी स्थिति भी रही है और उनका हृदय ऐसा निर्मल था कि वे बिना कहे भी एक-दूसरे के संकल्प को पहचान लेते थे। जिस पुरुष की ऐसी स्थिति न हो उसे इस पद को प्राप्त करने की अभिलाषा अपने हृदय में बढ़ानी चाहिये। और यदि अपने में प्रीति एवं श्रद्धा की कमी हो तो उनकी अवस्था में दृढ़ विश्वास रखना भी अच्छा ही है।

(वैराग्य की महिमा और उसका तात्पर्य)

यदि ग्रीष्म ऋतु में किसी के पास वर्फ हो तो शीतलता के कारण वह उसे प्रिय होता है। किन्तु यदि कोई पुरुष बहुत-सा सोना देकर उसे मोल लेना चाहे तो वह उसे बेच डालता है और

अपनी शीतल जल पीने की अभिलाषा का भी विचार नहीं करता। वह सोचता है कि यह बर्फ तो क्षण-क्षण में गलता जाता है, सुवर्ण से तो मेरे कितने ही कार्य सिद्ध होंगे। इसी प्रकार जिस पुरुष ने समझा है कि संसार के सुख क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होते रहते हैं तथा मृत्यु के समय उनमें से कुछ भी शेष नहीं रहेगा, वह आत्मसुख में विश्वास करके तत्काल सभी सांसारिक भोगों को त्याग देता है। उसकी दृष्टि में वे सभी भोग तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। इसी अवस्था को वैराग्य कहते हैं। वैराग्वान् पुरुष की परीक्षा दो प्रकार से हो सकती है—

१. जिसने पुरुषार्थ और निष्काम प्रेम के द्वारा धन और मान आदि को त्याग दिया है तथा जो सब भोगों से विरक्त हो कर भगवान् के भजन में लगा हुआ है वह उत्तम वैराग्यवान् कहा जाता है।
२. जो पुरुष आरम्भ से ही धन नहीं रखता उसकी परीक्षा यह है कि धन आदि पदार्थ प्राप्त होनेपर भी वह उन्हें अङ्गीकार न करे। ऐसा होनेपर ही उसके वैराग्य का चिह्न प्रकट होता है।

किन्तु जो पुरुष इस प्रकार परीक्षा किये बिना ही अपने को विरक्त समझता है वह तो अत्यन्त मूर्ख है, क्योंकि भोगों की प्राप्ति न होनेपर उसका चित्त स्वाभाविक ही संकुचित हो जाता है। पर जब भोग सामने आते हैं तो वह अत्यन्त चञ्चल हो उठता है।

इसके सिवा वैराग्य की एक परीक्षा यह भी है कि जैसे धन आदि पदार्थों का त्याग करता है वैसे ही मान के रससे भी विरक्त रहे, क्योंकि विरक्त तो उसे कहा जाता है जिसे भगवान् के भजन के सिवा और किसी पदार्थ में कुछ भी प्रेम नहीं होता। किन्तु भगवत्प्रेम के लिये स्थूल भोगों को त्यागना भी बहुत उपयोगी

है। भगवान् ने कहा है कि यदि तुम तन, मन, धन मेरे लिये लगाओगे तो मैं तुम्हें अपनी परमानन्दमयी भक्ति प्रदान करूँगा। अतः जिज्ञासुओ! इस प्रकार के व्यवहार को बहुत उपयोगी जानकर तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये।

किन्तु जो पुरुष अपने मान अथवा किसी अन्य प्रयोजन से धन आदि वस्तुओं का त्याग करता है उसे विरक्त नहीं कह सकते। ज्ञानवानों की दृष्टि में तो स्वर्ग सुख के लिये सांसारिक भोगों का त्याग भी कोई पुरुषार्थ नहीं माना जाता, क्योंकि भगवान्के भक्त तो जिस प्रकार सांसारिक सुखों को तुच्छ समझते हैं उसी प्रकार स्वर्गके सुखोंको भी नगण्य मानते हैं। स्वर्ग में भी तो इन्द्रियादिके ही भोग हैं, इसलिये उन्हें ये नीरस समझते हैं। इन्द्रियादिके भोगोंमें आसक्त होना तो पशुओं का धर्म है। इसीसे ज्ञानीलोग श्रीभगवान्के शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिके सिवा और किसी पदार्थसे सन्तुष्ट नहीं होते। अन्य सब पदार्थोंको तो वे कोई चीज ही नहीं समझते। इसीलिये ज्ञानीलोग न तो धन का त्याग ही करते हैं और न संग्रह ही, तथापि अपने अधिकारानुसार खर्च करते रहते हैं, जैसे पूर्वकाल में कितने ही सन्तों की स्थिति हुई है। वे पृथ्वी का राज्य भी करते थे और धन भी रखते थे, किन्तु उनका चित्त किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं था। तात्पर्य यह कि ज्ञानी पुरुषके पास लाखों रुपये हों तो भी वह वैरागी है और ज्ञानहीन पुरुषके पास एक पैसा भी न हो तो भी विरक्त नहीं कहा जा सकता। अतः उत्तम स्थिति यही है कि इस पुरुषका चित्त सभी पदार्थोंसे निर्मोही हो, किसी भी पदार्थके ग्रहण या त्याग की इच्छा न करे और न किसी वस्तु से प्रेम या विरोध ही करे, क्योंकि जिस प्रकार प्रिय पदार्थोंका विस्मरण नहीं होता उसी प्रकार विरोधी पदार्थ भी चित्त से नहींउतरते। उत्तम स्थिति तो यही है कि इस पुरुषके हृदयसे सभी पदार्थ विसर जायँ और जिस प्रकार समुद्र के जलमें किसी को

कृपणता नहीं होती उसी प्रकार धन में भी कृपणता न हो, उदारता रहे तथा धनका होना न होना इसे समान हो जाय।

यद्यपि यही उत्तम अवस्था है, किन्तु मूर्खों के पतन का स्थान भी यही है। अर्थात् जिस पुरुषसे धनका त्याग नहीं होता बहुत बार वह यही अभिमान कर लेता है कि मैं तो धनके होने-न होने में समान हूँ। मुझे इसके कारण कोई हर्ष-शोक नहीं हो सकता। इसकी परीक्षा तो तभी होती है जब कोई अधिकारी पुरुष उसका धन ले जाय, अथवा किसी निमित्तसे वह नष्ट हो जाय। उस समय यदि उसका चित्त समान नहीं रहता तो जानना चाहिये कि वह झूठा ही अभिमान करता है, वास्तवमें उसका चित्त धन से विरक्त नहीं है। ऐसी स्थितिमें उसका यही अधिकार है कि वह पुरुषार्थ करके धनको त्याग दे, तभी माया के विघ्नों से उसे छुटकारा मिल सकता है। कहते हैं, किसी त्यागी पुरुषसे किसी ने कहा था कि आप बड़े विरक्त हैं। तब उन्होंने कहा कि विरक्त तो अमुक संत हैं, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों का संग्रह रखते हुए भी उनका हृदय उनसे निर्लिप्त है। मेरे पास तो धन है ही नहीं, फिर मेरा वैराग्य कैसे जाना जा सकता है। इसी प्रकार किसी विद्वान् ने किसी से ईर्ष्यावश कहा था कि अमुक संत तो जुलाहे का छोकरा है वह हमारी बात तो मानता ही नहीं है। इसपर एक भक्त ने कहा, "हमें इसका पता तो है नहीं कि वे जुलाहे हैं या किसी अन्य जाति के, किन्तु इतना अवश्य जानते हैं कि माया उनके पास आती है और वे उसकी ओर से मुँह मोड़ लेते हैं, जबकि हम सर्वदा माया को खोजते रहते हैं, फिर भी वह हमें प्राप्त नहीं होती।"

सारांश यह कि जिसे आत्मसुख प्राप्त हुआ है वह स्वर्गादि के सुखोंको तो ऐसे जानता है जैसे राज्यसुखके आगे बुलबुल का खेल अत्यन्त तुच्छ होता है। किन्तु यह बात भी प्रत्यक्ष है कि बालकों को तो राज्यसुख की अपेक्षा बुलबुल के खेल का सुख

ही अधिक प्रिय है। क्योंकि उनकी बुद्धि अत्यन्त सामान्य होती है, इसलिये राज्यसुख को तो वह समझ ही नहीं सकती। इसी प्रकार जिस पुरुष को भगवान् के सिवा कोई अन्य वस्तु प्रिय जान पड़ती है उसकी बुद्धि अत्यन्त निम्न कोटि की है। ज्ञानवानों की दृष्टि में तो वह भी बालक ही है क्योंकि उसे उत्तम बुद्धि और पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि विरक्त पुरुषों की यद्यपि भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं, तथापि पूर्ण वैराग्यवान् वही है जो शरीरनिर्वाह से अधिक सभी प्रकार के भोगों से उपराम रहता है। उसकी दृष्टि में धन, मान, निन्दा, आहार, वस्त्र उपदेश और लोगों के साथ मिलना-जुलना आदि जितने भी शरीर और मन के भोग हैं वे सभी त्याज्य होते हैं। एक संत का कथन है कि बुद्धिमानोंने यद्यपि वैराग्यकी अनेकों बातें कही हैं, तथापि मैं तो उसीको वैराग्य समझता हूँ कि जिस वस्तुके कारण भगवान्की ओर से चित्त चलायमान हो उसीको त्याग दे। अतः भक्त वही है जिसके चित्तमें श्री भगवान् के सिवा और किसी भी वस्तु का प्रेम न हो। इसीसे संत याहिया टाटका चोला पहनते थे, क्योंकि वस्त्रकी कोमलता से तो स्पर्श सुखका भोग होता है। टाटसे उनका शरीर बहुत रूक्ष हो गया था, इसलिये उनकी माता ने बहुत प्रयत्न करके उन्हें रूई का वस्त्र पहनाया था। तब आकाशवाणी हुई कि अरे याहिया! तूने मुझे त्यागकर भोगों को अपनाया है। यह बात सुनकर याहिया रोने लगे और फिर वही टाट धारण कर लिया। किन्तु यह वैराग्य इतना कठिन है कि सब कोई इस अवस्था में अधिक दिन नहीं ठहर सकते। अतः जिसने जितना-जितना भोगों को त्यागा है वह उतना-उतना ही लाभ प्राप्त कर सकता है।

(वैराग्य की मर्यादा)

याद रखो, संसार एक बड़ा भारी कुआँ है और सारे

संसारी पुरुष इस कुएँ में पड़े हुए हैं। किन्तु विचारकर देखा जाय तो इसे शरीर के निर्वाह के लिये इतने पदार्थ तो अपेक्षित हैं ही—भोजन, वस्त्र, गृह, गृहकी सामग्री, धन और मान। इन सब में भी शरीर को सबसे अधिक आवश्यकता भोजन की है। अतः सबसे पहले तो आहार के विषयमें ही विचार करना चाहिये, सो उत्तम वैराग्यवानों का आहार तो कन्द, मूल, फल ही होता है। इनसे भी उदरपूर्ति तो हो ही जाती है। अन्य जो मोटे अनाज हैं वे इनकी अपेक्षा राजसी हैं तथा गेहूँ चावल आदि तो और भी अधिक राजसी हैं। यदि कोई पुरुष मैदा, घी और मिष्टान्न खाता है तो उसका वैराग्य नष्ट हो जाता है। जिज्ञासुओं को इतना आहार ग्रहण करना चाहिये कि भूख भी न रहे और पेट भारी भी न हो। इसके सिवा अधिक संचय करना भी ठीक नहीं, क्योंकि वैराग्यका मूल तो नैराश्य है और तृष्णाका मूल आशा की वृद्धि है। जिस पुरुष की आशा बढ़ी-चढ़ी होती है वह विरक्त नहीं हो सकता। महापुरुष भी अपने सम्बन्धियों के लिये तो एक वर्ष की जीविका रखते थे, किन्तु अपने लिये कुछ भी नहीं रखते थे।

इसके अतिरिक्त वैराग्यवान् को शाक-भाजीकी विशेष खोज नहीं करनी चाहिये। सामान्य शाक या खटाई के साथ ही रोटी खा ले। तरह-तरह के व्यञ्जनों में आसक्त न हो। इससे भी वैराग्य नष्ट हो जाता है। विरक्त पुरुष को रात-दिन में केवल एक वार ही खाना चाहिये। यदि दो दिनमें एक वार खावे तो और भी अच्छा है। परन्तु यदि वह एक ही दिन में दो वार खायगा तो उसका वैराग्य नष्ट हो जायगा। इस विषय में यदि कोई वैराग्य की बातें सुनना चाहे तो उसे महापुरुष और उनके भक्तों की बात सुननी चाहिये। कितने ही दिनों तक तो उनके घर में दीपक भी नहीं जलाया जाता था तथा खजूरके फलोंके सिवा और कोई

भोजन भी नहीं होता था। प्रभु ईसाने भी कहा है कि जिस पुरुष को भगवदीय सुख का प्रेम हो उसे जौ की रोटी और भूमिपर शयन विशेष उपकारी हो सकते हैं।

विरक्त के पास पोशाक भी एक ही होनी चाहिये। जो पुरुष दो पोशाकें भी रखता है उसे विरक्त नहीं कहा जा सकता। पोशाक का अर्थ है एक कटिवस्त्र और एक चोला या चादर। इससे भी श्रेष्ठ कम्बल आदि मोटे वस्त्र धारण करना है। रूईका वस्त्र पहने तो वह मोटा-झोटा ही होना चाहिये। जो पुरुष रंगीन और कोमल वस्त्र पहनना चाहता है वह विरक्त नहीं रह सकता। सन्तजनों का कथन है कि जो पुरुष तरह-तरह के वस्त्र धारण करता है वह भगवान् से विमुख हो जाता है। इसीसे कभी-कभी तो महापुरुष के वस्त्र तेली के कपड़ों के समान मैले हो जाते थे। एक बार कोई पुरुष उनके लिये सुन्दर वस्त्र लाया। तब उन्होंने उन्हें एकबार तो उसकी प्रसन्नता के लिये धारण कर लिया, किन्तु फिर शीघ्र ही उतारकर कहने लगे कि ये वस्त्र अमुक पुरुष को दे दो, मेरे लिये तो यह पुरानी गुदड़ी ही अच्छी है। इन वस्त्रों से तो मेरे चित्त में विक्षेप होता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति उनके लिये एक नया और सुन्दर जूता भी ले आया था। उसे पहनकर आप बोले कि मुझे तो वह पुराना जूता ही दे दो, यह तो मेरे नेत्रों को सुन्दर जान पड़ता है और मेरी भजन की एकाग्रता में विघ्न डालता है।

इसी प्रकार संत उमर के चोले में चौदह धज्जियाँ लगी हुई थीं। एक सन्त ने अपने चोले की बाँह जितनी लम्बाई में अधिक थी हाथ ही से फाड़ डाली और बोले, "प्रभु का धन्यवाद है।" उन्होंने यह भी कहा कि मैं इसलिये छोटा चोला पहनता हूँ जिससे धनी लोग भी मर्यादा में रहें और निर्धनों के चित्त की सकुच दूर हो जाय। एक अन्य भगवद्भक्त किसी सन्त के पास पुराने वस्त्र पहनकर

गये थे। तब उन्होंने पूछा कि तुमने ऐसे पुराने वस्त्र क्यों पहने हैं? भक्तजी चुप हो गये। फिर सन्त ने पूछा, "तुमने मेरे प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दिया?" वे बोले कि इस प्रश्न के उत्तर में अपना वैराग्य अथवा निर्धनता प्रकट करनी होती, और इन्हें प्रकट करना उचित नहीं है, इसलिये मैं चुप रहा। एक अन्य संत से किसी ने पूछा कि आप उज्ज्वल वस्त्र क्यों नहीं धारण करते? तब उन्होंने कहा, "भला सेवक को उज्ज्वल वस्त्रों से क्या प्रयोजन है?" इसी प्रकार एक राजकर्मचारी रात्रि में तो टाट पहनकर भगवान् का भजन करता था और दिन में दूसरे प्रकार के वस्त्र धारण करके राजकार्य में लगा रहता था।

इसके सिवा देहधारी पुरुषको गर्मी-सर्दीसे बचनेके लिये स्थानकी भी आवश्यकता होती है। किन्तु अच्छी बात यही है कि जिज्ञासु कभी स्थान बाँधकर न रहे, किसी भी अधिकारशून्य स्थानमें रहकर अपना कालक्षेप करे। अथवा शरीरके निर्वाह योग्य कोई कुटी या कोठरी बनवा ले। किन्तु चित्रशाला या बेल-बूटोंसे सुसज्जित भवनोंमें निवास न करे। जो पुरुष अपने स्थान को चित्रकारीसे सजाता है वह विरक्त नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्थानका प्रयोजन तो केवल शीत-उष्णसे रक्षा पाना ही है। अतः बिना प्रयोजन अन्य कार्योंमें आसक्त नहीं होना चाहिये। संतजनों का कथन है कि अनेक प्रकारके भवनोंका निर्माण करना भी यह सूचित करता है कि इन्हें दीर्घ जीवनकी आशा है। कहते हैं, एक भक्तने अपने घरके ऊपर एक ऊँचा चौबारा बनवाया था। जब महापुरुषने वह चौबारा देखा तो उससे बोलना बन्द कर दिया। जब यह बात उस भक्तको मालूम हुई तो उसने वह चौबारा गिरवा दिया। तब महापुरुषने प्रसन्न होकर उसे बुलाया। महापुरुषने यह भी कहा है कि जिसे भगवान् अपने से विमुख करना चाहते हैं उसका धन भवननिर्माणमें खर्च कराते हैं। इसीसे महापुरुषने

अपनी सारी आयुमें इच्छापूर्वक कोई घर नहीं बनवाया। एक-बार वे नगरमें जा रहे थे, वहाँ एक भक्त घर बनवाता था। उससे उन्होंने पूछा, "तुम क्या कर रहे हो?" उसने कहा, "हमारा घर गिर गया था, अतः उसे अच्छी तरह बनवाना चाहता हूँ।" तब महा-पुरुषने कहा, "अच्छी बात तो यही है कि अपने अविनाशी घरसे ही प्रेम किया जाय। तथा ऐसा भी कहा है कि मनुष्य यहाँ जो कुछ कर्म करता है और जो कुछ उसमें खर्च करता है उसे परलोक में उसका फल मिलता है। बहुत घरोंका बनवाना तो सर्वथा निष्फल है, ऐसे पुरुषको परलोकमें भी ताड़ना होती है, इसीसे महात्मा नूहने केवल फूँसकी कुटी बना ली थी। जब किसीने उन से कहा कि यदि आप ईंट या मिट्टीकी कुटी बनवा लें तो इसमें क्या दोष है? तब उन्होंने कहा कि जिसे अन्तमें मरना ही है उसे ऐसे घरसे क्या प्रयोजन है? इन महात्मा की एक सौ नौ वर्षकी आयु हुई थी, किन्तु ये फूँसकी कुटीमें ही रहे।

ऐसा भी कहा है कि जब यह पुरुष ऊँचा भवन बनवाता है तब देवता लोग कहते हैं कि अरे मूर्ख! तुझे तो एक दिन पृथ्वीमें समाना है, फिर आकाशकी ओर क्यों बढ़ा आ रहा है। एक संतने कहा है कि जो लोग सुन्दर महल बनवाकर मरते हैं उनका मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता, आश्चर्य तो उनपर आता है जो यह सब देखकर भी भय नहीं मानते और फिर वैसे ही भवन बनवाते हैं।

इसके अतिरिक्त मनुष्यको गृहसामग्रीकी भी आवश्यकता होती है। परन्तु उत्तम विरक्त तो वह है जो कुछ भी न रखे, जैसे महा-पुरुष ईसा पहले केवल कंघा और करवा रखते थे किन्तु जब उन्होंने एक पुरुषको देखा कि वह हाथोंसे ही केश और दाढ़ी साफ कर लेता है और हाथसे ही पानी पीता है तो उन्होंने कंघा और करवा भी फेंक दिये और बोले कि ये दोनों पदार्थ व्यर्थ ही मेरे साथ

थे। जिज्ञासुको यदि किसी पात्रकी विशेष आवश्यकता हो तो वह काठ या मिट्टीका पात्र रखे। जो पुरुष धातुका पात्र रखता है उसका वैराग्य नष्ट हो जाता है। इसीसे विचारवानोंने ऐसा यत्न किया है कि एक ही पात्रसे कितने ही कार्य कर लेते थे। कोई व्यक्ति एक संतके घरमें आया, वहाँ उसने कोई सामग्री न देखी। अतः उसने पूछा कि तुमने अपना घर ऐसा सूना क्यों कर रखा है? तब उन्हों ने कहा कि हमारा एक घर और है, हम सब सामग्री उसीमें इकट्ठी करते जाते हैं। तात्पर्य यह कि हम सारी सामग्री छोड़कर परलोक-मार्गका तोशा बनाते हैं। उस पुरुषने पुनः कहा, "जबतक इस संसारमें जीना है तबतक कुछ सामग्री तो अवश्य चाहिये।" वे बोले, "भगवान् कृपा करके हमें संसारमें नहीं रखेंगे।"

एक दिन महापुरुष अपनी पुत्रीके घर गये। उन्होंने उसके दरवाजे के परदे में चाँदीकी कुण्डी देखी। इससे उन्हें बड़ी ग्लानि हुई और वे वहाँसे चले आये, भीतर नहीं गये। उनकी पुत्रीने जब यह बात सुनी तब उसने दरवाजेका परदा और चाँदीकी कुण्डी किसी अर्थीको दे दी। यह बात महापुरुषने सुनी तो वे उसपर बहुत प्रसन्न हुए। आयशाजीने कहा है कि महापुरुष सर्वदा दोहरे वस्त्रपर सोते थे, एक दिन मैंने उसे चार तह करके बिछा दिया, सो दूसरे दिन प्रातःकाल ही उठकर उन्होंने कहा, "आज सारी रात मुझे घोर निद्रा रही, इसलिये फिर कभी चार तह करके मत बिछाना।' इसी तरह एक बार कहींसे बहुत धन आया तो उसे महापुरुषने एक ही दिनमें बाँट दिया। केवल छः रुपये शेष रह गये, इसलिये रातभर उन्हें बेचैनी रही, वे विश्राम नहीं कर सके। जब वे भी किसी अर्थीको दे दिये तब निश्चिन्त होकर सोये। हसन बसरी कहते हैं कि मैंने सत्तर वैराग्यवानों को देखा है, परवे सभी एक एक ही वस्त्र रखते थे और उसी वस्त्रको ओढ़कर पृथ्वी पर ही सो जाते थे।

इसके सिवा शरीरधारी पुरुषको धन और मानकी अपेक्षा भी अवश्य होती है । इस विषयमें मैंने तीसरी किरणमें विस्तारसे विवेचन करते हुए कहा है कि धन और मानकी अधिकता तो हलाहल विषके समान है । किन्तु यदि इन्हें केवल कार्यनिर्वाह के योग्य ही अंगीकार किया जाय तो वे अमृतरूप हो जाते हैं । जिस पदार्थसे धम मार्गमें सहायता मिले वह भी धर्मरूप ही कहलाता है, अतः जो पुरुष स्थूल पदार्थोंको केवल कार्यनिर्वाहके लिये अङ्गीकार करता है, भोगोंकी बहुलता नहीं चाहता, वह मुक्तस्वरूप ही है, क्यों कि उसका हृदय तो सब पदार्थोंसे विरक्त रहता है । इस के विपरीत जिसकी विशेष प्रीति मायाके साथ रहती है वह परलोकमें चला जाता है तो भी उसका हृदय मायाकी ओर ही खिंचा रहता है । इसलिये वह उसकी अधोगति ही कही जाती है । जिस पुरुषको यह संसार विष्ठाके समान जान पड़ता है, उसकी जब मृत्यु होने लगती है तो वह ऐसा समझता है कि अच्छा हुआ इस गन्दी जगहसे मेरा छुटकारा हो गया । जो व्यक्ति मायासे प्रेम रखता है उसकी दशा तो ऐसी है जैसे कोई पुरुष पराये घरकी जंजीर में अपने केश बाँध दें । जब घरका मालिक आता है और उसे बाहर निकालना चाहता है तो उसके बाल उखड़ने लगते हैं और सिरसे खून बहने लगता है, जिससे उसे अत्यन्त दुःख होता है । इसी प्रकार जब भोगी पुरुष इस संसारको त्यागता है तब उसका हृदय भी वासनाओंके कारण घायल हो जाता है। इसीसे एक महात्माने कहा है कि जैसे संसारी ज़ीव सम्पत्ति पाकर प्रसन्न होते हैं वैसे ही विचारवान् पुरुष आपत्ति आनेपर प्रसन्न होते हैं । परन्तु यह बड़ा भारी आश्चर्य है कि संसारी जीव उन्हें पागल समझते हैं तथा वे विचारवान् भी उन संसारी जीवोंको भूत प्रेत के समान जानते हैं। तात्पर्य यह कि विचारवान् पुरुष आपत्तिको इसलिये सुखरूप

मानते हैं कि दुःखोंके कारण ही मनुष्यका हृदय संसारसे विरक्त होता है और उसमें किसी भी स्थूल पदार्थकी आसक्ति नहीं रहती।

—:०:—

पाँचवीं किरण

संकल्प, निष्कामता और सचाई का निरूपण

बुद्धिमानों ने यह बात प्रत्यक्ष देखी है कि सारा संसार नाश की ओर बढ़ रहा है, उससे कोई विरला शुभकर्मी ही बचा है, सारे शुभकर्मी भी नाश ही की ओर बढ़े जा रहे हैं, उनमें कोई विरला विद्वान् ही बचा है; इसी तरह सारे विद्वान् भी नाश ही की ओर बढ़ रहे हैं, उनमें कोई निष्काम पुरुष ही बचा है। तात्पर्य यह कि निष्कामता के बिना तो सम्पूर्ण कर्म दुःखरूप ही हैं। किन्तु निष्कामता और सत्य कीप्राप्ति संकल्पकी शुद्धिके बिना नहीं हो सकती। फिर जो पुरुष संकल्प के रहस्यको ही नहीं जानता उसे निष्कामता कैसे प्राप्त हो सकती है। अतः अब मैं प्रथम विभाग में संकल्पके स्वरूप का, दूसरे विभागमें निष्कामता का और तीसरे विभागमें सचाई का वर्णन करता हूँ।

(प्रथम विभाग—संकल्प के स्वरूप का वर्णन)

सबसे पहले तो संकल्प की विशेषता को समझना चाहिये, क्योंकि सम्पूर्ण आचरणों का बीज तो संकल्प ही है। भगवान् भी जीव के संकल्प ही की ओर देखते हैं। महापुरुष कहते हैं कि भगवान् तुम्हारे धन, शरीर और कर्मों की ओर नहीं देखते, केवल हृदय की ही ओर देखते हैं, क्योंकि संकल्प का स्थान हृदय ही है और आचरणों का प्रेरक संकल्प है। ऐसा भी कहा है कि जैसा जिसका संकल्प होता है वैसा ही उसे फल प्राप्त होता है। तथा ऐसा भी कहते हैं कि जब यह मनुष्य शुभ कर्म करता है और

देवता उसे लिखने लगते हैं तो उन्हें आकाशवाणी होती है कि अमुक शुभ कर्म इसके खाते से अलग कर दो, क्योंकि वह कर्म इसने मेरे लिये नहीं किया और अमुक कर्म बिना किया होनेपर भी लिख लो, क्योंकि उसके लिये इसने दृढ संकल्प किया था। ऐसा भी कहा है कि कोई धनवान् तो विचारपूर्वक खर्च करते हैं और कोई पुरुष उन्हें देखकर ऐसा संकल्प करते हैं कि यदि हमारे पास धन हो तो हम भी इसी प्रकार खर्च करें। ऐसी स्थिति में संकल्प करने वाले को भी प्रथम पुरुष के समान ही उत्तम फलकी प्राप्ति होती है। इसके विपरीत कोई ऐसे बुद्धिहीन पुरुष भी होते हैं जो अपने धन को पापकर्मों में लगाते हैं। उन्हें देखकर जिन्हें यह संकल्प होता है कि यदि हमारे धन हो तो हम भी इसी प्रकार खर्च करें, उन्हें भी पूर्व पुरुष के समान ही पाप का फल भोगना होता है, क्योंकि उन दोनों का संकल्प तो समान ही होता है। कहते हैं, कोई भगवद्भक्त रेत की ढेरी पर बैठा था उस समय उस देश में दुर्भिक्ष था, इसलिये वह दयावश सोचने लगा कि यदि मेरे पास अनाज का ऐसा ही ढेर होता तो मैं सभी क्षुधापीड़ित पुरुषों को बाँट देता। उसी समय उसे आकाशवाणी हुई कि तुम्हारा दान सफल हुआ, मैं तुम्हारे संकल्प को ही स्वीकार किये लेता हूँ।

महापुरुष ने भी कहा है कि जिसके संकल्प और पुरुषार्थ माया के कार्यों में दृढ हो जाते हैं उसका हृदय सर्वदा अतृप्त रहता है। अन्तकाल में भी उसकी प्रीति माया के कार्यों में ही रहती है। तथा जिसके संकल्प और पुरुषार्थ भगवान् के मार्ग में दृढ़ होते हैं उसका हृदय सर्वदा तृप्त रहता है तथा वह अन्तकाल में भी विरक्त होकर संसार को त्यागता है। इसीसे सन्तजनों ने कहा है कि पहले संकल्प के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और फिर आचरण में प्रवृत्त होना चाहिये, क्योंकि जो पुरुष किसी से

कुछ उधार लेकर मनमें ऐसा संकल्प करे कि इसे फिर नहीं लौटाऊँगा वह निःसन्देह चोर है। एक जिज्ञासु ने कहा था कि मुझे ऐसी विद्या पढ़ाओ जिससे मैं कभी किसी शुभकर्म से वञ्चित न रहूँ। तब उन्होंने कहा कि जब किसी शुभकर्म का अवसर हो तब सब प्रकार उसी क्रिया में तत्पर रहे और जब कर्म करने का अवसर न हो तब शुभ संकल्प रखने की सावधानी रखे। ऐसा करनेपर किसी भी समय शुभकर्म के फल से वञ्चित नहीं रहेगा। एक और सन्त का भी कथन है कि परलोक में सब को उनके संकल्पों के अनुसार ही सुख-दुःख प्राप्त होंगे। एक महात्मा कहते हैं कि आत्मसुख की प्राप्ति शारीरिक व्यवहार से नहीं होती, वह तो शुद्ध संकल्प से ही प्राप्त होता है, क्योंकि जैसे आत्मसुख सूक्ष्म और अनन्त है उसी प्रकार शुद्ध संकल्प भी सूक्ष्म और अनन्त ही है।

याद रखो, सब प्रकार के आचरणों का मूल समझ, श्रद्धा और शक्ति है। जैसे यह मनुष्य जबतक किसी आहार को देखता नहीं है तबतक उसे प्राप्त भी नहीं कर सकता, देख लेनेपर भी जबतक उसमें श्रद्धा न हो तबतक उसे ग्रहण नहीं कर सकता और श्रद्धा भी हो जाय तो भी बिना हाथ और मुँह हिलाये उसे खा नहीं सकता। इस प्रकार सभी कर्मों की सिद्धि समझ, श्रद्धा और शक्ति के द्वारा ही हो सकती है। इनमें भी बल तो श्रद्धा के अधीन है, क्योंकि श्रद्धा ही बलको आचरण में प्रवृत्त करती है, किन्तु श्रद्धा समझ के अधीन नहीं है, क्योंकि यह पुरुष जितने पदार्थों को जानता या समझता है उन सभी में श्रद्धा नहीं करता। तथापि इसमें भी सन्देह नहीं कि बिना जाने या समझे श्रद्धा का कोई रूप भी प्रकट नहीं होता, क्योंकि प्रथम जिस पदार्थ को जाना ही न हो उसमें श्रद्धा भी कैसे होगी? इस दृष्टि से श्रद्धा को समझके अधीन कहा भी जा सकता है। इस प्रकार जब ये समझ

श्रद्धा और बल इकट्ठे हो जाते हैं तब इसीको दृढ संकल्प कहते हैं और ऐसे संकल्प से ही क्रिया की सिद्धि होती है। किन्तु जो संकल्प कर्म को प्रेरित करता है वह कभी तो केवल (अकेला) होता है और कभी मिश्रित (मिला हुआ)। इन्हें दृष्टान्तद्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं—यदि कोई पुरुष अकस्मात् सिंह को देखे तो उस का एकमात्र संकल्प भाग जाने का होता है। अथवा यदि कोई ऐश्वर्यवान पुरुष अपने घर आवे तो उसके सम्मान के लिये सहसा खड़े हो जाते हैं। ये केवल कोटि के संकल्प कहे जाते हैं। मिश्रित संकल्प तीन प्रकार का होता है—

१. जब दो संकल्प एक ही कार्य के सम्पादन में समर्थ हों। जैसे किसी पुरुष से उसका कोई निर्धन सम्बन्धी कुछ माँगे तो वह उसे अवश्य देता है, सो उसका यह देना उसकी निर्धनता के कारण भी हो सकता है और सम्बन्धी होने के कारण भी। इसलिये इसे मिश्रित संकल्प कहा जायगा।
२. जब दोनों संकल्प निर्बल हों, जैसे यदि सम्बन्धी निर्धन न होता तो भी उसे कुछ न देता और यदि निर्धन ही होता सम्बन्धी न होता तो भी उसे कुछ नहीं देता। किन्तु जब निर्धनता और सम्बन्ध दोनों इकट्ठे हो गये तब उसका मन देने को हुआ। इनमें प्रथम प्रकार का दृष्टान्त यह दिया जा सकता है कि जैसे दो बलवान् पुरुष किसी पत्थर को उठाने लगें और वे इतने बलवान् हों कि अकले भी उस पत्थर को उठा सकें तो दोनों मिलकर उसे सुगमता से उठा लेंगे। तथा दूसरे प्रकार का दृष्टान्त यह है कि वे दोनों इतने निर्बल हों कि अलग-अलग उसे न उठा सकें और दोनों मिलकर उठा लें।
३. जब मिलनेवाला एक पक्ष सबल हो और एक निर्बल किन्तु दोनों मिलकर किसी काम को सुगमता से कर लें।

जैसे कोई पुरुष रात्रि में खूब भजन करता हो और कोई दूसरा पुरुष उसे देखे तो उसके लिये भी भजन करना सुगम हो जाता है। जैसे कोई पुरुष अकेला भी उस पत्थर को उठा सकता हो तो उसके साथ यदि कोई निर्बल पुरुष भी हाथ लगा दे तो उसमें और भी सुगमता हो जायगी।

इस प्रकार मिश्रित संकल्प की ये तीन अवस्थाएँ हैं। सो, तुम संकल्प की केवलता और मिश्रता को पहचानो और आचरण के प्रेरक भी इन संकल्पों को ही जानो।

इससे आगे यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि महापुरुष ने ऐसा कहा है कि भक्तों का शुद्ध संकल्प उनके आचरण से भी बढ़कर है, क्योंकि यह बात तो स्पष्ट है कि शुद्ध श्रद्धा के बिना आचरण निष्फल है और शुद्ध श्रद्धा आचरण के बिना भी फलप्रद होती है। अतः महापुरुष के कथन का प्रयोजन यह है कि आचरण शरीर के द्वारा होता है और संकल्प का सम्बन्ध केवल हृदय से ही है। इसीसे उन्होंने आचरण की अपेक्षा संकल्प को श्रेष्ठ कहा है। इसके सिवा शारीरिक क्रिया के लिये भी हृदय के स्वभाव को ही बदलना होता है, किन्तु हृदय का संकल्प सुधारने के लिये इस बात की आवश्यकता नहीं होती कि शरीर के स्वभाव को बदलकर सीधा किया जाय। किन्तु जबतक संकल्प के अनुसार शरीर का सम्बन्ध नहीं होता तबतक क्रिया प्रकट नहीं होती। इसीसे केवल अल्पबुद्धि जीव ही ऐसा समझते हैं कि संकल्प को आचरण की अपेक्षा होती है। किन्तु यदि भली प्रकार विचार कर देखा जाय तो आचरण के लिये ही संकल्प को बदलने की आवश्यकता होती है। क्योंकि शुद्ध संकल्प से जीव का हृदय शुद्ध होता है और परलोक में भी इस जीव ही को तो जाना है, अतः वहाँ की उत्तम अथवा अधम गतियों का अधिकारी भी जीव ही होता है। और परलोक के सुख-दुःख में यद्यपि शरीर का सम्बन्ध

भी रहता है तो भी यह शरीर तो जीव के अधीन है। जैसे तीर्थ-यात्रा के मार्ग में घोड़ा भी अवश्य रहता है, परन्तु उसे तीर्थयात्रा का कोई फल नहीं मिलता। फल का अधिकारी तो मनुष्य ही होता है। अतः हृदय के स्वभाव को बदलना ही सब धर्मों का फल है, अर्थात् माया के पदार्थों की ओर से हृदय के मुख को मोड़ना और भगवान् की ओर उसे लगाना। यहाँ जो 'हृदय का मुख' कहा है वह श्रद्धा ही का दूसरा नाम है। अतः जिसकी श्रद्धा माया के पदार्थों में बँधी हुई है उसका मुख मायाही की ओर है। किन्तु जन्म होनेपर आरम्भ में तो इस जीव को माया ही की अभिलाषा अधिक होती है। फिर जिसके हृदय में भगवद्दर्शन की श्रद्धा उत्पन्न होती है, समझना चाहिये कि उसका मुख उलटकर भगवान् की ओर हो गया है।

इससे निश्चय होता है कि सम्पूर्ण कर्मोंका प्रयोजन हृदयके संकल्पको उलटना ही है। जिस प्रकार मस्तक टेकनेका प्रयोजन यह नहीं होता कि धरती पर सिर रखा जाय, उसका उद्देश्य भी यही होता है कि जीवका हृदय अभिमानकी ओरसे उलटकर दीनता ग्रहण करे, उसी प्रकार भगवान्‌को बड़ा कहनेका प्रयोजन भी जीभ हिलाना नहीं है, अपितु यही है कि मनुष्य अपना बड़प्पन छोड़कर भगवान्‌को बड़ा जाने और उनके अधीन हो। इसी प्रकार सम्पूर्ण शुभ कर्मोंका फल यही है कि जिज्ञासु अपनी वासनाको त्यागकर संतोंका आज्ञाकारी बने, क्योंकि सेवकको तो सब प्रकार अपना अपनत्व ही निवृत्त करना चाहिये। किन्तु इस मनुष्यका भगवान्ने ऐसा स्वभाव बनाया है कि जब इसके हृदयमें किसी कर्मकी श्रद्धा उत्पन्न हो और शरीरद्वारा आचरण भी वैसा ही करे तो वही स्वभाव इसके हृदयमें दृढ़ हो जाता है। जैसे यदि किसी पुरुषके मनमें किसी अनाथ बालकके प्रति दयाका भाव उत्पन्न हो और द्रवीभूत होकर उसपर हाथ फेरे,

तो वह दया मनमें दृढ़ और मूर्तिमती हो जाती है। इसी प्रकार जब इसका चित्त दीन हो और यह पृथ्वी पर मस्तक भी रखे तो इसकी वह दीनता दृढ़ हो जाती है।

अतः शुद्ध संकल्पका अर्थ है भलाईकी इच्छा करना। फिर शारीरिक आचरणके द्वारा वही संकल्प दृढ़ और परिपक्व हो जाता है। इससे निश्चय हुआ कि सम्पूर्ण शुभ गुणोंका बीज संकल्प है और आचरणका परिणाम उस संकल्पकी दृढ़ता है। इसीसे महापुरुष ने कहा है शारीरिक क्रियाकी अपेक्षा संकल्प श्रेष्ठ है, क्योंकि संकल्प हृदयमें दृढ़ होता है और शारीरिक क्रिया हृदयसे भिन्न है। अतः जब संकल्पके साथ मिलकर क्रियाका प्रवेश हृदयमें हो तब क्रिया भी सफल होती है। जो कर्म असावधान होकर किया जाता है वह निःसन्देह निष्फल होता है। किन्तु आचरण न होनेपर भी शुद्ध संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता। जैसे किसीको यदि उदरशूलकी पीड़ा हो तो उसे औषधिका सेवन करना चाहिये, जो उसके पेटमें पहुँचकर पीड़ाको निवृत्त कर दे। परन्तु यदि वह पेटके ऊपर ही उस औषधिका लेप करे कि इसी प्रकार यह उदरमें प्रवेश करके पीडाको शान्त कर देगी, तो इससे भी यद्यपि कुछ लाभ हो सकता है, परन्तु जो औषधि खायी जाती है उसका गुण भीतर पहुँचनेके कारण निःसन्देह बहुत अधिक होता है। इसी प्रकार शरीरका आचरण तो बाह्य लेपके समान है और हृदयका संकल्प औषधि खानेके सदृश है।

(संकल्पों के द्वारा बन्धन होने और न होने का विचार)

संतजनों के वचनोंमें ऐसी बात भी आयी है कि जब इस मनुष्य के हृदयमें मलिन संकल्प उठता है तो देवता उसे पापकी कोटिमें नहीं लिखते, किन्तु जब यह शरीरसे भी वही कर्म करता है तब वह एक पाप लिखा जाता है। और जब यह शुभ कर्मका केवल संकल्प ही करता है तब उसे भी एक पुण्य लिख लेते हैं, भले

ही उस शुभ कर्मका वह आचरण न करे। और यदि संकल्पके अनुसार उस पुण्यका आचरण भी किया जाय तो वह दस पुण्य लिखे जाते हैं। परन्तु इस बातको सुनकर कितने ही मनुष्य तो यही समझ बैठते हैं कि उनके मनमें जितने भी मलिन संकल्प उठते हैं उनसे उन्हें कोई दोष नहीं होता। किन्तु यह उनकी भूल है, क्योंकि शरीरका प्रेरक तो जीव ही है और वही पाप-पुण्यका अधिकारी भी होता है। इसीसे महापुरुषने कहा है कि तुम हृदयमें जैसा संकल्प रखते हो, वह गुप्त हो अथवा प्रकट, उसका फल तुम्हें अवश्य भोगना पड़ेगा। तथा ऐसा भी कहा है कि भगवान् मुँहसे निकली हुई बातकी ओर ध्यान नहीं देते, वे तो हृदयकी श्रद्धा ही देखते हैं। और यह बात भी स्पष्ट है कि अभिमान, ईर्ष्या, कपट, अहंकार और दम्भ आदि जितने भी मलिन स्वभाव हैं वे सभी इस जीवको बाँधनेवाले हैं और ये सब पाप मनके संकल्प से ही होते हैं। सो, ऐसे पापोंके रहते हुए मनुष्य बन्धनशून्य कैसे कहा जा सकता है?

अतः इस वचनका तात्पर्य यह है कि जीवके संकल्प चार प्रकारसे स्फुरित हुआ करते हैं। उनमें दो प्रकारके स्फुरण तो इसके प्रयत्नसे होते हैं और दो प्रकारके इसके अधीन नहीं है उन संकल्पोंसे इसे कोई दोष नहीं होता। किन्तु जिनका स्फुरण अधीन नहीं हैं। अतःजिनका स्फुरण इसके अधीन नहीं है उन संकल्पोंसे इसे कोई दोष नहीं होता किन्तु जिनका स्फुरण इसके प्रयत्नसे होता है वे अवश्य बन्धनके हेतु होते हैं। मान लो, कोई पुरुष मार्गमें जा रहा है, अचानक पीछेसे कोई खटका हुआ, इसपर तुरंत ही उसकी दृष्टि पीछेकी ओर जाती है और वह किसी स्त्रीको आती देखता है। यह स्फुरण बहुत तुच्छ है, इसके द्वारा उसे कोई पाप नहीं लगता, क्योंकि इस प्रकार दृष्टि जाना स्वाभाविक ही है। फिर वह दूसरी बार कुछ रुचिसे उसकी ओर देखता है। इससे भी उसे पाप नहीं

लगता, क्योंकि यह भी मनका स्वभाव है और जीव इसके अधीन है, इसलिये भगवान् उसे क्षमा कर देते हैं। किन्तु यदि वह निर्लज्ज होकर तीसरी बार भी उसके रूप और अंगोंको देखने लगे और उसी संकल्पको पकड़ बैठे, तो वह इसके बन्धनका कारण हो जाता है, क्योंकि वह यद्यपि इस प्रकार दृष्टि डालनेके दोषको समझता है, तो भी वैसा किये बिना नहीं रह सकता। तथा चौथा संकल्प वह है जिसमें वह उस पाप कर्मके दोषको भी भूल जाता है और उसके हृदयमें कामवासनाका संकल्प दृढ़ हो जाता है। यह संकल्प उसके पूर्ण बन्धनका कारण है। इस प्रकार इनमें पहले दो प्रकारके स्फुरण तो पराधीन और आकस्मिक हैं, इसलिये वे निर्दोष माने जाते हैं, किन्तु पिछले दो संकल्प अपने अधीन होनेके कारण बन्धन करनेवाले हैं।

अतः जिज्ञासुको चाहिये कि भगवान्का भय मानकर मनमें संकल्प न होने दे और हठ करके अपनेको नष्ट न करे, क्योंकि विचार और भगवान्की प्रार्थनाद्वारा धीरे-धीरे मनके स्वभावको निवृत्त करना ही अच्छा है। एक बार किसी भक्तने महापुरुषसे कहा था कि कामादि संकल्पोंके विक्षेपके कारण दुःखी होकर मैं अपनेको नपुंसक करना चाहता है। तब उन्होंने कहा कि नपुंसक करनेकी अपेक्षा तो व्रत और तपस्याद्वारा शरीरको क्षीण करना ही अच्छा है। फिर उस भक्तने कहा कि मेरा मन लोगोंके मिलने-जुलनेसे विक्षिप्त होता रहता है, इसलिये मैं किसी पहाड़की गुफामें रहना चाहता हूँ। वे बोले, "मेरे विचारसे तो एकान्तमें रहनेकी अपेक्षा सत्संगमें रहना अच्छा है।" इस सब कथनका प्रयोजन यह है कि जब तक मनुष्यके हृदयमें पापका संकल्प दृढ़ न हो तब तक मनके स्वाभाविक स्फुरणके कारण यह पापी नहीं होता। किन्तु जब वही संकल्प दृढ़ हो जाय अथवा उस पापका ही विचार करने लगे तब निःसन्देह पापी होता है। यदि भगवान्के भय, अपने

मान अथवा लोगोंके संकोचके कारण वह कर्म न कर सके तो भी पापसे छुटकारा नहीं मिलता तथा उसके लिये ताडना का भी अधिकारी होता है। ताडनाका अर्थ यह नहीं है कि इसके पापसे भगवान्‌को भय होता है, इसलिये वे इसे दण्ड देते हैं, क्योंकि प्रभु तो क्रोध और दण्ड देनेसे सर्वथा निर्लिप्त हैं। किन्तु जब इस मनुष्यके हृदयमें पापका संकल्प दृढ़ होता है तब यह स्वयं ही प्रभुसे विमुख हो जाता है। और वही विमुखता इस जीवके मन्दभाग्यका मूल है जैसा कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ, जब इस जीवकी श्रद्धा स्थूल पदार्थोंमें बँध जाती है तब हृदय की निर्मलता और भगवान्‌के दर्शनोंसे इसे आवरण हो जाता है। सो, भगवान्‌का प्रेम छोड़कर अन्य पदार्थोंमें आसक्त होना—यह धिक्कार और भगवान्‌के क्षोभका तात्पर्य है। यह मलिन स्वभाव इस जीवके मन ही में उत्पन्न होता है और सर्वदा इसके साथ रहता है। इसी प्रकार भला स्वभाव भी इसके मन ही से उपजता है। इसीसे संतजनोंने कहा है कि इस मनुष्यके शुभ कर्मोंसे ईश्वर को कोई प्रसन्नता भी नहीं होती और इसके पापोंके कारण क्रोध भी उत्पन्न नहीं होता। किन्तु जिज्ञासुको समझानेके लिये बुद्धिमानोंने कहा है कि भले कर्मोंसे भगवान् प्रसन्न होता है और पापियोंके ऊपर क्रोध करता है।

सो, जिसने इस भेद को अच्छी तरह समझा है उसे यह बात प्रत्यक्ष दिखायी देती है कि जब हृदय का संकल्प पापकर्मों में दृढ़ हो जाता है तब वह इसके हृदय को मलिन कर देता है। इस विषयमें महापुरुषका कथन है कि जब दो व्यक्ति क्रोधमें भरकर एक-दूसरे को मारना चाहते हैं और उनमें से यदि एक मारा जाय और एक बच रहे तो भी वे दोनों ही नरक में पड़ते हैं, क्योंकि जो पुरुष मर गया है उसका भी संकल्प तो मारने का ही था। अतः यदि उसका वश चलता तो वह भी दूसरे को मारता ही।

इस प्रकार इन सब वाक्यों और युक्तियों से संकल्पकी प्रबलता ही सिद्ध होती है। किन्तु जब इसके हृदय में पापका संकल्प उत्पन्न हो और भगवान्‌का भय मानकर यह उस कर्म को न करे तब देवता उसे भलाईकी कोटिमें ही लिखते हैं, क्योंकि वैसा संकल्प उठना तो मनका सहज स्वभाव है और उसका त्याग यत्न एवं पुरुषार्थसे होता है। अतः वह पुरुषार्थ ही हृदयको शुद्ध करता है। तथा भलाई लिखने का भी यही तात्पर्य है। किन्तु यदि यह पुरुष भगवान्‌का भय न मानकर केवल मान या असमर्थताके कारण उस पाप कर्मको नहीं करता तो उसका कोई शुभ परिणाम नहीं होता। और यह पापके संकल्पमें ही बँधा रहता है। इसीसे उस अवस्थामें इसके हृदयका अन्धकार भी दूर नहीं होता।

(संकल्प के परिवर्तनद्वारा आचरण का परिवर्तन)

सब कर्म सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारके कहे गये हैं। महापुरुषका कथन है कि मनुष्यके संकल्पके अनुसार उसके आचरण में भी परिवर्तन हो जाता है। किन्तु कितने ही पुरुषों ने इस वाक्यका यह अर्थ समझा है कि यदि शुभ संकल्प रखकर पापकर्म भी किया जाय तो वह भी पुण्यरूप हो जाता है। ऐसा समझना मूर्खता ही है, क्योंकि संकल्पका अनुमान कर लेनेसे ही तामसी धर्मका दोष निवृत्त नहीं हो सकता। वह कर्म तो उल्टा हृदयको मलिन ही करता है। जैसे कोई पुरुष किसीकी प्रसन्नताके लिये उसके शत्रुकी निन्दा करे, अथवा अशुद्ध आजीविकाके द्वारा धनोपार्जन कर धर्मशालादि बनवाना चाहे और मनमें ऐसा विचार करले कि मेरा उद्देश्य तो शुद्ध ही है, इस बातको भूल जाय कि शुद्ध उद्देश्यका अनुमान कर लेनेपर भी अपकर्म करना तो अत्यन्त निन्दनीय है। तथा ऐसे कर्मोंमें अनेक प्रकारके उपद्रवों की भी सम्भावना रहती है—सो ऐसा मनुष्य महामूर्ख ही कहा जाता है। इसीसे सन्तजनोंने कहा है कि पहले तो सब प्रकारकी विद्याओंका

अध्ययन करना आवश्यक है, क्योंकि बहुत लोगोंका धर्म तो विद्या न होनेके कारण ही नष्ट होता है। इस विषय में एक सन्तका कथन है कि मूर्खता के समान और कोई पाप नहीं है। इसलिये जो मनुष्य स्वयं तो जानता न हो और दूसरे किसी बुद्धिमान् पुरुषसे पूछकर अपनी मूर्खता को निवृत्त न करता हो तो उसका वह अज्ञान ही उसके लिये आवरण बन जाता है। फिर उसमें भलाई-बुराईकी पहचान भी नहीं रहती। इसी प्रकार जो पुरुष धन और मानकी कामना रखकर विद्या पढ़ना चाहे, उसे तो पढ़ाना भी महापाप है। इसपर यदि पढ़ानेवाला कहे कि मैं तो उसे विद्या पढ़ाने में ही सहायता देता हूँ, मेरा संकल्प तो इस विषयमें शुद्ध ही है, उसकी मलिन कामनासे तो मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, तो ऐसा सोचना भी बड़ी मूर्खताकी बात है, क्योंकि जिस प्रकार कोई पुरुष चोरके हाथ में तलवार दे दे और फिर समझे कि मैंने तो उदारता ही की है, अतः मुझे दान का फल प्राप्त होगा—तो यह भी बुद्धिकी हीनता ही कही जायगी, इसीसे संतजनोंने भी जिस विद्यार्थीका संकल्प दूषित देखा उसे पढ़ाया ही नहीं। तात्पर्य यह कि उद्देश्य शुभ होने से भी कोई अशुभ कर्म शुभ नहीं हो सकता। भलाई तो उसी कर्म को कह सकते हैं जो सन्तजनों की आज्ञाके अनुसार हो।

इसके सिवा दूसरा जो सात्विक कर्म कहा है उसके भी दो भेद हैं—प्रथम भेद तो यह है कि संकल्पकी शुद्धता होनेपर सात्त्विकी कर्मका मूल दृढ़ होता है और दूसरा भेद यह कि जिसका शुद्ध संकल्प उत्तरोत्तर बढ़ता जाय उसका एक ही कर्म दस गुनी भलाई का कारण हो जाता है, जैसे कोई पुरुष शुभ संकल्पसे किसी पवित्र स्थानमें जाय तो उसके संकल्पकी शुद्धता बढ़नेपर निम्नलिखित क्रमसे अनेकों भलाईयों का विकास होगा—

१. पवित्र स्थान में जाना—यह पहली भलाई है।

२. वहाँ जाकर जब भजनका एक नियम पूरा कर लेता है तो

दूसरे नियमकी रुचि उत्पन्न होती है। यह भजन की रुचि भी भजन ही है।

३. ऐसे स्थानमें जाकर यदि समस्त इन्द्रियोंको रोकता है तो यह भी बड़ा उत्तम व्रत है।
४. वहाँ सब प्रकारके कार्यसम्बन्धी संकल्पोंका संकोच होता है और चित्तका संकोच होने से भजन में तत्पर रहता है।
५. कुसंगी पुरुषोंसे मिलना-जुलना छूट जाता है।
६. इसके उपदेशसे दूसरे लोग भी पापकर्मों से दूर रहते हैं और यह उन्हें कल्याण का मार्ग दिखाता है।
७. जब कोई भगवत्प्रेमी मिलता है तो उससे इसकी मित्रता हो जाती है।
८. उस पवित्र स्थानमें बैठनेसे ही भगवानका भय उत्पन्न होता है, जिससे कि फिर इसे किसी पाप कर्म का संकल्प ही नहीं होता।

इस प्रकार जब जिज्ञासु का संकल्प किसी शुभ कर्म में विधिपूर्वक दृढ़ होता है तब इसके सभी शुभ कर्म अधिकाधिक बढ़ने लगते हैं।

तीसरे कर्म राजसी कहे गये थे। वे सब शरीरके व्यवहार ही हैं। अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि शारीरिक व्यवहार भी पशुके समान विवेकशून्य होकर न करे तथा भलाई को किसी भी समय न त्यागे। शारीरिक क्रियामें भूलकर शुभ संकल्पको भूल बैठना भी बड़ी भारी हानि है; क्योंकि परलोकमें तो सभी कर्मों का लेखा रहेगा तथा व्यवहारमें जिसका संकल्प अशुद्ध रहेगा उसे दण्ड भोगना होगा एवं जिसका संकल्प शुद्ध होगा उसे मुक्ति प्राप्त होगी। तथा जिनका संकल्प न शुद्ध है न अशुद्ध उनकी आयु तो व्यर्थ ही व्यतीत होगी। उन्हें इस मनुष्यजन्ममें परमपद तो प्राप्त हो नहीं सकेगा, वे तो भगवान्के आदेशका उल्लंघन करनेवाले ही

होंगे। प्रभु कहते हैं कि यह आयुरूप प्रवाह निरन्तर चला जा रहा है। मैंने तुम्हें यह अवसर इसी लिये दिया है कि इस नाशवान् समयमें तुम शुद्ध संकल्पके द्वारा अविनाशी पद प्राप्त कर लो। इसी प्रकार महापुरुष भी कहते हैं कि जब यह पुरुष नेत्रोंमें अञ्जन डालता है, मिट्टी से हाथ धोता है अथवा हाथ बढ़ाकर किसीको वस्त्र देता है, तो परलोकमें इन सभी कर्मोंका हिसाब रहेगा और वहाँ पूछा जायगा कि तुमने अमुक कर्म किस उद्देश्य से किया।

इसीसे संतजनोंने कहा है कि पहले तो सबको संकल्प सम्बन्धिनी विद्या ही पढ़नी चाहिये। व्यवहारिक कर्मोंमें जो संकल्पको शुद्ध रखनेकी बात कही गयी है इस विद्याका भी कोई अन्त नहीं है। जैसे वस्त्रोंमें सुगन्ध लगाना भी कोई पाप नहीं है, किन्तु इसके साथ अपनेको बड़ा जतानेका भाव नहीं होना चाहिये और न स्त्री आदिकों के चित्तोंको चंचल करनेका उद्देश्य होना चाहिये। प्रत्युत अपने चित्तमें यह संकल्प रखे कि यदि किसीको सुगन्ध पहुँचेगी तो उसका चित्त प्रसन्न होगा। इसी प्रकार अपने शरीरके मैलको भी इसीलिये धोए कि मुझे देखकर किसीके चित्तमें ग्लानि न हो इस प्रकार जिसका चित्त शुद्ध होता है वह सब प्रकारके कर्मों में शुद्ध संकल्प की ही वृद्धि करता है। अतः उसके आहार, व्यवहार, लोगों के साथ मिलना-जुलना और सभी कार्य कल्याणके ही लिये होते हैं, क्योंकि जिसका संकल्प शुद्ध होता है उसका आचरण कभी भलाईसे रहित नहीं होता। कहते हैं, एक बार सुफयान सन्तने उल्टा जामा पहन लिया था। फिर जब वे उसे सीधा करने लगे तब चित्तमें विचारा कि यह वस्त्र तो मैंने शीतनिवारणके लिये पहना था, इसे सीधा क्यों करूँ? इसी प्रकार एक संत किसीके घरमें मजदूरी करते थे, तब भोजनके समय कुछ लोग उनके घर आये। किन्तु संतने उनसे प्रसाद पानेके लिये नहीं पूछा। जब पूरा भोजन कर चुके तो बोले, "मैंने आप लोगोंका भोजनके द्वारा

इस लिये सत्कार नहीं किया कि यदि मैं तृप्त होकर भोजन न करता तो मजदूरी नहीं कर सकता था और इस प्रकार मैं अपने स्वामीका ऋणी रहता। तात्पर्य यह कि जिज्ञासुजनोंने खान-पान आदि व्यवहारोंमें भी ऐसा शुद्ध संकल्प रखा था कि उसके कारण उन्हें बड़े उत्तम फल प्राप्त हुए थे। उन्होंने कभी असावधानी का व्यवहार नहीं किया।

(शुद्धसंकल्प अपने पुरुषार्थ से नहीं उपजता)

जब यह मनुष्य संकल्पकी विशेषता सुनता है तब चित्तमें ऐसा अनुमान कर लेता है कि मैं भी भगवानके भजनके लिये ही भोजन करता हूँ तथा जीवोंके कल्याणके लिये भगवच्चर्चा करता हूँ। इसलिये मेरा संकल्प शुद्ध है। किन्तु विचार किया जाय तो इसका संकल्प केवल मनोमात्र ही होता है, क्योंकि वास्तव में तो दृढ़ अभिलाषा और भगवदीय प्रेरणाका नाम ही संकल्प है। सो जब यह अच्छी तरहसे जीवके हृदयमें उत्पन्न हो जाती है तब प्रबल होकर उसे आचरणमें प्रवृत्त कर देती है। जैसे किसी मनुष्य को राजाका सिपाही बलात्कार से खींचकर ले जाता है उसी प्रकार यह संकल्प बलपूर्वक मनुष्यको आचरण में तत्पर कर देता है। सो, ऐसी प्रबलता तभी उत्पन्न होती है जब पहले किसी कार्यमें इसकी प्रबल प्रीति हो। जबतक ऐसी प्रबल प्रीति या खींच नहीं होती तबतक मनुष्यका कहना-सुनना व्यर्थ ही होता है। जैसे कोई पुरुष भरपेट भोजन करे और कहे कि मेरा संकल्प तो स्वल्प आहारका ही था, तो उसका यह कथन व्यर्थ ही होगा। अतः जिस पुरुषको धर्माचरणमें अपनी निर्बलता प्रतीत हो उसे संतजनोंके वचनोंका विचार करके शुभ कर्मोंकी विशेषता समझनी चाहिये और फिर भगवानकी प्रसन्नता के लिये सात्त्विक कर्मोंमें दृढ़ होना चाहिये। इसीका नाम शुद्ध संकल्प है।

किन्तु जिसका मन भोगों में बँधा हुआ है ऐसे पुरुषके मनमें

तो परलोकमार्गका संकल्प होना ही कठिन है। वह यदि मुँह से यह कहे भी कि मैं शरीर का व्यवहार शुद्ध संकल्पपूर्वक करता हूँ तो भी उसकी यह बात कथनमात्र ही होती। जैसे कोई भूखा आदमी कहे कि मैं भूख निवृत्त करनेके लिये ही भोजन करता हूँ तो ऐसा संकल्प करना व्यर्थ ही है, क्योंकि भोजन तो सभी लोग भूख निवृत्त करनेके लिये ही करते हैं। अतः ऐसी बात कहने में उसका प्रयत्न क्या हुआ? तात्पर्य यह कि शुद्ध संकल्प इस जीव के प्रयत्नसे उत्पन्न नहीं होता, वह तो भगवान् की प्रेरणासे ही होता है, जो तुम्हें कर्त्तव्यपालनमें तत्पर करती है। हाँ, उस कर्त्तव्यका सम्बन्ध तुम्हारे पुरुषार्थ के साथ अवश्य रहता है, क्योंकि बिना पुरुषार्थके किसी कर्त्तव्यका पालन नहीं हो सकता। इससे सिद्ध होता है, कि श्रद्धाकी उत्पत्ति तुम्हारे अधीन नहीं हैं, भगवान् जैसा चाहते हैं वैसी ही श्रद्धा जीवके हृदयमें उत्पन्न कर देते हैं। श्रद्धाकी उत्पत्तिका मार्ग है प्रीति, क्योंकि जब किसी कार्यमें तुम्हारी दृढ़ प्रीति होती है तब निश्चय ही उसकी प्राप्तिके लिये तुम्हें श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और तुम्हें सब प्रकार से वही पदार्थ प्रिय लगने लगता है सो जन मनुष्योंने इस रहस्यको भली प्रकार समझा है उन्होंने जब अपने हृदयमें शुद्ध संकल्पका अभाव देखा तब वह कर्म किया ही नहीं, क्योंकि वह कर्म भले ही शुभ हो तथापि शुद्ध संकल्प के बिना वह फलप्रद नहीं हो सकता। इसीसे एक सन्त कभी तो भगवच्चर्चा करते थे और कभी मौन रहते थे। यदि उन से कोई प्रश्न करता तो कहते थे कि जब मेरे हृदयमें शुद्ध संकल्प होगा तब मैं तुम्हें इसका उत्तर दूँगा। एक और सन्तने भी कहा है कि मैं अमुक रोगी से पूछनेके लिये जाना चाहता हूँ और इस बातको एक मास व्यतीत हो गया है किन्तु अभी मुझे अपने चित्त में शुद्ध संकल्प नहीं जान पड़ता, इसलिये मैं वहाँ नहीं जाता।

तात्पर्य यह है कि जब तक अपने धर्ममार्ग में इसकी प्रीति

और प्रतीति दृढ़ न हो तब तक शुद्ध संकल्प उत्पन्न ही नहीं होता, भले ही वह कुछ शुभ कर्म भी करता रहे। अतः बुद्धिमान् पुरुष परलोक के दुःखों को विचारकर प्रभु का स्मरण करता है और भगवान् के आगे प्रार्थना करने लगता है। तब अकस्मात् प्रभु की कृपा से उसके चित्त में शुद्ध संकल्प उत्पन्न हो जाता है और फिर वही दृढ़ भी हो जाता है। ऐसा होनेपर उसके लिये उसका आचरण भी सुगम हो जाता है। इस प्रकार जो पुरुष संकल्प के रहस्य को भली प्रकार समझता है उसे यह बात स्पष्ट भासने लगती है कि शुद्ध संकल्प के बिना जागने अथवा भजन करने की अपेक्षा तो सो रहना अच्छा है। और यदि सोने के समय ऐसा संकल्प हो कि प्रातःकाल निद्रा और आलस्य से छूटनेपर भजन करूँगा तो जाग्रत् की अपेक्षा यह अच्छा होगा। इसी प्रकार जब भजन की अधिकता से चित्त थक जाय तब एक-दो घड़ी उसे भगवच्चर्चा में लगावे। किन्तु उस समय भी संकल्प यही रखे कि जब हृदय का श्रम निवृत्त हो जायगा तब स्वस्थचित्त होकर भजन में संलग्न रहूँगा। इस विषय में एक संत का कथन है कि जब किसी क्रिया में चित्त को यत्नपूर्वक रोक दिया जाता है तब वह अवश्य ही श्रमित होकर मूर्छित हो जाता है। अतः उस क्रिया को त्यागकर चित्त का श्रम दूर करना और फिर उसी क्रिया में उसे तत्पर कर देना ऐसा है जैसे कोई वैद्य पहले किसी रोगी को पौष्टिक आहार दे कि जब इसके शरीर में बल होगा तो यह औषध को अच्छी तरह पचा सकेगा। अथवा जैसे युद्ध में कोई शूरवीर अपने शत्रु के आगे से भाग चले और जब शत्रु उसके समीप पहुँचे तो उसे अकस्मात् मार डाले। इसी प्रकार धर्ममार्ग में जिज्ञासुजन सर्वदा अपने मनके साथ युद्ध करते रहते हैं और इसी प्रकार के दाँव-पेंचों से उसे अपने अधीन कर लेते हैं। इस भेद को यद्यपि स्थूल विद्या पढ़नेवाले पण्डित नहीं जानते, तथापि ज्ञानी सज्जन इसे

अच्छी तरह समझते हैं।

इस प्रकार जब तुम यह बात समझ गये कि संकल्प ही आचरण का प्रेरक है तो यह बात भी समझ लो कि किसी पुरुष का आचरण तो नरकों के भय से होता है और कोई स्वर्ग की आशासे शुभ कर्म करते हैं। इनमें जो पुरुष स्वर्ग के लिये शुभ कर्म करता है वह भी इन्द्रियों का गुलाम है। अर्थात् वह भी इन्द्रियादि के भोगों को ही चाहता है। और जो पुरुष नरकों के भय से जप-तप में लगता है वह भी एक बिगड़े हुए गुलाम के समान ही है, जो बिना मार खाये अपने स्वामी की सेवा में नहीं लगता। ये दोनों ही पुरुष भगवान् से विमुख हैं। भगवान् को तो वे ही पुरुष प्रिय हैं जिनका आचरण केवल भगवान् की प्रसन्नता के लिये ही होता है और जो नरक या स्वर्ग किसी की भी अपेक्षा नहीं रखते। उसी को निष्काम भक्त भी कह सकते हैं। जिस प्रकार कोई प्रेमी पुरुष यदि अपने प्रेमास्पद के साथ प्रीति करता है तो उसके साथ सोना-चाँदी आदि किसी वस्तु की कामना नहीं रखता। जिसे सोने-चाँदी का लोभ हो उसे तो प्रेमी नहीं कह सकते, क्योंकि यदि भली प्रकार विचार किया जाय तो उसका प्रेमास्पद तो सोना-चाँदी ही होता है। इसी प्रकार जिसके चित्त में भगवान् के दर्शन और स्वरूप की विशेष प्रीति नहीं होती उसके चित्त में ऐसा निष्काम सङ्कल्प कभी नहीं होता, और जिसकी प्रीति भगवान् के स्वरूप में ही होती है उसका चित्त सर्वदा प्रभु के दर्शन में ही लीन रहता है और विचाररूप नेत्र के द्वारा वह सदैव भगवान् को ही देखता है। वह शरीर के द्वारा भी इसीलिये आचरण करता है कि यह मेरे प्यारे की आज्ञा है, इसलिये मुझे अवश्य करना चाहिये, क्योंकि जैसे चित्त को अन्य पदार्थों में लगाना उचित नहीं है वैसे ही शरीर को भी अपने प्रियतम की सेवा में ही लगाना चाहिये। ऐसा सोचकर प्रेमी पुरुष चित्त को यथाशक्ति प्रभु के दर्शनों में ही स्थिर

करता है और एकाग्र होकर उन्हीं को देखता है । वह पापकर्मों को भी इसीलिये त्यागता है कि इनके कारण मुझे प्रियतम के दर्शन में व्यवधान और विक्षेप होंगे। सो, जिसके चित्त में ऐसी दृढ़ बुद्धि होती है । उसी को ज्ञानीजन यथार्थ बुद्धिवाला कहते हैं। कहते हैं, एक बार किसी भक्त को आकाशवाणी हुई थी कि और सब भक्त तो मुझसे अन्यान्य वस्तुएँ माँगते हैं, किन्तु बायजीद मुझसे मुझ ही को माँगता है । तथा शिवली संत ने भी कहा है कि एक बार मेरे मुँह से यह निकला था कि स्वर्ग के सुख से वञ्चित रहना बड़ी हानि है । तब भगवान् ने मुझे डपटते हुए कहा कि तू मेरे दर्शनों से वञ्चित रहने को बड़ी हानि क्यों नहीं कहता ? स्वर्ग की ओर अपना हृदय क्यों लगाता है ?

(द्वितीय विभाग—निष्कामता की स्तुति)

भगवान् ने कहा है कि मैंने तुम्हें निष्काम भजन करने की ही आज्ञा दी है और ऐसा भी कहा है कि जिस पुरुष को मैं अपना प्रिय बनाना चाहता हूँ उसके हृदय में निष्काम भाव को दृढ़ कर देता हूँ । महापुरुष ने भी अपने एक प्रेमी से कहा था कि यदि तुम निष्काम कर्म करो तो तुम्हारा तुच्छ कर्म भी महान् हो जायगा । दम्भ के द्वारा निष्कामता नष्ट हो जाती है, इसी से मैंने उसे निन्दनीय कहा है । वास्तव में दम्भ की निन्दा निष्कामता की स्तुति ही है। इसी से एक संत अपने शरीर में चाबुक मारकर कहा करते थे कि अरे मन ! तू निष्काम हो, तभी मुक्ति प्राप्त करेगा । एक और संत ने कहा है कि वह पुरुष धन्य है जिसकी सारी आयु में एक भी निष्काम संकल्प स्फुरित हुआ है, जिसमें कि उसने कोई भी इच्छा नहीं रखी । सन्त अयूब ने कहा है कि संकल्प के उत्पन्न होने की अपेक्षा भी उसे निष्काम रखना अधिक कठिन है । कहते हैं, एक भक्त ने तीर्थयात्रा करते हुए मार्ग में एक पात्र मोल लिया और सोचा कि इसके द्वारा मैं मार्ग में अपना

नित्य कर्म भी कर लूँगा और आगे जाकर इसे बेच लूँगा। ऐसा करने से मुझे कुछ लाभ भी हो जायगा। तब रात्रि के समय स्वप्न में उसे दो देवता दिखायी दिये। वे इस प्रकार यात्रियों के नाम लिखने लगे कि अमुक व्यक्ति तमाशा देखने के लिये आया है और अमुक दम्भ के लिये आया है—इत्यादि। उस भक्त की ओर देखकर वे बोले कि यह सौदागरी के लिये आया है। तब उसने कहा, "आप लोग अच्छी तरह जाँच करलें, मेरे पास तो सौदागरी का कुछ भी समान नहीं है। मैं भगवान् की शपथ करके कहता हूँ कि मेरा संकल्प तो सर्वथा निष्काम है।" इस पर देवताओं ने कहा, "तुमने यह पात्र तो लाभ के ही लिये लिया है।" वह बोला, "मेरा संकल्प तो व्यापार करने का था नहीं, मैंने तो इसे अकस्मात् ही ले लिया था।" यह बात सुनकर उनमें से एक देवता ने दूसरे से कहा कि इसके विषय में यह लिखो कि यह घर से तो तीर्थयात्रा का संकल्प ही लेकर चला था, किन्तु मार्ग में इसने पात्र भी खरीद लिया है। अब आगे जैसी प्रभु की आज्ञा होगी वैसा ही किया जायगा।

इसीसे सन्तजनोंने कहा है कि एक निष्काम संकल्प होनेपर भी अविनाशी सुखकी प्राप्ति हो सकती है। किन्तु निष्काम तो एक घड़ी भी रहना कठिन है। तथा ऐसा भी कहा है कि विद्या बीजके समान है, और आचरण उसकी खेती है और निष्कामता जलके सदृश है। इससे मुक्तिरूपी फलकी प्राप्ति होती है। इसी प्रसंगकी एक और भी गाथा है। एक नगरमें किसी भक्तने सुना कि वहाँ लोग अमुक वृक्षको परमेश्वर मानकर पूजते हैं। तब उसने विचार किया कि ऐसे वृक्षको तो काट डालना ही अच्छा है। किन्तु जब वह कुल्हाड़ा लेकर चला तो मार्गमें उसे कलियुग मिला। वह कहने लगा कि तुम भगवान्‌के भजनमें लगे रहो, वृक्ष काटनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ? उस प्रेमीने कहा कि इस वृक्षको

काटना ही मेरा भजन है। इसपर कलियुगने कहा कि मैं तो तुम्हें आगे जाने नहीं दूँगा। ऐसा कहकर वे दोनों आपसमें भिड़ गये। बस, उस भक्तने कलियुगको पछाड़ दिया। तब कलियुगने कहा कि मेरी एक बात तुम और भी सुनो। प्रभुने तुम्हें वृक्ष काटनेकी आज्ञा तो की नहीं है। वे यदि इस वृक्षको काटना चाहते तो किसी महापुरुषको वैसा आदेश ही दे देते। अतः तुम क्यों ऐसे व्यर्थ संकल्पमें फँस गये हो ? इस पर भी उस भक्तने कहा कि मैं तो निःसन्देह इस वृक्षको काटूँगा। ऐसा कहनेपर वे दोनों फिर आपस में लड़ने लगे, किन्तु फिर भी उस भक्तने ही कलियुगको गिरा दिया। तब कलियुगने कहा, "तुम मेरी एक बात और सुन लो, फिर तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा ही करना। यदि तुम इस वृक्षको न काटो तो तुम्हें नित्यप्रति प्रातःकाल ही पाँच रुपये मिला करेंगे। उनसे तुम्हारा निर्वाह बड़े आनन्दसे हो जायगा और तुम भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये भी कुछ दे सकोगे। यह बात सुनकर उस प्रेमीने विचार किया कि इसका यह प्रस्ताव भी तो बहुत अच्छा है। फिर जब वह घर पहुँचा तो उसे पाँच रुपये मिले। किन्तु दूसरे दिन उसे कुछ भी न मिला। अतः वह क्रोधित होकर वृक्षको काटनेके उद्देश्यसे चला। मार्गमें कलियुग फिर आ गया और उससे पूछा, "अब आप कहाँ चल दिये, मैं तो आप को जाने नहीं दूँगा।" ऐसा कहकर वे फिर आपसमें लड़ने लगे और इस बार कलियुगने उस भक्तको पछाड़ दिया। तब भक्तने आश्चर्यचकित होकर कहा कि पहले तो मैं ही तुम्हारी अपेक्षा प्रबल था, अब तुमने मुझे कैसे गिरा दिया ? वह बोला, "पहले तुम्हारा संकल्प निष्काम था, इसलिये तुम प्रबल थे। किन्तु अब मायाके लिये तुम्हें क्रोध आ गया है। इसीसे मैंने तुम्हें जीत लिया और तुम्हारा बल क्षीण होगया।"

(निष्कामताका स्वरूप)

जब इस पुरुषका संकल्प केवल शुद्ध होता है तब उसे निष्काम कहते हैं और जब वह मिश्रित होता है तब उसे सकाम कहा जाता है। मिश्रित संकल्पके लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है जैसे कोई पुरुष संयमके उद्देश्यसे व्रत रखे और साथ ही उसके चित्तमें ऐसा कोई विचार भी रहे कि अल्पाहार करनेसे मेरा शरीर स्वस्थ रहेगा, रसोई बनानेके झंझटसे छुटकारा मिल जायगा अथवा थोड़ी जीविकासे ही निर्वाह हो जायगा। इसी प्रकार जैसे दासको मुक्त कर देनेका भी महान् पुण्य है, किन्तु इसके साथ ही जो ऐसा संकल्प भी रखे कि इसे स्वतन्त्र कर देनेपर मुझे भी इसके बुरे स्वभावसे छुटकारा मिल जायगा तो यह भी मिश्रित संकल्प कहा जायगा। तथा जैसे कोई पुरुष रात्रिमें जागकर भजन करता रहे और साथ ही यह संकल्प भी रखे कि रातको जगनेसे मेरे धनको चोरका भय नहीं रहेगा। एवं जैसे कोई पुण्योपार्जनके लिये तीर्थोंमें जाय और यह भी विचार रखे कि विदेशोंमें पर्यटन करनेसे मेरा शरीर नीरोग रहेगा, इसी भावसे अनेकों नगर देख लिये जायेंगे अथवा कुछ दिनोंके लिये गृहस्थीके झंझटोंसे छूट जाऊँगा इत्यादि। अथवा जैसे कोई जीविका की सुविधाके लिये विद्याध्ययन करे और ऐसा भी कोई संकल्प रखे कि इससे मेरे धनकी भी रक्षा हो जायगी, संसारमें मेरा आदर होगा अथवा लोगोंके साथ कथा-वार्ता करनेमें भी समर्थ रहूँगा। इसी प्रकार जैसे कोई इसी उद्देश्यसे लेखक बने कि मेरे अक्षर सुन्दर हो जायँगे, इसी उद्देश्यसे स्नानादि क्रिया करे कि इससे मेरा शरीर शुद्ध होगा, इस कामनासे दान दे कि इसके कारण मैं याचकों की निन्दासे छुटकारा पा लूँगा, इस उद्देश्यसे रोगीको देखने जाय कि कभी वह भी मुझे देखने के लिये आवेगा अथवा संसारमें

मेरी भलमनसाहत प्रसिद्ध होगी। सो, इन सभी कार्योंमें दम्भ मिला हुआ है। और मैं दम्भके प्रकरणमें विस्तारपूर्वक यह बता चुका हूँ कि जिस क्रियामें अल्प अथवा अधिक दम्भ मिला हुआ है वह निष्काम नहीं कही जा सकती। निष्कामताका स्वरूप तो यह है कि उसमें मनकी वासना बिलकुल न मिले और वह केवल श्री भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही हो। एक बार किसी भगवद्भक्तने महापुरुषसे पूछा था कि निष्कामता का स्वरूप क्या है? तब उन्होंने कहा कि एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही अपना स्वामी जानकर उनकी आज्ञामें स्थित रहना ही निष्कामता है।

इसी प्रकार अनेकों सन्तजनोंका कथन है कि निष्कामताके समान कोई भी आचरण कठिन और दुर्लभ नहीं है, क्योंकि अविद्या-ग्रस्त जीवके हृदयमें निष्कामताका उत्पन्न होना ऐसा ही है जैसे विष्ठा औररुधिरके पुतलेसे दूध निकलना। तात्पर्य यहकि जिसप्रकार विष्ठा और रुधिरके पुतले इस शरीरसे केवल भगवान्‌की इच्छासे ही दूध उत्पन्न होता है उसी प्रकार केवल प्रभुकी इच्छासे ही जीव में निष्कामता आ सकती है। भगवान्‌के सिवा और किसी जीवकी ऐसी शक्ति नहीं है जो इस शरीरसे दूध उत्पन्न कर सके। इस विषयमें प्रभुका भी कथन है कि मैंने जीवोंका पालन-पोषण करनेके लिये ही विष्ठा और रुधिरमें दूध उत्पन्न किया है। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि मायाके सम्पूर्ण पदार्थोंसे अपने चित्तको विरक्त करे और सब प्रकार श्री भगवान्‌के प्रेम ही को बढ़ाये। तब स्वभाव से ही इसके सब काम अपने प्रियतमकी प्रसन्नताके लिये होंगे। जिस पुरुषकी ऐसी स्थिति होती है उसके आहार-व्यवहार और मलत्यागादि भी भगवान्‌के लिये ही होते हैं। तात्पर्य यह कि उस का कोई कर्म मनकी वासनासे प्रेरित नहीं होता।

किन्तु जिसके हृदयमें मायाकी प्रबलता है वह भगवान्‌के भजनमें भी निष्काम नहीं रह सकता, क्योंकि जिस पदार्थमें इस

जीवकी प्रीति होती है और जैसा-जैसा इसका स्वभाव होता है, इसकी शारीरिक क्रियाएँ भी उसी प्रीति और स्वभाव को बढ़ाती हैं। जैसे कि जिसे मान और बड़ाईका प्रेम होता है उसके सभी कर्म मान-बड़ाई के लिये ही होते हैं। तथा उपदेश और परमार्थचर्चा जैसी क्रियाओंमें तो जीवका निष्काम रहना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि ऐसे कर्मोंका सम्बन्ध बहुत लोगोंके साथ रहता है। इसीसे इनमें मानकी कामना मिल जाती है। किन्तु कभी तो मानकी कामना अधिक रहती है और कभी धर्मकी कामना प्रबल हो जाती है। अतः मन आदि के संकल्पोंको दूर करनेमें विद्वान् भी समर्थ नहीं होते। किन्तु मन्दमति जीव तो मूर्खतावश अपनेको निष्काम ही समझते हैं, इसीसे वे अभिमानी हो जानेसे अपने अवगुणोंको नहीं देख पाते। एक सन्तका कथन है कि मैंने जब यथार्थ दृष्टिसे देखा तो मुझे अपना तीस वर्षका भजन व्यर्थ ही जान पड़ा, क्यों कि तीस वर्षतक मैंने सब लोगोंके आगे खड़े होकर भजन किया था। एक दिन जब मुझे कुछ विलम्ब हो गया और मुझे सबके पीछे खड़ा होना पड़ा तो मेरा मन लज्जित होने लगा। तब मुझे निःसन्देह पता चला कि मुझे पहले जो भजन (नमाज) के समय प्रसन्नता होती थी वह सबका मुखिया होनेके कारण थी। इस प्रकार निष्कामताको तो समझना भी अत्यन्त कठिन है, अतः उसमें स्थित होना तो और भी दुर्लभ है। और निष्कामताके बिना यह पुरुष जितने भी सात्त्विक कर्म करता है वे सभी व्यर्थ होते हैं। भगवान् उन्हें रञ्चकमात्र भी स्वीकार नहीं करते। इसीसे सन्तजनोंने कहा है कि बुद्धिमान् पुरुष थोड़ा भी भजन करे तो भी वह मूर्ख मनुष्यों के अनेकों वर्षों के भजन से बढ़कर होता है, क्योंकि मूर्ख मनुष्य किसीभी कर्ममें आनेवाले विघ्नोंको नहीं जानता, इसलिये उसका संकल्प मान और दम्भ आदिके स्वभावों में मिल जाता है और वह स्वयं उस कर्मको निष्काम ही समझता

है, यह नहीं समझता कि भजनमें कोई दूसरी कामना रखना ऐसा ही है जैसे सुवर्णमें कोई दूसरी धातु मिला दी जाय। जो पुरुष शर्राफ नहीं है वह ऐसे सुवर्णसे अवश्य ठगा जाता है, इस खोटे सोनेसे तो कोई कुशल शर्राफ ही अपनेको बचा सकता है, क्योंकि मूर्खोंकी दृष्टिमें तो सोना पीले रंगकी धातु ही है।

भजनमें जो सकामतारूपा खोट है वह चार प्रकारका है— १. अति प्रकट, २. प्रकट, ३. सूक्ष्म और ४. सूक्ष्ममातिसूक्ष्म। अब मैं इनका युक्तिपूर्वक विवेचन करता हूँ—

१. जब यह पुरुष भजनमें लगता है और अपने आस-पास बहुत लोगोंको देखता है तो इसे ऐसा संकल्प होता है कि भजनके नियमको विधिवत् निष्पन्न करना ही अच्छा है, जिससे कि ये लोग मुझसे ग्लानि न करें। यह दम्भ अति प्रकट कहा जाता है।

२. जब इस दम्भको पहचानकर यह त्याग दे और मनमें ऐसा संकल्प रखे कि ये लोग मुझे ठीक-ठीक भजन करता देखेंगे तो इन्हें भी भजनमें प्रेम और दृढ़ता उत्पन्न होगी और इस प्रकार उनके भजनका पुण्य मुझे भी प्राप्त होगा तो ऐसा संकल्प भी छलरूप होता है। इससे यह निश्चय ही छला जाता है। वह यह नहीं समझता कि लोगोंके भजनका पुण्य इसे तभी प्राप्त होता है जब इसकी एकाग्रताका उन पर प्रभाव पड़े, अन्यथा नहीं, क्योंकि यदि इसका चित्त एकाग्र न हो और दूसरे लोग इसे एकाग्र और निष्काम समझकर भजनमें प्रेम एवं दृढ़ता करें तब निःसन्देह उनका तो हित होता है, किन्तु वह सकाम पुरुष जो अपनेको निष्काम दिखाता है निश्चय ही अपनी वासना और दम्भरूपी रस्सीसे बँधा रहता। अतः यह प्रकट दम्भ कहा जाता है।

३. तीसरा सूक्ष्म दम्भ है। जो पुरुष इस बातको जानता है कि एकान्तमें तथा सब लोगोंके बीचमें एक-सा ही भजन करना चाहिये, किन्तु फिर भी जो एकान्तमें अच्छी तरह भजन न कर सके और लोगोंके बीचमें विधिवत् करे, तब यह भी कपट ही होता है। अथवा यह समझकर एकान्तमें भी भजनके नियमको विधिवत् पूरा करे कि लोगोंके बीचमें भी ऐसा ही भजन करूँगा तो दम्भी नहीं माना जाऊँगा, उसके भजनमें भी सूक्ष्म दम्भ रहता है, क्योंकि उसे अपना दम्भ एकान्तमें भी लज्जित करता रहता है कि यदि मैं एकान्तमें और लोगोंके बीचमें भजन करनेमें कोई अन्तर रखूँगा तो अवश्य पाखण्डी होऊँगा। परन्तु इस दम्भका स्वरूप एकाएकी दिखायी नहीं देता और अपनेको निष्काम समझकर वह एकान्तमें भी दम्भ ही करता रहता है।

४. चौथा दम्भ इससे भी सूक्ष्म है। जो पुरुष यह समझता भी है कि लोगोंके निमित्तसे अन्तर-बाह्य एकाग्रता करना लाभदायक नहीं है उसे मन दूसरे प्रकारसे छलता है। वह सोचता है कि जिस भगवान्का तू भजन करता है वह तो ईश्वरोंका भी ईश्वर है। ऐसे प्रभुकी महत्ता और तेजका विचार करके तुझे भय-भीत रहना चाहिये और उसके सामने बड़े संकोचसे रहना चाहिये। यह संकल्प करके वह चित्तकी वृत्तियोंको एकाग्र करता है। किन्तु यदि ऐसे संकल्पसे भी उसका मन एकान्तमें तो स्थिर हो नहीं, लोगोंके बीचमें ही एकाग्र हो कि लोग मुझे स्थिरचित्त जानें—तो यह पुरुष भी दम्भी ही है। परन्तु यह दम्भ अत्यन्त सूक्ष्म है। इसी प्रकार लोगोंको देखकर ही भगवान्की महत्ताको स्मरण किया जाय तो ठीक नहीं। इस विषयमें

संतजनोंका कथन है कि जबतक यह मनुष्य भजनके समय पशुओं और मनुष्योंको देखनेमें अन्तर करता है तबतक केवल निष्काम नहीं होता। शुद्ध निष्काम तो वही पुरुष है जिसे पशुओं और मनुष्योंमें समान दृष्टि हो। तात्पर्य यह कि जिसे ऐसे सूक्ष्म दोषोंकी पहचान नहीं है उसका जप-तपका परिश्रम भी व्यर्थ ही होता है।

याद रखो, जब भजनकी अपेक्षा दम्भ और मानका संकल्प बढ़ जाता है तब भजन भी खेदका ही कारण होता है। और जब दोनों संकल्प समान हों तब लाभ या हानि कुछ भी नहीं होती। अर्थात् उस अवस्थामें हृदयकी अवस्था ज्योंकी त्यों रहती है। और जब भजनका संकल्प प्रबल होता है तब कुछ लाभ ही होता है। यद्यपि सन्तजनोंके वचनोंमें ऐसा आया है कि सकाम पुरुषों को भगवान् ऐसा कहेंगे कि जिसके निमित्त तुमने जप-तप किया है उसीसे फल भी माँगो, परन्तु मुझे तो यह कथन दोनों संकल्पोंकी समानता होनेपर जान पड़ता है, क्योंकि जब शुभ और अशुभ दोनों संकल्प समान होते हैं तो उनसे पाप या पुण्य कुछ भी नहीं होता। तथा जिन वचनोंमें सकाम कर्मको खेदका ही कारण कहा है वह केवल दम्भयुक्त संकल्पके प्रति समझना चाहिये। किन्तु जिसका संकल्प आरम्भसे तो धर्मके निमित्त हो और पीछे उसमें कुछ दम्भ भी मिल जाय, उसका कर्म मूलसे ही व्यर्थ नहीं होता। वह यद्यपि निष्काम कर्मके समान तो फल प्राप्त नहीं कर पाता, तथापि अत्यन्त निष्फल भी नहीं होता। इस बातको दो युक्तियों से समझ सकते हैं—पहली बुद्धिप्रधान युक्ति तो यह है कि भगवान्‌की ओरसे विमुख होना ही दुःख है और यही सबसे बड़ा दण्ड भी है, तथा संकल्पकी निष्कामता ही इस जीवकी उत्तम गतियोंका कारण है। अतः जब दोनों प्रकारके संकल्पोंकी समानता होती है तो उस समय ऐसा होता है कि शुद्ध संकल्प जितना ही

जीवको भगवान्‌की ओर खींचता है उतना ही स्थूल पदार्थोंकी कामना उस पदसे दूर हटा देती है। इसलिये इसकी अवस्था ज्यों-की त्यों रह जाती है और इसे लाभ-हानि कुछ नहीं होते, जैसे कोई रोगी पुरुष यदि समान मात्रामें शीत और उष्ण ओषधियोंका सेवन करे तो उसका रोग ज्योंका त्यों रहेगा; किन्तु यदि शीतल ओषधि अधिक खायगा तो उसकी गर्मी घटेगी और उष्ण ओषधि सेवन करेगा तो शीतमें कमी आयेगी। इसी प्रकार पापका संकल्प अधिक होगा तो वह हृदयको मलिन करेगा और शुद्ध संकल्प हृदयको निर्मल करेगा। दोनां ही प्रकारके संकल्प रञ्चकमात्र होनेपर भो व्यर्थ नहीं होते, जैसे रञ्चकमात्र भी पथ्य या कुपथ्य मनुष्यके स्वास्थ्यमें साधक या बाधक हो जाते हैं। इनके गुण-दोषकी तोल यथार्थ नीतिकी तराजू पर की जा सकती है। इस विषयमें भगवान्‌का कथन है कि जो पुरुष राई के समान भलाई करता है वह भी निःसंदेह उसका सुख प्राप्त करता है और जो राईके समान बुराई करता है वह उसका दुःखरूप फल भी अवश्य प्राप्त करता है। अतः जिज्ञासुको चाहिये कि यत्नपूर्वक सात्त्विकी श्रद्धाकी ही वृद्धि करे तथा स्थूल कामनाको जैसे बने वैसे क्षीण करे।

दूसरी युक्ति यह है कि, जैसे तीर्थयात्रा करते हुए कोई पुरुष मार्गमें सौदागरी भी कर ले तो उसकी यात्रा निष्फल नहीं होती। यद्यपि निष्कामताके द्वारा उसे विशेष फल प्राप्त होता, तथापि यह भी मूलसे ही निष्फल नहीं होती। उसी प्रकार कुछ संकल्पका मेल होनेपर भी भजनका फल समूल नष्ट नहीं होता। इस बात को भी सभी लोग मानते हैं, क्योंकि मूलसे तो उसका संकल्प शुद्ध ही होता है। यदि ऐसी बात न हो तो इस जीवसे निष्काम आचरण होना तो कठिन ही है, क्योंकि जबतक देहाभिमानसे सर्वथा मुक्त न हो तबतक सात्त्विकी कर्मोंमें भी कितने ही राजसी

संकल्प फुर आते हैं। अतः इसका उपाय यही है कि सात्त्विकी श्रद्धा के बीजको नष्ट न होने दे तथा अन्य संकल्पोंको शनैः शनैः निर्बल करता रहे। ऐसा पुरुषार्थ करते रहनेसे निष्कामताकी प्राप्ति हो जाती है।

(तीसरा भाग—सचाई का वर्णन)

सचाई और निष्कामता इन दोनोंका एक ही रूप है। जो पुरुष निष्कामता प्राप्त कर लेता है उसे ही सच्चा कहते हैं। प्रभुने कहा है कि परलोकमें सब जीवोंसे उनके सत्यकी दृढ़ताके विषयमें ही पूछा जायगा। किसी पुरुषने महापुरुषसे पूछा था कि मनुष्य की उत्तम अवस्था क्या है? तब उन्होंने कहा कि वचन और कर्मकी सचाई ही उत्तम अवस्था है। इसीसे जिज्ञासुको सचाईका अर्थ पहचानना बहुत आवश्यक है। सचाईरूप वस्तुके पाँच लक्षण कहे गये हैं, जिसे ये पाँच लक्षण प्राप्त हैं वह यथार्थ पुरुष कहा जाता है—

१. वाणी की सचाई—यह पहला लक्षण है। जो कभी झूठ न कहे, अर्थात् बीती हुई बातके वर्णनमें भविष्यके लिये वचन देनेमें अथवा वर्तमानकी क्रियामें भी किसी प्रकार किञ्चित् भी मिथ्याका प्रयोग न करे, क्योंकि जिह्वासे जैसा वचन बोला जाता है वैसा ही भाव हृदय ग्रहण कर लेता है। अतः उचित यही है कि झूठ कभी न बोले। यदि किसीका कोई विरोध दूर करना हो तब भी युक्तिपूर्वक ऐसा वचन बोले जिसमें कोई झूठा शब्द न आवे। ऐसे समय सचाईका संकल्प रखकर यदि कोई झूठी बात भी कह दे तो वह उचित मानी जा सकती है। तथा जब भगवान्की प्रार्थना करे तो उसमें भी सच्ची बातें ही कहे। तात्पर्य यह कि जब मुखसे कहे कि प्रभु! मेरा मुख आपकी

दया ही की ओर है, अथवा जब कहे कि मैं आपका दास हूँ और आपका ही पूजन करता हूँ, किन्तु भीतरसे अपना मुख विषयोंकी ओर रखे तथा अपनी वासनाका ही अनुयायी और दास हो, तो उसकी प्रार्थना झूठी होती है, क्योंकि जबतक मायाके सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त न हो तब तक भगवान्का उपासक या दास नहीं हो सकता। मुक्त होने का अर्थ तो यह है कि अपने-आपसे भी मुक्त हो। अर्थात् भगवान्के सिवा और किसी भी पदार्थको न चाहे, सर्वदा प्रभुकी आज्ञामें ही प्रसन्न रहे। तब समझना चाहिये कि भगवान्का सच्चा सेवक है।

२. सचाईका दूसरा लक्षण मनमें रहता है। अर्थात् जिस वस्तुको स्वीकार करे उसमें सत्य ही का संकल्प रखे, और किसी भी प्रकारकी कामनासे उसे न मिलने दे। यही अर्थ निष्कामताका भी है। निष्कामता और सत्यको इसीलिये एक कहा गया है कि जिस पुरुषके आचरणमें दम्भका संकल्प रहता है वह तो झूठ है, क्योंकि वह बाहरसे अपने को जैसा प्रकट करता है वैसा भीतरसे नहीं होता।

३. सत्यका तीसरा लक्षण यह है कि आरम्भमें जिस सात्त्विक संकल्पको लेकर किसी कर्ममें प्रवृत्त हो उसीको उस अवस्थामें भी दृढ़ रखे; जैसे कोई धर्मके लिये राजा हो अथवा उदारताके लिये धन रखे तो राज्य और धन प्राप्त हो जानेपर भी उन्हीं गुणोंका पोषण करे। मान और भोगों की अधिकतासे उनमें कोई अन्तर न आवे। ऐसा पुरुष निःसन्देह सच्चा कहा जाता है। एक महात्माने कहा था कि अमुक सन्तके सामने उपदेश देनेकी अपेक्षा तो मुझे अपना मरना सुगम जान पड़ता है। अर्थात् अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषके सामने मुझे अपनी श्रेष्ठता प्रकट करनी उचित

नहीं जान पड़ती। इस प्रकार इस वचनसे उक्त महात्माके इस सत्य संकल्पकी कि मन वचन और कर्मसे यथार्थता की मर्यादामें रहना चाहिये—दृढ़ता प्रकट होती है। वे अपनी वासनाओंसे रहित थे। तथा वासनाओंसे मुक्त और वासनाओंमें बँधे हुए पुरुषोंमें तो बड़ा भेद होता ही है।

४. सत्यका चौथा लक्षण यह है कि जो गुण अपने भीतर न हों उन्हें बाहर भी न दिखावे, क्योंकि जिस पुरुषकी क्रिया दूसरी हो और हृदयका स्वभाव उससे भिन्न हो वह निःसन्देह झूठा होता है। अतः बाहरभीतरसे एक होना ही वास्तविक सचाई है। सच्चे पुरुषका हृदय तो उसकी बाह्य क्रियासे भी निर्मल होता है। तथा उसकी क्रिया भी शुभ होती है। महापुरुषने भी प्रार्थना की थी कि प्रभो! आप मेरे हृदयको मेरी क्रियासे भी श्रेष्ठ करें और मेरी बाह्य क्रिया भी शुद्ध ही हो।

५. सत्यका पाँचवाँ लक्षण यह है कि धर्ममार्गके वैराग्य, विश्वास, भय और प्रेम आदि जितने भी शुभ गुण हैं उन सभीसे सम्पन्न हो। यद्यपि जिज्ञासुमें न्यूनाधिक मात्रामें ये गुण रहते ही हैं, किन्तु जबतक ये पूर्णतया न हों तब तक उसे पूरा सच्चा पुरुष नहीं कह सकते। जैसे अधिक भयका लक्षण यह है कि उसका मुखमण्डल पीला हो जाय और शरीर थर-थर काँपने लगे तथा उसको भूख-प्यास एवं नींद भी जाती रहे। अतः भगवान्‌के भयसे जिसकी ऐसी स्थिति हो वही सच्चा भयवान् है। किन्तु यदि कोई पुरुष कहे कि मैं पापोंसे डरता हूँ, किन्तु पापोंको त्यागे नहीं, तो उसका डरना झूठा है।

इसी प्रकार सभी गुणोंकी पूर्णता और अल्पतामें बड़ा अन्तर है। किन्तु जिसमें ये पाँच लक्षण पूर्ण हों उसकी स्थिति अपने अधिकारमें होती है।

—:o:—

छठी किरण

मन के निरीक्षण, ध्यान एवं उद्बोधन के विषय में

याद रखो, भगवान् ने कहा है कि परलोक में मैं एक यथार्थ तराजू रखूँगा और किसी पर अन्याय नहीं करूँगा। उसी से उन्होंने सब जीवों को आज्ञा दी है कि तुम स्वयं ही इस संसार में अपने मन का हिसाब रखो। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि बुद्धिमान् पुरुष वही है जिसका समय इस प्रकार बीतता है कि एक समय तो वह अपनी जीविका उपार्जन करता है, एक समय अपने मन की परीक्षा करता है, एक समय अपने शरीर की क्रिया में व्यतीत करता है और एक समय अत्यन्त विनीत होकर भगवान की प्रार्थना करता है। जो इस प्रकार चार विभाग करके अपनी आयु व्यतीत करता है वही विशेष बुद्धिमान् है। एक सन्त ने कहा है कि परलोक में तुम्हारे कर्मों का हिसाब किया जायगा, इसलिये तुम पहले से ही अपना हिसाब करो। इसी से विचारवान् पुरुषों ने ऐसा निश्चय किया है कि हम इस संसार में शुभ गुणों का व्यापार करने के लिये आये हैं और उसमें यह मन हमारा साझी है। व्यापार करने से लाभ होगा ऐसा समझ कर ही सन्तजनों ने मन को अपना साझी बनाया है। किन्तु जैसे कोई पुरुष जब व्यापार करने लगता है तो पहले अपने साझी के साथ शर्तें ठहराता है, फिर उस पर अपनी दृष्टि रखता है और जब हिसाब करनेपर उसकी कोई चोरी निकलती है तो उसे दण्ड भी देता है;

उसके पीछे भी उसकी देख-भाल रखता है और उसे सिखाने के लिये झिड़क भी देता है।

इसी प्रकार विचारवान् पुरुष भी अपने मन के साथ छः मर्यादाएँ रखते हैं। व्यापार का साझी मनुष्य को जैसे सब कार्यों में सहायता देता है वैसे ही वही दुःख देनेवाला भी हो जाता है; अतः उसके साथ व्यवहार के लिये शर्तें ठहराई जाती हैं कि तुम इस प्रकार रहना और अमुक कार्य करना तभी तेरा और मेरा निर्वाह होगा। उसी प्रकार मन के साथ भी शर्तें ठहराना बहुत जरूरी है, क्योंकि लौकिक व्यापार का फल तो नाशवान् है, किन्तु शुभ गुणों के वाणिज्य का लाभ सत्यस्वरूप है। बुद्धिमान् पुरुषों के लिये नाशवान् वस्तु तो कोई पदार्थ ही नहीं होता। इसीसे विचारवानों ने कहा है कि नाशवान् सुख से तो अविनाशी दुःख भी अच्छा है, क्योंकि उसका वियोग तो नहीं होता। यह श्वास रूपी रत्न तो ऐसा अमूल्य है कि इसी के द्वारा मनुष्य अविनाशी पद प्राप्त कर लेता है। अतः अपना जीवन विचारपूर्वक ही बिताना चाहिये। बुद्धिमान् पुरुष तो वही है जो प्रातःकाल उठकर कुछ काल चित्त को निःसंकल्प करे और इसी विचार में तत्पर रहकर मन को समझावे कि अरे मन! मेरे पास इस आयु के जो थोड़े-से दिन हैं वे ही उत्तम धन के समान हैं। जो श्वास बीत जाता है वह तो किसी प्रकार नहीं लौटता। भगवान् ने श्वासों की संख्या परिमित ही रखी है। उससे वे न तो घटते हैं और न बढ़ते हैं। यदि यह आयु असावधानी में बीत गयी तो पीछे कुछ भी भजन-स्मरण नहीं होगा। अतः चेतने और भजन करने का समय तो यही है। इस संसार में जीवन तो थोड़े ही दिन है और परलोक में कोई कर्म हो नहीं सकेगा, इसलिये आज ही पुरुषार्थ का दिन है, क्योंकि इस समय प्रभु ने तुम्हें आयुरूपी सुअवसर दिया हुआ है। यदि आज ही तुम्हारी मृत्यु आ जाय और तब तुम भजन के लिये एक दिन

भी माँगने लगो, तो एक पल भी तुम्हारे हाथ नहीं लगेगा, तुम पश्चात्ताप की अग्नि में ही जलते रहोगे। इसलिये अच्छा हो कि तुम इसी समय को सर्वोत्तम सम्पत्ति समझकर वृथा न खोओ। ऐसा समझो कि मेरी मृत्यु तो आज ही होनेवाली थी, पर यह एक दिन मुझे भजन के लिये माँगने से मिल गया है, क्योंकि आयु रूपी सम्पत्ति को व्यर्थ खोने और परम पद से वञ्चित रहने के समान और कोई हानि नहीं है।

इस विषय में सन्तजनों का कथन है कि जव परलोक में इस मनुष्य के कर्मों का विचार किया जायगा तव एक-एक घड़ी की क्रिया को अलग-अलग करके देखेंगे। सो जिस घड़ी में इसने कोई शुभ कर्म किया होगा वह अत्यन्त प्रकाशमान् निकलेगी और उससे भी बड़ी प्रसन्नता होगी। यही नहीं, उस घड़ी की शीतलता इसके लिये नरकाग्नि को भी शान्त करनेवाली होगी। किन्तु जिस घड़ी में इसने पाप किया होगा वह अत्यन्त अन्धकारपूर्ण और मलिन होगी। उससे बड़ी भारी दुर्गन्ध प्रकट होगी। उस दुर्गन्ध से सभी लोग नाक मूँदेंगे। उससे उस पुरुष को ऐसी लज्जा और भय प्राप्त होंगे कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। तथा जिस घड़ी में इसने पाप या पुण्य कुछ भी नहीं किया होगा, उसे आलस्य प्रमाद और व्यर्थ खेल-कूद में ही व्यतीत किया होगा वह घड़ी न अंधेरी निकलेगी और न प्रकाशपूर्ण। उसे देखकर यह पुरुष बहुत पश्चात्ताप करेगा; जैसे किसी को वड़ा भारी खजाना प्राप्त करना था, किन्तु उससे वञ्चित रह गया तो वह बड़े भारी पश्चात्ताप में ही जलता रहता है, उसी प्रकार आयु को व्यर्थ खोने के कारण यह प्राणी अत्यन्त दुःखी होगा। इसी प्रकार वहाँ आयु की प्रत्येक घड़ी की पृथक्-पृथक् परीक्षा की जायगी।

अतः जिज्ञासु को चाहिये कि सर्वदा अपने मन को इसी प्रकार

समझाता रहे कि आज ही उस लेखे की जाँचका दिन है। इसलिये मुझे एक घड़ी भी असावधान होकर व्यर्थ नहीं खोनी चाहिये। यदि तुम इसी समय सचेत न होगे तो परलोकमें बड़े खेद और पश्चात्तापका सामना करना पड़ेगा। इसीसे संतजनोंने कहा है कि यद्यपि भगवान्‌ने कृपा करके तुम्हारे पाप क्षमा कर दिये तो भी तुम संतजनों की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकोगे। और इस बातका भी तुम्हें बड़ा पश्चात्ताप रहेगा। इसलिये अच्छा हो कि तुम अपनी समस्त इन्द्रियों को भगवान्‌के भजनमें लगा दो और उन्हें दुष्कर्मों की ओर जाने से रोके रहो। तभी तुम्हारी रक्षा हो सकेगी। सन्तजनों का कथन है कि जब यह पुरुष इन्द्रियों के द्वारा अपकर्म करता है तो इन्हींके द्वारा यह नरकोंमें चला जाता है, क्योंकि प्रत्येक इन्द्रियमें नरकका द्वार छिपा हुआ है। इसलिये इसे एक-एक इन्द्रिय के पापोंका विचार करके लज्जित होना चाहिये तथा अपने मन को भी सावधान कर देना चाहिये कि यदि तूने सन्तजनोंकी आज्ञासे विपरीत कोई कर्म किया तो मैं तुझे बहुत दण्ड दूँगा। यह मन यद्यपि बहुत कठोर है तथापि उपदेश का अधिकारी भी तो यही है। इसलिये यदि इसे अच्छी तरह समझाया जाय तो यह प्रयत्नपूर्वक सीधे मार्गपर लग जाता है। जिज्ञासु पुरुष को नित्यप्रति यह युक्ति पहले ही पक्की कर लेनी चाहिये। प्रभु कहते हैं कि मैं अन्तर्यामीरूपसे तुम्हारे सब संकल्पों को जानता हूँ, अतः तुम सर्वदा मेरा भय रखो। महापुरुषने भी कहा है कि उत्तम पुरुष वही है जो सर्वदा अपने आचरण का विचार करता रहता है और उसी क्रिया को स्वीकार करता है जो परलोकमें उसे दुःख न दे। ऐसा भी कहा है कि जिस कर्म का फल निश्चय ही तुम्हारे सामने आना है उसे तुम पहले ही विचारकर देख लो और वह भला हो तो स्वीकार करो एवं बुरा हो तो त्याग दो। इसी प्रकार नित्यप्रति प्रातः काल अपने मन के साथ ऐसी शर्तें

अवश्य ठहरानी चाहिये। परन्तु जिसका मन पहले ही से शुद्ध हो उसे किसी भी शर्त की आवश्यकता नहीं होती।

(मनका सावधानी से निरीक्षण करो)

जिस प्रकार साझीको पूँजी देकर उसके साथ शर्त पक्की कर कर लेनेपर भी उसकी ओरसे असावधानी करना उचित नहीं होता, उसी प्रकार मनकी ओर भी प्रतिक्षण ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि यदि जिज्ञासु एक क्षणके लिये भी मनकी ओरसे असावधान हो जाता है तो वह मर्यादाको त्यागकर अपने स्वभावमें बहने लगता है तथा आलस्य और भोगोंके प्रमादसे उन्मत्त हो उठता है। अतः मनकी ओर ध्यान रखना यही है कि भगवान्‌को अपने कर्मोंका साक्षी जाने तथा स्मरण रखे कि अन्य लोग तो मेरी वाह्य क्रियाओंको देखते हैं किन्तु प्रभु मेरे अन्तर की जाननेवाले हैं। सो जिसने इस रहस्यको जाना है और जिसके हृदयमें यही समझ प्रबल है उसकी वाह्य और आन्तर दोनों प्रकारकी क्रियाएँ निर्दोष होती हैं। कारण कि जिसने प्रभुको अन्तर्यामी जाना है वह उन के सामने पापकर्म करे—यह तो बड़ी ही धृष्टता और हृदय की कठोरता होगी। इसीसे प्रभुने कहा है कि तुम मुझे अन्तर्यामी नहीं जानते, इसीलिये अत्यन्त ढीठ हो रहे हो। एकबार किसी भक्तने महापुरुषसे पूछा था कि मैंने बहुत पाप किये हैं, किन्तु यदि मैं अब पाप करना त्याग दूँ तो मेरा त्याग स्वीकृत होगा या नहीं ? तब महापुरुषने कहा कि अब भी तुम्हारा त्याग स्वीकार किया जा सकता है। उस भक्तने फिर पूछा कि जब मैं पापकर्म करता था तो भगवान् मुझे देखते थे या नहीं ? महापुरुषने कहा, "देखते थे।" यह बात सुनकर उस भक्तने उच्चस्वरसे 'हाय !' कहा और अपना शरीर त्याग दिया।

इसके सिवा महापुरुषने यह भी कहा है कि भगवान्‌को साक्षात् सम्मुख जानकर पूजो और यदि ऐसा न जान सको तो यह समझो

कि भगवान् हमें देखते हैं। अतः जब तुम भगवान्को सभी अवस्था और सभी समयोंमें अन्तर्यामी जानोगे तो तुम्हारा कार्य सफल होगा। परन्तु इससे भी उत्तम अवस्था यह है कि सर्वदा तुम ही भगवान्का साक्षात् दर्शन करो और उसी स्वरूपके आनन्दमें लीन हो जाओ। इस विषय में एक गाथा भी है। एक संत अपनेसे मिलने-जुलनेवालोंमें एक भक्तसे विशेष प्रेम करते थे। इसलिये दूसरे भक्तोंको ईर्ष्या हुई कि हमारेमें ऐसा क्या अवगुण है और इसीमें ऐसा क्या गुण है ? यह बात जब सन्तको मालूम हुई तो उन्होंने सबके हाथोंमें एक-एक फल दिया और आज्ञा की कि जहाँ तुम्हें कोई न देखे ऐसे स्थानमें इसे छीलकर ले आओ। तब वे सभी भक्त एकान्तमें जाकर उसे छील लाये। किन्तु जिसपर सन्तका विशेष प्रेम था वह उसे बिना छीले ही ले आया। सन्तने उससे पूछा कि तूने फलको क्यों नहीं छीला ? वह बोला, "मुझे ऐसा कोई स्थान नहीं मिला जहाँ कोई न देखता हो।" तात्पर्य यह कि भगवान् तो उसे सभी स्थानोंमें देखते थे। इस प्रकार इस परीक्षासे सन्तने उसकी यही विशेषता प्रकट की कि यह सर्वदा भगवान्को अपने समीप जानता है। इसीसे इसकी अवस्था श्रेष्ठ है और मुझे भी सबकी अपेक्षा अधिक प्रिय है।

एक अन्य भक्तका प्रसंग है। उसने सन्त जुनेदसे पूछा था कि मैं अपने नेत्रोंको रूपकी ओर आकर्षित होनेसे रोक नहीं सकता। अतः इसका क्या उपाय है ? तब उन्होंने कहा कि जब तुम किसी की ओर देखने लगो तो याद रखो कि भगवान् उससे भी बढ़कर तुम्हारी ओर देख रहे हैं। इससे भयवश स्वाभाविक ही तुम्हारे नेत्र रुक जायँगे, अन्यथा तुम उन्हें नहीं रोक सकोगे। इस विषयमें भगवान् भी कहते हैं कि जो पुरुष अकस्मात् पाप-चिन्तन करने लगते हैं और फिर मेरी महत्ताका विचार करके उस कर्मको त्याग देते हैं वे निःसन्देह परम सुख प्राप्त करते हैं।

कहते हैं, एक सन्तने मार्गमें एक चरवाहेको बकरी चराते देखा। तब उससे बोले कि क्या तुम इनमेंसे एक बकरी बेच सकते हो? वह बोला, "मैं तो केवल इन्हें चरानेवाला हूँ, इनका स्वामी तो दूसरा है।" सन्तने कहा, "इस समय इनका स्वामी तो इन्हें देखता नहीं है, अतः उससे कह देना कि एक बकरीको भेड़ियेने मार डाला।" यह सुनकर चरवाहेने कहा, "स्वामी भले ही न देखता हो, भगवान् तो सब कुछ देखते और जानते हैं।" यह सुनकर वे सन्त रोने लगे और बकरियोंके स्वामीको बुलाकर उस चरवाहेको मोल ले लिया और फिर उसे दासत्वसे मुक्त कर दिया तथा कहा कि जिस प्रकार इस वचनने तुझे यहाँ मुक्त कराया है उसी प्रकार परलोकमें भी यही वचन तुझे नरकोंसे मुक्त करेगा।

तात्पर्य यह कि मैंने जो ध्यानकी प्रशंसा की है सो वह भगवान्का ध्यान दो प्रकार का है। परमार्थी पुरुषों का उत्तम ध्यान तो यही है कि उनका हृदय सर्वदा भगवान्की महत्तामें लीन रहता है और उनकी सामर्थ्यको पहचान कर वे सर्वदा सकुचे रहते हैं। इसलिये उनका मन और किसी पदार्थकी ओर देख ही नहीं सकता। सो, जिसे ऐसा ध्यान प्राप्त है उसकी इन्द्रियाँ स्वभावसे ही सकुची रहती हैं। और उसे बिना यत्न ही भोगोंकी अभिलाषा नहीं रहती। फिर पापकर्मोंमें भी वह क्यों लगेगा। महापुरुषका कथन है कि जो पुरुष प्रातःकाल उठकर भगवान्में मन लगाता है और सर्वदा सावधान रहता है उसके सभी कार्य भगवान् स्वयं पूर्ण कर देते हैं। कितने ही सन्तजन इस ध्यान में ऐसे लीन रहते हैं कि न तो किसीकी बात सुनते हैं और न किसी की ओर देखते हैं। यद्यपि उनके नेत्र खुले रहते हैं तो भी उनका चित्त सर्वदा स्थिर रहता है। एक सन्तसे किसीने पूछा था कि तुम तो अब बाजारमें होकर आ रहे हो, रास्तेमें तुमने किसीको देखा भी था? तब उन्होंने कहा कि मैंने तो किसी को नहीं देखा। एक और सन्त

थे, उन्होंने अकस्मात् एक स्त्री पर हाथ रख दिया। जब उनसे पूछा गया कि आपने ऐसा क्यों किया? तो वे बोले, "मैंने तो इसे भीत समझा था, इसीसे बिना किसी शंकाके इसपर मेरा हाथ पड़ गया।" एक अन्य भगवद्भक्तने कहा है कि मैंने एक बार अमुक संतको नगरसे बाहर बैठे देखा था। तब मैंने उनके पास जाकर कुछ पूछनेका विचार किया, तो वे पहले ही कहने लगे, "बात कहने-सुनने की अपेक्षा तो भगवान् का भजन करना ही अधिक श्रेयस्कर है।" फिर मैंने पूछा कि मनुष्योंमें श्रेष्ठ कौन है? उन्होंने कहा, "जिसे भगवान् श्रेष्ठ बना दें वही श्रेष्ठ है।" फिर मैंने पूछा, "आप क्या यहाँ अकेले ही रहते हैं?" वे बोले, "श्रीभगवान् सर्वदा मेरे साथ रहते हैं।" मैंने पूछा, "सुखका मार्ग क्या है?" तब वे आकाशकी ओर देखते हुए खड़े हो गये और कहने लगे, "भगवन्! अपनेसे परिचय कराकर मुझे बहुत लोग आपकी ओर से विक्षेपमें डाले रहते हैं।" इतना कहकर वे आगे चल दिये। संत शिबलीने भी एक दूसरे संतको देखा था। उनकी स्थिरता इतनी बढ़ी हुई थी कि उनके शरीरका एक रोम भी नहीं हिलता था। वे सर्वदा भगवान्के अनुपम रूपके ध्यान में मग्न रहते थे। तब शिबलीने उनसे पूछा कि आपने ऐसा ध्यान किससे सीखा है? वे बोले, "मैंने बिल्लीको चूहे के बिलके पास इससे भी अधिक स्थिर देखा है। अतः मैंने उसीसे यह ध्यान सीखा है।"

एक और सन्तका कथन है कि मैंने एक नगरमें एक युवा और एक वृद्ध दो पुरुष बहुत एकाग्रचित्त सुने थे। अतः मैं उनके दर्शनों के लिये गया और उन्हें देखकर तीन बार उनकी वन्दना की। किन्तु वे कुछ न बोले। तब मैंने उनसे भगवान्की शपथ दिलाकर कहा कि मेरे अभिवादन को तो स्वीकार करो। तब युवा पुरुषने सिर उठाकर कहा कि इस संसारमें थोड़े ही दिनोंका जीवन है और वह अब शेष भी थोड़ा ही रहा है। अतः इस थोड़े समयमें ही हमें

अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त कर लेना चाहिये। परन्तु मालूम होता है, तुम्हें अपने कार्यकी कुछ भी सुधि नहीं है। इसीसे हमारे साथ अभिवादनादि के द्वारा जान-पहचान करना चाहते हो। इतना कहकर उसने फिर अपना सिर नीचा कर लिया। उस समय मुझे भी भूख-प्यास सता रही थीं। किन्तु मुझे उनकी तो कुछ सुधि रही नहीं, प्रत्युत मेरी सारी वृत्तियाँ उन दोनों महात्माओंमें ही लग गयीं। अतः मैं रात्रिपर्यन्त उन्हींके पास खड़ा रहा। फिर बोला कि मुझे कुछ उपदेश करो। तब युवक संतने कहा, "हम तो दुःखी लोग हैं, इसलिये हमारी वाणी उपदेश करने की अधिकारिणी नहीं है।" इतना कहकर वे फिर मौन हो गये। इस प्रकार मैंने तीन दिनतक देखा कि उन्होंने न तो भोजन ही किया और न शयन ही। तब मैंने भगवान् की शपथ दिलाकर कहा कि मुझे उपदेश करो। वे बोले, "जिसे देखने से तुम्हारे हृदयमें भगवान् की स्मृति हो उसीका संग करो।' क्योंकि जिसका आचरण ही उपदेश कर दे और जिसके तडना न करनेपर भी तुम्हें भय हो उसीका संग करना अच्छा है। परमार्थी पुरुषों की यही स्थिति होती है कि उनके हृदय की वृत्ति सर्वदा श्रीभगवान्में लीन रहती है।"

इसके सिवा जिज्ञासुजनोंके ध्यानकी दूसरी अवस्था यह है कि वे भगवान्को अन्तर्यामी जानकर मलिन संकल्पों से सकुचे रहते हैं। किन्तु उनके चित्तकी वृत्ति भगवान्में लीन नहीं रहती, इसलिये वे इन्द्रियादिसम्बन्धी व्यापारके संकल्पसे पूर्णतया मुक्त नहीं होते। इसका दृष्टान्त यह है कि जैसे कोई पुरुष अपने घरमें नंगा होकर कोई काम करता हो और उस समय अकस्मात् कोई बालक आ जाय तो वह तत्काल सावधान होकर वस्त्र ओढ़ लेता है, परन्तु इससे उसे विशेष विस्मय नहीं होता। किन्तु उत्तम पुरुषोंके ध्यानके लिये यह दृष्टान्त दिया जायगा कि जैसे अकस्मात् किसी के घरमें राजा आ जाय और वह पुरुष पहलेसे नंगा बैठा हो तो

राजा को देखते ही उसकी सारी सुधि-बुधि भूल जायगी और वह उसके तेजसे मूर्च्छित हो जायगा। इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी भगवान्के ऐश्वर्यको देखकर विस्मित हो जाते हैं तथा उनमें मन की चञ्चलता बिलकुल नहीं रहती। किन्तु जिज्ञासुओंके तो सभी संकल्प नष्ट नहीं होते, इसलिये उनके चित्तकी वृत्ति कभी तो स्थिर होती है और कभी विक्षिप्त हो जाती है। इसीसे जिज्ञासुको चाहिये कि वह सर्वदा अपने मनकी गति-विधिपर ध्यान रखे और अपनी सम्पूर्ण क्रियाओंको दो प्रकारकी दृष्टियोंसे देखता रहे। उनमें पहली दृष्टि तो यह है कि अपने कार्यमें पहले ही मनके संकल्पपर विचार करे कि यह विचार मेरे चित्तमें क्यों उठा। यदि वह विचार सात्त्विक और निष्काम हो तो उसे पूर्ण करे और यदि मान अथवा भोगोंकी वासना से युक्त हो तो धैर्यसे काम ले और प्रभुको अपने समीप समझकर बुरा काम करने में लज्जा करे। तथा अपने मनको धिक्कारे कि तूने यह संकल्प क्यों किया, इससे भला तुझे क्या लाभ होगा? फिर सन्तजनोंने परलोकमें जो पापकर्मोंका दण्ड प्राप्त होनेकी बात कही है उसे याद रखे। सम्पूर्ण कर्मोंके आरम्भ में सर्वदा ऐसी ही दृष्टि रखनी चाहिये कि जब कोई संकल्प फुरे तो ध्यानपूर्वक उसपर विचार कर ले।

महापुरुष ने कहा है कि यह मनुष्य जितने कर्म करता है उन सभी के विषयमें देवतालोग अलग-अलग पूछते हैं और तीन प्रकार के प्रश्न करके इस जीवको त्रास दिखलाते हैं—(१) अमुक कर्म तुमने क्यों किया? (२) किस प्रकार किया? और (३) किस उद्देश्यसे किया? इनमें प्रथम प्रश्नका तात्पर्य तो यही है कि तुम्हें कर्म तो शुभ ही करना चाहिये था, फिर अपने मनकी वासनासे प्रेरित होकर तुमने पाप क्यों किया? किन्तु यदि उसने वह कर्म वासनासे प्रेरित होकर न किया हो तब उससे यह पूछा जाता है कि यद्यपि तुमने कर्म तो सात्त्विक ही किया तथापि भय और

विचारके सहित उसे विधिवत् पूरा नहीं किया अथवा मूर्खतासे बिना युक्ति के ही किया, क्योंकि सब कर्मों की युक्तियाँ तो अलग-अलग होती हैं, अतः तुमने यह कर्म किस प्रकार पूरा किया ? यह दूसरे प्रश्नका तात्पर्य है। और यदि उस पुरुषने वह कर्म विधिवत् भी किया हो तब इस प्रकार पूछते हैं कि शुभकर्म तो केवल निष्काम ही करना चाहिये था, सो तुमने वह कार्य दम्भ के उद्देश्य से किया या निष्काम भावसे ? यदि तुम्हारा उद्देश्य निष्काम था तब तो तुम्हें उसका उत्तम फल ही प्राप्त होगा और यदि उसे किसी अन्य निमित्त से किया था तो तुम्हें उसका फल प्राप्त नहीं हो सकता। और तुम्हें तो यही आदेश था कि प्रभु निष्काम कर्म को ही स्वीकार करते हैं। यह तीसरे प्रश्न का तात्पर्य है।

इस प्रकार जिसने इस रहस्यको अच्छी तरह समझा है वह एक क्षणके लिये भी मनकी ओरसे असावधान नहीं हो सकता। और पुरुषार्थपूर्वक अशुभ संकल्पोंके मूलही को शुद्ध करता है। यदि पुरुष ऐसा नहीं करता तो अशुभ संकल्पों के कारण उसके हृदयमें शीघ्र ही स्थूल पदार्थों की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। और फिर वैसा ही संकल्प दृढ़ हो जाता है। तथा वही संकल्प उस की सब इन्द्रियों पर भी उतर आता है। इसीसे महापुरुषने कहा है कि जब तुम्हारे हृदय में कोई पाप-संकल्प फुरे तो भगवान्का भय मानकर उसे आरम्भमें ही दूर कर देना अच्छा है। पर ध्यान रहे, कितने ही संकल्प तो मनकी वासनाओंके अनुसार फुरते हैं और कितने ही शुद्ध वृत्तिमें उत्पन्न होते हैं। इनको पहचानने की विद्या भी अत्यन्त कठिन और दुर्लभ है। अतः जिस मनुष्यमें ऐसी समझ और पुरुषार्थकी दृढ़ता न हो उसे विरक्त और विचारवान् पुरुषों के संसर्ग में रहना चाहिये, क्योंकि उनके प्रकाश से इसका हृदय भी निर्मल हो जाता है। तथा जो विद्वान् मायाकी तृष्णामें आसक्त हो उसका संग कभी न करे, क्योंकि उनका तो

दर्शन ही इसके धर्म को नष्ट कर देताहै। इसी विषयमें सन्त दाऊद को आकाशवाणी हुई थी कि दाऊद ! जो विद्वान् मायाकी प्रीतिमें आसक्त हो उसके साथ कभी बात भी मत करो, क्योंकि ऐसा पुरुष तुम्हारे हृदयसे मेरी प्रीति नष्ट कर देगा। ऐसे लोग तो जीवों के धर्मका नाश करने के लिये लुटेरों के समान हैं। तथा महापुरुषने भी कहा है कि जो पुरुष अपनी तीक्ष्ण दृष्टिसे शुभाशुभका पहले ही निर्णय कर लेता है और भोगोंकी प्रबलता होनेपर भी जिसकी बुद्धि प्रमाद नहीं करती उसे भगवान् बहुत प्यार करते हैं, क्योंकि जिसने शर्राफ़ की तरह अपने उज्ज्वल बुद्धिरूप नेत्रोंसे वर्तमान अवसरको पहचाना है और फिर पुरुषार्थकी दृढ़ताद्वारा जिसने मलिन स्वभाव की प्रबलताको कुण्ठित करदिया है ऐसा पुरुष बड़ा भाग्यवान् कहा जाता है।

किन्तु बुद्धि और पुरुषार्थका ऐसा सम्बन्ध है कि जिस पुरुष में पुरुषार्थकी दृढ़ता नहीं होती उसकी बुद्धि भी प्रवृत्तिके समय यथार्थ वस्तुको ग्रहण नहीं कराती। इस विषयमें महापुरुषका कथन है कि जिस मनुष्यने पापकर्मोंको अङ्गीकार किया है, समझना चाहिये कि उसकी बुद्धि नष्ट होगयी है। एक अन्य महात्माने भी कहा है कि प्रसिद्ध यथार्थ को ग्रहण करना और प्रसिद्ध मिथ्याको त्याग देना ही अच्छा है। तथा जो बात स्वयं समझमें न आवे उसे किसी बुद्धिमान्से पूछकर उसका ग्रहण या त्याग करना अच्छा है। कर्म करते समय जिज्ञासुको दूसरी दृष्टि यह रखनी चाहिये कि सभी कर्म राजस, तामस और सात्त्विक भेदसे तीन प्रकार के होते हैं। इनमें से—

१. सात्त्विक कर्मों में तो यह ध्यान रखना चाहिये कि उन्हें निष्कामता और हृदय की एकाग्रतापूर्वक पूरा किया जाय।
२. तामसी कर्मों में यह ध्यान रखना उचित है कि भगवान् का भय मानकर पापकर्मों को त्याग दे और जो पाप पहले

कर चुका हो उनका प्रायश्चित करे ।

३. तथा राजसी कर्मोंमें यह ध्यान रखे कि शरीरके सब व्यवहारों का निर्वाह संयम एवं युक्तिके साथ करे, सब पदार्थों के दाता श्रीभगवान् को ही जाने और अपने हृदय में विचारकर यही समझे कि मैं हर समय सर्वान्तर्यामी श्रीहरि के ही सम्मुख विद्यमान हूँ । ऐसा जानकर बैठने, चलने, बोलने और सोनेके समय भी निर्भय होकर न रहे तथा भोजन के समय भी विचार को न छोड़े । उस समय श्रीभगवान्के उपकारों का इस प्रकार विचार करना चाहिये कि प्रभुने कृपा करके इस आहार में भी बड़ी भारी कारीगरी प्रदर्शित की है । प्रथम तो अन्न का आकार, रंग, सुगन्ध और स्वाद कैसा अनुपम बनाया है, फिर इस मानव शरीर में भिन्न-भिन्न अंग कैसे रचे हैं, जिससे कि यह आहार को ग्रहण करता है । हाथ, मुख, दाँत, कण्ठ, हृदय, उदर और नाभि आदि सम्पूर्ण अंग, जो आहार को धारण करते, पचाते और मल त्याग करते हैं, वे सभी भगवान् की आश्चर्यमयी रचना हैं । ऐसे आश्चर्यों का विचारना भी भगवान्का उत्तम भजन है । यह अवस्था बुद्धिमान् पुरुषों की ही होती है । इनके सिवा कोई ऐसे उत्तम पुरुष होते हैं जो इस कारीगरी को देखकर अपना ध्यान उस कारीगर की ओर रखते हैं तथा उसके स्वरूपकी सुन्दरता और सामर्थ्यमें अपने चित्तको लीन कर देते हैं । यह अवस्था तो स्पष्टतया सच्चे ज्ञानवानों की होती है । इनके सिवा जो जिज्ञासुजन हैं वे तो नानाप्रकार के भोजनों को ग्लानि की दृष्टि से देखते हैं और चाहते हैं कि हम किसी प्रकार ऐसे बन्धनों से मुक्त हों तो अच्छा हो, क्यों कि हमारा चित्त तो इन शारीरिक बन्धनों में ही फँसा हुआ

है। यह अवस्था विरक्त पुरुषों की होती है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो आहारादि को सतृष्ण दृष्टिसे देखते हैं और चाहते हैं कि अमुक भोजन करें तथा अमुक विधि से अमुक भोजन किया जाय तो विशेष स्वादिष्ट जान पड़ेगा। यदि किसी कारण से उनकी रसोई बिगड़ जाती है तो वे रसोई बनानेवाले पर क्रोध करते हैं। यह अवस्था प्रमादी पुरुषों की है। इस प्रकार शारीरिक व्यवहारों में जीवों की ये भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं,इसलिये किसी भी समय ऐसे ध्यान से अचेत नहीं होना चाहिये।

इसके आगे जिज्ञासुको अपने कर्मों की जाँच-पड़ताल करनी चाहिये। वह जब कोई कर्म करे तो एकान्त में बैठकर अपने कर्मों का निरीक्षण करे और दिन भर के सब कर्मोंपर विचार करके अपनी पूँजी और उससे होनेवाले हानि लाभको पहचाने। सन्त-जनों ने इस मनुष्य के कर्त्तव्यरूपसे जितने भी सात्विक कर्म बनाये हैं वे ही इसकी पूँजी हैं, उनके द्वारा निष्काम पद को प्राप्त करना ही परम लाभ है और पापकर्मोंमें प्रवृत्त होना ही बड़ी भारी हानि है। इसीसे जैसे व्यावहारिक साझी के साथ हिसाब रखा जाता है कि जिससे वह कुछ चुरा न ले, उसी प्रकार जिज्ञासुजन अपने मन की भी सर्वदा जाँच-पड़ताल करते रहें, क्योंकि यह मन भी बड़ा पक्का चोर है। यह छल करके अपने राजसी-तामसी मनोरथ को भी सात्त्विक रूप में प्रकट करता है। इसीसे कई वार जिसे तुम भलाई समझते हो पीछे उसका परिणाम बुरा निकलता है। अतः शरीर के खान-पान आदि कर्मों की जाँच करते रहना बहुत आवश्यक है। वह जाँच इस प्रकार की जाती है—मन से प्रश्न करे कि रे मन! तूने अमुक कर्म किस उद्देश्य से किया था? और कैसे किया था? इस प्रकार जाँच करने पर यदि मालूम हो कि मेरे मन ने अमुक कर्म अनुचित किया था तो उसे दण्ड देना चाहिये।

कहते हैं, एक भक्त ने अपनी आयुका हिसाब लगाया था कि अबतक मेरी आयु के सात वर्ष व्यतीत हुए हैं। इसमें यदि मैंने एक दिनमें एक पाप भी किया होगा तो अबतक मेरे इक्कीसहजार पाप हुए। किंतु मुझसे तो दिनमें सहस्रों पाप हुए हैं। अतः मेरी मुक्ति कैसे होगी ? ऐसा कहकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा और वहीं शरीर छोड़ दिया। यह मनुष्य अचेत तो इसलिये रहता है कि यह अपने कर्मोंका लेखा कभी नहीं देखता। यदि यह अपने पापों की गणना करे और एक-एक पापके लिए एक-एक पत्थर घरमें डाले तो थोड़े ही दिनोंमें इसका घर पत्थरों से भर जाय। तथा चित्रगुप्त भी पापों के लिखने की मजदूरी माँगने लगे तो तुरन्त इसका सारा धन ले जाय। किन्तु यह मनुष्य ऐसा दुर्बुद्धि है कि यदि आलस्य और असावधानी से भी भगवान्के कुछ नाम लेता है तो उन्हें माला की मणियोंद्वारा गिनता रहता है और बड़े अभिमान से कहता है कि आज मैंने इतने नाम लिये हैं। इसके साथ जो सारे दिन व्यर्थ वाद-विवाद करता रहता है उन शब्दों की गिनती कभी नहीं करता। यदि यह उनका लेखा देखे तो इसे दिनमें हजारों व्यर्थ वचन गिनतीमें आयेंगे। मनुष्य जो ऐसे कर्म करके भी अपने मुक्त होने की आशा रखता है वह इसकी बहुत बड़ी मूर्खता ही है। इसीसे सन्त उमरने कहा है कि परलोकमें तो देवता लोग तुम्हारे कर्मों का हिसाब रखेंगे ही, अतः तुम पहले ही अपने कर्मों का विचार करके देखो और भली प्रकार उनकी जाँच करो। ये ही सन्त रात्रि के समय अपने पैरों में चाबुक मारकर कहा करते थे कि अरे मन ! आज तूने अमुक बुरा कर्म क्यों किया ?

इसी विषय में एक गाथा है। एक सन्त ने अपनी मृत्यु के समय कहा था कि अमुक सन्त से बढ़कर मेरा कोई प्रिय नहीं है। ऐसा कहकर फिर वे बोले कि मैंने यह बात भूल से कही थी, क्योंकि मुझे तो अपना मन ही अधिक प्रिय है। तात्पर्य यह कि

इतनी ही देर में उन्होंने अपने एक वचन की जाँच कर ली। फिर उस वचन का प्रायश्चित किया और अपना अपराध क्षमा कराया। एक और सन्त ने कहा है कि एक बार मैंने सन्त उमर को एकान्त में बैठे देखा था। वे अपने से इस प्रकार कह रहे थे कि अरे मन! तुझे सभी सन्त श्रेष्ठ और मुखिया कहते हैं, अतः मैं तुझे भगवान् की शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तू उन अन्तर्यामी प्रभु से भय मान तथा उनके दण्ड और त्रास की सम्भावना सामने रख। एक महात्मा का कथन है कि जब यह मन सात्त्विक भाव में स्थित होता है तब अपने को झिड़क कर समझाता है कि तूने अमुक कर्म क्यों किया, और अमुक आहार क्यों खाया? इससे निश्चय होता है कि कर्म करने के पश्चात् जिज्ञासु को उसकी जाँच अवश्य करनी चाहिये।

(मन को दण्ड देने के विषय में)

याद रखो, तुम भले ही अपने मन की जाँच कर लो, किन्तु यदि मन का अवगुण देखकर तुम इसे दण्ड नहीं दोगे तो यह उल्टा ढीठ हो जायगा और फिर केवल समझाने-बुझाने से यह वशमें नहीं आयेगा। इसलिये उचित यह है कि यह मन जैसा पाप करे वैसा ही इसे दण्ड दिया जाय। यदि इसने अशुद्ध आहार किया हो तो भूख और संयम के द्वारा इसकी ताडना करनी चाहिये और यदि किसी समय बुरी दृष्टि से देखा हो तो आँखें मूँदकर ध्यान करो। इसी प्रकार सब इन्द्रियों के पापों का प्रायश्चित्त करके दण्ड देना चाहिये, क्योंकि जिज्ञासुजन पहले भी ऐसा ही करते रहे हैं। जैसे एक बार किसी भक्त ने एक स्त्री की ओर हाथ फैलाया था तो फिर उस हाथ को अग्नि में डालकर जला दिया। इसी प्रकार एक भजनानन्दी थे। वे सर्वदा एक एकान्त कुटी में बैठे रहते थे। संयोगवश उसी मार्ग से एक स्त्री निकली। उसकी आहट सुनकर उन्होंने उसे देखने के लिये कुटी

से बाहर आने का विचार किया और एक पैर बाहर रख भी दिया। इतने ही में उन्हें चेत हुआ और वे भगवान् से भय मानकर ठिठक गये तथा उस पापसंकल्प के लिये पश्चात्ताप करते हुए प्रभु से क्षमा माँगने लगे। यही नहीं उन्होंने अपना जो चरण कुटी से बाहर निकाला था उसे फिर भीतर नहीं किया और कहने लगे कि मेरा यह पैर पापकर्मकी ओर गया था इसलिये अब इसे कुटी के भीतर लौटाना उचित नहीं है। बस, अन्त में शीतकाल की बर्फ से गलकर उनका वह पैर गिर गया। एक अन्य प्रेमी का कथन है कि एक रात मुझे कामभाव का स्वप्न आया। फिर जब मैं जगा तो मैंने स्नान करने का विचार किया। किन्तु शीत की अधिकता देखकर मन आलस्य करने लगा और सोचा कि दिन निकलने पर गर्म जल से स्नान कर लेंगे। तब मैंने आलस्य छोड़ कर सचैल स्नान किया और अपनी भीगी गुदड़ी को भी अपने ही ऊपर सूखने को फैला दिया। मैंने यही विचार किया कि जो मन ईश्वरीय धर्म का पालन करने में आनाकानी करे उसे इसी प्रकार दण्ड देना चाहिये। इसी तरह एक और भक्त ने भी किसी स्त्री पर कुदृष्टि की थी; किन्तु फिर वे सावधान होकर पश्चात्ताप करने लगे और भगवान् की शपथ करके यह निश्चय किया कि अब इससे आगे कभी शीतल जल नहीं पीऊँगा और इसी दण्ड द्वारा मन को ताडना दूँगा। पीछे वे दश वर्ष और जीवित रहे, किन्तु शीतल जल कभी नहीं पिया। एक जिज्ञासु ने एक बार कोई भव्य भवन देखा, तब पूछा कि यह किसने बनाया है? फिर वे अपने को समझाने लगे कि इस घर से तेरा कोई प्रयोजन तो है नहीं, फिर तू यह बात क्यों पूछता है? इसीसे उन्होंने मन को दण्ड देने के लिये एक वर्ष तक व्रत रखा।

एक और सन्त थे। वे अपने खजूर के बगीचे में बैठे भजन कर रहे थे कि उनका चित्त वृक्षों की सुन्दरता देखकर विक्षिप्त

होने लगा और उन्हें भगवद्वचनों का पाठ विस्मृत हो गया। फिर जब उन्हें चेत हुआ तो उन्होंने वह सारा बगीचा दान कर दिया। एक बार एक सन्त किसी पुरुष से मिलने के लिये गये थे। वे जब उसके घर पहुँचे तो उसके पुत्र ने कहा कि वे तो सो रहे हैं। यह सुनकर वे बोले, "दिन के इस तीसरे पहर में भला, सोने का कौन समय है?" ऐसा कहकर वे चल दिये। किन्तु उस पुरुष का पुत्र उनके साथ हो लिया। रास्ते में उसने उन्हें इस प्रकार कहते सुना कि अरे मन! तू मर्यादा से हीन है। भला, तू दूसरे के सोने के समय का क्यों विचार करता है? इस बात में भला तेरा क्या प्रयोजन है? अतः तुझे दण्ड देने के लिये मैं एक साल तक अपने सिर के नीचे तकिया नहीं लगाऊँगा।" वे इस प्रकार कह कर रुदन करते चल रहे थे। फिर वे कहने लगे, "अरे मन! तू भगवान् से क्यों नहीं डरता?" इसी प्रकार एक और भक्त भी अकस्मात् अधिक सो गया, इसलिये उसका रात्रि के भजन का नियम खण्डित हो गया। तब उसने यह नियम किया कि मैं एक साल तक रात में नहीं सोऊँगा। एक और भगवत्प्रेमी थे। वे रात्रि के समय नंगे होकर तपे हुए कंकड़ों पर पड़े रहते थे और कहते थे कि ऐ मेरे मन! तू दिन में झूठ बोलता है और रात्रि में मुर्दे की तरह सोया पड़ा रहता है। मैं अनाथ तेरे बन्धन से कब छूटूँगा? अकस्मात् वहाँ महापुरुष आ निकले। उन्होंने पूछा, "तुम इतना कष्ट क्यों सहन कर रहे हो?" तब उस भक्त ने कहा, "मेरा मन अत्यन्त प्रबल है और मुझे कभी नहीं छोड़ता।" यह सुनकर महापुरुष ने कहा कि तुम निःसन्देह परम सुख के अधिकारी हो। और अपने साथियों से भी कहने लगे कि तुम भी इनसे आशीर्वाद माँगो। तब उन सभी ने उनसे आशीर्वाद माँगा और वे भक्तराज उनके लिये भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि प्रभो! आप इन सबको वैराग्य प्रदान करें और इन्हें अपने यथार्थ मार्ग से कभी

दूर न होने दें, जिससे कि ये परम सुख प्राप्त कर सकें। एक और जिज्ञासु थे। उनकी दृष्टि एक ऊँचे भवन पर पड़ी तो वहाँ एक स्त्री दिखायी दी। उसका रूप देखकर वे भयभीत हुए और उन्होंने यह निश्चय किया कि मैं जन्मभर आकाश की ओर कभी नहीं देखूँगा। एक भगवद्भक्त नित्यप्रति जब रात को दीपक जलाते थे तो उसकी शिखा पर अपनी अंगुली रखकर कहते थे कि तूने अमुक दिन अमुक कर्म क्यों किया था और अमुक आहार भी क्यों खाया था?

तात्पर्य यह कि जिन्हें अपने मन के प्रति दृष्टि हुई है उन्होंने इसी प्रकार मन को तरह-तरह की ताडनाएँ दी हैं। उन्होंने मन को ऐसा कुटिल जाना है कि यदि इसे कठोर दण्ड नहीं दिया जायगा तो यह हमारे धर्म का नाश करेगा।

(भजन के लिये प्रयत्न)

जिन पुरुषों ने मन को भजन में आलस्य करते देखा है उन्होंने उसे भजन के नियम की अधिकता में ही बाँधने का यत्न किया है। सन्त उमर के पुत्र से जब भजन का एक भी नियम खण्डित हो जाता था तो वह सारी रात दिन उगने तक सोता नहीं था, भजन ही करता रहता था। एक बार उमर से भी एक नियम का उल्लङ्घन हो गया; तब उन्होंने उसके परिशोध के लिये कई सहस्र रुपया दान किया। इसी प्रकार जिज्ञासुओं के ऐसे अनेकों उदाहरण मिल सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जब इस पुरुष का मन रुचिसहित भगवान् के नामस्मरण में न लगे तब इसे किसी दृढ भजनानन्दी की संगति में रहना चाहिये, जिससे कि उसे देखकर इसके हृदय में भी भजन का प्रेम उत्पन्न हो। एक भगवद्भक्त ने कहा है कि जब मेरा मन भजन में कुछ आलस्य करता है तब मैं अमुक भजनानन्दी की ओर देखता हूँ। सो, उसकी अवस्था को एक बार देखने से सात दिन तक मेरी श्रद्धा नयी हो

जाती है।

किन्तु यदि ऐसे पुरुषोंका संग मिलना सम्भव न हो तो उनके वचन और उनकी अवस्थाओंका वर्णन ही श्रवण करे। अथवा उनका नित्यप्रति पाठ करता रहे तो भी अच्छा ही है। अतः उदाहरणरूप से मैं भी यहाँ कुछ भजनानन्दी पुरुषों की कथाएँ वर्णन करता हूँ। सन्त दाऊद अनाजकी रोटियाँ नहीं बनाते थे। बस, आटा भिगोकर पी लेते थे। वे कहा करते थे कि जितना समय रोटी बनाने में लगता है उतनी देर में तो मैं अनेकों भगवद्वचनोंका पाठ कर लेता हूँ। अतः इस समयको मैं व्यर्थ नष्ट क्यों करूँ ? एक बार किसी व्यक्ति ने उनसे कहा कि आप जिस उपासनागृहमें रहते हैं उसकी लकड़ी टूट गयी है। तब वे बोले, "मैं तो यहाँ बीस वर्षों से रहता हूँ, किन्तु मैंने इसकी ओर कभी नहीं देखा, क्योंकि बिना प्रयोजन देखना भी अच्छा नहीं।" तथा एक और भगवद्भक्त थे। वे किसी स्थान में बैठे थे। इस समय तीन प्रहरतक उनकी दृष्टि किसी ओर नहीं गयी। तब लोगोंने उनसे पूछा कि आप नेत्र खोलकर क्यों नहीं देखते ? वे बोले कि भगवान् ने तो नेत्रोंको इसलिये उत्पन्न किया है कि उनके द्वारा इस आश्चर्यमयी रचनाको देखकर इसके रचयिताका विचार करें और उसकी सामर्थ्य का विचार करके विस्मित हों। जो पुरुष विस्मय और विचारके साथ नहीं देखता उसका देखना तो पापरूप ही है। एक और सन्तने कहा है कि मुझे अपना जीवन तीन कारणोंसे प्रिय है—

१. शीतकालकी रात्रियोंमें भगवान्की वन्दना करना।
२. ग्रीष्मऋतुके दिनोंमें उपवास रखकर भूख-प्यास सहन करना।
३. जिन पुरुषोंके सरस वाक्य यथार्थ वस्तुको लखानेवाले हैं उनका संग करना।

एक और यत्नवान् जिज्ञासु थे। उनसे लोगोंने कहा कि तुम अपने मनको इतना कष्ट क्यों देते हो? तब उन्होंने कहा, "इस मनके साथ मेरी बहुत प्रीति है, इसलिये ऐसे प्रत्यनोंद्वारा मैं इसे नरक की आगसे बचाना चाहता हूँ।" फिर लोगों ने कहा कि क्या तुम अपने बलसे मनको नरकोंसे बचा सकोगे? वे बोले, 'मैं यथाशक्ति सर्वदा प्रयत्न करता रहता हूँ, जिससे कि मुझे परलोकमें इसका पश्चात्ताप न हो कि मैंने शक्ति रहते हुए शुभ कर्म क्यों न किया?" इस विषयमें सन्त जुनेदका कथन है कि मैंने सिर्री संतके समान यत्न करनेवाला कोई और नहीं देखा। उनकी नब्बे वर्षकी आयु हुई थी, किन्तु जबतक उनका शरीर मृतक नहीं हुआ तबतक उन्होंने पृथ्वीपर कभी अपना आसन लंबा करके नहीं बिछाया। अतः उनकी ऐसी अवस्था देखकर मुझे अत्यन्त विस्मय होता है। इसी प्रकार सन्त हरीरी एक वर्षतक बोले नहीं थे। और न चरण फैलाकर सोये अथवा तकिया लगाकर बैठे ही थे। जब एक संतने उनसे कहा कि तुम इतने यत्नका निर्वाह क्यों करते हो? तो उन्होंने कहा कि भगवान्ने मेरे हृदय की श्रद्धा देखकर ही मेरे शरीर को भी पुरुषार्थ दिया है। इसी प्रकार किसीने एक भगवद्भक्तको रुधिर के आँसू बहाकर रोते देखा था। अतः उससे पूछा कि तुम ऐसा रुदन क्यों करते हो? तब उन्होंने कहा कि मैंने पहले अपनी कितनी आयु पापोंपर रुदन करते हुए व्यतीत की है, अतः अब इसलिये रक्तके आँसू बहाता हूँ कि पहले सकामभावसे मेरे जितने आँसू निकले होंगे वे सब तो व्यर्थ हो गये। लोगोंने सन्त दाऊदसे भी कहा था कि यदि तुम अपनी दाढ़ी और केशोंमें कंघी कर लिया करो तो क्या पाप होगा? तब उन्होंने कहा कि यदि मेरे लिये धर्म-सम्बन्धी कुछ भी कर्म न रहे तब तो मैं इसी काममें लगा रहूँ, परन्तु मैं ऐसा प्रमाद तो कभी नहीं करूँगा।

सन्त आविसकरनीने ऐसा नियत किया हुआ था कि एक

रात्रिमें तो वे भगवानको दण्डवत् करते रहते थे और एक रात्रिमें भगवानके नाम लिखते थे। उन्होंने अपनी सारी आयु इसी क्रमसे व्यतीत की। इसी प्रकार एक और सन्त थे। यत्नकी अधिकताके कारण उनका शरीर क्षीण हो गया था। अतः उनकी माताने उन से कहा कि तू कुछ दया अपने ऊपर भी तो कर। तब उन्होंने कहा, "मुझे कुछ भगवानकी कृपा अपेक्षित है, इसी लिये मैं थोड़ा प्रयत्न करनेमें लगा हूँ कि किसी प्रकार मुझे अविनाशी सुख प्राप्त हो जाय।" एक और संतने कहा है कि मैं आबिसकरनीके दर्शनोंके लिये गया था। किन्तु उस समय वे भजन कर रहे थे, इसलिये भय वश मैं उन्हें बुला न सका। इसी प्रकार मुझे तीन दिन निकल गये। इस बीचमें उन्होंने निद्रा या आहार कुछ भी नहीं लिया। चौथे दिन उनके नेत्रोंमें कुछ नींद आने लगी तो वे सचेत होकर कहने लगे, "प्रभो! मैं इन संयमहीन उदर और निद्राग्रस्त नेत्रोंसे आपके द्वारा अपनी रक्षा चाहता हूँ।" यह सुनकर मैंने विचार किया कि मेरे लिये तो इनका इतना ही उपदेश पर्याप्त है। एक और संत थे। उन्होंने चालीस वर्षतक अपना आसन लंबा नहीं फैलाया था। इसीसे उनके नेत्रोंमें काला पानी उतर आया था। किन्तु यह बात बीस वर्षों तक तो उन्होंने अपने सम्बन्धियोंके आगे भी प्रकट नहीं होने दी और न अपने भजनके नियम में ही कोई अन्तर आने दिया। इसी प्रकार एक संत कहते हैं कि मैं एक बार रात्रिके समय रवियाजीके पास गया था। वे उस समय भजनमें मग्न थीं, अतः मैं भी भजन करने लगा। इसी प्रकार वह सारी रात बीत गयी। जब दिन निकला तो वे बोलीं, "जिस प्रभुने हमें ऐसा पुरुषार्थ दिया है उसके उपकारका हम किस प्रकार धन्यवाद करें?" फिर बोलीं, "इस उपकारका धन्यवाद करनेके लिये हमें व्रत रखना चाहिये।"

तात्पर्य यह कि यत्न करनेवाले पुरुषों की अवस्था ऐसी ही

दृढ़ हुई है। अतः उचित यह है कि जब अपने में ऐसा पुरुषार्थ दिखायी न दे तब इनके वचनों को सुने और अपनी नीचता को पहचाने, जिससे कि इसके हृदय में भी श्रद्धा उत्पन्न हो और मन पर अंकुश रखने का सामर्थ्य प्राप्त हो।

(मन को समझाना)

इस मन की उत्पत्ति के साथ ही भगवान् ने इसका ऐसा स्वभाव बनाया है कि यह अपने हित से दूर भागता है और बुराई को बड़े प्रेम से ग्रहण करता है। अर्थात् यह भगवान् के भजन में तो आलस्य करता है और भोगों को भोगना चाहता है। साथ ही जीव को यह आज्ञा हुई है कि वह मन के स्वभाव को उलट कर उसे सीधा करे और उसे कुमार्ग से हटाकर शुभ मार्ग में लगावे। किन्तु यह कार्य तभी हो सकता है जब मन के साथ कठोरता की जाय और कुछ प्यार भी किया जाय। परन्तु भगवान् ने मन को समझने का अधिकारी बनाया है, इसलिये इसे समझाना भी उचित ही है। यद्यपि यह मन अत्यन्त कुटिल है, किन्तु जब यह किसी कार्य में अपनी निःसन्देह भलाई देखता है तो उसमें प्रीतिसहित सावधान भी हो जाता है। फिर तो वह कार्य चाहे कितना ही कठिन हो उसे कष्ट सहकर भी पूरा करना चाहता है। परन्तु यह मूर्खता और असावधानी ही इस मन के लिये बड़ा आवरण है। अतः जब तुम मन को असावधानी की निद्रा से सावधान करो और इसे सन्तजनों के वचनरूप दर्पण दिखाओ तो यह अपने हित को ग्रहण कर लेगा। इसीसे भगवान कहते हैं कि जिज्ञासुजनों के लिये मेरे वचनों को विचारना निःसन्देह लाभदायक है। अतः तुम्हें उचित है कि मन को भली प्रकार समझाओ और कभी इसके सिर से अपना अंकुश दूर न करो।

मन को समझाने के लिये उससे इस प्रकार कहना चाहिये—अरे मन! तू अपने को तो बड़ा चतुर समझता है और यदि तुझे

कोई मूर्ख कहता है तो उसपर बड़ा क्रोध भी करता है। परन्तु तेरे समान और कौन मूर्ख है ? क्योंकि तू ऐसे संकट के समय हँसी खेल में लगा हुआ है। मान लो, किसी पुरुष को पकड़ने के लिये कोई विशाल सेना आयी हो और उसके दूत उसे बाँध रहे हों, किन्तु वह मूर्खता और असावधानी के कारण उस दुःख को कुछ भी न समझ कर हँसी और खेल में ही लगा रहे, तो उसके समान और कौन मूर्ख होगा ? इसी प्रकार जितने भी मनुष्य मर चुके हैं वे ही तुझे पकड़नेवाली बड़ी भारी सेना है। वह तुझे श्मशान भूमि में ले आना चाहती है। तथा स्वर्ग और नरक भी तेरे ही लिये रचे गये हैं। इस बात का भी पता नहीं कि आज ही तुम्हारी मृत्यु का दिन हो, क्योंकि जिस कार्य को होना ही है उसे आज ही हुआ समझ लो। काल ने किसी के भी साथ ऐसी प्रतिज्ञा तो की नहीं है कि मैं अमुक दिन और अमुक ऋतुमें तुझे भक्षण करूँगा; वह तो अचानक ही आकर सबको पकड़ता है। मनुष्य को तो इसका पहलेसे कोई पता ही नहीं होता। अतः यदि तुम ऐसे कालके आनेसे पूर्व सचेत न होओ तो इससे बढ़कर और क्या मूर्खता हो सकती है ?

मन! तू सर्वदा पापकर्मोंमें आसक्त रहता है। सो, तू भगवानको अन्तर्यामी नहीं जानता तब तो निःसन्देह उनसे विमुख है और यदि अन्तर्यामी जानकर भी पाप करता है तो अत्यन्त ढीठ एवं निर्लज्ज है, क्योंकि उनके देखनेका तुझे भय तो है नहीं। अरे ! जब तेरा कोई सेवक तेरी आज्ञासे विपरीत आचरण करता है तब तो तू उसपर बड़ा क्रोध करता है। इसी प्रकार तू भगवान्के क्रोधसे क्यों भय नहीं मानता। यदि तू यह समझता हो कि मैं परलोकके दण्डको सह लूँगा तो तू अभी एक अँगुलीको अग्निपर रखकर देख अथवा ग्रीष्मकालमें एक मुहूर्त्त धूपमें खड़ा होकर देख, तब अपनी निर्बलता और अधीरताको अच्छी तरह समझ

जायगा। अथवा यदि तू ऐसा अनुमान करता हो कि मुझे पाप कर्मोंका दण्ड नहीं मिलेगा तब तो तू सन्तजनोंके कथनमें ही अविश्वास करनेवाला है। भगवान्‌ने तो पुण्य-पापोंको लखानेके लिये ही सन्तजनोंको संसारमें भेजा है और यह आज्ञा की है कि बुरा कर्म करनेवाले लोग उसका बुरा फल भोगेंगे। यदि तू इन सब बातोंको मिथ्या समझकर निर्भय रहता है तो यह तेरी जड़ता और मूर्खता ही है। और यदि तू ऐसा समझता है कि भगवान् तो बड़े दयालु हैं, इसलिये वे मुझे दण्ड नहीं देंगे, तो इस बात पर भी तो विचार कर कि वे अन्य असंख्य जीवोंको नाना प्रकारके दुःख क्यों भोग कराते हैं? जो पुरुष खेती बोयेगा वह अनाज क्यों नहीं काटेगा? इसके सिवा तू इन्द्रियजनित सुखोंके लिये भी क्यों प्रयत्न करता है तथा मायाकी प्राप्तिके निमित्त भी क्यों उद्योग करता है?

यदि तू कहे कि आपकी बात तो ठीक है, परन्तु मैं वैराग्यादि साधनोंका कष्ट नहीं उठा सकता, तो क्या तुझे इतनी समझ नहीं है कि बहुत बड़े कष्टसे बचनेके लिये सामान्य कष्ट उठा लेना भी बुद्धिमत्ता ही है। जो लोग जप-तपका दुःख अङ्गीकार कर लेते हैं वे नरकोंके भीषण कष्टसे छूट जाते हैं। और जो लोग इस कष्टको सहन नहीं करते उन्हें चिरकालतक नरकोंकी आगमें जलना पड़ता है। यदि तू इस थोड़ेसे कष्टको सहन नहीं कर सकता तो परलोकमें नरकोंके महान् कष्टको कैसे सहन करेगा? और यदि तू कष्टसे ही डरता है तो मायाकी प्राप्तिके लिये इतना यत्न और परिश्रम क्यों करता है? तथा स्वास्थ्यप्राप्तिके लिये लोभी वैद्योंकी आज्ञा मानकर सब प्रकारके स्वाद क्यों त्याग देता है? मूर्ख! तुझे यह पता नहीं है कि इस शरीरके रोगोंकी अपेक्षा तो नरकोंका दुःख अत्यन्त भीषण है। इस शरीरमें तो थोड़े ही दिन रहना है, परलोकमें तो अनन्त काल तक रहना होगा।

यदि तू कहे कि मेरे मनमें तो पापोंको त्यागनेका संकल्प है, किन्तु अभी अमुक कार्य पूरा कर लूँ तब धर्ममार्गका अनुसरण करूँगा, तो क्या तुझे इतनी भी समझ नहीं है कि यदि इसी बीचमें तुझे अकस्मात् कालने ग्रास कर लिया और तू पापोंका त्याग न कर सका तो फिर इसका क्या प्रायश्चित्त करेगा ? मालूम होता है, फिर तो तू पश्चात्तापकी अग्निमें ही पड़ा जलेगा। यदि तू ऐसा समझता हो कि अभी तो पापोंका त्यागना कठिन है, किन्तु कल कुछ सुगम हो जायगा, तो यह भी बड़ी मूर्खताकी बात है, क्योंकि तू जितनी ढील करेगा उतना ही तेरे लिये पापों और भोगोंका त्यागना कठिन होता जायगा। यदि तू समझता हो कि मैं अन्तकालमें भजन कर लूँगा तो यह ऐसी ही बात होगी जैसे कोई पुरुष पहाड़ोपर चढ़ते समय ही घोड़ेको अनाज और घी खिलावे तो उसमें तत्काल बल नहीं आ सकता और न वह पहाड़ पर चढ़ ही सकता है। अथवा जैसे कोई पुरुष विद्याध्ययनके लिये विदेशमें जाय और वहाँ पहुँचकर आलस्यवश ऐसा सोचने लगे कि मैं जब यहाँसे स्वदेशके लिये लौटूँगा तभी अध्ययन कर लूँगा और यह न सोचे कि विद्याध्ययन क्या एक-दो दिनमें हो जायगा, इसके लिये तो बहुत समयकी अपेक्षा है—तो ऐसा आलसी और अज्ञानी पुरुष तो विद्याहीन ही रह जायगा। इसी प्रकार तू भी अनेकों विकारोंसे भरा हुआ है, अतः जबतक तू अपनेको यत्नकी यन्त्रीपर चढ़ाकर चिरकालतक शोधन नहीं करेगा तबतक भगवानकी प्रीति और उनके दर्शनका अधिकारी नहीं हो सकता। अतः जब तू ऐसा प्रबल प्रयत्न करके समस्त घाटियोंको पार कर लेगा तभी तुझे परमपदकी प्राप्ति हो जायगी। और यदि तेरी यह आयु वृथा ही बीत गयी तो फिर अन्त कालमें भी कैसे भजनमें स्थित हो सकेगा ? इसीसे बुद्धिमानोंने कहा है कि तुम यौवनकी वृद्धावस्थाकी अपेक्षा, सम्पत्तिको विपत्तिकी अपेक्षा, आरोग्यको

रोगकी अपेक्षा, अवकाशको विक्षेपकी अपेक्षा और जीवनको मृत्युकी अपेक्षा श्रेष्ठ जानो।

अरे मन! तू इस देहके लिये ग्रीष्मऋतुमें ही शीतकालके लिये उपयोगी सामग्रीका संग्रह करनेका कष्ट उठाता है और प्रभुको परम कृपालु समझकर ऐसे मनोरथको नहीं त्यागता तथा आलस्यवश त्याग और भजनका कार्य भगवान्‌की दयापर छोड़ देता है। सो, तेरे इस आलस्यका कारण परलोकके सुख-दुःखके विषयमें तेरा अविश्वास ही है। किन्तु इस भगवद्विमुखताको तू अपने हृदयमें ही गुप्त रखता है। अतः इसके कारण तू सदा ही कराल कालके द्वारा दुःखग्रस्त होता रहेगा। और यदि तू यथार्थ ज्ञान प्राप्त किये बिना ही मुक्त होना चाहे, तो यह ऐसी बात होगी जैसे कोई पुरुष बिना वस्त्र पहने ही शीतकालकी सर्दीसे बचना चाहे। यह बात असम्भव ही है, क्योंकि भगवत्कृपाका अर्थ तो यही है कि प्रभुने जैसे शीतकालकी रचना की है उसी प्रकार उसकी सर्दीसे बचनेके लिये वस्त्र भी बना दिये हैं। किन्तु यदि तू प्रभुकी दयाका तात्पर्य न समझे तो इससे तेरी ही मूर्खता प्रकट होती है।

साथ ही, तू ऐसा भी न समझ कि तेरे पापोंको देखकर भगवान् कुपित होते हैं और उनके लिये तुझे दण्ड देते हैं; यह बात ऐसी नहीं है, क्योंकि तेरे पापोंके कारण नरकोंकी अग्निका बीज यहीं बढ़ जाता है, जैसे कि कुपथ्य करनेसे शरीरमें रोग उत्पन्न हो जाता है। सो, जैसे शरीरका रोग वैद्यकी अप्रसन्नतासे उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार परलोकका दण्ड भी प्रभुके कोपसे नहीं होता। वास्तवमें तो तू जो स्थूल पदार्थोंकी आसक्तिमें बँधा हुआ है यही सम्पूर्ण दुःखोंका कारण है। यदि तुझे स्वर्ग या नरककी सत्ता पर कुछ भी विश्वास न हो तो भी तू इतना तो जानता ही है कि एक दिन मरना अवश्य है और उस समय ये सारे भोग यहीं छूट जायँगे तथा तू उनके वियोगसे सन्तप्त होता रहेगा। अतः तू जितनी ही

स्थूल पदार्थोंमें प्रीति बढ़ायेगा उतना ही तुझे अधिक दुःख होगा।

ऐसा जानकर तू सचेत हो और संसारके सुखोंका अच्छी तरह विचार कर कि यदि उदयाचलसे लेकर अस्ताचल पर्यन्त तेरा शासन हो और सब लोग तुझे नमस्कार करें, तो भी थोड़े ही दिनोंमें तू और तेरी पूजा करनेवाले स्वप्न हो जायँगे और तुझे कोई स्मरण भी नहीं करेगा, जैसे कि आज पूर्वकालके अनेकों चक्रवर्ती राजाओंको भी कोई नहीं जानता। अतः इस संसारका सुख, यदि तुझे कुछ प्राप्त भी हो, तो भी वह अत्यन्त मलिन और दुःखोंसे मिला हुआ है। तू मूढ़तासे ही उसके बदले परलोक के अविनाशी सुखको खो रहा है, जैसे कोई उत्तम रत्न देकर मिट्टीका फूटा बर्तन ले ले तो उसे अत्यन्त मूर्ख ही कहेंगे। इसी प्रकार यह संसारका सुख तो मिट्टीके बर्तनके समान है। यह बहुत शीघ्र फूट जानेवाला है। यदि इसमें प्रीति करके तू अविनाशी रत्नको खो बैठेगा तो तुझे बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

तात्पर्य यह कि जिज्ञासु पुरुष इसी प्रकार मनको सर्वदा सचेत करता रहे तथा पुरुषार्थपूर्वक उसे सीधे मार्गमें चलावे एवं कुमार्ग से दूर रखे।

—:o:—

सातवीं किरण

विचार के स्वरूप, प्रयोजन और अवकाशादि का निरूपण

महापुरुषका कथन है कि एक वर्षके भजनसे भी एक घड़ीका विचार श्रेष्ठ है। तथा भगवान्‌ने भी अपने वचनों में विचार ही को श्रेष्ठ कहा है। इस प्रकार यद्यपि सभी लोग विचारकी श्रेष्ठता सुनते और मानते हैं, तथापि विचारका अर्थ कोई विरला ही समझता है। तथा इस बातको भी कोई नहीं जानता कि विचारने योग्य वस्तु क्या है? विचारने का प्रयोजन क्या है? और विचारका फल क्या है? इसीसे इन रहस्यों का स्पष्ट करना बहुत आवश्यक है। अतः पहले मैं विचारकी प्रशंसा करूँगा, फिर उसके स्वरूप का वर्णन करूँगा और उसके पश्चात् विचारका प्रयोजन तथा जिस वस्तु के विषय में विचार करना चाहिये उसका स्पष्ट वर्णन करूँगा।

(विचार की प्रशंसा)

एक रात्रिको भजन करते समय महापुरुष रोने लगे। तब आयशाने पूछा कि आपके पाप तो परमात्माने क्षमा कर दिये हैं, फिर आप क्यों रोते हैं? महापुरुष ने कहा कि मुझे भगवान् की यह आज्ञा हुई है कि आकाश और पृथ्वी में मैंने जितने आश्चर्य रचे हैं और जिस प्रकार रात्रि एवं दिन की भिन्नता बनायी है इसे अच्छी तरह विचारकर देखो। अतः मैं उनकी कारीगरीको विचारकर विस्मित हुआ हूँ, इसीसे मुझे रुलाई आती है। कारण कि जो

पुरुष प्रभुके ऐसे वचनोंका नित्यप्रति पाठ करता है और फिर भी उनपर विचार नहीं करता वह मन्दबुद्धि ही है। एक बार महापुरुष ईसासे लोगोंने पूछा था कि क्या आपके समान कोई और पुरुष भी उत्पन्न हुआ है ? तब उन्होंने कहा कि जिसका सभी भाषण भजनरूप हो, मौन विचारयुक्त हो और दृष्टि भयसंयुक्त हो वह मुझसे भी बढ़कर है। इसके सिवा महापुरुषने भी कहा है कि अपने नेत्रों को भी भजनसे वञ्चित मत रखो। तब भक्तों ने पूछा कि नेत्रों को किस प्रकार भजनमें लगाया जाय ? इसपर महापुरुषने कहा कि भगवद्वाक्योंके ग्रन्थका स्वाध्याय, चित्तमें उसका मनन और भगवान् की कारीगरीको देखकर चकित होना—यह सब नेत्रों का ही भजन है। इसीसे सन्त दाराई ने कहा है कि इस संसारमें विचारपूर्वक आचरण करने से परलोकके दुःखोंसे छुटकारा मिलता है तथा परलोकका विचार करनेसे अनुभवरूपी फल प्राप्त होता है और हृदय सजीव हो जाता है।

कहते हैं, कोई सन्त रात्रिके समय अपने घरके ऊपर बैठे थे और आकाशके नक्षत्रोंको देखकर उनके विषय में विचार करते रा रहे थे। ऐसी स्थितिमें वे मूर्च्छित होकर अपने पड़ोसीके घरमें गिर गये। तब उसने चोर समझकर तलवार निकाल ली। किन्तु जब उसने उन्हें पहचाना तो पूछा कि आपको यहाँ किसने गिरा दिया ? उन्होंने कहा, "मुझे गिरने की तो कुछ भी सुधि नहीं है। मैं तो तारामण्डलका आश्चर्य देखकर विस्मित हो रहा हूँ।"

(विचार का स्वरूप)

याद रखो, समझकी खोज ही विचार है, क्योंकि जो वस्तु लखी नहीं जाती उसे उसकी खोज के द्वारा ही पहचान सकते हैं। सो, समझ की खोज इस प्रकार होती है कि पहले दो प्रकारकी समझको परस्पर इकट्ठा करनेपर तीसरी समझ तुरन्त उत्पन्न हो जाती है, जैसे स्त्री और पुरुषका मिलाप होनेपर पुत्र उत्पन्न होता

है। इनमें जो पहली दो समझ कही गयी हैं वे मूलकी तरह हैं तथा तीसरी समझ उनके फलके समान है। फिर जब तीसरी समझ के साथ कोई और समझ मिलती है तो उनके संयोगसे चौथी समझ प्रकट हो जाती है। इसी प्रकार समझोंका मेल होनेसे ज्ञान की वृद्धि होती रहती है। किन्तु इसी प्रकार जो समझको प्राप्त नहीं कर पाता उसका कारण यह है कि वह पुरुष पहली दो प्रकारकी समझोंको नहीं जानता। भला, जिसके पास पूँजी ही न हो वह व्यापार कैसे कर सकता है। तथा जिस पुरुषके पास पहली दो प्रकारकी समझ हों भी, किन्तु जो उन दोनोंको आपसमें मिलाना न जानता हो, उसके लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे कोई पुरुष पूँजी तो रखता हो, किन्तु व्यापार करना न जानता हो तो वह भी उसके लाभसे वञ्चित रह जाता है। इसीप्रकार जो पुरुष दोनों समझोंको आपसमें मिलाना नहीं जानता वह उन दोनों की फलस्वरूपा तीसरी समझको प्राप्त नहीं कर सकता।

किन्तु इन सब बातोंका वर्णन करनेसे बहुत विस्तार हो जायगा, अतः मैं संक्षेपसे इसका एक दृष्टान्त वर्णन करता हूँ। यदि कोई पुरुष सांसारिक सुखों की अपेक्षा पारलौकिक सुखकी श्रेष्ठता समझना चाहे तो पहले उसे इस बातको समझना चाहिये कि नाशवान् वस्तु श्रेष्ठ होती है या अविनाशी? तथा यह भी पहचाने कि सांसारिक सुख नाशवान् है एवं परलोकका सुख अविनाशी है। इस प्रकार जिसने इन दो मूल विचारों को भली प्रकार समझा है उसे स्वाभाविक ही यह तीसरी समझ भी उत्पन्न हो जाती है कि संसारके सुखसे परलोकका सुख श्रेष्ठ है। अथवा यदि कोई यह समझना चाहे कि यह जगत् अनादि है या उत्पन्न किया हुआ? तो पहले उसे यह विचार करना चाहिये कि यह जगत् परिणामी है या एकरस। फिर ऐसा समझे कि परिणामी वस्तु अनादि नहीं होती। इससे सहज ही में यह तीसरी समझ

उत्पन्न हो जाती है कि यह जगत् उत्पन्न किया हुआ है, अनादि नहीं है।

तात्पर्य यह कि समझकी खोजके लिये पहले दो प्रकार की समझोंको एकत्रित करना होता है। इस युक्ति के बिना विचारकी वृद्धि नहीं हो सकती। तथा यह भी जानना चाहिये कि जैसे घोड़ा और घोड़ीके संयोगसे घोड़ा ही उत्पन्न होता है और स्त्री-पुरुषके संयोगसे मनुष्य पैदा होता है, उसी प्रकार जब दो प्रकारकी व्यावहारिक समझोंको एकत्रित किया जायगा तो उनसे तीसरी व्यावहारिक समझ ही उत्पन्न होगी, और यदि पारमार्थिक समझोंको एकत्रित किया जायगा तो उनके संयोगसे परमार्थसम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न होगा।

(विचार का प्रयोजन)

इस मनुष्यकी उत्पत्ति अज्ञानरूप अँधेरेमें हुई है, इसलिये इसे अवश्य ही प्रकाशकी आवश्यकता होती है, क्योंकि जब यह जीव विचाररूपी प्रकाशके सहित अज्ञानरूपी अँधेरे से बाहर निकले तब अपने आत्मधर्मसम्बन्धी कार्यों में लग सकता है और इस बातको समझ सकता है कि मुझे क्या करना चाहिये। तात्पर्य यह कि यदि इस विषयमें निर्णय करना हो कि मेरे लिये संसारमें आसक्त होना अच्छा है अथवा धर्ममार्गको अङ्गीकार करना? तथा देहाभिमानमें बँधना सुखरूप है या श्रीभगवान्की शरण लेने में मेरा कल्याण है—तो ऐसी पहचान विचाररूप प्रकाशके बिना और किसी प्रकार नहीं हो सकती। महापुरुष कहते हैं कि आरम्भ में तो भगवान्ने सब जीवोंको अन्धकार में ही उत्पन्न किया है और फिर सभी पर अपना प्रकाश डाला है। सो, जैसे कोई पुरुष अँधेरेके कारण दुःखित हो और उसे उससे बाहर निकलनेका कोई स्पष्ट मार्ग दिखायी न दे तब वह यत्न करके प्रकाश के लिये चकमक पत्थरको रगड़ता है। उससे अग्नि की चिनगारियाँ निक-

लती हैं और उनसे वह दीपक जला लेता है। फिर दीपकका प्रकाश होनेपर तो उसकी अवस्था ही बदल जाती है, वह समस्त पदार्थों को स्पष्टतया देख लेता है तथा कुमार्ग और सुमार्गकी भी पहचान कर लेता है एवं उस समार्गसे ही चलने लगता है।

इसी प्रकार जिज्ञासुको चाहिये कि पहले दो प्रकारकी समझों को आपसमें मिलावे, क्योंकि उनका मिलना ही चकमककी रगड़ के समान है। फिर उनके मिलने से जो तीसरी समझ उत्पन्न होती है वह निःसन्देह अग्नि के समान है। जब उस समझके प्रकाशका उदय होता है तो मनुष्यके चित्तकी श्रद्धा उलट जाती है तथा श्रद्धा के उलटने पर उसकी क्रिया भी उलट जाती है। जब इसे पता लगता है कि संसारके सब भोग नाशवान् हैं, केवल आत्म-सुख ही अविनाशी है, तब यह स्वाभाविक ही संसार के भोगोंसे मुँह मोड़ लेता है और आत्मसुखके अभिमुख हो जाता है। इससे निश्चय होता है कि विचारमें तीन प्रयोजन स्पष्ट हैं—(१) यथार्थ वस्तु की पहचान (२) चित्तकी अवस्था का उलटना और (३) अपने आचरणों को उलटना। तात्पर्य यह कि अपकर्मोंको त्यागकर शुभ-कर्म करे। किन्तु कर्मोंका उलटना तो चित्त की श्रद्धा के अधीन है और चित्तकी श्रद्धा यथार्थ तत्त्वका परिचय प्राप्त होनेपर उलटती है और यथार्थ तत्त्व की पहचान विचारसे होती है। इसलिये विचारको ही सम्पूर्ण शुभगुणोंका मूल और कुञ्जी कहा है।

(विचार का अवकाश[1])

विचार का अवकाश बहुत अधिक है, क्योंकि प्रथम तो विद्या और समझ भी अनन्त प्रकार की होती हैं और विचार उन सभी में रहता है। किन्तु जिस विचार का सम्बन्ध धर्म के साथ नहीं

१. 'अवकाश' का अर्थ है क्षेत्र अर्थात् जिसके विषय में विचार करना चाहिये। अंग्रेजी में इसी अर्थ का द्योतक Scoke शब्द है।

है उसे खोलने का तो मेरा कोई प्रयोजन भी नहीं है। तथा जिसका सम्बन्ध धर्म के साथ है उस विचार का भी तो कोई पारावार नहीं है। तथापि जिज्ञासुओं को समझाने के लिये मैं संक्षेप में उसका कुछ वर्णन करूँगा। धर्ममार्ग उसे कहते हैं जिसके द्वारा यह मनुष्य श्री भगवान्‌को प्राप्त कर सके। अतः इसका विचार प्रधानतया तो श्री भगवान् के विषय में ही होना चाहिये; अथवा वह अपने विषय में हो। भगवान् के विषय में विचार करना हो तो पहले तो उनके स्वरूप और गुणों का विचार करे और फिर उनकी कारीगरी का; तथा अपने विषय में विचार करना हो तो पहले अपने मलिन स्वभावों को विचारे, जिनके कारण इस जीव को भगवान् के प्रति आवरण पड़ा हुआ है और फिर उन्हें दूर करने के उपायोंका चिन्तन करे, जिनका मैंने विकारों के निषेध का वर्णन करनेवाले प्रसंग में विस्तार से विवेचन किया है। इनके सिवा जिन शुभ गुणों के द्वारा श्रीभगवान् की प्रसन्नता प्राप्त होती है उनका भी विचार करना ही चाहिये।

इससे निश्चय होता है कि धर्ममार्ग में विचार के चार स्थान तो स्पष्ट ही हैं। इनके लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि किसी प्रेमी का विचार या चिन्तन प्रेमास्पद को छोड़कर और कहीं कभी नहीं होता और यदि होता है तो समझना चाहिये कि उसका प्रेम निर्बल ही है, क्योंकि प्रेम की प्रबलता होनेपर तो किसी वस्तु की सुधि ही नहीं रहती। इसलिये प्रेमी पुरुष का विचार और संकल्प तो अधिकतर अपने प्रेमास्पद के दर्शन और सौन्दर्य के विषय में ही होता है, अथवा वह उसकी लीला और गुणों का चिन्तन करता है। यदि उसे अपने विषय में कोई चिन्तन होता है तो भी वह उन्हीं गुणों का स्मरण करता है जिनसे उसे अपने प्रेमास्पद की रीझ और प्रसन्नता प्राप्त होती हैं, अथवा ऐसे अवगुणों का चिन्तन होता है जिनके कारण उसे प्रियतम का

वियोग और अप्रसन्नता प्राप्त होती हैं, और इसीसे जिन्हें वह दूर करना चाहता है। इस प्रकार यद्यपि प्रेमी पुरुष के लिये विचार के स्थान चार ही हैं, तथापि उन चारों के फल प्रेमास्पद और प्रेमी ही हैं; इनके लिये उनमें अवकाश होना परम आवश्यक है। इसी प्रकार भगवान् और भक्तों के प्रेम का मार्ग भी ऐसा ही है।

(विचार का प्रथम अवकाश)

भगवद्भक्त को पहले तो यह विचारना चाहिये कि मुझमें बुरे स्वभाव और बुरे आचरण कौन हैं। इस प्रकार विचारकर अपने को उनसे मुक्त करे। पापों में भी कोई स्थूल होते हैं और कोई ये पाप सूक्ष्म। अगणित हैं, इन्हें कोई गिन नहीं सकता; तथापि जितने पाप शरीर और इन्द्रियों से होते हैं वे स्थूल कहे जाते हैं और जितने मनके मलिन स्वभाव हैं वे सूक्ष्म पाप कहे जाते हैं। इनमें से प्रत्येक पापके विचार में तीन प्रकार के बलों का प्रयोग किया जाता है—

१. अमुक स्वभाव या कर्म भला है या बुरा, क्योंकि बिना विचार किये यह बात भी जानी नहीं जा सकती।
२. जिस क्रिया या स्वभाव को बुरा जाना है उसके विषय में यह विचार करे कि यह अवगुण मुझमें है या नहीं, क्योंकि अपने मनके स्वभावों की दृढ़ विचार किये बिना परख नहीं हो सकती।
३. विचार के बल का तीसरा प्रकार यह है कि जब अपने किसी अवगुण का निश्चय हो जाय तब उसे दूर करने का प्रयत्न करे।

इस प्रकार जिज्ञासु पुरुष नित्यप्रति प्रातःकाल एकाग्रचित होकर इस विचार में तत्पर रहे। जब स्थूल पापों का विचार करना हो तो एक-एक इन्द्रिय की क्रिया का अलग-अलग विचार करे उनमें वागिन्द्रिय का विचार इस प्रकार करे कि मुझे बोलना तो

अवश्य ही होगा, किन्तु उसमें मुझे झूठ और निन्दा से बचना चाहिये। इसी प्रकार जब देखे कि मेरी जीविका अशुद्ध है तो उसे त्यागने का प्रयत्न करे। तथा जितने भी भजन के नियम और शुभ कर्म हैं उनमें दृढ़ विचारपूर्वक तत्पर रहे और ऐसा समझे कि भगवान् ने मुझे यह जिह्वा भजन और मधुर भाषण के लिये ही दी है, अतः मुझे भजन के लिये ही इसका प्रयोग करना चाहिये तथा सब लोगों के साथ मधुर भाषण करना चाहिये। भगवान ने मुझे नेत्र इसलिये दिये हैं कि उनके द्वारा प्रभुकी कारीगरी देखकर इसके कारीगर को पहचानूँ अथवा भावपूर्वक सन्त-महात्माओं के दर्शन करूँ और पापात्माओं से ग्लानि करूँ, जिससे मुझे उनका संग न हो। ऐसा होनेपर ही मुझे नेत्रों का फल प्राप्त हो सकता है। प्रभु ने धन जीवों के सुख के लिये रचा है, अतः मुझे चाहिये कि उसे अर्थियों की सेवा में लगाऊँ। यद्यपि मुझे भी इसकी अपेक्षा होती है, तथापि अपने प्रयोजन का तो मुझे पुरुषार्थ पूर्वक त्याग ही करना चाहिये।

जिज्ञासुको इसी प्रकार नित्यप्रति विचार करना चाहिये, क्योंकि सम्भव है कभी एक घड़ी के विचार में ही ऐसा शुद्ध संकल्प उत्पन्न हो जाय कि जिसके द्वारा सारी आयु के पाप निवृत्त हो जायँ और इसे पराभक्ति प्राप्त हो जाय। इसीसे महापुरुष ने कहा है कि सारी आयु के भजन से भी एक घड़ी का विचार बढ़कर है, क्योंकि विचार से होनेवाला लाभ इसे सर्वदा सुखप्रद और सहायक होता है। फिर जब स्थूल पापों का विचार कर चुके तब बाह्य शुभ कर्मों का भी विचार करे। फिर अपने हृदय के सूक्ष्म स्वभावों पर दृष्टि डाले कि मेरे चित्त में कौन-कौन मलिन वासनाएँ हैं। तथा धैर्य एवं सन्तोष आदि जितने भी मोक्षदायक शुभ कर्म हैं उनकी प्राप्ति के उपायों का विचार करे। किन्तु ऐसे गुण और अवगुणों का पूरा वर्णन किया जाय तो उनका भी

कोई अन्त नहीं हो सकता। अतः मैं उनका संक्षेप से ही कुछ वर्णन करता हूँ। कृपणता, अभिमान, अहंकार, दम्भ, ईर्ष्या, क्रोध, अधिक भोजन, व्यर्थ भाषण, धन और मनकी प्रीति, अज्ञान, एवं कठोरता आदि विकारों को विचारद्वारा दूर करना चाहिये। इसी प्रकार पापों का त्याग, दुःख में धैर्य, प्रभु के उपकारों के प्रति धन्यवाद, भगवान् के भय और आशा की समानता, माया के पदार्थों से विरक्ति, भजन में निष्कामता, सब जीवोंके प्रति कोमलता, एकता, विश्वास, भगवत्प्रेम और सन्तोष आदि जितने भी शुभ गुण हैं उन सब की प्राप्ति में विचार के बल की ही प्रधानता है। किन्तु यह विचार उसी के हृदय में उत्पन्न होता है जिसने शुभ गुणों के भेदों को अच्छी तरह समझा हो, जैसा कि मैंने इस मोक्षदायक उल्लास में ही वर्णन किया है।

अतः जिज्ञासु को चाहिये कि शुभ और अशुभ गुणों के नाम अपने पास लिखकर रख ले और जब एक अवगुण को दूर कर चुके तब दूसरे को जीतने में लग जाय। इसी प्रकार जब एक गुण को प्राप्त कर चुके तब दूसरे गुण को पाने का प्रयत्न करे। किन्तु किसी पुरुष में कोई स्वभाव प्रबल होता है और किसी में कोई दूसरा। अतः उचित है कि पहले अपने में जो स्वभाव प्रबल हो उसी को दूर करने का प्रयत्न करे। जैसे कोई विद्वान् वैराग्यसम्पन्न हो तो उसे मान की अभिलाषा दूर करनी चाहिये, क्योंकि जिन्हें विद्या और वैराग्य दोनों प्राप्त होते हैं उनमें मानका निमित्त अवश्य प्रकट हो जाता है। तब मान के कारण वह किसी की बात भी सहन नहीं कर सकता और अपनी विशेषता प्रकट करना चाहता है। इससे उसके चित्त में क्रोध और ईर्ष्या का अंकुर उपजने लगता है। ये सब स्वभाव यद्यपि अत्यन्त सूक्ष्म हैं, तथापि ये निःसन्देह दुर्गति के कारण हैं। इसलिये विद्वान् को नित्यप्रति मानसे मुक्ति पाने का प्रयत्न करना चाहिये तथा संसार की स्तुति-

निन्दा से दूर रहकर साम्यस्थिति की प्रीति में दृढ़ होना चाहिये। इससे निश्चय होता है कि अपने अवगुणों और शुभ गुणों के विचार की भी कोई सीमा नहीं है, अतः वाणीद्वारा उनका पूरा वर्णन नहीं हो सकता।

(द्वितीय अवकाश)

विचार का दूसरा अवकाश हैं श्री भगवान्। उनमें विचारकी दो प्रकार से प्रवृत्ति होती है—(१) उनके शुद्ध स्वरूप का विचार और (२) उनकी विचित्र रचना और शक्ति का विचार। यद्यपि उत्तम विचार तो भगवान् के स्वरूप और गुणों के विषय में होता है, परन्तु जो अल्पबुद्धि जीव हैं वे उनके स्वरूप का विचार तो कर नहीं सकते, इसलिये धर्मशास्त्रों में उन्हें इसके लिये निषेध किया है। सो प्रभु के स्वरूप का विचार अपनी गुप्तता के कारण कठिन नहीं है, परन्तु वह इसलिये कठिन है कि जीव के बुद्धि-रूप नेत्र अत्यन्त मन्द हैं और भगवान् का स्वरूप अत्यन्त प्रकाश-मय है। अतः वे उसे देख नहीं सकते, अपितु उसके सामने चौंधियाकर रह जाते हैं। फिर रात्रि में जब सूर्य अस्त हो जाता है तब तारामण्डल के अल्प प्रकाशमें वे नेत्र खोलते हैं। इसी प्रकार देहाभिमानी पुरुष भी भगवान् के शुद्ध स्वरूप को नहीं देख सकते। तब उसका विचार वे कैसे करेंगे ? किन्तु जो सत्पुरुष हैं वे तो बहुत उत्तम अवस्थावाले होते हैं, उन्होंने तो स्पष्ट ही भगवान् के सुन्दर स्वरूप को देखा है। पर वे भी उसे सर्वदा समान रूप से नहीं देख पाते। उनकी बुद्धि भी थकित हो जाती है जिस प्रकार सभी मनुष्य सूर्यको सम्यक् प्रकार से देख सकते हैं, किंतु अधिक देखनेपर उनकी दृष्टि कुण्ठित हो जाती है; उसी प्रकार भगवान् की अपार छवि का विचार करनेपर भी एक प्रकारका भय उत्पन्न होता है और यह जीव विस्मय एवं आश्चर्य से पागल-सा हो जाता है। इसीसे संतजन भगवान् के गुणों को जैसा जानते

हैं वैसा दूसरे लोगों को खोलकर नहीं सुनाते। तथा भगवान् ने भी उन्हें यही आज्ञा दी है कि जीवों को उनके अधिकार के अनुसार उपदेश करो और जिस प्रकार उनकी बुद्धि मेरा कुछ रहस्य समझ सके उसी प्रकार उन्हें समझाओ। अतः उनसे ऐसा कहो कि भगवान् अन्तर्यामी हैं और वे सब कुछ देखते, सुनते एवं बोलते हैं।

तात्पर्य यह है कि अल्पबुद्धि जीव यह बात भी इसलिये समझ लेते हैं क्योंकि उनमें भी देखना, सुनना और बोलना पाया जाता है। किन्तु जब उनसे यह कहा जाय कि भगवान् का बोलना मनुष्य के समान नहीं है, क्योंकि उनकी वाणी शब्द और अक्षरों से रहित अखण्ड है, तब इस बात को वे नहीं समझ पाते। अथवा यदि उनसे कहा जाय कि भगवान् का स्वरूप मनुष्य की तरह नहीं है, क्योंकि उनका न तो कोई कारण है और न वे ही किसी के कारण हैं तथा वे न तो किसी स्थान के ऊपर रहते हैं, न किसी के मध्य में रहते हैं और न उन्हें किसी दिशा में कह सकते हैं। इसके सिवा वे संसार से भिन्न भो नहीं हैं और संसार के साथ उनका कोई सन्बन्ध भी नहीं है। इसी प्रकार वे संसार से बाहर भी नहीं हैं और ससार के भीतर भी नहीं हैं। सो जब ये मन्द-बुद्धि पुरुष ऐसे शब्द सुनते हैं तब उनका पहला विश्वास भी ढीला पड़ जाता है और ये भगवान् की सत्ता ही अस्वीकार करने लगते हैं, क्योंकि ये तो भगवान् को भी अपनी ही तरह समझना चाहते हैं। उनकी महत्ता को ये कुछ नहीं समझते। ये यद्यपि उन्हें सबसे बड़ा कहते हैं तो भी चित्त में उन्हें किसी बड़े राजा के समान ही समझते हैं। और ऐसी कल्पना करते हैं कि परमेश्वर भी किसी राजा के समान सिंहासन पर बैठा हुआ सृष्टि की रचना करता होगा। वे निःसंदेह रूप से ऐसा भी समझते हैं कि मनुष्यों के समान भगवान् के भी स्थूल शरीर तथा हाथ, पाँव एवं सिर आदि अवयव होंगे, क्योंकि यदि हमारे हाथ-पाँव नहीं होते तो

हम अंगहीन एवं दुःखी हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि परमेश्वर के शरीर और नेत्र आदि इन्द्रियाँ न हों तो वह भी अंगहीन रहेगा। सो, ऐसी स्थूल बुद्धि से भगवान् रक्षा करें, क्योंकि यदि मक्खी के हृदय में समझ होती तो वह भी यही कहती कि जैसे मेरे पाँव और पंख हैं वैसे ही भगवान् के भी पंख होंगे, क्योंकि इनके कारण ही मैं आनन्द से स्वेच्छानुसार उड़ती रहती हूँ। फिर यदि मुझे उत्पन्न करनेवाला स्वेच्छानुसार न रह सके तो यह सर्वथा अनुचित ही होगा इसी प्रकार ये मनुष्य भी भगवान् के विषय में अनुमान करते हैं। इसीलिये धर्मशास्त्र में निर्गुण स्वरूप का विचार करने से लोगों को रोका है और सन्तजनों ने भी इसका स्पष्ट वर्णन नहीं किया कि भगवान् संसार से भिन्न हैं या मिले हुए हैं। उन्होंने केवल इतना ही कहा है कि भगवान के स्वरूप के समान और कोई भी वस्तु नहीं है, जिससे कि उन्हें समझा सकें। किन्तु वे भगवान् सब कुछ देखने, सुनने और जाननेवाले हैं तथा अत्यन्त समर्थ हैं। सो, यद्यपि ऐसा कहा है, तो भी इस संसार में, भगवान् का जैसा सुनना देखना और जानना है उसका भेद स्पष्ट नहीं कहा गया, क्योंकि स्थूलबुद्धि पुरुष उस भेद को समझ नहीं सकते।

तात्पर्य यह कि भगवान् के परात्पर स्वरूप को विचारने का अधिकारी तो कोई विरला सन्त ही होता है, अन्य जीवों की बुद्धि उनके स्वरूप तक पहुँच नहीं सकती। अतः सभी जीवों का अधिकार यह है कि भगवान् की विचित्र रचना का विचार करके उनकी महत्ता और समर्थता को पहचानें, क्योंकि जितने भी स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ उत्पन्न हुए हैं वे प्रभु के प्रकाश के ही प्रतिबिम्ब हैं। इस बात को इस प्रकार समझ सकते हैं कि जैसे कोई पुरुष दृष्टि की मन्दता के कारण सूर्य को न देख सके तो धूप के द्वारा ही उसके तेज का अनुभव कर ले, इसी प्रकार

रचना की विचित्रता का विचार करने से भी भगवान् की महत्ता लक्षित हो जाती है।

(तृतीय अवकाश)

सारी सृष्टि भगवान् ही की रचना है और यह सभी आश्चर्य-रूप है। अतः यदि विचार करके देखें तो पृथ्वी और आकाश[1] के जितने अणु हैं वे सब अपने उत्पन्न करनेवाले की महिमा को ही लक्षित कराते हैं और कहते हैं कि ऐसी समर्थता और उत्तम विद्या भगवान् को ही शोभा देती है। उनकी महिमा ऐसी अपार है कि यदि सातों समुद्र स्याही हों और सम्पूर्ण वृक्ष लेखनी बना लिये जायँ तथा पृथ्वी और आकाश में जितने जीव हैं वे अपनी सारी आयु लिखते रहें तब भी प्रभु की आश्चर्यमयी लीलाओं के वर्णन का अन्त नहीं आ सकता।

प्रभु ने जो सम्पूर्ण सृष्टि रची है वह स्थूल एवं सूक्ष्म भेद से दो प्रकारकी है। उनमें सूक्ष्म सृष्टि जो जीवरूपा है उसका तो कोई विचार नहीं हो सकता और जो स्थूल सृष्टि कही गयी है। उसके पुनः दो भेद हैं। उनमें एक तो हमारी दृष्टिकी विषय नहीं है; जैसे—देवता, उनके स्थान और भूत-प्रेत आदि प्राणी। अतः इनका विचार करना तो अत्यन्त कठिन है। तथा दूसरी सृष्टि हमारी दृष्टि में आती है, उसका मैं कुछ वर्णन करता हूँ। हमारे देखने में आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र आदि आते हैं। इनमें पृथ्वी के ऊपर जो पर्वत, वनस्पति, नदी, नगर और मनुष्य आदि प्राणी हैं वे सभी परम आश्चर्यरूप हैं। और आकाश में जो बादल, बर्फ, ओला, बिजली और इन्द्र-धनुष आदि हैं उन सब में भी विचार की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि इन सभी पदार्थों को भगवान् ने

---

१. 'आकाश शब्द से यहां लोकान्तर ग्रहण करने चाहिये, क्योंकि भूताकाश तो निरवयव है, उसमें तो कोई अणु हैं नहीं।

आश्चर्यरूप रचा है। अतः मैं इनमें से कुछ का संक्षेप में वर्णन करता हूँ। क्योंकि ये सब पदार्थ प्रभु की शक्ति को सूचित करनेवाले हैं और तुम्हें यह आज्ञा हुई है कि तुम मेरी रचना को सर्वदा विचार की दृष्टि से देखो और मेरी महत्ता को विचारकर चकित होओ। सो प्रथम तो भगवान् ने तुम्हीं को परम आश्चयरूप बनाया है और तुम्हारे लिये तुमसे बढ़कर कोई समीपवर्ती भी नहीं है। सो यदि तुम अपने विषय में विचार करो तो तुरन्त ही भगवान् की समर्थता और महता को पहचान लोगे।

अतः प्रथम तो तुम्हें अपनी उत्पत्ति के विषय में विचार करना चाहिये कि मैं इस संसार में कहाँ से आया हूँ? यदि विचार करके देखें तो रज और वीर्य ही तुम्हारी उत्पत्ति के कारण हैं। फिर क्रमशः मांस का पुतला बनता है, जो धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। पीछे उस मांस में ही त्वचा, नाड़ी, मेद, अस्थि और केश आदि भिन्न-भिन्न अंग उत्पन्न होते हैं। फिर इस शरीर के सिर, हाथ, पाँव, अंगुली, नासिका, कान, दाँत और नेत्र आदि भिन्न-भिन्न अवयव बन जाते हैं। तुम्हारे शरीर में जो उदर, नाभि और हृदय आदि अनेकों अवयव हैं उन सबके आकार, गुण और मर्यादा पृथक्-पृथक् ही रचे गये हैं। इनमें से एक-एक अवयव का भी अन्य अनेकों अवयवों के साथ सम्बन्ध रहता है। जैसे देखने में तो नेत्रों का आकार छोटा-सा ही है, किन्तु इसे सात पर्दे मिलाकर बनाया गया है और उनमें से प्रत्येक पर्दे का पृथक्-पृथक् गुण है। इसी से यदि एक पर्दे को भी कुछ क्षति पहुँचती है तो तुम्हारी दृष्टि मन्द हो जाती है। इस प्रकार यदि केवल नेत्रों की आश्चर्यरूपता का ही वर्णन किया जाय तो उससे कितने ही पृष्ठ और पुस्तकें लिखी जा सकती हैं।

यदि तुम अपने शरीर की अस्थियों का विचार करो तो वे भी अत्यन्त आश्चर्यरूप हैं। प्रथम तो इन्हींके कारण शरीर की दृढ़ता

होती है। यह भी विचारने की बात है कि एक जलकी बूँदसे ऐसी कठोर अस्थियाँ किस प्रकार बन जाती हैं। फिर इन अस्थियों को भिन्न-भिन्न मर्यादा से उत्पन्न किया है और इनमें भिन्न-भिन्न गुणों के निमित्त भी रखे हैं। ये शरीर के खम्भे के समान हैं। इन्हीं के ऊपर सब अंग स्थित हैं। यदि सम्पूर्ण शरीर में एक ही हड्डी होती तो यह पुरुष झुक नहीं सकता था और यदि सब हड्डियाँ अलग-अलग होतीं तो इसका खड़ा होना सम्भव नहीं था, इसीसे भगवान् ने पीठ, ग्रीवा और घुटनों की हड्डियों को आँकड़ेदार बना कर एक-दूसरे के साथ जोड़ दिया है, जिससे कि यह मनुष्य झुकने, चलने और खड़े होने में समर्थ हो सके। हड्डियों के जोड़ों पर नाड़ियाँ लपेटी हैं और उन्हें खूब दृढ़ बनाया है। एक सिर में ही पचपन अस्तियाँ मिलाई हैं। इसी प्रकार दांतों में से कुछ के सिर तो तीक्ष्ण बनाये हैं और कुछ के चौड़े रखे हैं। इसीसे कुछ दाँत तो अन्न को काटते हैं और कुछ उसे पीसते हैं। शरीर में तीन सरोवर रचे हैं। उनमें शिररूप सरोवर से तो नाड़ियों के प्रवाह कन्धों तक आते हैं और फिर वहाँ से सम्पूर्ण शरीर में फैल जाते हैं। उनके द्वारा सभी इन्द्रियों को शक्ति प्राप्त होती है और वे अपने-अपने कार्यों में तत्पर रहती हैं। इसी प्रकार दूसरा सरोवर उदर है, उससे नाड़ियों के द्वारा सब इन्द्रियों को आहार पहुँचता है। तथा तीसरा सरोवर हृदय है, उसकी नाड़ियों से सारा शरीर सजीव रहता है।

इसी प्रकार तुम अपने शरीरके एक-एक अंग को विचारकर देखो कि भगवान्‌ने इन्हें कैसी युक्तिसे रचा है और इनमें कैसे-कैसे भेद और गुण रखे हैं। देखो, ये नेत्र कैसे कौतुकरूप हैं, इनके ऊपर धूलिसे रक्षाके लिये पलक बनाये हैं। इनमें एक यह बड़ा ही आश्चर्य है कि देखनेमें तो इनका आकार बहुत छोटा है, किन्तु इनमें पृथ्वीसे लेकर आकाशपर्यन्त सारे पदार्थ समा जाते हैं। इसी

प्रकार कानोंमें कड़वा जल रखा है, जिससे कि इनमें कोई कीड़ा प्रवेश न करे, तथा इनका आकार सीप की तरह रखा है, जिससे ये शब्दको समेटकर भीतर पहुंचाता देते हैं। इसी तरह यदि मुख, हाथ, पाँव तथा अन्य अंगोंकी आश्चर्यरूपताका वर्णन किया जाय तो बहुत विस्तार हो जायगा।

तात्पर्य यह है कि जब तुम्हारे लिये किसी प्रकार विचारका मार्ग खुले तो तुम संसार की रचना करनेवाले प्रभुकी महत्ता, सामर्थ्य, दया और उनके ज्ञानको अच्छी तरह पहचान सकते हो, क्योंकि भगवान् ने नखसे लेकर शिखापर्यन्त सब आश्चर्यरूप ही रचा है। किन्तु जब तुम किसी मनुष्यकी बनायी हुई मूर्त्तिको देखते हो तो उसकी सुन्दरता देखकर विस्मत हो जाते हो और उसे बनानेवालेकी प्रशंसा करने लगते हो तथा ऐसा भी समझते हो कि प्रभुने एक वीर्यकी बूँदसे ही तुम्हारे शरीरकी कैसी अनुपम मूर्त्ति रची है; और यह भी बड़ा आश्चर्य है कि इस शरीरके अंगोंको गढ़नेवाला वह मूर्त्तिकार और उसकी टाँकी दिखायी भी नहीं देती, परन्तु प्रभुकी महिमा का विचार करके तुम्हें कुछ भी आश्चर्य नहीं होता, तथा उसकी इतनी ऊँची समझ और पूर्ण समर्थता को देखकर भी तुम पागल नहीं होते और न उनकी परम दयाको ही कभी पहचानते हो। देखो, जब भगवान्‌ने तुम्हें गर्भमें आहारका अधिकारी देखा और ऐसा भी विचार किया कि यदि यहां इसका मुँह खुलेगा तो उसमें रुधिर प्रवेश करेगा और उससे इसे दुःख होगा, तो ऐसे विपम स्थानमें उन्होंने नाभिमार्गसे तुम्हें आहार पहुँचाया और पूर्ण अनुग्रहपूर्वक तुम्हारा पालन किया। फिर जब तुम माताके गर्भसे बाहर आये तब प्रभुने तुम्हारा नाभि द्वार तत्काल मूँद दिया और आहार ग्रहणके लिये तुम्हारा मुँह खोल दिया; तथा तुम्हारे शरीरकी सुकुमारता देखकर तुम्हारी माताके स्तनोंमें दूध उत्पन्न किया और उसीको तुम्हारा आहार बना दिया,

यही नहीं, उन्होंने स्तनोंके सिरे ऐसे छोटे बनाये कि उन्हें तुम मुँह में डालकर सुगमता से चूस सको तथा उनमें छिद्र भी अत्यन्त सूक्ष्म बनाये, जिससे कि दूधके विशेष प्रवाह से तुम्हें कष्ट न हो, वह थोड़ा-थोड़ाही तुम्हारे मुँहमें जाय। तुम्हारी माताके उदरमें प्रभु ने एक ऐसा धोबी नियुक्त कर दिया जो इसके रूधिर को श्वेत दुग्ध करके स्तनोंमें पहुँचाता रहे, और माताके हृदयमें ऐसी प्रीति उत्पन्न कर दी कि यदि तुम एक घड़ी भी भूखे रहो तो उसका हृदय बेचैन हो जाय। इस प्रकार जबतक तुम दूध पीनेके अधिकारी रहे तबतक प्रभुने तुम्हारे दाँत उत्पन्न नहीं किये, जिससे कि अज्ञानवश तुम अपनी जननीके स्तनोंको न काट डालो। फिर जब तुम्हारा शरीर अन्न पचानेयोग्य हुआ तो तुम्हारे दाँत उत्पन्न हो गये, जिससे कि तुम कठोर आहारोंको भी चबा सको। किन्तु यह तो तुम्हारी मूर्खता और नेत्रहीनता ही है और इसकी कोई सीमा भी तो दिखायी नहीं देती कि तुम इन सब बातों को प्रत्यक्ष देखते और समझते भी हो तो भी अपने को उत्पन्न करनेवाले प्रभुकी महिमा को पहचान कर विस्मित नहीं होते तथा उनकी दया और अत्यन्त सुन्दरता को विचारकर उनके साथ प्रीति भी नहीं करते।

अतः जो पुरुष अपने विषयमें प्रभुकी इस अद्भुत रचना को नहीं देखता वह तो अत्यन्त अचेत और पशुओंके समान बुद्धिहीन है। भगवान्‌ने मनुष्यको जो शुद्ध बुद्धिका अधिकार दिया है उसे भी उसने व्यर्थ नष्ट किया है। तथा जो पुरुष आहार और कलहके सिवा और कुछ नहीं जानता वह निःसन्देह ज्ञानरूपी बगीचे के आनन्दसे वञ्चित रहता है। इस प्रकार जिज्ञासुओं के समझनेके लिये तो विचारका इतना ही वर्णन पर्याप्त है। यों तो एक मानव जातिकी आश्चर्यरूपताका ही वर्णन किया जाय तो मैंने जितना कहा है उससे भी लाख गुना अधिक कहा जा सकता है।

इसी प्रकार भगवान्‌ने यह पृथ्वी भी अत्यन्त कौतुकपूर्ण रची है। पृथ्वी पर उन्होंने और भी अनेकों आश्चर्य उत्पन्न किये हैं। यदि तुम अपने विषय में विचार कर चुके हो तो अब इस पृथ्वी के आश्चर्यों का भी विचार करो। देखो, प्रभुने तुम्हारे लिये यह पृथ्वीरूप शय्या कितनी विस्तृत बनायी है कि तुम जिस दिशामें भी चले जाओ उसका अन्त नहीं मिलेगा। इस पृथ्वी को उन्होंने पर्वतरूप खूटोंके द्वारा जड़ कर स्थिर किया है और इन पर्वतों की अत्यन्त कठोर शिलाओं से नदियोंके प्रवाह प्रकट किये हैं, जो सर्वदा पृथ्वीपर बहते रहते हैं। ये प्रवाह अत्यन्त धीर गतिसे चलते हैं, यदि ये अधीर होकर एकबार उछल पड़ते तो सारी पृथ्वी को ही डुबो देते। अतः उन्हें कठोर शिलाओं के नीचे दबाकर संयत किया हुआ है।

इसी प्रकार तुम अच्छी तरह विचार कर देखो कि यह मलिन मृत्तिका वसन्त ऋतुमें किस प्रकार खिल उठती है तथा मेघोंके वर्षा करनेपर किस प्रकार सजीव हो जाती है। इसी काली-कलूटी मिट्टीसे अनन्त प्रकारके रंग-विरंगे फूल प्रकट हो जाते हैं, क्योंकि भिन्न-भिन्न फूलोंके भिन्न-भिन्न रंग और गुण होते हैं तथा वे एकसे एक बढ़कर सुन्दर होते हैं। ऐसे ही यदि वृक्षों की ओर देखा जाय तो उनके रूप, सुगन्ध फल और गुण भी भिन्न-भिन्न ही रचे गये हैं तथा जिसे तुम कुछ भी आदर नहीं देते उस घास-फूसमें भी अनन्त गुण और लाभ पाये जाते हैं। उनमें कटु, मिष्ट और तिक्त आदि भिन्न-भिन्न रस हैं। कोई उनमें रोग उत्पन्न करने वाले हैं और कोई दुःखोंको दूर कर देते हैं। इसी प्रकार कोई तृण तो शरीरके लिये जीव रूप हैं और कोई भयंकर विषरूप हैं, किन्हींका स्वभाव शीतल है और किन्हीं का उष्ण है, कोई वायु-कारक है और कोई वायुनाशक हैं, कोई नींद को बढ़ानेवाले हैं और कोई उसे दूर कर देते हैं तथा कोई प्रसन्नता बढ़ानेवाले हैं

और कोई शोकप्रस्त कर देते हैं। इसी प्रकार कोई घास पशुओंका आहार है, कोई पक्षियों और कोई मृगोंकी जीविका है। तात्पर्य यह है कि प्रथम तो वनस्पतियोंकी जाति ही अगणित हैं और उन में भी एक-एक वृक्ष, तृण, और पुष्पमें असंख्य गुण हैं। इसलिये यदि तुम एकाग्र चित्तसे इनका विचार करो तो तुम्हें प्रभुके पूर्ण सामर्थ्यका स्पष्ट परिचय प्राप्त हो जाय अथवा उनकी महत्तामें तुम्हारी बुद्धि लीन हो जाय।

इसी प्रकार भगवान्ने पर्वतोंमें जो भी उत्तम पदार्थ रचे हैं उनका वर्णन नहीं किया जा सकता; जैसे सोना, चाँदी, हीरा, लाल और पन्ना आदि जो मनुष्यका शृंगार हैं उन सबकी खानियाँ प्रभुने पर्वतोंमें रखी हैं। तथा लोहा, ताँबा आदि धातुएँ, जो पात्र बनानेके लिये रची गयी हैं, वे भी पहाड़ोंमें ही प्राप्त होती हैं और इसी प्रकार गन्धक, हरताल एवं शिंगरफ आदि अनेकों गुणप्रद पदार्थ भी पहाड़ों ही में उत्पन्न किये गये हैं। इसी तरह लवणके विषयमें भी विचार करो, जिसे तुम अत्यन्त तुच्छ समझते हो; किन्तु इसीसे सम्पूर्ण भोजनोंमें स्वाद आता है। जिस देशमें एक लवण न हो उसमें सभी व्यञ्जन रसहीन हो जायँगे और लोगों को तरह-तरह के रोग हो जायँगे, क्योंकि कितने ही रोगोंका नाश तो लवणसे ही हो जाता है। इस प्रकार तुम विचारकर श्रीभगवान् की कृपा को अच्छी तरह अनुभव करो कि उन्होंने प्रथम तो तुम्हारे लिये अनेक प्रकारके भोजन रचे हैं और फिर उनके स्वाद और गुणके लिये जलके अंशसे लवण उत्पन्न किया है, जिसके गुणों का वर्णन किया जाय तो कोई अन्त नहीं हो सकता।

इसी प्रकार इस पृथ्वी पर जो अनेक प्रकारके जीव उत्पन्न किये गये हैं वे भी अत्यन्त आश्चर्यरूप हैं। उनमें कोई उड़ते हैं, कोई पैरोंसे चलते हैं और कोई तिर्यग्योनि हैं। उनका चलना पेट और छातीके बल होता है। इसके सिवा किन्हीं के दो पैर

हैं, कोई चार चरणोंवाले हैं और कोई चौबीस चरणों से चलते हैं। यदि तुम ध्यान पूर्वक पक्षियों और पृथ्वी के कीड़ों की ओर देखो तो इनके भी भिन्न-भिन्न रूप और पृथक् पृथक् गतियाँ हैं। इनमें एकसे एक बढ़कर सुन्दर हैं और जिसे-जिस चीजकी अपेक्षा थी वही उसे मिली हुई है। उन सभी को प्रभुने अपना-अपना आहार ग्रहण करने की युक्ति और अपने बच्चों के पालन की विधियाँ भी सिखायी हैं तथा अपने घसले और घर बनानेकी समझ भी दी है। चिउटोंको ही देखो, वे किस प्रकार समयको पहचानकर किस तरह आहार इकट्ठा करते हैं तथा किसयुक्तिसे अनाजके दाने अपने बिलमें रखते हैं, जिससे कि वे अंकुरित न हों। इसी प्रकार यदि तुम अच्छी तरह मकड़ीकी ओर देखो तो मालूम होगा कि वह किस प्रकार अपना घर बनाती है, अपने मुँहके थूकसे ही सूत निकालती है, मकानका कोना ढूँढ कर उस सूतका ताना-बाना फैलाती है, उसी घरमें अपने बच्चोंको रखती है और मक्खियोंको पकड़नेके लिये स्वयं उसके कोनेमें छिप कर बैठ जाती है। जब वह अकस्मात् मक्खीको पकड़ लेती है तो उसे सब ओर से तन्तुओंद्वारा लपेट देती है, जिससे कि किसी प्रकार मक्खी निकल न जाय। इसी प्रकार वह मक्खियोंको पकड़-कर अपना पेट भरती रहती है। इसके सिवा भृङ्गी मक्खी पर दृष्टि दी जाय तो मालूम होगा कि वह अपना घर बड़ा ही अनुपम बनाती है।

तात्पर्य यह कि भगवान् ने कृपा करके कीड़ों में भी ऐसी उत्तम समझ और अनुभव रखे हैं कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे मच्छरको यह समझ दी है कि रक्त ही तेरा आहार है, इसलिये उसका डंक बहुत तीक्ष्ण और सूक्ष्म है तथा भीतर से वह पोला होता है। सो जब वह उस डंकको शरीर में चुभोता है तो उसके द्वारा तुरन्त ही रक्त खींच लेता है। साथ ही

उसमें इतनी फुर्ती भी है कि यदि कोई उसे पकड़ना चाहता है तो वह तुरंत ताड़ लेता है और वहाँ से भाग जाता है, एवं थोड़ी ही देरमें फिर लौट आता है। इस प्रकार हम समझते हैं कि यदि इस मच्छर में मनुष्यकी-सी बुद्धि और जिह्वा होती तो यह अपनेको उत्पन्न करनेवाले प्रभु की इतनी प्रशंसा करता कि सब लोग सुन-कर आश्चर्यचकित हो जाते। किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो उसकी अवस्था स्वयं ही भगवान्की महिमाको सूचित करती है। सो, ऐसे आश्चर्यमय जीव भी उस अनन्त ही ने रचे हैं। किसी मनुष्यमें तो इतना सामर्थ्य भी नहीं पाया जाता जो प्रभुके करोड़ों आश्चर्योंमें से किसी एक आश्चर्यको भी पहिचान सके अथवा उसका वर्णन कर सके। किन्तु तुम्हारी बुद्धिमें तो इतना विचार भी उत्पन्न नहीं होता कि ये सुन्दर आकार और उत्तम अंगोंवाले जो नाना प्रकारके जीव हैं वे सब स्वयं ही उत्पन्न हो गये हैं, या तुमने उन्हें बनाया है? अथवा तुम्हारे और उनके बनानेवाले एकमात्र वे प्रभु ही हैं। अतः प्रभुकी शक्ति तो वाणीका विषय नहीं बन सकती।

इस प्रकार यद्यपि असंख्य पदार्थ सर्वदा स्वयं ही स्पष्टतया उनकी महिमाको लखाते रहते हैं, किन्तु उन्होंने मायासे इस मनुष्यके नेत्रोंको ऐसा मन्द कर दिया है कि यह ऐसे आश्चर्योंको देख नहीं पाता। तथा इस जीवकी बुद्धि ऐसी अचेत है कि यह रञ्चकमात्र भी उस अद्भुत रचनाका विचार नहीं करती। यद्यपि यह नेत्रसे अनेक प्रकारके कौतुक देखता है और श्रवणोंद्वारा अनेक प्रकारकी स्तुतियाँ भी सुनता है, तो भी जिस प्रकार भग-वान्की महिमा जाननी चाहिये वैसी नहीं जान पाता। अतः ऐसे अल्पबुद्धि जीवोंका सुनना और देखना तो निःसन्देह पशुओंके ही समान है। प्रभुने तो कागज और कलमके विना ही अनेक प्रकारके आश्चर्यमय अक्षर लिखे हैं, उन्हें ये जीव नहीं देख सकते।

एक चिउँटे ही को लो। यह बहुत ही छोटा कीड़ा है। यदि तुम इसीकी ओर अच्छी तरह ध्यान दो तो उसकी अवस्थारूपी वाणी निरन्तर कह रही है कि अरे मूर्ख मनुष्य ! जब तू भीत पर किसी चित्रकारके लिखे हुए चित्रको देखता है तो उसके कला-कौशलको देखकर विस्मित हो जाता है; किन्तु यदि तू एकचित्त होकर मुझपर ही दृष्टि डाले तो तुझे भगवान्‌के सम्पूर्ण सामर्थ्य और ज्ञानका परिचय मिल जाय, क्योंकि मेरा आकार यद्यपि देखनेमें छोटा है परन्तु फिर भी कृपानिधान भगवान्‌ने इतनेही से शरीर में हृदय, उदर, शिर, हाथ, पाँव, नेत्र, कान, जिह्वा, पाकस्थली और गुदा आदि सभी अंगोंकी रचना की है। इस शरीर में उन्होंने बड़ी फुर्ती रखी है और तीन बन्द लगाये हैं तथा उन तीनोंको आपसमें मिला दिया है। मेरी कमरमें उन्होंने कटिबन्ध लगाया है और मुझे काली पोशाक पहनायी है। तू समझता है कि सब जीवोंमें मैं ही श्रेष्ठ हूँ, किन्तु यदि विचारकर देखें तो तू निःसन्देह मेरा सेवक ही है। तू तरह-तरह के प्रयत्न करके अन्न बोता है, उसे पकाता है और फिर संग्रह करके उसे छिपाकर रख देता है। परन्तु प्रभुने मुझे ऐसी शक्ति दी है कि मैं सुगन्ध लेकर उसे तुरन्त ही खोज लेता हूँ। फिर तेरे पास तो एक वर्षका संग्रह रहता भी नहीं, मैं तो अपनी एक वर्षकी जीविका इकट्ठी करके रख लेता हूँ। इसके सिवा तुझे पहलेसे वर्षा और बाढ़का भी पता नहीं लगता, इसलिये तेरी अनाजकी ढेरी भीग जाती है और जलके प्रवाहमें बह भी जाती है; किन्तु मुझे तो भगवान् अकस्मात् इसकी सूचना दे देते हैं, इसलिये मैं पहलेहीसे अपना अन्नसंग्रह उठाकर दूसरी जगह रख देता हूँ। इसीसे मैं प्रभुका सर्वदा धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने मुझ-जैसे नगण्य जीवपर कृपा करके तुझ-जैसे उत्तम प्राणीको मेरा सेवक बनाया है। इसी प्रकार जितने भी छोटे-बड़े चराचर जीव हैं वे अपनी अवस्थारूपी वाणी से सर्वदा

ही भगवान्‌की स्तुति करते रहते हैं।

इसके सिवा पृथ्वी और आकाशके जितने परमाणु हैं वे भी सदा ही श्रीभगवान्‌की महिमाका ढँढोरा पीटते हैं। किन्तु ये मनुष्य अचेतता के कारण उस ढँढोरेको कभी सुन नहीं पाते। भगवान्‌ने समुद्रमें भी जो आश्चर्यरूप रचना रची है उसकी भी कुछ गणना नहीं की जा सकती। पृथ्वीमें जितने भी नदी-नद और अन्यान्य जलप्रवाह चलते हैं वे सब समुद्रके ही अंग हैं तथा यह पृथ्वी भी उसमें एक टापूके समान है। इसलिये तुम्हें समुद्रोंके आश्चर्योंपर भी विचार करना चाहिये, क्योंकि उसमें तो पृथ्वीकी अपेक्षा भी विशेष आश्चर्य हैं। पृथ्वीमें जैसे अनेक प्रकारके जीव हैं वैसे ही समुद्रोंमें भी हैं, प्रत्युत उनमें ऐसे भी अनेकों जीव हैं जैसे पृथ्वीपर नहीं देखे जाते। समुद्रमें कोई जीव तो इतने सूक्ष्म हैं कि नेत्रोंसे देखे भी नहीं जा सकते और कोई इतने विशाल हैं कि उनकी पीठको स्थल जानकर जहाजोंके लोग उतर जाते हैं। इस समुद्री सृष्टिके विषयमें विद्वानोंने अनेकों ग्रन्थ रचे हैं, अतः इसका विस्तृत वर्णन तो किया नहीं जा सकता। तथापि तुम ध्यान देकर देखो कि समुद्रमें ही ऐसे जीव हैं जिनका सीप ही शरीर है। सो, जब वर्षाका समय होता है तब उन्हें उसका पता लग जाता है और वे समुद्रसे बाहर निकलकर अपना मुँह खोलते हैं। फिर वर्षाकी बूँद मुँहमें लेकर उसे मूँद लेते हैं और समुद्रके नीचे जाकर ठहर जाते हैं। उस बूँदका वे गर्भकी तरह पोषण करते हैं, और उसीसे कुछ कालमें उनके भीतर उत्तम प्रकार के मोती बन जाते है, जिन्हें धनवान् मनुष्य धारण करते हैं। इसी प्रकार समुद्रोंमें एक प्रकारके पत्थर भी होते हैं। उनका बेलकी तरह एक गुच्छा उत्पन्न होता है, जो नित्यप्रति बढ़ता जाता है। उससे मूँगारूपी फल उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही और भी अनेक प्रकारके रत्न हैं, जो समुद्रमें उत्पन्न होते हैं। वे

सभी एक-दूसरेसे अधिक आश्चर्यमय हैं और तरह-तरहके गुण रखते हैं।

इसी प्रकार समुद्रोंमें जहाजोंका चलना है। इसके लिये भगवान्‌ने मल्लाहोंको अनुकूल और प्रतिकूल वायु की परख दी है तथा उन्हें नक्षत्रोंका भी ज्ञान सिखाया है, क्योंकि समुद्रोंमें जहाजोंका आना-जाना तारामण्डलके आधार पर होता है।❀ यह भी बड़ा आश्चर्य है, क्योंकि समुद्रके बीचमें तो जलके सिवा और कुछ भी दिखायी नहीं देता। और ये जहाज देश-देशान्तरोंमें सीधे चले जाते हैं।

अब यदि जलके ही विषयमें विचार किया जाय तो इसके रूप, निर्मलता, स्वाद और सम्बन्ध भी आश्चर्यमय हैं, क्योंकि जितना जल एक स्थानपर इकट्ठा हो जाता है उसका सम्बन्ध किसी प्रकार तोड़ा नहीं जा सकता। यह चराचरका जीवन है; इसलिये जब प्यास लगी हो और जल न मिले तो मनुष्य अपनी सारी सम्पत्ति देकर भी जल पीना चाहता है। किन्तु यदि वही जल शरीरके किसी भागमें रुक जाय तो उस समय भी यह अपनी सारी सम्पत्ति देकर उसे निकलवा देने को तैयार हो जाता है। इसी तरह वायु और मेघमण्डलकी रचना भी अत्यन्त आश्चर्यरूप है। आकाशमें निरन्तर वायु चलता रहता है, इसमें भी समुद्रके समान ऊँची-नीची तरंगें उठती रहती हैं। इसका स्वरूप ऐसा है कि वह नेत्रोंद्वारा देखा ही नहीं जा सकता। यह भी जीवोंका जीवनाधार है। जीवोंको अन्न और जलकी आवश्यकता तो समय-समयपर होती है, किन्तु वायुरूप प्राण यदि एक पलके

❀ यह बात लेखकने अपने समयके ज्ञानकी दृष्टिसे लिखी है। इस यन्त्रयुगमें तो यन्त्रोंके द्वारा ही दिशा और दूरी आदिका भी ज्ञान हो जाता है।

लिये भी रुक जायँ तो निःसन्देह उसी समय मृत्यु सामने दिखायी देने लगती है। पर इस ओर तुम्हारा तो कभी ध्यान भी नहीं जाता, इसलिये इसका वर्णन भी क्या किया जाय ? तथापि तुम थोड़ा विचार तो करो कि इस वायुमण्डलमें ही बादल, बर्फ, बिजली और बादलों की गड़गड़ाहट आदि कैसे-कैसे कौतुक रचे गये हैं। देखो, ये बादल अकस्मात् एकत्रित होकर आकाशको आच्छादित कर लेते हैं। इनकी उत्पत्ति कभी समुद्रमें होती है, कभी पर्वतोंसे होती है और कभी ये आकाशसे ही प्रकट हो जाते हैं। फिर जिन स्थानोंमें जलकी बड़ी आवश्यकता होती है वहाँ धीरे-धीरे एक-एक बूँद करके जल बरसाते हैं। उस समय भगवान्की इच्छासे जिस-जिस जीव और जिस-जिस खेती को जल पहुँचना होता है उसीको पहुँचता है। इस प्रकार ये वनस्पतियों और फलोंको सजीव करते हैं। हम लोग यद्यपि उन फलोंको भक्षण करते हैं, किन्तु असावधानीके कारण प्रभुकी इस रचनापर विचार नहीं करते और न उनकी इस पूर्ण दयापर ही दृष्टि देते हैं। यदि सब लोग मिलकर भी बादलकी बूँदोंको गिनना चाहें तो भी उनका अन्त नहीं पा सकते।

इसके सिवा कुछ देश तो ऐसे हैं जिनमें बर्फ ही गिरता है। भगवान्ने जीवोंके पोषणके लिये बर्फ भी बड़े कौशलसे बनाया है, क्योंकि यदि बादल केवल जल ही बरसाते तो वह तो साराका सारा बह जाता और अन्य ऋतुओंमें खेतीके लिये जलका अभाव रहता। अतः भगवान्ने शीतकी अधिकतासे जलको बर्फ बना दिया और उसे पर्वतोंमें बसाकर सुरक्षित रखा। वही बर्फ जैसे-जैसे ग्रीष्म ऋतुकी उष्णता बढ़ती है वैसे-वैसे ही गलकर झरनों और नदियोंके रूपमें बहता देश-देशान्तरोंमें पहुँचता है, और उससे जीवों के अनेकों कार्य सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि बर्फ के रूपमें भी भगवान्ने अपनी पूर्ण कृपा व्यक्त की है। इसी प्रकार

अन्य सब पदार्थों में भी उनकी कृपा भरपूर है। अतः पृथ्वी और आकाशके जितने अणु हैं उन सभीको प्रभुने अपने विचार के अनुसार किसी गुण या प्रयोजनके निमित्त उत्पन्न किया है। इस विषयमें प्रभुने भी कहा है कि मैंने पृथ्वी और आकाशादि सम्पूर्ण सृष्टिको अपनी समझकी प्रेरणासे उत्पन्न किया है। परन्तु इस भेद को कोई जान नहीं सकता। इसके सिवा तारामण्डल, देवगण और उनके स्थानोंको भी ऐसा आश्चर्यमय बनाया है कि उनके सामने पृथ्वी और समुद्रोंकी रचना निःसन्देह तुच्छ है। अतः भगवान्ने तुम्हें पुनः पुनः यही आज्ञा दी है कि तुम तारामण्डल और नक्षत्रोंका विचार करके मेरे सामर्थ्य को पहचानो, क्योंकि यदि तुम मेरी विचित्र रचना का विचार न करके बिना समझ ही नक्षत्रों और आकाश की नीलता को देखते रहोगे तो तुम्हारा यह देखना पशुओंकी तरह होगा। किन्तु तुम्हारी तो ऐसी मन्द बुद्धि है कि अपने शरीरसम्बन्धी आश्चर्योंकी ओर भी विचारपूर्वक नहीं देखते, फिर आकाशके आश्चर्योंको तो कैसे पहचानोगे?

अतः जिज्ञासुको चाहिये कि धीरे-धीरे विचार करके अपनी बुद्धिको बढ़ावे। पहले तो अपने शरीरान्तर्गत आश्चर्यों का ही विचार करे, फिर पृथ्वीपर जो नाना प्रकारके जीव हैं उनके आश्चर्यों को विचारदृष्टिसे देखे और उसके पश्चात् वनस्पति एवं पर्वतों की जो अद्भुत रचना है उसपर चित्त लगावे। तत्पश्चात् क्रमशः समुद्र, मेघमण्डल, देवपुरियों और नक्षत्रों के आश्चर्योंका विचार करे तथा जितने भी साकार पदार्थ हैं उन्हें छोड़कर निराकार तत्त्वों को विचारे। इस प्रकार युक्तिद्वारा मनुष्य श्रीभगवान्के स्वरूपका विचार करनेमें समर्थ होता है। जगत्की रचना का विचार करने में ग्रहों और नक्षत्रों के विषयमें यह सोचना चाहिये कि प्रभुने इस ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति स्थिति और संहारके लिये आश्चर्यमय देवता ग्रह और नक्षत्र बनाये हैं, द्वादश राशियोंकी रचना की है तथा

सभी की भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ, रंग, स्वभाव और स्थान बनाये हैं तथा उन्हें भिन्न-भिन्न कार्योंमें नियुक्त किया है। आकाश में भी सबकी अलग-अलग गतियाँ हैं। उनका इतना तीव्र वेग है कि वे एक मासमें सम्पूर्ण आकाशकी प्रदक्षिणा कर लेते हैं। इसी प्रकार उनमेंसे कोई एक वर्षमें, कोई बारह वर्षोंमें और कोई तीस वर्षोंमें आकाशकी प्रदक्षिणा करते हैं।

इस प्रकार इस विद्या के आश्चर्यका कोई पारावार नहीं है, क्योंकि तुम्हें तो इस पृथ्वीके कौतुकों को देखकर ही आश्चर्य होता है, फिर आकाशमें तो प्रभुने इससे भी अनन्त गुण कौतुक रचे हैं। यदि एक सूर्यके ही आकार और प्रकाश के विषयमें विचार किया जाय तो उसमें भी हमारी बुद्धि थकित हो जाती है। जब इस बातका विचार किया जाय कि यह सूर्य एक क्षणमें ही लाखों योजन लाँघ जाता है तो उसे जानना भी बुद्धिमें समा नहीं सकता। इस से इतना ही समझना चाहिये कि जब इस सूर्यके चलने को और मर्यादाको समझना ही कठिन है तब आकाशके विस्तारको कैसे समझा जाय। और किस प्रकार उसका वर्णन किया जाय? देखो, यह आकाश इतना विस्तृत है, तो भी भगवान्ने तुम्हारे नेत्रों में ऐसी शक्ति रखी है कि यह अल्प ही जान पड़ता है। तात्पर्य यह कि तुम इस प्रकार रचनाका विचार करके भगवान्की महत्ता और ऐश्वर्यका कुछ परिचय पा सकते हो। किन्तु उनकी शक्ति तो ऐसी अपार है कि उन्होंने जो कुछ विद्या हमें कृपा करके दी है यदि उसी के अनुसार हम उसका वर्णन करने लगें तो बहुत काल बीत जाने पर भी उसका पूरा-पूरा निरूपण नहीं हो सकेगा। हमारी बुद्धि विद्वानों और ऋषियों के सामने तो कोई चीज ही नहीं है। इसी प्रकार विद्वानों और महापुरुषोंकी समझ देवताओं के सामने तुच्छ है। तथा विद्वानों, देवताओं, ऋषियों, महापुरुषों, ब्रह्मा-विष्णु आदि ईश्वरों और सम्पूर्ण सृष्टिको जितना ज्ञान है वह श्रीभगवान्

के ज्ञानके सामने तो अज्ञान के ही समान है। अतः प्रभु ही धन्य हैं, जिन्होंने सब जीवोंको इतनी समझ दी है और फिर भी सबके मस्तकपर अज्ञान का दाग लगाया है।

यहाँ अपनी बुद्धिके अनुसार मैंने जो संक्षेपमें विचार के स्वरूप का वर्णन किया है उसका प्रयोजन यह है कि तुम स्पष्टतया अपने प्रमाद को पहचान सको, क्योंकि जब तुम किसी राजाके महल का सौन्दर्य देखते हो तब तो आश्चर्यचकित होकर चिरकाल तक उसकी प्रशंसा करते रहते हो, किन्तु इस विश्वरूप भगवान्‌के मन्दिर में सर्वदा निवास करनेपर भी इसे देखकर तुम्हें कभी आश्चर्य नहीं होता। देखो, यह ब्रह्माण्डरूपी घर कैसा अनुपम और विशाल है, जिसमें पृथ्वीरूपी बिछौना बिछा हुआ है। इस मन्दिर की छत आकाश है, जो बिना ही खम्भोंके बनायी गयी है। पर्वत इसके कोष हैं, समुद्र और नदियाँ रत्नों की पेटियाँ हैं, चराचर जीव घर की सामग्री हैं, तथा चन्द्रमा, सूर्य और तारागण प्रकाश करनेवाले दीपक हैं। किन्तु तुम्हें इस घरकी आश्चर्यरूपता का इसलिये पता नहीं है, क्योंकि यह घर बहुत बड़ा है और तुम्हारे नेत्र अत्यन्त मन्द हैं। इसलिये तुम्हारी दृष्टिमें इसकी श्रेष्ठता और सुन्दरता समा नहीं सकती। इस बातको दृष्टान्तद्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं कि जैसे राजाके घरमें किसी कीड़े-मकोड़े का घर हो तो उसे अपने बिलके सिवा और कुछ नहीं सूझ सकता। इसलिये वह चींटा राजमहलकी सुन्दरता और राज्य की महत्ताको कुछ भी नहीं समझ सकता। इसी प्रकार यदि तुम चींटेकी अवस्था प्राप्त करना चाहते हो तब तो इसी प्रकार खान-पानकी चिन्तामें मग्न रहो। और यदि अपनेको मनुष्य समझते हो तब विचारको अंगीकार करके ज्ञानरूपी बगीचेकी सैर करो और बुद्धिरूपी नेत्र खोलकर भगवान्‌की विचित्र रचनाको पहचानो। ऐसा होनेपर तुम उनके स्वरूपकी विचित्रतामें डूबकर चकित हो जाओगे।

आठवीं किरण

भगवदाश्रय के विषयमें

याद रखो, भगवान्‌का आश्रय सब गुणोंसे बढ़कर है और यह श्रीहरिके समीपवर्तियोंकी अवस्था है। किन्तु इस विद्याको जानना बहुत कठिन और सूक्ष्म है। इसमें मुख्य कठिनाई यह है कि यदि यह पुरुष भगवान् के सिवा किसी देवता, मनुष्य अथवा जीव जन्तुको कर्मोंका प्रेरक एवं कर्ता देखता है, तब जानना चाहिये कि उसने श्रीभगवानकी एकता को अच्छी तरह नहीं समझा है। यदि यहऐसा निश्चय करे कि सब कुछ करने-करानेवाले एकमात्र श्री-भगवान ही हैं तब शास्त्रोंमें जो पुण्य-पापंका विभाग किया है वह व्यर्थ हो जायगा, यदि सम्पूर्ण पदार्थों के गुण-दोषोंके कारण का विचार न करे तब पदार्थोंको पहचाननेवाली बुद्धि और समझ झूठी हो जायगी और यदि भगवान्‌के सिवा किसी अन्य पदार्थ के गुण-दोषपर अवलम्बित रहता है तो भी निःसन्देह प्रभुकी एकता के विश्वासमें अन्तर आ जाता है। अतः जब बुद्धि, शास्त्र और भगवान्‌की एकताके सहित प्रभुके आश्रयका सम्यक् प्रकारसे अनुभव हो, और उससे इनमें से किसी का भी खण्डन न हो, तब इस प्रकारका भगवदाश्रय ही सबसे उत्तम होता है और वह गूढ़ से भी गूढ़ है। इसीसे हर कोई इस विद्याको प्राप्त नहीं कर सकता। अतः पहले मैं भगवदाश्रयकी श्रेष्ठता का वर्णन करूँगा, फिर उसका स्वरूप बतलाऊँगा और उसके पश्चात् उसकी अवस्था और कर्मो का वर्णन करूँगा।

(भगवदाश्रय की प्रशंसा)

भगवान् ने सब जीवोंके लिये अपना आश्रय लेना ही मुख्य कर्त्तव्य बताया है। और इसीको धर्म का मूल भी कहा है। उन्होंने यह भी कहा है कि मेरा आश्रय लेनेवाले ही मुझे अत्यंत प्रिय हैं। महापुरुषका भी कथन है कि एक बार मैंने ध्यानमें ऐसे हजारों पुरुष देखे थे जो साधना और तपस्याके बिना ही अनायास मुक्तिपद को प्राप्त हुए थे। उन्हें देखकर मैंने पूछा कि ये पुरुष कौन हैं? तब आकाशवाणी हुई कि जिन्होंने मन्त्र, यंत्र और टोनेपर विश्वास नहीं किया तथा सर्वथा श्रीभगवान्का ही भरोसा रखा, वे ही ये पुरुष हैं। इसके सिवा ऐसा भी कहा है कि भगवान् पर जैसा भरोसा रखना चाहिये, वैसा ही यदि तुम उनमें विश्वास रखो तो बिना प्रयत्न ही तुम्हें जीविका पहुँचती रहेगी, जिस प्रकार कि पक्षिगण नित्यप्रति भूखे उठकर इधर-उधर उड़ते रहते हैं और रातको तृप्त होकर शयन करते हैं। तथा यह भी कहा है कि जो पुरुष अपने चित्तमें एकमात्र श्रीभगवान्का ही भरोसा रखता है उसके सर्वस्व तो श्रीभगवान् ही होते हैं तथा वे उसके चिंता, आशा अथवा तृष्णा न करनेपर भी उसकी जीविका पहुँचाते रहते हैं। और जो पुरुष सांसारिक पदार्थों के भरोसे रहता है उसे वे उन वस्तुओंके ही आश्रय छोड़ देते हैं। कहते हैं, एक भगवदाश्रित संतको जब सन्दूकमें बंद करके अग्निकुण्ड में डालने के लिये ले चले तब वे कहने लगे कि भगवान्का आश्रय परम सुखदायक है, अतः मुझे तो उन्हींकी आशा है, उन्हीं की कृपासे मैं आजतक अग्निकुण्ड में नहीं डाला गया। फिर मार्ग में उनसे किसी देवताने कहा कि क्या तुम कुछ चाहते हो? वे बोले, "मैं तुमसे तो कुछ नहीं चाहता।" तात्पर्य यह कि ऐसी भीषण परिस्थिति में भी उन संतने श्रीभगवान् को ही अपना सहायक समझा था, और इस वचनका निर्वाह करने के कारण ही वे प्रशंसनीय हुए।

एक और संत थे ; उन्हें यह आकाशवाणी हुई थी कि साधो ! जो पुरुष एक चित्त होकर मेरा ही भरोसा करता है उस से पृथ्वी और आकाशके सम्पूर्ण प्राणी विरोध करने लगे तो भी उसे मैं किसी प्रकारका खेद नहीं होने देता। एक भगवत्प्रेमीने कहा है कि एक बार बिच्छूने मेरे हाथमें डंक मारा। तब मेरी माताने मुझे भगवान्‌की शपथ दिलाकर कहा कि तू हाथ बाहर निकाल, जिससे कि मन्त्र पढ़कर इसका विष उतार दिया जाय। किन्तु मैंने अपना दूसरा हाथ ही आगे किया और उसीपर गारुडीने मन्त्र पढ़ा, क्योंकि मैंने तो महापुरुषके वचनोंमें सुना था कि भगवदाश्रित पुरुषको मन्त्र और टोने आदिमें विश्वास नहीं होता। एक वैराग्यवान् संतने कहा है कि एकबार मैंने एक तपस्वी से पूछा था कि तुम आहार कहाँसे पाते हो ? तब उसने कहा कि मुझे इस बातका कुछ भी पता नहीं है, तुम सबको जीविका देने-वाले भगवान्‌से ही पूछो कि वे मुझे कहांसे जीविका देते हैं। इसी प्रकार एक भजनानन्दीसे किसीने पूछा था कि तुम सारा दिन तो भजनमें व्यतीत करते हो, फिर तुम्हारी उदरपूर्त्ति कैसे होती है ? तब उसने मुँह और दांतोंकी ओर संकेत करके कहा कि जिसने यह चक्की बनायी है वही इसके लिये अनाज लाता है। एक संतसे उनके किसी भक्तने पूछा था कि मैं किस नगरमें जा-कर रहूँ, तो उन्होंने कहा कि अमुक स्थानमें रहो। उसने फिर पूछा कि वहाँ मेरा निर्वाह कैसे होगा ? तब सन्तने कहा कि जीवों के हृदयोंमें भगवद्विश्वासकी कमी और संसारकी प्रबलता हो रही है, इसीसे वे उपदेशको ग्रहण नहीं करते।

(भगवान् का एकत्व और उसकी अनन्याश्रयता)

भगवदाश्रय या भगवान्‌का भरोसा मनुष्यके हृदयकी उत्तम अवस्था है और यह उत्तम धर्मका फल है। यद्यपि धर्मके द्वार अनन्त हैं, परन्तु भगवदाश्रय उनमें सबसे श्रेष्ठ है। किन्तु यह

दृढ़ तभी होता है जब मनुष्यके हृदयमें ये दो प्रकारके विश्वास दृढ़ हो—(१) श्रीभगवान्‌की एकताको अच्छी तरह समझना और उसीपर विश्वास रखना तथा (२) प्रभुको परम कृपालु और उदार जानना। भगवान्‌की एकताका वर्णन किया जाय तो उसकी कोई सीमा नहीं है तथा यह भगवदीय एकता का विज्ञान भी अन्य सब विज्ञानोंका अन्त—अवसान है; तथापि मैं तो यहाँ संक्षेपमें केवल उतनी ही एकता का वर्णन करता हूँ जितनी कि भगवदाश्रयकी दृढ़ताके लिये अपेक्षित है। एकता चार प्रकारकी है—(१) फलरूपा, (२) फलरसरूपा, (३) त्वग्रूपा, और (४) त्वचाकी त्वचा के समान। इस प्रकार दो प्रकार की एकता फलस्वरूपा है और दो प्रकारकी त्वग्रूपा है। जिस प्रकार बादाम और पिश्ताकी दो त्वचाएँ होती हैं और दो फल होते हैं। इनमें एक फल तो मींग है और एक मींगका रस है, जो फलका भी फल अर्थात् साररूप है। अतः प्रथम प्रकारकी एकता तो ऐसी होती है कि मुँहसे तो एकमात्र श्रीभगवान्‌को ही सबका मूल, सामर्थ्यवान् और कर्ता कहे, किन्तु हृदयमें उनके प्रति कुछ भी विश्वास न रखे, सो ऐसी एकता तो पाखण्डियों की होती है। दूसरे प्रकार की एकता ऐसी होती है कि दूसरोंके देखा-देखी उनमें कुछ विश्वास भी रखे, अथवा पण्डितोंके समान विद्वत्ताके कारण युक्तियोंसे हृदयमें विश्वास हो। तथा तीसरी एकता यह है कि हृदयके नेत्रोंद्वारा प्रत्यक्ष देखे कि सबके मूल एकमात्र श्रीभगवान ही हैं और परमार्थदृष्टिसे वे ही सर्वसमर्थ और सब कुछ करने-धरनेवाले हैं, अन्य सब तो पराधीन हैं और उन्हींकी प्रेरणासे चलते हैं।

सो, जब इस मनुष्यके हृदयमें ऐसे ज्ञानका प्रकाश उत्पन्न होता है तब यह बात उसे स्पष्ट दिखायी देती है। किन्तु यह अवस्था पण्डितों और संसारी जीवोंके समान नहीं होती, क्योंकि उन्हें जो विश्वास होता है उसके कारण तो युक्तिवाद और दूसरों

का अनुकरण हैं। यह तीसरी एकता तो केवल हृदयका प्रकाश है तथा भगवान्का ज्यंका त्यों दर्शन है। यथार्थ दर्शन और वचनेसे होनेवाले विश्वास में बड़ा अन्तर होता है। जैसे कोई पुरुष इस प्रकार विश्वास कर ले कि अमुक पुरुष इस समय घरमें हैं, क्योंकि मैंने अमुक व्यक्तिसे यह बात सुनी है, तो यह प्रतीति संसारी पुरुषोंके विश्वासके समान होगी, जो अपने माता-पिता अथवा अन्य गुरुजनोंसे सुनकर ही भगवान्की एकता मान लेते हैं। विद्वानोंका विश्वास ऐसा होता है जैसे कोई पुरुष किसीके द्वारपर घोड़े और सेवकको प्रत्यक्ष देखकर अनुमान कर ले कि वह पुरुष निःसन्देह इस समय घरमें है। तथा तीसरा विचारवानोंका विश्वास ऐसा होता है जैसे कोई पुरुष घरके स्वामीको प्रत्यक्ष जाकर देख ले। अतः इन तीन प्रकारके विश्वासोंमें परस्पर बड़ा ही भेद होता है।

इस प्रकार यद्यपि यह तीसरी अवस्था अत्यन्त उत्कृष्ट होती है, तथापि नानात्वदृष्टि इससे दूर नहीं होती, क्योंकि यह पुरुष इस अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर भी सृष्टि और सृष्टिके प्रेरकको भिन्न-भिन्न जानता है। अतः यह स्पष्ट ही द्वैतरूपा है। इससे भिन्न चौथी अवस्था यह है कि सबको एक ही देखे, किसी भी प्रकारका भेद न रहने दे। इस एकतामें द्वैतका अंश तनिक भी नहीं रहता। अतः संतजनोंने इस अवस्थाको निरहंकार पद कहा है। इस विषयमें एक गाथा भी है। कहते हैं, एक ज्ञानी पुरुषने किसी भगवदाश्रित पुरुषको वनमें विचरते देखा। तब उससे पूछा कि क्या तुम केवल वनमें ही विचरते हो या कभी नगरमें भी जाते हो? तब उसने कहा कि मैं यहाँ निरपेक्ष भावसे विचरकर अपनी भगवदाश्रयकी भावनाको पुष्ट किया करता हूँ। तब ज्ञानी पुरुषने कहा, "यदि तुम्हारी सारी आयु इस प्रकार उदरपूर्तिकी समस्यामें हीहो गयी तो तु व्यतीत म निरहंकार पदमें कब स्थित

होगे ?"

अतः निश्चय हुआ कि एकता चार प्रकारकी है। उन पहली पाखण्डियोंकी एकता तो बादामकी हरी त्वचा (छिलके) के समान है, जो किसी भी काममें नहीं आती। उसका प्रयोजन केवल इतना ही है कि दूसरी त्वचाके पुष्ट होनेके लिये उसकी भी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार पाखण्डियोंकी मानी हुई एकतासे भी और कोई लाभ नहीं होगा, उससे केवल इतना ही लाभ है कि धर्मशास्त्र के अभिमानी उसे मार नहीं डालते। दूसरी जो बादाम की त्वचा होती है वह एकदम मींगके ऊपर होती है। उसके कारण मींगमें कटुता नहीं आने पाती। इस प्रकार इस त्वचाका गुण प्रकट होने पर भी इसका मींग के स्वाद के साथ कोई साम्य नहीं होता। इसी प्रकार विद्वानोंकी एकता और कर्मकाण्डियोंका विश्वास यद्यपि नरकों की अग्निसे बचा लेता है तो भी उसमें विचारवानोंको प्राप्त होनेवाला आनन्द नहीं होगा। तीसरी एकता यद्यपि बादामकी मींगके समान बहुत स्वादिष्ट होती है, तथापि यदि उसका रस निकाल लिया जाय तो उस मींग की भी छूँछ ही रह जाती है। इसी प्रकार तीसरी एकता भी द्वैतदृष्टि से शून्य नहीं होती। इस लिये चौथी एकता ही पूर्णपद है, क्योंकि जिसे यह प्राप्त होजाती है वह सबको एक ही देखता है और एक ही मानता है तथा स्वयं भी उसी एकता में लीन हो जाता है।

अब, यदि तुम यह शंका करो कि यह बात मेरी समझ में नहीं आती, अतः मुझसे खोलकर कहिये कि पृथ्वी और आकाशमें जितनी सृष्टिहै वह सब तो भिन्न-भिन्न रूप ही है, फिर उस सबको एकरूप कैसे समझा जा सकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि पाखण्डियों और विद्वानोंकी एकता तो स्पष्ट ही युक्तिद्वारा समझ सकते हैं परन्तु तीसरी और चौथी एकताओंको इस प्रकार समझना कठिन है। इनमें भी चौथी एकताका तो भगवदाश्रय से

कोई सम्बन्ध है नहीं, ❀ अतः मैं तीसरी एकताको ही खोलकर कहूँगा। परन्तु जिसे चौथी एकता की समझ प्राप्त नहीं होती उसे तीसरी एकताका विशेष विवरण सुननेसे भी कोई लाभ नहीं होता। अतः यहाँ प्रसंगवश मैं संक्षेपमें चौथी एकताका भी वर्णन करता हूँ। देखो, बहुत-से पदार्थ यद्यपि भिन्न-भिन्न रूप और भिन्न-भिन्न क्रियाओंवाले होते हैं, परन्तु विचारवान् पुरुष उनका परस्पर सम्बन्ध देखकर उन्हें एकरूप ही जानता है, जैसे मनुष्यके शरीर में त्वचा, माँस, अस्थि, हाथ, पाँव तथा और भी अनेकों अंग होते हैं, परन्तु विचारदृष्टिसे मनुष्य उसे एक ही शरीर कहते हैं, इसलिये उसे देखनेवाला पुरुष यही कहता है कि मैंने अमुक व्यक्ति को देखा। वह उसके अंगोंका स्मरण भी नहीं करता। इसी प्रकार पूर्ण ज्ञान की अवस्था भी ऐसी ही है। अतः ज्ञानी पुरुष यथार्थ दृष्टि से सब पदार्थोंको एकरूप ही देखता है, क्योंकि पृथ्वी, आकाश और नक्षत्र आदि जितनी भी सृष्टि है वह एक ही शरीरके समान हैं, शरीरके अंगोंके समान ये सभी पदार्थ परस्पर सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु इन सब पदार्थोंकी एकता भी एक भावसे ही समझनी चाहिये, इनकी सब प्रकार से एकता नहीं हो सकती; जिस प्रकार कि शरीर के सब कर्मों में एक ही जीवकी सत्ता विद्यमान रहती है, पर शरीर के साथ उसकी सर्वांशमें एकता नहीं हो सकती। किन्तु इस भेदको मन्दबुद्धि पुरुष नहीं समझ सकते। भगवान्‌ने भी कहा है कि मैंने जीव को अपने शरीरकी तरह बनाया है। अतः इस वचनको मैं गुप्त ही रखना चाहता हूँ, क्योंकि ऐसे वचनों से अल्प-बुद्धि जीवोंका मन उल्टा भ्रममें पड़ जाता है।

अतः तीसरी एकता, जो भगवदाश्रयकी दृढ़ नींव है, इस प्रकार समझी जा सकती है कि सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पवन और

❀ क्योंकि इस अवस्थामें किसी प्रकार का भेद न रहने के कारण आश्रित-आश्रयभाव नहीं बन सकता।

बादल आदि जितने भी पदार्थ हैं सब एक ही पुरुष के अधीन हैं, जैसे लेखकके अधीन लेखनी होती है। लेखनी स्वयं तनिक भी हिल-डुल नहीं सकती। अतः जिस प्रकार यह जानना अनुचित है कि वह स्वयं ही हिलती-डुलती है, उसी प्रकार किसी भी पदार्थ या मनुष्य की चेष्टाओंको उसके अपने अधीन समझना अनुचित है। स्वयं मनुष्य तो अत्यन्त पराधीन और परप्रेरित होकर बर्तता है, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि जीवका कर्म बलके अधीन है और बल संकल्प के अधीन है, तथा संकल्पका उत्पन्न होना-न होना जीवके अधीन नहीं है। इससे निश्चय होता है कि जीव सर्वदा पराधीन है।

किन्तु इस बात को तुम तब समझ सकोगे जब मनुष्यके सब कर्मोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाय। सो मनुष्यके सब कर्म स्पष्टतया तीन प्रकार के हैं—

१. *स्वाभाविक कर्म*—जैसे नदी जो मनुष्यको डुबाती है वह उसका स्वभाविक कर्म है। इसी प्रकार मनुष्यका भी यह नित्यस्वभाव है कि जब वह जलमें पैर रखता है तो नीचे ही को चला जाता है।

२. *आवश्यक कर्म*—जैसे श्वास-श्वास। श्वास यद्यपि श्रद्धासे ही चलते हैं, तथापि इन्हें बलपूर्वक कोई रोक नहीं सकता।

३. *इच्छानुसारी कर्म*—जैसे बोलना-चलना आदि। अर्थात मनुष्य जब चाहे तब बोल या चल सकता है।

इनमें स्वभाविक कर्म तो स्पष्ट ही पराधीन समझे जाते हैं, क्योंकि मनुष्य का डूबना या नदीका डुबाना कभी इच्छापूर्वक नहीं होता। और यदि अच्छी तरह विचारकर देखा जाय तो आवश्यक कर्म भी पराधीन ही हैं, क्योंकि श्वासोंके आने-जाने की पुरुषको ऐसी दृढ़ आस्था होती है कि वे किसी प्रकार रोके नहीं

जा सकते । इसी प्रकार यदि कोई पुरुष किसीके नेत्रोंके आगे सूई करके डरावे तो वह नेत्रों को खुले रखना चाहनेपर भी मूँदे बिना नहीं रह सकता, क्योंकि भगवान्ने नेत्रों को ऐसी ही दृढ़ श्रद्धा प्रदान की है । इस प्रकार इन दोनों प्रकार के कर्मोंमें तो मनुष्य की पराधीनता स्पष्ट ही है ।

अब, जो बोलना-चालना आदि तीसरे इच्छानुसारी कर्म हैं इनमें मनुष्यकी पराधीनता समझनी अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह जब चाहता है तभी बोलता या चलता है, अतः इन कर्मों में इसकी पराधीनता कैसे कही जा सकती है ? इसका उत्तर यह है कि इच्छा तभी उत्पन्न होती है जब पहले बुद्धि की प्रेरणा हो। बुद्धि जिस कर्म में विशेष लाभ दिखाती है उसीके लिये तत्काल इच्छा उत्पन्न हो जाती है । और फिर इन्द्रियाँ भी चेष्टा करने लगती हैं; जैसे सूईको देखकर तत्काल ही नेत्र मुँद जाते हैं, क्योंकि उस समय बुद्धि नेत्रोंको मूँदनेमें ही लाभ दिखाती है । इसीसे इस कर्म में जीवकी दृढ़ आस्था है और इसीलिये यह आवश्यक कर्म कहा गया है, क्योंकि इसके लिये सोचने-विचारने की कोई आवश्यकता नहीं होती । इसी प्रकार यदि कोई पुरुष किसीको लाठीसे मारने लगे तो वह तुरन्त वहाँ से भाग जाता है, किन्तु यदि वह छत के ऊपर मारे तो भय के कारण उस ऊँचाई से कूदने का साहस नहीं करता । हाँ यदि छतकी ऊँचाई थोड़ी हो तो तुरन्त कूद पड़ेगा । तात्पर्य यह कि जब लाठीका दुःख अधिक दिखायी देता है तब तो नीचे कूद पड़ता है और जब कूदने की चोट का कष्ट अधिक जान पड़ता है तब उसके पाँव ऊपर ही ठिठक जाते हैं । इससे निश्चय हुआ कि इन्द्रियाँ श्रद्धाके अधीन हैं और श्रद्धा बुद्धि की आज्ञाके वशीभूत है । इसीसे जब बुद्धिके द्वारा किसी कर्म में भलाई दीखती है तो तुरन्त ही उसमें श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, अन्यथा नहीं होती, जैसे बहुत से लोग अपने पास

शस्त्र तो रखते हैं, किन्तु उससे अपना ही वध नहीं करते।

इस प्रकार यद्यपि श्रद्धा बुद्धिके अधीन है, तथापि यदि भली भाँति विचार करें तो बुद्धि भी पराधीन है, क्योंकि बुद्धि तो एक दर्पण के समान है। इसमें भलाई-बुराई स्वभाव से ही भास आती है। इसीसे यद्यपि अपना मरना भला नहीं जान पड़ता, तथापि जब विशेष पीड़ा हो तब मरना भी अच्छा लगने लगता है। इसीसे इस कर्म को इच्छानुसारी कहते हैं। किन्तु इस प्रकार का कर्म भी बुद्धि की प्रेरणा के अधीन है। यदि सूक्ष्म दृष्टिसे विचार किया जाय तो बुद्धि का पहचानना, श्वासोंका निकलना और नदी में डूबना आदि जो तीन प्रकारके कर्म कहे गये हैं वे सभी स्वाभाविक हैं। स्वभावका अर्थ यह है कि ये स्वतः प्रकृति से ही सम्पन्न होते हैं। अतः जैसे नदी में डूबना और श्वासोंका चलना मनुष्यकी सहज प्रकृति है वैसे ही बुद्धिरूपी दर्पणमें बुराई-भलाई का भासना भी बुद्धि की स्वतः प्रकृति है।

इसी प्रकार समस्त पदार्थों का सम्बन्ध परस्पर मिला हुआ है, जैसे कि जंजीर में कुन्दे होते हैं। सो ये सब पदार्थ अगणित हैं। अतः इनका वर्णन नहीं किया जा सकता। तथा इस मनुष्यमें जो बुद्धिका बल है वह भी जंजीरके एक कुन्देके समान ही है। इसीसे यह मनुष्य बुद्धि और बलकी जगह अपने ही को कर्ता मानता है। पर यह है उसकी मूर्खता ही, क्योंकि बुद्धि और बलके साथ इसका इतना ही सम्बन्ध है कि भगवान्ने इसे इनका स्थान बनाया है, जैसे कि वृक्षको हिलने का स्थान बनाया गया है। किन्तु वृक्षका हिलना बुद्धि, श्रद्धा या बलके कारण नहीं होता, इसीसे उसे मनुष्य के समान नहीं कह सकते। भगवान्के बलके आगे तो वृक्ष और मनुष्य दोनों ही पराधीन हैं, क्योंकि मनुष्यकी तरह प्रभुका बल कभी पराधीन नहीं होता। इससे निश्चय हुआ कि मनुष्य वृक्षके समान जड़ भी नहीं है और भगवान्की तरह स्वाधीन भी नहीं है।

इसलिये यह इन दोनोंका मध्यवर्ती कहाजाता है। तात्पर्य यह कि यद्यपि यह मनुष्य कर्मोंका कर्ता जान पड़ता है, तथापि इसकी बुद्धि और श्रद्धा इसके आश्रित नहीं हैं।

अब, यदि तुम यह प्रश्न करो कि जब इस जीव के हाथ में कुछ भी नहीं है तो इसे पाप-पुण्य की प्राप्ति क्यों होती है, सन्त जन संसार में क्यों आते हैं तथा शास्त्र किस लिये हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि एकता शास्त्रों के भीतर है और शास्त्र एकता के भीतर हैं। किन्तु इसमें अधिकांश अल्पबुद्धि जीव डूब जाते हैं। इसमें डूबने से तो वे ही बचते हैं जो पानी के ऊपर चल सकें, और यदि चल न सकें तो पानी में तैरना ही जानें। बहुत लोग इस प्रकार भी बच जाते हैं कि वे अपने को इस नदी में ही नहीं डालते। इसलिये वे डूबते भी नहीं। पर अल्पबुद्धि जीव इस रहस्य को नहीं जानते, अतः उन्हें किनारे पर ही रखना यह उनके ऊपर दया करना ही है, जिससे कि वे अचानक डूब न जायँ। जो लोग इस एकतारूप नदी में डूबे हैं उनमें बहुत से तो ऐसे हैं जो तैरना ही नहीं जानते और न उनमें इतनी समझ ही है कि तैरना सीख लें। अभिमानवश वे किसी से इस विषय में पूछना भी नहीं चाहते। इसलिये बीच ही में डूब जाते हैं। वे समझते हैं कि हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है, सब कुछ वे ही करते हैं। जिस के भाग्य में बुराई लिखी है वह उसे बदल नहीं सकता और जिसके प्रारब्ध में भलाई है उसे उसके लिये कोई प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं है। किन्तु ऐसा समझना भूल, अज्ञान, विनाश और मार्ग-भ्रष्ट होना ही है। तात्पर्य यह कि यह बात ऐसी नहीं है जिसका स्पष्टीकरण पुस्तकों में किया जाय। केवल प्रसंगवश यहाँ इतना कहा गया है।

इसके सिवा तुमने जो कहा कि जीव को पुण्य-पाप की प्राप्ति क्यों होती है ? उसका उत्तर यह है कि पाप-पुण्य का यह अर्थ नहीं

है कि तुमने कोई काम किया और उससे किसी ने कुपित होकर तुम्हें दण्ड दिया अथवा किसी ने प्रसन्न होकर कुछ कृपा कर दी। भगवान् तो इन दोनों बातों से असंग हैं। किन्तु जिस प्रकार वात पित्त और कफ में से किसी के विकृत होनेपर शरीर में रोग बढ़ता है और औषध करने से उसका वेग निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार जब तुम्हारे ऊपर काम-क्रोध का वेग बढ़ता है तो तुम उनके अधीन हो जाते हो और तुम्हारे हृदय में उनकी आग प्रज्वलित हो जाती है और वही तुम्हारे विनाश की कारण है। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि जिस क्रोध को तूने इतना बढ़ाया हुआ है वह अग्निरूप ही है। जिस प्रकार बुद्धि के प्रकाश की प्रबलता काम-क्रोध की अग्नि को शान्त कर देती है, उसी प्रकार धर्म का प्रकाश नरक की अग्नि को निवृत कर देता है। जिस प्रकार पवन के वेग के आगे मच्छर नहीं ठहर सकता उसी प्रकार भक्त की धर्मनिष्ठा के सामने नरकाग्नि को अपनी स्थिति रखना असम्भव हो जाता है। और इसी तरह बुद्धि के प्रकाश के सामने काम-क्रोधरूप अग्नि भी नहीं ठहर सकता।

तात्पर्य यह है कि भला-बुरा सब तुम्हारे ही भीतर उत्पन्न होता है और उसी के अनुसार तुम सुख-दुःख भोगते हो। भगवान् भी कहते हैं कि तुम्हारे कर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख होते हैं। नरकाग्नि के बीच जो काम-क्रोधादि हैं वे भी तुम्हारे अन्तःकरण में ही उत्पन्न होते हैं। सो, यदि तुम्हें भगवान् का साक्षात्कार होता तो तुम इस बात को भी स्पष्ट जान लेते। तुम जब विष को ग्रहण करते हो तभी तुम्हें रोग उत्पन्न होता है, इसी प्रकार किसी दूसरे के क्रोध से तुम्हारी कोई हानि नहीं होती, प्रत्युत तुम्हारे अपने पापकर्म और विषय भोग ही तुम्हारी बुद्धि का नाश करते हैं। यह बुद्धिनाश तुम्हारी भाग्यहीनता ही है। तथा यह हृदय के भीतर रहनेवाला अग्नि है, बाह्य स्थूल अग्नि नहीं है, जिस

प्रकार चुम्बक लोहे को खींच लेता है। अतः अपने अच्छे-बुरे कर्मों के कारण ही तुम सुख-दुःख भोगते हो, किसी के क्रोध के कारण नहीं। यह तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर है कि पाप पुण्य की प्राप्ति मनुष्य को क्यों होती है।

अब तुमने जो पूछा कि धर्मशास्त्र किस लिये हैं तथा सन्त-जनों का आगमन किस निमित्त से होता है? उसका उत्तर सुनो। यह सर्वसमर्थ भगवान् की करुणा का वेग और प्रभाव ही है कि वे जीव को बलात्कार से शुभ मार्ग में लगाकर नरकसे बचाये रहते हैं और स्वर्गीय सुखकी प्राप्ति कराते हैं। भगवान् भी कहते हैं कि दण्डद्वारा तुम्हारी रक्षा ही की गयी है। महापुरुष का कथन है कि तुम पतंग की तरह अपने को अग्नि में डालते हो, और मैं तुम्हें पकड़-पकड़कर बचाता रहता हूँ। सो, यह शृंखला भगवान् की ही है। इसका एक कुन्दा सन्तजनों के वचन हैं और उन वचनों के द्वारा तुम्हारे भीतर समझ उत्पन्न होती है, जिससे कि शुभ मार्ग और कुमार्ग को पहचाना जाता है। उन वचनों के प्रताप से बुद्धि पर चढ़ी हुई काई उतर जाती है। तब तुम्हें यह समझ प्राप्त होती है कि परलोकमार्ग में चलना इस संसार के कार्यों से बढ़कर है। इससे तुम्हारे हृदय में परलोकमार्ग में चलने की श्रद्धा उत्पन्न होती है। उस श्रद्धा के द्वारा तुम कर्म में तत्पर होते हो, क्योंकि कर्म श्रद्धा के अधीन होता है। इस प्रकार सन्त-जन इस शृंखला में बाँधकर तुम्हें नरक से बचाकर बलपूर्वक उत्तम लोकों में पहुँचाते हैं। इस विषय में यह दृष्टान्त समझना चाहिये कि संतजन एक चरवाहे के समान हैं। यहाँ दाहिनी ओर हरी दूब है और बायीं ओर सिंह एवं गढ़ा है। ये चरवाहे उस गढ़े के आगे खड़े होकर लाठी चला रहे हैं, जिससे कि बकरी के सदृश ये जीव दायीं ओर हरी घास की ओर जायँ और गढ़े तथा सिंह से इनकी रक्षा हो। इसी निमित सन्तजनों का यहाँ आगमन

हुआ है।

इसके सिवा जो तुमने कहा कि जिसके भाग्य में बुराई लिखी है उसका पुरुषार्थ करना व्यर्थ है, सो यह बात एक प्रकार से तो ठीक है, किन्तु दूसरे प्रकार से मिथ्या है। तुम्हारा यह कथन निषेध के लिये है। ऐसा विचार उन्हीं का होता है जिनका मन्द भाग्य होता है, इसीसे उनके हृदय में ऐसा विचार आता है कि वे शुभ कर्मों के लिये प्रयत्न नहीं करते। जिस प्रकार खेती न बोनेवाला पुरुष अन्न भी प्राप्त नहीं कर सकता तथा जिस मनुष्य की मृत्यु उपवास के द्वारा होनी होती है वह ऐसा समझने लगता है कि जब मेरे प्रारब्ध में भूखे रहकर ही मरना है तो मुझे भोजन करने से क्या लाभ हो सकता है? अतः वह भोजन नहीं करता और अन्त में मर जाता है। इसी प्रकार जिसके प्रारब्ध में निर्धनता लिखी होती है उसके चित्त में ऐसा संकल्प हो जाता है कि खेती के द्वारा मुझे क्या लाभ होगा? और वह बीज नहीं बोता, इसीसे निर्धन रहता है। किन्तु जिसके प्रारब्ध में धन-सम्पत्ति लिखी होती है वह तो व्यापार, खेती और भोजन के लिये उद्योग करता है। इससे जाना जाता है कि भगवान् ने जो कुछ किया है वह व्यर्थ नहीं है। प्रभु ने जिस-जिस निमित्त से जैसे-जैसे कार्य उत्पन्न किये हैं उसी के सम्बन्ध से वे सिद्ध होते हैं, अन्य प्रकार से नहीं। इसी से भगवान् कहते हैं कि तुम अपने हृदय के स्वभाव और आचरण की ओर देखो कि वे किस ओर जा रहे हैं और उस आचरण के अनुसार ही तुम अपनी भलाई-बुराई का परिणाम जान लो। यदि तुम्हें विद्याध्ययन की अभिलाषा जाग्रत् हो तो समझ लो कि यह तुम्हारे सौभाग्य का लक्षण है। किन्तु पूरा प्रयत्न करके पढ़नेपर भी यदि तुम्हारे प्रारब्ध में मूर्खता है तो तुम्हारे चित्त में ऐसा संकल्प हो जायगा कि विद्या पढ़ने से मुझे क्या लाभ होगा? इसीसे तुम अपने अज्ञान और मूर्खता का

विज्ञापन पढ़ सकते हो।

इस प्रकार जैसे ये सांसारिक कार्य हैं वैसी ही बात परलोक की समझनी चाहिये। जब तुम ऐसा जान लोगे तो तुम्हारे ये तीनों संशय निवृत हो जायँगे और एकत्व की स्थिति हो जायगी। इससे जाना जाता है कि यदि तुम्हारे बुद्धि रूप नेत्र खुल जायँ तो फिर बुद्धि, शास्त्र और एकता में तुम्हें कोई अन्तर मालूम नहीं होगा। इस ग्रन्थ में इससे अधिक इस विषय को खोलने की आवश्यकता नहीं है।

(भगवदाश्रय के आधारभूत धर्म का दूसरा लक्षण)

पीछे यह बात कही गयी है कि भगवदाश्रय दो निश्चयों का परिणाम है। उनमें एक तो श्रीभगवानका एकत्व है, सो इसका विवरण तो हम ऊपर दे चुके। तथा दूसरा निश्चय यह है कि तुम ऐसा निश्चय करो कि सबको उत्पन्न करनेवाले एकमात्र वे श्रीभगवान् ही हैं तथा सब लोग उन्हींके आश्रित हैं। वे ही सबपर दयालु, कृपालु और सबको जाननेवाले हैं। उनकी चींटी और मच्छर पर्यन्त सभी जीवों पर अपार कृपा है, फिर इस मनुष्यकी तो बात ही क्या है? माता-पिता पुत्रपर जितना स्नेह करते हैं, भगवान्की कृपा उससे कहीं बढ़कर है। महापुरुष भी कहते हैं कि भगवान्की कृपा माता-पितासे भी बढ़कर है। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि इस जगत् और इसके सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रभुने अपने अनुभवके द्वारा सब प्रकार पूर्ण और सुन्दर बनाया है, जैसा कि वह दूसरी तरह नहीं बन सकता था। अर्थात् भगवान्ने जो पदार्थ जैसा बनाया है वह वैसा ही बनना चाहिये था। तथा उन्होंने कृपा करके कोई बात छिपा भी नहीं रखी है। यदि समस्त बुद्धिमानोंकी बुद्धियाँ मिलकर विचार करें तो उन्हें सम्पूर्ण जगत्में एक बाल और मच्छरके पंखके समान भी ऐसी कोई चीज नहीं

मिलेगी जिसके विषयमें यह कहा जा सके कि यह वस्तु जैसी अब है वैसी नहीं होनी चाहिये थी। अर्थात् किसी भी वस्तुमें उन्हें कुछ घटाने-बढ़ाने अथवा उसे सुन्दर या असुन्दर बनानेका अवकाश नहीं मिलेगा। उन्हें अनुभव होगा कि जो जैसा बनना चाहिये था वह वैसा ही है। जो वस्तु कुरूप है उसकी पूर्णता कुरूप होनेमें ही है, वह कुरूप न होती तो खोटी रहती और रचनाकी विचित्रता भी न रहती; क्योंकि यदि संसारमें कुरूपता न होती तो सुन्दरता की विशेषता ही क्या रहती और न किसी को सुन्दरतामें कोई आकर्षण ही रहता। इसी प्रकार यदि नीचता न होती तो भी सृष्टि की पूर्णता नहीं हो सकती थी। उस अवस्थामें सम्पूर्णताका कोई स्वारस्य नहीं हो सकता था, क्योंकि पूर्णता और नीचता भी एक-दूसरीकी अपेक्षासे ही जानी जाती हैं, जैसे यदि पिता न हो तो पुत्र भी नहीं हो सकता। इनका ज्ञान एक-दूसरेके सम्बन्धकी दृष्टिसे ही होता है। यदि ऐसा न हो तो भलाई-बुराईकी सत्ता नहीं रह सकती। किन्तु इस बातका संसारके लोगोंसे गुह्य रहना ही अच्छा है।

यह बात ध्यानमें रखो कि भगवान्‌ने जो कुछ किया है उसीमें सबकी भलाई है। जो बात जैसी होनी चाहिये थी, प्रभुने उसे वैसी ही की है। संसारमें उन्होंने जो रोग, अधीनता, पाप, मनमुखता, नाश, क्षय और पीड़ा आदिकी रचना की है उन सबकी भी आवश्यकता थी। उन्होंने जो कुछ किया है वह निष्प्रयोजन नहीं है। जिसे निर्धन बनाया है उसका हित भी उसी स्थितिमें है, उसे यदि धन मिल जाता तो उससे उसको हानि ही होती। तथा जिसे धनवान् बनाया है उसका हित धनी होनेमें ही है। किन्तु एकताके समुद्रकी ओर ले जानेवाला यह वैचित्र्यका प्रवाह भी अपार है। इसमें बहुत लोग डूब चुके हैं और इसका रहस्य खोलनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। इसका यदि विवेचन करने लगें तो

बहुत विस्तार हो जायगा। बस, इसका सार यही है कि मनुष्यको इस बातमें आस्था रखनी चाहिये कि ऐसा होनेपर ही भगवदाश्रय की सिद्धि हो सकती है।

(भगवदाश्रय का स्वरूप

याद रखो, भगवदाश्रय एक हृदयकी अवस्था है। यह दो धर्मोंका परिणाम है—(१) भगवान्की एकतापर दृढ़ विश्वास रखना तथा (२) उनकी दयाका निश्चय होना। इन दोनों बातोंमें दृढ़ विश्वास रखनेका परिणाम ही भगवान्का आश्रय है और यह विश्वास हृदयकी एक अत्युत्तम अवस्था है। इसका आशय यह है कि जब कोई पुरुष किसी बुद्धिमान्को अपना कार्य सौंप देता है तब उसपर पूरा भरोसा भी रखता है। इसी प्रकार भगवान्पर ऐसा विश्वास होना चाहिये कि फिर अपनी जीविकापर दृष्टि न रहे, तथा यदि अपनी जीविकाका कोई स्पष्ट साधन न हो तो हृदयमें किसी प्रकारकी चिन्ता न करे। भगवान्पर ऐसा दृढ़ विश्वास रखे कि वे विश्वम्भर ही मेरी जीविका पहुँचायेंगे। इसके लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि यदि किसी मनुष्यने छल करके इसपर राजदरबारमें मिथ्या अभियोग लगा दिया हो तो यह किसी बुद्धिमान् वकीलको नियुक्त करता है, जो इसे उस अभियोगसे मुक्त करे। किन्तु यह उस वकीलमें तभी विश्वास करके निर्भय होता है जब उसमें ये तीन लक्षण हों—(१) वह उस अभियोग लगानेवालेके छल और वास्तविक परिस्थितिको पूर्णतया जानता हो, (२) अच्छा प्रभावशाली हो और वाद-विवादकी विशेष योग्यता रखता हो, जिससे अपनी जानी हुई बातको निर्भय होकर युक्तिपूर्वक कह सके तथा (३) इसके प्रति दयालु और इसका हितचिन्तक हो। इस प्रकार जब इसे उसमें तीनों लक्षण दिखायी देते हैं तो यह उसमें पूरा विश्वास कर लेता है और अपनी चतुराई

एवं कुशलताको दूर रख देता है। इसी प्रकार जिसने यह जाना है कि सब कुछ श्रीभगवान्‌के ही अधीन है, उनके सिवा कोई अन्य करने-धरनेवाला नहीं है; उनमें जानकारी और शक्तिकी भी कमी नहीं है तथा उनके समान कोई दयालु-कृपालु भी नहीं है, उसके हृदयमें उनके प्रति दृढ़ विश्वास हो जाता है तथा वह अपनी चतुराई और कुशलताको छोड़कर ऐसा निश्चय करता है कि भगवान्‌ने मेरी जितनी जीविका लिखी है वह यथा समय मुझे अवश्य प्राप्त होगी। तथा इसके सिवा मेरे और सब कार्य भी भगवान्‌की कृपासे पूर्ण हो जायँगे।

इस प्रकार यद्यपि हृदयमें तो यह श्रीभगवान् पर पूर्ण विश्वास रखता है, किन्तु आचरणके द्वारा इसमें इतना साहस नहीं होता कि दृढ़ विश्वासपूर्वक श्रीभगवान्‌का ऐसा सामर्थ्य और महती दया जानकर निर्भय हो जाय। इस अवस्थामें इसके हृदयमें जो किसी प्रकारका संशय रहता है वह इसकी बलहीनता ही है; जैसे मृतक पुरुषको देखकर उसके साथ अकेले सोनेका किसीको साहस नहीं होता। यद्यपि यह बात जानता भी है कि यह जड़ है, तो भी उससे भय होता है। इसी प्रकार जब भगवदाश्रित पुरुषके हृदयमें प्रभुका पूर्ण विश्वास हो तथा शारीरिक बल और आचरणमें भी दृढ़ता हो, तभी उसके हृदयका विक्षेप दूर होकर उसे आन्तरिक शक्ति प्राप्त हो सकती है। जबतक पूर्ण विश्वास और सुख प्राप्त न हों तबतक कोई पुरुष पूरा भगवदाश्रित नहीं हो सकता। भगवदाश्रयका अर्थ यह है कि भगवान्‌के सभी प्रकारके विधानोंमें प्रसन्नता हो। एक सन्त बड़े भगवदाश्रित हुए हैं। उन्होंने कहा है कि प्रभो! मुझे निश्चय तो है, किन्तु हृदय भी विश्राम पावे। सो, प्रथम तो हृदयका विश्राम संकल्प और इन्द्रियोंके अधीन होता है, किन्तु जब दृढ़ता होनेपर अन्तःकरणमें साक्षात्कार हो जाता है तब किसी प्रकारका संशय नहीं रहता, सहज

ही में हृदय विश्राम प्राप्त कर लेता है।

(भगवदाश्रय की भूमिकाएँ)

भगवदाश्रय तीन प्रकार का है—

१. जैसे किसीने अपने अभियोगका समर्थन करनेके लिये वकील किया हो और वह उसपर विश्वास करके निश्चिन्त हो जाय।

२. जैसी बालककी अवस्था होती है। अर्थात् बालकको जो कुछ प्राप्त होता है उसे वह माताके सिवा किसी अन्य की देन नहीं मानता। उसे जब भूख लगती है तब माता ही को पुकारता है और अन्य कोई अभिलाषा होती है तो भी माताकी ही ओर जाता है। यह ऐसी आश्रयता है कि जिसके आगे अपनी आश्रयताका भी पता नहीं रहता, क्योंकि उसकी वृत्ति तो मातामें ही लीन रहती है। जिसमें प्रथम प्रकारकी आश्रयता होती है उसे तो अपना अनुसन्धान रहता है और वह प्रयत्नपूर्वक अपनेको आश्रित रखता है।

३. जैसी मृतककी अवस्था होती है। मृतक जैसे स्वयं कुछ भी नहीं करता, उसकी सब क्रियाएँ दूसरे प्राणी करते हैं। इसी प्रकार इस भूमिकावाला भगवदाश्रित पुरुष अपने को शवके समान समझता है और उसे जिस प्रकार भगवान्की आज्ञा चलाती है वैसे ही चलता है, उसे अपना कोई संकल्प नहीं होता। उसे यदि कोई आवश्यकता भी हो तो भी भगवान् से कुछ नहीं माँगता। वह उस बालकके समान नहीं है जो आवश्यकता होनेपर मांको पुकारता है। यदि कोई बालक ऐसा हो कि जो यह समझता हो कि मैं नहीं बुलाऊँगा तो भी मां मेरे पास आवेगी ही, उसी प्रकार इस कोटिका भगवदाश्रित भक्त जानता है कि मेरे याचना

न करनेपर भी प्रभु मेरा पालन-पोषण करेंगे ही। इस भूमिकामें भक्तका अपना पुरुषार्थ कुछ भी नहीं रहता। प्रथम भूमिकामें तो अपना पुरुषार्थ रहता है। वह वकील के जैसे गुण और स्वभाव समझता है वैसे ही कार्यमें उसे नियुक्त करता है और ऐसा भी समझता है कि यदि मैं वकील के पास नहीं जाऊँगा तो वह मेरे लिये वाद-विवाद भी नहीं करेगा। अतः वह अवश्य ही उसके पास जाता है। फिर उसे यह चिन्ता भी रहती है कि देखें यह वकील कैसा काम करता है। इसी प्रकार जब प्रथम भूमिकाका भगवदाश्रित पुरुष कोई व्यापार या खेती आदि करता है तो ऐसा समझता है कि ये संयोग भी श्रीभगवान्के ही बनाये हुए हैं और बुद्धि भी उन्हींकी दी हुई है, इसलिये वह उनका त्याग नहीं करता। किन्तु फिर भी वह भगवदाश्रित ही कहा जाता है, क्योंकि वह खेती आदि जो कुछ व्यापार करता है उनके विषयमें उसका यही भाव रहता है कि भगवान् चाहेंगे तो लाभ होगा और न चाहेंगे तो नहीं होगा। इसप्रकार वह जो भी काम करता है उसमें भगवान्की ही प्रेरणा देखता है।

इस विषयमें सन्तजनों का कथन है कि सब कुछ प्रभुके ही अधीन है। उनकी प्रेरणा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। तथा उसमें बल भी भगवान् का ही रहता है। इस वचन का तात्पर्य यह है कि भगवदाश्रित पुरुष अपने बल और बुद्धिको श्रीभगवान्के ही अधीन जानता है, अपने अधीन कुछ नहीं समझता। इस प्रकार जब स्थूल पदार्थों से इसकी दृष्टि उठ जाती है तब यह भगवान्के सिवा और किसीको कुछ नहीं जानता और तभी यह भगवदाश्रित होता है।

किन्तु भगवदाश्रयकी उत्तम भूमिका अन्य ही है। जैसे एक

सन्तसे किसी जिज्ञासुने पूछा था कि भगवदाश्रय क्या है? तब उन्होंने कहा कि तुम्हें क्या जान पड़ता है? जिज्ञासु बोला, "पहले सन्तजन ऐसा कह गये हैं कि यदि इसके दायें-बायें सर्प हों तो भी यह भय न माने।" तब सन्त ने कहा, "यह बात तो बहुत तुच्छ-सी है। मेरा तो ऐसा मत है कि नरकमें सम्पूर्ण नारकियों को दुःखी देखकर और स्वर्गमें सब स्वर्गनिवासियोंको सुखी देखकर यदि इसके हृदयमें कोई भेद जान पड़ता है तो इसे भगवदाश्रित नहीं कह सकते।" तात्पर्य यह है कि भगवदाश्रितको तो ऐसा समझना चाहिये कि भगवान् जो कुछ करते हैं वही ठीक है। उसे अपना विचार कुछ भी न फुरे तभी वह उत्तम भगवदाश्रित कहा जा सकता है। कहते हैं, एक भगवदाश्रित पुरुष सर्प की बाँबीपर पैर रखे सो रहा था और उसके हृदयमें सर्पका भय बिलकुल नहीं था। वह सब कुछ भगवान् का ही विधान समझता था। किन्तु यह आश्रयता तो उपर्युक्त जिज्ञासुके कथनमें आयी है। पर जैसी भगवदाश्रयता उन ज्ञानवान् सन्तने कही थी वह तो अत्यन्त दुर्लभ है। उस उत्तम भगवदाश्रितको तो ऐसा निश्चय रहता है कि भगवान् दयालु, कृपालु एवं सर्वज्ञ हैं तथा वे न्यायकारी हैं। इसलिये नरकका दुःख और स्वर्गका सुख देखकर उसके हृदयमें कोई भेद नहीं जान पड़ता। वह समझता है कि भगवानने सब कुछ ठीक ही किया है।

(भगवदाश्रितों का आचरण)

धर्ममार्गमें जितने शुभगुण हैं वे तीन बातोंपर अवलम्बित हैं—(१) समझ, (२) हृदय की अवस्था और (३) आचरण। पीछे में समझ और अवस्थाका निर्णय तो कर चुका हूँ, अब आचरणका निर्णय करता हूँ। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि भगवदाश्रय तब होता है जब अपने सब कर्म भगवान्को अर्पित करदे, स्वयं किसी प्रकारके कर्म या व्यापार न करे, दूसरे दिनके लिये

संचय न करे, सर्प बिच्छू और सिंह आदिसे दूर न भागे और रोग आनेपर औषधि आदि भी न करे। किन्तु जिन्होंने ऐसा समझा है वे भूले हुए हैं, क्योंकि भगवदाश्रयका आधार तो शास्त्रके अनुकूल है और ये सब बातें शास्त्रके प्रतिकूल हैं। अतः वही भगवदाश्रय श्रेष्ठ है जो शास्त्रके अनुकूल हो। इस मनुष्यका अधिकार इन चार बातों पर है-(१) धन उत्पन्न करना, (२) धनकी रक्षा करना, (३) दुःख निवृत्त करना और (४) जिसके सम्बन्धसे दुःख पहुँचनेकी सम्भावना हो उससे दूर रहना। इन सब बातोंमें भगवदाश्रय का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है, अतः अब मैं इसका विवेचन करता हूँ।

(प्रथम भूमिका—धनोपार्जन सम्बन्धीव्यवहार)

धनोपार्जनसम्बन्धी व्यवहार तीन प्रकार का है—

१. कार्योंके सम्पादनके लिये भगवान्‌ने जो कुछ मर्यादा रखी है वे निश्चय उसी विधिसे होते हैं। उन मर्यादाओंको जानकर उनसे विपरीत चलना भगवदाश्रय नहीं, मूर्खता है। जैसे कोई पुरुष भोजन तो करे नहीं और कहे कि वह स्वयं ही मेरे मुँहमें आ पड़ेगा तो यह भगवान्‌का भरोसा नहीं, मूर्खता है। अथवा कोई व्यक्ति विवाह तो करे नहीं और कहे कि स्त्रीसंयोग के बिना ही मेरे पुत्र हो जाय, तो यह भी भरोसा नहीं, मूर्खता ही है; क्योंकि भगवान्‌ने जिस कार्य की निष्पत्ति जिस सम्बन्धसे रखी है वह उसीके द्वारा हो सकता है, अन्य प्रकारसे नहीं। कर्मोंके साधन तो ऐसे ही होते हैं। तथा भगवदाश्रय तो समझ और हृदयकी अवस्था के द्वारा होता है, किसी क्रियाविशेषसे नहीं होता। सो समझका स्वरूप तो ऐसा ज्ञान है कि हाथ, अन्न, बल, मुख और दाँत—ये सब भगवान्‌के ही उत्पन्न किये हुए हैं तथा हृदयकी अवस्था यह है कि श्रीभगवान्‌की दयापर ही पूर्ण विश्वास रखे, अन्न या हाथों

पर नहीं। क्योंकि हाथ तो रोग होनेपर लुञ्जे भी हो सकते हैं और अन्नको कोई दूसरा चुरा ले जा सकता है। अतः सर्वदा अपनी दृष्टि श्रीभगवानकी दयापर ही रखे, अपने बुद्धि या बलपर नहीं। यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि भगवान्‌ने जिस कार्यके जैसे गुण रखे हैं वे अवश्य उसी प्रकार होते हैं।

२. यह बात ऐसी है कि वह निश्चय ही भगवदाश्रय हो—ऐसा नहीं कह सकते, किन्तु वह भगवदाश्रयके समीप अवश्य है। ऐसा होनेपर कभी तो कार्य सिद्ध हो जाता है और कभी नहीं भी होता। जैसे महापुरुषने यह नियम रखा है कि यात्रामें जाते समय तोशा अवश्य रखना चाहिये। किन्तु ऐसा करनेपर भी भरोसा भगवान्‌पर ही रखना चाहिये, क्योंकि तोशे तथा अन्य सब कार्योंके भी उत्पन्न करनेवाले तो श्रीभगवान् ही हैं। इसलिये तोशेपर भरोसा न रखे। तथापि तोशा लिये बिना ही जंगलोंमें चला जाना भगवदाश्रयकी अधिकताका ही सूचक है। यह बात वैसी नहीं है जैसे कोई पुरुष भोजन तो करे नहीं और तृप्त होना चाहे, क्योंकि उसे तो भगवान्‌का भरोसा नहीं कह सकते। बिना तोशा लिये वनमें जानेका अधिकारी भी वही पुरुष है, जिसमें इन दो लक्षणोंमेंसे कोई हो—(१) जिसने अपने शरीरको ऐसा साध लिया हो कि सात दिनतक भोजन न करे तो भी अपना धैर्य न छोड़े, अथवा (२) जो कन्द, मूल, फलके द्वारा ही शरीरका निर्वाह कर ले। यदि ऐसा कर सके तो यह बात स्पष्ट ही है कि वनमें कन्द, मूल, फल अवश्य मिल सकते हैं तथा कहीं-कहीं अन्न भी प्राप्त हो सकता है। एक भगवदाश्रित भक्तका यही स्वभाव था कि वे अकेले ही वनमें विचरते रहते थे और अपने साथ तोशा कुछ नहीं रखते थे। बस, एक सूई, रस्सी और जलपात्र ही रखते थे, क्योंकि ये वस्तुएँ वनमें नहीं मिल सकती थीं।

अतः भगवदाश्रय वस्तुओंका त्याग करनेमें नहीं है, उसके

लिये तो यही आवश्यक है कि हृदयमें भगवान्‌के प्रति पूर्ण विश्वास हो। किन्तु यदि कोई ऐसे विषमस्थान या पर्वत की कन्दरामें जाकर रहे जहाँ घास भी न हो तथा खानेकी और भी कोई वस्तु न मिले; और कहे कि मैं तो भगवान्‌के भरोसे पर यहीं रहूँगा, तो यह उसकी मूर्खता है और अपना नाश करना ही है, क्योंकि भगवान्‌ने जैसा नियम रखा है उसे इसने नहीं समझा है। यह तो इसी प्रकारका भरोसा है जैसे किसी व्यक्तिने अपने कार्यके लिये कोई वकील नियुक्त किया हो और यह समझता भी हो कि मेरे समीप रहे बिना वह कुछ भी कार्य नहीं कर सकेगा, किन्तु फिर भी उसके पास न जाय, तो ऐसे पुरुषका कार्य कैसे होगा? इस विषयमें यह गाथा भी है कि एक त्यागी पुरुष नगर छोड़कर किसी पर्वत की कन्दरामें जा बैठा था और उसने मनमें निश्चय कर लिया था कि मुझे तो भगवान् यहीं भोजन पहुँचा देंगे। किन्तु उसे सात दिन भूखे ही बीत गये, प्राप्त कुछ भी नहीं हुआ। तब एक महापुरुषको आकाशवाणी हुई कि तुम इस त्यागी से जाकर कहो कि मैं अपनी शपथ करके कहता हूँ कि जबतक तुम नगर में नहीं जाओगे तबतक मैं तुम्हें भोजन नहीं दूँगा। यह बात जब महापुरुषने जाकर कही तो वह वहाँ से उठकर नगरमें चला आया। बस, तुरन्त ही सब लोग उसके लिये भोजन ले आये। तब उसे सन्देह हुआ कि ऐसा होने का क्या कारण है? उसी समय उक्त महापुरुषको फिर आकाशवाणी हुई कि तुम उस त्यागीसे कहो कि अपने त्यागके दुराग्रहवश तुम मेरी स्थापित की हुई मर्यादाको तोड़ना चाहते हो, सो ऐसा तो मैं नहीं करूँगा। मुझे तो यह बात अधिक प्रिय है कि मेरे जीवोंके द्वारा ही किसीको कुछ मिलता रहे। यदि मैं किसी दूसरेको निमित्त बनाये बिना अपनी शक्तिसे ही किसी को कुछ दूँ तो इसकी अपेक्षा मुझे अपने जीवोंके द्वारा देना ही अधिक प्रिय है। यदि कोई पुरुष नगर में छिपकर बैठ जाय

और घरका द्वार भीतरसे बन्द करले, किन्तु फिर भी मेरा ही भरोसा करे तो यह भी ठीक नहीं। इस प्रकार तो वह अपना नाश ही करना चाहता है। इसे भगवदाश्रय नहीं कह सकते। अतः जो कार्य अवश्य ही करना हो उसका भी त्याग न करे। किन्तु यदि द्वार बन्द न करे और भरोसा करके घरमें बैठ जाय तो ऐसा करना ठीक ही है। तथापि ऐसा भी नहीं होना चाहिये कि हर समय दृष्टि द्वार पर ही लगी रहे कि अब कोई मेरे लिये कुछ लाता होगा। इसके सिवा अपना चित्त सर्वथा लोगों की ओर ही न रखे, भगवान् हीको हृदयमें धारण करे और अपना समय भजन हीमें व्यतीत करे। अतः जब कोई स्थूल सम्बन्ध न रहे तब भी यह निश्चिय रखे कि मेरी जीविका बन्द नहीं होगी। यह बात ऐसी ही है जैसा कि सन्तोंने कहा है कि जब यह पुरुष अपने प्रारब्ध से भागता है तब प्रारब्ध इसके पीछे दौड़ता है और जब भगवान्से याचना करता है तो वे कहते हैं कि मूर्ख! जब मैंने तुझे उत्पन्न किया है तो क्या मैं तुझे भोजन नहीं दूँगा?

सो, जब इस प्रकार जाना है तब जैसा भगवान्का विधान है उसे भी न छोड़े और भगवान्को छोड़कर ऐसा भी न समझे कि इस प्रकार ही यह काम हो जायेगा। भरोसा सर्वदा श्रीभगवान्पर ही रखे तथा अन्य सम्बन्धोंका त्याग भी न करे। अतः सम्पूर्ण सृष्टि भगवान्के कृपाप्रसादका ही उपभोग करती है। किन्तु उनमेंसे कितने ही तो अपमान सहकर याचना करनेपर उसे प्राप्त करते हैं और कितने ही उसे दुःखपूर्वक भोगते हैं। जैसे कितने ही व्यापार करनेवाले पुरुष तो तरह-तरहके यत्न और उद्योग किये बिना उसे अनायास प्राप्त नहीं करते, किन्तु जो भगवान्में प्रेम करनेवाले भक्तजन हैं वे उसे प्रभुका प्रसाद ही समझते हैं, किसी अन्य पुरुष की ओर से प्राप्त हुआ नहीं समझते।

३. भगवदाश्रयकी तीसरी भूमिका ऐसी है कि जिसे न तो निश्चय ही भगवान्का भरोसा कह सकते हैं और न निश्चयके समीप ही। इसमें पुरुष चतराई और प्रयत्नपूर्वक व्यवहार तो करता है, किन्तु उसका भरोसा भगवान्पर ही होता है, अपने प्रयत्न या चतुराई पर नहीं होता। महापुरुष भी कहते हैं कि भगवदाश्रित पुरुष मन्त्र, टोना या शकुन-अपशकुनपर विश्वास नहीं रखता। सो, इसके द्वारा यह तो कहा नहीं गया कि व्यवहार मत करो और नगरको छोड़कर जंगलमें जा बसो।

इस प्रकार भगवदाश्रय की तीन भूमिकाएँ हैं। उनमें पहली भूमिकाका दृष्टान्त तो यह दिया गया था कि जैसे एक सन्त बिना तोशेके ही वनमें विचरते थे। यह उत्तम कोटिका भगवदाश्रय है, परन्तु इस आश्रयका लक्षण यह है कि ऐसा पुरुष चाहे भूखा रहे, चाहे घास-पातसे निर्वाह करले और यदि यह भी प्राप्त न हो तो भी मृत्युका भय उसके हृदयमें न आवे। ऐसा समझे कि मृत्यु होनेमें ही मेरी भलाई है, क्योंकि कितने ही लोग ऐसे भी तो होते हैं जो पासमें तोशा और खर्च भी रखते हैं, और जब कोई चोर उनका वह खर्च चुरा लेता है तो उनकी मृत्यु हो जाती है। किन्तु तोशाके अभाव में मर जाने की स्थिति तो दैवयोगसे ही प्राप्त होती है, इसलिये उससे बचने की चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

भगवदाश्रयकी दूसरी भूमिका यह बतायी गयी है कि जो पुरुष व्यापार भी नहीं करता और वनमें भी नहीं जाता, नगरमें ही रहता है, किन्तु दृष्टि भगवान्की दयापर रखता है, लोगोंपर नहीं रखता। तीसरी भूमिका यह है कि जो व्यवहारके निमित्तसे परदेशमें भी जाय और जिस प्रकार सन्तोंने व्यवहार करनेको कहा है उसी प्रकार करे, अपनी चतुराई और प्रयत्नका आश्रय न ले। जो पुरुष जीविका उपार्जन करनेमें बहुत चतुराई और प्रयत्न करता है उसे भगवदाश्रित नहीं कह सकते। किन्तु साथ

ही व्यवहारको छोड़ देना भी आश्रय की युक्ति नहीं है। कहते हैं, एक भगवदाश्रित पुरुष था, वह व्यवहारका त्याग नहीं करता था। पीछे जब वह सब भक्तजनोंमें अग्रगण्य उनका महन्त हो गया तब भी बेचनेके लिये वस्त्र लेकर बाजारमें आया। तब सबने कहा कि ऐसा करना उचित नहीं है कि आप महन्त होकर बाजार में वस्त्र बेचनेके लिये जायँ। इस पर उन्होंने कहा कि यदि मैं इस प्रकार अर्थोपार्जन करके अपने सम्बन्धियों ही की कोई सेवा न कर सका तो और किसी की रक्षा भी कैसे कर सकूँगा। तब सब लोगोंने मिलकर ऐसी व्यवस्था कर दी कि जिस धनका कोई उत्तराधिकारी न हो उसके द्वारा उनके सम्बन्धियोंका पालन-पोषण किया जाय। फिर तो वे महन्त जी आजीवन प्रसन्नतापूर्वक भगवद्भक्तोंका संरक्षण करते रहे।

अतः भगवदाश्रयका तात्पर्य तो यह है कि अपने लिये धनकी अभिलाषा न रखे। जो कुछ भी हानि या लाभ हो उसे भगवान्का ही विधान समझे। तथा अपने धनमें दूसरोंके धनकी अपेक्षा कोई विशेष प्रीति न रखे। तात्पर्य यह है कि वैराग्यके बिना भगवदाश्रयकी सिद्धि नहीं हो सकती; जैसे एक भगवदाश्रित सन्तका कथन है कि मैंने अपने भगवदाश्रय सम्बन्धी भावको बीस वर्षतक गुप्त रखा है। मैं प्रतिदिन तीन रुपये पैदा करता था, किन्तु उसमें से अपने लिये एक पैसा भी खर्च नहीं करता था, सब कुछ भगवान्के ही निमित्त दे डालता था। अतः एक ज्ञानवान् सन्त उनके सामने ही भगवदाश्रयसम्बन्धी वचन सुनाया करते थे, क्योंकि वे जानते थे कि ये उत्तम भगवदाश्रित हैं। इसके विपरीत कोई महन्त ऐसे होते हैं कि स्वयं तो बड़े-बड़े स्थानोंपर बैठते हैं और शिष्यों को अर्थसंग्रहकी दृष्टिसे बाहर विदेशोंमें भेजते हैं। सो इसप्रकारका भरोसा तो तुच्छ और निर्बल ही है।

किन्तु यदि कोई भगवदाश्रित पुरुष व्यवहार करना चाहे तो

उसकी अनेकों युक्तियाँ हैं। यदि कोई पुरुष आकाशी वृत्तिका अवलम्बन करे और अपने शिष्य एवं सेवक आदिको भी किसीके पास न भेजे तो उसे भगवदाश्रितके समान कह सकते हैं। पर जिस स्थानपर वह बैठता है वही जब विख्यात हो जाता है तो बाजारकी तरह हो जाता है। अर्थात् फिर उसके चित्तकी वृत्ति वहीं बँध जाती है, और यदि उसकी वृत्ति वहाँ नहीं बँधती तो उसका व्यवहार भगवदाश्रितोंका-सा रहता है। तात्पर्य यह कि इसकी दृष्टि भगवान्पर रहनी चाहिये, लोगोंपर अथवा किसी अन्य कारणपर नहीं, क्योंकि सबके महाकारण तो श्रीभगवान् ही हैं। एक भगवदाश्रितने कहा है कि एक बार मुझे वनमें एक ऐश्वर्यवान् सन्त मिले। वे मेरे साथ रहना चाहते थे, किन्तु मैंने उनका संग त्याग दिया, क्योंकि मुझे सन्देह था कि कहीं मुझे ऐश्वर्यवान्का भरोसा न हो जाय और फिर भगवान्का भरोसा न रहे। कहते हैं, एक बुद्धिमान संतने किसी मजदूरसे कोई काम कराया था। तब उन्होंने अपने सेवक से कहा कि इसे कुछ अधिक मजदूरी दे दो। किन्तु जब वह देने लगा तो उसने न ली। फिर जब वह काम करके घरसे बाहर निकल आया तब संतने अपने सेवकसे कहा कि अब उसे दे आओ, वह ले लेगा। सेवकने पूछा, "अब क्यों ले लेगा?" इसपर संतने कहा कि पहले तो उसने अपने हृदयमें लेनेकी इच्छा की थी और अब उसे इस विषयमें कोई संकल्प नहीं है। अतः अब तो भगवदिच्छा समझकर वह इसे ले लेगा। तात्पर्य यह कि व्यवहारमें ऐसा भरोसा होना चाहिये कि अपने धन और सामग्रीपर कोई विश्वास न रखे यदि चोर भी इसकी सामग्री चुरा लें तो चित्तमें शोक न करे; तथा भगवत्-कृपासे ऐसा समझे कि यदि प्रभुकी इच्छा होगी तो संयोगवश फिर सब वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी और यदि प्राप्त न हों तब भी इसीमें मेरी भलाई है, क्योंकि यह भगवान्की इच्छा है।

(भगवदाश्रयकी प्राप्ति का उपाय)

याद रखो, यदि किसीके धन और सामग्रीको चोर चुरा लें अथवा संयोगवश वे नष्ट हो जायँ और तब भी उसका हृदय शान्त रहे, तो इस प्रकारका भगवदाश्रय अति उत्तम और दुर्लभ है। किन्तु यह बात ऐसी भी नहीं है जो हो न सके, क्योंकि जो पुरुष भगवान्की कृपा, दया और सामर्थ्यपर पूरा विश्वास और निश्चय रखता है तथा जानता है कि प्रभु अनेकों धन-सम्पत्तिहीन मनुष्योंका भी पालन-पोषण करते हैं और अनेकों धनवान ऐसे भी हुए हैं जिनके नाशका कारण उनका धन ही हुआ, वह समझता है कि मेरा हित इस धनक्षयमें ही है। महापुरुषने भी कहा है कि लोग रात्रिमें किसी कार्यका संकल्प करते हैं, किन्तु यदि उनका नाश उसी कार्यके निमित्तसे होना होता है तो प्रभु उसे पूर्ण नहीं होने देते। परन्तु यह पुरुष इससे शोकाकुल होकर अपने पड़ौसियोंके प्रति उल्टे अनुमान करने लगता है कि इन्होंने इस विषयमें किसीसे चुगली कर दी होगी। तथापि वास्तवमें तो यह भगवान्की कृपा ही थी कि इसका वह कार्य न हुआ। एक भगवत्प्रेमीका कथन है कि जब मैं प्रातःकाल उठता हूँ तो यही समझता हूँ कि निर्धनता हो अथवा धन, मेरा कल्याण तो उसीमें है जोकि भगवान्की आज्ञा हो। यह निर्धनताका भय और बुराईका अनुमान तो मेरे मनका स्वभाव है।

इस विषयमें श्रीभगवान्का भी कथन है कि मन तो निर्धनताका शत्रु है, किन्तु विश्वासका स्वरूप तो यह है कि प्रभुकी कृपापर ही दृष्टि रखे। तथा पूरी समझ भी उसीकी है जिसने यह समझा हो कि हमारी जीविका तो किसी गुह्य मार्गसे आती है, जिसे कोई जान नहीं सकता और फिर उस गुह्य मार्गपर भी विश्वास न रखे, केवल श्री भगवान्का ही भरोसा रखे जो उस मार्गके कर्ता

और कारण हैं, क्योंकि इस जीवके निर्वाहका उत्तरदायित्व तो उन्होंने ही ले रखा है। इस विषयमें एक गाथा भी है कि एक भजनानन्दी पुरुष किसी देवस्थानमें आकर ठहर गया था। उससे वहाँके सेवकने कहा कि तुम अपने निर्वाहके लिये कोई काम करलो। भक्तने कहा, "मुझसे एक पड़ौसीने कह दिया है कि मैं तुम्हारे लिये नित्य-प्रति दो रोटियाँ भेज दिया करूँगा।" सेवकने कहा, "यदि ऐसी बात है तो फिर तुम्हें कोई काम करनेकी आवश्यकता नहीं है।" इसपर भक्त बोला, "भाई! तुम इस देवस्थानकी सेवाके अधिकारी नहीं हो, यहाँका अधिकार तुम किसी दूसरेको सौंप दो, क्योंकि तुम्हारी दृष्टिमें तो उस पड़ौसीका वचन भगवान् विश्वम्भरकी विश्वप्रतिपालनकी प्रतिज्ञासे भी अधिक विश्वसनीय है।" इसी प्रकार एक मुखियाने किसी भजननिष्ठ पुरुषसे पूछा था कि तुम्हारी जीविकाका क्या प्रबन्ध है? तब वह बोला, "मैंने आपके साथ भजनका जितना नियम किया था वह तो सब व्यर्थ गया, क्योंकि आपको तो भगवान् विश्वम्भरके विरदमें ही विश्वास नहीं है। लौकिक सम्बन्धपर ही दृष्टि है।"

इस प्रकार जिन लोगोंका भगवान्की विश्वम्भरतापर सच्चा विश्वास है उन्हें उसमें कोई संशय नहीं होता। उन्हें यह प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है कि जहाँसे कुछ भी आशा नहीं थी वहींसे उन्हें सब कुछ प्राप्त हुआ। उन्हें प्रभुके इस वचनपर, जैसा कि उन्होंने कहा है, पूर्ण विश्वास है कि मैं पृथ्वीपर जितने जीव हैं उन सभीकी जीविका पहुँचाता हूँ। इस विषयमें एक गाथा भी है—एक भक्तसे किसीने पूछा कि तुमने अमुक विरक्त संतकी संगति की है, सो बताओ, उनमें क्या विचित्र गुण देखा? तब उन्होंने कहा कि एक बार मैं मार्गमें उनके साथ जा रहा था, उस समय मुझे बहुत भूख लगी। तब एक नगरमें पहुँचनेपर वे बोले कि क्या तुम भूखसे बहुत व्याकुल हो? मैंने कहा कि हाँ, जैसा आप

कहते हैं वैसी ही बात है। मैं भूखसे बहुत शिथिल हो रहा हूँ। इसपर संतने कहा कि कागज और दावात ले आओ। मैं लाया तो उन्होंने कागजपर भगवान्‌का नाम लिखा और यह भी अंकित किया कि हमारा प्रयोजन तो सर्वदा आपसे ही है और आप ही से कहना-सुनना भी है। मैं आपहीकी स्तुति और धन्यवाद करनेवाला तथा आपहीका नाम जपनेवाला हूँ। आप अपने भक्तोंका पालन करनेवाले हैं। मैं भूखा, प्यासा और वस्त्रहीन हूँ। आपकी स्तुति, आपका धन्यवाद और आपका स्मरण करना—ये तीन ही मेरे कर्म हैं। तथा आहार, जल और वस्त्र देना आपका धर्म है। सो मैं तो अपने कर्तव्यमें सावधान हूँ। अब, आप भी अपने दानीपनका परिचय दीजिये। यह सब लिखकर उन्होंने वह कागज मुझे दिया और कहा कि भगवान्‌के सिवा और किसी ओर अपना चित्त मत लगाना और तुम्हें सबसे पहले जो पुरुष मिले उसीको यह कागज दे देना। तब मैं वहाँ से आगे चला तो सबसे पहले मुझे एक विजातीय सवार मिला। मैंने उसे वह कागज दिया तो वह उसे पढ़कर रोने लगा और बोला कि इसे लिखनेवाला कहाँ है? मैंने कहा कि अमुक स्थानपर बैठे हुए हैं। तब उस सवारने मुझे मुहरों की एक थैली दी। उसे मैं उन संतके पास ले आया और उनसे सब बात कह दी। वे बोले, "यह थैली यहीं रख दो और इसे खर्च मत करो, इसे देनेवाला थोड़ी ही देरमें यहाँ आवेगा।" थोड़ी ही देरमें वह सवार वहाँ आया और उनके चरणोंमें गिरकर उन्हींका शिष्य हो गया। तब सन्तने मुझसे कहा कि यह थैली ले जाओ और इसे अपने काममें लगाओ। किन्तु उन्होंने अपने लिये उसमेंसे कुछ भी अंगीकार नहीं किया।

इसके सिवा एक दूसरी गाथा भी है—एक भगवत्प्रेमीने कहा है कि मैं एक जगह दस दिन तक भूखा रहा और बहुत दुर्बल हो गया। तब मैं वहाँ से उठकर बाहर आया और मैंने पृथ्वीपर एक

सूखा फल पड़ा देखा। मेरी इच्छा हुई कि मैं इसे ले लूँ, किन्तु मेरे मनमें यही संकल्प हुआ कि मैं दस दिन भूखा रहा और अब मुझे यह सूखा फल मिला है, सो क्या यही मेरा प्रारब्ध था? तब मैं उसे त्यागकर उसी स्थानपर आ बैठा। थोड़ी ही देर में वहाँ एक आदमी आया और उसने बादाम, मिश्री और पिश्तों से भरा अंगोछा मेरे सामने रख दिया, और बोला कि मैं जहाजमें आ रहा था। रास्तेमें बड़ा तूफान आया। तब मैंने भगवान्का प्रसाद बोला और निश्चय किया कि जो अतिथि मुझे सबसे पहले मिलेगा उसी को यह सामग्री दूँगा। सो, यह वही प्रसाद है। तब मैंने उसमें से अपने आहारमात्रके लिये ले लिया और शेष उसीको लौटा दिया। फिर मैं विचारने लगा कि प्रभुने तेरे प्रारब्ध में तो यह मेवा लिखी थी। इसीसे समुद्रके बीचमें तूफानको मेरी यह जीविका पहुँचाने की आज्ञा हुई और उसकी प्रेरणासे यह मनुष्य इसे यहाँ ले आया। तू जो अन्यान्य वस्तुओंको ढूँढता था वह तेरी भूल ही थी। इस प्रकार ऐसी बातों पर ध्यान देनेसे विश्वासकी पुष्टि ही होती है।

(गृहस्थ पुरुषका भगवदाश्रय)

गृहस्थ पुरुषके लिये यह उचित नहीं है कि वह वनमें जाय और व्यवहारका त्याग करे, क्योंकि गृहस्थके लिये भगवदाश्रय की तीसरी भूमिका है, सो उसमें व्यवहार करने के लिये अवकास है ही। एक सच्चे पुरुष का कथन है कि भगवदाश्रयके लिये दो बातोंकी आवश्यकता है—

१. क्षुधा सहन करने का अभ्यास हो और जो कुछ मिल जाय—भलेही वह घास हो—उसी से प्रसन्न रहे।
२. ऐसा विश्वास रखे कि यदि मेरा प्रारब्ध भूखे रहने या मरने का है तो उसीमें मेरा कल्याण है।

जिस व्यक्ति में ये दोनों गुण हों वही पूर्ण भगवदाश्रय का अधिकारी है। किन्तु मनुष्य अपने सम्बन्धियों को इस प्रकार नहीं रख सकता और यदि विचार कर देखा जाय तो इसका मन भी बच्चों के समान दृढ़तारहित ही है। अतः जब देखे कि मुझमें भूख सहन करने की शक्ति नहीं है और उससे मेरे चित्तमें व्याकुलता आ जाती है तो ऐसी स्थितिमें व्यवहार को छोड़ना उचित नहीं है। यदि किसी गृहस्थ पुरुष के सम्बन्धी भूख सहन कर भी सकते हों तो भी उसे व्यवहार नहीं छोड़ना चाहिये।

किन्तु यदि किसी को पूर्ण विश्वास हो और वह वैराग्य में लगा रहे, व्यवहार न करे तो भी उसका प्रारब्धजनित भोग उसे प्राप्त हो ही जाता है। जैसे बालक माताके उदरमें किसी भी प्रकार का व्यवसाय नहीं करता, तो भी नाभि के द्वारा उसे आहार पहुँचता ही रहता है। और जब उदरसे बाहर निकलता है तो उसे माता के स्तनों से दुग्ध प्राप्त हो जाता है। फिर जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है वैसे-वैसे ही अन्य आहार भी खाने लगता है और उसके दाँत भी निकल आते हैं। यदि माता-पिताकी मृत्यु हो जाने से वह बालक अकेला रह जाता है तो भगवान् दूसरे लोगों के हृदय में दया उत्पन्न कर देते हैं। पहले तो माता ही उस पर दया करती थी, किंतु अब तो अनेकों मनुष्य उस पर दया करने लगते हैं। जब वह बड़ा हो जाता है और अपना कार्य स्वयं ही करने की इसमें योग्यता आ जाती है तो भगवान् ऐसी श्रद्धा इसके हृदय में उत्पन्न कर देते हैं, जिससे यह स्वयं अपना पालन-पोषण करने लगता है। पहले जैसे माता इसकी खबर लेती थी, वैसे ही अब स्वयं ही अपनी देख-भाल करता है। और जब इसका चित्त अपने पालन-पोषण की ओर से निरपेक्ष हो जाता है तो यह व्यवहार को भी छोड़ देता है और इसका हृदय श्रीभगवान्की ओर प्रवृत्त होने लगता है। तब भगवान् इसके प्रति जीवमात्र के हृदय

में दया उत्पन्न कर देते हैं। फिर सब लोग यही समझते हैं कि यह भगवत्प्राप्त है, अतः इसीको अच्छी से अच्छी वस्तु देनी चाहिये और हमें यथासम्भव इसकी सेवा करनी चाहिये। इस प्रकार पहले तो यह अकेला ही अपने ऊपर कृपा करता था, किंतु अब सभी जीव इस पर कृपा करने लगते हैं। पर यदि यह प्रमाद करता है और समर्थ होनेपर भी व्यवहार नहीं करता तो इस पर किसी को दया नहीं आती, ऐसे मनुष्य को व्यवहार त्यागकर भगवदाश्रित नहीं होना चाहिये। जब तक मनुष्य अपने मन के साथ मिला हुआ है तब तक उसे अपनी जीविका की व्यवस्था भी स्वयं ही करनी चाहिये।

अतः जब यह जीव अपना हृदय श्रीभगवान् की ओर लगा देता है और अपना पालन-पोषण करने से उदासीन हो जाता है तब श्री भगवान् सभी जीवों को इसके प्रति दयालु कर देते हैं। इसीसे आज तक कोई भी विरक्त भूखा रहकर नहीं मरा। सो, जिसने यह बात विचारकर देखी है कि भगवान् ने इस लोक और परलोक में किस प्रकार सूत्र मिला रखे हैं और वे किस प्रकार सबकी पूर्ति करते हैं उनका निश्चय ही प्रभु के इस वाक्य पर दृढ़ विश्वास हो जाता है कि सब जीवों का पालन-पोषण करनेवाला मैं ही हूँ। वह यह बात स्पष्ट समझ लेता है कि प्रभुका ऐसा सुन्दर विधान है जिसमें किसी का भी नाश नहीं हो सकता और यदि किसी को कोई हानि या क्षति पहुँचती भी है तो उसी में उसका मंगल छिपा रहता है; सो भी इसलिये नहीं कि वह व्यवहार को त्याग देता है। क्योंकि कितने ही मनुष्योंके पास बहुत धन भी रहता है और वे व्यवहार भी करते हैं, किन्तु फिर न धन रहता है और न वे ही बचते हैं। एक सन्त का कहना है कि मुझे यह बात स्पष्ट अनुभव होती है कि यदि सारा नगर मेरा कुटुम्ब हो जाय और अनाज का एक दाना एक मुहर में मिलने लगे तो

भी मुझे किसी प्रकार का भय नहीं है। क्योंकि सबका पालन करनेवाले तो श्रीभगवान् ही हैं। एक अन्य भगवदाश्रितने कहा है कि यदि आकाश लोहेका और पृथ्वी ताँबे की हो जाय तो भी मुझे जीविका का कोई भय नहीं है। प्रभु जिस प्रकार चाहेंगे उस प्रकार जीविका पहुँचायेंगे ही। इसी प्रकार एक अन्य प्रसंग भी है। एक ज्ञानी सन्त के पास कुछ लोग आये और पूछने लगे कि हम अपनी जीविका ढूँढ़े या न ढूँढ़े। वे बोले, "यदि तुम्हें पता हो कि तुम्हारी जीविका अमुक स्थान पर है तो वहाँ ढूँढ़ लो।" फिर उन्होंने पूछा, "तो क्या भगवान् से अपनी जीविका माँगें ?" सन्त ने कहा, "यदि भगवान् भूल गये हों तो उन्हें स्मरण करा दो।" फिर पूछा, "तो भरोसा करें और देखें कि वे किस प्रकार उसकी व्यवस्था करते हैं ?" सन्त बोले, "परीक्षा की दृष्टि से भगवान् का भरोसा करना उचित नहीं।" तब उन्होंने पूछा, "तो फिर क्या उपाय है ?" सन्तने उत्तर दिया, "उपायका त्याग करना ही सच्चा उपाय है।" तात्पर्य यह है कि एकमात्र श्रीभगवान् को ही सबका प्रतिपालक जानना चाहिये।

(भगवदाश्रयकी दूसरी भूमिका—संग्रह और संरक्षण करना)

जो मनुष्य एक वर्षसे अधिक समयके लिये धनसंग्रह करता है वह भगवदाश्रय से गिर जाता है। क्योंकि उसने प्रभुके गुह्य रहस्यको नहीं समझा, इसलिये उसकी स्थूलतापर ही दृष्टि गयी। किन्तु जो प्रयोजनमात्रपर सन्तोष करे, अर्थात् केवल उदरपूर्तिके लिये आहार करे और नग्नतानिवारणके लिये वस्त्र धारण करे, उसे भगवदाश्रयपर दृढ़ समझना चाहिये। और यदि कोई चालीस दिनके लिये संग्रह करे तो इतनेसे भी आश्रयता नष्ट नहीं होती। एक संतने कहा है कि सञ्चय करना भगवदाश्रयके मिथ्यात्वका सूचक है। तथा एक अन्य संतका कथन है कि चालीस दिनसे अधिक समयके लिये सञ्चय करे तो भी भगवदाश्रय नष्ट नहीं

होता। किन्तु उसे उस संचयका ही भरोसा नहीं होना चाहिये। एक अन्य भगवत्प्रेमीका कथन है कि मैं एक उत्तम विरक्त पुरुषके पास था। वहाँ एक संत उनके दर्शनोंके लिये आये। तब विरक्तने मुझसे कहा कि तुम इनके लिये उत्तम भोजन ले आओ। मैं भोजन लाया और वे दोनों महात्मा साथ-साथ भोजन करनेके लिये बैठे। मुझे यह देखकर कुछ विस्मय हुआ, क्योंकि उन्होंने पहले कभी किसीसे भोजन लानेके लिये नहीं कहा था और न वे किसीके साथ भोजन पाते ही थे। भोजनके पश्चात् जो प्रसाद बचा वह सब उन नवागत संतने ले लिया और वहाँ से चले गये। इससे मुझे और भी आश्चर्य हुआ कि इस प्रकार बिना पूछे ही भोज्य सामग्री ले जाना कहाँतक उचित है। तब उन विरक्त महात्माने कहा, "ये बड़े उत्तम संत हैं और तुमसे मिलनेके लिये बहुत दूरसे आये थे। इन्होंने हमें यही शिक्षा दी है कि जिसमें भगवदाश्रयका भाव दृढ़ है उसके लिये संचय करनेमें भी कोई हानि नहीं है।" तात्पर्य यह कि भगवदाश्रयका मूल तो नैराश्य है। अतः अपने लिये कभी संचय न करे और यदि करे तो ऐसा समझे कि ये धन और पदार्थ श्रीभगवान्के ही भण्डार में हैं। उस संचयपर कभी भरोसा न रखे। इससे उसका भगवदाश्रय नष्ट नहीं होता।

किन्तु यह नियम तो उसके लिये है जो अकेला हो। जो गृहस्थ है उसका भगवदाश्रय तो एक वर्षके लिये संग्रह रखनेसे भी नहीं जाता। हाँ, यदि एक वर्षसे अधिकके लिये संचय करे तो अवश्य नष्ट हो जाता है। महापुरुष भी अपने कुटुम्बियोंके लिये एक वर्षकी सामग्री सञ्चित कर देते थे, किन्तु अपने लिये दूसरी वेलाके लिये भी कुछ नहीं रखते थे। वे यदि रख भी लेते तो भी उनका कुछ घटता नहीं, क्योंकि उनके लिये धन-सम्पत्तिका होना-न होना समान ही था। किन्तु और लोगोंके लिये आदर्श उपस्थित

करनेकी दृष्टिसे वे ऐसा करते थे। एक वार उनके एक सत्संगीका शरीर छूटा। उस समय उसके वस्त्रोंमें दो रुपये निकले। तब महापुरुषने कहा कि इसके मस्तकपर दो दाग लगा दो। यह बात दो दृष्टिसे कही समझी जा सकती है—(१) वह लोगोंके सामने छलपूर्वक अपनेको अकेला ही दिखाता था। अतः सञ्चयका सम्बन्ध रखनेके कारण उसे इतना दण्ड देना उचित ही था। (२) यदि उसने छल न भी किया हो तो भी सञ्चय करनेके कारण परलोकमें उसे क्षति पहुँचेगी, जिस प्रकार कि दाग देनेसे मुखकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है। इसके सिवा एक और भगवद्-भक्तका शरीर छूटा था तो उसके विषयमें महापुरुषने कहा था कि इसका मुख परलोकमें पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान उज्ज्वल होगा। किन्तु यदि इसमें एक अवगुण न होता तो इसका सूर्यके समान प्रकाश होता। तब लोगोंने पूछा कि वह अवगुण क्या था? महापुरुषने कहा, ''यह अपने एक वर्षके वस्त्र दूसरे वर्षके लिये रख लेता था। यह इसके भगवद्विश्वासकी न्यूनता ही थी। उचित तो यही बात है कि जिन पात्रोंकी नित्यप्रति अपेक्षा होती है उन्हें तो रखे, किन्तु अन्न और वस्त्र आदिको नहीं, क्योंकि ये तो प्रति वर्ष नये-नये आते रहते हैं। पात्र तो नित्य नवीन पैदा नहीं होते, अतः उन्हें त्यागना उचित नहीं। वस्त्र तो शीतकालके ग्रीष्म ऋतुमें काम नहीं आते। इसलिये उन्हें रखना अपनी बुद्धिके निश्चयकी निर्बलता है।

किन्तु यदि कोई ऐसा पुरुष हो जिसे संग्रह रखे बिना हृदयमें घबराहट होती हो, अथवा जो और लोगोंसे आशा रखता हो, उसके लिये तो संग्रह करना ही अच्छा है। क्योंकि यदि भजन-स्मरणमें चित्तकी स्थिरता न हो तो आवश्यकतानुसार कुछ जीविका रखना ही अच्छा है। सम्पूर्ण शुभकर्मोंका प्रयोजन तो यही है कि हृदय श्रीभगवान् की ओर लगा रहे। कुछ लोग ऐसे

भी होते हैं जिनके लिये धनसंचय बन्धन और विक्षेपका कारण होता है। वे धनहीन रहनेपर निश्चिन्त रहते हैं। ऐसे ही लोग श्रेष्ठ माने जाते हैं। तथा कोई लोग ऐसे होते हैं जिनका चित्त कुछ संग्रह रखे बिना स्थिर नहीं होता। उनके लिये प्रयोजनयोग्य वस्तुओंका संग्रह रखना ही अच्छा है। किन्तु यदि हृदयकी प्रवृत्ति विशेष राजसी पदार्थोंकी ओर हो तो उसे भगवत्प्रेमी नहीं कह सकते।

(भगवदाश्रयकी तीसरी भूमिका--विघ्ननिवृत्ति करना)

याद रखो, जो सम्बन्ध अनिवार्य हो उसे त्यागना भगवदाश्रय नहीं कहा जाता। जैसे शत्रुको दूर रखनेके लिये शस्त्र रखना तथा शीतसे बचने अथवा मार्गमें चलनेके लिये वस्त्र पहनना उचित ही है। यदि कोई पुरुष यह सोचकर कि मार्गमें शीत न लगेगा, वस्त्र तो पहने नहीं, किन्तु भोजन अधिक करे, तो ऐसा करना उचित नहीं और न इसे भगवदाश्रय ही कह सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌ने जो स्पष्ट सम्बन्ध रखे हैं उन्हें त्यागना उचित नहीं। कहते हैं, कोई जंगली पुरुष महापुरुषके पास आया। उससे महापुरुषने पूछा कि तुम्हारा ऊँट कहाँ है? उसने कहा कि मैंने तो भगवान्‌का आश्रय लेकर उसे जंगलमें छोड़ दिया है। तब महापुरुषने कहा, "पाँव बाँधकर भगवान्‌का भरोसा करो।" किन्तु यदि किसीको किसी पुरुषसे कष्ट पहुँचे और वह शान्तिपूर्वक सहन करता रहे तो इसे भगवान्‌का भरोसा कहा जा सकता है। भगवान्‌ने भी कहा है कि यदि तुम्हें किसी मनुष्यसे दुःख पहुँचे तो उसे शान्तिपूर्वक सहन करना ही उचित है। किन्तु यदि सिंह या सर्पके कारण कोई दुःख हो तो उससे दूर रहना ही अच्छा है। पर शत्रुओं से बचनेके लिये शस्त्र रखे भी तो भी शस्त्रोंका ही भरोसा न रखे। दरवाजेसे ताला लगावे तो तालेपर विश्वास न

करे, श्रीभगवान्का ही भरोसा रखे। ताले तो अनेकों तोड़कर भी चोर वस्तुएँ चुरा ले जाते हैं।

भगवदाश्रित पुरुषका लक्षण तो यह है कि यदि चोर उसके घरकी सामग्री चुराकर ले जाय तो वह उसे श्रीभगवान्का ही विधान समझकर प्रसन्न हो। तथा जब दरवाजेसे ताला लगावे तो हृदयमें ऐसा कहे, "प्रभो! मैं इसलिये ताला नहीं लगा रहा हूँ कि आपका जैसा भी विधान हो उससे कोई विपरीत बात हो। यदि आपके विधानके अनुसार मेरा धन और सामग्री किसी दूसरेकी जीविका है तो मैं भी खूब प्रसन्न हूँ, क्योंकि हमारा हित तो आपकी इच्छाकी पूर्तिमें ही है।" किन्तु यदि घरका ताला लगाकर जाय और लौटनेपर वह खुला मिले तथा घरकी सामग्री भी न रहे और उससे इसे शोक हो, तो समझना चाहिये कि इसका भगवदाश्रय पूर्ण नहीं है, यह उसके मनका छल ही था। किन्तु यदि घरकी सामग्री जाय और मुखसे किसीके आगे कुछ न कहे तो सन्तोषियोंमें गिना जा सकता है, भगवदाश्रितोंमें तब भी नहीं गिना जा सकता। और यदि मुखसे कुछ कहने लगे और चोरकी भी खोज करे तब सन्तोष और आश्रय दोनों ही से गिर जाता है। अतः जब यह जान ले कि मैं न तो भगवदाश्रित हूँ और न धैर्य या सन्तोष ही रखता हूँ तो इतना लाभ अवश्य होता है कि चोरका सम्बन्ध होनेपर अभिमान नहीं करता।

यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि धनसे कोई सम्बन्ध न माननेपर तो घरका ताला लगानेकी भी अपेक्षा नहीं हो सकती थी। यदि आसक्तिवश धनकी रक्षाके लिये यह ताला लगाता है तो उसके चुरा लिये जानेपर इसे शोक क्यों नहीं होगा? तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्ने इसे धन दिया है तो जबतक वह इसके पास रहे तबतक यही समझे कि मेरा हित धन रहनेमें ही है, क्योंकि प्रभुने मेरा कल्याण समझकर ही मुझे धन दिया है। और जब

वह चला जाय तो यह समझे कि मेरा कल्याण धन न रहने में जानकर ही प्रभुने इसे हर लिया है। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में प्रसन्न रहे और अपने इस विश्वासको दृढ़ रखे कि प्रभुको क्या करना है और किसमें मेरी भलाई है—यह बात वे स्वयं ही अच्छी तरह जानते हैं; मैं नहीं जान सकता। इसके लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे कोई रोगी हो और उसका पिता वैद्य एवं परमदयालु हो, तो जिस समय वह इसे बलदायक पदार्थ खानेके लिये देगा तो यह ऐसा जानकर प्रसन्न होगा कि पिताजीने मुझे नीरोग जानकर ही यह वस्तु दी है। और जब ऐसा आहार न दे तब यों समझकर प्रसन्न होगा कि मैं अभी रोगी हूँ इसलिये मुझे गरिष्ठ चीज नहीं दी। सो, जबतक भगवान्के प्रति भक्त का ऐसा दृढ़ विश्वास नहीं होता तबतक वह भगवदाश्रित नहीं कहा जा सकता। यदि वह अपनेको भगवदाश्रित बताता है तो वह उसका प्रलापमात्र है।

(भगवदाश्रय की युक्तियाँ)

भगवदाश्रय की प्राप्ति निम्नाङ्कित छः युक्तियों से हो सकती है—

१. अपने घरका दरवाजा बन्द करे तो उसमें बहुत जंजीर और ताले न लगावे। तथा पड़ौसियों से भी उसके देख-भाल रखने के लिये विशेष न कहे। स्वाभाविक रूप से ताला लगा दे। जैसे एक भगवदाश्रित महात्मा थे, वे केवल धागे से ही अपने घरके किवाड़ों को बाँध जाते थे। और कहते थे कि यदि कुत्तों का डर न होता तो मैं धागा भी नहीं बाँधता!

२. घर में अधिक मूल्य की कोई वस्तु न रखे, जिससे कि चोर उससे आकर्षित हों। एक भगवदाश्रित पुरुष के पास किसी धनी ने कुछ रुपये भेजे थे, किन्तु उन्होंने वे स्वीकार नहीं किये और कहने लगे कि इनके कारण मेरे मनमें यह संकल्प होता है

कि इन्हें चोर ले जायगा। और जब वह इन्हें चुरावेगा तो उससे पाप होगा। अतः मैं ऐसा नहीं चाहता। जब यह बात एक और सन्त ने सुनी तो वह कहने लगे कि इनकी इस बात से इनके भगवदाश्रय की निर्बलता सूचित होती है, क्योंकि ये तो विरक्त हैं, यदि चोर ले जायगा तो इनकी उसमें क्या हानि होगी? किन्तु ऐसी बात तो उत्तम भगवदाश्रित की होती है।

३. जब घर से बाहर निकले तो मनमें यह संकल्प रखे कि यदि चोर मेरा धन ले जाय और फिर न लौटावे तो यह उसपर मेरी कृपा ही होगी, क्योंकि यदि उसे धन की आवश्यकता है तब तो उसकी पूर्ति हो जायगी, और यदि वह धनी है तो भी इतना तो अच्छा होगा कि वह मेरे धनके बदले किसी दूसरा का धन नहीं चुरायेगा। इस प्रकार भी मेरा धन दूसरे के लिये ही निछावर होगा। अतः इसके द्वारा चोर पर तथा दूसरे धनवानों पर मेरी ओर से दयालुता ही होगी। सो, यह प्रभु का विधान तो अवश्य ही पूरा होगा। किन्तु ऐसी भावना होने पर इसे बहुत लाभ होगा मानों एक ही कार्य का सहस्र गुना फल हो। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि यदि कोई पुरुष भगवान् के लिये सिर देने की भावना से युद्धस्थल में जाय तो फिर उसका शरीर रहे अथवा जाय उसे उस भावनाका फल अवश्य प्राप्त होता है, क्योंकि उस की भावना तो सिर देने की थी ही।

४. जब इसका धन जाय तो इसे शोक नहीं करना चाहिये। ऐसा समझना चाहिये कि मेरा भला इसी में था। यदि इसे भगवदर्पण समझे तो फिर उसकी खोज भी न करे और वह स्वयं लौटाने लगे तो भी अंगीकार न करे। यदि अंगीकार करे भी तो इसी की वस्तु होने के कारण कोई दोष तो नहीं होगा, किन्तु भगवदाश्रय की दृष्टि से उसे लेना उचित नहीं है। जैसे एक संत को गौ चोर चुरा ले गये थे। उन्होंने उसे बहुत ढूँढ़ा, किन्तु कहीं

पता न चला। तब उन्होंने कहा, "चलो, भगवान् के निमित्त चली गयी।" और फिर भजन में लग गये। थोड़ी देर में एक मनुष्यने आकर कहा कि आपकी गौ अमुक स्थान में है। ये सुनकर खड़े हुए, किन्तु फिर सोचने लगे, "मैं भूल गया, मैं तो उसे भगवदर्थ अर्पण कर चुका। फिर अब मैं क्यों जाता हूँ ?" इसलिये उन्होंने जाने का विचार छोड़ दिया। एक भगवत्प्रेमी का कथन है कि मैंने ध्यान में ऐसा अनुभव किया कि मेरा एक प्रियजन स्वर्गमें शोकाकुल है। तब मैंने उससे पूछा कि तुम शोक क्यों करते हो ? उसने कहा कि मेरा यह शोक तो मिटनेवाला नहीं है। देवताओं ने पहले मुझे स्वर्ग में बहुत उत्तम स्थान दिखाये थे, उनसे ऊँचा और कोई पद नहीं था। किन्तु जब मैं वहाँ जाने लगा तो मुझसे उन्होंने कहा कि तुम वहाँ नहीं जा सकते, क्योंकि वह स्थान तो उसे प्राप्त होता है जो अपने वचनों का निर्वाह करता है। तुमने तो अपने वचनों का निर्वाह नहीं किया। तुमने कोई पदार्थ 'भगवदर्थ' कह दिया था, किन्तु फिर उसे स्वयं ही स्वीकार कर लिया। यदि तुम उसे स्वीकार नहीं करते तो तुम्हें वहाँ स्थान मिल सकता था। इसी प्रकार किसी मनुष्य की रुपयों की थैली सोते समय किसीने ले ली। जब वह जगा तो इधर-उधर ढूँढ़ने लगा और जब न मिली तो एक भजनानन्दी से कहा कि तुम हमारी थैली ले आये हो। भक्त उसे अपने घर में ले आये और उससे पूछा कि तुम्हारा धन कितना था ? तथा उसने जितना बताया उतना ही दे दिया। जब वह उसे बाहर लेकर निकला तो किसी ने कहा कि तुम्हारी थैली तो तुम्हारे एक मित्रने ही हँसी में ले ली थी। तब वह उन रुपयों को लेकर पुनः उस भजनानन्दी के पास गया। किन्तु उन्होंने वे रुपये स्वीकार नहीं किये। कहने लगे कि मैंने तो यह धन भगवदर्थ निछावर कर दिया है, इसलिये अब लौटा नहीं सकता उस पुरुष ने कहा कि मेरी थैली तो मिल गयी है, फिर मैं आपसे दण्डरूप

यह धन कैसे ले सकता हूँ ? अन्त में दोनों ही ने धन स्वीकार नहीं किया और अर्थियों को बाँट दिया गया। इसी प्रकार यदि कोई भोजन अर्थियों के निमित्तसे बना हो और जब उसे उनके पास ले जायँ और वे वहाँ न मिलें तो उसे फिर घर में लौटा लाना उचित नहीं है। वह किसी अन्य अभावग्रस्त को दे देना चाहिये।

५. जिसने इसका धन या सामग्री हरी हो उसे शाप नहीं देना चाहिये। शाप देनेसे भगवान्का भरोसा और विश्वास दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। इसी विषयमें एक गाथा है। एक संतकी गौ किसीने चुरा ली थी। संतने कहा कि जब चोर गौको ले जा रहे थे तब मैंने देख लिया था, किन्तु उस समय मैं भजनानन्द में निमग्न था, इसलिये कुछ नहीं बोला। संतकी यह बात सुनकर लोग उस चोरको शाप देने लगे। तब संतने कहा, "तुम उसके लिये कोई दुर्वाक्य मत कहो, क्योंकि मैं उसे क्षमा कर चुका हूँ।" इस पर लोगोंने कहा, "आप ऐसे तामसी पुरुषको शाप क्यों नहीं देने देते ?" संत बोले, "उसने अपने प्रति अन्याय किया है, मेरे प्रति तो नहीं किया। उसके लिये अपनी बुराई ही बहुत है, हम उसे क्या कहें ?" इस विषयमें महापुरुषका कथन है कि जो अपने शत्रु को शाप देता है वह अपनी भलाईको बुराईसे बदल लेता है।

६. यदि हृदयमें शोक हो तो उस चोरके लिये ही शोक करे कि उससे जो यह बुराई हुई है इसके लिये उस बेचारेको दण्ड भोगना पड़ेगा। तथा इस बात के लिये भगवान्का धन्यवाद करे कि अच्छा हुआ, मेरे धन और सामग्री किसी दूसरे ने ले लिये ; मैंने तो किसीका कुछ नहीं लिया। अतः यह विघ्न तो केवल मेरे धनमें ही हुआ है, धर्ममें तो कोई विघ्न हुआ नहीं है। इस प्रकार यदि किसीके द्वारा इसका कोई अपराध हो जाय और यह उसके लिये हृदयमें दुःख न माने, तथा ऐसा भी न सोचे कि इसने

बुराई की है, इसलिये परलोकमें यह दण्डका भागी होगा तो वह दूसरोंके प्रति दया करनेकी स्थितिसे दूर जा पड़ता है। कहते हैं, एक साधुका वस्त्र किसीने चुरा लिया था। इसपर वे रुदन करने लगे। तब किसीने उनसे पूछा कि क्या आप वस्त्रके ही लिये रो रहे हैं? इसपर साधुने कहा कि मुझे तो उस चोरपर दया आती है कि जब वह परलोकमें जायगा और इस विषयमें उससे पूछेंगे तो वह क्या उत्तर देगा।

(भगवदाश्रय की चतुर्थ भूमिका–विघ्ननिवारण और चिकित्सा कराना)

इस चतुर्थ भूमिकाके आचरणके भी तीन प्रकार हैं—

१. भूखकी निवृत्ति भोजनसे होती है और तृषाकी जलसे तथा जब आग लग जाती है तो उसपर जल डालना अनिवार्य होता है। अतः ऐसे अनिवार्य कृत्योंका त्यागना भगवदाश्रय नहीं कहा जा सकता।

२. जो कृत्य आवश्यक भी नहीं हैं और आवश्यकके समीपवर्ती भी नहीं हैं–जैसे मन्त्र, यत्न और टोना आदि—उनका त्यागना ही भगवदाश्रय है।

३. तीसरा प्रकार इन दोनोंका मध्यवर्ती है। जैसे दूषित रक्त को निकलवा देना; विरेचन (जुलाव) लेना, अथवा गर्मी-सर्दीके लिये औषध लेना। इन्हें त्यागना भी ठीक नहीं है और इन्हें करना भी भगवदाश्रयकी युक्ति नहीं कहा जा सकता। कई अवस्थाओंमें तो इन्हें कराना अच्छा होता है और कभी न कराना ही श्रेष्ठ माना जाता है। इस विषयमें कथन और क्रिया दोनों ही के द्वारा महापुरुषकी साक्षी दी जा सकती है। उनका कथन तो यह है कि अरे जीवो! भगवान्की रची हुई ओषधिका सेवन अवश्य करो, क्योंकि मृत्युके सिवा और ऐसा कोई रोग नहीं है,

जिसकी ओषधि न हो। किन्तु कोई तो उसे जानता है और कोई नहीं जानता। तब लोगोंने पूछा कि क्या ओषधि और यन्त्र भगवान्की इच्छाको निवृत्त कर सकते हैं? इसपर महापुरुषने कहा कि हम ओषधि सेवन करें यह भी तो भगवान्की इच्छा ही है। रुधिरका विकार बढ़नेसे तुम्हारी मृत्यु हो सकती है। अतः विकारी रुधिरको निकलवाना, सर्पको हटाना और अग्निको शान्त करना इत्यादि कृत्य ये भगवदिच्छा की पूर्त्तियाँ ही हैं। विघ्न इसका नाश करनेवाले हैं, अतः इन उपचारोंका न करना भगवदाश्रय नहीं कहा जा सकता। इसीसे महापुरुषने अपने एक सत्संगीसे कहा था कि तुम अपना रुधिर निकलवाओ। तथा एक दूसरे व्यक्ति की आंखमें पीड़ा थी, उससे कहा था कि तुम खजूर खाओ और शहदका सेवन करो। उनकी रहनी यह थी कि नित्यप्रति नेत्रोंमें अंजन लगाते थे, प्रति वर्ष रुधिर निकलवाते थे, विरेचन लेते थे और जब हाथ या सिरमें दर्द होता था तो ओषधि करते थे।

इस विषय में एक गाथा भी है। एक संतको कुछ रोग हुआ। तब लोगोंने कहा कि इस रोगकी अमुक ओषधि है। हमने उसका प्रयोग किया था और तुम भी करो। सन्तने कहा, "मैं औषध नहीं करता।" जब वह रोग बढ़ा तब लोगोंने कहा कि इसकी ओषधि तो स्पष्ट ही है, तुम उसे करो तो सही। किन्तु संतने कहा, "हमारा यह रोग भले ही बना रहे, हम इसकी दवा तो करेंगे नहीं।" तब उन्हें आकाशवाणी हुई कि मैं अपनी शपथ करके कहता हूँ, जबतक तुम औषध न करोगे तबतक तुम्हारा यह रोग निवृत नहीं होगा। बस, फिर संतने ओषधि की और उनका रोग दूर हो गया। इससे संतके चित्तमें कुछ संदेह हुआ। तब आकाशवाणी हुई कि मैंने इन वनस्पतियोंमें जो शक्ति और ओषधियोंमें जो गुण रखे हैं उन्हें क्या अपने भगवदाश्रयके द्वारा तुम व्यर्थ करना चाहते हो? इसी प्रकार एक अन्य संतने भगवान्से प्रार्थना की थ

कि मेरा शरीर दुर्बल है। तब उन्हें आकाशवाणी हुई कि दूध-घी आदि बलदायक आहारका सेवन करो।

तात्पर्य यह है कि औषधि-सेवन करना तो रोगनिवृत्तिका साधन है। जैसे कि भूख और प्यासकी निवृत्तिके लिये अन्न और जलका सेवन किया जाता है। किन्तु हृदयका विश्वास श्रीभगवान् पर ही रहना चाहिये। एक अन्य सन्तने भगवान्से प्रार्थना की थी कि रोग और आरोग्य किसकी प्रेरणासे होते हैं? तब प्रभुका आदेश हुआ कि इन दोनोंका प्रेरक मैं ही हूँ। फिर प्रार्थना की कि तब वैद्य किस लिये हैं? इसपर भगवान्ने कहा, "औषधके द्वारा उनकी जीविका रची गयी है। वे मेरे जीवोंको धैर्य देते हैं? इस प्रकारका भरोसा हृदयकी समझ और स्थितिसे ही हो सकता है। अर्थात् हृदयका विश्वास श्रीभगवानपर ही रखे, औषधियोंपर नहीं: क्योंकि औषधि खानेपर भी तो कितने ही लोग मरते ही हैं। किन्तु शरीरपर दाग लगवाना भगवदाश्रयका चिह्न नहीं है, क्यों कि यह किसी रोग की निवृत्तिका उपचार भी नहीं है। इससे तो खेद ही बढ़ता है। यह रुधिर निकलवाने या औषधि खाने के समान नहीं है।

(औषधि सेवन न करनेका औचित्य)

किन्तु कितने ही सन्तजनोंने औषधि भी नहीं की। इसपर यदि कोई कहे कि औषधि न करना ही उचित होता तो महापुरुष भी इसका प्रयोग न करते। पर उन्होंने तो औषधि की थी। इसका उत्तर यह है कि औषधि न करनेमें छः कारण होते हैं--

१. जिसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मेरी मृत्यु समीप है वह औषधि सेवन नहीं करता। जिस प्रकार एक सन्त रोगी हुए थे, तब लोगोंने पूछा कि वैद्यको क्यों नहीं बुलाते? तब उन्होंने कहा कि वैद्य मुझे जानता है। उनके इस कथनका प्रयोजन यही था कि उन्हें यह पता लग गया था कि मेरी मृत्यु समीप है।

२. जिस रोगीके चित्तमें परलोकका भय बना हुआ है वह ओषधिकी ओर चित्त नहीं लगाता। कहते हैं, एक साधु रोगके समय रो रहे थे। यह देखकर किसीने उनसे पूछा, "तुम क्यों रोते हो? तुम्हारी क्या इच्छा है?" तब उन्होंने कहा, "मैं तो श्रीभगवानकी कृपा चाहता हूँ।" लोगों ने कहा कि वैद्यको बुलाया जाय? तब वे बोले, "वैद्यने ही मुझे रोगी किया है।" इसी प्रकार एक सन्तकी आंखोंमें पीड़ा थी। उनसे लोगोंने पूछा, "क्या आप ओषधि नहीं कराते?" तब वे बोले, "मैं ओषध से भी बढ़कर एक क्रियामें लगा हुआ हूँ।" इस बातको इस दृष्टान्तसे समझ सकते हैं कि जैसे किसी व्यक्तिको राजाके पास पकड़कर ले जायँ और उसे राजासे बहुत कठिन दण्ड पाने की सम्भावना हो, तब यदि कोई उससे कहे कि भोजन करले तो वह यही कहेगा कि मुझे तो दण्ड मिलनेवाला है, फिर भोजनमें मेरी रुचि कैसे हो सकती है? उसका यह कथन ठीक ही होगा। इसी प्रकार जिन लोगोंको परलोकका भय रहता है वे ओषध करना भूल जाते हैं। एक सन्तसे किसीने पूछा था कि तुम्हारा आहार क्या है? तब उन्होंने कहा, "भगवन्नाम-स्मरण ही मेरा आहार है।" फिर लोगोंने पूछा, "हम तो तुम्हारा बल पूछते हैं? वे बोले, 'भगवानके अनुपम रूपका विचार करना ही हमारा बल है।" लोगोंने पुनः प्रश्न किया, "हमतो यह पूछते हैं कि आप किस अन्नका आहार करते हैं।" तब उन्होंने कहा, "यह बात तो विश्वम्भर श्रीभगवानकी इच्छापर छोड़ दो।"

३. जब रोग बहुत दिनोंका हो जाय और ओषधिसे लाभ होना सन्दिग्ध हो तो ऐसी अवस्था में भी ओषधिका त्याग किया जा सकता है। कहते हैं, एक भक्तको रोग हुआ था। उसने चाहा कि मैं ओषधि करूँ। किन्तु फिर उसे यह विचार हुआ कि पहले भी बहुत लोग ओषधि कर चुके हैं, और फिर भी उनके शरीर नहीं बचे, तो मैं भी क्यों ओषधि करूँ? ऐसा सोचने में उसकी दृष्टि

प्रत्यक्ष उदाहरण पर थी।

४. भगवान्‌के सच्चे अनुरागियों को यह इच्छा भी नहीं होती कि हमारा रोग चला ही जाय। वे सोचते हैं कि रोगसे भी हमें लाभ ही होगा और इससे हमारे धैर्य की भी परीक्षा हो जायगी। महापुरुष भी कहते हैं कि रोगके द्वारा भगवान् अपने दासोंको परखना चाहते हैं, जैसे कि सोने को अग्निके द्वारा परखा जाता है। जो सोना खरा होता है वह तो निर्मल हो जाता है और जो खोटा होता है वह काला पड़ जाता है। इसी प्रकार जो सच्चा अनुरागी होता है वह रोगकी स्थितिसे अत्यन्त निर्मल होकर निकलता है। और जो कच्चे होते हैं वे भगवान्‌को दोष देते रहते हैं। एक सन्त दूसरों को तो रोगों की दवा बताते रहते थे, किन्तु स्वयं सेवन नहीं करते थे। कहा करते थे कि नीरोग अवस्थामें खड़े होकर भजन करनेकी अपेक्षा तो मुझे रुग्णावस्थामें बैठे-बैठे भजन करना अधिक प्रिय है।

५. जो व्यक्ति यह समझता है कि मैंने पाप बहुत किये हैं और यह रोग मेरे उन पापोंका प्रायश्चित्त है वह भी ओषधि नहीं करता जैसे महापुरुषने भी कहा है कि रोग जो आता है वह इसके पापों की ही निवृत्ति करता है। उसके द्वारा यह विद्युत्‌के समान निर्मल हो जाता है। इस विषयमें एक सन्तका कथन है कि जिसपर रोग का आक्रमण हो और उससे उसे प्रसन्नता न हो तो समझना चाहिये कि उसने इस बातको ठीक-ठीक नहीं समझा है कि रोगके द्वारा मेरे पाप क्षीण होते हैं और परलोकमें मेरा पद बढ़ जाताहै।

६. रोगीको समझना चाहिये कि शरीर नीरोग होनेसे विषयासक्ति और प्रमादकी वृद्धि होती है, एवं भगवान्‌की ओरसे मनुष्य उच्छृंखल हो जाता है। तथा रोग होनेपर प्रमाद नहीं रहता और उसका मन श्रीभगवान्‌में लगा रहता है। अतः भगवान् जिसका हित करना चाहते हैं उसे रोगमुक्त करके सचेत कर देते हैं। सन्तों

का कथन है कि अनुरागी लोग इन तीन बातोंसे खाली नहीं रहते—(१) निर्धनता, (२) रोग और (३) अपमान। महापुरुष भी कहते हैं कि भगवान्का कथन है कि निर्धनता और रोग मेरे बन्धन हैं। अतः मैं ये बन्धन उसीपर डालता हूँ जिसपर मेरा अधिक प्रेम होता है। वास्तवमें तो आरोग्य पापोंका कारण है और रोगसे मनुष्यका हित होता है। एक साधुने किसीसे पूछा था कि तुम्हारा क्या हाल है ? उसने कहा, "कुशल है।" तब सन्तने कहा, "कुशल और सुख तो तब समझना चाहिये जब पाप न हों। जब पाप होते हैं तब कैसी कुशल ?" एक राजाने अपने ही को 'ईश्वर' कहा था। इसका कारण यही था कि उसकी आयु चार सौ वर्षकी हुई थी और उसे कोई रोग भी नहीं हुआ था। इसीसे वह अपने को ईश्वर मानने लगा था। यदि उसे एक क्षणके लिये भी रोग हो जाता तो वह ऐसा अभिमान तो न करता। जब यह मनुष्य एक-दोवार रोगी हो लेता है और फिर भी पापोंको नहीं छोड़ता तो धर्मराज [1] इससे कहते हैं कि ऐ अचेत ! मैंने तेरे पास रोगरूपी सन्देश भेजा था, किन्तु तूने उसे नहीं सुना। एक सन्तका कथन है कि भगवान्के भक्त को रोग, शोक, भय और धनसम्बन्धी विघ्न इन चार बातों से चालीस दिनसे अधिक कभी अवकाश नहीं मिलना चाहिये। इसीमें उसका हित है। कहते हैं, एक दिन कोई सज्जन महापुरुष के आगे रोगकी चर्चा चला रहे थे। तब एक मनुष्यने कहा, "आप यह क्या चर्चा कर रहे हैं ? मैं तो जानता ही नहीं कि रोग किसे कहते हैं।" इसपर महापुरुष बोले कि तुम मुझसे दूर हट जाओ। फिर कहने लगे, "यदि किसीको कोई नारकी जीव देखना हो तो इसे देख लो।" एक दिन महापुरुषकी पत्नीने उनसे पूछा, "स्वामिन

---

१. मूल ग्रन्थमें यहां मृत्युके अधिष्ठातृ देवका नाम 'हजरत इज़राइल' लिखा है।

जो पुरुष भगवान्के लिये सिर अर्पित करता है उसके समान पद क्या कोई और भी पा सकता है?" तब महापुरुषने कहा, "जो पुरुष दिन भरमें बीस वार मृत्यु का स्मरण कर लेता है वह उस पदको प्राप्त कर सकता है।" सो ऐसी बात किसी रोगी पुरुषमें ही मिल सकती है, इसमें सन्देह नहीं।

इस प्रकार बहुत लोगोंने तो इन छः कारणोंसे औषध नहीं की। किन्तु महापुरुष इन छहों बातोंसे परे थे, इसलिये औषध करते थे, जिससे कि और लोग भी इसी प्रकार बर्ताव करें। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष उपाधियोंको त्यागना भगवदाश्रयको नष्ट नहीं करता। कहते हैं, एक महापुरुषके भक्त थे। वे कहीं विदेशको गये। तब किसीने कहा कि इस देशमें रोग बहुत हैं, उनसे बहुत लोग मर जाते हैं। और कोई बोला, "जाइये, जैसी भगवदिच्छा हो उसमें डरना नहीं चाहिये।" और किसीने कहा, "नहीं, वहाँ नहीं जाना चाहिये।" तब महापुरुषके भक्तने कहा कि प्रभुकी आज्ञाको तो उन्हींकी आज्ञा होनेपर छोड़ा जा सकता है। फिर उन्होंने एक अन्य प्रेमीसे पूछा, "आपने महापुरुषका संग बहुत किया है, इस विषयमें आप उनका विचार सुनाइये।" वे बोले, "एक दिन महापुरुषने ऐसा कहा था कि यदि एक जंगलमें घास हरी हो और दूसरेमें सूखी, तो चरवाहा हरी घासके जंगलमें ही पशुओंको ले जाता है। उसके लिये ऐसा ही करना उचित है, सूखे जंगल में ले जाना उचित नहीं है। इसी प्रकार महापुरुषने यह भी कहा है कि जहाँ रोगसे बहुत लोग मरते हों वहाँ जाना उचित नहीं। किन्तु यदि पहले ही वहाँ रहता हो तो भागना भी ठीक नहीं है। यह सुनकर उस भक्तने कहा, "अच्छा हुआ, जो मेरा विचार भी महापुरुषके कथनानुसार ही हुआ, उससे विपरीत नहीं हुआ।" फिर तो सबने यही ठीक बताया कि वहाँ नहीं जाना चाहिये।

यहाँ ऐसा जो कहा गया है कि जहाँ अधिक लोग मरते हों

और रोग की अधिकता हो तथा यह पहले से ही वहाँ रहता हो, तो उस स्थान को छोड़कर न जाय—इसका कारण यह है कि यदि यह उस स्थान को छोड़ कर जायगा, तो वहाँ रहनेवाले अन्य लोगों की खबर कौन लेगा। इसके सिवा इस पर उस देश की हवा का भी प्रभाव पड़ ही जाता है। तब इसका भागना व्यर्थ होगा। तथा यह जहाँ जायगा वहां भी रोग फैलेगा। इसलिये इसका उस स्थान को छोड़कर जाना उचित नहीं, क्योंकि जिस प्रकार युद्ध-स्थल से भागनेपर दूसरे योद्धाओं और घायलों का उत्साह भंग हो जाता है, वैसे ही वहाँ रोगियों का भी मन टूट जाता है। वे सोचने लगते हैं कि अब हमारी टहल करनेवाला भी कोई नहीं रहा। इससे रोगियों की मृत्यु तो निश्चत हो जाती है और भागनेवाले का मृत्यु से बचना सन्दिग्ध रहता है।

इसके सिवा रोग को स्पष्ट न कहना भी भगवदाश्रय का ही लक्षण है। रोग की विशेष चर्चा नहीं करनी चाहिये। किन्तु प्रयोजनवश कभी उसे कहना भी उचित होता है, जैसे वैद्य को रोग की व्यथा बतलाना। अथवा अभिमान और मन की उद्दण्डता को शिथिल करने के लिये अपनी दुर्बलताओं को बताना। एक भक्त रोगी था, उससे किसी ने पूछा, "आप कुशल से तो हैं?" वह बोला, "नहीं।" यह सुनकर लोगों को कुछ विस्मय हुआ। तब भक्त ने कहा, "भगवान् के आगे अपना बल नहीं दिखाना चाहिये।" अतः ऐसा कहना उन्हीं के लिये उचित है जो शक्ति रहते हुए भी अपना दैन्य प्रकट करते हैं और भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि प्रभो! कृपा करके हमें ऐसा धैर्य दीजिये कि हम दुःख और अपमान को सहन कर सकें। इसी से महापुरुष ने कहा है कि भगवान् से कुशल-क्षेम ही माँगो, दुःख मत माँगो। * ऐसे ही कारणों से

* क्योंकि दुःख मांगने से अभिमान का भाव प्रकट होता है।

रोग का प्रकट करना भी उचित होता है। यदि ऐसी बात न हो तो कहना उचित नहीं। और यदि कहे भी तो भगवान् के प्रति मन को मलिन न होने दे। फिर भी गुप्त रखना अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि मनुष्य जब कहने लगता है तो निश्चय ही कुछ अधिक कह जाता है। तब लोग समझते हैं कि इसके मन में खेद है। इसी से ठंडी साँस लेना भी उचित नहीं। इससे भी ग्लानि प्रकट होती है। कोई-कोई भगवत्प्रेमी तो ऐसे हुए हैं कि जब रोगी होते थे तब घर का द्वार बन्द कर लेते थे, जिससे कोई पूछने के लिये न आवे।

—:०:—

नवीं किरण

भगवत्प्रीति और भगवदिच्छा का अनुसरण

याद रखो, भगवद्भक्ति सबसे उत्तम अवस्था है और यही सम्पूर्ण शुभ गुणों का फल है। पापों को त्यागने की विधि भी इसी निमित्त से है कि इससे हृदय शुद्ध होता है और उसकी भगवद्भक्ति में दृढ़ता होती है। त्याग, वैराग्य सन्तोष और भगवान् का भय आदि जितने भी शुभ गुण हैं उनके द्वारा मनुष्य भगवान् की भक्ति का ही अधिकारी होता है। भगवान् की आज्ञा मानना और प्रभु में प्रेम होना—यही भक्ति का फल है। इस पुरुष की पूर्णता इसी में है कि इसके हृदय में भगवान की भक्ति सुदृढ हो तथा और किसी पदार्थ में प्रीति न रहे। यदि ऐसी प्रबल प्रीति प्राप्त न हो सके तो चाहिये कि अन्य सब पदार्थों की अपेक्षा भगवान् का प्रेम अधिक हो। किन्तु भगवत्प्रेम की पहचान अत्यन्त कठिन है। प्रवृत्तिमार्गीय पण्डित तो उसे पहचान ही नहीं सकते। वे तो कहते हैं कि प्रेम उसी से हो सकता है जिसकी आकृति मनुष्य के समान हो, अन्यथा नहीं। अतः उन लोगों का कथन है कि भगवत्प्रीति का अर्थ है भगवान् की आज्ञा मानना। सो, जिसका ऐसा निश्चय हो, जानना चाहिये उसे धर्म के मूल की समझ नहीं है। अतः इसका वर्णन करना बहुत आवश्यक है। अब मैं पहले सन्तजनों के वचनों की साक्षी देकर भगवत्प्रेम का वर्णन करूँगा और फिर उस प्रेम का स्वरूप एवं उसके लक्षण बतलाऊँगा।

(प्रीति की प्रशंसा)

सम्पूर्ण सन्तों का यही मत है कि श्रीभगवान् के साथ अवश्य प्रेम करना चाहिये। प्रभु का कथन है कि जो लोग मेरे साथ प्रीति करते हैं उन पर मैं भी प्रेम करता हूँ। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि सम्पूर्ण जीवों का धर्म तब दृढ होता है जब यह सब पदार्थों की अपेक्षा भगवान् से अधिक प्रेम करता है। भगवान् ने भी खुले शब्दों में कहा है कि जब तक माता, पिता, पुत्र, धन, व्यवहार, भवन तथा अन्यान्य सामग्रियों के साथ तुम्हारा प्रेम है तब तक निःसन्देह तुम अत्यन्त दुःख भोगोगे। एक व्यक्ति ने महापुरुष से कहा था कि मैं भगवान् और उनके भक्त दोनों ही को प्रेम करता हूँ। इस पर उन्होंने कहा कि तब तो तुम अपने ऊपर दुःख आया जानो। एक अन्य प्रसंग है कि किसी सन्त के जीव को ले जाने के लिये भगवान् के दूत आये। तब उन्होंने कहा कि क्या तुमने ऐसा कभी देखा है कि जिन दो का परस्पर प्रेम हो उनमें से एक प्रिय के जीव को दूसरा प्रिय लेना चाहे? तब उन सन्त को आकाशवाणी हुई कि क्या तुमने ऐसा देखा है कि एक प्रिय अपने दूसरे प्रिय का दर्शन भी करना न चाहे और अपने जीव को उस प्रियतम से भी अधिक प्यार करे? यह सुनकर सन्त ने कहा, "अब मैं प्रसन्न हूँ, तुम मेरा जीव निकाल लो।" महापुरुष भी यही प्रार्थना किया करते थे कि प्रभो! मुझे अपना प्रेम दो तथा अपने प्रेमियों की प्रीति भी मुझे प्रदान करो। इसके सिवा और भी जिस वस्तु के द्वारा मैं आपके अधिकाधिक समीप होऊँ उसी पदार्थ की प्रीति मुझे देने की कृपा करें। ग्रीष्म ऋतु में प्यासे मनुष्य की जल में जैसी प्रीति होती है उससे भी अधिक प्रेम मेरा आपके प्रति हो।

एक बार एक वनवासी व्यक्ति महापुरुष के पास आकर पूछने लगा, "प्रभु के प्यारे! परलोकप्राप्ति का समय कब आयेगा?"

महापुरुष ने पूछा, "तेरे पास परलोकमार्ग का कुछ तोशा भी है?" वह बोला, "मैंने विशेष जप-तप तो किया नहीं है। किन्तु मैं प्रभु को और प्रभु के प्यारों को प्यार करता हूँ।" तब महापुरुष ने कहा, "इस लोक में जिसकी जिसके साथ प्रीति है परलोक में वह उसी को प्राप्त होगा।" एक अन्य सन्त ने कहा है कि जिस पुरुष ने केवल भगवत्प्रेम का रसास्वादन किया है वह सारे संसार से मुक्त हो जाता है। तथा संसार के मेल-जोल को नीरस समझकर त्याग देता है। उसका आपा प्रभु के प्रेम में लीन हो जाता है। इसी प्रकार एक दूसरे सन्त कहते हैं कि जिस पुरुष ने श्रीभगवान् को पहचाना है उसकी प्रीति केवल उन्हीं के साथ होती है। तथा जिस पुरुष ने माया को छलरूप जाना है वह निश्चय ही उसे त्याग देता है। जिज्ञासु जब तक भगवान् की ओर से असावधान नहीं होता, तबतक स्थूल पदार्थों में प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकता। वह जब माया के छलों को विचार कर देखता है कि इनसे तो छुटकारा पाना अत्यन्त कठिन है तो शोकाकुल हो जाता है।

एक बार एक महापुरुष किसी सभामें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने लोगोंके शरीर बहुत कृश देखे। तब उनसे पूछा कि तुम लोग ऐसे दुर्बल क्यों हो रहे हो? उन्होंने कहा, "हम नरकोंके भयसे ऐसे दीन-हीन हो रहे हैं।" तब महापुरुषने कहा, "तब तो निःसन्देह भगवान् नरकोंसे तुम्हारी रक्षा करेंगे।" इसके पश्चात् वे एक दूसरी सभामें पहुँचे। वहाँके लोगोंको उन्होंने उनसे भी अधिक कृश देखा। तब उनसे पूछा कि तुम ऐसे निर्बल क्यों हो रहे हो? उन्होंने कहा कि हम स्वर्गप्राप्तिकी लालसाके कारण ऐसे कृश हो गये हैं। इसपर महापुरुषने कहा, "भगवान् तुम्हें निःसन्देह स्वर्ग-सुख प्रदान करेंगे।" तत्पश्चात् वे एक अन्य गोष्ठीमें पहुँच गये। वहाँ के सदस्योंके शरीर पूर्वोक्त दोनों सभाओंके सदस्योंसे भी

अधिक कृश थे, किन्तु उनके मस्तक दर्पणकी तरह उज्ज्वल और देदीप्यमान थे । उनसे पूछा कि तुम इस अवस्था को कैसे प्राप्त हुए ? तब उन्होंने कहा, "हम तो भगवत्प्रेमके कारण क्षीण हो गये हैं ।" तब वे महापुरुष उनके समीप बैठ गये और कहने लगे, "तुम प्रभुके समीपवर्ती हो और मुझे प्रभुकी आज्ञा है कि तुम्हारा सत्संग करूँ ।" सन्त सिर्री ने कहा है कि जो जिसके पन्थ और मतका अनुसरण करेगा परलोकमें उसे उसीके नामसे सम्बोधन किया जायगा । तथा जो भगवान्के प्रेमी हैं उन्हें प्रभुके प्यारे कहकर पुकारेंगे । तब वे अपने हृदयसर्वस्व श्रीभगवान्के पास जायँगे और उनके हृदय प्रसन्नतासे भर जायँगे । प्रभुने कहा कि मैं तुमसे सब प्रकार प्रेम करता हूँ, अतः तुम्हें भी मेरे प्रति ही प्रेम रखना चाहिये ।

(प्रीति का स्वरूप)

भगवान्के इस शुद्ध, निर्विकार और मायातीत स्वरूपके साथ प्रीति करना ऐसा कठिन है कि कितने ही पुरुषोंने तो इसका निषेध भी कर दिया है। उनका कथन है कि भगवानके साथ प्रेम करना असम्भव है । अतः यहाँ उसका स्पष्टकरण बहुत आवश्यक है । यद्यपि इसमें बहुत सी सूक्ष्म बातें भी होंगी, जिन्हें सर्वसाधारणको हृदयंङ्गम करना कठिन होगा । पर मैं दृष्टान्तोंद्वारा उन्हें ऐसा स्पष्ट कर दूँगा कि जो इसमें थोड़ा भी चित्त लगायेंगे वे उन्हें सुगमतासे समझ लेंगे ।

अतः सबसे पहले तो यह देखना चाहिये कि प्रीतिका मूल क्या है ? जो पदार्थ इस पुरुषको अभीष्ट होता है उसीके प्रति इसका आकर्षण होता है । और वह आकर्षण ही जब बढ़ जाता है तो उसीको प्रेम कहते हैं । तथा अप्रीतिका अर्थ यह है कि जो पदार्थ मनुष्यको अनिष्ट होता है उसके प्रति चित्तमें ग्लानि होती

है, उसीको अप्रीति कहते हैं। तथा जिस पदार्थके प्रति आकर्षण या ग्लानि कुछ भी न हो वहाँ प्रीति या अप्रीति कुछ भी नहीं होती। अब, यह भी जानना चाहिये कि इष्ट और अनिष्टका अभिप्राय क्या है।

याद रखो, सारे पदार्थ तीन प्रकारके हैं —

१. कुछ पदार्थ तो तुम्हारे स्वभावके अनुसार हैं और तुम्हारे चित्तकी वृत्ति उन्हें चाहती है। ये इष्ट कहलाते हैं।
२. कुछ तुम्हारे स्वभावसे विपरीत हैं। वे अनिष्ट कहे जाते हैं।
३. जो पदार्थ तुम्हारे स्वभावके अनुकूल या प्रतिकूल दोनों ही प्रकारके नहीं हैं वे इष्ट या अनिष्ट कुछ भी नहीं कहे जाते।

साथ ही यह भी जानना चाहिये कि जो पदार्थ तुम्हें इष्ट या अनिष्ट नहीं जान पड़ता उसका तुम्हें परिचय भी प्राप्त होना कठिन है। सभी पदार्थ बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही जाने जाते हैं। इन्द्रियाँ पाँच हैं और उनके अपने अलग-अलग पाँच ही विषय हैं। ये सब अपने-अपने विषयसे प्रीति भी रखती हैं। अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयके प्रति चित्तका आकर्षण होता है। जैसे नेत्रेन्द्रियका विषय रूप है, अतः नाना प्रकारके रंग-विरंगे पुष्प तथा इन्हींकी तरह जो रूपवान् पदार्थ हैं वे नेत्रोंको प्रिय लगते हैं। इसी प्रकार रसनाका विषय स्वाद, श्रवणोंका राग या नादरूप शब्द, नासिकाका गन्ध और त्वचाका विषय स्पर्श है। ये सभी विषय इन्द्रियोंको इष्ट हैं और चित्त को अपनी ओर खींचनेवाले हैं।

किन्तु ये सब विषय तो पशुओंको भी प्राप्त हैं इनकी अपेक्षा प्रधान इन्द्रिय बुद्धि है और वह केवल मानवहृदयमें ही रहती है। उस बुद्धिको ही प्रकाश, समझ या ज्ञान कहते हैं। ये सब एक

ही वस्तुके नाम हैं। इस समझके कारण ही मनुष्य पशुओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। उस समझका भी एक विषय है और जिस प्रकार इन्द्रियोंको अपने-अपने विषय इष्ट हैं उसी प्रकार समझको अपना वह विषय प्रिय है। अतः जो पुरुष पशुओंके समान समझकी ओरसे असावधान है और पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके सिवा और कुछ नहीं समझता, वह उस समझके विषय भजनानन्दको भी कुछ नहीं जान सकता। उसे यह विश्वास भी नहीं होता कि भजनके द्वारा मनुष्य परमानन्द प्राप्त कर सकता है। किन्तु जिस पुरुषकी बुद्धि उज्ज्वल होती है और जिसमें पशुओंका स्वभाव नहीं होता, वह तो अपने बुद्धिरूप नेत्रोंसे श्रीभगवान्के सौन्दर्य-माधुर्यका दर्शन करनेमें ही प्रेम रखता है तथा उनकी सर्वसमर्थता और सर्वगुणसम्पन्नताको पहचानता है। जैसे मनुष्यके ये नेत्र सुन्दर रूप, बगीचे और ताल आदि को देखकर प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष भगवान्के अतीन्द्रिय रूपकी सुन्दरताको इनसे भी अधिक प्रेम करते हैं, क्योंकि जिनके लिये श्रीभगवान्का स्वरूप प्रकट हो जाता है उनकी दृष्टिमें तो सारे ही रस नीरस हो जाते हैं।

(प्रीति की उत्पत्ति के कारण)

प्रीतिकी उत्पत्तिके पाँच कारण हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. यह मनुष्य अपने आपको सबसे अधिक प्यार करता है तथा अपनी महत्तामें भी इसकी बहुत प्रीति है। अपना नाश यह किसी प्रकार नहीं चाहता, सर्वदा अपना बना रहना ही इसे प्रिय है। मनुष्यको वही पदार्थ विशेष प्रिय होता है जो उसके स्वभावके अनुसार होता है, इसीसे इसे अपना बना रहना अधिक प्रिय है। अपने जीवन और गुणोंकी पूर्णताके समान इसे कोई भी पदार्थ

प्रिय नहीं है। तथा अपने नाश और गुणोंके ह्रासके समान इसे कोई परिस्थिति अप्रिय नहीं है। अपने पुत्रको भी यह इसीलिये विशेष प्रेम करता है, कि उसका रहना भी इसे अपने रहनेके समान ही जान पड़ता है। यह पुरुष स्वयं तो सर्वदा रह नहीं सकता, इसलिये जिस वस्तु या व्यक्तिका इसके साथ सम्बन्ध होता है उसके बने रहनेको भी यह अपना बना रहना ही समझता है। अतः सम्यक् प्रकारसे देखा जाय तो यह सब प्रकार अपने आपको ही प्रेम करता है तथा अपने सम्बन्धियोंसे भी इसका इसीलिये प्रेम होता है, क्योंकि उन्हें यह अपने अङ्गोंकी तरह समझता है।

२. जो पुरुष इसपर उपकार करता है उससे भी इसका प्रेम रहता है। इसीसे सन्तजनों ने कहा है कि यह पुरुष अपना उपकार करनेवालेका दास हो जाता है। महापुरुषने भी प्रभुसे प्रार्थना की थी कि मेरे ऊपर किसी नीच पुरुषका उपकार न हो इसीमें मेरी भलाई है, क्योंकि फिर उसमें मेरा चित्त बँध जायगा। उपकारके कारण भी जब किसी पुरुषसे प्रेम होता है तो विचार करनेपर मालूम होगा कि वह भी अपने आपसे ही प्रेम करनेका एक प्रकार है। उपकार तो उसीको कहते हैं जिससे उपकृत व्यक्ति को सुख प्राप्त हो। जिस प्रकार यह मनुष्य अपने आरोग्यको अपने ही लिये चाहता है और इसीलिये यह वैद्यसे भी प्रेम करता है।

३. जिसका स्वभाव सौम्य होता है वह पुरुष भी सबको प्रिय लगता है। ऐसा पुरुष अपने प्रति कोई उपकार भी न करे तो भी प्रिय जान पड़ता है। जैसे पश्चिम दिशामें रहनेवाले किसी राजाके विषयमें यदि सुना जाय कि वह बड़ा बुद्धिमान् और न्यायनिष्ठ है तथा सभी लोगों को सुख देता है, तो उसके ऐसे शुभ गुणोंकी बात सुनकर चित्तमें स्वाभाविक ही उसके प्रति प्रेम होता है, भले ही पश्चिममें अपने जानेकी कोई सम्भावना न हो। इस प्रकार यद्यपि हमें उसके उपकार और शुभ गुणोंको देखनेका अवसर

मिलने की सम्भावना नहीं है, तो भी वह हृदयको प्रिय लगने लगता है।

४. जो पुरुष सुन्दर होता है वह भी चित्तको प्यारा लगता है। उसके प्रति जो प्रेम होता है वह किसी प्रयोजनसे नहीं होता, उसकी सुन्दरता स्वभावसे ही चित्तको आकर्षित करती हैं। ऐसा होना इस दृष्टिसे भी उचित है कि रूपका देखना केवल कामादि भोगोंके निमित्तसे ही नहीं होता, जैसे कि जलाशय और उपवनादि को देखकर जो प्रियता होती है उसमें स्पर्शसुख या कोई अन्य भोग कारण नहीं होता, अपितु उन्हें देखकर नेत्रोंको ही प्रसन्नता होती है। क्योंकि सुन्दरता तो स्वभावसे ही नेत्रोंको प्रिय लगती है। अतः जब इस पुरुप की बुद्धिमें भगवान्का स्वरूप स्फुरित होने लगे, तब निःसन्देह उसीसे विशेष प्रेम करे। आगे मैं अपनी बुद्धि के अनुसार श्रीभगवान्के स्वरूपकी सुन्दरताका कुछ वर्णन करूँगा।

५. जिसका जिसके साथ कोई सम्बन्ध होता है वह भी उसे प्रिय लगता है, क्योंकि जिसके साथ चित्तकी वृत्ति और स्वभाव मिल जाते हैं वह निःसन्देह प्रिय लगता है, भले ही वह रूपवान् भी न हो। किन्तु जिस सम्बन्ध के विपयमें मैंने कहा है वह ऐसा होता है जैसा एक बालकका दूसरे बालकके साथ एक व्यापारीका दूसरे व्यापारीके साथ तथा एक विद्वान्का दूसरे विद्वान्के साथ। ये सब सम्बन्ध तो प्रकट हैं। पर एक सम्बन्ध ऐसा भी होता है जो उत्पत्तिके आरम्भमें शरीरकी उत्पत्तिसे पहले ही हो चुकता है। वह प्रकट रूपसे नहीं जाना जाता। यह बात महापुरुपने भी कही है कि शरीर उत्पत्तिसे पहले ही जीवोंको पारस्परिक सम्बन्ध और विरोध निश्चित हो जाते हैं। इस प्रकार जिसके साथ जीवका औत्पत्तिक सम्बन्ध होता है उसके साथ उसका प्रेम अवश्य हो जाता है। इसी का नाम सूक्ष्म सम्बन्ध है।

(सुन्दरताका तात्पर्य)

जिस पुरुष की बुद्धि पशुओंके समान होती है और जो नेत्रादि इन्द्रियोंके सिवा और कोई मार्ग नहीं देखता वह यही कहता है कि सुन्दरता तो इसीको कहते हैं कि शरीरका रंग गौर और उज्ज्वल हो तथा सम्पूर्ण अंग समान और सुन्दर हों इससे भिन्न और कोई सुन्दरता सिद्ध नहीं हो सकती। इससे तो यही निश्चय हुआ कि जहाँ रंग और आकार न हो वहाँ सुन्दरता भी नहीं होती। सो उनका यह कहना उचित नहीं, क्योंकि सभी बुद्धिमान् घोड़ा, लेख, घर, बगीचा, नगर और धर्मशाला आदिको भी सुन्दर बताते ही हैं। अतः सुन्दरताका अर्थ यह समझना चाहिये कि जिस कार्य या पदार्थ की जो पूर्णता है वह उसमें पायी जाय तो उसे सुन्दर कहते हैं। जैसे अक्षरों की सुन्दरता यह है कि वे सम और शुद्ध हों। और इसमें भी सन्देह नहीं कि अक्षरोंको या घरकी सुन्दरता देखनेसे भी नेत्रोंको प्रसन्नता होती है। तथा यह भी निश्चित है कि भिन्न-भिन्न पदार्थोंकी सुन्दरता और पूर्णता अलग-अलग होती है। अतः सुन्दर पदार्थ वही कहा जाता है जो सम्पूर्ण अंगोंसे पूर्ण हो।

इससे निश्चय हुआ कि सुन्दरता केवल मुख या रंगपर ही निर्भर नहीं करती। यहाँ जो बाग, घर और अक्षरोंके उदाहरण दिये गये हैं ये सभी पदार्थ साकार हैं। अतः ये स्थूल नेत्रोंसे देखे जा सकते हैं। अब, जो पुरुष इनकी सुन्दरता स्वीकार करके भी यह प्रश्न करे कि जिस पदार्थ को नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता उसे सुन्दर कैसे कह सकते हैं? तो उसका यह प्रश्न करना मूर्खता ही होगी, क्योंकि ऐसा तो सभी बुद्धिमान् कहा करते हैं कि अमुक पुरुषका स्वभाव बहुत सुन्दर है, वैराग्ययुक्त विद्या अत्यन्त सुन्दर होती है, उदारतायुक्त शूरवीरता बहुत सुन्दर होती है, निर्लोभता

और संयम सभी पदार्थोंसे सुन्दर होते हैं। इन्हींकी तरह और भी जितने शुभ गुण हैं उन्हें नेत्रोंसे तो देखा नहीं जा सकता। वे केवल बुद्धिके नेत्रोंसे ही देखे जाते हैं। यही बात आगे भी कही गयी है कि सुन्दरता दो प्रकारकी है—स्थूल और सूक्ष्म। अतः स्वभावकी जो सुन्दरता है वह सूक्ष्म है और यही चित्तको प्रिय लगती है। यह बात इस युक्ति से भी सिद्ध होती है कि प्राचीन महात्माओंमें लोगोंका बहुत प्रेम होता है, ऐसा प्रेम कि उनमें विश्वास और श्रद्धा करके वे अपने शरीर और धनको निछावर कर देते हैं। यह प्रेम उनके शरीर की सुन्दरता को लेकर नहीं होता, क्योंकि इन लोगोंने उनके शरीर तो देखे भी नहीं हैं और आज तो वे सभी की दृष्टियोंसे ओझल हो गये हैं। अतः इनका यह प्रेम तो उनके हृदयकी सुन्दरता, विद्या और वैराग्य आदि शुभ गुणोंके ही कारण है। और इन्हीं कारणोंसे लोगोंका आचार्यों अवतारों एवं धार्मिक पुरुषों में प्रेम हुआ करता है।

अतः जो पुरुष किसी महात्माके प्रति प्रेम रखता है उसकी दृष्टि उनके शरीरपर बिलकुल नहीं होती। उनकी भावना का आधार तो उनके दिव्य गुण होते हैं, जो उनसे कभी दूर नहीं होते। और यह बात तो स्पष्ट ही है कि इन गुणोंका कोई रंग या आकार नहीं होता। तथापि उनके प्रति उत्तम पुरुषों का आकर्षण अवश्य होता है। इसी प्रकार सभी स्वभावों का रंग-रूप कुछ नहीं होता, किन्तु आचरणमें वे अत्यन्त प्रिय जान पड़ते हैं। वास्तवमें शरीरकी त्वचा या मांस तो किसीकी प्रीतिके पात्र हो भी नहीं सकते। अतः कोई भी बुद्धिमान् पुरुष सुन्दरता की सूक्ष्मता को अस्वीकार नहीं कर सकता; स्थूल सुन्दरता तो उसके लिये नीरस ही होती है। वह तो हृदयकी सुन्दरता से ही प्रेम करता है यदि किसी पुरुषकी प्रीति कागजकी मूर्त्तिके साथ हो और एक अन्य पुरुषका प्रेम किसी सन्तके प्रति हो तब इस प्रीति और उस प्रीतिमें बड़ा अन्तर है। इसी प्रकार

जब कोई पुरुष किसी मरे हुए मनुष्यकी बड़ाई करने लगता है तब वह उसके नेत्र और मुखकी स्तुति नहीं करता, वह तो उसकी उदारता, विद्या, शूरवीरता और धैर्यको स्मरण करके ही स्तुति करता है। तथा जब किसीकी निन्दा करता है तब उसके शरीरकी कुरूपताका वर्णन नहीं करता। यही कारण है कि महापुरुषके अनुयायियोंको सब लोग प्रेम करते हैं और जो मनमुख उनके विरोधी हुए हैं उन्हें बुरा समझते हैं।

अतः निश्चय हुआ कि सुन्दरता दो प्रकार की है—सूक्ष्म और स्थूल। इनमें सूक्ष्म सुन्दरता स्थूल रूपसे अधिक सुन्दर है। किन्तु जो बुद्धिमान् पुरुष होते हैं उनकी आन्तरिक प्रीति सूक्ष्म स्वरूपमें ही होती है।

(भगवान् ही सब प्रकार प्रीति करनेयोग्य हैं)

यदि विचारकर देखा जाय तो भगवान् के सिवा प्रीति करनेका अधिकारी और कोई नहीं है। यदि कोई किसी अन्य पदार्थके साथ प्रीति करता है तो वह उसकी मूर्खता ही है। किन्तु यदि इस पुरुष की प्रीति भगवान्के लिये सन्तजनोंके साथ हो तो यह भी भगवान् का ही प्रेम होता है, क्योंकि जब किसीका किसीके साथ प्रेम होता है तो वह उसके प्रीतिभाजन और सन्देशवाहकसे भी प्रेम करता ही है। अतः विद्वानों और विरक्तोंके साथ प्रेम करना भी भगवान् के साथ ही प्रेम करना है।

इसके सिवा पहले जो यह कहा गया है कि प्रीति करनेके योग्य केवल श्रीभगवान् ही हैं, सो यह बात तुम्हें तभी स्पष्ट होगी जब तुम प्रीतिके कारणोंपर विचार करोगे। अतः अब हम क्रमशः उन का विवेचन करते हैं—

१. प्रीतिका सबसे पहला कारण तो यह है कि मनुष्य सबसे अधिक प्रेम अपने ही को करता है। और वह अपनी पूर्णता भी

चाहता है। अतः इस निमित्तसे भी उसे निश्चय ही श्रीभगवान्के साथ ही प्रेम करना चाहिये, क्योंकि मनुष्यकी सत्ता और इसके अंगोंकी पूर्ति प्रभुकी सत्तासे ही है। यदि प्रभु कृपा करके इसकी रक्षा न करें तो एक क्षण भी इसका रहना नहीं हो सकता। यदि वे कृपा करके इसे उत्पन्न ही न करते तो इसकी स्थिति भी कैसे हो सकती थी? फिर यदि दयावश वे इसके अंग और गुणोंको प्रकट न करते तो यह अत्यन्त नीच से भी नीच स्थिति में होता। अतः यह बड़ा आश्चर्य होगा कि कोई पुरुष ग्रीष्मऋतु के उत्तापसे सन्तप्त होकर किसी सघन वृक्षकी शीतल छायासे तो प्रेम करे और उस वृक्षसे प्रेम न करे तथा यह भी न जाने कि वृक्षकी छाया तो वृक्ष के कारण ही होती है। ऐसी स्थितिमें उसे मूर्ख ही कहेंगे। इस प्रकार जैसे वृक्षकी छाया वृक्षके आश्रित है उसीप्रकार इस जीवकी स्थिति और इसके गुणोंकी स्थिति भगवान्के अधीन है। अतः जो पुरुष अपनेसे प्रेम रखता है वह भगवान्से प्रेम क्यों न रखेगा? किन्तु जबतक वह इस बातको समझेगा नहीं तबतक उनके साथ उसका प्रेम होगा कैसे? इसलिये जो मनुष्य मूर्ख है वही भगवान् से प्रेम नहीं रखता, क्योंकि भगवत्प्रेम तो प्रभुके परिचय का ही परिणाम है।

२. जो मनुष्य इसके साथ कुछ उपकार करता है इसके प्रति भी इसका प्रेम हो जाता है। इस कारण से भी विचार किया जाय तो श्रीभगवान्के बिना और किसीसे प्रेम करना इसकी मूर्खता ही है, क्योंकि यदि इसपर भगवत्कृपा न हो तो अन्य कोई पुरुष इस का कोई उपकार नहीं कर सकता। प्रभुने जीवों पर जितने उपकार किये हैं उनकी तो गणना नहीं हो सकती। मैंने धन्यवादके प्रसंगमें प्रभुके कुछ उपकारोंका वर्णन किया है। अतएव यदि तुम भगवान्के सिवा किसी अन्यकी ओरसे कोई भी उपकार समझते हो तो यह तुम्हारी मूर्खता ही है, क्योंकि जबतक हृदयमें प्रभुकी

प्रेरणा नहीं होती तबतक कोई भी मनुष्य तुम्हें कुछ दे नहीं सकता। भगवान्‌की प्रेरणा होनेपर सबसे पहले मनुष्यके हृदयमें इहलोक और परलोककी श्रद्धा उत्पन्न होती है। तब वह देने ही में अपना कल्याण समझता है और अपने कल्याणकी दृष्टिसे ही तुम्हें देता है। ऐसी स्थितिमें यदि विचार किया जाय तो वह एक प्रकार से अपने ही को देता है, तुम्हें तो उसने अपने कल्याणका साधन बना लिया है। अतः उसने तुम्हें जो भी वस्तु दी है वह वास्तवमें उसके द्वारा श्रीभगवान्‌ने ही प्रदान की है, क्योंकि उसके हृदयके प्रेरक तो श्रीभगवान् ही हैं। और भगवान् किसी प्रयोजनके लिए कुछ नहीं देते।

३. जो मनुष्य अच्छे स्वभावका होता है वह स्वभावसे ही प्रिय जान पड़ता है। यह प्रीतिका तीसरा कारण है। उस पुरुष के विषय में भले ही ऐसा निश्चय रहे कि उसके द्वारा मेरा कोई उपकार नहीं होगा। जैसे किसी पश्चिमदेशीय राजाके विषयमें यदि यह सुना जाय कि वह बड़ा ही न्यायप्रिय और दयालु है, तो वह स्वभावसे ही प्रिय लगता है, भले ही उसके विषयमें यह भी जानता हो कि मैं उसे फिर देख भी नहीं सकूँगा और उसके सौम्य स्वभावसे मेरा कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इस कारणसे भी श्रीभगवान्‌के सिवा किसी अन्यसे प्रीति करना मूर्खता ही है, क्यों कि उनके सिवा जीवका हित करनेवाला संसारमें कोई दूसरा है ही नहीं। संसारमें भी यदि कोई कुछ उपकार करता है तो उसके लिये उसे श्रीभगवान् ही प्रेरणा करते हैं। यदि विचारकर देखा जाय तो इस पुरुषके हाथमें कुछ है ही नहीं। भगवान्‌के तो ऐसे उपकार हैं कि पहले तो उन्होंने सबको उत्पन्न किया और जिसे जिस वस्तु की अपेक्षा थी वही उसे दी। यद्यपि किसी-किसी पदार्थमें उन्होंने क्रिया की कोई आवश्यकता नहीं रखी, उसे केवल सुन्दरता ही प्रदान की। तथापि भगवान्‌ने दया करके ऐसे भी

बहुत पदार्थ दिये हैं जिनसे जीवोंके अनन्त उपकार होते हैं। प्रभु के उपकारोंको तो यह मनुष्य तब समझता है जब यह पृथ्वी, आकाश, वनस्पति और सभी जीवों को तथा और भी सम्पूर्ण आश्चर्यमयी रचनाको ध्यानसे देखे। तभी विचारद्वारा यह जान सकता है कि प्रभुने कैसे-कैसे उपकार किये हैं।

४. प्रीतिका चौथा कारण सुन्दरता है। उसमें भी हृदयकी सुन्दरता श्रेष्ठ कही गयी है। इसके सिवा महापुरुष और उनके भक्तों के प्रति जो लोगोंकी प्रीति होती है वह भी उनके हृदयकी सुन्दरता और शुभ गुणोंके कारण ही होती है। हृदयकी सुन्दरता भी तीन गुणोंसे हुआ करती है—

(१) पहला गुण है विद्या। विद्या और विद्वान् दोनों ही परम सुन्दर होते हैं। विद्या जितनी ही अधिक होती है उतना ही सौन्दर्य भी विशेष होता है। विद्याओं में भी भगवान्को जाननेकी विद्या सबसे श्रेष्ठ है। यह विद्या वेदान्तों, सन्त-जनों और सन्तवाणियोंमें भरपूर है। यह पृथ्वी, आकाश, इसलोक और परलोकमें भी व्याप्त है। महापुरुषों और जिज्ञासुओंको विशेषता भी इस विद्याके अनुभवी होनेके कारण ही है।

(२) सुन्दरताका दूसरा लक्षण है बल। सन्तजनोंका बल तो ऐसा है कि उसके द्वारा वे अपने अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं और अन्यान्य जनोंके चित्तोंको भी शुद्ध कर देते हैं। वे व्यवहार और परमार्थ दोनों ही में धैर्य और बलपूर्वक बर्तते हैं।

(३) हृदयकी सुन्दरताका तीसरा लक्षण निर्लेपता है। सन्तजन विकारों और अवगुणों से रहित होते हैं। यह उनके परम सुन्दर होनेका लक्षण है।

इस प्रकार जिस पुरुषमें ये लक्षण विशेष रूपसे होते हैं वही

विशेष सुन्दर भी होता है। तथा उसके प्रति ही प्रेम भी अधिक होता है। अतः जब तुम इन लक्षणोंपर विचार करोगे तो मालूम होगा कि प्रीतिके मुख्य स्थान सब प्रकार श्रीभगवान् ही हैं, क्योंकि ये लक्षण पूर्णतया उन्हींमें मिलते हैं। इस बातको तो अल्पबुद्धि पुरुष भी जानते हैं कि मनुष्यों और देवताओंमें जितनी विद्या है वह श्रीभगवान्की विद्याके सामने तो अविद्यारूप ही है। इस विषयमें श्रीभगवान्ने भी कहा है कि मैंने तुम्हें बहुत अल्प विद्या दी है। अतः जब सम्पूर्ण विद्वान् एकत्रित हों और वे श्रीहरि की उस विलक्षण विद्याको, जो उन्होंने एक मक्खी या चींटीकी रचना में व्यक्त की है, पहचानना चाहें तो भी सफल नहीं हो सकते। वे यदि कुछ जनाते भी हैं तो उन्हींके जानने से जान पाये हैं। इसके सिवा सम्पूर्ण संसारकी जितनी विद्या है वह तो गणनामें भी आ सकती है और नाशवान् भी है। किन्तु भगवान्की विद्याएँ तो अगणित हैं और उनका कभी तिरोभाव भी नहीं होता। संसार की सारी विद्याएँ उन्हींके आश्रित हैं, और उनकी विद्या संसारके आश्रित नहीं है।

अब, यदि तुम उनके बलकी ओर देखो तो वह भी बहुत सुन्दर है। भगवद्भक्तोंमें से कितने ही तो बल और न्यायके कारण ही लोकप्रिय हुए हैं, जैसे भीमसेन और युधिष्ठिर आदि। और न्याय भी बलके द्वारा ही होता है। किन्तु श्रीभगवान्के बलके सामने तो सम्पूर्ण जीवोंका बल भी कुछ नहीं है, क्योंकि जीव तो सभी पराधीन हैं। उनमेंसे भगवान्ने जिसे जितना बल दिया है उतना ही उसमें है। साथ ही वे इतने बलहीन भी हैं कि यदि एक मक्खी उनकी कोई चीज ले जाय तो वे उससे लौटा नहीं सकते। भगवान्का बल तो अनन्त और अपार है, क्योंकि पृथ्वी, आकाश और जितना भी कुछ इसमें है, अर्थात् देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी और भूत-प्रेतादि जो कुछ भी हैं, वे सब श्रीभगवान्के

ही प्रतिबिम्ब हैं। अतः यदि कोई पुरुष बलके कारण भी भगवान्‌के सिवा किसी अन्यसे प्रेम करता है तो उसका वैसा करना ठीक नहीं।

इसके सिवा यदि निर्लेपता और शुद्धता की दृष्टिसे विचार करें तो भी यह मनुष्य सब दोषोंसे रहित कैसे हो सकता है, क्योंकि इसमें सबसे पहली तुच्छता तो यह है कि यह उत्पन्न किया हुआ है, अपने आप इसकी कोई स्थिति नहीं है। फिर अपने अन्तरसे मूर्ख भी है, अतः यह और किसी को कैसे पहचान सकता है। यह स्वयं भी इतना दुर्बल है कि यदि इसके सिर की एक नाड़ी इधर-उधर हो जाय तो यह पागल हो जायगा। और इसे अपने इस दुःखके कारणका भी पता नहीं लगेगा। फिर भले ही इस रोग की ओषधि इसके समीप ही रखी हो तो भी यह उसे पहचान नहीं सकेगा। अतः इस मनुष्यकी निर्बलता और मूर्खता का विचार किया जाय तो यह किसी भी गिनती में नहीं आता। इस जीवका बल और विद्या भी कुछ नहीं है। यह कोई सिद्ध या आचार्य कोटिका हो तो भी पराधीन ही है। सम्पूर्ण दोषोंसे रहित तो एकमात्र श्रीभगवान् ही हैं। उनकी विद्या अपरिमित है और उसमें किसी दोषका लेश भी नहीं है। मूर्खतारूपी मल तो उन्हें कभी स्पर्श भी नहीं कर सकता।

उनका बल भी अपार है, क्योंकि चौदहों भुवन उन्हींके बल-पर स्थित हैं। यदि वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंको नष्ट कर दें तो भी उनके ऐश्वर्य, प्रभाव और महत्तामें कोई कमी नहीं आती। और यदि वे अन्य लाखों ब्रह्माण्ड उत्पन्न करना चाहें तो एक क्षणमें ही वे उन्हें उत्पन्न कर सकते हैं। इन्हें उत्पन्न करनेसे उनकी महत्ता रञ्चकमात्र भी नहीं बढ़ती, क्योंकि भगवान्‌के स्वरूपमें न्यूनाधिकताके लिये कोई अवकाश नहीं है, क्योंकि वे सम्पूर्ण दोषोंसे निर्लिप्त और सत्यस्वरूप हैं। उनके स्वरूप और गुणोंके

नाशका कभी कोई प्रसंग नहीं हो सकता। अतः अकस्मात् भी उनकी महत्तामें कोई क्षति नहीं आ सकती। इसीसे कहा है कि जो पुरुष भगवान्के सिवा किसी अन्यसे प्रेम करता है और प्रभुके प्रेमसे शून्य है वह अत्यन्त मूर्ख है।

अतः उपकारदृष्टिसे जो प्रेम होता है उसकी अपेक्षा प्रभुके स्वरूपका विचार करते हुए उनसे प्रेम करना बहुत ही श्रेष्ठ है। उपकारदृष्टिसे होनेवाला प्रेम तो घटता-बढ़ता रहता है, किन्तु जो प्रेम उनके स्वरूपको पहचानकर होता है वह सर्वदा एकरस रहता है। इसीसे एक महात्माको आकाशवाणी हुई थी कि मुझे वही मनुष्य प्रिय है जिसका मेरे प्रति किसी आशा या भयके कारण प्रेम नहीं होता, प्रत्युत जो इसी दृष्टिसे मेरा भजन करता है कि मेरी महत्ता को जानकर मेरे सम्मुख हो सके। प्रभुने ऐसा भी कहा है कि भला ऐसा निकृष्ट कौन पुरुष होगा जो नरकोंके भय और स्वर्गकी आशा करके मेरा भजन करे, क्योंकि तब तो मेरे नरक और स्वर्ग की रचना न करनेपर कोई भजनका अधिकारी ही न होता।

५. प्रीतिका पाँचवा कारण सम्बन्ध है। इसमें तो सन्देह नहीं कि भगवान्के साथ जीवका नित्य सम्बन्ध है। प्रभुने स्वयं कहा है कि ये सब जीव मेरी ही आज्ञा और इच्छा हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार राजाकी आज्ञा राजासे भिन्न नहीं होती उसी प्रकार जीव मुझसे भिन्न नहीं हैं। इस वचनसे जीव और ईश्वरका सम्बन्ध सिद्ध होता है। भगवान्ने ऐसा भी कहा है कि इस मनुष्यको मैंने अपने रूपके अनुसार उत्पन्न किया है। यह बात भी उसी सम्बन्धको लक्षित कराती है। इसके सिवा यह भी कहा है कि जब यह पुरुष प्रेमातिरेकसे मुझमें लीन हो जाता है तब वह मेरा प्रिय होता है। फिर तो उसके श्रवण नेत्र और जिह्वा भी मैं ही हो जाता हूँ। एक बार एक महापुरुषसे भगवान्ने कहा

था कि जब मैं रोगी हुआ था तब तुम मुझे पूछनेके लिये भी नहीं आये। तब महापुरुषने पूछा, "भगवन्! आप तो सम्पूर्ण जगत्के स्वामी हैं, आपको रोग कैसे हुआ?" भगवान्ने कहा कि मेरा जो अमुक भक्त रोगी हुआ था, यह मानो मैं ही रोगी था, क्योंकि मुझमें और मेरे भक्तमें कोई भेद नहीं है। अतः यदि तुम उससे पूछनेके लिये जाते तो वह मुझसे ही पूछना होता।

भक्त और भगवान्के इस सम्बन्धका वर्णन आगे भी कुछ किया जायगा। किन्तु इसका पूरा भेद इस ग्रन्थमें नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हर किसीमें तो इस बातको समझनेकी शक्ति ही नहीं है। कई जिज्ञासु तो इस वचनका विपरीत अर्थ समझकर पथभ्रष्ट हो चुके हैं। इससे कोई पुरुष तो यह समझ बैठते हैं कि जैसे हमारे शरीरका आकार है वैसे ही भगवान् भी शरीरधारी और साकार होंगे। उनकी दृष्टिमें भक्त और भगवान्के सम्बन्ध का यही तात्पर्य है। दूसरे लोगोंका विचार है कि जैसे हम चैतन्य रूप हैं वैसे ही भगवान् भी चिद्रूप होंगे। इसलिये वे जीव और भगवान्की एकता बतलाते हैं। किन्तु उनका ऐसा समझना भी उचित नहीं है, क्योंकि भगवान् आकारसे विलक्षण हैं और जीवकी तरह उनमें मलिनता एवं पराधीनता भी नहीं है। मेरे यह सब कहनेका प्रयोजन तो यह है कि मैंने जैसे प्रीतिके पाँच कारण बताये हैं उन्हें जब तुमने भलीप्रकार पहचान लिया तब इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्के सिवा किसी औरसे प्रीति करना मूर्खता है।

कुछ लोगोंका कथन है कि भगवान्से प्रेम करना असम्भव है, क्योंकि प्रीति तो उसीके साथ हो सकती है जो मनुष्यकी तरह साकार और स्थूल हो। किन्तु भगवान्का तो कोई आकार नहीं है, वे तो शुद्धस्वरूप और परम सूक्ष्म हैं, अतः उनके साथ प्रीति होना तो असम्भव है। उनके मतमें भगवत्प्रीतिका अर्थ

केवल भगवान्‌की आज्ञा मानना ही है। सो, ऐसे जो पण्डित हैं और इस प्रीतिके रहस्यसे अपरिचित हैं उनकी बुद्धिहीनता तो प्रत्यक्ष ही है। वे लोग तो स्त्री-पुरुषोंकी मोह और कामजनित प्रीतिके सिवा और किसी प्रीतिको कुछ समझ ही नहीं सकते। इसमें तो सन्देह नहीं कि इस प्रकारकी कामादिजनित प्रीति तो तभी हो सकती है जब दोनों व्यक्ति परस्पर एक-दूसरेके समान हों। किन्तु मैंने जिस प्रीतिका वर्णन किया है वह तो भगवान्‌के त्रिगुणातीत अमायिक स्वरूपकी सुन्दरता और पूर्णतासे सम्बद्ध है। यह प्रीति स्थूल शरीरके आकार और सम्बन्ध से रहित है। सन्तजनोंके साथ भी जो प्रेम होता है उसका कारण भी यह नहीं होता कि उनके हमारे ही समान सिर, मुख और हाथ-पाँव हैं। अतः इस प्रीतिका सम्बन्ध भी बहुत सूक्ष्म है। जैसे यह पुरुष, चैतन्य, बुद्धिमान् और श्रद्धावान् है वैसे ही सन्तजन भी इन्हीं लक्षणोंसे सम्पन्न होते हैं। किन्तु सन्तोंमें ये लक्षण पूर्ण मात्रामें रहते हैं तथा अन्य जीवोंमें इनकी मात्रा अल्प रहती है। सो, यदि विचार किया जाय तो वस्तुओंके सम्बन्ध स्पष्ट ही हैं, और गुणोंकी न्यूनाधिकताके कारण उनमें भेद भी बहुत हैं। ये गुण जिसमें अधिक होते हैं उसीके प्रति प्रेम भी अधिक होता है। किन्तु प्रीतिका कारण जो सम्बन्ध है वह सभी जीवों, सन्तजनों और भगवान्‌में स्पष्ट ही है, क्योंकि चैतन्य और विद्या तो एक ही वस्तुके दो नाम हैं। अतः इनमें इस सम्बन्धको तो सभी स्वीकार करेंगे, यद्यपि वे इस वाक्यका तात्पर्य ज्यों-का त्यों ग्रहण नहीं कर सकते। अतः प्रभुने जो कहा है कि मैंने मनुष्यको अपने स्वरूपके समान रचा है वही इस सम्बन्धका भी तात्पर्य है। किन्तु इस भेदको समझना है कठिन।

(भगवद्दर्शनके समान और कोई सुख नहीं है)

सब लोग मुखसे यही कहते हैं कि भगवान्‌के दर्शनमें जैसा

आनन्द है वैसा आनन्द और कहीं नहीं है। किन्तु जब कोई इसी वचनके अर्थको अपने हृदयमें खोजे कि जिसका दर्शन किसी भी दशामें नहीं हो सकता तथा जिसका कोई रूप-रंग भी नहीं है उसके दर्शनमें किस प्रकार आनन्द होता होगा?--तो विचार करनेपर उसे ऐसे दर्शन और आनन्दका स्वरूप अपने हृदयमें विशेप गुप्त नहीं भासेगा। किन्तु यद्यपि मुखसे तो सब लोग ऐसा ही कहते हैं और शास्त्रमें भी ऐसा ही प्रसिद्ध है पर वास्तवमें उनके हृदयमें उस दर्शनका कोई प्रेम नहीं होता। और प्रेम न होनेका एक कारण है; वह यह कि जिसके विपयमें जानकारी नहीं होती उसके साथ प्रेम भी नहीं होता। सो, यद्यपि ऐसे भेदका वर्णन करना बहुत कठिन है तो भी मैं अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ वर्णन करूँगा। इस वचनका भेद चार प्रकारसे समझ सकते हैं—

१. जिस मनुष्य के हृदय में ज्ञान या समझ के कारण प्रसन्नता और आनन्द की अनुभूति होती है, उसे यद्यपि अपनी नेत्रादि इन्द्रियों में उस सुखानुभूति का कुछ भी अंश नहीं मिलता, किन्तु वह सुख हृदय में अवश्य आता है।

२. इसे जो प्रसन्नता होती है उसका कारण समझ और विद्या हैं। तथा उसका रस इन्द्रियों के सभी रसों से बढ़ कर है।

३. सम्पूर्ण पदार्थों की समझ से भगवान् की पहचान का रस विशेप है।

४. भगवान् की पहचान की अपेक्षा भगवान् के दर्शन का आनन्द और रहस्य बढ़कर है।

जब तुम्हारी समझ में ये चार प्रकार के भेद आ जायँगे तब तुम्हें यह बात स्पष्ट हो जायगी कि श्रीभगवान् के दर्शनों के समान और कोई पदार्थ नहीं है।

उपर्युक्त चार प्रकारों में से पहला प्रकार तो यही है कि प्रसन्नता हृदय की समझ और विद्या के कारण होती है। सो, ऐसा समझना चाहिये कि हृदय का आनन्द विद्या से होता है और वह सभी इन्द्रियजनित सुखों से विलक्षण है। इस मनुष्य में अनेक प्रकार के रस रहते हैं और वे सभी अपने-अपने प्रयोजन को ग्रहण करते हैं तथा प्रयोजन की पूर्ति होनेपर प्रिय भी होते हैं। जैसे क्रोध को शत्रुओं को जीतने और प्रबलता के प्रयोजन से उत्पन्न किया गया है और शत्रुओं को जीतनेपर ही उसका रस भी आता है। इसी प्रकार नेत्र, श्रवण एवं अन्य सब इन्द्रियों के रस भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे कामादि के रस क्रोध के रस से भिन्न हैं। इसके सिवा सम्पूर्ण इन्द्रियों के रस एक समान भी नहीं होते। कोई रस प्रबल होता है और कोई उस की अपेक्षा निर्बल, जैसे नेत्रों का रस जो सुन्दरता है वह नासिका के रस सुगन्ध की अपेक्षा प्रबल होता है।

इसी प्रकार मनुष्य के हृदय में जो भगवान् ने बुद्धि और विद्या उत्पन्न की हैं उनका रूप संकल्प या इन्द्रिय का विषय नहीं होता। तथा इन्द्रियों को जैसे स्थूल पदार्थों को ग्रहण करने के लिये बनाया है वैसे ही बुद्धि को सूक्ष्म विषयों को समझने के लिये उत्पन्न किया गया है। उस बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य यह जानता है कि यह जगत् उत्पन्न किया हुआ है और इसे उत्पन्न करनेवाला ईश्वर सर्वसमर्थ और सब कुछ जाननेवाला है। इस प्रकार बुद्धि के द्वारा ही मनुष्य श्रीभगवान् के अनन्त गुणों और आश्चर्यों को पहचान सकता है। उनके वे सभी गुण ऐसे सूक्ष्म हैं कि उनका रूप संकल्प एवं इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता, उसे केवल बुद्धि ही पहचान सकती है। बुद्धि के द्वारा ही वह वाणी का विषय होता है और बुद्धि से ही सब प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है। और भी सम्पूर्ण सूक्ष्म विद्याएँ बुद्धि के

ही आश्रित हैं और बुद्धिको उन सभी में रस का अनुभव होता है। यदि कोई पुरुष किसी निम्न कोटि की विद्या के कारण भी इसकी स्तुति करता है तो यह प्रसन्न होता है और जब कोई कहता है कि यह विद्या अमुक पुरुष को नहीं आती तो उसके लिये यह खेद प्रकट करता है, क्योंकि यह पुरुष विद्या में ही अपनी पूर्णता मानता है। जैसे कहीं कुछ लोग आपसमें शतरंज खेल रहे हों और यह उनके पास जा बैठे। उस समय दूसरोंके रोकनेपर भी यह अपनेको शतरंजकी चालें बतानेसे रोक नहीं सकता। सो, यद्यपि शतरंज की विद्या अत्यन्त निम्न कोटिकी है, तो भी यह उसकी प्रसन्नता और रसानुभूतिके कारण विवश होकर चालें बताने लगता है और इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता प्रकट करना चाहता है। सो, विद्याके द्वारा यह अपनी बड़ाई और प्रसन्नता क्यों न माने, क्योंकि विद्या ही तो भगवान्का लक्षण है। अतः विद्या के समान इस मनुष्यको और कोई बड़ाई नहीं जान पड़ती। वास्तवमें विद्या ही भगवान्का लक्षण है। अतः इस वचनके तात्पर्यसे तुम्हें यह बात स्पष्ट हो जायगी कि इस मनुष्यके हृदयको सूक्ष्म पदार्थों की विद्यासे आनन्द होता है और यह आनन्द नेत्रादि इन्द्रियोंसे प्राप्त होनेवाले आनन्दसे भिन्न है।

उपर्युक्त प्रकारोंमेंसे दूसरा प्रकार यह है कि विद्या और समझ का जो आनन्द है वह इन्द्रियोंके रसकी अपेक्षा बहुत प्रबल है। जैसे किसी पुरुषको शतरंज खेलनेका व्यसन हो तो वह उस खेलमें ऐसा मग्न हो जाता है कि यदि कोई उससे भोजन करनेको कहता है तो उसे भोजनकी भी सुधि नहीं रहती, वह उस खेलमें ही डूब जाता है। इससे निश्चय होता है कि उसे भोजनकी अपेक्षा शतरंज खेलना विशेष प्रिय होता है, इसीसे वह भोजनका त्याग तो कर देता है, किन्तु शतरंज खेलना नहीं त्याग सकता। पदार्थोंकी प्रबलता और निर्बलताका पता तो तभी चलता है जब दो पदार्थ

इकट्ठे हों, उस समय जिस पदार्थको सुगमतासे त्याग सके उसे निर्बल समझना चाहिये और जिसका त्याग न हो सके उसे प्रबल समझो। अतः तुम निश्चय जानो कि जो पुरुष बुद्धिमान् और व्यवहारकुशल होता है वह इन्द्रियोंके रसोंसे मानके रसको ही अधिक मानता है। उससे यदि कोई कहे कि या तो तुम मिष्टान्न भोजन करो अथवा इसे त्यागकर अपने शत्रुको जीतनेका प्रयत्न करोगे तो जीत तुम्हारी होगी और तुम्हें बड़ा सुयश मिलेगा, तो वह पुरुष मिष्टान्नोंको छोड़ देगा और कीर्तिकी इच्छासे शत्रुको जीतनेका ही प्रयत्न करेगा। यदि वह ऐसा न करे तो उसकी बुद्धि अल्प समझी जायगी। अतः जिस पुरुषको भोजनके रसकी तृष्णा होती है वह भी निःसन्देह उसकी अपेक्षा मान-बड़ाईको विशेष समझता है। इससे जाना जाता है कि रसनाके स्वादसे मानका स्वाद प्रबल है। इसी प्रकार विद्वान्को व्यवहारसम्बन्धी विद्या, अथवा वैद्यक और धर्मशास्त्रादि जितनी विद्याएँ हैं उन्हींमें विशेष रस आता है। यदि उसकी विद्या पूर्ण हो तो उसका आनन्द उसे सम्पूर्ण भोग और मानादिके रसोंसे भी बढ़कर जान पड़ता है। किन्तु जबतक उसकी विद्या पूर्ण न हो और वह विद्याकी महत्ता को भली प्रकार न जाने तबतक उसे विद्याका रस प्राप्त नहीं होता। इससे निश्चय होता है कि विद्या और समझका आनन्द उस पुरुषको प्राप्त होता है जिसकी बुद्धि उज्ज्वल होती है और जिसे दोनों प्रकारके विषयोंका ज्ञान होता है। और वही इस बातको समझ भी सकता है। किन्तु जो बुद्धिहीन हैं वे तो विषयजनित सुखको ही सब कुछ समझते हैं। जैसे बालक मानके रसकी अपेक्षा खेलनेके रसको ही श्रेष्ठ समझता है। इसमें हमें सन्देह भी नहीं होता कि उसके लिये खेलका रस श्रेष्ठ है और मानका रस निकृष्ट, क्योंकि ऐसा जानना उसकी बुद्धिकी अल्पताके कारण स्वाभाविक ही है। उसने तो मानके रस को जाना ही नहीं है। जब उसे उस

रसकी पहचान होती है तभी वह खेलके रसको छोड़कर मान-बड़ाई को ग्रहण करना चाहता है।

तीसरा प्रकार यह बताया गया है कि और सब पदार्थोंकी विद्यासे भगवान्के स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना बहुत श्रेष्ठ है। जब तुम यह अच्छी तरह समझ गये कि विद्या और समझसे भी आनन्द प्राप्त होता है तो इस विषयमें भी संदेह नहीं कि कोई विद्या उत्तम कोटिकी होती है और कोई निम्न कोटिकी, क्योंकि जैसा पदार्थ होता है वैसी ही उसकी विद्या होती है। अतः जो पदार्थ निम्न कोटिके हैं उनकी विद्या भी निम्न कोटिकी होती है और जो पदार्थ उत्तम कोटिके होते हैं उनकी विद्या भी उत्तम कोटिकी मानी जाती है। जैसे शतरंज की गोटोंको रखनेकी अपेक्षा शतरंज खेलनेकी तथा खेती या दर्जीकी विद्यासे राज्य-संचालनकी विद्या श्रेष्ठ है उसी प्रकार कोप और व्याकरणकी विद्यासे धर्मग्रन्थोंके रहस्यज्ञानकी विद्या उत्कृष्ट है। जैसे क्रय-विक्रयके ज्ञानसे राजमन्त्रीके कर्त्तव्य और भेदोंका ज्ञान श्रेष्ठ है वैसे ही राजाके कर्त्तव्य और भेदोंको जानना मन्त्रित्वकी अपेक्षा उत्कृष्ट हैं। अतः ज्ञेय पदार्थ जितना श्रेष्ठ होता है उतना ही उसके ज्ञानमें आनन्द अधिक होता है। अब, तुम विचारकर देखो कि सम्पूर्ण विश्वमें भगवान्से श्रेष्ठ, सुन्दर और पूर्ण दूसरा कौन-सा पदार्थ है। भगवान् ही तो सारी सुन्दरता और पूर्णताको उत्पन्न करनेवाले हैं। वे जैसे सार्वभौम सम्राट् हैं वैसा और कौन सम्राट् है? जिस प्रकार उन्होंने पृथ्वी, आकाश, इहलोक और परलोकको स्थित किया, वैसा करनेमें तो और कोई भी समर्थ नहीं है। उनके दरबारके समान सुन्दर और श्रेष्ठ भला कौन-सा दरबार है? ऐसे प्रभुके दर्शन और दरबारके समान तो और किसी के भी दर्शन एवं दरबार नहीं हो सकते। किन्तु ये दर्शन तो उसी पुरुषको होते हैं जिसके बुद्धिरूप नेत्र स्वच्छ होते हैं। ऐसे प्रभुके

भेदोंको जानना अन्य राजाओंके भेदोंको जाननेसे कहीं बढ़कर है तथा उनके गुण और ईश्वरताके रहस्योंको समझना और सभी विद्याओंसे श्रेष्ठ है। भगवान् तो ऐसे परम पदार्थ हैं कि जिनके समान और कोई भी पदार्थ ज्ञातव्य नहीं कहा जा सकता। भगवान्को तो अन्य पदार्थोंसे श्रेष्ठ कहना भी नहीं बनता, क्योंकि ऐसा कौन पदार्थ है जिसके साथ भगवान्की तुलना की जाय और फिर उन्हें उसकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहें। अतः उनकी महत्ताको देखते हुए तो ऐसा कहना भी उन्हें हीन बनाना ही है।

इसीसे जिन लोगोंने प्रभुको पहचाना है वे तो इस जगत्में रहते हुए भी भगवद्धाममें ही विराजमान हैं। वास्तवमें उनका हृदय ही प्रभुका धाम है, जो इस पृथ्वी और अकाशकी अपेक्षा भी विशाल है, क्योंकि ये पृथ्वी और आकाश तो नाशवान् हैं, किन्तु जिस हृदयरूपी उद्यानमें भगवान्के प्रेमी विचरते हैं वह अमिट है। तथा उस बगीचेके फल भी सभी ऋतुओंमें समानरूपसे लगते रहते हैं, उनमें कभी कोई विकार नहीं आता, क्योंकि वे फल तो उस भगवदनुरागी हृदयके गुण ही हैं, उनसे भिन्न जो अन्य स्थूल पदार्थ हैं वे तो हृदयसे बाहर रहते हैं। अपना आप इन हृदयके गुणोंके अत्यन्त समीप ही है, इसलिये ज्ञानी पुरुषको इन अमृतमय फलोंसे कोई भी विघ्न विलग नहीं कर सकता। इस प्रकार जिसे जितना ही भगवान्के स्वरूपका विशेष ज्ञान होता है उसे उतना ही आनन्द भी अधिक होता है। यह ज्ञानरूप स्वर्ग ऐसा है कि जिसमें कभी स्थानका संकोच नहीं होता।

चौथा प्रकार यह है कि भगवान् के स्वरूपके ज्ञान से उनके दर्शनों का आनन्द बहुत श्रेष्ठ है। याद रखो, भगवान् को जानना भी दो प्रकार है—एक तो यह कि मनोराज्य से उनका रूप और आकार मूर्त्तिमान रूप से भासै, और दूसरा यह कि उन्हें बुद्धि ही

पहचानें, किन्तु संकल्प में उनका कोई आकार प्रकार न हो। जिस प्रकार कि भगवान् के जितने भी गुण और सौन्दर्यादि हैं उनका अनुभव केवल बुद्धि ही से होता है। इसके सिवा इस जीव के भी ऐसे कितने ही स्वभाव हैं जिनका कोई आकार नहीं है, जैसे बल, विद्या और श्रद्धा आदि। ये सभी अरूप हैं। इनके सिवा काम, क्रोध और हर्ष आदि विकार भी निराकार ही हैं। अतः इनका कोई रूप संकल्प में नहीं आ सकता। किन्तु जो पदार्थ साकार होते हैं वे प्रथम तो मनके संकल्प में प्रत्यक्षवत् भासा करते हैं। जैसे यदि तुम किसी पुरुष को ध्यान में देखो तो तुम्हें ऐसा मालूम होगा कि मैं इसे प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। किन्तु यह देखना होता तो संकल्पमात्र ही है। अतः यह अल्प है, इसे पूर्ण नहीं कह सकते। दूसरे प्रकार का दर्शन जो पदार्थ को नेत्रों से देखना है अति प्रत्यक्ष कहा जाता है। वह पूर्ण दर्शन है। इसीसे प्रियतम के ध्यान की अपेक्षा उसके प्रत्यक्ष दर्शन में विशेष आनन्द होता है। इसका कारण यह नहीं कहा जा सकता कि ध्यानमें उसका रूप कुछ और था और देखने में कोई अन्य है। अथवा अब उसकी सुन्दरता कुछ बढ़ गयी है। इसका कारण तो यही है कि ध्यानमें उसका संकल्पमात्र था और अब प्रत्यक्ष दर्शन में वह बहुत समीप जाना पड़ता है। जैसे यदि कोई अपने प्रियतम को उषाकाल के मन्द अन्धकार में देखे और फिर दिन के उज्ज्वल प्रकाश में उसका दर्शन करे तो पहले की अपेक्षा उसे विशेष आनन्द होगा। इसका कारण यह नहीं है कि उषाकाल में उसका कोई और रूप था तथा अब कोई अन्य रूप हो गया है। यहाँ अन्तर तो केवल उसकी स्पष्टता में ही पड़ा है।

इसी प्रकार जिस पदार्थ का रूप संकल्प में नहीं आता, केवल बुद्धि ही से पहचाना जाता है उसकी प्राप्ति भी दो ही प्रकार से होती है। उनमें एक ज्ञान कहलाता है और दूसरा दर्शन। जैसे

ध्यान और प्रत्यक्ष दर्शन में अन्तर है उसी प्रकार ज्ञान और दर्शन में भी भेद है। जिस प्रकार नेत्रोंके पलकों के कारण देखनेमें व्यवधान होता है, किन्तु ध्यानमें यह पलकों का परदा नहीं रहता, उसी प्रकार जीवको जो यह पाञ्चभौतिक शरीर मिला हुआ है इसके सम्बन्ध से जीव इन्द्रियों के रसों में आसक्त हो रहा है। इसका यह देहाभिमान भगवद्दर्शनमें परदेके समान है। किन्तु भगवान्को जाननेमें इससे कोई व्यवधान नहीं होता। अतः जबतक इसका देहाभिमान निवृत्त नहीं होता तबतक इसे भगवान्का दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता। इसीसे महापुरुषको आकाशवाणी हुई थी कि देहाभिमान रहते हुए तुम मुझे देख नहीं सकोगे। अतः निश्चय हुआ कि जैसे ध्यानमें देखने की अपेक्षा प्रत्यक्ष दर्शन विशेष है वैसे ही श्रीभगवान्के ज्ञानकी अपेक्षा उनके दर्शन में विशेष आनन्द है।

किन्तु दर्शन का मूल ज्ञान ही है। देहाभिमान निवृत्त हो जाने पर ज्ञान ही ऐसा पूर्ण हो जाता है कि वह ज्ञानादि त्रिपुटीके अन्तर्गत ज्ञान के समान नहीं भासता। जिस तरह शरीरकी उत्पत्ति वीर्य से होती है, किन्तु शरीर और वीर्यका स्वरूप समान नहीं होता, तथा जैसे बीजसे वृक्ष होता है, तथापि वृक्ष का स्वरूप बीजके समान नहीं होता, यद्यपि बीज ही पूर्णताको प्राप्त होकर वृक्ष कहलाता है, इसी प्रकार पूर्ण हो जानेपर ज्ञान ही दर्शन कहा जाता है। अर्थात् वस्तुको ज्यों का त्यों समझना ही दर्शन है। इसीसे भगवानका दर्शन किसी दिशाविशेष में नहीं पाया जाता। जिस प्रकार समझ और ज्ञान स्थूल दिशासे विलक्षण हैं उसी प्रकार प्रभुका दर्शन भी दिशा और देशसे रहित है। किन्तु दर्शनका मूल तो ज्ञान ही है। अतः जिस पुरुषको ज्ञान नहीं है उसे भगवद्दर्शनमें बड़ा व्यवधान है। जिस प्रकार बीजके बिना खेती नहीं होती उसी प्रकार उसे भगवद्दर्शन भी नहीं हो सकता। जिसे सम्पूर्ण ज्ञान

प्राप्त हो जाता है उसे ही सम्पूर्ण दर्शन भी प्राप्त होता है।

परन्तु इस भगवद्दर्शनमें सब लोग समान नहीं होते, क्योंकि जिसे ज्ञान अधिक होता है उसे ही दर्शनका आनन्द भी अधिक होता है। और जिसे ज्ञान अल्प होता है उसे दर्शनका आनन्द भी अल्प होता है। इस विषयमें प्रभुका भी कथन है कि मैं सब लोगों को उनके अधिकारके अनुसार दर्शन दूँगा। इसका तात्पर्य यह है कि दर्शनका बीज ज्ञान है और ज्ञान सन्तोंके हृदयोंमें रहता है, अतः उन्हीं को प्रभुके शुद्ध सच्चिदानन्दमय विग्रहका दर्शन होता है। अन्य जीवोंको ऐसा दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें ज्ञान-रूप बीज नहीं मिलता। महापुरुषने भी कहा है कि अमुक भगव-त्प्रेमोकी विशेषता अधिक भजन, तप या व्रतोंके कारण नहीं है, बल्कि उसकी विशेष समझके कारण है। और यह समझ ही ज्ञान है। अतः सभी जीवोंको भगवान्का दर्शन अपने-अपने अधिकारके अनुसार होता है। इस विषयमें यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे अनेकों दर्पण हों और उनमें कोई मलिन, कोई उज्ज्वल, कोई अति उज्ज्वल और कोई अति मलिन हो, तो उनमें एक ही वस्तुके प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न प्रकार के दिखायी देंगे। इसके सिवा जो दर्पण सीधा होता है उसमें प्रतिबिम्बका आकारभी सीधा रहता है और जो दर्पण टेढ़ा होता है उसमें प्रतिबिम्ब भी टेढ़ा और बेडौल दिखायी देता है। जैसे तलवार की लम्बाईमें सुन्दर मुख भी लम्बा लम्बा दिखायी देता है। वैसे ही परलोकमें जिनका हृदय मलिन होता है उन्हें वहांके सुख भी दुःखरूप जान पड़ते हैं।

अतः निश्चय जानो, भगवान्के दर्शनोंका जैसा आनन्द सन्त-जनोंको होता है वैसा अन्य जीवोंको नहीं होता। उसका जैसा रहस्य विद्वानोंकी दृष्टिमें होता है वैसा विद्याहीनोंके लिये नहीं होता तथा उसका जैसा सुख विरक्त और प्रेमी विद्वान्को प्राप्त होता है वैसा दूसरे विद्वानोंको प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार जिस पुरुषने

भगवान्‌को जाना है और जिसका उनमें प्रगाढ़ प्रेम भी है उसकी अपेक्षा उस पुरुषका आनन्द बहुत अल्प होता है जो उन्हें जानता तो है परन्तु उनमें विशेष प्रेम नहीं रखता। यद्यपि उन दोनोंको भगवान्‌का दर्शन तो समान ही होता है, किन्तु उनके आनन्दमें समानता नहीं होती। यह भेद केवल उनके सुखमें ही है, दर्शनमें नहीं, क्योंकि भगवान्‌का स्वरूप तो एक ही है। इसके सिवा दर्शन का बीज तो ज्ञान है और वह ज्ञानरूप बीज दोनों हीमें समान है। इसके लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे दो पुरुष हों और उन दोनों की दृष्टि भी समान हो, तथा वे यदि किसी ऐसे सुन्दर पुरुष को देखें जिसके प्रति एक का प्रेम अधिक हो और दूसरे का कम, तो उनके देखनेमें कोई अन्तर न होनेपर भी आनन्दमें बड़ा अन्तर रहेगा। जिसकी प्रीति अधिक है उसे उसके दर्शनोंसे विशेष आनन्द होगा और दूसरेको बहुत कम। तात्पर्य यह कि केवल ज्ञान के द्वारा भी जीवको उत्तम स्थितिकी पूर्णता प्राप्त नहीं होती, अतः इसके लिये तो ज्ञान और प्रेम दोनों ही की आवश्यकता है। और प्रेमकी प्रबलता तब होती है जब मनुष्यके हृदयसे मायिक वस्तुओं का राग पूर्णतया निवृत्त हो जाय। अतः भगवच्चरणोंकी प्रीति वैराग्यके बिना सिद्ध नहीं हो सकती। इसीसे जो विरक्त ज्ञानी होता है उसे ही विशेष आनन्द होता है।

अब, यदि कोई प्रश्न करे कि यदि दर्शनका आनन्द भी ज्ञान के आनन्दकी ही तरह है, तब तो यह कोई बड़ा आनन्द नहीं जान पड़ता, तो इसका उत्तर यह है कि तुम्हारा यह कथन तभी तक है जब तक तुमने ज्ञान के आनन्द को जाना नहीं है और शास्त्रोंके कितने ही बचन पढ़कर और सीखकर कण्ठ कर लिये हैं। तुमने तो इसीको ज्ञान समझा है, अतः तुम्हें यह आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता, जैसे कोई पुरुष आटेको भिगोकर खाय और चाहे कि इसके द्वारा मुझे मिठाई का स्वाद मिल जाय, तो उसे वह स्वाद कैसे मिल

सकता है ? जिस पुरुषको ज्ञानका यथावत् सुख प्राप्त होता है उसे तो यहीं ऐसा अद्भुत आनन्द मिलता है कि जिसकी समता स्वर्ग का सुख भी नहीं कर सकता। इस प्रकार यद्यपि ज्ञानका सुख ऐसा है कि उसके समान कोई और सुख नहीं है, किन्तु भगवान्के दर्शनों का आनन्द तो ऐसा अमित है कि उसके आगे ज्ञानका सुख अत्यन्त तुच्छ हो जाता है। परन्तु इस वचन का रहस्य दृष्टान्तके बिना समझमें नहीं आ सकता, इसलिये इसे हृदयंगम करानेके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

मान लो, किसी सुन्दर पुरुषके साथ किसीका घनिष्ठ प्रेम है। वह उषाकालमें अपने प्रियतम से मिलता है। अभी सूर्यका प्रकाश स्पष्ट नहीं हुआ है। स्वयं उसे भी बिच्छू और मक्खियाँ डस रही हैं, वह भयसे व्याकुल और अत्यन्त चिन्तातुर है। ऐसी स्थितिमें इन विघ्नोंके रहते हुए उसे अपने प्रियतमके दर्शनोंका पूरा सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु यदि अकस्मात् सूर्योदय हो जाय, सर्वत्र प्रकाश फैल जाय, जिससे डरता था उसका भय न रहे, किसी भी कामकी चिंता न हो तथा बिच्छू और मक्खियोंके दंशकी पीड़ा न रहे, तब निःसन्देह उस प्रेमी पुरुषको अपने प्रियतमके दर्शनों का बड़ा भारी आनन्द होगा। यह आनन्द उसके पूर्व प्रियदर्शनके समान नहीं होगा। तब तो उसमें अनेकों विघ्न थे, किन्तु अब तो विघ्नोंकी निवृत्ति हो जाने के कारण वह आनन्द पूर्णताको प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार जबतक यह पुरुष देहके अभिमानमें बँधा रहता है तबतक इसे ये सब विघ्न लगे हुए हैं। ज्ञानकी अल्पता अँधेरेके समान है, इन्द्रियसम्बन्धी रसोंका आकर्षण बिच्छू और मक्खियोंके डंकके समान है, सदा ही शरीर की नश्वरताका भय लगा रहता है, नानाप्रकारके शोक और दुःख चित्तको विक्षिप्त करते रहते हैं तथा सर्वदा ही जीविकाके उपार्जनकी चिंता लगी रहती है। किंतु जब जीवका देहाभिमान नष्ट हो जाता है तब

ये सभी परदे दूर हो जाते हैं और वह भगवद्दर्शनका प्रेम पूर्णताको प्राप्त हो जाता है। उस समय प्रकाशकी पूर्णताके कारण अन्धकार भी नहीं रहता, अतः फिर मायिक व्यवहारका विक्षेप भी सर्वथा निवृत्त हो जाता है। इसीसे उस दर्शनका आनन्द बहुत बढ़ जाता है। देहाभिमानके रहते हुए तो ज्ञानका आनन्द बहुत अल्प था, पर उसके निवृत्त होनेपर वह पूर्ण हो जाता है, जैसे अन्नकी सुगन्धका सुख भूखे मनुष्यको तो विशेष नहीं जान पड़ता। अतः देहाभिमान दूर होनेपर वह ज्ञान ही दर्शनरूपमें परिणत हो जाता है और उसके साथ उसका आनन्द भी बहुत बढ़ जाता है।

अब, यदि तुम यह प्रश्न करो कि आप तो ज्ञानकी पूर्णताको ही भगवान्का दर्शन बताते हैं, किंतु ज्ञान तो हृदय में होता है और दर्शन होता है नेत्रोंसे, फिर ज्ञान और दर्शनकी एकता कैसे मानी जा सकती है? तो इसका उत्तर यह है कि दर्शनको दर्शन इसीलिये कहा जाता है कि जिस पदार्थके स्वरूप का संकल्पद्वारा अनुमान होता है, दर्शन होनेपर उसकी स्पष्ट अनुभूति हो जाती है। अतः स्पष्ट अनुभूतिका नाम ही दर्शन है, नेत्रोंद्वारा देखने को ही दर्शन नहीं कहते। यदि कोई पुरुष पुष्प और वीणाको नेत्रोंसे देख भी ले तो भी जबतक वह पुष्पकी गन्ध न सूँघे और वीणाका शब्द न सुने तबतक उसे सुगन्ध और रागके दर्शन तो हो नहीं सकते। वह नेत्रोंसे उन्हें भले ही देखता हो, तथापि उसे उनका रहस्य तो विदित नहीं होता। इससे यह बात निःसन्देह हो जाती है कि जब श्रीभगवान्का मस्तिष्क में ठीक-ठीक बोध होता है तो उसे ही भगवद्दर्शन कहते हैं, केवल नेत्रोंसे देखने को ही दर्शन समझना तो बुद्धिकी हीनता ही है। और यदि तुम नेत्रोंद्वारा देखनेको ही दर्शन समझते हो तो तुम्हें ऐसा विश्वास करना चाहिये कि परलोक में साक्षात् नेत्रोंद्वारा भी प्रभुका दर्शन हो सकेगा। किंतु वे नेत्र इन स्थूल नेत्रोंकी तरह नहीं होंगे। ये स्थूल नेत्र तो शरीरादि आकार

के बिना किसी वस्तु को नहीं देख सकते, पर वे सूक्ष्म नेत्र तो दिशा और देशके बिना ही वस्तुको देखते हैं। बस, इससे अधिक इस वचन की चर्चा और व्याख्या करना उचित नहीं है, क्योंकि हर किसी की बुद्धि इस रहस्य को समझ भी नहीं सकती, जैसे कि वानरके द्वारा सुन्दर चित्रकारी कराना सर्वथा असम्भव ही है।

किंतु यह विद्या है बहुत गम्भीर। जो पुरुष बहुत बड़ा विद्वान् हो तथा जो कर्मकाण्ड, व्याकरण तथा अन्यान्य विषयां में भी कुशल हो उसकी बुद्धिका भी ऐसे वाक्योंमें प्रवेश होना कठिन है। जो पण्डित अनेक प्रकारके वचनोंका निर्णय करनेवाले हैं वे भी इस भेदको नह ीं पा सकते, क्योंकि ये प्राकृत पण्डित तो संसारी जीवोंके धर्मके संरक्षक हैं। ये तो संसारी पुरुषों के हृदयमें पाप-पुण्य और नरक-स्वर्गका निर्णय ही दृढ़ कराते रहते हैं, जो मनके पीछे चलनेवाले, बहिर्मुख लम्पट जीव हैं उनके दोषोंको ये पण्डित ही दूर करते हैं। ये ही शास्त्रचर्चा करके उनके मतोंका खण्डन करते हैं। किंतु यह ज्ञानकी बात तो अलग ही है। इसे समझने-वाले ज्ञानी पुरुष तो अत्यन्त दुर्लभ हैं। अतः इस ग्रन्थमें इसकी थोड़ी ही व्याख्या करनी उचित है। इसीसे इस प्रसंगको मैं यहाँ सम्पूर्ण किये देता हूँ।

अब, यदि तुम यह कहो कि आपने तो ज्ञान और दर्शनके सुख की ऐसी विशेषता बतलायी है कि उसके आगे स्वर्गका सुख भी तुच्छ हो जाता है। किन्तु मेरे हृदयमें इस वचनका तात्पर्य स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। इस तात्पर्यको बतलानेवाले यद्यपि सन्तजनोंके वचन बहुत हैं, तथापि मेरी बुद्धि ऐसे सूक्ष्म रहस्यको समझ नहीं सकती और यह संशय उत्पन्न होता है कि ऐसा कौन सुख हो सकता है जिसके आगे स्वर्गका सुख भी नीरस हो जाता है। और जबतक यह संशय दूर नहीं होता तबतक मेरे हृदयका विश्वास और निश्चय भी दृढ़ नहीं हो सकता।

तुम्हारे इस संशयका अब मैं समाधान करता हूँ। इस वचनके अर्थका रहस्य तीन प्रकारसे तुम्हारी बुद्धि में प्रत्यक्ष भास सकता है—

१. जब मेरे कहे हुए वचनों के अर्थका अच्छी तरह मनन और विचार करोगे, क्योंकि जो वचन एकही प्रकार श्रवण किया जाता है वह चित्तमें नहीं ठहरता; अतः उसका बार-बार विचार करना चाहिये।

२. मनुष्यमें सभी प्रकारके रस एक ही साथ उत्पन्न नहीं किये गये हैं। अतः वे अपने-अपने समयपर प्रकट होते हैं, जैसे बाल्यावस्थामें तो केवल आहारकी ही तृष्णा रहती है। बालक आहारके सिवा किसी अन्य पदार्थ को नहीं जानता। फिर प्रायः सात वर्षका होनेपर उसे खेलनेकी तृष्णा उत्पन्न हो जाती है, और उस खेलनेके रसमें वह इतना तल्लीन हो जाता है कि आहारका भी स्मरण नहीं करता। जब दस वर्ष का होता है तो उसे शृंगार और सुन्दर वस्त्रों की अभिलाषा उत्पन्न होती है। इस समय सुन्दरताके रसके लिये वह खेलना भी छोड़ देता है। जब किशोरावस्था आती है तब कामादि भोगोंकी प्रबलता हो जाती है और उस अभिलाषा में यह ऐसा निमग्न होता है कि उसके आगे आहार, क्रीड़ा और शृंगारकी भी कोई परवाह नहीं करता। जब बीस वर्ष का होता है तो इस पुरुषको मान-बड़ाई की तृष्णा आकर घेर लेती है। यह मान बड़ाईका रस ऐसा है जो माया के सभी पदार्थोंकी अपेक्षा प्रबल है। प्रभुके वचनों में भी आया है कि इस संसार में तो जीवको खेल-कूद, शृंगार, मान, सम्पत्ति और दुर्वासना—बस, ये ही चीजें मिलती हैं। किन्तु यदि वह पुरुष मायाके पदार्थोंसे रोगी और मलिन न हो, उनकी आसक्तिसे दूर रहे तो फि

इसे जो सम्पूर्ण संसारको उत्पन्न करनेवाले हैं उन श्रीभगवान्‌के ज्ञान और उस ज्ञानके आनन्दकी प्राप्ति होती है। वस्तुतः भगवान्‌के ज्ञानका रहस्य भी यही है कि जिस प्रकार मानके रसमें सम्पूर्ण मायिक रस विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार इस ज्ञानानन्दके आगे मान-प्रतिष्ठाका रस भी फीका पड़ जाय। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि स्वर्गमें भी आहार और रूपके सुखसे अतिरिक्त और कोई आनन्द नहीं है। वहाँ भी नन्दनवनमें क्रीड़ा करना, अमृतमय फलोंका आस्वादन करना तथा जल, पुष्प और भव्य भवनोंको देख-देखकर मुग्ध होना—बस, यही तो है। सो, ये सब भोग तो इस संसारमें मानके रसकी अभिलाषा होनेपर ही तुच्छ हो जाते हैं। तो फिर ज्ञानानन्दके सामने स्वर्गीय भोगोंका विस्मरण हो जाना कौन कठिन काम है ? मानकी तृष्णा होनेपर तो मनुष्य बड़ा दुष्कर तप करते हैं। वे एकान्त देशमें निरन्तर किसी कुटी या गुफामें बन्द रहते हैं, कभी उससे बाहर नहीं निकलते, नित्यप्रति एक ही दाना आहार करते हैं और सारी रात जागरण करते रहते हैं। इस प्रकार यद्यपि ऐसा कठोर तप करते हैं तथा सब प्रकार के भोगोंको त्याग देते हैं, किन्तु तो भी मानको नहीं त्याग सकते। इससे निश्चय हुआ कि स्वर्गके सुख, जो इन्द्रियादि-जनित भोगही हैं, उनसे तो मान-बड़ाईका रसही विशेष माना जाता है। अतः जिस प्रकार ऐश्वर्य और मानकी अभिलाषा इन्द्रियजनित भोगोंके रसको फीका कर देती है वैसे ही ज्ञानके रससे ऐश्वर्य और मानका रस भी विरस हो जाता है। यह सब बात तो तुम्हारी बुद्धिमें निःसन्देह प्रत्यक्षवत् प्रतीत होगी, क्योंकि इन मानादिजनित रसोंसे तो तुम भी परिचित ही हो। किन्तु बालककी बुद्धि तो मान

के रससे अपरिचित होती है, अतः वह इसे कुछ भी नहीं समझ सकता। यदि तुम बालकको मान-बड़ाईके रसका ज्ञान कराना चाहो तो जबतक उसकी बुद्धिमें स्वयं ही इस रस की स्फूर्ति न हो तब तक केवल शब्दोंद्वारा तुम इसे नहीं लखा सकोगे। इसी प्रकार जबतक तुम्हें ज्ञानका आनन्द प्रत्यक्ष अनुभव न हो तबतक कोई ज्ञानवान् अपने वचनों द्वारा तुम्हें उसका बोध नहीं करा सकता।

३. यदि तुम ज्ञानवानोंकी अवस्थापर दृष्टिपात करो, उनके वचनोंको सुनो और उनसे प्रश्नोत्तर करके अपने संशयोंको निवृत्त करो तो तुम्हारे चित्तमें इस वचनका रहस्य अवश्य प्रकट हो जायगा। जिस प्रकार नपुंसकको यद्यपि स्वयं कामजनित सुखका अनुभव नहीं होता, तो भी जब वह दूसरे कामासक्त पुरुषोंको देखता है कि वह इस भोगकी आसक्तिके कारण अपना सर्वस्व लुटा देते हैं तो वह इतना तो जान ही जाता है कि यह कामादिजनित रस बड़ा प्रबल है। इसी प्रकार जब तुम ज्ञानवानोंकी अवस्था देखोगे और उनके परमानन्दको पहचानोगे तो तुम्हें यह दृढ़ विश्वास हो जायगा कि उनके हृदयमें निःसन्देह बड़ा सुख है।

इस प्रकार भगवद्दर्शनका आनन्द सभी आनन्दोंसे बढ़कर है, इस बातको समझनेके लिये ये तीन प्रकार बताये गये। अब आगे कुछ सन्तोंके जीवन और वचनोंसे इस रहस्य की कुछ झाँकी कराते हैं।

रवियाकी अद्भुत भक्तिनिष्ठा लोकप्रसिद्ध है। उससे एक बार किसीने पूछा कि क्या तुम स्वर्ग चाहती हो? तो वह बोली, "मेरी प्रीति तो घरवालेके साथ है, घरकी मुझे इच्छा नहीं है।" अर्थात् मुझे तो केवल श्रीभगवान्में ही प्रेम है, मुझे स्वर्गरूप उनके घर

की इच्छा नहीं है। सन्त दाराईने भी कहा है कि भगवान् ऐसे प्रियतम हैं कि जिन्हें छोड़कर कोई स्वर्गकी आशा और नरकके भयमें भी नहीं फँस सकता; इस लोकके सुख तो अत्यन्त तुच्छ हैं, इनमें तो वह आसक्त हो ही कैसे सकता है ? इसीसे प्रभुके भक्त सब वासनाओंको छोड़कर श्रीभगवान्के चरणोंकी प्रीतिमें मग्न रहते हैं। एक सन्तसे किसी ने पूछा कि आपको जो सम्पूर्ण संसार और मायासे वैराग्य है तथा एकान्तमें रहकर भजन करनेकी रुचि हुई है उसका कारण क्या है ? अर्थात् आपको कालका भय लगा हुआ है अथवा नरकोंका भय है, या स्वर्गकी लालसा है ? इसका उत्तर मुझे दीजिये। तब सन्तने कहा, "काल या नरक का भय क्या वस्तु हैं तथा स्वर्गका वास्तविक स्वरूप क्या है ? मेरी दृष्टि में तो एक ऐसे परात्पर प्रभु हैं कि जिनके हाथमें ये लोक-परलोक सभी हैं। यदि तुम उनके प्रेमका रस चख लो तो तुम्हें ये भय और सभी आशाएँ विस्मृत हो जायँ। जब तुम्हें उसकी पहचान हो जायगी तो इन सभी पदार्थोंसे तुम्हें लज्जा होगी।

एक अन्य महात्मा की बात है, उन्हें किसीने स्वप्नमें देखा था। उनसे उसने किसी दूसरे सन्तके विषयमें पूछा कि परलोकमें उनकी गति कैसी हुई है ? उन्होंने कहा कि मैं अभी उन्हें स्वर्गमें अमृतफल खाते देख आया हूँ। फिर उसने पूछा कि आपकी क्या अवस्था है ? तब उन्होंने कहा कि भगवान् मेरे अन्तर्यामी हैं, सो जब उन्होंने देखा कि इसे स्वर्गके भोगोंकी इच्छा बिलकुल नहीं है तो उन्होंने कृपा करके मुझे दर्शन दिया। एक और सन्त कहते हैं कि मैंने स्वप्नमें स्वर्गलोक देखा था और वहाँ अनेकों लोगोंको तरह-तरह के भोग भोगते हुए भी पाया था। वहाँ मैंने एक ऐसे पुरुषको भी देखा जो शुद्ध स्थानमें बैठा था, उसके नेत्र खुले हुए थे और वह मतवाले की तरह स्थित था। मैंने स्वर्गवासियोंसे पूछा कि यह पुरुष कौन है। तब उन्होंने कहा, "ये मारूफ़जी हैं। ये ऐसे

पुरुष हैं जिन्होंने नरकके भय या स्वर्गकी आशासे भगवान्का भजन नहीं किया, अपितु निष्काम भावसे भगवन्नाम जपते रहे हैं। इन्हें भगवान्के दर्शन भी हुए हैं तथा इनका चित्त स्वर्गके भोगोंसे विरक्त है।" सन्त दाराईने भी कहा है कि जो पुरुष इस लोकमें शरीरके भोगोंमें आसक्त है वह परलोकमें भी शारीरिक भोगों में डूबा रहेगा। और जो इस लोकमें भगवद्भजन में लीन है वह परलोक में भगवान्के दर्शनोंका सुख प्राप्त करेगा।

एक अन्य सन्त का कथन है कि मैंने एक बार बायजीदजी को देखा था। वे सायंकालसे प्रातःकालपर्यन्त पैरोंपर भार दिये बैठे रहे और ध्यानमें नेत्र बन्द किये रहे। फिर पृथ्वीपर मस्तक रखकर खड़े हुए और प्रार्थना करने लगे कि भगवन्! जिन पुरुषोंने आपका भजन किया है उनको आपने सिद्धियोंका बल दिया है, जिससे कि वे जलपर सूखे ही चले जाते हैं और आकाशमें उड़ सकते हैं। सो, इन सिद्धियोंसे तो मैं अपनी रक्षा चाहता हूँ। कुछ ऐसे भी लोग हुए हैं जिन्हें आपने गुप्त कोषागार दिये हैं और कोई ऐसे थे जो एक ही रातमें सहस्त्रों योजन मार्ग पार कर जाते थे। उन्हें इस प्रकारकी सिद्धियोंसे प्रसन्नता होती थी, पर मैं तो इनसे अपनी रक्षा चाहता हूँ। इतना कहकर बायजीदजीने अपनी पीठकी ओर देखा और मुझे देखकर कहने लगे कि तुम क्या यहीं बैठे थे? मैंने कहा, "हाँ, भगवन्! मैं यहीं था।" उन्होंने पूछा, "कितनी देर से यहाँ बैठे थे?' मैंने कहा, "बहुत देरसे।" फिर मैं बोला, "भगवन्! मुझे अपनी अवस्थाका कुछ वर्णन सुनाइये।" वे बोले, "मैं तुम्हारे अधिकारके अनुसार कुछ बातें सुनाता हूँ। एक बार मैं आकाशमें देवताओंके स्थानोंमें गया था। वहाँ मैंने स्वर्ग-वैकुण्ठ आदि सभी लोकोंको देखा। तब मुझे आकाशवाणी हुई कि तुम्हें जिस पदार्थ की इच्छा हो वही माँग लो। मैं तुम्हें वही चीज दूँगा। मैंने प्रार्थना की कि प्रभो! आपके सिवा और

किसी वस्तुकी मुझे इच्छा नहीं है। तब प्रभुने कहा कि तुम मेरे सच्चे दास हो।"

कहते हैं, किसी महात्माका एक जिज्ञासु भक्त था। वह हृदय की एकाग्रतामें ही लीन रहता था। एक बार उससे महात्माजीने कहा कि तुम बायजीदजीके दर्शन करो तो बहुत अच्छा हो। वह बोला कि मैं तो अपने ही हृदयमें रंगा हुआ हूँ। किन्तु महात्माजी ने उससे फिर भी कई बार कहा कि तुम्हें उनके दर्शन अवश्य करने चाहिये। तब उसने कहा, "मैं तो उनके भी प्रभुको नित्यप्रति देखता हूँ, फिर मुझे उनके दर्शनों की इच्छा कैसे हो सकती है?" महात्मा जी बोले, "तुम यदि एक बार उनका दर्शन करो तो वह तुम्हारे सत्तर बार भगवद्दर्शन करनेसे भी बढ़कर होगा।" इसपर उस जिज्ञासुने आश्चर्यचकित होकर कहा, "भगवन्! आपने यह बात किस दृष्टिसे कही है?" महात्मा बोले, "भाई! अब तो तुम अपने अधिकारके अनुसार भगवान् के दर्शन करते हो और जब तुम उनके पास जाओगे तो उनके अधिकारके अनुसार प्रभुके दर्शन करोगे।" जिज्ञासुने उनका आशय समझकर कहा, "तो भगवन्! आप भी मेरे साथ चलें, हम दोनों जाकर उनके दर्शन करेंगे।" फिर गुरु-शिष्य दोनों ही बायजीदजीके पास गये। वे उस समय जंगल में गये हुये थे। जब वे घर लौटे तो जिज्ञासुने उन्हें देखा और फिर 'आप भले आये' इतना कहते ही उसका शरीर छूट गया। तब गुरुजी ने कहा, "बायजीदजी! आपने तो इसे एक ही दृष्टिसे समाप्त कर दिया।" वे बोले, "यह सच्चा जिज्ञासु था। इसके हृदयमें एक गुप्त रहस्य था। वह रहस्य आपके द्वारा खुल नहीं रहा था। अब, मुझे देखते ही वह खुल गया, किन्तु उसे रखनेकी शक्ति इसके हृदयमें थी नहीं, इसलिये इसका शरीर छूट गया।"

बायजीदजीने यह भी कहा है कि यदि तुम्हें बड़े-बड़े महा-

पुरुषोंके समान भगवान्का भरोसा, भगवत्-प्रार्थना और दिव्यता भी प्राप्त हो जाय तो भी उचित यही है कि तुम भगवान्को छोड़-कर और कोई पदार्थ स्वीकार न करो, क्योंकि ज्ञानी पुरुषों की स्थिति तो इससे भी परे होती है। कहते हैं, एकबार बायजीदजी से किसी भक्तने कहा था कि मुझे तीस वर्ष इसी प्रकार बीते हैं कि रात्रिमें तो मैं भजन करता हूँ और दिनमें व्रत रखता हूँ। किन्तु फिर भी आप जैसी ज्ञानकी बातें कहते हैं उनमें मेरी बुद्धि का कुछ भी प्रवेश नहीं होता। तब उन्होंने कहा, "यदि तुम तीन सौ वर्ष भी ऐसी कठोर तपस्या करोगे तो भी हमारे वचनोंका रहस्य नहीं समझ सकोगे।" उसने पूछा, "मैं किस कारणसे इस भेदको नहीं समझ सकूँगा ?" वे बोले, "तुम्हारी बुद्धिपर मान और अहंकार का पर्दा पड़ा हुआ है।" उसने पूछा, "इसकी निवृत्ति का क्या उपाय है ?' उन्होंने कहा, "तुम उस उपायको कर नहीं सकोगे।" वह बोला, "आप कृपया वह उपाय बताइये, मैं अवश्य करूँगा।" बायजीदजी बोले, "पहले तुम अपनी दाढ़ी कटवा दो और नंगे होकर गलेमें अखरोटोंका थैला डाल लो, फिर बाजारमें जाकर कहो कि जो बालक मेरे एक मुक्का लगायेगा उसे मैं एक अखरोट दूँगा। इसी प्रकार राजसभा और पण्डितोंके आगे भी कहो। इस से तुम्हारा अहंकारका पर्दा दूर हो जायगा।" यह सुनकर उस पुरुषने कहा, "इससे तो भगवान् रक्षा करें, ऐसी बात आपने क्यों कही ?" तब बायजीदजी बोले, "तुम्हारे इस कथनसे तो तुम्हारी मनमुखता प्रकट होती है, क्योंकि मुखसे तो तुम कहते हो कि जो भगवान् निर्लेप हैं वे मेरी रक्षा करें, किन्तु इसी कथनमें तुम्हारी महत्ताकी इच्छा छिपी हुई है। अतः तुम मनमुख हो।" फिर वह बोला, "आप मुझे कोई और उपाय बतायें तो उसे मैं करूँगा। अभी आपने जो उपाय बताया है वह तो मुझसे हो नहीं सकेगा।" उन्होंने कहा, "किन्तु तुम्हारे रोगकी ओषधि तो यही है।" वह बोला, "पर यह तो

मुझसे हो नहीं सकता।" वे बोले, "मैंने तो पहले ही कहा था कि तुम्हारे लिये जो उपाय है वह तुम नहीं कर सकोगे।" बायजीदजीने यह उपाय इसलिये बताया था, क्योंकि वह मान-बड़ाई में बहुत आसक्त था। उसे मान ही का रोग था। अतः मानहीन होना ही उसकी ओषधि थी।

एक और महापुरुष को आकाशवाणी हुई थी कि जिस मनुष्यके हृदयमें मैं लोक और परलोककी वासना नहीं देखता हूँ उसके हृदयमें मैं अपनी प्रीति स्थापित कर देता हूँ और सब प्रकार उसकी रक्षा करता हूँ। एक महात्माने भगवान्से प्रार्थना की थी कि प्रभो! आप अच्छी तरह जानते हैं कि किस प्रकार आपने कृपा करके मेरे हृदयमें अपनी प्रीति और भजनका रहस्य प्रकट किया है जिनके कारण मुझे स्वर्गीय सुखोंका मूल्य एक मच्छरके परके बराबर भी नहीं जान पड़ता। एक बार रबियासे किसीने पूछा था कि क्या महापुरुषके प्रति तुम्हारा प्रेम है; तब उन्होंने कहा कि ऐसा कौन पुरुष है जो महापुरुषसे प्रेम न करे। किन्तु मुझे तो भगवान्के प्रेमने ऐसा लीन किया है कि किसीके भी प्रेममें मेरा मन नहीं रहा। एक अन्य महापुरुषसे लोगोंने पूछा था कि उत्तम आचरण कौन है? तब उन्होंने कहा कि भगवान्के प्रेम और आज्ञामें प्रसन्न रहना ही उत्तम आचरण है।

तात्पर्य यह है कि इसी प्रकार सन्तजनोंकी ऐसी अनेकों साक्षियाँ और अवस्थाएँ प्रसिद्ध हैं जिनसे जाना जाता है कि स्वर्गके सुखकी अपेक्षा भगवान्का प्रेम और आनन्द विशेष होता है। अतः उचित यह है कि तुम ऐसे वचनोंका विचार करो। तब तुम्हें भी इस वचनका अर्थ प्रत्यक्ष प्रकट होगा।

(भगवान् की पहचान में व्यवधान होने का कारण)

किसी भी पदार्थकी पहचानमें कठिनता होनेके दो कारण होते हैं—

१. जो पदार्थ अत्यन्त गुह्य होता है, उसे नहीं पहचाना जाता।
२. जो पदार्थ अत्यन्त प्रकट और प्रकाशमान् होता है उसे भी नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता, जिस प्रकार चमगादड़के लिये सूर्यको देखना अत्यन्त कठिन है। वह रात्रि होनेपर ही नेत्र खोलकर देख सकता है। इसका कारण यही है कि दिनके समय सूर्यका प्रकाश अत्यन्त प्रखर होता है और चमगादड़की दृष्टि मन्द होती है। इसीसे अन्धकार होने-पर ही वह नेत्र खोल सकता है।

इसी प्रकार भगवान्‌को पहचाननेकी कठिनाई भी उनकी अत्यन्त प्रकटताके कारण है। भगवान् अत्यन्त प्रकाशमान् और अति प्रत्यक्ष हैं, अतः बुद्धिरूपी नेत्र उन्हें नहीं देख सकते। श्री-भगवान्‌का प्रकाश और उनकी प्रत्यक्षता इस जगत्‌के रचना-वैचित्र्यसे प्रकट-होती है। यदि तुम किसीके सुन्दर अक्षर देखो अथवा कोई सिला हुआ वस्त्र देखो तो तुम निःसन्देह सुगमतासे ही लेखक और दर्जीके कौशलको जान लोगे। किसी भी कारीगरी को देखकर उसके कर्ता शिल्पका निश्चित ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार यदि भगवान्‌ने इस जगत्‌में केवल एक ही पक्षी या वृक्ष उत्पन्न किया होता तो उसे देखकर भी उसके रचियता भगवान्‌की समझ, सामर्थ्य और महत्ताका ज्ञान सुगमतासे हो सकता था। प्रभुकी रचना तो वस्त्र और अक्षरोंकी रचनाके समान है भी नहीं, क्योंकि वस्त्र और अक्षरोंकी कारीगरी तो सामग्री और यत्नद्वारा सिद्ध होती है तथा उनका आरम्भ भी होता है, किन्तु ये पृथ्वी, आकाश, पशु, वृक्ष, पर्वत और इन्हींके समान जो कुछ सृष्टि मनके संकल्पमें आती है उसकी रचना भगवान्‌ने आरम्भ और यत्नके बिना ही की है। अतः ये सभी पदार्थ प्रभुकी महत्ताको सूचित करनेवाले हैं। तो भी अत्यन्त प्रत्यक्ष होनेके कारण उन्हें पह-चानना कठिन हो रहा है। यदि इनमेंसे कोई पदार्थ भगवान्‌के

बनाये हुए होते और कोई किसी दूसरेके बनाये होते तब तो निःसन्देह भगवान्‌की महत्ताको पहचान लिया जाता। किन्तु प्रभु तो सारी ही सृष्टिको उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिये ऐसी स्थितिमें उन्हें नहीं लखा जाता। हम देखते हैं कि सूर्यके समान प्रकाशमान और कोई पदार्थ इस संसारमें नहीं हैं, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंको सूर्य ही प्रकाशित करता है। पर यदि सूर्य रात्रिमें अस्त न होता अथवा मेघोंसे उसका आवरण न होता तो कोई भी मनुष्य इस प्रकाशको सूर्यके आश्रित नहीं जान सकता था। सब लोग यही समझते कि ये रंग स्वयं ही प्रकाशित हो रहे हैं। इन रंगोंके प्रकाशकको लोग इसीलिये जानते हैं क्योंकि रात्रिके समय सभी रंग छिप जाते हैं, प्रकाश न होनेपर कोई रंग दीख ही नहीं सकता। इसीसे जाना जाता है कि प्रकाश भिन्न है और रंग भिन्न हैं। इस प्रकार प्रकाशका ज्ञान अन्धकारके द्वारा ही होता है, क्योंकि विरोधी पदार्थोंको उसका विरोध होनेपर ही लखा जाता है। इसी प्रकार संसारको उत्पन्न करनेवाले भगवान्‌काभी यदि कभी नाश होता तो उनके नाशके साथ पृथ्वी और आकश भी नष्ट हो जाते, और इससे सुगमतासे ही सब लोग भगवान्‌को पहचान लेते। किन्तु भगवान्‌का तो कभी नाश या आवरण आदि होता नहीं, और सभी पदार्थ उन्हीं को लखानेवाले हैं, उनका प्रकाश सर्वदा ही अखण्ड है। अतः अपने इस अखण्ड प्रकाशके कारण ही वे छिपे हुए हैं।

इसके सिवा ऐसा भी कहा है कि बाल्यावस्थासे ही, जब कि तुममें कोई बुद्धि भी नहीं थी, तुम सम्पूर्ण सृष्टिको देख रहे हो, और सृष्टि उत्पन्न करनेवालेकी पहचान बुद्धिके द्वारा हो सकती है। अतः बुद्धि उत्पन्न होनेसे पहले ही तुम्हारे नेत्रोंकी वृत्ति सृष्टि देखनेमें दृढ़ हो गयी है, वह उसका स्वभाव बन गया है। इसीसे अनेक प्रकारके कौतुक देखकर भी तुम्हें आश्चर्य नहीं होता। जब तुम

अकस्मात् कोई अद्‌भुत वृक्ष या पक्षी देखते हो तो तुम्हें पता लगता है कि इसे रचनेवाले भगवान परम समर्थ हैं और तुम कहने लगते हो कि जिसने इसे बनाया है उस भगवान्‌की महिमा अपार है। उस अपूर्व आश्चर्यको देखकर तुम्हें भगवान्‌की महिमा प्रत्यक्ष भासने लगती है। अतः जिस पुरुषके बुद्धिरूप नेत्रोंकी दृष्टि उज्ज्वल होती है वह तो सब पदार्थोंको आश्चर्यरूप ही देखता है और भगवान् की कारीगरीको पहचान लेता है। वह अपनी वासनासे किसी पदार्थको नहीं देखता; जैसे कोई पुरुष सुन्दर अक्षरोंको देखे तो विद्या-विहीन होनेपर तो उसकी दृष्टि कागज और स्याहीपर रहती है, किन्तु विद्वान् हो तो वह लिखनेवालेके कौशलको ही परखेगा। इसी प्रकार वाणीके द्वारा वह वाणीके रचयिताकी विद्याको देखेगा। बुद्धिमान् पुरुष इसी तरह सम्पूर्ण पदार्थोंमें भगवान्‌की सत्ताको ही देखता है और जो बुद्धिहीन होता है वह इस संसारको अपनी वासना और तृष्णासे युक्त देखता है। बुद्धिमान् पुरुष तो यह समझता है कि कोई भी पदार्थ भगवान्‌की सत्तासे भिन्न नहीं है। अतः उसे सब कुछ आश्चर्यरूप ही भासता है।

इस प्रकार सभी पदार्थ भगवान्‌की महत्ता और सामर्थ्यको स्पष्ट प्रकट करते हैं। अतः इस संसारमें कोई भी पदार्थ भगवान्‌के समान प्रकाशमान् और उज्ज्वल नहीं है। किन्तु ये जीव अपनी बुद्धिकी हीनताके कारण उसे पहचान नहीं सकते।

(प्रीति प्राप्त होने का उपाय)

भगवान्‌की प्रीति सभीसे उत्तम पद है तथा उसकी प्राप्तिका उपाय समझना भी बहुत आवश्यक है। उसके लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि यदि कोई पुरुष किसी अन्य पुरुषसे प्रेम करना चाहे तो उसे पहले अपने प्रियतमके सिवा और सब पदार्थों से विरक्त होना चाहिये। फिर सर्वदा उस प्रियतमको ही प्रीतिपूर्वक

देखता रहे तथा उसके सभी अंगोंको देखनेकी अभिलाषा बढ़ावे। इस प्रकार वह जितना-जितना उसकी सुन्दरताको देखता है उतनी ही उसके हृदयमें प्रीति दृढ़ होती जाती है। और जब इस प्रीतिके स्वभावमें दृढ़ता आ जाती है तब निःसन्देह उसमें प्रीतिकी बहुलता हो जाती है। इसी प्रकार भगवान्की प्रीतिका उपाय भी यही है कि पहले सम्पूर्ण मायिक रसोंसे विरक्त हो, क्योंकि माया का प्रेम भगवत्प्रेममें आवरण डालता है। मायाकी प्रीतिको दूर करना ऐसा ही है जैसे किसान काँटोंको दूर करके पृथ्वीको शुद्ध करता है। इसके पश्चात् भगवान्की पहचानको ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि जबतक यह पुरुष भगवान्को नहीं पहचानता तबतक इसे उनका प्रेम भी प्राप्त नहीं होता। यह बात तो स्पष्ट ही है कि हृदय की सुन्दरता और पूर्णता स्वयं ही चित्तको आकर्षित करती है और सभीको प्रिय भी है। अतः जब यह पुरुष उसे पहचानता है तो निःसन्देह उसके प्रति इसका प्रेम भी हो जाता है, जिस प्रकार किसी महात्माकी विशेषताका ज्ञान होनेपर उसके साथ अवश्य ही प्रेम हो जाता है, क्योंकि उसे उसमें स्पष्ट ही शुभ गुणोंके सौन्दर्यकी झाँकी होती है। इसलिये स्वभावतः ही उनके प्रति उसका दृढ़ प्रेम हो जाता है। इसी प्रकार जब यह पुरुष भगवान्को पहचानता है तब उनमें इसका सहज ही प्रेम उत्पन्न हो जाता है। अतः यह प्रभुकी पहचान उनके प्रेमके बीजकी तरह है।

इसके पश्चात् उसे चाहिये कि सर्वदा भगवद्भजनमें तत्पर रहे। यह भजनमें स्थित होना जल सींचनेके समान है बात ऐसी भी है कि जब कोई किसीका अधिक स्मरण करता है तब इससे उसके प्रेमकी दृढ़ता ही होती है। याद रखो, यद्यपि सभी सात्त्विक पुरुषोंके हृदयमें भगवान्का प्रेम होता है, किन्तु वह समान नहीं होता। किसीमें अल्प प्रेम होता है और किसीमें अधिक। इस न्यूनाधिकताके तीन कारण हैं—

१. जिसका चित्त माया के व्यवहार में बहुत फैला हुआ होता है। उसको भगवान् के चरणों में विशेष प्रीति नहीं होती, क्योंकि एक पदार्थ की प्रीति दूसरे पदार्थ की प्रीति को मन्द कर देती है।

२. दूसरा कारण यह है कि भिन्न-भिन्न पुरुषों की पहचान में भी परस्पर भेद होता है। जो आदमी पढ़ा हुआ नहीं होता वह किसी विद्वान् के विषय में इतना ही जानता है कि वह बहुत पढ़ा हुआ है, किन्तु जो स्वयं भी विद्वान् हो वह इस बात को जान सकता है कि वह अमुक-अमुक विषयों का ज्ञाता है। और जिसकी उस पण्डित के साथ प्रीति हो वह उसके हृदय के गुणों को भी पहचान सकता है तथा उसके शुभ गुणों की सुन्दरता देखकर उसके साथ बहुत प्रेम भी रखता है। इसी प्रकार जो पुरुष भगवान् को अच्छी तरह पहचानता है वह उनके साथ प्रीति भी अधिक रखता है।

३. भजन-स्मरण के द्वारा जो रहस्य प्राप्त होता है उसमें भी बड़ा भेद है, क्योंकि कोई पुरुष तो भजन की स्थिति में अधिक दृढ़ होता है और कोई कम।

बस, इन तीन कारणों से ही प्रभुकी प्रीतिमें न्यूनाधिकता होती है। अतः जिस पुरुषका भगवान् के प्रति कुछ भी प्रेम नहीं होता, समझना चाहिये कि उसने भगवान् को कुछ भी नहीं पहचाना। जिस प्रकार शरीरकी सुन्दरता चित्त को खींचती है उसी प्रकार जो पुरुष गुणोंकी सुन्दरता को देखता है उसे भी अवश्य प्रेम प्रकट हो जाता है। अतः यह भगवत्प्रेम सम्पूर्ण दिव्य गुणों के भण्डार श्रीभगवान्की पहिचान का ही फल है।

भगवान् की पहचान भी दो मार्गों से प्राप्त हो सकती है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. एक तो योगिजनों का मार्ग है। वे पहले तो तप करते हैं और फिर भजन करके चित्त को शुद्ध और एकाग्र करते हैं। इसके पश्चात् वे अपने को और सम्पूर्ण पदार्थों को भूल जाते हैं। तब उनके चित्त में ऐसी अवस्था प्रकट होती है कि उसके द्वारा वे भगवान् की महत्ता को प्रत्यक्ष देखते हैं। इस मार्ग के विषय में यह दृष्टान्त दिया जा सकता है जैसे कोई बधिक अपना जाल फैलावे तो उस जाल में कोई मृग या पक्षी फँस भी जाता है और कभी नहीं भी फँसता, अथवा कोई चूहा ही उस जाल को काट देता है या बाज ही आजाता है। इसी प्रकार इस मार्ग के साधकोंमें भी बड़ा भेद रहता है। किसी को भगवद्‌वाक्यों का तात्पर्य फुरने लगता है, किसी को सिद्धियों का रस प्राप्त होता है और किसी को पूर्ण ज्ञान भी हो जाता है।

२. दूसरा विचारमार्ग है। यह सत्संग और ब्रह्मविद्या के द्वारा निष्पन्न होता है। भगवान् की विचित्र रचना का विचार करना ही इसका मूल है। इससे भक्तमनरञ्जन श्रीभगवान् के स्वरूप और उनके अंगोपांगों का विचार प्रकट होता है। तब जिज्ञासु उनकी महत्ता और पूर्णता का प्रत्यक्ष अनुभव करने लगता है। इस विचार मार्ग का कोई अन्त नहीं है। किन्तु बुद्धिमान् पुरुष इसे सुगमता से ही प्राप्त कर लेता है। इस मार्ग में ज्ञानी गुरू की सहायता अपेक्षित होती है। पर जिस पुरुष की बुद्धि मन्द हो और हृदय मलिन हो उसका इस मार्ग में प्रवेश नहीं हो सकता। यह मार्ग जाल फैलाने के समान नहीं है, यह तो ऐसा है जैसे कोई पुरुष व्यापार, खेती या कोई मजदूरी करे तो उसे निःसन्देह लाभ होता है। हाँ, अकस्मात् कोई विघ्न हो जानेपर हानि भी हो सकती है। तो भी इन

व्यापारों में अधिकतर तो लाभ की ही सम्भावना रहती है, हानि तो अकस्मात् हो सकती है। अतः विचार का मार्ग ही श्रेष्ठ कहा जाता है। यदि कोई पुरुष विचार के बिना ही भगवत्प्रेम प्राप्त करना चाहे तो यह असम्भव ही है। तथा विचार की प्राप्ति भी इन दोनों मार्गों के बिना नहीं हो सकती।

यदि कोई पुरुष ऐसा समझे कि मैं भगवत्प्रेम के बिना ही परलोक में सुखी हो जाऊँगा तो यह उसकी मूर्खता ही होगी, क्यों कि भगवान् में प्रेम हुए विना किसी को परलोक में सुख प्राप्त नहीं हो सकता। वास्तव में भगवान् के समीप पहुँचने का नाम ही तो परलोक है। जिस पुरुष की प्रीति किसी पदार्थ में दृढ़ हो जाती है, वह अकस्मात् उससे बिछुड़ भी जाय तो भी उसके चित्तमें तो उसके प्रति दृढ़ प्रेम रहता है। और फिर जब कभी उसे वह वस्तु प्राप्त होती है तो उसे स्वाभाविक ही परम आनन्द होता है। इसी का नाम उत्तम भक्ति है। किन्तु जिसे पहले से उसके साथ कुछ भी प्रेम न हो उसे वह वस्तु मिल भी जाय तो भी उसके कारण उसे कोई सुख नहीं होता। तथा जब प्रीति अल्प होती है तो उसकी प्राप्ति से सुख भी अल्प ही होता है।

इससे निश्चय हुआ कि इस जीव के पारलौकिक हित और आनन्द इसकी प्रीति के अनुसार ही होते हैं। भगवान् न करें कि इस मनुष्य का हृदय ऐसा मलिन हो जाय कि इसकी प्रीति भगवान् के सिवा किसी अन्य पदार्थ में हो जाय और इसके चित्त की वृत्तियाँ सर्वथा स्थूल पदार्थोंमें ही उलझी रहें। ऐसा होनेपर तो इसे परलोक में निःसन्देह परम दुःख प्राप्त होगा। गुरुमुख जिज्ञासु जिस वस्तु को पाकर प्रफुल्लित हो जाते हैं वही जब किसी मनमुख को मिलती है तो अपनी प्रीति की हीनता के कारण वह उल्टा उससे उद्विग्न हो जाता है। इस विषय में एक दृष्टान्त प्रसिद्ध

है। कोई चाण्डाल बाजार में एक गन्धी की दुकान पर आया। वहाँ सुगन्ध की अधिकता के कारण मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसे सचेत करने के लिये गन्धी उसपर गुलाबजल छिड़कने लगा। किन्तु इससे उसकी मूर्च्छा और भी गहरी हो गयी। इतने ही में उधर एक चाण्डाल आ निकला। वह उस रहस्य को समझ गया। उसने विष्ठा पानी में भिगोकर उस चाण्डाल को सुँघाया, तब वह तत्काल उठ खड़ा हुआ। और बोला, "यह तो बड़ी सुन्दर गन्ध है।" इसी प्रकार जिस पुरुष की माया के साथ दृढ़ प्रीति है और जो सब प्रकार माया से ही प्रेम रखता है वह उस चाण्डाल के ही समान है। चाण्डाल का स्वभाव निष्ठा की दुर्गन्ध के साथ ऐसा पक गया था कि गन्धी की दुकान पर जो सुगन्ध थी वह उसके लिये असह्य हो गयी और उसे सूँघने पर वह मूर्च्छित हो गया। उसी प्रकार परलोक में, जहाँ कि माया का कोई सुख नहीं है, जब यह मायाग्रस्त मनमुख जीव जाता है तो इसे सब कुछ अपने स्वभावका विरोधी ही दिखायी देता है। इसलिये यह अत्यन्त दुःखी हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जीव के हृदय में चैतन्य के प्राकट्यका ही नाम परलोक है। इस चैतन्य में ही भगवान् के स्वरूप का अनुभव होता है। अतः वही पुरुष बड़भागी है जिसकी इसी लोक में भगवान्के प्रति दृढ़ प्रीति है। जिसके चित्त का चैतन्य के साथ सम्बन्ध हो वही पुरुष धन्य है, क्योंकि सभी तप और भजन-साधन का प्रयोजन श्रीभगवान् के चरणों में प्रेम होता है और सम्बन्ध भी प्रेम ही का नाम है। प्रभु का भी कथन है कि जो उत्तम पुरुष हैं वे निःसन्देह परम शुद्धता को प्राप्त होते हैं, जितने भी पापकर्म और मायिक भोग हैं वे भगवत्प्रेम में विरोधी हैं। भगवान् ने भी कहा है कि जिस पुरुष का राग बुराईमें होता है वह अवश्य बुराई को ही प्राप्त होता है। अतः जिन पुरुषों के

बुद्धिरूप नेत्र खुले हैं वे इस रहस्य को प्रत्यक्ष देख सकते हैं तथा वे सन्तजनोंके हृदय की निर्मलता को भी स्पष्ट पहचान लेते हैं। वे सन्तजन यद्यपि अपना बल और ऐश्वर्य दिखाते नहीं हैं तो भी बुद्धिमान् पुरुष उनके हृदय की निर्मलता को हस्तामलक-वत् प्रत्यक्ष देख लेते हैं, जैसे कोई आयुर्वेद का मर्मज्ञ हो तो वह सहज ही में वैद्यको पहचान लेता है और जो पाखण्ड से अपने को वैद्य प्रकट करना चाहता है उसी भी विद्वान् पुरुष तुरन्त पहचान लेता है कि वह पाखण्डी है। इसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष सन्त और दम्भी पुरुष का तत्काल विवेक कर लेता है। साथ ही ऐसा भी होना चाहिये कि जबतक इस जीव के बुद्धिरूपी नेत्र खुलें नहीं तबतक अपनी अवस्था के अनुसार सन्तजनोंके वचनों को पहचाने और उनमें विश्वास करे। किन्तु जिसकी दृष्टि बल और ऐश्वर्य पर ही विशेष होती है वह तो जिस पुरुष में कोई सिद्धि देखता है उसीको सन्त समझता है। सो, यह ठीक नहीं, क्योंकि सिद्धियाँ तो सन्तों में भी होती हैं और वरदान या जादू के कारण सामान्य पुरुषों में भी पायी जाती हैं। किन्तु इस भेद को हृदय की शुद्धताके विना पहचानना बहुत कठिन है, अतः परीक्षा का यह मानदण्ड झूठा ही है।

(प्रीति के लक्षण)

याद रखो, यह भगवत्प्रीतिरूप रत्न बड़ा ही दुर्लभ है। इस विषय में अभिमान करना उचित नहीं। भगवान् की प्रीतिके सात लक्षण हैं, मनुष्य को चाहिये कि इन्हें अपने हृदय में दृढ़ करे—

१. प्रीतिमान् पुरुष कालके भयसे कभी नहीं डरता, क्योंकि वह समझता है कि शरीर की मृत्यु होनेपर तो मुझे अपने प्रियतमके दर्शन प्राप्त होंगे ही। और प्रेमी पुरुष तो सर्वदा श्रीभगवान्‌के ही

दर्शन चाहता है। इस विषयमें महापुरुषका भी कथन है कि जो पुरुष भगवान्‌के दर्शन चाहता है उससे श्रीभगवान् भी भेट करना चाहते हैं। एक भगवद्भक्तने किसी तपस्वीसे पूछा कि क्या तुम्हें मृत्यु प्रिय है ? तब वह तपस्वी चुप रह गया। भक्तने फिर कहा, "यदि तुम्हें सच्चा प्रेम होता तो तुम निःसन्देह मृत्युसे प्रेम करते। हाँ, इसमें उतना अन्तर अवश्य है कि यद्यपि प्रेमी पुरुष मृत्युसे भय तो नहीं करता, परन्तु उसे मृत्युकी शीघ्रतासे अवश्य ग्लानि होती है, क्योंकि उसे परलोकमार्गका पाथेय बनाने की बड़ी अभिलाषा रहती है। इसलिये वह कुछ समय तक जीवित रहना चाहता है। किन्तु उसकी यह परीक्षा है कि ऐसा पुरुष सर्वदा परलोकसम्बन्धी कार्योंमें ही तत्पर रहता है, उनसे कभी असावधान नहीं होता।

२. प्रीतिमान् पुरुष उसी कार्यको स्वीकार करता है जिससे भगवान्‌की प्रसन्नता और निकटता प्राप्त होती है। जिसके कारण भगवान्‌से दूरी होती है उसे वह तत्काल त्याग देता है। किन्तु ऐसी अवस्था उसी पुरुषकी होती है जिसकी भगवान्‌के प्रति पूर्ण प्रीति होती है। फिर भी जिस पुरुषसे अकस्मात् कोई पाप हो जाता है उसे सर्वथा प्रीतिहीन भी नहीं कह सकते। हाँ, इतना तो अवश्य कहा जाता है कि भगवान्‌में उसका पूर्ण प्रेम नहीं है। एक सन्तका कथन है कि यदि कोई पुरुष तुमसे पूछे कि क्या तुम भगवत्प्रेमी हो तो तुम्हें मौन ही रहना चाहिये, क्योंकि यदि तुम कहो कि मैं तो भगवान्‌का प्रेमी नहीं हूँ तो इससे तुम नास्तिक समझे जाओगे और यदि कहो कि प्रेमी हूँ तो वास्तवमें प्रेमके लक्षणोंका प्राप्त होना बहुत कठिन है।

३. प्रेमीका हृदय सर्वदा भजनके रसमें ही लीन रहता है। वह बिना प्रयत्न ही भजनमें स्थित रहता है। यह बात तो स्पष्ट ही है कि जिसके साथ किसीकी प्रीति होती है उसका वह स्वाभाविक

ही स्मरण करता रहता है। और जब पूरी प्रीति होती है तब तो वह अपने प्रियतमको कभी नहीं भूलता। जब ऐसी बात हो कि प्रयत्न करके मनको भजनमें लगाना पड़े तब समझना चाहिये कि इसका विशेष प्रेम किसी अन्य पदार्थसे है, भगवान्‌के साथ तो सामान्य प्रेम है। किन्तु भगवान्‌से भी प्रेम है अवश्य, इसीसे यह चाहता है कि उनमें मेरी दृढ़ प्रीति हो।

४. सन्तजन और उनके वचनोंमें प्रेम रखना यह प्रीतिका चौथा लक्षण है। जिसके साथ अपने प्रियतमका कोई सम्बन्ध होता है उससे भी प्रेम होना स्वाभाविक ही है। इसीसे कहा है कि जब भगवान्‌के प्रति इसका स्वाभाविक प्रेम होता है तब वह सभी जीवोंसे प्रेम करने लगता है और समझता है कि ये सभी मेरे प्रभुके उत्पन्न किये हुए हैं। इसलिये वह सभी सृष्टिको भावपूर्वक देखता है। जैसे किसी व्यक्तिके साथ किसीका प्रेम होता है तो उसे अपने प्रियतमके शब्द और अक्षर भी प्रिय लगने लगते हैं। इसी प्रकार भगवान्‌का प्रेमी सारी सृष्टिसे ही प्रेम करता है।

५. भगवत्प्रेमीको एकान्त और प्रार्थनाकी बहुत रुचि होती है। वह चाहता है कि रात्रि आ जाय तो अच्छा हो, क्योंकि उस समय व्यावहारिक विक्षेप दूर हो जाता है तथा शुद्ध एकान्त रहनेके कारण मनुष्य भजनमें तत्पर रह सकता है। जबतक किसीको रात्रिके एकान्तकी अपेक्षा लोगोंका मिलना-जुलना प्रिय है तबतक समझना चाहिये कि उसकी प्रीति मन्द है। एक बार दाऊदजीको आकाशवाणी हुई थी कि जो पुरुष अपनेको प्रेमी कहता है और रात्रिमें गहरी नींदमें सोता रहता है उसे झूँठा समझना चाहिये। कोई भी प्रेमी भला अपने प्रियतमके दर्शन कैसे त्याग सकता है ? और जो मुझे ढूँढता है उसके तो मैं समीप ही हूँ। एक महापुरुषने प्रार्थना की थी कि प्रभो ! मैं तुम्हें कहाँ ढूढ़ूँ ? तब आकाशवाणी हुई कि यदि तुम्हारे चित्तमें ढूँढ़नेका दृढ़ संकल्प है तो तुमने मुझे

निःसन्देह प्राप्त कर लिया है। प्रभुने एक प्रेमीसे ऐसा भी कहा है कि तुम संसारमें किसीसे प्रेम न करो, जिससे कि मुझसे तुम्हारी दूरी न हो। क्योंकि दो प्रकारके मनुष्य मुझसे निःसन्देह दूर हो जाते हैं—

(१) जो शीघ्र ही पुण्यका फल प्राप्त करना चाहे और यदि उस पुण्यकी प्राप्तिमें कुछ विलम्ब हो तो उस कर्म ही को त्याग बैठे।

(२) जो मुझे भूलकर शारीरिक सुखोंमें मग्न रहे ऐसे मनुष्य को मैं भी विसार देता हूँ, इसलिये वह संसारमें बहुत दुःखी रहता है।

इससे निश्चय होता है कि जब पूर्ण प्रीति होती है तब किसी अन्य वस्तु की अभिलाषा नहीं रहती। इस विषयमें एक गाथा भी है। कहते हैं, एक तपस्वी था। वह एक वृक्षके नीचे, जिसपर पक्षी बोल रहे थे, जाकर भजन करने लगा। तब भगवान्ने कहा, "अब तो तेरी वृत्ति पक्षियोंके कलरवमें लगी हुई है, अतः तू अपने पदसे गिर गया है। अब जबतक तू इस वृक्षको नहीं, त्यागेगा तबतक उस पदपर पुनः प्रतिष्ठित नहीं हो सकता।" किन्हीं-किन्हीं सन्तोंकी अवस्था तो विनय और प्रार्थनामें ऐसी दृढ़ हुई है कि घरमें आग लगनेपर भी उन्हें उसका कोई पता नहीं लगा। एक अन्य सन्त थे, उनके पैरमें कोई रोग हुआ। सो, जब वे भजनमें तल्लीन हुए उस समय चिकित्सकने उनका पैर काट लिया। किन्तु उन्हें इसका कोई भान भी नहीं हुआ।

६. भगवत्प्रेमियोंको भजनमें तत्पर होना बहुत सुगम होता है। उसमें उन्हें न तो आलस्य होता है और न कोई यत्न ही करना पड़ता है। एक सन्तने कहा कि जब मैंने भजन किया तो पहले बीस वर्ष तक तो मुझे यत्न करना पड़ा, किन्तु अब बीस वर्षोंसे तो मुझे भजन करनेमें ही आनन्द आता है। तात्पर्य यह है कि

जब भगवान्‌का पूर्ण प्रेम होता है तो इस पुरुषके लिये भगवद्भजन सर्वथा सुखरूप भासने लगता है। फिर इसे और कोई पदार्थ सुखप्रद नहीं रहता तथा इसकी सारी कठिनता दूर हो जाती है।

७. भगवत्प्रेमियोंका सम्बन्ध और मेल-जोल सात्त्विकी पुरुषोंके ही साथ रहता है, वे सब जीवों पर दयादृष्टि रखते हैं तथा कुसंगियोंका साथ कभी नहीं करते। कहते हैं, किसी सन्तने प्रभुसे प्रार्थनापूर्वक पूछा था कि भगवन्! आपके प्यारे सन्तजन कैसे होते हैं? तब प्रभुने उन्हें आज्ञा की कि जैसे माताके प्रति बालककी प्रीति होती है वैसे ही जिसकी मेरे प्रति प्रीति हो, जैसे पक्षी अपने घोंसलेमें विश्राम पाता है वैसे ही जिसे मेरे भजनमें ही विश्राम मिलता है तथा जैसे सिंह निर्भय होकर अन्य जीवोंपर क्रोध करता है वैसे ही कुसंगियोंके प्रति जिसकी निर्भय कोपदृष्टि रहती है, ऐसा पुरुष मुझे अत्यन्त प्रिय है।

इसी प्रकार प्रीतिके और भी अनेकों लक्षण हैं। किन्तु जिसकी पूर्ण प्रीति होती है उसके हृदयमें प्रीतिके सम्पर्ण लक्षण भी प्रकट हो जाते हैं। तथा जिसमें कुछ लक्षण मिलें और कुछ न मिले तब समझना चाहिये कि उसमें प्रीति भी अल्प ही है।

(प्रेम और उत्कण्ठाका स्वरूप)

जो लोग भगवान्‌की प्रीतिमें विश्वास नहीं रखते वे प्रेम और उत्कण्ठाको भी नहीं मानते। किन्तु प्रभुने तो स्पष्ट कहा है कि उत्तम पुरुषोंकी रुचि और प्रीति विशेष रूपसे मेरेहीमें होती है और मैं उन्हें उनकी अपेक्षा भी अधिक चाहता हूँ। अतः प्रेमका तात्पर्य अवश्य पहचानना चाहिये। वास्तवमें प्रीति प्रेम और उत्कण्ठाका ही अंग है। इसलिये जिस पुरुषको प्रीति नहीं होती उसे प्रेम और उत्कण्ठा भी नहीं होते। इसके सिवा जो पुरुष अपने प्रियतमको प्रत्यक्ष देखता रहता है उसके आगे भी प्रेम और उत्कण्ठाका स्वरूप प्रत्यक्ष दिखायी नहीं देता, प्रत्युत धीरे-धीरे वह तिरोहित हो

जाता है। अतः प्रेमका स्वरूप तो वहीं स्पष्ट भासता है जहाँ अपनी प्रिय वस्तु एक प्रकारसे तो निश्चित हो, किन्तु भावके द्वारा अपने से तिरोहित हो। जैसे प्रियतमके दर्शन ध्यानसे तो प्रत्यक्ष हों, किन्तु नेत्रोंसे अग्राह्य हों। तभी प्रेमीको यह लालसा होती है कि जिस प्रियतमको मैं ध्यानमें देखता हूँ उसका किसी प्रकार इन नेत्रों से भी दर्शन कर सकूँ। तभी मुझे उसकी पूर्णतया प्राप्ति होगी। उसके हृदयके इस आकर्पणका नाम ही उत्कण्ठा और प्रेम है।

किन्तु याद रखो, जब तक इस जीवका शरीर के साथ संबन्ध है तबतक इसें पूर्ण प्रेम प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा पुरुप यद्यपि बुद्धि से भगवान्‌को पहचान भी लेता है, तो भी उसे उनका दर्शन प्राप्त नहीं होता। अतः निश्चय हुआ कि प्रेम की पूर्णता देहाभिमान की निवृत्ति होनेपर ही होती है। एक अन्य प्रकार से देखा जाय तो कभी-कभी देहाभिमान न रहनेपर भी प्रेम की पूर्णाङ्ग प्राप्ति नहीं होती। देहाभिमान का आवरण ऐसा बताया गया है जैसे कोई पुरुप अपने प्रियतम को किसी मलीन पर्दे के भीतर से देखे अथवा प्रातःकाल मन्द अन्धकार में दर्शन करे। ऐसे अवसर पर यद्यपि वह उसे देख तो लेता है, किन्तु उसके स्पष्ट दर्शन नहीं होते। देहाभिमान की निवृत्ति होनेपर वह पर्दा दूर हो जाता है, किन्तु उस समय एक भावसे प्रेम और उत्कण्ठा की अधिकता रहती है; जैसे किसी प्रेमी पुरुपने प्रियतमका मुख तो देखा हो, पर उसके अन्य अंग न देखे हों और उसे यह भी पता हो कि मेरे प्यारे के सभी अंग अत्यन्त सुन्दर हैं। ऐसी स्थिति में उसे उसके अन्य सब अंगों को देखने की अभिलापा रहती है। इसी प्रकार चैतन्यस्वरूप श्री भगवान् अनन्त हैं। जो पुरुप उन्हें बहुत कुछ जानता है उसे भी उनका पूर्ण ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उनका स्वरूप तो अपार और असीम है। इस प्रकार जब उन्हें पूर्णतया पहचाना नहीं जा सकता तो पूर्ण रूपसे देखा

भी नहीं जा सकता। इसीसे कहा है कि यह जीव स्थूल या सूक्ष्म किसी भी देशमें भगवान् के सम्पूर्ण रहस्य को नहीं जान सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि यह जितना ही सूक्ष्म देशमें भगवान्के विशेष दर्शन करता है उतना ही इसे अधिक आनन्द होता है। प्रभु का दर्शन तो अनन्त है, किन्तु जितना भी वह प्राप्त है उतने ही में यदि उसके चित्तकी वृत्ति लीन रहती है तो इसीका नाम मिलाप है। और जितना दर्शन शेष है उसीकी अभिलाषा यदि चित्त में जाग्रत् रहे तो इसीका नाम प्रेम और उत्कण्ठा है।

अतः निश्चय हुआ कि इस लोक और परलोक में उत्कण्ठा और मिलापका अन्त कभी नहीं आता। परन्तु परलोकमें यह जीव जो कुछ देखता है वह भगवान्के स्वरूपका प्रकाश ही होता है। तथापि यह दर्शन की सम्पूर्णता चाहता तो रहता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अपने को पूर्णतया तो श्रीभगवान् ही जानते हैं। अन्य ऐसा कोई नहीं है जो भगवान् के स्वरूपको पूरा-पूरा जान सके। इस प्रकार जब भगवानको पूर्ण रूप से जानना ही कठिन है तो उन्हें पूर्णतया प्राप्त तो किया ही कैसे जा सकता है ? तथापि उनके विषय में सन्तजनों की स्थिति यह है कि उन्हें सर्वदा ही उत्तरोत्तर प्रभु के दर्शनों की अधिकता खुलती रहती है। इसीसे आत्मसुखको अपार कहा है, क्योंकि उसका पार कभी नहीं आता वह निरन्तर बढ़ता ही रहता है। यदि वह सुख ऐसा न होता तो उसकी एक सीमा हो जाती और उसके पश्चात् फिर आत्मसुखका भान न होता, क्योंकि जो सुख मर्यादित होता है वह कुछ समय पश्चात् चित्तका स्वभाव ही बन जाता है और फिर उसके लिये आनन्दरूप तो वह तभी तक जान पड़ता है जबतक कि उसकी अवस्था बढ़ती रहती है। सो, यह आत्मसुख तो ऐसा है कि उसमें नित्य नवीन आनन्द बढ़ता रहता है।

इस प्रकार जब तुम यह समझ गये कि इष्ट वस्तुके प्राप्त होने

पर जो प्रसन्नता होती है उसका नाम मिलाप है और अप्राप्त वस्तु को अभिलाषा प्रेम और उत्कण्ठा कही जाती है तो यह बात ध्यान में रखो कि प्रेमी पुरुष इस लोक और परलोकमें मिलाप और उत्कण्ठाके ही अन्तर्गत रहते हैं। इस विषय में एक बार प्रभु ने दाऊदजी से कहा था कि दाऊद ! तुम जीवों को मेरा यह सन्देश पहुँचाओ कि जो लोग मेरे साथ प्रीति करते हैं उन्हें मैं भी प्रेम करता हूँ। मैं तो उन्हीं का साथी हूँ जो एकान्तमें मेरे ही साथ स्थिति करते हैं, मैं उन्हीं का मित्र हूँ जो वासनाशून्य होकर मेरे भजन में ही रचे-पचे रहते हैं तथा मेरे प्यारे वही हैं जिन्होंने मेरे प्रेमवश सब कुछ भुला दिया है। जो मेरे आज्ञाकारी हैं उनका मैं भी आज्ञाकारी हूँ। अतः जिस पुरुषने मुझसे प्रेम किया है, निःसन्देह वही मुझे प्रिय है और उसीको मैं श्रेष्ठता प्रदान करता हूँ। मुझे जो कोई ढूँढ़ता है वह अवश्य प्राप्त कर लेता है, किन्तु जो किसी दूसरी वस्तुकी खोज में लगा है उसे मैं कभी प्राप्त नहीं हो सकता।

इसलिये तुम्हें चाहिये कि जिन मायिक वस्तुओंमें आसक्त होकर तुम छले गये हो उन्हें त्यागकर अपना मुँह मेरी ओर मोड़ दो और मुझे ही प्यार करो। ऐसा करने से मुझे भी तुम प्रिय होगे। मेरे जितने भी प्रीतिपात्र हैं उन्हें मैंने अपने प्रकाश से उत्पन्न किया है और अपने ही तेज से पाला है। इसी प्रकार किन्हीं अन्य संतों को भी आकाशवाणी हुई थी कि जिनकी मेरे साथ प्रीति है मैं भी उन्हींसे प्रेम करता हूँ और जो मुझे चाहते हैं मैं भी उन्हींको चाहता हूँ, जो मेरा स्मरण करते हैं मैं भी उन्हींका स्मरण करता हूँ और जिनकी दृष्टि मेरी ओर है मैं भी उन्हींको देखता हूँ। तुम भी जब उन्हींके मार्गका अनुसरण करोगे तब मेरे प्रिय हो सकोगे। और यदि विपरीत मार्गसे चलोगे तो मुझसे विमुख रहोगे। प्रीति और प्रेमके विषयमें ऐसे ही अनेकों वचन

आये हैं। अतः यहाँ इनका इतना ही उल्लेख पर्याप्त है।

(भगवदाज्ञाका तात्पर्य और उसके पालन की महत्ता)

याद रखो, भगवान् की आज्ञाका पालन करना बहुत उत्कृष्ट कोटिकी बात है। अन्य कोई भी स्थिति इसके समकक्ष नहीं हो सकती। यद्यपि प्रीतिकी अवस्था भी बहुत ऊँची है, तथापि भगवान् की आज्ञा मानना सचमुच ही प्रीतिका अनुपम फल है। महापुरुष भी कहते हैं कि भगवान् की आज्ञा मानना ही भगवत्प्राप्ति का प्रधान द्वार है और यही परमानन्द का भी दरवाजा है। एक बार महापुरुषने किसीसे पूछा कि तुम्हारे धर्मका चिह्न क्या है ? तब उसने कहा कि हम विपत्तिके समय सन्तोष करते हैं और सुख प्राप्त होनेपर धन्यवाद। तथा हर समय प्रभुकी आज्ञामें ही मस्त रहते हैं। इस पर महापुरुषने कहा, "तुम तो बड़े बुद्धिमान् और सच्चे विद्वान् हो तथा सन्तजनों के समीपवर्ती भी हो।" ऐसा भी कहा है कि परलोक में कुछ लोग ऐसे होंगे जो परम सुखके स्थानों में आनन्दित होंगे और उन्हें कोई दण्ड या तड़ाना भी नहीं होगी। जब देवता उनसे पूछेंगे कि तुम्हें यह स्थिति कैसे प्राप्त हुई तो वे कहेंगे कि हमने दो काम किये हैं—एक तो यह कि हम एकान्तमें भगवान्‌का भय मानकर पापकर्मों में प्रवृत्त नहीं होते थे और दूसरा यह कि भगवान् ने हमारी जैसी प्रारब्ध रची थी उसीमें हम सन्तुष्ट रहते थे। तब देवगण कहेंगे कि तुम सचमुच ऐसे ही सुखके अधिकारी हो और सब प्रकार धन्य हो। इसी प्रकार एक महापुरुष ने भगवान्‌के आगे प्रार्थना की थी कि प्रभो ! आप किस कर्म से प्रसन्न होते हैं ? हम भी वही कर्म करके आप को प्रसन्न करें। तब आकाशवाणी हुई कि यदि तुम मेरी आज्ञामें ही प्रसन्न रहोगे तो मैं भी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न रहूँगा। तथा दाऊदजी को भी आकाशवाणी हुई थी कि जो मेरे सन्तजन हैं वे किसी मायिक पदार्थ के लिये शोक नहीं करते। इसीलिये उनका

भजनानन्द कभी खण्डित नहीं होता। अतः दाऊद! मेरा प्यारा तो वही है जिसका हृदय अपने स्वरूप में स्थित है और जिसे किसी भी पदार्थ से शोक या मोह नहीं होता।

महापुरुष का भी कथन है कि प्रभु ने अपने वचनों में कहा है कि मैं ऐसा समर्थ ईश्वर हूँ कि मेरे समान कोई दूसरा नहीं है। अतः जो पुरुष दुःखमें सन्तोष और सुखमें मेरा धन्यवाद नहीं करता और मेरी आज्ञा में जिसे प्रसन्नता नहीं होती उसे चाहिये कि वह अपने लिये कोई दूसरा ईश्वर खोजे। इसके सिवा उन्होंने ऐसा भी कहा है कि मैंने सम्पूर्ण कार्योंका नियम रच दिया है और सब कुछ समझकर उसे दृढ़ कर दिया है तथा सभीपर मेरा शासन चलता है, अतः जो कोई मेरे किये पर प्रसन्न है उसपर मैं भी प्रसन्न रहता हूँ और जो मेरी व्यवस्थासे प्रसन्न नहीं है उसपर मैं भी प्रसन्न नहीं रहता। वह मुझे दुःख देनेवाला समझता है, इसलिये दुःखी रहता है। प्रभुने ऐसा भी कहा है कि यों तो भला-बुरा सब मैंने ही रचा है, किन्तु जिस पुरुषको भलाई में प्रेम है वह सुखी रहता है और जिसे बुराई करना सुगम जान पड़ता है तथा जो मेरी आज्ञासे विमुख है वह भाग्यहीन है।

एक सन्त थे। उन्हें बीस वर्ष तक भूख और निर्धनताका बड़ा दुःख रहा। वे यदि भगवान्‌से कुछ माँगते थे तो उन्हें वह प्राप्त नहीं होता था। एक बार उन्हें आकाशवाणी हुई कि जब आरम्भमें मैंने संसारको उत्पन्न किया था तब तुम्हारी प्रारब्ध ऐसी ही रची थी। सो, अब तुम चाहते हो कि मैं तुम्हारे लिये अपनी व्यवस्था बदल दूँ, तुम्हारी इच्छाके अनुसार तुम्हें सुखी कर दूँ और मेरी जैसी आज्ञा है वह व्यर्थ हो जाय। सो, मैं अपनी शपथ करके कहता हूँ कि यदि तुमने मेरी आज्ञाके विरुद्ध होकर कुछ भी चाहा तो मैं तुम्हें तुम्हारे पदसे गिरा दूँगा। उन्हीं सन्तने ऐसा भी कहा है कि मैं बीस वर्ष तक महापुरुषकी

सेवामें रहा। पर उन्होंने मुझे ताड़ना करके ऐसा कभी नहीं कहा कि अमुक कार्य तूने क्यों किया। किन्तु यदि कोई मुझे दुःख देता और मैं भी उसके साथ वाद-विवाद करने लगता तो वे मुझे डाँट कर कहते थे कि यदि तुम भगवदाज्ञाको पहचानते तो उसके साथ कभी वाद-विवाद नहीं करते, मौन ही रहते।

इसी प्रकार दाऊदजीको भी आकाशवाणी हुई थी कि दाऊद! एक तो तुम्हारी इच्छा है और एक मेरी इच्छा है। किन्तु कार्य तो वही सिद्ध होता है जिसे मैं करना चाहता हूँ। अतः जब तुम अपने आपको समर्पित करोगे तभी सुखी होगे। और यदि मेरी आज्ञासे विपरीत चलोगे तो अपनी इच्छाके पीछे दुःखी रहोगे। तथा एक और सन्तका कथन है कि भगवान्ने जैसी नियति बना दी है मैं उसीमें प्रसन्न हूँ। मेरी दृष्टि सर्वदा उनकी आज्ञापर ही रहती है। पीछे जब उन सन्तको कोई रोग हुआ तो लोगोंने पूछा कि आप क्या चाहते हैं। तब उन्होंने कहा, "मैं वही चाहता हूँ जो भगवान् चाहते हैं।" एक और संतने कहा है कि भगवान्ने जो व्यवस्था की हो उसे यदि मैं बिगाड़ना चाहूँ तो इस विमुखताकी अपेक्षा तो मुझे विष खा लेना सुगम है। कहते हैं, किसी तपस्वीने चिरकालतक तप किया था। तब उन्हें आकाशवाणी हुई कि तुम्हें अमुक स्त्रीका दर्शन करना चाहिये। तपस्वी उस देवीके पास गये और ऐसी इच्छा की कि मैं इसका भजन और तप देखूँ। किन्तु उन्होंने न तो उसे रात्रिमें जागरण करते देखा और न दिनमें उपवास करते ही पाया। तब उन्होंने पूछा, "तुम्हारा ऐसा क्या आचरण है?" स्त्री बोली, "जैसा कुछ आपने देखा है।" फिर जब तपस्वीने बहुत अनुनय-विनय करके पूछा तो वह देवी बोली, "मेरा यह भी एक स्वभाव है कि जब मुझे कोई रोग या कष्ट होता है तो मैं नीरोगताका सुख नहीं चाहती और जब छायामें होती हूँ तो धूपमें जाना नहीं चाहती। बस, जिस समय जैसी

प्रभुकी इच्छा होती है उसीमें मैं प्रसन्न रहती हूँ।" तब उस तपस्वीने सिर झुकाकर कहा कि तुम्हारा यह स्वभाव अत्यन्त श्रेष्ठ है।

(प्रभुकी आज्ञा माननेका तात्पर्य)

कुछ लोग कहते हैं कि दुःखमें प्रसन्न रहना तो असम्भव है। दुःखमें सन्तुष्ट तो रह सकते हैं, परन्तु प्रसन्न रहनेकी बात समझमें नहीं आती। उनका ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जब इस पुरुषकी भगवान्‌में पूर्ण प्रीति होती है तो दो कारणोंसे इसे दुःखमें भी प्रसन्नता रहती है—

१. यह प्रभुके प्रेममें ऐसा लीन रहता है कि दुःखका इसे पता ही नहीं चलता, जिस प्रकार युद्धक्षेत्रमें रणोन्मत्त योद्धा ऐसा अचेत रहता है कि शरीर शस्त्रोंसे छिन्न-भिन्न होनेपर भी उसे कोई पीड़ा नहीं होती तथा उसकी मनोवृत्ति शत्रुको जीतनेमें डूबी रहती है। वह जब अपना घाव देखता है तब उसे मालूम होता है कि मैं घायल हुआ हूँ। इसी प्रकार जब कोई पुरुष धनकी तृष्णासे किसी कार्यकी दौड़-धूपमें लगा होता है उस समय यदि उसके पैरमें काँटा लग जाय तो उसे उसका पता भी नहीं लगता। यह बात भी प्रसिद्ध ही है कि व्यवहारकी अधिकता होनेपर भूख-प्यास नहीं रहती। इससे निश्चय हुआ कि जब स्थूल शरीर और व्यवहारकी आसक्ति होनेपर ही इतने दुःखोंका भान नहीं होता तब श्रीभगवान्‌की प्रीति और आसक्ति होनेपर दुःखोंका पता न लगना कौन असम्भव बात है ? क्योंकि इस स्थूल स्वरूपकी सुन्दरताकी अपेक्षा दिव्य रूपकी सुन्दरता तो बहुत अधिक बढ़कर है। यह शरीर तो मल-मूत्रका घर है और चमड़ेसे लिपटा हुआ है

तथा इसे देखनेवाले नेत्र भी क्षणभंगुर हैं। किन्तु मनुष्य जिस बुद्धिरूप नेत्रके द्वारा दिव्यरूपकी सुन्दरता देख सकता है वे तो अत्यन्त सूक्ष्म और उज्ज्वल हैं। इन स्थूल नेत्रोंकी दृष्टि तो उल्टी है, क्यों कि ये छोटी चीजको तो बड़ी देखते हैं और बड़ीको छोटी देखते हैं, इसी प्रकार इन्हें दूरकी वस्तु तो समीप जान पड़ती है और समीपकी वस्तु दूर दिखायी देती है। इससे निश्चय हुआ कि स्थूल रूपका देखना तो बहुत तुच्छ सुख है, परम आनन्दरूप तो सूक्ष्म सौन्दर्यको देखना ही है। इसलिये ऐसे आनन्दमें दुःखका विस्मरण हो जाना कोई कठिन बात नहीं है।

२. प्रेमी पुरुषको यदि कुछ दुःख होता भी है तो भी वह यह समझता है कि मेरे प्रियतमकी ऐसी ही इच्छा है। इसलिये उस स्थितिमें भी उसका चित्त प्रसन्न ही रहता है। वह उस दुःखको दुःख नहीं समझता। जैसे यदि कोई मित्र अपने से रक्तदान ले अथवा उसकी रुग्णावस्थामें उसे कड़वी दवा खिलावे तो इससे वह कोई खेद नहीं मानता, प्रत्युत इसे अच्छा ही समझता है। इसी प्रकार जो पुरुष भगवदिच्छाको पहचानता है वह निर्धनता अथवा किसी अन्य दुःखके कारण शोकाकुल नहीं होता; जैसे कि तृष्णालु पुरुष व्यापारके लिये तरह-तरहके दुःख झेलता रहता है, किन्तु धनकी आशा लगी रहनेसे उन्हें दुःख ही नहीं समझता। इसी प्रकार अनुरागी जिज्ञासु भी जब समझता है कि प्रसन्नतापूर्वक प्रभुकी इच्छाका अनुवर्तन करनेसे प्रभु प्रसन्न होते हैं, तो उनकी प्रसन्नताकी आशासे वह उस दुःखको दुःख ही नहीं समझता। ऐसी स्थिति अनेकों सन्तोंको प्राप्त हुई है; जैसा कि एक महिलाके विषयमें पहले भी कहा जा चुका है कि वह गिर

गयी थी और उसके अँगूठेका नख उतर गया था, किन्तु हँसने लगी। इसपर लोगों ने पूछा कि तुम्हें दुःख नहीं हुआ। तब वह बोली, "दुःखमें प्रसन्न रहनेका जो अनुपम फल है उसकी आशासे मुझे उसमें कोई दुःख नहीं भासा।"

इसी प्रकार एक संतको कोई रोग था। किन्तु वे उसकी कोई चिकित्सा नहीं करते थे। तब किसीने कहा कि तुम अपने रोगका कोई उपचार क्यों नहीं करते? वे बोले, "भाई! तुम नहीं जानते, प्रियतमकी दी हुई चोटसे पीडा नहीं हुआ करती।" एक बार संत जुनेदने भी कहा था कि मैंने अपने गुरुदेवसे यह पूछा था कि स्वामिन्! शरीरका दुःख प्राप्त होनेपर क्या प्रेमी पुरुष भी दुःखी हो जाता है? तब उन्होंने कहा कि प्रेमी दुःखी नहीं होता। मैंने फिर पूछा, "तो तलवारकी चोट लगनेपर वह उसे बतलाता क्यों है?" वे बोले, "एक तलवार क्या, उसके सत्तर चोटें लगें तो भी उसे दुःख नहीं भासता।" एक अन्य संतका कथन है कि प्रभु जो कुछ चाहते हैं, वही मैं भी चाहता हूँ। अतः वे यदि मुझे घोर नरकमें भी डालें तो भी मैं प्रसन्न ही हूँ; मेरे लिये तो वह नरक ही अच्छा है। एक अन्य महात्माका कथन है कि किसी मनुष्यसे कोई अपराध बन गया था। तब लोगोंने उसे एक हजार लाठियाँ मारी। किन्तु उसने 'उह' तक नहीं की। तब मैंने पूछा कि तुम रोये-चिल्लाये क्यों नहीं? वह बोला कि जब लोग मेरे लाठियाँ मार रहे थे तो मेरा प्रियतम मेरे सामने खड़ा मेरी ओर देख रहा था तथा मेरी दृष्टि भी उसकी ओर थी। अतः मैं रोना-चिल्लाना भूल गया। तब मैंने उससे कहा, "अभी तो तुम्हारी प्रीति किसी संसारी पुरुषके साथ है, इसीपर तुम्हारी ऐसी स्थिति है। यदि सर्व-सौन्दर्यसारमूर्त्ति श्रीहरिके साथ तुम्हारा ऐसा प्रेम हो, यदि तुम उनकी अनुपम रूप-छटाको देखने लगो तो न जाने कैसी स्थिति

हो ?" यह सुनते ही उसने उच्च स्वरसे एक हाय भरी और शरीर छोड़ दिया। उन्हीं महात्माका कथन है कि अपनी पूर्वावस्थामें मैं एक वनमें गया और भजनमें तत्पर हो गया। कुछ दिनों पश्चात् मैंने एक व्यक्तिको देखा, वह पागलकी तरह पृथ्वीपर पड़ा हुआ था और चीटियाँ उसके मांसको खा रही थीं। मैंने दयावश उसका सिर अपनी गोदमें रख लिया। जब उसे चेत हुआ तो वह कहने लगा कि तुम ऐसी व्यर्थ चेष्टा करके मेरे और मेरे प्रभुके बीचमें पर्दा क्यों डालते हो ?

यह बात भी प्रसिद्ध ही है कि जब मिश्रदेशकी स्त्रियोंने यूसुफ को देखा था तो उनकी सुन्दरतासे मोहित होकर नीबूके बदले अपनी अँगुलियाँ काट डाली थीं और इसकी उन्हें कोई पीड़ा नहीं जान पड़ी। पीछे जब उस देशमें दुर्भिक्ष पड़ा और लोग भूखों मरने लगे तब यूसुफजी उन्हें देखनेके लिये आते तो उन्हें अपनी भूखका कोई पता नहीं रहता था। ऐसी स्थिति तो उनके स्थूल रूपको देखकर हो जाती थी, फिर जिस पुरुषने परमशोभा-सागर श्रीभगवान्‌के दर्शन किये हैं उसे दुःखका भान न रहे— इसमें तो आश्चर्य ही क्या है ? इस विषयमें एक गाथा भी है। एक व्यक्ति कहीं वनमें रहता था और कहा करता था कि सब प्रकार श्रीभगवान्‌की इच्छाका अनुसरण करनेमें ही सुख है। उसके घरमें रात्रिके समय चोरोंसे रक्षा करनेवाला एक कुत्ता, बोझा ढोनेवाला एक बैल और उसे जगानेवाला एक पक्षी भी था। एक दिन किसी सिंहने आकर उसका बैल मार डाला। वह बोला, "इसमें भी मेरा कोई हित ही होगा।" फिर कुत्तेने पक्षीको मार दिया और वह स्वयं भी मर गया। इसपर भी उसने यही कहा कि इसमें भी मेरा कोई हित ही होगा। किन्तु उसकी स्त्री शोक करने लगी और बोली कि तुम यह कैसी बात कहते हो ? तब भी उसने यही कहा कि इसमें ही हमारी कोई कुशल होगी।

दूसरे दिन उन्होंने देखा कि आस-पास जो गाँव थे उन सभीको चोरोंने लूट लिया है और ग्रामवासियोंको भी मार डाला है। तब उसने अपनी स्त्रीसे कहा, "आज यदि कुत्ता और बैल हमारे घरमें होते तो वे रात्रिमें अवश्य बोलते। ऐसी स्थितिमें निःसन्देह चोर हमें लूट लेते और हमारे प्राण भी संकटमें पड़ जाते। अतः भगवान् सब प्रकार भला ही करते हैं। किन्तु उनके रहस्यको हर कोई समझ नहीं सकता।"

कुछ लोगोंका तो ऐसा भी कथन है कि प्रभुकी इच्छाका अनुसरण करनेका तो यह तात्पर्य है कि उनसे किसी प्रकारकी प्रार्थना या याचना भी न करे और पापकर्मको देखकर भी ग्लानि न करे, क्योंकि वे भी तो उनकी ही इच्छासे होते हैं। इसी प्रकार जिस देशमें पाप, क्लेश या दुःखोंकी अधिकता हो उसका भी त्याग न करे, ऐसा करना भी भगवदिच्छासे विमुखता ही होगी। सो, उनका यह कथन मूर्खता ही है, क्योंकि भगवान्‌की प्रार्थना तो महापुरुष भी करते थे। उनका तो कहना था कि प्रार्थना करना भगवान्‌का उत्तम कोटिका भजन है; क्योंकि प्रार्थनासे कोमलता, दीनता, नम्रता, निरभिमानता और चित्तकी एकाग्रतामें वृद्धि होती है और ये सभी परम सात्त्विक गुण हैं। जिस प्रकार तृषा-निवृत्तिके लिये जल पीने, क्षुधाशान्तिके लिये भोजन करने और शीतनिवृत्तिके लिये वस्त्र धारण करनेमें भगवदिच्छासे विमुखता नहीं होती, इसी प्रकार प्रभुके आगे प्रार्थना करनेसे भी उसके अनुसरणमें कोई प्रत्यवाय नहीं आता। भगवान्‌ने जिस कार्यके साथ जिसका जैसा सम्बन्ध रचा है उससे विपरीत करना ही वास्तवमें भगवदिच्छासे विरुद्ध होना है, क्योंकि कार्य-कारण का सम्बन्ध भी तो उनकी इच्छासे ही रचा गया है।

अतः जो पुरुष पापकर्ममें प्रसन्नतापूर्वक प्रवृत्त होता है और उसे श्रीभगवान्‌की इच्छा समझता है उसका ऐसा मानना अनुचित

है, क्योंकि भगवान्ने पापकर्मोंसे तो बचनेके लिये ही कहा है। तथा ऐसा कहा है कि जो पुरुष किसीको पाप करनेकी आज्ञा देता है वह भी पापका भागी होता है। यद्यपि पाप भी भगवान्का ही उत्पन्न किया हुआ है, तथापि उसके दोनों मुख हैं—एक मुख भगवान्की ओर और दूसरा जीवकी ओर। कर्मोंका मुख जीवकी ओर तो इसलिये है कि इनका अनुष्ठान जीव ही की श्रद्धा और प्रयत्नके अधीन है, तथा भगवान्की ओर इस प्रकार है कि पाप-पुण्यकी रचना उन्हींकी इच्छा और नियतिसे हुई है। अतः ऐसा कहा जाय तो ठीक ही है कि यह संसार कभी पाप-पुण्यशून्य नहीं हो सकता, क्योंकि प्रभुने इसे गुण-दोषमिश्रित ही उत्पन्न किया है। किन्तु यदि जीवकी ओर दृष्टि की जाय तो यह समझना चाहिये कि कर्मका सम्बन्ध जीवके पुरुषार्थसे है। अतः पापकर्म करनेसे यह जीव भगवान्से विमुख हो जाता है और उनके क्रोध का भागी होता है। इसलिये न तो पाप करनेके लिये भगवान्की आज्ञा है और न पापोंका त्याग करना भगवदिच्छासे विमुख होना ही है। इस विषयमें यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे कोई व्यक्ति इस पुरुषका शत्रु हो और कोई उस शत्रुका भी शत्रु हो, तो उसकी मृत्यु होनेपर इस पुरुष को एक प्रकारसे तो शोक होता है तथा दूसरी दृष्टिसे प्रसन्नता भी होती है। सो, जिस प्रकार उस शत्रुकी मृत्युका दोनों ओर सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार कर्मों का सम्बन्ध भी दोनों ओर है। अतः पापोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये।

इसी प्रकार जिस देशमें पापोंकी अधिकता हो उसे भी अवश्य त्याग देना चाहिये, क्योंकि पापकर्मोंके कारण जो विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं, उनका भी चित्तपर आक्रमण होने लगता है। अतः जिस जगह जानेपर नेत्र अकस्मात् परस्त्रीकी ओर जायँ उस स्थानको तो त्याग देना ही अच्छा है। ऐसा करनेसे भगवदिच्छा

से विमुखता नहीं होती। इसी प्रकार जिस देश या नगरमें क्लेश या दुर्भिक्ष हो उसे त्याग देना भी उचित ही है। किन्तु जिस स्थान में रोगकी अधिकता हो उसे त्यागनेके लिये सन्तजनोंने मना किया है, क्योंकि यदि नीरोग पुरुष रोगियोंको त्यागकर चले जायँगे तो रोगियोंको मृत्युके मुखमें ही गिरना पड़ेगा। अतः जैसे श्रीभगवान् की नियति है उसीके अनुसार लोगोंको आचरण करना चाहिये।

भगवान्की आज्ञा माननेका भी यही तात्पर्य है कि प्रभुकी आज्ञा को पहचानकर चित्तकी शुद्धिका ही प्रयत्न करे और उसीमें अपना हित समझे। कहते हैं, एक महापुरुषने किसी मनुष्य को देखा था जो अन्धा, लूला और पंगु होनेपर भी कह रहा था कि प्रभुका धन्यवाद है, जिन्होंने मुझे सब प्रकारके दुःखोंसे सुरक्षित कर दिया है। तब महापुरुषने पूछा, "ऐसा कौन दुःख है जो तुम्हें प्राप्त नहीं हुआ है!" उसने कहा, "जिस पुरुषको भगवान्का धन्यवाद करनेकी समझ नहीं है उसकी अपेक्षा तो मैं अधिक सुखी हूँ।" फिर तो उन महापुरुषने उसके नेत्र एवं सम्पूर्ण शरीरको ही सुन्दर और नीरोग कर दिया। इसी प्रकार एक अन्य भगवत्प्रेमीको नास्तिक लोगोंने बन्दीगृहमें मूँद दिया था। उससे जब उसके मित्र मिलनेके लिये आये तो नास्तिकोंने परीक्षाके लिये उनपर पत्थर फेंके। इससे वे भाग गये। तब उन्होंने कहा कि तुम झूठे मित्र हो, क्योंकि सच्चे मित्रको तो अपने मित्रके कष्टमें दुःखका भान ही नहीं होता।

—:o:—

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१	६	उपभोग	उपयोग
२२	६	कामोपयोग	कामोपभोग
३७	२४	सिद्ध	सिद्धि
४६	११	बनाना	बनाता
८१	३	'हे दाऊद'!	'हे दाऊद!
१३६	११	अन-जल	अन्न-जल
१५२	७	आग	आगे
१५३	६	जात	जाता
१६६	१२	अत्र:	अत:
१६८	अन्तिम	आज्ञा	आज्ञा के
२००	६	कहा' "अपनी	कहा, "अपनी
२०६	१४	और सूक्ष्म	और छ: सूक्ष्म
२२१	८	अषगुण	अवगुण
२४७	२६	चरण	आचरण
२६८	४	परुष	पुरुष
२७१	५	उसको	उसका
२७६	१६	जला	जल
२८३	१३	कोध⋯कोध	क्रोध⋯क्रोध
२८५	१	वैसे	जैसे
२९३	२३	तो मी	तो भी
३०६	७	आवज	आव ज
३१२	२०	अघ्यन	अध्ययन
३१३	२६	कराना	करना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३१७	५	श्रद्वा	श्रद्धा
३१८	१	(४) पाप	(४) पाप ।
३२०	३	औषधि	ओषधि
३२२	१०	वि	कि
३२६	१५	उज्ज्वल	उज्ज्वल
३४१	१४	है । वैसा	है वैसा
३४३	८	है, बोलने	है कि बोलने
३७५	३	उस	उसे
३७७	६	करनेवाले	कहनेवाले
३८४	२०	होना	होता
४१२	२१	है यद्यपि	है । यद्यपि
४१६	३	भागवत्प्रेमी	भगवत्प्रेमी
४४१	२१	इन्होंने	उन्होंने
४४३	६	पुरुषों····। जो	पुरुषों···जो
४४४	१३	अथया	अथवा
४५५	१२	इस-	उस-
४५७	२२	तो तो	तो
४६०	४	पुरुषों के	पुरुषों को
४६८	५	किसी कर्मों	किसीके कर्मों
४६५	३	निष्कामना	निष्कामता
४६६	१६	भोगोंमें	भोगों में
५०४	२१	वही	यही
५०४	२२	निष्कामना	निष्कामता
५१४	१७	ईश्वयों	ईश्वरों
५२३	२५	बैठने दिया	बैठने न दिया
५२८	८	तना	इतना

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४५	१४	भगवान् !	भगवन् !
५५७	२२	डसने का	के डसने का
५६४	६	विद्या से	विद्या में
५७४	२३	मृत्युके	मृत्युको
५८२	१	इस	उस
६१०	१८	तब तक	जब तक
६२६	१६	सखों	सुखों
६३१	१६	सा ही	वैसा ही
६४६	अन्तिम	करते हैं,	कहते हैं,
६५४	१२	रोगीका	रोगीको
६६४	२	चाहता	चाहता है
६७६	११	यह	वह
६८३	१०	। अतः	है । अतः
६६४	१२	डरते ?	डरते ?"
७२०	१२	भूर्खता	मूर्खता
७२६	८	गुलम	गुलाम
७२८	२१	सदश	सदृश
७२६	१४	सकोगे ।	सकोगे ।"
७५२	१४	दढ़ता	दृढ़ता
७५८	२२	सनकर	सुनकर
७५६	१	सख	सुख
७६५	१०	भाग	भोग
७६८	८	सवथा	सर्वथा
८०४	१८	श्वास-श्वास	श्वास-प्रश्वास
८२५	५	कपा	कृपा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८३६	अन्तिम	इस	इसने
८५३	२५	प्राप्त हैं	प्राप्त हैं।
८६०	१६	इसके प्रति	उसके प्रति
६०२	१४	पूर्णाङ्क	पूर्णाङ्क